

वीर-सेवा-मन्दिर ग्रन्थमाला

जैन-लक्षणावली

(जैन पारिभाषिक शब्द-कोश)

प्रथम भाग (अ-औ)

•

सम्पादक
बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

•

वीर सेवा मन्दिर प्रकाशन

Vir Sewa Mandir Series

JAINA LAKṢAṆĀVALĪ

(An authentic & descriptive dictionary of Jaina philosophical terms

Vol. I (Vowels' Part)

EDITED BY

BALCHANDRA SIDHANTASHASTRI

VIR SEWA MANDIR
21, Daryaganj, Delhi

प्रकाशकीय

'जैन लक्षणावली' का प्रथम भाग पाठकों के हाथों में सौंपते हुए हार्दिक सन्तोष का अनुभव होता है। इसके प्रकाशन से एक चिर परिकल्पित वृहत् योजना के प्रथम चरण की पूर्ति होती है। प्राचीन भारतीय विद्याओं के व्यापक सन्दर्भ में जैन वाङ्मय, इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व के अध्ययन-अनुशीलन और प्रकाशन के जिस उद्देश्य से 'वीर-सेवा-मंदिर' की स्थापना की गयी थी, उस दिशा में यह एक विशेष कदम है।

'वीर-सेवा-मंदिर' और उसकी शोध-प्रवृत्तियां

'वीर सेवा मंदिर' की स्थापना स्व. आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार ने अपने जन्म-स्थान सरसावा, जिला सहारनपुर (उ. प्र.) में अक्षय तृतीया (वैसाख शुक्ल तृतीया), विक्रम संवत् १९९३, दिनांक २४ अप्रैल सन् १९३६ में की थी। इस संस्था के माध्यम से स्व. मुख्तार साहब ने तथा संस्था से सम्बद्ध अन्य विद्वानों ने जैन वाङ्मय के अनेक दुर्लभ, अपरिचित और अप्रकाशित ग्रन्थों की खोज की तथा प्राचीन पाण्डुलिपियों के सम्यक् परीक्षण-पर्यालोचन और सम्पादन की नींव डाली। संस्था ने जो ग्रन्थ प्रकाशित किये उनकी विस्तृत शोधपूर्ण प्रस्तावनाएं न केवल उन ग्रन्थों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, प्रत्युत जैन आचार्यों और उनकी कृतियों पर भी विशद प्रकाश डालती हैं।

आचार्य समन्तभद्र

आचार्य समन्तभद्र पर मुख्तार साहब की अगाध श्रद्धा थी। दिल्ली में उन्होंने सन् १९२९ में समन्तभद्राश्रम की स्थापना की थी और 'अनेकान्त' नामक शोधपूर्ण मासिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया था। बाद में यही संस्था 'वीर सेवा मंदिर' के रूप में प्रतिष्ठित हुई और 'अनेकान्त' उसका मुख पत्र बना। आचार्य समन्तभद्र भारतीय दार्शनिक जगत में अद्वितीय माने जाते हैं, और उनके ग्रन्थ जैन दर्शन के आधार-ग्रन्थों के रूप में प्रतिष्ठित हैं। मुख्तार साहब ने आचार्य समन्तभद्र के जीवन पर सर्व-प्रथम विस्तार के साथ प्रकाश डाला। उनके ग्रन्थों का सम्पादन किया। उनका विद्वत्तापूर्ण-विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया। जीवन के अंतिम दिनों में उन्होंने समन्तभद्र स्मारक की एक विशाल योजना भी बनायी थी, किन्तु वह क्रियान्वित नहीं हो पायी।

'अनेकान्त' शोध-पत्र

मुख्तार साहब ने 'अनेकान्त' नाम से जिस शोध मासिक का प्रकाशन प्रारम्भ किया था वह 'वीर सेवा मंदिर' के मुख-पत्र के रूप में अब भी चल रहा है। अनुसन्धान के क्षेत्र में इस पत्र ने जो शोध-सामग्री विद्वत् समाज के सामने प्रस्तुत की, उससे अनेक नये तथ्य उद्घाटित हुए और अनुसन्धान-कार्य को नयी दिशा-दृष्टि प्राप्त हुई।

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार स्वयं में एक संस्था थे। उनका सम्पूर्ण जीवन साहित्य और समाज के लिए समर्पित रहा। उनका जन्म मगसिर सुदी एकादशी, वि. सं. १९३४ में, सरसावा में हुआ था। कुछ समय तक उन्होंने मुख्तार का कार्य कुशलता के साथ किया। वह जैन समाज के पुनर्जागरण का युग था। मुख्तार साहब एक क्रान्तिकारी समाज-सुधारक के रूप में आगे आये। उन्होंने सामाजिक क्रान्ति की दिशा को सुदृढ़ शास्त्रीय आधार दिये। 'जैन गजट' तथा 'जैन हितैषी' के सम्पादक के रूप में उन्होंने सामाजिक पुनर्जागरण का सिंहनाद किया। उनके द्वारा रचित 'मेरी भावना' के कारण वे जैन जन-मानस में पैठ गये।

प्रकाशकीय

मुख्तार साहब ने किसी महाविद्यालय या विश्वविद्यालय में शास्त्रों का गहन अध्ययन नहीं किया था, प्रत्युत अपने अनवरत स्वाध्याय, सूक्ष्म दृष्टि, गहरी पकड़ और प्रतिभा-सम्पन्नता के कारण बहुश्रुत विद्वान् बने। ऐतिहासिक अनुसन्धान, आचार्यों का समय-निर्णय, प्राचीन पाण्डुलिपियों का सम्यक् परीक्षण तथा विश्लेषण करने की उनकी अद्भुत क्षमता थी। उनके प्रमाण अकाट्य होते थे। उनकी यह साहित्य-सेवा अर्धशताब्दी से भी अधिक के दीर्घ काल में व्याप्त है। जीवन के अन्तिम क्षण तक वे अध्ययन और अनुसन्धान के कार्य में लगे रहे। 'भारतीय ज्ञानपीठ' द्वारा प्रकाशित उनका अन्तिम ग्रन्थ 'योगसारप्राभृत' उनकी विद्वत्ता का उन्नत सुमेरु है। 'वीर-सेवा-मंदिर' उनका मूर्तिमान् कीर्तिस्तंभ है।

बाबू छोटेलाल सरावगी

'वीर-सेवा-मंदिर' को सुदृढ़ आधार देने और सुप्रतिष्ठित करने में कलकत्ता-निवासी स्व. बाबू छोटेलाल सरावगी का विशेष योगदान रहा है। वह मुख्तार साहब के प्रति गहरी आत्मीयता रखते थे। 'वीर-सेवा-मंदिर' को सरसावा से दिल्ली लाने तथा यहाँ विशाल भवन निर्माण कराने में उनका अनन्य हाथ रहा। वे प्रारम्भ से ही आजीवन संस्था के अध्यक्ष रहे तथा तन-मन-धन से इसके विकास के लिए प्रयत्नशील रहे। वास्तव में वे 'वीर सेवा मन्दिर' के प्राण थे।

छोटेलालजी सत्प्रवृत्तियों के धनी, अध्ययनशील तथा उदारचेता व्यक्ति थे। जैन साहित्य और संस्कृति के विकास के लिए वे निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे। जैन-दर्शन, इतिहास, कला और पुरातत्त्व के अनुसन्धान-कार्य में उनकी बड़ी रुचि थी। इन विषयों के अनुसन्धाता के लिए वे कल्पवृक्ष थे। रायल एशियाटिक सोसाइटी के वे एक सम्मानित सदस्य थे। डा. एम. विन्टरनित्ज ने अपने ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर' भाग २ में छोटेलालजी का बड़े आदर के साथ उल्लेख किया है। यदि छोटेलालजी का सहयोग प्राप्त न हुआ होता तो संभवतया डा. विन्टरनित्ज अपने इतिहास-ग्रन्थ में जैन-साहित्य का इतना विशाल और गंभीर सर्वेक्षण प्रस्तुत न कर पाते। छोटेलाल जी का विद्वत्समाज से अत्यन्त निकट का सम्बन्ध था। जैन ही नहीं, इतिहास और पुरातत्त्व के क्षेत्र में कार्य करने वाले भारतीय तथा विदेशी विद्वानों से उनकी बड़ी मित्रता थी। खंडगिरि और उदयगिरि उन्हीं की पुरातात्विक खोज के परिणाम-स्वरूप प्रकाश में आये। 'जैन बिबलियोग्राफी' उनका अमर कीर्तिस्तंभ है। उन्होंने बिब्लियोग्राफी के दूसरे भाग की भी सामग्री संकलित कर ली थी किन्तु अस्वस्थ रहने के कारण उसका सम्पादन नहीं कर पाये। डा. ए. एन. उपाध्ये द्वारा उसका सम्पादन किया जा चुका है और अब वह शीघ्र ही प्रकाशित होगी।

पुरातत्त्व एवं इतिहास के प्रेमी होने के साथ-साथ छोटेलालजी एक सफल समाजसेवी एवं नेता भी थे। वे समाज की विभिन्न संस्थाओं तथा गतिविधियों में बराबर सक्रिय सहयोग देते रहे। कलकत्ते का महावीर दिगम्बर जैन विद्यालय, अहिंसा प्रचार समिति, दिगम्बर जैन युवक समिति, जैन सभा, आदि अनेक संस्थाएं उनके सहयोग की प्रतीक हैं। इसके अतिरिक्त व्यापारिक क्षेत्र में भी छोटेलाल जी के व्यक्तित्व की छाप मिलती है। कलकत्ते की प्रसिद्ध 'गन्नी ट्रेड एसोसिएशन' को सफल बनाने में उनका बहुत बड़ा हाथ था।

'वीर सेवा मन्दिर' के उक्त दोनों ही आधार-स्तंभ अब नहीं रहे, फिर भी उनके कृतित्व के रूप में उनकी कीर्ति अमर है। अनुसन्धान के क्षेत्र में उनका स्मरण सदा गौरव के साथ किया जाता रहेगा।

'जैन लक्षणावली' या पारिभाषिक शब्द-कोश

'जैन लक्षणावली' के प्रकाशन की परिकल्पना मुख्तार साहब ने सन् १९३२ में की थी। जैन वाङ्मय में अनेक शब्दों का कुछ विशेष अर्थों में प्रयोग किया गया है। यह अर्थ उनके प्रचलित अर्थ से

भिन्न है। अतएव जैन वाङ्मय के सामान्य अध्येता के लिए सहज रूप में उनको समझ पाना कठिन है। मुख्तार साहब की कल्पना थी कि दिगम्बर-श्वेताम्बर जैन साहित्य के सभी प्रमुख ग्रन्थों से इस प्रकार के शब्द उनकी परिभाषाओं के साथ संकलित करके, हिन्दी अनुवाद के साथ, पारिभाषिक कोश तैयार किया जाय। इस कल्पना के अनुसार लगभग चार सौ ग्रन्थों से शब्द और उनकी परिभाषाएँ संकलित की गईं। इस प्रकार के कार्य प्रायः नीरस लगने वाले तथा श्रम और समय साध्य होते हैं। 'लक्षणावली' के प्रस्तुत खण्ड के प्रकाशन में पर्याप्त समय लग गया। इसे प्रकाशित करते हुए हर्ष और विषाद की सम्मिलित अनुभूति हो रही है। हर्ष इसलिए कि मुख्तार साहब ने 'जैन लक्षणावली' की जो परिकल्पना की थी, उसे मूर्तरूप प्राप्त हो सका, और विषाद इसलिए कि मुख्तार साहब तथा बाबू छोटेलालजी के जीवन-काल में यह कार्य सम्पन्न नहीं हो सका।

आभार

वीर सेवा मन्दिर के साथ साहू शान्तिप्रसाद जी का नाम अभिन्न रूप में जुड़ा हुआ है। वह न केवल अनेक वर्षों से उसके अध्यक्ष हैं, अपितु उसकी अभिवृद्धि में सक्रिय योगदान देते रहते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में उनकी प्रारम्भ से ही गहरी दिलचस्पी रही है। इस अवसर पर हम उनका विशेष रूप से आभार मानते हैं।

'लक्षणावली' के निर्माण और प्रकाशन में अनेक विद्वानों का योग रहा है। मुख्तार साहब के साथ पं. दरबारीलाल कोठिया तथा पं. परमानन्द शास्त्री पूरी योजना के सूत्रधार रहे हैं। सामग्री के प्रारंभिक संकलन में पं. किशोरीलाल शास्त्री, पं. ताराचन्द शास्त्री तथा पं. शंकरलाल शर्मा का योगदान रहा है। पं. हीरालाल शास्त्री तथा पं. दीपचन्द्र पाण्डया नें संकलित सामग्री को व्यवस्थित करने के प्रयत्न किये और अन्ततः पं. बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री ने संकलित सामग्री का सम्पादन करके उसे प्रकाशन के लिए वर्तमान रूप दिया है। प्रस्तावना में उन्होंने 'लक्षणावली' में उपयोग किये गये ग्रन्थों में से एक सौ दो ग्रन्थों का परिचय दे दिया है, साथ ही संगृहीत लक्षणों के वैशिष्ट्य पर भी प्रकाश डाला है। अन्त में तीन उपयोगी परिशिष्ट भी दिये हैं। प्रेस कापी करने में पं. पार्श्वदास न्यायतीर्थ का योग रहा है। श्री पन्नालाल अग्रवाल ने समय-समय पर आवश्यकतानुसार सम्बन्धित ग्रन्थ उपलब्ध कराये। मुद्रण-प्रस्तुति आदि के सम्बन्ध में डा. गोकुलचन्द्र जैन का सहयोग तथा प्रकाशन में सोसायटी के तत्कालीन मंत्री श्री प्रेमचन्द जैन (कश्मीर वाले) का योगदान प्राप्त हुआ है। इनके अतिरिक्त जिन-जिन विद्वानों और महानुभावों का इस ग्रन्थ के प्रकाशन में योगदान रहा है, उन सबके प्रति 'वीर सेवा मन्दिर' कृतज्ञता व्यक्त करता है।

पूरी 'लक्षणावली' का प्रकाशन तीन भागों में होगा। हर्ष है कि दूसरे भाग की प्रेस कापी तैयार हो चुकी है तथा मुद्रण आरंभ हो गया है। तीसरे भाग का सम्पादन-कार्य चल रहा है। आशा है, इस महायज्ञ की पूर्णाहुति शीघ्र संभव होगी।

ग्रन्थानुक्रम



स्व० आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार



स्व० बाबू छोटेलाल सरावगी

Foreword

The aim of the *Dictionary of the Technical Terms of Jainism (Jaina lakṣaṇāvalī)* is to provide at one place the different definitions of terms, which have been used in the works of Jainism during the last 2500 years. These definitions have been carefully collected from 351 authoritative works of *Prākṛta* and *Saṁskṛta* and are sometimes so detailed that they can be more appropriately called descriptions rather than definitions. There can be, however, no doubt about their authenticity, because they are taken verbatim from the Scriptures.

The technical terms, included in this Dictionary, can be, broadly speaking, classified into five categories :

(i) Terms which are exclusively used in the writings of Jainism, e.g. *ṛjusūtranaya, avāya* etc.

(ii) Terms which are used in both, the Jaina and the non-Jaina systems, but the Jainas use them in altogether a different sense, e.g. *adharma* etc.

(iii) Terms which are used in Jaina and non-Jaina systems in more or less the same sense, e.g. *ahiṁsā, asatya* etc.

(iv) Terms which are used in Jaina and non-Jaina systems in a sense which is basically the same but the philosophical concepts, they convey, differ, e.g. *aṇu, apavarga* etc.

(v) Terms which are used in day-to-day language also, but which have been adopted by the Jain thinkers to give a peculiar meaning, e.g. *ārambha, upayoga* etc.

All the categories, mentioned above, can be included under one category of technical terms, because they have been adopted or invented by the specialists to give precise expression to certain notions and they convey that notion only to a person who is familiar with the subject and not merely with the language. Though the etymologies of such words are also sometimes helpful in their understanding and are sometimes given by the ancient authors, (e.g. see *indriya* (p. 233) yet these seldom convey the real sense.

In fact, the words of a language are only symbols, conveying a notion, which has to be understood mentally rather than expressed verbally. It is perhaps with reference to those who stick only to the literal dictionary meaning of a word and cannot mentally picture the notion for which it really stands, that the *Ṛgvedic* poets declared : 'one sees not the speech even though seeing it ; one hears Her not

even though hearing it, but to another She reveals Her form like a loving wife, finely robed to her husband'—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उत त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

—*Ṛgveda* 10-171-4

The fact is that our understanding of a word or a sentence is always hindered by our prejudices and pre-concepts about a problem and the proper understanding of a word requires a mind free from all prejudices. This is why the ancient Indian philosophers believed that one who masters the reality of the word, attains the Supreme Reality—शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति. If we look at the present work from this point of view, it is not merely a compilation work but a work of independent significance.

rī Bālacandra Śāstrī, the editor of this *Dictionary*, has done his work in the spirit of a devotee of *śabdabrahman*. This is evident from his introduction running into 87 pages, where he has shown a keen interest in the history of words. The words may expand or contract their meanings by the passage of time. The definitions of words undergo changes as and when they are criticised by the opponent. *Śrī Śāstrī* has critically examined the definitions of about 25 such words or word-pairs, where the definitions have undergone changes. He has shown a rare quality of non-sectarian approach even while dealing with such controversial words as *acelaka* (pp. 70-71).

Śrī Śāstrī has also given a historical account of 102 works, which have been utilised in the preparation of the present work. This account is full of valuable information and is very helpful in making a historical study of the definitions. collected in the main body of the *Dictionary*. In this account, however, I feel that ancient texts like *Ācārāṅgasūtra* should have been placed before late works like *Trilokaprajñpti*. In fact, it is a sectarian problem. *Digambara* authors sometimes do not give due importance to the *Śvetāmbara āgamas*, even if they are very old. Similarly the *Śvetāmbaras* sometimes overlook such eminent and old authors as *Kundakundācārya*. The *Ācārāṅgasūtra*, to the best of my knowledge, has been generally placed in the first part of the 3rd Century B.C. and as such should have been dealt with together with the *Digambara āgamas*.

I am, however, glad to observe that *Śrī Bālacandra Śāstrī* is perhaps the first to take an initiative in preparing a *Dictionary of the Technical Terms of Jainism*, in which the works of both the sects of the Jainas have been given equal importance. The earliar two works of the similar nature, *Abhidhānarājendrakoṣa* and *Jainendrasiddhāntakoṣa* (Vol. I), though excellent in their own ways, are superseded by the present work in the sense that the former is primarily based only on the

Śvetāmbara works whereas the latter is primarily based on the *Digambara* works, whereas this *Dictionary* takes into account works of both the sects. It may be, however, pointed out that the present work is confined only to the definitions whereas the earlier two works deal with all the problems connected with a particular philosophical concept.

The work is mainly philosophical and religious and as such deals with words of metaphysical, ethical, logical, epistemological, psychological and mythological significance. All students of philosophy, whether Eastern or Western, will be benefited by going through the concept of *ākāśa* or space (pp. 166-167) as found in Jainism. Similar is the case with *ahiṁsā* or non-violence (pp.163-165). Terms of logical or epistemological importance have been rather more thoroughly dealt with. In case of *avāya* (or *apāya*) or perceptual judgment (p. 142) 33 definitions have been collected. Similar is the case with *Ṛjusūtranaya* or straight-expressed point of view (pp. 288-290). If we cast a glance at the descriptions of words like *anihnavācāra* or non-concealing conduct (p. 65) and *anumānitadoṣa* or inferential defect (p. 78), we would see that the Jaina authors have a deep insight into the workings of human mind.

While collecting the definitions, *Śrī Bālacandra Śāstrī* had to use his own judgment as to which of them is the most representative. *Śrī Śāstrī* has also given a Hindi translation of one of the most representative definitions. He has been successful in both, selecting the representative definition as well as translating it into Hindi. Moreover his Hindi translation has, at places become an illuminating commentary of the original text and the contribution of the author is very significant in this direction. Let us take, as an example, the case of *antarvyāpti* or internal concomitance (p. 88). The original text reads as follows :

पक्षीकृत एव विषये साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः। यथानेकान्तात्मकं वस्तु सत्त्वस्य तथैवोपपत्तेरिति।

The Hindi version of this reads as follows :

"पक्ष के भीतर ही साध्य के साथ साधन की व्याप्ति होने को अन्तर्व्याप्ति कहते हैं। जैसे वस्तु अनेकान्तात्मक है, क्योंकि अनेकान्तात्मक होने पर ही उसकी सत्ता घटित होती है। यहाँ पक्ष के अन्तर्गत वस्तु को छोड़ कर अन्य (अवस्तु) की सत्ता ही सम्भव नहीं है, जहाँ कि उक्त व्याप्ति ग्रहण की जा सके।"

Here the underlined words are by way of explanation of what has been said in the original text. This certainly fecilitates the understanding of *antarvyāpti*.

This *Dictionary* includes many words which are important for the students of history of *Jaina* literature e.g. *Anuttaraupapātika daśā* (p. 69)

Acarāṅgasūtra (p. 180) and *Upāsakadaśa* (p. 281). Not only this, but the readers will find that there are some passages, which are good examples of prose and poetry from the point of literary style. We quote below a passage from *Sarvārthasiddhi* (p. 148).

यथा मृगशावकस्यैकान्ते बलवता क्षुधितेनामिषैषिणा व्याघ्रेणाभिभूतस्य न किञ्चिच्छरणमस्ति तथा जन्म-जरा-मृत्यु-व्याधि-प्रभृतिव्यसनमध्ये परिभ्रमतो जन्तोः शरणं न विद्यते । परिपुष्टमपि शरीरं भोजनं प्रति सहायीभवति न व्यसनोपनिपाते, यत्नेन संचिता अर्था अपि न भवान्तरमनुगच्छन्ति, संविभक्तसुख-दुःखाः सुहृदोऽपि न मरणकाले परित्रायन्ते, बान्धवाः समुदिताश्च रुजा परीतं न परिपालयन्ति, अस्ति चेत् सुचरितो धर्मो व्यसनमहार्णवे तारणोपायो भवति ।

The following verse from the *Yaśastilakacampū* may also be noted in this connection (p. 148).

वृत्तोदयेऽर्थनिचये हृदये स्वकार्ये
सर्वः समाहितमतिः पुरतः समास्ते ।
जाते त्वपायसमयेऽम्बुपतौ पतत्रेः
पोतादिव द्रुतवतः शरणं न तेऽस्ति ॥

Many of the words are interesting for the students of ancient Indian Culture. The following description of *asikarmārya*, for example, gives the names of ancient weapons (p. 160).

असि-तरवारि-वसुनन्दक-धनुर्बाण-छुरिका-कट्टारक-कुन्त-पट्टिश-हल-मुसल-गदा-भिन्दिपाल-लोहघन-शक्ति-चक्रायुधचञ्चवः असिकर्मार्या उच्यन्ते ।

It is clear from what has been said above, that the utility of the present work is not confined merely to the students of Jainism but extends to the wider field of Indology. I hope that the work will receive appreciation from all scholars of oriental studies.

Head of the Sanskrit Deptt.
Ramjas College
Maurice Nagar, Delhi-7.

Dayanand Bhargava

दो शब्द

सन् १९३६ में मेरी नियुक्ति वीर-सेवा-मंदिर सरसावा में हुई। उसके लगभग कोई डेढ़ वर्ष बाद मुख्तार साहब ने एक दिन बुला कर मुझसे कहा कि दिगम्बर-श्वेताम्बर समाज में ऐसा एक भी शब्दकोष नहीं है, जिसमें दोनों सम्प्रदाय के ग्रन्थों पर से लक्षणात्मक लक्ष्यशब्दों का संकलन किया गया हो। प्राकृत भाषा का 'पाइय-सद्द-महण्णवो' नाम का एक श्वेताम्बरीय शब्दकोष अवश्य प्रकाशित हुआ है। पर उसमें दिगम्बर ग्रन्थों में पाये जाने वाले प्राकृत शब्दों का अभाव है—वे उसमें नहीं हैं। दूसरा आगम शब्दकोष है जिसमें अर्धमागधी प्राकृत के शब्दों का अर्थ हिन्दी, अंग्रेजी और गुजराती भाषा में मिलता है। पर दिगम्बर समाज में प्रचलित प्राकृत भाषा का एक भी शब्दकोष नहीं है जिसके बनने की बड़ी आवश्यकता है। मेरा विचार कई वर्षों से चल रहा है कि दिगम्बर प्राकृत-संस्कृत ग्रन्थों पर से एक शब्दकोष का निर्माण होना चाहिए और दूसरा एक 'लाक्षणिक शब्दकोष'। जब उपलब्ध कोषों में दिगम्बर शब्द नहीं मिलते, तब बड़ा दुख होता है। पर क्या करूं, दिल मसोस कर रह जाना पड़ता है, इधर मैं स्वयं अनवकाश से सदा घिरा रहता हूँ। और साधन-सामग्री भी अभी पूर्ण रूप से संकलित नहीं है। इसी से इस कार्य में इच्छा रहते हुए भी प्रवृत्त नहीं हो सका।

अब मेरा निश्चित विचार है कि दो सौ दिगम्बर और इतने ही श्वेताम्बर ग्रन्थों पर से एक ऐसे लाक्षणिक शब्दकोष के बनाने का है जिसमें कम से कम पच्चीस हजार लाक्षणिक शब्दों का संग्रह हो। उस पर से यह सहज ही ज्ञात हो सकेगा कि मौलिक लेखक कौन है, और किन उत्तरवर्ती आचार्यों ने उनकी नकल की है। दूसरे यह भी ज्ञात हो सकेगा कि लक्षणों में क्या कुछ परिस्थितिवश परिवर्तन या परिवर्धन भी हुआ है। उदाहरण के लिए 'प्रमाण' शब्द को ही ले लीजिए। प्रमाण के अनेक लक्षण हैं, पर उनकी प्रामाणिकता का निर्णय करने के लिए तुलनात्मक अध्ययन करने की आवश्यकता है।

आचार्य समन्तभद्र ने 'देवागम' में तत्त्वज्ञान को और स्वयंभूस्तोत्र में स्व-परावभासी ज्ञान को प्रमाण बतलाया है[1]। अनंतर न्यायावतार के कर्ता सिद्धसेन ने समन्तभद्रोक्त 'स्व-परावभासी ज्ञान के प्रमाण होने की मान्यता को स्वीकृत करते हुए 'बाधवर्जित' विशेषण लगाकर स्व-परावभासी बाधा रहित ज्ञान को प्रमाण कहा है[2]। पश्चात् जैन न्याय के प्रस्थापक अकलंकदेव ने 'स्वपरावभासी' विशेषण का समर्थन करते हुए कहीं तो स्वपरावभासी व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण बतलाया है और कहीं अनधिगतार्थक अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण कहा है[3]। आचार्य विद्यानन्द ने सम्यग्ज्ञान को प्रमाण बतलाते हुए 'स्वार्थव्यवसायात्मक' ज्ञान को प्रमाण का लक्षण निर्दिष्ट किया है[4]। माणिक्यनन्दी ने एक ही वाक्य में 'स्व' और 'अपूर्वार्थ' पद निविष्ट कर अकलंक द्वारा विकसित परम्परा का ही एक प्रकार से अनुसरण किया है। सूत्र में निविष्ट 'अपूर्व' पद माणिक्यनंदी का स्वोपज्ञ नहीं है, किन्तु उन्होंने अनिश्चित

---

१. तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्। देवा. का. १०१.
× × × स्व-परावभासकं यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्। बृहत्स्वयं. ६३.

२. प्रमाणं स्व-परावभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्। न्यायवा. १.

३. व्यवसायात्मकं ज्ञानमात्मार्थग्राहकं मतम्। लघीयस्त्रय ६०.
प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्, अनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्। अष्टश. का. ३६.

४. तत्त्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता।
लक्षणेन गतार्थत्वात् व्यर्थमन्यद्विशेषणम्॥ तत्त्वार्थश्लोकवा. १, १०, ७७; प्रमाणप. पृ. ५३.

को अपूर्वार्थ बतलाया है। अतः उसे अकलंक की देन मानना चाहिए[५]। सन्मति टीकाकार अभयदेव ने विद्यानन्द का ही अनुसरण कर 'व्यवसाय' के स्थान में 'निर्णीति' पद रक्खा है[६]। वादिदेव सूरि ने आचार्य विद्यानन्द के ही शब्दों को दोहराया है और स्व-परव्यवसायी ज्ञान को प्रमाण प्रकट किया है[७]। हेमचन्द्र ने पूर्वोक्त लक्षणों में काट-छांट करके 'सम्यक्', 'अर्थ' और 'निर्णय' ये तीन पद जोड़े। इससे स्पष्ट है कि हेमचन्द्र ने पूर्वाचार्य नियोजित लक्षणों में संशोधन कर स्व, अपूर्व और व्यवसायात्मक पद निकाल कर प्रमाण का लक्षण 'सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्' बतलाया है[८]। इन लक्षणों को इतिहास की कसौटी पर कसना विद्वानों का कार्य है।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर प्रमाण के इन लक्षणों में कहां, कब और किस परिस्थिति में उन उन विशेषणों की वृद्धि करनी पड़ी, इस सब का इतिवृत्त भी ज्ञात हो सकेगा और लक्षणावली में संकलित लक्षणों का प्रस्तावना में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जा सकेगा।

लाक्षणिक शब्दों को अकारादि क्रम से दिया जायगा। यदि वे लाक्षणिक शब्द कालक्रम से दिये जा सकें तो पाठकों और विद्वानों के लिए अधिक सुविधा हो सकेगी। मैंने कहा कि आपका यह विचार अति उत्तम है। परन्तु यह सब कार्य अत्यन्त परिश्रमसाध्य है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए दिगम्बर-श्वेताम्बर सभी ग्रन्थों के संग्रह करने की आवश्यकता होगी, जिसे पूरा करने का प्रयत्न होना चाहिए। जो ग्रन्थ उपलब्ध हो सकते हों उन्हें लायब्रेरी में मंगवा लीजिए। अवशिष्ट ग्रन्थ किन्हीं शास्त्र-भण्डारों से मंगवा कर पूरा कर लेना चाहिए। कार्य होने पर उनके वे ग्रन्थ वापिस कर दिये जांय।

साथ ही लक्षणावली की रूप-रेखा भी बननी चाहिए, जिससे लक्ष्य शब्दों का संग्रह उसी रूप में किया जा सके। और बाद में विद्वान उस रूप-रेखा के अनुसार ही लक्षणों का संग्रह करें। मुख्तार साहब ने कहा कि मैं लक्षणावली की रूप-रेखा बना दूंगा, जिससे कार्य योजनाबद्ध और जल्दी शुरु किया जा सके। मैं पहले विद्वानों को बुलाने के लिए आवश्यक विज्ञप्ति पत्र लिखे देता हूँ, उसे आप कापी करके सब जैन पत्रों को भिजवा दीजिये, जिससे नियुक्ति के लिए उन विद्वानों के पत्र आ सकें जो विद्वान इस कार्य में विशेष उत्साह रखते हैं और जिन्हें जैन साहित्य के अध्ययन की रुचि हो, अथवा जिन्होंने शब्द-कोष बनाने का कार्य किया हो या उसका कुछ अनुभव हो। विज्ञप्ति जैन साप्ताहिक पत्रों में भेज दी गई। साथ ही मुख्तार साहब ने एक पत्र बाबू छोटेलाल जी कलकत्ता, डा० ए. एन. उपाध्ये कोल्हापुर और मुनि श्री पुण्यविजय जी को अहमदाबाद भेजा। जिनकी नकल उन्होंने अपने पास रख ली। इन पत्रों के उत्तर से मुख्तार साहब के उत्साह में वृद्धि हुई। इधर विद्वानों के भी पत्र आये। उनमें से पं. ताराचन्द दर्शनशास्त्री और पं. किशोरीलाल जी को नियुक्ति पत्र दे दिया। कार्य की रूप-रेखा के सम्बन्ध में एक पत्र मुख्तार साहब ने बाबू छोटेलाल जी को लिखा और लक्षणावली के कार्य के शुरु करने की सूचना दी। और उसके लिए आर्थिक सहयोग की प्रेरणा करते हुए लक्षणावली के महत्त्व पर भी प्रकाश डाला। लक्षणावली का कार्य ८–९ महीना द्रुत गति से चला, किन्तु बाद में उसमें कुछ शैथिल्य आ गया। मालूम हुआ कि उसमें कुछ आर्थिक कठिनाई भी कारण है। बाबू छोटेलाल जी ने साहू शान्तिप्रसाद जी से कहकर लक्षणावली के लिए पन्द्रह हजार की सहायता की स्वीकृति प्राप्त की और साथ ही पांच हजार का चैक भी पत्र के साथ भिजवा दिया। उसके बाद लक्षणावली के लक्ष्य शब्दों पर लक्षणों के संग्रह का कार्य होने लगा। लक्षणावली में कुछ शब्द निरुक्त्यर्थ और स्वरूपात्मक शब्द भी संग्रहीत किये गये थे। अब दृष्टि में कुछ परिवर्तन हो जाने पर उन दोनों प्रकार के शब्दों को कम कर दिया।

---

५. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्। परीक्षा. १, १.

६. प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावज्ञानम्। सन्मति. टी. पृ. ५१८.

७. स्व-परव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणं। प्रमाणन. १,२. ८. सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्। प्रमाणमीमांसा १२.

दो शब्द

जैन लक्षणावली या परिभाषात्मक शब्द कोष का एक नमूना अनेकान्त के तीसरे वर्ष की प्रथम किरण में देने का विचार किया। अतः दिगम्बर-श्वेताम्बर के लक्ष्य शब्दों के अनुसार लक्षणों का संकलन करना शुरू किया गया। और उसमें दोनों सम्प्रदाय के लक्षणों को अलग-अलग दिया, कारण कि एक क्रम करने पर उसमें शताब्दीवार करने में बड़ी कठिनाई उपस्थित होती थी। दूसरे, आचार्यों के समय का कालक्रम निर्णीत नहीं था। फिर लक्षणों का सम्पादन संशोधन करके उसे प्रकाशन के योग्य बना दिया, पर उसके साथ हिन्दी नहीं दी जा सकी। इस कारण उसमें विवाद होना स्वाभाविक था। इसी से उन्हें अलग रक्खा गया। (देखो, अनेकान्त वर्ष ३ किरण १)

इस नमूने पर से लोगों के अनेक मन्तव्य आये, जिनका संकलन मुख्तार सा० ने रक्खा।

लक्षणों का कार्य प्रायः समाप्त हो गया, और कुछ ऐसे ग्रन्थ जरूर रह गये जो उस समय प्राप्त नहीं हो सके, जैसे महाबन्ध आदि, उसके कुछ वर्षों बाद उनका भी संग्रह कर लिया गया।

पर लक्षणावली का सम्पादन प्रकाशन पड़ा रहा। क्योंकि मुख्तार सा० अपने को अनवकाश से घिरा हुआ बतलाते थे, और दूसरे किसी ऐसे विद्वान की तलाश भी नहीं हुई, जो उस कार्य को सम्पन्न कर सकता, तलाश हुई भी तो उन्होंने उस कार्य की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। अतः वर्षों वह कार्य यों ही पड़ा रहा।

पं. दीपचन्द जी पाण्डया लगभग एक वर्ष रहे और पं. हीरालाल जी सिद्धान्त-शास्त्री वीर सेवा-मन्दिर में पाँच वर्ष रहे, किन्तु लक्षणावली का कार्य जो हुआ, वह अपूर्ण और अव्यवस्थित रहा। इसलिए उसका एक भाग भी प्रकाशित नहीं हो सका।

एक बार पं. हीरालाल शास्त्री ने बा. छोटे लाल जी से कहा कि लक्षणावली का एक खण्ड प्रकाशन के योग्य हो गया है। उन्होंने वह उसे मुख्तार सा. को देखने के लिए दिया। मुख्तार साहब ने उसे देखा, तब उन्होंने फुलिस्केप साइज के दो पेजों में उसकी त्रुटियों को लिखकर दिया और कहा यह सामग्री तो अपूर्ण और त्रुटियों से भरी हुई है, अतः प्रकाशन के अयोग्य है। त्रुटियां बता देने के बाद भी उनका सुधार नहीं हुआ, और न मूल लक्षणों का संशोधन ही किया गया। पं. हीरालाल जी घर चले गए और लक्षणावली का वह कार्य यों ही पड़ा रहा। पं. दीपचन्द जी पाण्डया ने लक्षणावली का कार्य किया, किन्तु वे भी बीच में चले गए और कार्य तदवस्थ रहा।

बाबू छोटेललजी को लक्षणावली के प्रकाशन की बड़ी चिन्ता रही, पर वह उनके जीवन काल में प्रकाशित नहीं हो सकी।

अंत में पं. दरबारीलाल जी की प्रेरणा से पं. बालचन्द जी सि. शास्त्री की वीर सेवा मन्दिर में नियुक्ति हुई। तब उन्होंने लक्षणावली का कार्य सम्हाला और लक्षणावली के मूल लक्षणों का संशोधन तथा अनुवाद कार्य किया। और अब उसका प्रथम खण्ड छप कर तैयार हो गया है।

इसमें दि. श्वे. लक्षणों का क्रम एक रखते हुए भी उनमें ऐतिहासिक क्रम यथाशक्य दिया गया है। अनुवाद किसी एक ग्रन्थगत लक्षण के आधार पर किया गया है। यदि कहीं कुछ विशेषता लक्षणों में दृष्टिगोचर हुई तो अन्य ग्रन्थों का भी अनुवाद दे दिया गया है, जिससे पाठकों को कोई भ्रम न हो।

ग्रन्थ की प्रस्तावना में १०२ ग्रन्थों और ग्रन्थकर्ताओं का परिचय इस खण्ड में दिया गया है, और शेष ग्रन्थों का परिचय अगले खंड में दिया जायगा।

परिशिष्टों में ग्रन्थों का अकारादि क्रम दिया गया है, उनमें उनके संस्करणों व प्रकाशन स्थान आदि को भी सूचित कर दिया गया है। संकेत-सूची, आचार्यों का ऐतिहासिक कालक्रम भी दे दिया गया है। जिससे पाठकों को किसी तरह की असुविधा न हो।

इस तरह लक्षणावली (पारिभाषिक शब्द कोश) के एक भाग का कार्य सम्पन्न हो पाया है। इस महान कार्य के लिए सम्पादक प. बालचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री और संस्थाके संचालक धन्यवाद के पात्र हैं।

—परमानन्द जैन शास्त्री

सम्पादकीय

लगभग ५ वर्ष पूर्व मैंने पं. दरबारीलाल जी कोठिया न्यायाचार्य, एम्. ए., पी.-एच्. डी. वाराणसी की प्रेरणा से यहाँ आकर प्रस्तुत लक्षणावली के सम्पादन कार्य को हाथ में लिया था। इसकी योजना स्व. श्रद्धेय पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार द्वारा तैयार की गई थी। उन्होंने इस कार्य को सम्पन्न कराने के लिए कुछ विद्वानों को नियुक्त कर उनके द्वारा दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के बहुत से ग्रन्थों से लक्षणों का संकलन भी कराया था। यह संकलन तब से यों ही पड़ा रहा। जो कुछ भी कठिनाइयाँ रही हों, उसे मुद्रण के योग्य व्यवस्थित कराकर प्रकाश में नहीं लाया जा सका।

अब जब मैंने उसे व्यवस्थित करने के कार्य को प्रारम्भ किया तो इसमें मुझे कुछ कठिनाइयों का अनुभव हुआ। जैसे—

१ उक्त संकलित लक्षणों में से यदि कितने ही लक्षणों में सम्बद्ध ग्रन्थों के नाम का ही निर्देश नहीं किया गया था तो अनेक लक्षणों में केवल ग्रन्थ के नाम मात्र का निर्देश किया गया था—उसके अन्तर्गत अधिकार, सूत्र, गाथा, श्लोक अथवा पृष्ठ आदि का कुछ भी निर्देश नहीं किया गया था। उनके खोजने में काफी कठिनाई हुई।

२ कुछ लक्षणों को ग्रन्थानुसार न देकर उन्हें तोड़-मरोड़कर कल्पितरूप में दिया गया था। उदाहरणार्थ धवला (पु. ११, पृ. ८९) में से संगृहीत 'अकर्मभूमिक' का लक्षण इस प्रकार दिया गया था—**पण्णारसकम्मभूमीसु उप्पण्णा कम्मभूमा, ण कम्मभूमा अकम्मभूमा, भोगभूमीसु उप्पण्णा अकम्मभूमा इत्यर्थः।**

परन्तु उक्त धवला में न तो इस प्रकार के समास का निर्देश किया गया है और न वहां धवलाकार का वैसा अभिप्राय भी रहा है। उन्होंने तो वहां इतना मात्र कहा है—**तत्थ अकम्मभूमा उक्कस्सट्ठिदिं ण बंधंति, पण्णारसकम्मभूमीसु उप्पण्णा चेव उक्कस्सट्ठिदिं बंधंति त्ति जाणावणट्ठं कम्मभूमियस्स वा त्ति भणिदं**[1]।

इस प्रकार के अप्रामाणिक लक्षणों का संकलन करना उचित प्रतीत नहीं हुआ। यदि ग्रन्थकार का कहीं उस प्रकार के लक्षण का अभिप्राय रहा है तो ग्रन्थगत मूल वाक्य को—चाहे वह हेतुपरक रहा हो या अन्य किसी भी प्रकार का—उसी रूप में लेकर आगे कोष्ठक में फलित लक्षण का निर्देश कर देना मैंने उचित समझा है।

३ कितने ही लक्षणों के मध्य में अनुपयोगी अंश को छोड़कर यदि आगे कुछ और भी लक्षणोपयोगी अंश दिखा है तो उसे ग्रहण तो कर लिया गया था, पर वहाँ बीच में छोड़े गये अंश की प्रायः सूचना नहीं की गई थी। ऐसे लक्षणों में कहीं-कहीं ग्रन्थकार के आशय के समझने में भी कठिनाई रही है। अतएव मैंने बीच में छोड़े हुए ऐसे अंश की सूचना × × × इस चिह्न के द्वारा कर दी है।

४ संगृहीत लक्षणों का जो हिन्दी अनुवाद किया गया था वह प्रायः भावात्मक ही सर्वत्र रहा है—जिन ग्रन्थों से विवक्षित लक्षण का संकलन किया गया है, उनमें से किसी के साथ भी प्रायः उसका मेल नहीं खाता था। यहां तक कि जो लक्षण केवल एक ही ग्रन्थ से लिया गया है उसका भी अनुवाद तदनुरूप नहीं रहा। जैसे 'अध्वर्यु' के लक्षण का अनुवाद इस प्रकार रहा है—

शिवसुखदायक पूजा—यज्ञ—के करनेवाले व्यक्ति को अध्वर्यु कहते हैं[2]।

इसके अतिरिक्त श्वे. ग्रन्थों में उपलब्ध अधिकांश लक्षणों का अनुवाद तो प्रायः कल्पना के आधार पर किया गया था, ग्रन्थगत अभिप्राय से वह बहिर्भूत ही रहा है।

---

१. धवलाकार को 'अकर्मभूमिक' से क्या अभीष्ट रहा है, इसे उक्त शब्द के नीचे देखिये।

२. उसका परिवर्तित अनुवाद उक्त शब्द के नीचे देखिये।

इस प्रकार के अनुवाद को न लेकर मैंने उल्लिखित ग्रन्थों में से किसी एक के आधार से—तथा उनमें से भी जहाँ तक सम्भव हुआ प्राचीनतम ग्रन्थ के आश्रय से—अनुवाद किया है एवं साथ में उसकी क्रमिक संख्या का निर्देश भी उसके पूर्व में कर दिया है। हां, यदि अन्य ग्रन्थगत विवक्षित लक्षण में कहीं कुछ विशेषता दिखी है तो उसके आधार से भी अनुवाद कर दिया है तथा उसके पूर्व में उसकी भी क्रमिक संख्या का निर्देश कर दिया है।

५ कहीं-कहीं ग्रन्थगत विवक्षित लक्षण के स्थल को न देखने के कारण लक्ष्य शब्द व उस लक्षण का अनुवाद दोनों ही असम्बद्ध हो गये थे। जैसे—धवला (पु. १३, पृ. ६२) में परिहार प्रायश्चित्त के इन दो भेदों का निर्देश किया गया है—'अणवट्ठओ' और 'पारंचिओ'। 'अणवट्ठओ' का संस्कृत रूपान्तर 'अनुवर्तक' स्वीकार करते हुए उसका अनुवाद इस प्रकार किया गया था—

जघन्य से छह मास और उत्कर्ष से बारह वर्ष तक कायभूमि से परे ही विहार करने वाला, प्रतिवन्दना से रहित, गुरु के अतिरिक्त शेष समस्त जनों में मौन रखनेवाला; उपवास, आचाम्ल, एक-स्थान, निर्विकृति आदि के द्वारा शरीर के रस, रुधिर और माँस का सुखानेवाला साधु **अनुवर्तक परिहार-विशुद्धिसंयत** कहलाता है।

यह विसंगति ग्रन्थगत 'परिहारो दुविहो' में केवल 'परिहार' शब्द को देखकर उससे 'परिहार-विशुद्धिसंयत' समझ लेने के कारण हुई है। पर वास्तव में वहां उसका कोई प्रकरण ही नहीं है, प्रकरण वहां आलोचनादि दस प्रकार के प्रायश्चित्त का ही है, जिन्हें धवलाकार के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

ऐसी ही कुछ कठिनाइयां मेरे सामने रही हैं, जिन्हें दूर करने के लिए विवक्षित लक्षणों से सम्बद्ध अधिकांश ग्रन्थों को देखना पड़ा है। इसी कारण समय कुछ कल्पना से अधिक लग गया।

यद्यपि इस स्पष्टीकरण की यहाँ कुछ भी आवश्यकता नहीं थी, पर चूंकि मेरे सामने कितनी ही बार यही प्रश्न आया है कि ग्रन्थ तो तैयार रखा था, फिर उसके प्रकाशन में इतना विलम्ब क्यों हो रहा; अतएव इतना स्पष्ट करना पड़ा है।

इसके अतिरिक्त सन् १९६९ के दिसम्बर में मैं अस्वस्थ हो गया और इस कारण मुझे चालू काम को छोड़कर अपने बच्चों के पास चला जाना पड़ा। स्वास्थ्यसुधार के लिए मुझे उनके पास लगभग १० माह रहना पड़ा। इस बीच मैंने अपनी अस्वस्थता के कारण प्रकृत कार्य के सम्पन्न करा लेने के लिए अन्य कुछ व्यवस्था कर लेने के विषय में भी प्रार्थना की थी, पर वैसा नहीं हुआ। अन्त में कुछ स्वस्थ हो जाने पर अधिकारियों की प्रेरणा से मैं वापिस चला आया व कार्य को गतिशील कर दिया। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ का यह स्वरान्त (अ–औ) प्रथम भाग पाठकों के हाथों में पहुँच रहा है।

यद्यपि मैंने यथासम्भव इसे अच्छा बनाने का प्रयत्न किया है, फिर भी वह त्रुटियों से सर्वथा रहित होगा, यह नहीं कहा जा सकता—अल्पज्ञता व स्मृतिहीनता के कारण उसमें अनेक त्रुटियों का रह जाना सम्भव है। वास्तव में ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य अनेक विद्वानों के सहकार की अपेक्षा रखते हैं।

हमें इस बात का विशेष दुःख है कि साहित्य-गगन के सूर्यस्वरूप जिन श्रद्धेय मुख्तार सा. ने इसकी योजना प्रस्तुत की थी और तदनुसार कुछ कार्य भी कराया था, वे आज अपनी इस कृति को देखने के लिए हमारे बीच नहीं रहे।

आभार

मई १९६७ में सम्पन्न हुए पं. गो. वरैया स्मृति ग्रन्थ के समारम्भ के समय उसके निमित्त से अनेक मूर्धन्य विद्वानों का यहाँ शुभागमन हुआ था। इस अवसर का लाभ उठाकर उन्हें वीर सेवा मन्दिर के भवन में प्रस्तुत लक्षणावली-विषयक विचार-विमर्श के लिए आमन्त्रित किया गया था। तदनुसार

उनका सम्मेलन श्री पं. कैलाशचन्द्र जी शास्त्री की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। जैसी कि अपेक्षा थी, इस विद्वत्सम्मेलन ने उक्त लक्षणावली के सम्बन्ध में कुछ उपयोगी सुझाव देते हुए उसके शीघ्र प्रकाशित कराने के लिए प्रेरणा की थी। उक्त विद्वत्सम्मेलन की सद्भावना से मुझे इस कार्य के सम्पन्न कराने में कुछ वल मिला व मार्गदर्शन भी प्राप्त हुआ। तदनुसार हीं मैंने यथाशक्ति उसके कार्य के सम्पन्न करने का प्रयत्न किया है।

ग्रन्थ की प्रस्तावना के लिखने में हमें जैन साहित्य और इतिहास, जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पुरातन जैन वाक्य-सूची की प्रस्तावना, सिद्धिविनिश्चय की प्रस्तावना, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, जैन साहित्य का इतिहास—पूर्व पीठिका, तथा जैन साहित्य का वृहद् इतिहास (भाग १-५) इत्यादि पुस्तकों के साथ सम्बद्ध ग्रन्थों में से कुछ की प्रस्तावना आदि से भी सहायता मिली है। इसके लिए मैं उक्त पुस्तकों के लेखक विद्वानों का ऋणी हूँ।

श्री वावू पन्नालाल जी अग्रवाल को मैं नहीं भूल सकता, जिनकी कृपा से मुझे समय-समय पर आवश्यकतानुसार कुछ ग्रन्थ प्राप्त होते रहे हैं।

प्रस्तावना के अन्तर्गत ग्रन्थपरिचय के लिखने में श्रीमान् साहू शान्तिप्रसाद जी जैन (अध्यक्ष वीर सेवा मन्दिर) के कुछ सुझाव रहे हैं। साथ ही ग्रन्थकारों की अनुक्रमिणका के दे देने के लिए भी आपकी प्रेरणा रही है। आपके सुझावों पर मैंने यथासम्भव ध्यान दिया है। ग्रन्थकारों में प्रायः वहुतों का समय निश्चित नहीं है। फिर भी उनके समय के सम्बन्ध में जितनी कुछ सम्भावना की जा सकी है, तदनुसार समय के निर्देशपूर्वक उनकी अनुक्रमणिका परिशिष्ट में दे दी गई है। साहू जी की इस कृपा के लिए मैं उनका विशेष आभारी हूँ। साथ ही श्री डॉ. गोकुलचन्द जी के भी कुछ उपयोगी सुझाव रहे हैं, उन्हें भी मैं भूल नहीं सकता।

वीर सेवा मन्दिर के एक पुराने विद्वान् श्री पं. परमानन्द जी शास्त्री से मुझे समय-समय पर योग्य परामर्श मिलता रहा है। दूसरे विद्वान् श्री पं. पार्श्वदास जी न्यायतीर्थ ने प्रेसकापी करके सहायता की है। तथा प्रूफवाचन में भी आप सहायक रहे हैं। इन दोनों ही विद्वानों का मैं अतिशय कृतज्ञ हूँ।

वीर सेवा मन्दिर के भूतपूर्व उपाध्यक्ष राय सा. ला. उलफतराय जी तथा मंत्री श्री वावू प्रेमचन्द जी जैन (कश्मीर वाले) ने इस गुरुतर कार्य के भार को सौंप कर मेरा वड़ा अनुग्रह किया है। उसके आश्रय से मुझे कितने ही अपरिचित ग्रन्थों के देखने का सुयोग प्राप्त हुआ है। अतएव मैं आप दोनों ही महानुभावों का अत्यन्त आभारी हूँ।

इसी प्रकार की यदि आगे भी अनुकूल परिस्थिति वनी रही तथा स्वास्थ्य ने भी साथ दिया तो आशा करता हूँ कि प्रस्तुत ग्रन्थ का दूसरा भाग भी शीघ्र प्रकाशित हो सकेगा।

दीपावली
१८-१०-७१

वालचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री

प्रस्तावना

लक्षणावली व उसकी उपयोगिता

यह एक जैन पारिभाषिक शब्दकोष है। इसमें लगभग ४०० दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रंथों से ऐसे शब्दों का संकलन किया गया है, जिनकी कुछ न कुछ परिभाषा उपलब्ध होती है। सभी सम्प्रदायों में प्राय: ऐसे पारिभाषिक शब्द उपलब्ध होते हैं। उनका ठीक-ठीक अभिप्राय समझने के लिए उन-उन ग्रन्थों का आश्रय लेना पड़ता है। परन्तु सबके पास इतने अधिक ग्रन्थों का प्राय: संग्रह नहीं रहता। इसके अतिरिक्त अधिकांश ग्रन्थ पुरानी पद्धति से प्रकाशित हैं व उनमें अनुक्रमणिका आदि का अभाव है। अत: उनमें से अभीष्ट लक्षण के खोजने के लिए परिश्रम तो अधिक करना ही पड़ता है, साथ ही समय भी उसमें बहुत लगता है। इससे एक ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता थी, जिसमें पारिभाषिक शब्दों का संकलन हो। प्रस्तुत लक्षणावली इसी प्रकार का ग्रंथ है। इसमें अकारादि वर्णानुक्रम के अनुसार विविध ग्रन्थों से लक्ष्य शब्दों का संग्रह किया गया है। इससे तत्त्वजिज्ञासुओं और अनुसन्धान करने वालों को इस एक ही ग्रन्थ में अभीष्ट लक्ष्य के अनेक ग्रन्थगत लक्षण अनायास ही ज्ञात हो सकते हैं। इस प्रकार उनका समय और शक्ति दोनों ही बच सकते हैं। हम समझते हैं कि पाठकों को प्रस्तुत ग्रन्थ अवश्य ही उपयोगी प्रमाणित होगा। अभी इसका स्वरान्त (अ से औ तक) प्रथम भाग ही प्रकाशित हो रहा है। आगे का कार्य चालू है।

लक्षणावली में स्वीकृत पद्धति

१. लक्षणावली में उपयुक्त लक्ष्य शब्दों का संस्कृत रूप ग्रहण किया गया है। कहीं-कहीं पर कोष्ठक ( ) में उसका प्राकृत रूप भी दे दिया गया है।

२. लक्ष्यभूत शब्दों को काले टाइप (१४ पा.) में मुद्रित कराया गया है। ग्रन्थों के संकेतों को भी काले टाइप (१२ पा.) में दिया गया है।

३. शब्दों के नीचे विविध ग्रन्थों से जो लक्षण उद्धृत किये गये हैं उनका मुद्रण सफेद टाइप में हुआ है। प्रत्येक शब्द के नीचे जितने ग्रन्थों से लक्षण उद्धृत किये गये हैं उनकी क्रमिक संख्या भी दे दी गई है।

४. हिन्दी अनुवाद को काले टाइप में दिया गया है।

५. अनुवाद किसी एक ग्रन्थ के आधार से किया गया है और वह जिस ग्रन्थ के आश्रय से किया गया है उसकी क्रमिक संख्या अनुवाद के पूर्व में अंकित कर दी गई है। यदि विवक्षित लक्षण में ग्रन्थान्तरों में कुछ विशेषता दृष्टिगोचर हुई है तो कहीं-कहीं २-३ ग्रन्थों के आधार से भी पृथक्-पृथक् अनुवाद कर दिया गया है तथा उन ग्रन्थों की क्रमिक संख्या भी अंकित कर दी गई है।

६. कितने ही लक्षण जयधवला की सम्भवत: अमरावती और आरा या देहली प्रति से उद्धृत किये गये हैं, पर ये प्रतियां सामने न रहने से उन संकेतों को व्यवस्थित रूप में नहीं दिया जा सका। इसके अतिरिक्त कितने ही लक्षण जयधवला से ऐसे भी लिये गये हैं जो कसायपाहुडसुत्त और धवला में भी कहीं-कहीं टिप्पणों में उपलब्ध होते हैं। उनको प्रस्तुत संस्करण में ग्रहण कर तदनुसार संकेत में

'जयध.—क. पा.' का उल्लेख करके उसकी पृष्ठसंख्या और टिप्पणसंख्या दे दी गई है। इसी प्रकार धवला की भी पुस्तक, पृष्ठ और टिप्पण की संख्या अंकित कर दी गई है।

७. कितने ही लक्षण अभिधानराजेन्द्र कोष में उपलब्ध होते हैं, परन्तु वहां ग्रन्थ का पूर्ण संकेत न होने से विवक्षित लक्षण किस ग्रन्थ का है, इसकी खोज नहीं की जा सकी। ऐसे लक्षणों के नीचे 'अभि. रा.' का संकेत करके उसके भाग व पृष्ठ की संख्या अंकित कर दी गई है।

८. भगवती सूत्र और व्यवहार सूत्र के बहुत से लक्षण संगृहीत हैं। परन्तु भगवती सूत्र के जिस संस्करण से लक्षण लिये गये हैं, उसके यहां न मिल सकने से वैसे ही अंक दे दिये गये हैं। गुजरात विद्यापीठ से प्रकाशित भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) के यहां प्रथम, तृतीय और चतुर्थ ये तीन खण्ड हैं, द्वितीय खण्ड नहीं हैं। इनमें जो लक्षण उपलब्ध हो सके हैं उनका संकेत में उल्लेख कर दिया गया है। व्यवहार सूत्र के १० उद्देश हैं। उनमें यहां द्वितीय उद्देश अपूर्ण है तथा तृतीय सर्वथा ही नहीं है। व्यवहार सूत्र(भाष्य) से जो लक्षण लिये गये हैं वे सम्भवतः किसी दूसरे संस्करण से लिये गये हैं। उनमें से जो यहां के संस्करण में खोजे जा सके हैं उनके लिए उद्देश, गाथा और पृष्ठ की संख्या दे दी गई है, परन्तु जो इसमें उपलब्ध नहीं हो सके उनका संकेत उसी रूप में दिया गया है।

९. अनेक ग्रन्थों से उद्धृत लक्षणों में जहां शब्दशः और अर्थतः समानता रही है वहां प्रायः प्राचीनतम किसी एक ग्रन्थ का प्रारम्भ में संकेत करके तत्पश्चात् शेष दूसरे ग्रन्थों का अर्धविराम (;) चिह्न के साथ संकेत मात्र कर दिया गया है।

१०. जहां प्रकृत लक्षण किसी एक ही ग्रन्थ में कई स्थलों में उपलब्ध हुआ है वहां एक ही संख्या में उसके उन स्थलों का संकेत (;) इस चिह्न के साथ कर दिया गया है।

११. तत्त्वार्थवार्तिक के लक्षणों में वार्तिक को काले टाइप में और उसके विवरण (स्पष्टीकरण) को सफेद टाइप में मुद्रित कराया गया है। षट्खण्डागम के अन्तर्गत लक्षणों में 'षट्खं.' के आगे डैश (—) देकर 'धव. पु. १–२' आदि की पृष्ठ संख्या दे दी गई है। धवला टीका से संगृहीत लक्षणों के लिए मात्र 'धव. पु.' संकेत किया गया है।

ग्रन्थ-परिचय

प्रस्तुत ग्रन्थ में जिन ग्रन्थों के लक्षण-वाक्यों का संग्रह किया गया है उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. षट्खण्डागम—यह आचार्य पुष्पदन्त और भूतवलि द्वारा विरचित एक महत्त्वपूर्ण कर्मग्रन्थ है। रचनाकाल इसका विक्रम की प्रथम शताब्दी है। यह छह खण्डों में विभक्त है। छह खण्डों में विभक्त होने से वह 'षट्खण्डागम' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। वे छह खण्ड ये हैं—जीवस्थान, क्षुद्रकवन्ध, वन्ध-स्वामित्वविचय, वेदना, वर्गणा और महावन्ध है। इनमें से प्रथम खण्डभूत जीवस्थान के अन्तर्गत सत्प्ररूपणा मात्र के रचयिता आचार्य पुष्पदन्त हैं। शेष सभी ग्रन्थ आचार्य भूतवलि के द्वारा रचा गया है।

निरन्तर जन्म-मरण को प्राप्त करने वाला यह संसारी प्राणी यदि कभी देव होता है तो कभी नारकी होता है, कभी मनुष्य होता है तो कभी तिर्यंच होता है, कभी विशिष्ट ज्ञानी होता है तो कभी अल्पज्ञानी होता है, कभी अतिशय सुखी होता है तो कभी भयानक दुःख को सहता है, कभी कामदेव जैसा स्वरूप होता है तो कभी वेडौल और कुरूप होता है, कभी उत्तम कुल में जन्म लेकर लोकमान्य होता है तो कभी नीच कुल में जन्म लेकर धिक्कारा जाता है, तथा कभी विना किसी प्रकार के परिश्रम के अतिशय सम्पत्तिशाली होता है तो कभी दिन-रात परिश्रम करता हुआ कुटुम्ब के भरण-पोषण योग्य भी पैसा नहीं प्राप्त कर पाता है। इस प्रकार सभी संसारी प्राणी सुख तो अल्प, किन्तु दुःख ही अधिक पाते हैं। इस विषय में विचार करने पर प्रतीत होता है कि इसका कारण स्वकृत कर्म है। प्राणी निन्द्य या उत्तम जैसा कुछ भी आचरण करता है, तदनुसार उसके कर्म का वन्ध हुआ करता है। इस प्रकार वन्ध को प्राप्त होने वाले उस कर्म में कषाय की तीव्रता व मन्दता के अनुसार स्थिति

(जीव के साथ उसके सम्बद्ध रहने का काल) व अनुभाग (फलदानशक्ति) पड़ा करता है। जिस प्रकार आम आदि फल अपने समय पर परिपाक को प्राप्त होकर भोक्ता को मिठास व खटाई आदि का अनुभव कराया करते हैं, उसी प्रकार वह कर्म भी अपनी स्थिति के अनुसार उदय (परिपाक) को प्राप्त होने पर सुख-दुःखादि रूप हीनाधिक फल दिया करते हैं। साथ ही जिस प्रकार फलों को पाल में देकर कभी समय से पूर्व भी पका लिया जाता है उसी प्रकार तपश्चरण के द्वारा कर्म को भी स्थिति पूर्ण होने के पूर्व ही उदय को प्राप्त करा लिया जाता है, तथा इसी प्रकार के उत्तम अनुष्ठान से नवीन कर्मबन्ध को भी रोका जा सकता है। इस प्रकार प्राणी अपने सुख-दुःख का विधाता स्वयं है, दूसरा उसका कोई माध्यम नहीं है। जो आत्महितैषी भव्य जीव शरीर और आत्मा के भेद का अनुभव करता हुआ पर में राग-द्वेष नहीं करता है वह संयम का परिपालन करता हुआ मुक्ति को भी प्राप्त कर लेता है—स्वयं आराध्य या ईश्वर बन जाता है। इस सबका परिज्ञान प्रस्तुत षट्खण्डागम के अध्ययन से प्राप्त किया जा सकता है।

(१) **जीवस्थान**—यह उक्त षट्खण्डागम का प्रथम खण्ड है। पूर्वोक्त कर्म के उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षय के आश्रय से जीवकी जो परिणति होती है उसका नाम गुणस्थान है, जो मिथ्यात्व व सासादन आदि के भेद से चौदह प्रकार का है। जिन अवस्थाविशेषों के द्वारा जीवों का मार्गण या अन्वेषण किया जाता है उन अवस्थाओं को मार्गणा कहा जाता है। वे चौदह हैं—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार। प्रकृत जीवस्थान में कौन जीव किस गुणस्थान में है या किन जीवों के कितने गुणस्थान सम्भव हैं, किस-किस गुणस्थानवर्ती जीवों की कितनी संख्या है, कहाँ वे रहते हैं, कहाँ तक जा आ सकते हैं, किस गुणस्थान का कितना काल है, एक गुणस्थान को छोड़कर पुनः उस गुणस्थान की प्राप्ति में कितना काल लग सकता है, किस गुणस्थान में औदयिकादि कितने भाव हो सकते हैं, तथा विवक्षित गुणस्थानवर्ती जीव किस गुणस्थानवर्ती जीवोंसे हीन या अधिक हैं, इस सबका विचार यहां प्रथमतः गुणस्थान के आश्रय से किया गया है। तत्पश्चात् इन्हीं सब बातों का विचार वहां गति व इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओं के आधार से भी किया गया है। अन्त में अनेक प्रकार की कर्मप्रकृतियों का निर्देश करते हुए उनकी पृथक्-पृथक् स्थिति और उदय में आने योग्य काल की चर्चा करते हुए किस पर्याय में कितने व कौन से गुण प्राप्त हो सकते हैं, तथा आयु के पूर्ण होने पर पूर्व शरीर को छोड़कर कौन जीव कहां उत्पन्न हो सकता है, इसका विवेचन किया गया है। इसी प्रसंग में कौन जीव किस प्रकार से सम्यग्दर्शन और चारित्र को प्राप्त कर सकता है, इसकी भी चर्चा यहां की गई है। यह खण्ड शितावराय लक्ष्मीचन्द जैन साहित्योद्धारक फण्ड अमरावती से प्रारम्भ की ६ जिल्दों में प्रकाशित हुआ है।

(२) **क्षुद्रकबन्ध**—यहां संक्षेप में बन्धक जीवों की चर्चा की गई है। बन्ध की विस्तृत प्ररूपणा इसके छठे खण्ड महाबन्ध में की गई है। यही कारण जो इसे क्षुद्रकबन्ध कहा गया है। पूर्व जीवस्थान खण्ड में जीवों का जो विवेचन गुणस्थानों और मार्गणाओं के आश्रय से किया गया है वह यहां कुछ विशेषताओं के साथ गुणस्थान निरपेक्ष केवल मार्गणाओं के आश्रय से इन ११ अनुयोगद्वारों में किया गया है—एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व, एक जीव की अपेक्षा काल, एक जीव की अपेक्षा अन्तर, नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शनानुगम, नाना जीवों की अपेक्षा काल, नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर, भागाभागानुगम और अल्पबहुत्वानुगम। यह खण्ड उक्त संस्था द्वारा ७वीं जिल्द में प्रकाशित किया गया है।

(३) **बन्धस्वामित्वविचय**—मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग के द्वारा जो जीव और कर्मपुद्गलों का एकता (अभेद) रूप परिणमन होता है वह बन्ध कहलाता है। किन कर्मप्रकृतियों के बन्ध के कौन जीव स्वामी हैं और कौन नहीं हैं, इसका विचार इस खण्ड में प्रथमतः गुणस्थान के आश्रय से और तत्पश्चात् मार्गणाओं के आश्रय से किया गया है। विवक्षित प्रकृतियों का बन्ध जिस गुणस्थान तक होता है, आगे नहीं होता; उन प्रकृतियों का वहां तक बन्ध और आगे के गुणस्थानों में उनकी बन्धव्युच्छित्ति

जानना चाहिये। इसी पद्धति से यहां प्रश्नोत्तरपूर्वक उसका विचार किया गया है। यह खण्ड उक्त संस्था से ८वीं जिल्द में प्रकाशित हुआ है।

(४) **वेदनाखण्ड**—इस खण्ड को प्रारम्भ करते हुए प्रथमतः 'णमो जिणाणं, णमो ओहिजिणाणं' आदि ४४ सूत्रों द्वारा मंगल किया गया है। पश्चात् अग्रायणीय पूर्व के अन्तर्गत पांचवीं वस्तु (अधिकार-विशेष) के चतुर्थ प्राभृतभूत कर्मप्रकृति-प्राभृत कृति-वेदनादि २४ अनुयोगद्वारों का निर्देश करते हुए नामकृति, स्थापनाकृति, द्रव्यकृति, गणनाकृति, ग्रन्थकृति, करणकृति और भावकृति इन सात कृतियों की प्ररूपणा की गई है। तत्पश्चात् वेदनानिपेक्ष, वेदनानयविभाषणता, वेदनानामविधान, वेदनाद्रव्यविधान, वेदनाक्षेत्रविधान, वेदनाकालविधान, वेदनाभावविधान, वेदनाप्रत्ययविधान, वेदनास्वामित्वविधान, वेदना-वेदनविधान, वेदनागतिविधान, वेदनाअनन्तरविधान, वेदनासंनिकर्षविधान, वेदनापरिणामविधान, वेदना-भागाभागविधान और वेदना-अल्पबहुत्व इन १६ अनुयोगद्वारों के आश्रय से वेदना की प्ररूपणा की गई है। यह खण्ड उक्त संस्था द्वारा ९ से १२ इन चार जिल्दों में प्रकाशित हुआ है।

(५) **वर्गणा**—इस खण्ड के प्रारम्भ में प्रथमतः नाम-स्थापनादिरूप तेरह प्रकार के स्पर्श की प्ररूपणा स्पर्शनिक्षेप व स्पर्शनयविभाषणता आदि १६ (वेदनाखण्ड के समान) अनुयोगद्वारों के आश्रय से की गई है। अनन्तर नामकर्म, स्थापनाकर्म, द्रव्यकर्म, प्रयोगकर्म, समवदानकर्म, अधःकर्म, ईर्यापथकर्म, तपःकर्म, क्रियाकर्म और भावकर्म इन दस कर्मों का विवेचन किया गया है[1]। इन कर्मों का निरूपण आचारांग में भी किया गया है। तत्पश्चात् निक्षेपादि १६ अनुयोग द्वारों के आश्रय से कर्म की मूल और उत्तर प्रकृतियों की प्ररूपणा की गई है।

कर्म से सम्बन्धित ये चार अवस्थायें हैं—बन्ध, बन्धक, बन्धनीय और बन्धविधान। द्रव्य का द्रव्य के साथ अथवा द्रव्य-भाव का जो संयोग या समवाय होता है उसका नाम बन्ध है। इस बन्ध के करने वाले जो जीव हैं वे बन्धक कहलाते हैं। बन्ध के योग्य जो पुद्गल द्रव्य हैं उन्हें बन्धनीय कहा जाता है। बन्धविधान से अभिप्राय बन्धभेदों का है। वे चार हैं—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश। इनमें यहां बन्ध, बन्धक और बन्धनीय इन तीन की प्ररूपणा की गई है। बन्धविधान की प्ररूपणा विस्तार से छठे खण्ड महाबन्ध में की गई है। यह खण्ड उक्त संस्था से १३ और १४ इन दो जिल्दों में प्रकाशित हुआ है।

इन पांच खण्डों पर आचार्य वीरसेन द्वारा विरचित ७२००० श्लोक प्रमाण धवला नाम की टीका है, जो शक सम्वत् ७३८ (वि० सं० ८७३) में उनके द्वारा समाप्त की गई है। उक्त संस्था द्वारा इस टीका के साथ ही मूल ग्रन्थ १४ जिल्दों में प्रकाशित हुआ है।

आगे इस धवला टीका में कर्मप्रकृतिप्राभृत के कृति आदि २४ अनुयोगद्वारों में जो निबन्धन आदि शेष १८ अनुयोगद्वार मूल ग्रन्थकार के द्वारा नहीं प्ररूपित हैं, उनकी प्ररूपणा संक्षेप से वीरसेनाचार्य के द्वारा की गई है[2]। इस प्रकार वीरसेनाचार्य द्वारा प्ररूपित वे अठारह अनुयोगद्वार उक्त संस्था द्वारा १५ और १६ इन दो जिल्दों में प्रकाशित किये गये हैं।

(६) **महाबन्ध**—यह प्रस्तुत षट्खण्डागम का अन्तिम खण्ड है। इसमें प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन पूर्वनिर्दिष्ट बन्ध के चार भेदों की प्ररूपणा विस्तार से की गई है। इस पर कोई टीका नहीं है। वह मूलग्रन्थकार आ. भूतबलि के द्वारा इतना विस्तार से लिखा गया है कि सम्भवतः उसके

---

१. णामं ठवणाकम्मं दव्वकम्मं पओगकम्मं च। समुदाणिरियावहियं आहाकम्मं तवोकम्मं॥ किइकम्म भावकम्मं दसविहकम्मं समासओ होई। आचारांग नि. गा. १९२-९३, पृ. ८३.

२. भूदबलिभडारएण जेणेदं सुत्तं देसामासियभावेण लिहिदं तेणेदेण सुत्तेण सूचिदसेसअट्ठारसअणियोग-द्दाराणं किंचिसंखेवेण परूवणं कस्सामो। धव. पु. १५, पृ. १ (विशेष के लिए देखिये अनेकान्त वर्ष १९, किरण ४, पृ. २६५-७० में 'षट्खण्डागम और शेष १८ अनुयोगद्वार' शीर्षक लेख)।

ऊपर टीका लिखने की आवश्यकता नहीं समझी गई। इसका ग्रन्थप्रमाण ३०००० श्लोक है, जब कि पूर्वोक्त पांच खण्डों का मूल ग्रन्थप्रमाण ६००० श्लोक ही है।

यह छठा खण्ड भारतीय ज्ञानपीठ काशी के द्वारा सात जिल्दों में प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग निम्न शब्दों में हुआ है:—

मूल—अकायिक, अजघन्य द्रव्यवेदना, अधःकर्म, आगमभावप्रकृति, आगमभावबन्ध, आलापनबन्ध और आहारद्रव्यवर्गणा आदि।

ध. टीका—अकर्मभूमिक, अकषाय, अकृतसमुद्घात, अक्ष (अवख), अक्षपकानुपशामक, अक्षरज्ञान, अक्षर-श्रुतज्ञान, अक्षरसमास, अक्षरसंयोग, अक्षिप्र, अक्षीणमहानस, अक्षेम, अक्षौहिणी, अश्वकर्णकरण, असातवेदनीय और असातसमयप्रबद्ध आदि।

२. **कसायपाहुड (कषायप्राभृत)**—यह आचार्य गुणधर के द्वारा रचा गया है। इसे पेज्ज-दोस-पाहुड भी कहा जाता है। पेज्ज (प्रेयस्) का अर्थ राग और दोस का अर्थ द्वेष होता है। ये (राग-द्वेष) दोनों चूंकि कषायस्वरूप ही है, अतः उक्त दोनों नाम समान अभिप्राय के सूचक हैं। इसका रचनाकाल सम्भवतः विक्रम की प्रथम शताब्दी से पूर्व है।

यह परमागम सूत्ररूप गाथाओं में रचा गया है। समस्त गाथाओं की संख्या २३३ (मूल गा. १८०+भाष्यगा. १५३) है। इसकी गाथायें दुरूह व अर्थगम्भीर हैं। षट्खण्डागम में जहाँ ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का विवेचन किया गया है वहां प्रस्तुत कसायपाहुड में एक मात्र मोहनीय कर्म का ही व्याख्यान किया गया है। इसमें प्रेयोद्वेषविभक्ति, स्थितिविभक्ति व अनुभागविभक्ति आदि १५ अर्थाधिकार हैं। इसके ऊपर आचार्य यतिवृषभ (विक्रम की छठी शताब्दी) प्रणीत ६००० श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र और आचार्य वीरसेन व उनके शिष्य जिनसेनाचार्य द्वारा विरचित ६०००० श्लोक प्रमाण जयधवला नाम की टीका है। उक्त टीका को २०००० श्लोक प्रमाण रचने के बाद आचार्य वीरसेन स्वर्गस्थ हो गए। तब उनकी इस अधूरी टीका की पूर्ति उनके शिष्य जिनसेनाचार्य के द्वारा की गई है। यह टीका जिनसेन स्वामी के द्वारा शक सं० ७६६ (वि०सं० ८६४) में पूर्ण की गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अभी तक पूर्वोक्त चूर्णि और जयधवला टीका के साथ ११ भाग दि० जैन संघ मथुरा के द्वारा प्रकाशित हुए हैं। इसके अतिरिक्त केवल उक्त चूर्णिसूत्रों के साथ वह वीर शासन संघ कलकत्ता द्वारा पृथक् से प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

चूर्णि—अकरणोपशामना, अश्वकर्णकरण और असामान्य स्थिति आदि।

ज. टीका—अकरणोपशामना, अकर्मबन्ध, अकर्मोदय, अतिस्थापना, अन्तकृद्दश, अपचयपद और अपवृद्धि आदि।

३. **समयप्राभृत**—यह आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा विरचित एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक ग्रन्थ है। कुन्दकुन्दका दूसरा नाम पद्मनन्दी भी रहा है। इनका समय प्रायः विक्रम की प्रथम शताब्दी माना जाता है। ये मूलसंघ के प्रमुख थे और कठोरतापूर्वक निर्मल चारित्र का परिपालन स्वयं करते व संघस्थ अन्य मुनि जनों से भी कराते थे। ये ८४ पाहुड ग्रन्थों के कर्ता माने जाते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में शुद्ध निश्चयनय की प्रधानता से शुद्ध आत्मतत्त्व का विचार किया गया है। इसमें ये ९ अधिकार हैं—जीवाजीवाधिकार (प्रथम व द्वितीय रंग), कर्तृ-कर्माधिकार, पुण्य-पापाधिकार, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष और सर्वविशुद्ध ज्ञान। इसकी समस्त गाथासंख्या ४४५ है। इसके ऊपर एक टीका (आत्मख्याति) अमृतचन्द्र सूरि (वि. की १०वीं शती) विरचित और दूसरी (तात्पर्यवृत्ति) आ. जयसेन (वि. की १२वीं शती) विरचित है। इसके कई संस्करण निकल चुके हैं। हमारे पास जो संस्करण है वह उक्त दोनों टीकाओं के साथ भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था काशी से प्रकाशित हुआ है।

इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अमूढदृष्टि, आलोचन और उपगूहन आदि।

आत्मख्याति—अध्यवसाय और अमूढदृष्टि आदि।

तात्पर्यवृत्ति—अनेकान्त आदि।

प्रस्तुत लक्षणावली में आ. कुन्दकुन्द विरचित इन अन्य ग्रन्थों का भी उपयोग हुआ है—

'प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, दर्शनप्राभृत, चारित्रप्राभृत, बोधप्राभृत, भावप्राभृत, मोक्षप्राभृत और द्वादशानुप्रेक्षा।

४. प्रवचनसार—इसमें ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन और चरणानुसूचिका चूलिका ये तीन श्रुतस्कन्ध (अधिकार) हैं। इनमें अध्यात्म की प्रधानता से ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र का निरूपण किया गया है। इनकी गाथा संख्या ९२+१०८+७५=२७५ है। इसके ऊपर भी आ. अमृतचन्द्र और जयसेन के द्वारा पृथक्-पृथक् टीका लिखी गई है। इसका एक संस्करण परम श्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई से उक्त दोनों टीकाओं के साथ प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अशुभोपयोग और उपयोग आदि।

अमृत. टी.—अपवाद, अपवादसापेक्ष उत्सर्ग, अलोक, अशुद्ध उपयोग, अशुभोपयोग, उपयोग।

जय. टी.—अर्थपर्याय और अलोक आदि।

५. पंचास्तिकाय—यह प्रथम व द्वितीय इन दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं। जो गुण और पर्यायों से सहित हो उसे द्रव्य कहते हैं। मूर्त और अमूर्त द्रव्यों के जो निर्विभाग अंश हैं वे प्रदेश कहलाते हैं। जो द्रव्य ऐसे प्रदेशों के समूह से संयुक्त हैं उन्हें अस्तिकाय कहा जाता है। वे पांच हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश। गुण और पर्यायों से संयुक्त होने के कारण यद्यपि काल भी द्रव्य है, पर प्रदेशप्रचयात्मक न होने से उसे अस्तिकायों में नहीं ग्रहण किया गया है। उसके भी स्वरूप आदि का दिग्दर्शन यहां संक्षेप में करा दिया गया है। इस प्रकार पांच अस्तिकाय और काल इन छह द्रव्यों की प्ररूपणा यहां प्रथम श्रुतस्कन्ध में की गई है। इस प्रथम श्रुतस्कन्ध का उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है—जो परमागम के सारभूत पंचास्तिकायों के संग्रह को जान करके राग और द्वेष को छोड़ता है वह दुःख से छुटकारा पा लेता है। इस शास्त्र के अर्थ को—शुद्ध चैतन्यस्वभाव आत्मा को—जान कर उसके अनुसरण में उद्यत होता हुआ जो जीव दर्शनमोह (मिथ्यात्व) से रहित हो जाता है वह राग-द्वेष को नष्ट करता हुआ पूर्वापर बन्ध से रहित हो जाता है—दुःख से मुक्ति पा लेता है।

आगे द्वितीय श्रुतस्कन्ध में प्रथमतः मोक्षमार्ग के विषयभूत जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इन नौ पदार्थों का विवेचन किया गया है। तत्पश्चात् मोक्षमार्ग स्वरूप ज्ञान, दर्शन और चारित्र के स्वरूप को बतला कर परचरित (परसमय) और स्वचरित (स्वसमय) का विचार करते हुए कहा गया है कि संसारी जीव यद्यपि स्वभावनियत है—ज्ञान-दर्शन में अवस्थित है—फिर भी अनादि मोहनीय कर्म के उदय से वह विभाव गुण-पर्यायों से परिणत होता हुआ परसमय है। यदि वह मोहनीय के उदय से होने वाली विभाव परिणति से रहित होकर अत्यन्त शुद्ध उपयोग वाला हो जाता है तो वह कर्मबन्ध से रहित हो सकता है। इत्यादि प्रकार से यहां निश्चय-व्यवहारस्वरूप मोक्षमार्ग का विचार किया गया है। अन्त में ग्रन्थकार के द्वारा कहा गया है कि मैंने प्रवचनभक्ति से प्रेरित होकर मार्गप्रभावना के लिए प्रवचन के सारभूत पंचास्तिसंग्रह सूत्र को कहा है। इस पर भी अमृतचन्द्र सूरि विरचित तत्त्वदीपिका और जयसेनाचार्य विरचित तात्पर्यवृत्ति नाम की दो टीकायें हैं। इसकी गाथासंख्या १०४+६९=१७३ है। इन दोनों टीकाओं के साथ वह परम श्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अधर्मद्रव्य, अस्तिकाय और आकाश आदि।

तत्त्वदी.—अकालुष्य, अचक्षुदर्शन, अजीव, अपक्रमषट्क, अभिनिबोध, अलोक, अशुद्ध चेतना, अस्ति-अवक्तद्रव्य, अस्तिद्रव्य, अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यद्रव्य और अस्ति-नास्तिद्रव्य आदि।

तात्पर्य.—अक्षरात्मक, अचक्षुदर्शन, अजीव, अधर्मद्रव्य, अपक्रमषट्क और अलोक आदि।

६. **नियमसार**—ग्रन्थकार कुन्दकुन्दाचार्य ने यहाँ सर्वप्रथम वीर जिन को नमस्कार करते हुए केवली एवं श्रुतकेवली द्वारा प्रणीत नियमसार के कहने की प्रतिज्ञा की है। फिर 'नियमसार' के शब्दार्थ को प्रगट करते हुए कहा गया है कि जो कार्य नियम से किया जाना चाहिए वह नियम कहलाता है। वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र स्वरूप है। इस 'नियम' के साथ जो 'सार' शब्द प्रयुक्त है वह विपरीतता के परिहारार्थ है। यह ज्ञान-दर्शन-चारित्रस्वरूप नियम भेद व अभेद विवक्षा से दो प्रकार का है। शुद्ध ज्ञानचेतना-परिणामविषयक ज्ञान व श्रद्धा के साथ उसी में स्थिर रहना, यह अभेद रत्नत्रय स्वरूप नियम है। तथा आप्त, आगम और तत्त्व के श्रद्धान के साथ जो तद्विषयक राग-द्वेष की निवृत्ति है, यह व्यवहार रत्नत्रय स्वरूप नियम है जो भेदाश्रित है। यह नियम मोक्ष का उपाय है और उसका फल निर्वाण है। इन्हीं तीनों की यहाँ पृथक्-पृथक् प्ररूपणा की गई है। इस प्रसंग में यहाँ प्रथमतः उक्त सम्यग्दर्शन के विषयभूत आप्त, आगम और तत्त्व का विवेचन करते हुए आप्तप्रणीत तत्वार्थों—जीवादि छह द्रव्यों— का वर्णन किया गया है। इस बीच प्रसंग पाकर पाँच व्रतों, पाँच समितियों और तीन गुप्तियोंरूप व्यवहार चारित्र का निरूपण करते हुए अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु का स्वरूप प्रगट किया गया है। इस प्रकार यहाँ आत्मशोधन में उपयोगी प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित्त, परमसमाधि, रत्नत्रय और आवश्यक का विवेचन करते हुए शुद्ध आत्म-विषयक विचार किया गया है। ग्रन्थगत गाथाओं की संख्या १८६ है। इस पर पद्मप्रभ मलधारिदेव (वि. सं. १३वीं शताब्दी—१२४२) के द्वारा टीका रची गई है। इस टीका के साथ वह जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अचौर्य महाव्रत, अधर्मद्रव्य, अर्हन्, अहिंसामहाव्रत, आकाश, आदाननिक्षेपणसमिति, आप्त, ईर्यासमिति और एषणासमिति आदि।

टीका—अधर्म द्रव्य और आकाश आदि।

७. **दर्शनप्राभृत**—इसमें ३६ गाथायें हैं। सर्वप्रथम यहां सम्यग्दर्शन को धर्म का मूल बता कर यह कहा गया है कि जो जीव सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है उसे भ्रष्ट ही समझना चाहिए, वह कभी मुक्ति को प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु जो चरित्र से भ्रष्ट है, वह समयानुसार मुक्त हो सकता है। सम्यग्दर्शन से रहित जीव घोर तपश्चरण क्यों न करते रहें, परन्तु वे करोड़ों वर्षों में भी बोधि को नहीं प्राप्त कर सकते। जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट हैं वे ज्ञान और चारित्र से भी भ्रष्ट हैं। ऐसे जीव स्वयं तो नष्ट होते ही हैं, साथ ही दूसरों को भी नष्ट किया करते हैं। यहां सम्यग्दर्शन के स्वरूप को प्रगट करते हुए कहा गया है कि जो छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पांच अस्तिकाय और सात तत्त्व इन जिनप्रणीत तत्त्वों के स्वरूप का श्रद्धान करता है उसे सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए। यह व्यवहार सम्यक्त्व है। निश्चय से तो आत्मा ही सम्यग्दर्शन है। आगे कहा गया है कि जो शक्य अनुष्ठान को—जिसे किया जा सकता है—करता है और अशक्य पर श्रद्धा रखता है, उसके सम्यक्त्व है या वह सम्यग्दृष्टि है; ऐसा केवली के द्वारा कहा गया है। इस प्रकार यहां सम्यग्दर्शन की महिमा को प्रगट किया गया है। इसके ऊपर भट्टारक श्रुत-सागर सूरि के द्वारा टीका रची गई है। इस टीका के साथ वह 'षट्प्राभृतादिसंग्रह' में मा० दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—आज्ञासम्यक्त्व और उपदेश सम्यक्त्व आदि।

८. **चारित्रप्राभृत**—इसमें ४४ गाथायें हैं। यहां चारित्र के दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—सम्यक्त्वचरणचारित्र और संयमचरणचारित्र। निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये जो सम्यक्त्व के आठ गुण या अंग हैं उनसे विशुद्ध उस सम्यग्दर्शन का जो ज्ञान के साथ आचरण किया जाता है इसे सम्यक्त्वचरणचारित्र कहा जाता है। जीव

सम्यग्दर्शन से द्रव्य-पर्यायों को देखता है—श्रद्धा करता है, ज्ञान से जानता है तथा चारित्र से दोषों को दूर करता है।

सागार और अनगार के भेद से संयमचरण दो प्रकार का है। दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्त, रात्रिभक्त, ब्रह्म, आरम्भ, परिग्रह, अनुमनन और उद्दिष्ट इन ग्यारह प्रतिमाओं का यहां संक्षेप में निर्देश करते हुए इस सब आचरण को देशविरत (सागारचारित्र) कहा गया है। आगे पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का उल्लेख करके सागारसंयमचरण को समाप्त किया गया है। यहाँ इतना विशेष है कि गुणव्रतों में दिशा-विदिशामान, अनर्थदण्डवर्जन और भोगोपभोगपरिमाण को तथा शिक्षाव्रतों में सामायिक, प्रोषध, अतिथिपूजा और सल्लेखना इन चार को ग्रहण किया गया है।

दूसरे अनगारसंयमचरण का विचार करते हुए मनोज्ञ व अमनोज्ञ सजीव व अजीव द्रव्य के विषय में राग-द्वेष के परिहारस्वरूप पांच इन्द्रियों के संवरण, पांच व्रत, पांच समितियां और तीन गुप्तियां, इन सबको अनगारसंयमचरण कहा गया है। यहाँ अहिंसादि पांच व्रतों का निर्देश करते हुए उनकी पृथक् पृथक् भावनाओं का भी उल्लेल किया गया है। तत्पश्चात् पाँच समितियों का निर्देश करते हुए अन्त में कहा गया है कि जो भव्य जीव स्पष्टतया रचे गये भावशुद्ध इस चारित्रप्राभृत का चिन्तन करते हैं वे शीघ्र ही चतुर्गति परिभ्रमण से छूटकर अपुनर्भव—जन्म-मरण से रहित—हो जाते हैं। इसके ऊपर भी भ. श्रुतसागरकी टीका है व उसके साथ वह पूर्वोक्त ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

टीका—अनुकम्पा, ईर्यासमिति और ऐषणासमिति आदि।

९. **बोधप्राभृत**—इसमें ६२ गाथाएं हैं। यहाँ सर्वप्रथम आचार्यों को नमस्कार करते हुए समस्त जनों के प्रबोधनार्थ जिनेन्द्र के उपदेशानुसार षट्कायहितकर—छह काय के जीवों के लिए हितकर शास्त्र के (बोधप्राभृत के)—कहने की प्रतिज्ञा की गई है। तत्पश्चात् आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, आत्मस्थ ज्ञान, अरिहंत के द्वारा दृष्ट देव, तीर्थ, अरिहंत और प्रव्रज्या इन ग्यारह विषयों का यहां अध्यात्म की प्रधानता से विचार किया गया है।

अन्त में ग्रन्थकार कहते हैं कि जिनमार्ग में शुद्धि के लिए जिस प्रकार जिनेन्द्रों ने रूपस्थ—निर्ग्रन्थरूपस्थ आचरण—को कहा है उसी प्रकार से भव्य जनों के बोधनार्थ षट्कायहितंकर को कहा गया है। भाषासूत्रों में जो शब्दविकार हुआ है व उसे जैसा जिनेन्द्र ने कहा है उसे जान करके **भद्रबाहु के शिष्य** (कुन्दकुन्द) ने वैसा ही कहा है। बारह अंगों के ज्ञाता, चौदह पूर्वांगों के विशाल विस्तार से युक्त, और गमकों के गुरु भगवान् श्रुतज्ञानी (श्रुतकेवली) भद्रबाहु जयवंत हों। यह भी श्रुतसागर सूरि विरचित टीका के साथ पूर्वोक्त संग्रह में उक्त संस्था से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अर्हद्भाव और अर्हन् आदि।

टीका—अजंगमप्रतिमा आदि।

१०. **भावप्राभृत**—इसमें १६३ गाथायें हैं। यहाँ सर्वप्रथम यही सूचना की गई है कि प्रधान लिंग—साधुत्व की पहिचान—भाव है, न कि द्रव्यलिंग—बाह्य वेष। कारण इसका यह है कि गुण और दोषों का कारण भाव ही हैं। बाह्य परिग्रह का जो त्याग किया जाता है वह भावविशुद्धि के लिए ही किया जाता है, अभ्यन्तर परिग्रहस्वरूप मिथ्यात्वादि के त्याग के बिना बाह्य परिग्रह का वह त्याग निष्फल होता है। यदि नग्नता आदिरूप बाह्य लिंग ही प्रमुख होता तो द्रव्य से नग्न तो सभी नारकी और तिर्यंच रहा करते हैं, पर परिणाम से अशुद्ध रहने के कारण क्या वे कभी भावश्रमणता—यथार्थ साधुता—को प्राप्त हुए हैं? नहीं। मुमुक्षु मुनि प्रथमतः मिथ्यात्वादि दोषों से रहित हो करके भाव से नग्न होता है और तत्पश्चात् जिनाज्ञा के अनुसार द्रव्य से लिंग को—बाह्य साधुवेष को—प्रकट करता है। जो साधु शरीरादि सब प्रकार के परिग्रह को छोड़कर मान कषायादि से पूर्णतः रहित होता हुआ आत्मा में लीन रहता है वह साधु भावलिंगी होता है। स्वर्गसुख और मुक्तिसुख का भोक्ता भाव से ही होता है, भाव से रहित

साधु तिर्यंचगति का पात्र होता है। यहां कुछ उदाहरण देते हुए भाव को प्रधान इस प्रकार से सिद्ध किया गया है—

१. शरीरादि से निर्ममत्व होकर भी बाहुबली को मान कषाय से कलुषित रहने के कारण एक वर्ष तक आतापनयोग से स्थित रहना पड़ा—तब तक उन्हें केवलज्ञान प्राप्त नहीं हुआ। २. मधुपिंग नामक मुनि शरीर और आहारादि की प्रवृत्ति को छोड़ करके भी निदान मात्र के कारण भावश्रमण नहीं हो सका। ३. वशिष्ठ मुनि भी निदान के दोष से दुःख को प्राप्त हुआ। ४. भाव के विना रौद्र परिणाम के वशीभूत हुआ बाहु मुनि जिनलिंग से युक्त होकर भी रौरव नरक को प्राप्त हुआ। ५. इसी प्रकार द्वीपायन मुनि दर्शन, ज्ञान और चारित्र से भ्रष्ट होकर अनन्तसंसारी हुआ। ६. बारह अंग और चौदह पूर्वरूप समस्त श्रुत को पढ़कर भी भव्यसेन मुनि भावश्रमणता को—यथार्थ मुनिपने को—नहीं प्राप्त हो सका[1]।

१ इसके विपरीत निर्मलबुद्धि शिवकुमार मुनि युवति जनों से वेष्टित होकर भी भावश्रमण होने से परीतसंसारी—थोड़े ही समय में मुक्ति को प्राप्त करनेवाले हुए। २ तुष-माष की घोषणा करनेवाले—दाल और छिलके के समान आत्मा और शरीर पृथक् पृथक् हैं, इस प्रकार आत्मस्वरूप का निश्चय करने वाले—शिवभूति मुनि अतिशय अल्पज्ञानी होकर भी केवलज्ञान को प्राप्त हुए हैं[2]।

शालिसिक्थ (एक क्षुद्र मत्स्य) महामत्स्य के मुख के भीतर जाते-आते अनेक जलचर जन्तुओं को देख कर विचार करता है कि यह कैसा मूर्ख है जो मुख के भीतर प्रवेश करनेवाले जीवों को भी यों ही छोड़ देता है। यदि मैं इतना विशाल होता तो समस्त समुद्र के जन्तुओं को खा जाता। बस इसी पापपूर्ण विचार से वह जीवहिंसा न करता हुआ भी महानरक को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार से आगे भाव पर अधिक जोर देते हुए अन्त में कहा गया है कि बहुत कहनेसे क्या? अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ये पुरुषार्थ तथा अन्य भी व्यापार (प्रवृत्ति) ये सब भाव पर ही निर्भर हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ भी 'षट्प्राभृतादि संग्रह' में श्रुतसागर सूरि विरचित टीका के साथ उक्त संस्था द्वारा प्रकाशित किया गया हैं। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

टीका—अधःकर्म, अध्यधिदोष, अनिच्छाप्रवृत्तदर्शनबालमरण, अनुप्रेक्षा (स्वाध्याय), अभिहृत, अवधिमरण, अव्यक्त बालमरण, आवीचिमरण, आसन्न और उद्भिन्न आदि।

११. **मोक्षप्राभृत**—इसमें १०६ गाथायें हैं। यहां सर्वप्रथम जिसने पर द्रव्य को छोड़कर कर्म से रहित होते हुए ज्ञानमय आत्मा को प्राप्त कर लिया है उस देव को नमस्कार करते हुए परम पदस्वरूप परमात्मा के कहने की प्रतिज्ञा की गई है। पश्चात् निर्वाण के स्वरूप को प्रगट करते हुए कहा गया है कि जिस (परमात्मा) को जानकर निरन्तर खोजते हुए योगी अव्याबाध, अनन्त व अनुपम सुख को प्राप्त करता है, उसका नाम निर्वाण (मोक्ष) है। आगे जीवभेदों का निर्देश करते हुए बतलाया है कि बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के भेद से जीव तीन प्रकार के हैं। इनमें बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा के उपाय से परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। बहिरात्मा इन्द्रियां हैं, अर्थात् आत्मस्वरूप को न जानकर बाह्य इन्द्रियविषयों में जो आसक्त रहता है वह बहिरात्मा कहलाता है। आत्मा की कल्पना होना—उसे शरीर से भिन्न समझना, यही अन्तरात्मा का स्वरूप है। समस्त कर्ममल से जो रहित हो चुका है उसे परमात्मा या देव कहा जाता है।

जो आत्मस्वरूप को न जानकर अचेतन शरीर के विषय में स्वकीय व परकीय की कल्पना किया करते हैं, उनका मोह पुत्र और स्त्री आदि के विषय में उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है। निर्वाण उसी को

---

१ इन कथानकों को श्रुतसागर सूरि विरचित टीका से इस प्रकार जानना चाहिये—(१) बाहुबली गा. ४४, (२) मधुपिंग ४५, (३) वशिष्ठ मुनि ४६, (४) बाहु मुनि ४९, (५) द्वीपायन ५०, (६) भव्यसेन ५२.

२. (१) शिवकुमार मुनि ५१, (२) शिवभूति मुनि ५३.

द्वारा हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अन्तरात्मा आदि।

टीका—आत्मसंकल्प आदि।

(१२) **द्वादशानुप्रेक्षा**—इसमें ९१ गाथायें हैं। इसमें अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म और बोधि इन १२ भावनाओं का विवेचन किया गया है। अन्तिम ४ गाथाओं में अनुप्रेक्षाओं के माहात्म्य को प्रगट करते हुए कहा गया है कि अनुप्रेक्षा से चूंकि प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, आलोचना और समाधि सम्भव हैं; अतएव अनुप्रेक्षा का चिन्तन करना चाहिए। यदि अपनी शक्ति है तो रात्रि व दिन सम्बन्धी प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, समाधि, सामायिक और आलोचना करना चाहिए। अनादिकाल से जो मोक्ष गये हैं वे वारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करके ही गये हैं। वहुत कहने से क्या ? जो पुरुषोत्तम सिद्ध हुए हैं, होंगे, और हो रहे हैं; यह उसका (अनुप्रेक्षा का) माहात्म्य है। अन्त में अपने नाम का निर्देश करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि इस प्रकार कुन्दकुन्द मुनिनाथ ने निश्चय-व्यवहार को कहा है। जो शुद्ध मन से उसका विचार करता है वह परम निर्वाण को प्राप्त करता है। इसका प्रकाशन मूलरूप में पूर्वोक्त संग्रह में मा. दि. जैन ग्रन्थमाला से ही हुआ है। इसका उपयोग आर्जव धर्म और एकत्वानुप्रेक्षा आदि शब्दों में हुआ है।

(१३) **मूलाचार**—यह मुनियों के आचार की प्ररूपणा करने वाला एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके रचयिता वट्टकेराचार्य हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि प्रस्तुत ग्रन्थ की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में ग्रन्थकर्ता के रूप में आचार्य कुन्दकुन्द के नाम का निर्देश पाया जाता है। इससे इसके रचयिता आ. कुन्दकुन्द ही प्रतीत होते हैं। दूसरे, वट्टकेर नाम के कोई आचार्य हुए भी नहीं दिखते[1], इत्यादि। कर्ता कोई भी हो, पर ग्रन्थ प्राचीन है व पहली दूसरी शताब्दी में रचा गया प्रतीत होता है।

इसमें ये १२ अधिकार हैं—मूलगुण, वृहत्प्रत्याख्यानसंस्तरस्तव, संक्षेपप्रत्याख्यानसंस्तर, समाचार, पंचाचार, पिण्डशुद्धि, षडावश्यक, द्वादशानुप्रेक्षा, अनगारभावना, समयसार, शीलगुण और पर्याप्ति। इनमें गाथासंख्या क्रम से इस प्रकार है—३६+७१+१४+७६+२२२+८२+१९३+७६+१२५+१२४+२६+२०६=१२५१।

(१) **मूलगुणाधिकार**—इस अधिकार में अहिंसादि पांच व्रत, पांच समितियां, पांच इन्द्रियनिरोध, छह आवश्यक, लोच, आचेलक्य (नग्नता), अस्नान, भूमिशयन, दन्तघर्षण का अभाव, स्थितिभोजन (खड़े रहकर भोजन) और एकभक्त (एक वार भोजन); इन मुनियों के २८ मूलगुणों का विवेचन किया गया है।

(२) **बृहत्प्रत्याख्यानसंस्तरस्तव**—मरण के उपस्थित होने पर साधु को शिला अथवा लकड़ी के पाटे आदि रूप विस्तर को स्वीकार करते हुए किस प्रकार से पाप का परित्याग करना चाहिए तथा उस समय आत्मस्वरूप आदि का चिन्तन भी किस प्रकार करना चाहिए, इस सबका यहां विचार किया गया है।

(३) **संक्षेपप्रत्याख्यानसंस्तरस्तव**—किसी भयानक उपद्रव के कारण अकस्मात् मरण की सम्भावना होने पर आराधक जिन एवं गणधरादि को नमस्कार करते हुए संक्षेप से हिंसादि पांच पापों के साथ सब प्रकार के आहार, चार संज्ञाओं, आशा और कषायों का परित्याग करता है तथा सबसे ममत्वभाव को छोड़ कर समाधि को स्वीकार करता है। वह यह नियम करता है कि यदि इस उपद्रव के कारण जीवित का नाश होता है तो उक्त प्रकार से मैं सर्वदा के लिए परित्याग करता हूँ और यदि उस उपद्रव से वच जाता हूँ तो पारणा करूंगा। इस प्रसंग में यह कहा गया है कि यदि जीव एक भवग्रहण में समाधिमरण को प्राप्त करता है तो वह सात आठ भवग्रहण में निर्वाण को पा लेता है।

---

१. देखिये 'पुरातन जैन वाक्यसूची' की प्रस्तावना पृ. १८-१९.

(४) **समाचार**—समता अर्थात् राग-द्वेष का अभाव, सम्यक्-आचार—मूलगुणादि का सम्यक् अनुष्ठान, सम आचार—ज्ञानादिरूप पांच प्रकार का आचार अथवा निर्दोष भिक्षाग्रहणरूप आचार तथा सब संयतों का क्रोधादि की निवृत्तिरूप या दशलक्षण धर्मरूप समान आचार; इस प्रकार समाचार या सामाचार के उक्त चार अर्थ निर्दिष्ट किये गये हैं। यह समाचार औघिक और पदविभाग के भेद से दो प्रकार का है। इनमें औघिक के दस और पदविभाग के अनेक भेद कहे गये हैं। इन सबका वर्णन प्रकृत अधिकार में किया गया है।

पदविभाग के प्रसंग में यहां यह कहा गया है कि कोई सर्वसमर्थ साधु अपने गुरु के पास यथायोग्य श्रुत का ज्ञान प्राप्त करके विनीत भाव से पूछता है कि मैं आपके पादप्रसाद से अन्य आयतन को जाना चाहता हूँ, इस प्रसंग में वह पांच छह प्रश्नों को पूछता है। इस प्रकार पूछने पर जब गुरु अन्यत्र जाने की आज्ञा दे देता है तब वह अपने से अतिरिक्त तीन, दो अथवा एक अन्य साधु के साथ वहां से निकलता है। यहां एक विहार तो गृहीतार्थ का और दूसरा विहार किसी गृहीतार्थ के साथ अगृहीतार्थ का ही बतलाया गया है, तीसरे किसी विहार की अनुज्ञा नहीं दी गई है। एकविहारी होने की अनुज्ञा उसी को दी गई है जो तप, सूत्र (द्वादशांगश्रुत), सत्त्व (बल), एकत्व—शरीरादि से भिन्न आत्मा—में अनुराग, शुभ परिणाम, योग्य संहनन और धैर्य से युक्त हो। इसके विपरीत स्वेच्छाचारी के विषय में तो यहां तक कहा गया है कि स्वच्छन्दतापूर्ण आचरण करने वाला तो मेरा शत्रु भी एकविहारी न हो। गृहीतार्थ के विहार के विषय में भी यह कहा गया है कि जहां आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर ये पांच आधार न हों वहां रहना उचित नहीं है।

इस प्रकार से जब कोई समर्थ साधु अन्य संघ में पहुँचता है तो संघस्थ साधु उसका यथायोग्य स्वागत करते हुए रत्नत्रयविषयक पूछताछ करते हैं। तत्पश्चात् वे उससे नाम, कुल, गुरु और दीक्षा आदि के विषय में प्रश्न पूछते हैं। इस प्रकार से यदि वह योग्य प्रतीत होता है तो उसे वे ग्रहण करते हैं, अन्यथा छोड़ देते हैं। और यदि आचार्य योग्य प्रमाणित न होते हुए भी उसे ग्रहण करता है तो वह स्वयं प्रायश्चित्त का भागी होता है।

इस प्रकार से इस अधिकार में मुनि व आर्यिकाओं के आचरणविषयक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चर्चा की गई है, जो साधुसंस्था के लिए मननीय है।

(५) **पंच-आचार**—यहां दर्शन, ज्ञान, चरित्र, तप और वीर्य इन पांच प्रकार के आचारों और तद्विषयक अतिचारों की प्ररूपणा की गई है।

(६) **पिण्डशुद्धि**—पिण्ड का अर्थ आहार होता है। साधु के ग्रहण योग्य शुद्ध आहार किस प्रकार का होता है, इसका विचार प्रकृत अधिकार में किया गया है। सर्वप्रथम उद्गम, उत्पादन, एषण (अशन), संयोजन, प्रमाण, अंगार, धूम और कारण इस प्रकार से आठ प्रकार की पिण्डशुद्धि निर्दिष्ट की गई है[1]।

१. उद्गम—दाता गृहस्थ भोजनसामग्री को किस प्रकार के योग्य-अयोग्य साधनों के द्वारा प्राप्त करता है तथा उसे किस प्रकार से तैयार किया जाता है। इसका विचार १६ उद्गमदोषों में किया गया है। इन उद्गम दोषों से रहित होने पर ही साधु को आहार ग्रहण करना चाहिए।

२. उत्पादन—पात्र (मुनि आदि) जिन मार्गविरोधी अभिप्रायों से आहार को प्राप्त करता है, वे उत्पादनदोष माने जाते हैं। ये उत्पादन दोष भी १६ हैं।

३. अशनदोष—परोसनेवाले आदि की अशुद्धियों को अशनदोष में गिना जाता है। ये संख्या में १० हैं।

४. संयोजना दोष—शीत-उष्ण एवं सचित्त-अचित्त आदि भोज्य वस्तुओं का परस्पर में संमिश्रण करना, इसे संयोजना दोष माना जाता है।

---

१. विशेष के लिए देखिये 'पिण्डशुद्धि के अन्तर्गत उद्दिष्ट आहार पर विचार' शीर्षक लेख। अनेकान्त वर्ष २१, किरण ४, पृ. १५५-६१.

५. प्रमाण दोष—अधिक आहार के ग्रहण करने पर साधु प्रमाण दोष का भागी होता है। उदर के चार भागों में से दो भागों को भोजन से और एक भाग को पानी से पूर्ण करना चाहिए तथा शेष एक भाग को वायुसंचार के लिए रिक्त रखना चाहिए। इस नियम का उल्लंघन करने पर साधु प्रमाण दोष से लिप्त होता है। पुरुष का प्राकृतिक आहार ३२ ग्रास प्रमाण और महिला का वह २८ ग्रास प्रमाण होता है। एक ग्रास का प्रमाण एक हजार (१०००) चावल है।

६. अंगार दोष—आसक्तिपूर्वक आहार के ग्रहण करने पर साधु अंगार दोष से दूषित होता है।

७. धूम्र दोष—भोजन को प्रतिकूल मान कर निन्दा का अभिप्राय रखना, यह धूम्र दोष का लक्षण है।

८. कारण—भोजन ग्रहण करने के छह कारण हैं—भूख की पीडा, वैयावृत्त्य करना, आवश्यक क्रियाओं का परिपालन करना, संयम की रक्षा, प्राणों की स्थिति और धर्म की चिन्ता। धर्म का आचरण करने के लिए साधु को उक्त छह कारणों के होने पर ही आहार को ग्रहण करना चाहिए। इनके अतिरिक्त छह कारण ऐसे भी हैं जिनके होने पर भोजन का परित्याग करना चाहिए, अन्यथा धर्म का विघात अवश्यंभावी है। वे छह कारण ये हैं—रोग का सद्भाव, देव-मनुष्यादिकृत उपद्रव, ब्रह्मचर्य का संरक्षण, जीवदया, तप और समाधिमरण। इनके अतिरिक्त बलवृद्धि, आयुवृद्धि, स्वादलोलुपता और शरीरपुष्टि के लिए किये जाने वाले आहार का यहां सर्वथा निषेध किया गया है। इस प्रकार से यहां भोजनशुद्धि के निमित्त उक्त दोषों और अन्तरायों को दूर करने की प्रेरणा की गई है।

७. **षडावश्यक**—यहाँ आवश्यक का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि जो इन्द्रियों और राग द्वेषादिरूप कषायोंके द्वारा वशीभूत नहीं किया जाता है उसे 'अवश्य' नामसे कहा जाता है। ऐसे अवश्य (साधु) का जो आचरण है वह आवश्यक कहलाता है। 'निर्युक्ति' शब्दके अन्तर्गत 'युक्ति का अर्थ उपाय और 'निर्' का अर्थ निःशेष या सम्पूर्ण होता है। इस प्रकार इस अधिकार में चूंकि साधु के अनुष्ठानविषयक उपायोंका सम्पूर्ण विवेचन किया गया है, अतः इसे ग्रन्थकार ने आवश्यकनिर्युक्ति कहते हुए प्रारम्भ में उसके निरूपण करने की प्रतिज्ञा की है। वे आवश्यक छह हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग। इन छह का यहाँ क्रमसे निरूपण किया गया है। अन्त में यहाँ ग्रन्थकार द्वारा कहा गया है कि इस निर्युक्ति की निर्युक्ति को यहाँ मैंने संक्षेप से कहा है, विस्तार का प्रसंग अनुयोग से जानना चाहिए। टीकाकार वसुनन्दी ने अनुयोग का अर्थ आचारांग किया है।

चतुर्विंशतिस्तव के प्रसंग में यहाँ प्रथमतः लोक को उद्योतित करने वाले तथा धर्मतीर्थ के कर्ता अरिहंतों को कीर्तन के योग्य बतलाते हुए उनसे उत्तम बोधि की याचना की गई है। लगभग ऐसा ही सूत्र आवश्यकसूत्र के भी इस प्रकरण में उपलब्ध होता है[1]। आगे लोक की निर्युक्तिपूर्वक उसके नौ भेदों का निर्देश किया गया है। आवश्यक निर्युक्तिकार ने वहाँ लोक के आठ भेदों का निर्देश किया है। प्रकृत में एक चिह्नलोक और कषायलोक का भी निर्देश किया गया है, ये दोनों आवश्यकसूत्र में नहीं हैं। वहाँ एक काललोक अधिक है[2]। इसके पश्चात् और भी जो प्ररूपणा यहाँ और आवश्यकसूत्र में की गई है, दोनों में बहुत कुछ समानता है। इतना ही नहीं कुछ गाथायें भी यहाँ और आवश्यक-सूत्र में निर्युक्ति या भाष्य के रूप में कुछ शब्दभेद के साथ समानरूप से पायी जाती हैं। जैसे—

---

१. लोगुज्जोए धम्मतित्थयरे जिणवरे य अरहंते। कित्तण केवलिमेव य उत्तमबोहिं मम दिसंतु ॥ मूला. ७–४२.

लोगस्सुज्जोगयरे धम्मतित्थयरे जिणे। अरिहंते कित्तइस्सं चउवीसं वि केवली ॥ आव. १, पृ. ४९.

२. णाम ट्ठवणं दव्वं खेत्तं चिण्हं कसायलोओ य।
भवलोगो भावलोगो पज्जयलोगो य णादव्वो ॥ मूला. ७–४४.
णामं ठवणा दविए खित्ते काले भवे अ भावे अ।
पज्जवलोगे अ तहा अट्ठविहो लोगणिक्खेवो ॥ आव. नि. १०५७.

मूलाचार— ७-४७, ७-५४, ५५, ५६, ५८,
आव. नि. या भा. १६५ (भा.), २०२ (भा.), १०५६, १०६०, १०६२,
मूलाचार— ६२, ६८, ६६, ७०, ७२.
आव. नि. या भा. १०६६, १०६३, १०६४, १०६५, १०६७.

इसी प्रकार वन्दना आवश्यक के प्रकरण में भी उक्त दोनों ग्रन्थों में कुछ गाथायें साधारण शब्द-भेद व अर्थभेद के साथ समान रूप से उपलब्ध होती हैं[1]।

८. **द्वादशानुप्रेक्षा**—इस अधिकार में अनित्यादि १२ अनुप्रेक्षाओं का निरूपण किया गया है। इसमें ७६ गाथायें हैं।

६. **अनगारभावना**—इस अधिकार में लिंगशुद्धि, व्रतशुद्धि, वलशुद्धि, विहारशुद्धि, भिक्षाशुद्धि, ज्ञानशुद्धि, उज्झन (त्याग) शुद्धि—शरीर से अनुराग का परित्याग, वाक्यशुद्धि, तपःशुद्धि और ध्यानशुद्धि; इन दस की प्ररूपणा की गई है। उज्झनशुद्धि के प्रसंग में साधु के लिए मुंह, नेत्र और दातों के धोने, पांवों के धोने, संवाहन—अंगमर्दन, परिमर्दन—हाथ की मुट्ठियों आदि से ताड़न और शरीरसंस्कार को निषिद्ध वताया गया है। इस अधिकार में १२५ गाथायें हैं।

१०. **समयसार**—समय शब्द से गुण-पर्यायों के साथ एकता (अभेद) को प्राप्त होने वाले सभी पदार्थ ग्रहण किये जाते हैं। प्रकृत में 'समय' शब्द से जीव अपेक्षित है। उसके सारभूत जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और ध्यान आदि हैं उनके परिपालन में मुमुक्ष को सतत सावधान रहना चाहिए; इत्यादि की चर्चा इस अधिकार में की गई है।

यहाँ क्रियाविहीन ज्ञान को, संयमविहीन लिंग के ग्रहण को और सम्यक्त्वविहीन तप को निरर्थक कहा गया है। आगे यहाँ आचार्यकुल को छोड़कर एकाकी विहार करने वाले को पापश्रमण कहा गया है[2]। इस अधिकार में १२४ गाथायें हैं।

११. **शीलगुणाधिकार**—इस अधिकार में प्रथमतः योग ३, करण ३, संज्ञा ४, इन्द्रिय ५, पृथिवीकायादि १० और श्रमणधर्म १०; इनके परस्पर गुणन से निष्पन्न होने वाले १८००० शीलों का निरूपण किया गया है। तत्पश्चात् प्राणिवधादि २१, अतिक्रमण, व्यतिक्रमण, अतिचार और अनाचार ये चार; पृथिवी, अप्, अग्नि, वायु, प्रत्येक, साधारण, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय इन दस को परस्पर में व्यथा करने के कारण परस्पर गुणित करने पर १००(१०×१०); अब्रह्म के कारण १०, आलोचना दोष १०, श्रद्धान के साथ आलोचना-प्रतिक्रमणादि १०, इन सब को परस्पर गुणित करने से (२१×४×१००×१०×१०×१०= ८४०००००) समस्त गुण चौरासी लाख होते हैं। आगे इनके भंगों के उत्पत्तिक्रम को भी बतलाया गया है।

१२. **पर्याप्ति अधिकार**—इस अधिकार में क्रम से पर्याप्तियां, देह, संस्थान, काय, इन्द्रिय, योनि, आयु, प्रमाण (द्रव्य-क्षेत्रादिप्रमाण), योग, वेद, लेश्या, प्रवीचार, उपपाद, उद्वर्त्तन, स्थान, कुल, अल्प-बहुत्व और प्रकृत्यादि बन्ध; इन विषयों की प्ररूपणा की गई है।

यहां उपपाद और उद्वर्त्तन (गति-अगति) प्रकरण का उपसंहार करते हुए ग्रन्थकार ने यह निर्देश किया है कि इस प्रकार से सारसमय में प्ररूपित गति-आगति का यहां मैंने कुछ वर्णन किया है। टीकाकार वसुनन्दी ने सारसमय का अर्थ व्याख्याप्रज्ञप्ति किया है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

---

१. देखिये मूलाचार अधिकार ७, गा. ७६-८०, ८१, ६५, ६८, १०३ और १०४ आदि तथा आव. निर्युक्ति गा. ११०२-३, १२१७, ११०५, ११०६, १२०१, १२०२ आदि।

२. आयरियकुलं मुच्चा विहरदि समणो य जो दु एगागी।
ण य गेण्हदि उवदेसं पावस्समणो त्ति वुच्चदि दु॥ १०-६८.
अधिकार ४ की गा. २६-३३ भी द्रष्टव्य हैं (पृ. १२८-३४)।

परिचय देते हुए इतनी मात्र सूचना की है—चन्द्रनन्दी महाकर्मप्रकृत्याचार्य के प्रशिष्य, आरातीयसूरि-चूलामणि नागनन्दी गणी के चरण-कमल की सेवा से प्राप्त बुद्धि के लेश से सहित और बलदेव सूरि के शिष्य प्रख्यात अपराजित सूरि के द्वारा नागनन्दी गणी की प्रेरणा से रची गई विजयोदया नामकी आराधना टीका समाप्त हुई। उक्त टीकाओं के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ बलात्कारगण जैन पब्लिकेशन सोसायटी कारंजा से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अकृतसमुद्घात, अणुव्रत, अव्यक्त दोष, आचारवान्, आज्ञाविचय, आदाननिक्षेपणसमिति और आर्तध्यान आदि।

विजयो.—अनभिगृहीत मिथ्यात्व, अव्यक्तमरण, आकिञ्चन्य, आचार्य, आज्ञाविचय, आम्नाय और उन्मिश्रदोष आदि।

मूला.—अतिचार, अनभिगृहीतमिथ्यात्व, आचार्य, उपगूहन और उद्भिन्न आदि।

१५. **तत्त्वार्थसूत्र**—यह एक ऐसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जो दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में प्रतिष्ठित है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में यह तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के नाम से प्रसिद्ध है। इसके रचयिता आचार्य उमास्वाति हैं। रचनाकाल इसका २-३री शताब्दी है। जैन परम्परा में सम्भवतः यह संस्कृत में प्रथम ही रचना है। यह दस अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय भूमिका रूप है। दूसरे, तीसरे व चौथे इन तीन अध्यायों में जीवतत्त्व का, पाँचवें में अजीवतत्त्व का, छठे व सातवें इन दो अध्यायों में आस्रवका, आठवें में बन्ध का, नौवें में संवर और निर्जरा का तथा दसवें में मोक्षका; इस प्रकार इसमें प्रयोजनीभूत सात तत्त्वों की प्ररूपणा की गई है। ग्रन्थ यद्यपि शब्दशरीर से लघु है, पर अर्थ से गम्भीर व विशाल है। सूत्रसंख्या इसकी दि. परम्परा में ३५७ और श्वे. परम्परा में ३४४ है। इसका उपयोग अधर्मद्रव्य, अनृत और आस्रव आदि शब्दों में हुआ है।

१६. **तत्त्वार्थाधिगम भाष्य**—यह उपर्युक्त तत्त्वार्थसूत्र पर रचा गया भाष्य है, जो स्वोपज्ञ माना जाता है। पर कुछ विद्वान् इसे स्वोपज्ञ न मान कर पीछे की रचना मानते हैं[१]। इसमें मूल सूत्रों की व्याख्या करते हुए यथाप्रसंग अन्य भी कितने ही विषयों का विवेचन किया गया है।

यहाँ प्रथम सूत्र की व्याख्या में मोक्ष के साधनभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों में पूर्व के प्राप्त होने पर उत्तर को भजनीय (वह हो, अथवा न भी हो) तथा उत्तर के प्राप्त होने पर पूर्व की प्राप्ति नियम से बतलाई गई है। परन्तु सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति सम काल में ही निर्दिष्ट की गई है। भाष्य के उक्त कथन का स्पष्टीकरण करते हुए सिद्धसेन गणी ने यह बतलाया है कि देव, नारक और तिर्यंच तथा मनुष्यों में किन्हीं के सम्यग्दर्शन के आविर्भूत हो जाने पर आचारादि अंगप्रविष्टका ज्ञान नहीं होता और न देश या सर्व चारित्र भी होता है, अतः ये दोनों सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में भजनीय हैं। यह सिद्धसेनगणि विरचित टीका के साथ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड बम्बई से दो भागों में प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है।

भाष्य—अग्निकुमार, अङ्गप्रविष्ट, अङ्गबाह्य, अतिचार, अतिथिसंविभाग, अधिकमास, अधिगम सम्यग्दर्शन, अनर्पित, अनीक, अनृत और अनृतानन्द आदि।

सि. वृत्ति—अगुरुलघु नामकर्म, अङ्गप्रविष्ट, अङ्गबाह्य, अतिथिसंविभाग, अधिकमास, अनिश्चितावग्रह, अनीक और अनृतानन्द आदि।

१७. **पउमचरिय**—इसके रचयिता विमल सूरि हैं। ये नाइलकुलवंश को प्रमुदित करने वाले विजयसूरि के शिष्य और स्वसमय-परसमय के ज्ञाता राहू नामक आचार्य के प्रशिष्य थे[२]। प्रस्तुत राम-

---

१. देखिये 'श्वे. तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य की जांच' शीर्षक लेख—जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश पृ. १२५-४८.

२. पउमच. ११८, ११७–१८.

चरित्र के मूल रचयिता वीर जिन हैं। तत्पश्चात् उसका व्याख्यान शिष्यों के लिए आखण्डलभूति (इन्द्रभूति—गौतम) ने किया। फिर उसी को विमलसूरि ने गाथाओं में निबद्ध किया। वीर जिनेन्द्र के सिद्धि को प्राप्त करने के पश्चात् दुःषमाकाल के ५३० वर्ष बीतने पर इस चरित्र की विमलसूरि के द्वारा रचना की गई[1]।

भगवान् महावीर से धर्म श्रवण कर राजा श्रेणिक के मन में रामचरित्र के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न उत्पन्न हुए। जैसे—वानरों ने अतिशय बलवान् राक्षसों को कैसे मार डाला? रावण का भाई कुम्भकर्ण छह मास तक सोता था, अनेक वादित्रों के शब्द होने पर कठिनाई से वह जागता था, उठने पर वह हाथी और भैंसा आदि को खा जाता था, ऐसा सुना जाता है; सो वह कैसे सम्भव है? इत्यादि। इनके समाधान के लिए वह गौतम गणधर के पास पहुँचा और उनसे रामचरित्र के कहने की प्रार्थना की। तदनुसार गौतम गणधर ने जिस रामचरित्र को कहा वही परम्परा से प्राप्त प्रस्तुत ग्रन्थ में निबद्ध किया गया है। इसमें ११८ उद्देश हैं। यहाँ रामचरित्र का वर्णन करते हुए प्रसंगानुसार विपुलाचल पर महावीर का धर्मोपदेश, इन्द्रभूति के द्वारा श्रेणिक के प्रति कही गई कुलकरवंश की उत्पत्ति, ऋषभजन्मादि, राक्षस व वानर वंश; इत्यादि अनेक विषयों की चर्चा की गई है। इन वर्णनीय विषयों की सूचना ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने ही कर दी है[2]।

यह जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर के द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—अक्षौहिणी, अधोलोक और आचार्य आदि।

१८. आप्तमीमांसा (देवागम-स्तोत्र)—इसके रचयिता आचार्य समन्तभद्र हैं। समन्तभद्र का समय श्री पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार द्वारा विक्रम की दूसरी शताब्दी निश्चित किया गया है[3]। आ. समन्तभद्र असाधारण दार्शनिक विद्वान् थे। उन्होंने शास्त्रार्थ में अनेक प्रतिवादियों के मान का मर्दन किया था। उनकी यह दार्शनिक कृति स्तुतिपरक है। इसमें केवल ११४ ही कारिकायें (सूत्ररूप श्लोक) हैं। पर वे इतने गम्भीर अर्थ को लिए हुए हैं कि साधारण विद्वान् की तो बात ही क्या, विशेष विद्वान् भी कभी-कभी उनके अर्थ की गम्भीरता का अनुभव करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ १० परिच्छेदों में विभक्त है। इसमें प्रथमतः सामान्य से सर्वज्ञता को सिद्ध करते हुए वह सर्वज्ञता युक्ति एवं शास्त्र से अविरुद्ध भाषण करने वाले भगवान् अरिहंत में ही सम्भव है, इसे स्पष्ट किया गया है। तत्पश्चात् भावाभावैकान्त में दोषों को दिखला कर कथंचित् सत् व कथंचित् असत् आदि सप्तभंगी को सिद्ध किया गया है। आगे इसी क्रम से अद्वैत और द्वैत, भेद और अभेद, नित्य और अनित्य, कार्य-कारणादि की भिन्नता और अभिन्नता तथा आपेक्षिक और अनापेक्षिक आदि विविध एकान्तवादों को दूषित किया गया है।

इसपर आचार्य अकलंकदेव (वि. की ८वीं शती) के द्वारा ८०० श्लोक प्रमाण 'अष्टशती' और आ. विद्यानन्द (वि. की ९वीं शती) के द्वारा ८००० श्लोक प्रमाण 'अष्टसहस्री' नाम की व्याख्या रची गई है। आ. वसुनन्दी द्वारा एक संक्षिप्त वृत्ति भी लिखी गई है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

अष्टशती—अन्यापोह आदि।

अष्टसहस्री—अधिगम आदि।

वसु. वृत्ति—अकिंचित्कर, अकुशल, अनुमेय और अन्तरितार्थ आदि।

१९ युक्त्यनुशासन—यह आचार्य समन्तभद्र विरचित स्तुत्यात्मक एक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक

---

१. वही ११८, १०२–४.

२. देखिये उ. १, गा. ३२-८९,

३. देखिए 'समन्तभद्र का समय निर्णय' शीर्षक उनका लेख—जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ० ६८९-९७.

ग्रन्थ है। इसमें ६५ पद्यों के द्वारा महावीर जिनेन्द्र की स्तुति की गई है। इसकी सूचना प्रथम पद्य में ही कर दी गई है। देवागम स्तोत्र में वीर जिनके महत्त्वविषयक ऊहापोह करते हुए अज्ञानादि दोषों और ज्ञानावरणादि कर्मों का सर्वथा अभाव हो जाने के कारण महावीर जिनमें सर्वज्ञता व वीतरागता सिद्ध की जा चुकी है। यही उनकी महानता है। यहाँ चतुर्थ पद्य में इसी की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि हे वीर जिन, आप चूंकि ज्ञानावरण और दर्शनावरण के नाश से प्रगट हुए निर्मल ज्ञान-दर्शन रूप शुद्धि के साथ अन्तराय के क्षय से उत्पन्न वीर्यविशेष रूप शक्ति की भी चरम सीमा को प्राप्त हो चुके हैं, अतएव आप मोक्षमार्ग के नेता होते हुए महान् (परमात्मा) हैं, यह कहने के लिए हम सर्वथा समर्थ हैं। इस प्रकार से स्तुति करते हुए आगे भेद-अभेद और नित्य-अनित्य आदि एकान्तवादों की समीक्षा-पूर्वक स्याद्वादसम्मत उन भेदाभेद आदि को सुप्रतिष्ठित किया गया है। इसके ऊपर आचार्य विद्यानन्द (विक्रम की ९वीं शताब्दी) विरचित टीका है जो ग्रन्थगत गूढ़ अर्थ के प्रगट करने में सर्वथा समर्थ है। इस टीका के साथ वह मा. दि. जैन ग्रन्थमाला समिति बम्बई द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग अनेक व अर्थ (द्रव्य) आदि शब्दों में हुआ है।

२०. **स्वयम्भूस्तोत्र**—यह कृति भी उक्त आचार्य समन्तभद्र की है। इसमें १४३ पद्यों के द्वारा वृषभादि २४ तीर्थंकरों की पृथक् पृथक् स्तुति की गई है। यह स्तोत्र भी अर्थगम्भीर है। इसे बृहत्-स्वयम्भूस्तोत्र भी कहा जाता है। आचार्य समन्तभद्र जहाँ अपूर्व दार्शनिक थे, वहाँ वे एक महान् कवि भी थे। यह उनकी कृति विविध अलंकार युक्त सुन्दर पद्यों से अलंकृत है। अन्तिम महावीरस्तुति के तो सब (८) ही पद्य यमकालंकार से सुशोभित हैं। इसके ऊपर आ. प्रभाचन्द्र (वि. की १३वीं शती) विरचित एक संस्कृत टीका भी है जो दोशी सखाराम नेमिचन्द शोलापुर द्वारा प्रकाशित की जा चुकी है। इसका उपयोग अजित और अनेकान्त आदि शब्दों में हुआ है।

२१. **रत्नकरण्डक**—यह एक श्रावकाचार सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके रचयिता भी उक्त समन्तभद्राचार्य हैं। ग्रन्थ पांच परिच्छेदों में विभक्त है। श्लोकसंख्या १५० है। प्रथम परिच्छेद में धर्म के स्वरूप का निर्देश करते हुए सम्यग्दर्शन का महत्त्व प्रगट किया गया है। द्वितीय परिच्छेद में सम्यग्ज्ञान का, तृतीय परिच्छेद में पांच अणुव्रतों और तीन गुणव्रतों का, चतुर्थ परिच्छेद में चार शिक्षाव्रतों का, तथा पांचवें परिच्छेद में अन्तिम सल्लेखना के साथ ग्यारह प्रतिमाओं का भी निरूपण किया गया है। इसके ऊपर प्रभाचन्द्राचार्य (वि. की १३वीं शती) विरचित एक संक्षिप्त संस्कृत टीका भी है। इस टीका के साथ मूल ग्रन्थ मा. दि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई द्वारा प्रकाशित हो चुका है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अचौर्याणुव्रत, अणुव्रत, अधर्म, अनर्थदण्डविरति और अपध्यान आदि।

टीका—अतिभारवहन, अतिभारारोपण, अतिलोभ, अतिवाहन और अनगार आदि।

२२. **सर्वार्थसिद्धि**—यह आचार्य पूज्यपाद द्वारा विरचित तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या है। आचार्य पूज्यपाद का दूसरा नाम देवनन्दी भी रहा है। इनका समय विक्रम की छठी शताब्दी है। आचार्य पूज्यपाद सिद्धान्त के मर्मज्ञ थे। उनके द्वारा षट्खण्डागम आदि सिद्धान्त ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया गया था। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के 'सत्संख्या-क्षेत्र ..' आदि सूत्र (१-८) की जो विस्तृत व्याख्या की है वह षट्खण्डागम के आधार से ही की है। इसमें कितने ही सन्दर्भ उक्त षट्खण्डागम के छायानुवाद के समान हैं। आ. पूज्यपाद ने 'तत्प्रमाणे' (१-१०) और 'अर्थस्य' (१-१७) आदि सूत्रों की व्याख्या दार्शनिक पद्धति से की है। उनका 'जैनेन्द्र व्याकरण' भी प्रसिद्ध है। इस प्रकार आ. पूज्यपाद बहुश्रुत विद्वान् रहे हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का नवीन संस्करण भारतीय ज्ञानपीठ काशी द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

अकामनिर्जरा, अक्षरीकृत शब्द, अगारी, अगुरुलघु गुण, अगुरुलघु नामकर्म, अग्निकायिक, अङ्गोपाङ्ग नामकर्म और अचौर्याणुव्रत आदि।

२३. समाधितन्त्र—यह भी उपर्युक्त पूज्यपादाचार्य द्वारा विरचित है। इसमें १०५ श्लोक हैं। ग्रन्थ अध्यात्मप्रधान है। सर्वप्रथम यहाँ क्रम से सिद्धात्मा और सकलात्मा (अरिहंत) को नमस्कार करते हुए आगम, युक्ति और स्वानुभव के अनुसार शुद्ध आत्मस्वरूप के कथन की प्रतिज्ञा की गई है। पश्चात् आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन भेदों का निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि बहिरात्मपने को छोड़कर अन्तरात्मारूप उपाय के द्वारा परमात्मावस्था को प्राप्त करना चाहिये। जो भ्रमवश शरीरादि को ही आत्मा समझता है—शरीरादि से भिन्न ज्ञायकस्वभाव आत्मा का अनुभव नहीं करता है—वह बहिरात्मा (मिथ्यादृष्टि) है। यह जड़ शरीर को आत्मा समझने के कारण उससे सम्बद्ध अन्य जीवों को पुत्र व स्त्री आदि मानता है। यहाँ तक कि वह जो धन व गृह आदि शरीर से भी भिन्न दिखते हैं उन्हें भी वह अपना मानता है। इस भ्रमबुद्धि के कारण वह पुनः पुनः शरीर को धारण करता हुआ चतुर्गतिस्वरूप संसार में परिभ्रमण करता रहता है।

जिसने जड़ शरीर से ज्ञाता-दृष्टा आत्मा को पृथक् समझ लिया है—उसे अन्तरात्मा कहा जाता है। इस प्रकार शरीर से भिन्न आत्मा का निश्चय हो जाने के कारण वह स्त्री-पुत्रादि तथा धन-सम्पत्ति आदि चेतन-अचेतन परिग्रह में मुग्ध नहीं होता। वह इष्ट के वियोग और अनिष्ट के संयोग में व्याकुल तथा इष्ट के संयोग और अनिष्ट के वियोग में हर्षित भी नहीं होता। चारित्रमोह के उदयवश वह इन्द्रिय-विषयों का उपभोग करता हुआ भी उनमें आसक्त नहीं होता।

हिंसा आदि रूप असदाचरण से पाप और अहिंसादि व्रतों के आचरण से पुण्य होता है। पर पाप जहाँ नरकादि दुर्गति का कारण है वहाँ पुण्य देवादि उत्तम गति का कारण है। इस प्रकार यद्यपि पाप की अपेक्षा पुण्य उत्तम है, फिर भी वह संसारबन्धन का ही कारण है। इसीलिए मुमुक्षु जीव को अव्रतों के समान व्रतों को भी छोड़ देना चाहिए। कारण कि पाप और पुण्य दोनों के ही विनाश का नाम मोक्ष है। इस कारण यह आवश्यक है कि जो जीव आत्महित का अभिलाषी है उसे अव्रतों को छोड़ कर व्रतों पर निष्ठा रखते हुए उनका परिपालन करना चाहिए। तत्पश्चात् परम पद—वीतराग अवस्था—को पाकर उन व्रतों को भी छोड़ देना चाहिए। यह वस्तुस्थिति है। इसी को पुनः स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि जो अव्रती है—व्रतों से रहित है—वह व्रत को ग्रहण करके व्रती हो जाता है। फिर ज्ञान-भावना में तत्पर होकर जब उत्कृष्ट आत्मज्ञान से सम्पन्न हो जाता है तब वह स्वयं ही परमात्मा हो जाता है। इस प्रकार यहाँ मुमुक्ष जीवों को परमें राग-द्वेष को छोड़ कर शुद्ध—कर्ममल विमुक्त—आत्मा के स्वरूप में रत होने की प्रेरणा की गई है।

इस पर आचार्य प्रभाचन्द्र[1] (विक्रम की १३वीं शती) द्वारा संक्षिप्त संस्कृत टीका रची गई है। इस टीका के साथ ग्रन्थ वीर सेवा मन्दिर सोसाइटी दिल्ली से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग अन्तरात्मा और आत्मभ्रान्ति आदि शब्दों में हुआ है।

२४. इष्टोपदेश—इसके रचयिता उपर्युक्त आचार्य पूज्यपाद हैं। समाधितन्त्र के समान यह भी उनकी आध्यात्मिक कृति है। इसमें ५१ श्लोक हैं। यहां सर्वप्रथम समस्त कर्मों का अभाव हो जाने पर स्वयं निज स्वभाव (स्वरूप) को प्राप्त होने वाले परमात्मा को नमस्कार करते हुए यह कहा गया है कि योग्य उपादान के सम्बन्ध से जिस प्रकार पत्थर सोना हो जाता है इसी प्रकार योग्य द्रव्य-क्षेत्रादि रूप

---

१. आ. प्रभाचन्द्र सोमदेव सूरि और पं. आशाधर के मध्यवर्ती हैं। इसका कारण यह है कि उन्होंने आत्मानुशासन की टीका में सोमदेव सूरि विरचित उपासकाध्ययन के अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है (देखिये आत्मानु. की प्रस्तावना पृ. २५-२६ आदि), तथा पं. आशाधर ने अनगारधर्मामृत की स्वो. टीका (८-९३) में आदर के साथ उनके नामोल्लेखपूर्वक रत्नकरण्डक की टीकागत वाक्य को उद्धृत किया है।

उत्तम साधनसामग्री के प्राप्त होने पर जीव भी आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यहाँ यह आशंका हो सकती थी कि द्रव्यादिरूप सामग्री के प्राप्त होने पर जीव जब स्वयं परमात्मा बन जाता है तब उसके लिये किया जाने वाला व्रताचरण निरर्थक सिद्ध होता है। इस आशंका का समाधान करते हुए ग्रन्थकार स्वयं यह कहते हैं कि अव्रतों से—हिंसादि के परित्याग के विना—जो नारक पर्याय प्राप्त होती है उसकी अपेक्षा व्रतों से प्राप्त होनेवाली देव पर्याय कहीं उत्तम है। इसके लिए वहाँ यह उदाहरण दिया गया है कि जो व्यक्ति धूप में स्थित होकर किसी इष्ट जन की प्रतीक्षा कर रहा है उसकी अपेक्षा वह बुद्धिमान् व स्तुत्य माना जाता है जो कि किसी वृक्ष की शीतल छाया में स्थित होकर उस इष्ट वन्धु की प्रतीक्षा कर रहा हो।

यह अभिप्राय केवल पूज्यपादाचार्य का ही नहीं रहा, बल्कि उनके पूर्ववर्ती आध्यात्मिक सन्त आचार्य कुन्दकुन्द का भी वही अभिप्राय रहा है[1]। दर्शनमोह के उदय में जीव का ज्ञान यथार्थ स्वरूप को प्राप्त नहीं होता। जिस प्रकार उन्मादजनक कोदों के उपयोग से अथवा मद्य के पीने से मनुष्य पदार्थों को यथार्थ न जानकर उन्हें अन्यथा जानता है उसी प्रकार मिथ्यात्व के वशीभूत हुआ जीव जो शरीर, स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु और धन आदि भिन्न स्वभाव वाले हैं उन्हें अपना मानकर उनसे राग-द्वेष किया करता है। पर जिस प्रकार पक्षी विभिन्न दिशाओं से आकर रात में वृक्ष-वृक्ष पर स्थित होते हैं और फिर सवेरा हो जाने पर वे अपने-अपने प्रयोजन के अनुसार विविध दिशाओं को चले जाते हैं उसी प्रकार ये संसारी प्राणी अपने-अपने कर्म के अनुसार विभिन्न कुटुम्बों में आश्रय लेते हैं और आयु के समाप्त होने पर अन्यान्य अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं।

कुछ मनुष्यों का धन के संग्रह में यह अभिप्राव रहता है कि धन का संचय हो जाने पर उससे कल्याणप्रद दानादि सत्कार्यों को करेंगे। पर उनका यह विचार कितना मूर्खतापूर्ण है, इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए यह वतलाया गया है कि उनका वह विचार उस मूर्ख व्यक्ति के समान है जो यह सोचकर कि स्नान कर लूंगा, अपने शरीर को कीचड़ से लिप्त करता है।

इस प्रकार अनेक उदाहरणों द्वारा यहां मुमुक्षु जीवों को आत्म-परका विवेक उत्पन्न कराकर राग-द्वेष को छुड़ाते हुए उन्हें आत्मस्वरूप में स्थित होने का उपदेश किया गया है। अन्त में यह कहा गया है कि जो बुद्धिमान् इस इष्टोपदेश को भलीभाँति पढ़कर तदनुसार मानापमान में समताभाव को वृद्धिगत करता है व कदाग्रह को छोड़ देता है वह चाहे जनाकीर्ण कुटुम्बादि में रहे और चाहे वन में भी रहे, वह भव्य अनुपम मुक्ति-लक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है। इस पर पं. आशाधर (विक्रम की १३वीं शती) ने ग्रन्थ के रहस्य को स्पष्ट करने वाली टीका लिखी है। इस टीका सहित वह पूर्वोक्त समाधितन्त्र के साथ उक्त संस्था द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—आत्मा आदि।

टीका—अज्ञ आदि।

२५. तिलोयपण्णत्ती (त्रिलोकप्रज्ञप्ति)—इसके रचयिता आचार्य यतिवृषभ हैं। ये विक्रम संवत् के अनुसार सम्भवतः ५३०-६६६ (ई. ४७३-६०६) के मध्य में किसी समय हुए हैं[2]। इसमें ये नौ महाधिकार हैं—सामान्यलोक, नारकलोक, भावनलोक, नरलोक, तिर्यग्लोक व्यन्तरलोक, ज्योतिर्लोक, कल्पवासिलोक और सिद्धलोक। इनमें गाथासंख्या[3] इस प्रकार है—२८३+३६७+२४३+२६६१+३२१+१०३+६१६+७०३+७८=५६७७। मध्य में कुछ गद्यभाग भी है। जैसे—वातवलय क्षेत्रों के

१. वर वय-तवेहि सग्गो मा दुक्खं होउ निरइ इयरेहिं।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं॥ मोक्षप्राभृत २५.

२. ति. प. भा. २, प्रस्तावना पृ. १५.

३. आर्या छन्द के अतिरिक्त कहीं-कहीं कुछ थोड़े से अन्य छन्दों का भी उपयोग हुआ है। जैसे—इन्द्रवज्रा, स्वागता, उपजाति, दोधक, शार्दूलविक्रीड़ित और वसन्ततिलका आदि।

लाने का विधान (पृ. ४३-५०), उत्कृष्ट संख्यात एवं तीन-तीन प्रकार के असंख्यात व अनन्त की प्ररूपणा (पृ. १७९-१८३), द्वीप-सागरों का वादर क्षेत्रफल आदि (पृ. ५६०-६१०), अवगाहनाविकल्प (पृ. ६१८-६४०) तथा मानुषोत्तर पर्वत के आगे स्थित चन्द्र-सूर्यादि के विन्यास व संख्या आदि की प्ररूपणा (पृ. ७६१-६७)।

उक्त गद्य भाग में से कुछ भाग षट्खण्डागम की टीका धवला में जैसा का तैसा उपलब्ध होता है। जैसे—त्रि. प्र. पृ. ४३-४६ व धवला पु. ४, पृ. ५१-५५ तथा त्रि. पृ. ७६४ से ७६६ व धवला पु. ४, पृ. १५१-१५५। यहाँ विशेषता यह है कि जैसे धवलाकार के द्वारा यह कहा गया है कि यह तत्प्रायोग्य संख्यात रूपों से अधिक जम्बूद्वीप के अर्धच्छेद सहित द्वीप-सागरों के रूप मात्र राजु के अर्धच्छेदों के प्रमाण की परीक्षाविधि अन्य आचार्यों के उपदेश की परम्परा का अनुसरण नहीं करती है, उसकी प्ररूपणा केवल हमने **त्रिलोकप्रज्ञप्ति सूत्र के अनुसार** ज्योतिषी देवों के भागहार के प्रतिपादक सूत्र का आलम्बन करने वाली युक्ति के बल से प्रकृत गच्छ को सिद्ध करने के लिए की है[1] वैसे ही त्रिलोकप्रज्ञप्ति में भी यह कहा गया है कि यह तत्प्रायोग्य संख्यात रूपों से अधिक जम्बूद्वीप के अर्धच्छेद सहित द्वीप-समुद्रों के रूप प्रमाण राजु के अर्धच्छेद प्रमाण की परीक्षाविधि अन्य आचार्यों के उपदेश की परम्परा का अनुसरण नहीं करती है। वह केवल **त्रिलोकप्रज्ञप्ति सूत्र का** अनुसरण करने वाली है, ज्योतिषी देवों के भागहार के प्रतिपादक सूत्र का आलम्बन लेने वाली युक्ति के बल से प्रकृत गच्छ को सिद्ध करने के लिए यह प्ररूपणा कही गई है[2]। विशेष इतना है कि धवला के उक्त सन्दर्भ में जो 'अम्हेहि (हमने)' पद उपलब्ध होता है वह यहां नहीं पाया जाता। इसके आगे धवला में जो 'प्रतिनियतसूत्रावष्टम्भ' आदि लगभग दो पंक्तियाँ हैं वे भी यहाँ नहीं उपलब्ध होती हैं। आगे का 'तदो ण एत्थ' इत्यादि सन्दर्भ (३-४ पंक्तियाँ) भी प्रायः दोनों में समान हैं।

इस प्रकार त्रिलोकप्रज्ञप्ति के इस गद्यभाग की स्थिति को देखते हुए यह निश्चित प्रतीत होता है कि उक्त गद्यभाग त्रिलोकप्रज्ञप्तिकार के द्वारा नहीं रचा गया है, पीछे यथाप्रसंग वह किसी अन्य के द्वारा इसमें जोड़ दिया गया हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में तीनों लोक सम्बन्धो महत्त्वपूर्ण विषयों की प्ररूपणा इस प्रकार की गई है—

१. सामान्यलोक—वहाँ प्रथमतः मंगल स्वरूप पंच गुरुओं की स्तुतिपूर्वक शास्त्रविषयक मंगल, कारण (निमित्त), हेतु, प्रमाण, नाम और कर्ता इन छह का व्याख्यान किया गया है[3] (७-८४)। तत्पश्चात् लोक के प्रसंग में पल्योपम, सागरोपम, सूचि-अंगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल, जगश्रेणि, जगप्रतर और लोक इन आठ प्रमाणभेदों का वर्णन किया गया है। अन्त में लोक के आधारभूत तीन वातवलयों के आकार व मोटाई आदि का प्रमाण दिखलाते हुए इस महाधिकार को समाप्त किया गया है।

२ नारकलोक—इस महाधिकार में १५ अधिकारों के द्वारा क्रम से नारकियों के निवास-क्षेत्र, उनकी संख्या, आयु का प्रमाण, शरीर की ऊंचाई, अवधिज्ञान का प्रमाण, उनमें सम्भव गुणस्थानादि (२० प्ररूपणायें), वहाँ उत्पन्न होने वाले जीवों की सम्भावना, जन्म और मरण का अन्तर, एक समय में उत्पन्न होने वाले व मरने वाले नारकियों की संख्या, नरकों से आगमन (जिन पर्यायों को वे प्राप्त कर सकते हैं), नारक आयु के वन्धयोग्य परिणाम, जन्मभूमियां, नरकों में प्राप्त होने वाला दुःख और सम्यग्दर्शनग्रहण के कारण; इन सब की प्ररूपणा की गई है।

---

१. धवला पु. ४, पृ. १५७ (एसा तप्पाओग्गसंखेज्ज……)।

२. ति. प. २, पृ. ७६६ (एसा तप्पाउग्गसंखेज्जा……)।

३. इस प्रकार की पद्धति प्राचीन आचार्यपरम्परा में रही है। धवलाकार आचार्य वीरसेन स्वामी ने भी इस पद्धति को अपना कर उक्त मंगलादि छह की धवला के प्रारम्भ में प्ररूपणा की है। धवला पु. १, पृ. ८-७२.

३. **भावनलोक**—यहां २४ अधिकारों के द्वारा क्रम से भवनवासी देवों के निवासक्षेत्र, उनके भेद, चिह्न, भवनों की संख्या, इन्द्रों की संख्या व उनके नाम, दक्षिण व उत्तर इन्द्र, उनमें प्रत्येक के भवनों का प्रमाण, अल्पर्द्धिक आदि भवनवासियों के भवनों का विस्तार, भवन, वेदी, कूट, जिनभवन, प्रासाद, इन्द्रविभूति, भवनवासी देवों की संख्या, आयुप्रमाण, शरीर की ऊंचाई, अवधिज्ञान का विषयप्रमाण, गुणस्थान आदि, एक समय में उत्पन्न होने वाले व मरने वालों की संख्या, आगति, भवनवासियों की आयु के बन्धयोग्य परिणाम व सम्यक्त्वग्रहण के कारण; इन सबका वर्णन किया गया है :

४ **नरलोक**—इस महाधिकार में १६ अधिकारों के द्वारा क्रम से मनुष्यलोक का निर्देश, जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, धातकीखण्डद्वीप, कालोदसमुद्र, पुष्करार्धद्वीप तथा इन अढ़ाई द्वीपों में स्थित मनुष्यों के भेद, संख्या, अल्पबहुत्व, अनेक भेदयुक्त गुणस्थान आदिकों का संक्रमण, मनुष्यायु के बन्ध के योग्य भाव, योनिप्रमाण, सुख, दुख, सम्यक्त्वग्रहण के कारण और मुक्ति प्राप्त करने वालों का प्रमाण; इन विषयों की चर्चा की गई है।

यह महाधिकार बहुत विस्तृत है। यहां उपर्युक्त १६ अधिकारों में से दूसरे अधिकार में जम्बूद्वीप का वर्णन करते हुए भरतक्षेत्र का वर्णन विस्तार से किया गया है। इसके अन्तर्गत, आर्यखण्ड के वर्णनप्रसंग में परिवर्तमान अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालों के भेदभूत सुषमसुषमा, सुषमा, सुषमदुष्षमा, दुष्षमसुषमा, दुष्षमा और अतिदुष्षमा कालों का वर्णन करते हुए भोगभूमियों की व्यवस्था, शलाकापुरुषों (२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण) के नाम व संख्या तथा ११ रुद्रों के भी नामों का उल्लेख किया गया है। तीर्थंकरों का वर्णन करते हुए उनके जन्मस्थान आदि कितने ही ज्ञातव्य विषयों का विवेचन किया गया है[1]। आगे भरतादि चक्रवर्तियों के आयुप्रमाण आदि का निरूपण करते हुए नौ नारदों का भी निर्देश किया गया है। तीर्थंकर आदि कितने भव्य जीव नियमतः मुक्ति को प्राप्त करने वाले हैं, इसकी भी सूचना यहां (४-१४७३) कर दी गई है।

आगे दुष्षमाकाल के प्रसंग में गौतमादि अनुबद्ध केवलियों के धर्मप्रवर्तनकाल, अन्तिम सिद्ध व अन्तिम चारण ऋषि आदि, चतुर्दशपूर्वधरों आदि के अस्तित्व और श्रुततीर्थ के व्युच्छेद आदि की चर्चा की गई है। तत्पश्चात् शक, गुप्त, चतुर्मुख, पालक, विजयवंशज, मुरुण्डवंश, पुष्यमित्र, वसुमित्र-अग्निमित्र, गन्धर्व, नरवाहन, भत्यट्टण (भृत्यान्ध्र), पुनः गुप्त और इन्द्रसुत चतुर्मुख कल्की, इनके राज्यकाल के प्रमाण का निर्देश किया गया है (१५०३-१०)। फिर अतिदुष्षमा काल में होने वाले परिवर्तन का निर्देश करते हुए आगे क्रम से उत्सर्पिणी के छह कालों की प्ररूपणा की गई है।

इस प्रकार भरतक्षेत्र का विस्तार से वर्णन करके तत्पश्चात् हिमवान् पर्वत, हैमवत क्षेत्र, महाहिमवान् पर्वत, हरिवर्ष और निषध पर्वत का वर्णन करते हुए विदेह क्षेत्र व उसके मध्य में स्थित मेरु पर्वत की प्ररूपणा की गई है।

जिस प्रकार जम्बूद्वीप के दक्षिणदिशागत क्षेत्र-पर्वतादिकों का कथन किया गया है इसी प्रकार आगे उसके उत्तर दिशा सम्बन्धी क्षेत्र-पर्वतादिकों का निरूपण किया गया है। तत्पश्चात् लवणसमुद्र और धातकीखण्ड द्वीप आदि का वर्णन करके मनुष्यों में गुणस्थानादि का विवेचन करते हुए इस महाधिकार को समाप्त किया गया है।

५. **तिर्यग्लोक**—इस महाधिकार में १६ अधिकारों के द्वारा क्रम से स्थावरक्षेत्र, उसके मध्य में तिर्यक्-त्रसक्षेत्र, नामनिर्देशपूर्वक द्वीप-समुद्रों की संख्या व विन्यास, उनका अनेक प्रकार का क्षेत्रफल, तिर्यंचों के भेद, संख्या, आयु, आयु के बन्धयोग्य परिणाम, योनि, सुख-दुख, गुणस्थानादि, सम्यक्त्वग्रहण के कारण, गति-आगति और अल्पबहुत्व; इन वर्णनीय विषयों का विवेचन किया गया है।

---

१. तीर्थंकरों से सम्बन्धित उन विषयों में से लगभग ५० विषयों की एक तालिका भाग २ के परिशिष्ट ७ में १०१३-२२ पृष्ठों में दे दी गई है।

६. **व्यन्तरलोक**—जिस प्रकार भावनलोक अधिकार में भवनवासी देवों की प्ररूपणा की गई है लगभग उसी प्रकार से कुछ विशेषताओं के साथ यहां व्यन्तर देवों की प्ररूपणा की गई है ।

७. **ज्योतिर्लोक**—यहां १७ अधिकारों के द्वारा क्रम से ज्योतिषी देवों के निवासक्षेत्र, भेद, संख्या, विन्यास, परिमाण, चर ज्योतिषी देवों का संचार, अचर ज्योतिषियों का स्वरूप, आयु, आहार, उच्छ्वास, अवधि की शक्ति, एक समय में जन्म व मरण, आयुबन्ध के योग्य परिणाम, सम्यक्त्वग्रहण के कारण और गुणस्थानादि; इन विषयों का वर्णन किया गया है ।

८. **सुरलोक (वैमानिक लोक)**—इसमें इक्कीस अधिकारों के द्वारा वैमानिक देवों के निवासक्षेत्र, विन्यास, भेद, नाम, सीमा, संख्या, इन्द्रविभूति, आयु, जन्म-मरण का अन्तर, आहार, उच्छ्वास, उत्सेध, वैमानिक देवों सम्बन्धी आयुबन्ध के योग्य परिणाम, लौकान्तिक देवों का स्वरूप, गुणस्थानादि का स्वरूप, सम्यक्त्वग्रहण के कारण, आगति, अवधिज्ञान का विषय, देवों की संख्या, शक्ति और योनि इन सबका वर्णन किया गया है ।

९. **सिद्धलोक**—इसमें ५ अधिकारों के द्वारा सिद्धों के निवासक्षेत्र, संख्या, अवगाहना, सुख और सिद्धत्व के योग्य भावों का विवेचन किया गया है ।

उपर्युक्त विषय-परिचय से यह भलीभांति ज्ञात हो जाता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में ज्ञातव्य अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का सुव्यवस्थित और प्रामाणिक विवेचन किया गया है । विषयविवेचन की शैली को देखते हुए ग्रन्थ प्राचीन प्रतीत होता है । ग्रन्थकार के सामने जो इस विषय का पूर्व साहित्य रहा है उसका पूरा उपयोग इसमें किया गया है । यह जहाँ तहाँ प्रगट किये गये मतभेदों से सिद्ध है[1] । ग्रन्थकार ने यथाप्रसंग म[स]ग्गायणी, मूलाचार, लोकविनिश्चय, लोकविभाग, लोकाय[यि]नी, सग्गायणी, संगाहणी और संगोयणी इतने ग्रन्थों का उल्लेख किया है[2] ।

वर्तमान में जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर से प्रकाशित एक 'लोकविभाग' उपलब्ध है, पर वह प्रस्तुत ग्रन्थ के बहुत बाद की रचना है । उसमें प्रस्तुत ग्रन्थ की बीसों गाथायें ग्रन्थनामोल्लेखपूर्वक यत्र तत्र उद्धृत की गई हैं । इस लोकविभाग के कर्ता सिंहसूरर्षि ने अन्तिम प्रशस्ति में सर्वनन्दी विरचित एक लोकविभाग की सूचना की है । सम्भव है तिलोयपण्णत्तिकार के सामने यही लोकविभाग रहा हो, अथवा अन्य ही कोई लोकविभाग उनके सामने रहा हो ।

यह ग्रन्थ जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर से दो भागों में प्रकाशित हो चुका है । इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—अक्षीणमहानस, अक्षीणमहालय, अङ्गनिमित्त, अङ्गुल, अटट, अटटाङ्ग, अणिमा, अद्धापल्य, अधिराज, अनीक, अनुसारी, अन्तरिक्षमहानिमित्त, आकाशगामित्व, आत्माङ्गुल, आभियोग्यभावना, आभ्यन्तरद्रव्यमल, आमर्षौषधिऋद्धि, आवास, आशीविष, उत्कृष्ट परीतानन्त, उत्कृष्टासंख्येयासंख्येय, उत्सर्पिणी, उत्सेधाङ्गुल, उद्धारपल्यकाल, उवसन्नासन्न, ऊर्ध्वलोक और औत्पत्तिकी आदि ।

२६. **आचारांग**—प्रस्तुत आचारांगादि श्रुत का परिचय कराने के पूर्व यह बतला देना आवश्यक प्रतीत होता है कि वर्तमान अंगसाहित्य के विषय में दिगम्बर (अचेलक) और श्वेताम्बर (सचेलक) परम्परा में कुछ मतभेद है । यद्यपि दोनों ही परम्परायें यह स्वीकार करती हैं कि अंग व अंगबाह्य श्रुत प्रवाहरूप से अनादि-निधन है—प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ में उसका मौखिक पठन पाठन चालू रहता है, फिर भी वर्तमान में अन्तिम तीर्थंकर महावीर के निर्वाण के पश्चात् जम्बूस्वामी (अन्तिम केवली) तक उक्त श्रुत का प्रवाह अविच्छिन्न चलता रहा । तत्पश्चात् बारह वर्ष प्रमाण भीषण दुष्काल के समय अपने संयम को स्थिर रखने की इच्छा से कुछ साधु दक्षिण की ओर और कुछ समुद्र के किनारे की ओर चले गये । इस प्रकार पठन-गुणनादि के अभाव में श्रुत सब विनष्ट हो गया । अन्त में दुष्काल

---

१. इन मतभेदों की एक तालिका प्रस्तुत ग्रन्थ के परिशिष्ट (भाग २, पृ० ९८७-८८) में दे दी गई है ।

२. इन ग्रन्थों की सूचना भी उक्त परिशिष्ट में पृ० ९९५ पर कर दी गई है ।

के समाप्त होने पर जब साधुसंघ एकत्रित हुआ तब एक वाचना वीर निर्वाण से लगभग १६० वर्ष के बाद पाटिलपुत्र में और इसके पश्चात् दूसरी वाचना वीर निर्वाण के लगभग ८४० वर्ष के बाद मथुरा में स्कन्दिलाचार्य की तत्त्वावधानता में सम्पन्न हुई। ठीक इसी समय एक अन्य वाचना वलभी में आचार्य नागार्जुन के तत्त्वावधान में भी सम्पन्न हुई। इन दोनों वाचनाओं में जिस साधु को जितना श्रुत स्मृत रहा उस उसको लेकर उसे पुस्तकारूढ़ कर लिया गया। पर इन दोनों वाचनाओं में एकरूपता नहीं रह सकी व पाठभेद दृष्टिगोचर होने लगा[1]।

इसके पश्चात् वीर नि. के ९८० वर्ष के लगभग एक वाचना और भी वलभी में देवर्द्धि गणी के तत्त्वावधान में सम्पन्न हुई। इस में अंग-उपांगादि रूप श्रुत को पृथक्-पृथक् पुस्तकों के रूप में ग्रथित कर लिया गया जो वर्तमान में उपलब्ध है। इस प्रकार इस अन्तिम वाचना में जो आचारांगादि का संकलन किया गया है वह गणधर सुधर्मा केवली द्वारा उपदिष्ट उसी रूप में नहीं रहा व उत्तरोत्तर उसमें कुछ हीनाधिकता भी हुई है। इस बात में दोनों ही सम्प्रदाय सहमत हैं। इसी कारण दिगम्बर परम्परा में उक्त आचारांगादि को प्रामाणिक न मानकर मौखिक रूप से परम्परागत गणधरग्रथित आचारांगादि के आश्रय से षट्खण्डागम व कषायप्राभृत आदि जो आगम ग्रन्थ आरातीय आचार्यों के द्वारा रचे गये उन्हीं को आज दिगम्बर परम्परा प्रामाणिक मानती है। परन्तु श्वे. परम्परा देवर्द्धि-गणी के द्वारा संकलित जिन आचारांगादि को प्रमाणभूत मानती है उन्हीं का परिचय यहां कराया जा रहा है। श्वे. परम्परा में इन्हें सुधर्मा द्वारा प्ररूपित और जम्बूस्वामी के द्वारा सुना गया श्रुतांग माना जाता है। प्रस्तुत आचारांग बारह अंगों में प्रथम है[2]।

इसमें मुनि के आचार—विशेषतः काल-विनयादिरूप आठ प्रकार के ज्ञानाचार, निःशंकितादि रूप आठ प्रकार के दर्शनाचार, आठ प्रवचनमातृका (पांच समितियां और तीन गुप्तियां) रूप आठ प्रकार के चारित्राचार, बारह प्रकार के तप-आचार और वीर्याचार की प्ररूपणा की गई है। इसी से इसकी भावाचार संज्ञा है। आचार, आगाल, आकर, आश्वास, आदर्श, अंग, आचीर्ण, आजाति और आमोक्ष ये समानार्थक शब्द हैं। यह दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। उनमें से प्रथम श्रुतस्कन्ध में ये नौ अध्ययन या अधिकार हैं— १ शस्त्रपरिज्ञा, २ लोकविजय, ३ शीतोष्णीय, ४ सम्यक्त्व, ५ लोकसार (चारित्र), ६ धूत, ७ (यह अध्याय व्युच्छिन्न हो गया है), ८ विमोक्ष, ९ उपधानश्रुत। इन नौ अध्ययनस्वरूप इस प्रथम श्रुतस्कन्ध को 'नव ब्रह्मचर्यमय' कहा गया है। इसके आठवें अध्ययन के अन्तर्गत आठवां उद्देशक तथा सम्पूर्ण नौवां अध्ययन पद्यमय है। शेष अध्ययनों में यत्र क्वचित् ही पद्य उपलब्ध होते हैं—अधिकांश वे गद्यसूत्रात्मक हैं।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध को आचाराग्र कहा जाता है। इसमें ये पाँच चूलिकायें है। उनमें प्रथम चूलिका में सात अध्ययन है—पिण्डैषणा, शय्यैषणा, ईर्या, भाषाजात, वस्त्रैषणा, पात्रैषणा, और अवग्रह। यहां भिक्षा की विधि, भोजय की शुद्धि, संस्तर-गमनागमन की विधि, भाषा, पात्र, एवं अन्य व्रतादि के विषय में विचार किया गया है। दूसरी, चूलिका सप्तसप्ततिका में भी सात अध्ययन हैं। तीसरी चूलिका का नाम भावना अध्ययन है। विमुक्ति नाम की चौथी चूलिकारूप विमुक्ति अध्ययन में अनित्यत्व, पर्वत, रूप्य, भुजगत्व और समुद्र ये पांच अधिकार हैं। पांचवीं चूलिका निशीथ है जो एक पृथक् ही ग्रन्थ में निबद्ध है।

उक्त आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध के ९+द्वि. श्रुतस्कन्ध की प्रथम चूलिका के ७ + द्वितीय चूलिका के ७+तृतीय का +१ और चतुर्थ का १=२५ इस प्रकार पच्चीस अध्ययनस्वरूप है।

---

१. देखिये नंदीसुत्तचुण्णी गा. ३२, ज्योतिष्करण्डक मलय. टीका २-७१, पृ. ४१ और त्रि. श. पु. च. परिशिष्ट पर्व ९, ५५-७६.

२. देखिये 'जैन साहित्य का वृहद् इतिहास' भाग १, प्रकरण १, जैन श्रुत पृ. ५-१० तथा द्वितीय प्रकरण 'जैनग्रन्थों का बाह्य परिचय', पृ. ३५-३६।

आचारांग पर आ. भद्रबाहु द्वितीय (विक्रम की छठी शताब्दी) द्वारा विरचित निर्युक्ति और शीलांकाचार्य (गुप्त संवत्सर ७७२, विक्रम की १०वीं शती) विरचित टीका है[1]। उक्त निर्युक्ति और टीका के साथ वह सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—असत्यामृषा भाषा आदि।

टीका—अधःकर्म, अनिसृष्ट, अनुभावबन्ध, असत्यामृषा भाषा, आच्छेद्य, आजीवपिण्ड, आज्ञा, आधाकर्म, आयुकर्म, आहार संज्ञा, आहृतकर्म, उपकरण, उपाध्याय, उपपात और औद्देशिक आदि।

२७. **सूत्रकृतांग**—यह बारह अंगों में दूसरा है और वह दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में १६ अध्ययन हैं—१ समयाध्ययन, २ वैतालीय अध्ययन, ३ उपसर्गाध्ययन, ४ स्त्रीपरिज्ञा, ५ नरक-विभक्ति, ६ वीरस्तुति, ७ कुशीलपरिभाषा, ८ वीर्याध्ययन, ९ धर्माध्ययन, १० समाधि-अध्ययन, ११ मार्गाध्ययन, १२ समवसरण-अध्ययन, १३ याथातथ्य अध्ययन, १४ ग्रन्थाध्ययन, १५ आदानीय (या आदान) और १६ गाथाध्ययन। इसमें क्रियावादी व नियतिवादी आदि मतान्तरों की समीक्षा करके स्वसमय (स्वमत) को स्थापित किया है।

द्वितीय स्कन्ध में १ पौण्डरीक अध्ययन, २ क्रियास्थान, ३ आहारपरिज्ञा, ४ प्रत्याख्यान क्रिया, ५ आचार श्रुताध्ययन, ६ आर्द्रकीय अध्ययन और ७ नालन्दीय अध्ययन—ये सात अध्ययन हैं। यहां जीव व शरीर की एकता, जगत्कर्तृत्व और नियतिवाद आदि का निराकरण करते हुए भिक्षा सम्बन्धी दोषों की प्ररूपणा की गई है। प्रथम श्रुतस्कन्धगत प्रारम्भ के १५ अध्ययन पद्यमय हैं। उनकी पद्यसंख्या इस प्रकार है— ८+७६+८२+५३+५२+२९+३०+२६+३६+२६+३८+२२+२३+२७+२५=५५३. अन्तिम १६वां अध्ययन गद्यसूत्रात्मक हैं। उसमें ४ सूत्र हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में प्रारम्भ के चार और अन्तिम एक ये पांच अध्ययन गद्यरूप हैं, शेष दो (५-६) पद्यरूप हैं। तीसरे अध्ययन में सूत्र १९ के मध्य में चार गाथायें भी हैं। गद्यसूत्र संख्या सब ८१ और पद्यसंख्या ८८ है। उक्त दोनों श्रुतस्कन्धों पर आ. भद्रबाहु (द्वि.) विरचित निर्युक्ति है, जिसकी संख्या २०५ है। इसके अतिरिक्त शीलांकाचार्य (वि. की १०वीं शती) विरचित टीका भी है। चूर्णि व दीपिका आदि अन्य व्याख्यायें भी उस पर रची गई हैं। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—आदिमोक्ष इत्यादि।

टीका—अक्रियावादी, अदित्साप्रत्याख्यान, अनार्य, आदिमोक्ष, ऋजुसूत्र, एवम्भूतनय और ओज-आहार आदि।

२८. **स्थानांग**—तीसरा अंग स्थानांग है। यह दस स्थानकों या अध्ययनों में विभक्त है। स्थानक-संख्या के अनुसार इसमें उसी संख्या के पदार्थ या क्रिया का विवेचन किया गया है। जैसे प्रथम स्थानक में एक-एक संख्या वाले पदार्थों का विवरण इस प्रकार है—एक आत्मा है, एक दण्ड है, एक क्रिया है, एक लोक है, एक अलोक है, एक धर्म है, एक अधर्म है, एक बन्ध है, एक मोक्ष है, एक पुण्य है, एक पाप हैं, एक आस्रव है, एक संवर है, एक वेदना है, एक निर्जरा है, इत्यादि (सूत्र २-१६)। इस एकस्थान प्रकरण में ५६ सूत्र हैं।

द्वितीय स्थानक के प्रारम्भ में कहा गया है कि जो लोक में है वह दो पदों के अवतार रूप है—

---

१. टीकाकार ने इस टीका के रचनाकाल की सूचना स्वयं इस प्रकार की है—

द्वासप्तत्यधिके हि शतेषु सप्तसु गतेषु गुप्तानाम्।
संवत्सरेषु मासि च भाद्रपदे शुक्लपंचम्याम्॥
शीलाचार्येण कृता गम्भूतायां स्थितेन टीकैषा।
सम्यगुपयुज्य शोध्यं मात्सर्यविनाकृतैरार्यैः॥ पृ. २८८

अपने प्रतिपक्ष से सहित है। इसको स्पष्ट करते हुए आगे यह कहा गया है—जीव व अजीव, त्रस व स्थावर, सयोनिक व अयोनिक, सहायुष व अपायुष इत्यादि (सूत्र ५७)।

इसी द्वितीय स्थानक के सूत्र १०२ में कहा गया है कि श्रमण भगवान् महावीर ने निर्ग्रन्थों के लिए इन दो मरणों का न कभी वर्णन किया है और न उन्हें प्रशस्त बतलाया है। वे दो मरण ये हैं—वलन्मरण[1] और वशार्तमरण, निदानमरण और तद्भवमरण, गिरिपतन और तरुपतन, जलप्रवेश और ज्वलनप्रवेश तथा विषभक्षण और शस्त्रपाटन। आगे इसी सूत्र में कहा गया है कि भगवान् महावीर ने इन दो मरणों की सदा अनुमति तो नहीं दी, पर कारणवश उनका निषेध भी नहीं किया है। वे मरण हैं वेहाणस (वैहायस) और गृध्रपृष्ठ[2]। भगवान् ने इन दो मरणों का निर्ग्रन्थ श्रमणों के लिए वर्णन किया है व अनुज्ञा दी है—पादोपगमन—स्व-परकृत प्रतीकार से रहित—और भक्तप्रत्याख्यान। ये दोनों ही निर्हारिम और अनिर्हारिम के भेद से दो-दो प्रकार के हैं।

विषयविवेचन पद्धति के ज्ञापनार्थ यहाँ उपर्युक्त कुछ उदाहरण दिए गए हैं। वर्णन का यही क्रम आगे तीन चार आदि दस स्थानक तक समझना चाहिए। प्रस्तुत अंग की समस्त सूत्रसंख्या ७८३ है। इसके ऊपर अभयदेव सूरि के द्वारा टीका रची गई है। टीका का रचनाकाल लगभग विक्रम संवत् ११२० है। इस टीका के साथ इसका एक संस्करण, जो हमें प्राप्त है, शेठ माणेकलाल चुन्नीलाल अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित किया गया है। इनका उपयोग इन शब्दों में हुआ है:—

मूल—अकर्मभूमि आदि।

टीका—अधर्मद्रव्य, आरम्भकथा, उपपात, ऋजुसूत्र और एवम्भूत नय आदि।

२६. समवायांग—बारह अंगों में इसका स्थान चौथा है। यह भी अभयदेव सूरि विरचित वृत्ति से सहित है। इसकी विषयविवेचन पद्धति पूर्वोक्त स्थानांग के ही समान है—जिस प्रकार स्थानांग में क्रम से एक दो आदि संख्या वाले पदार्थों का प्रतिपादन किया गया है उसी प्रकार इस समवायांग में भी एक दो तीन आदि संख्या वाले पदार्थों का विवेचन किया गया है। विशेष इतना है कि स्थागांग में एक दो तीन आदि के क्रम से दस संख्या तक के पदार्थों का ही वर्णन किया गया है। इसीलिए उसमें दस स्थानक या प्रकरण हैं। परन्तु समवायांग में प्रथमतः एक दो आदि क्रमिक संख्या के अनुसार सौ (१००) संख्या तक के पदार्थों का, उसके आगे पांच सौ (५००) तक पचास पचास अधिक (१५०, २००, २५० आदि) संख्या वाले तथा इसके आगे ११०० तक १००-१०० अधिक संख्या वाले पदार्थों का विवरण है। तत्पश्चात् दो हजार, तीन हजार आदि संख्यायुक्त पदार्थों का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार यह क्रम सागरोपम कोड़ाकोड़ी तक चलता रहा है।

तत्पश्चात् सूत्र १३६ में गणिपिटक के रूप में आचारादि बारह अंगों के विषयादि का परिचय कराया गया है। इसके पश्चात् नारकियों आदि के आवास, आयु और शरीरोत्सेध आदि का निरूपण करते हुए कुलकर, तीर्थंकर और उनके पूर्वभव आदि का भी उल्लेख किया गया है। अन्त में नारायण, बलदेव एवं भविष्य में होने वाले तीर्थंकरादि का निर्देश करते हुए ग्रन्थ समाप्त हुआ है। इसमें सब सूत्र १५६ हैं। बीच में कुछ गाथासूत्रों का भी उपयोग हुआ है। उक्त टीका के साथ यह मफतलाल झवेरचन्द अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसकी टीका का उपयोग अकर्मभूमिक, अतिस्निग्धमधुरत्व, अनुन्नादित्व, अधर्मद्रव्य, अपरमर्मवेधित्व, अभिजातत्व, अवधिमरण, असंदिग्धत्व और उपनीतरागत्व आदि शब्दों में हुआ है।

३० व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती)—यह अंगों में पांचवा अंग है, जो प्रायः अन्य सब अंगों में

---

१. परीषहादिसे उद्विग्न होकर संयम से च्युत होते हुए जो मरण होता है वह वलन्मरण कहलाता है।

२. वृक्ष की शाखा आदि में बन्धन (फांसी) से जो आकाश में मरण होता है उसे वेहाणस मरण कहा जाता है। गिद्धों से पीठ पेट आदि नुचवा कर जो मरण स्वीकार किया जाता है वह गृध्रपृष्ठ मरण कहलाता है।

विशालकाय है। ग्रन्थप्रमाण से यह १५००० श्लोक प्रमाण है। इसमें ४१ शतक और इन शतकों में अवान्तर अधिकार रूप और भी अनेक शतक हैं। यहाँ सर्वप्रथम मंगलरूप में पंचनमस्कारमंत्र—'णमो अरिहंताणं' आदि प्राप्त होता है। तत्पश्चात् ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया गया है। तदनन्तर राजगृह नगर, राजा श्रेणिक और उसकी पत्नी चिल्लना का निर्देश करते हुए भगवान् महावीर और उनके प्रमुख गणधर इन्द्रभूति (गौतम) के गुणों का कीर्तन किया गया है। इसमें नरक, स्वर्ग, इन्द्र, सूर्य, गति-आगति, पृथिवीकायादि, केवली का जानना-देखना, कृतयुग्मादि संख्याविशेष और लेश्या आदि अनेक विषयों का निरूपण प्रश्नोत्तर की पद्धति से किया गया है। प्रमुख प्रश्नकर्ता गौतम गणधर रहे हैं। इनके अतिरिक्त दूसरों के द्वारा भी यथावसर प्रश्न पूछे गए हैं। उनमें पार्श्वापत्य—पार्श्वनाथ परम्परा के शिष्य—भी हैं। उक्त विषयों के सिवाय यहाँ कितने ही राजा, सेठ और श्रावक आदि का भी वर्णन किया गया है। इसके कई संस्करण निकल चुके हैं। इसका उपयोग अङ्गारदोष, अङ्गुल, अबुद्धजागरिका, आलापन॰ बन्ध, उच्चयवन्ध, उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिका और उच्छ्वास नामकर्म आदि शब्दों में हुआ है।

३१. प्रश्नव्याकरणांग—इसकी कोई भी प्रति हमें उपलब्ध नहीं हो सकी। समवायांग[1] और नन्दीसूत्र[2] के अनुसार प्रस्तुत अंग में मंत्रविद्या आदि से सम्बद्ध १०८ प्रश्न १०८ अप्रश्न और १०८ प्रश्नाप्रश्नों का निर्देश किया गया है। इसमें ४५ अध्ययन हैं।

वर्तमान प्रश्नव्याकरण में यह सब नहीं हैं। श्री पं. बेचरदासजी दोशी का अभिमत है कि वर्तमान प्रश्नव्याकरण किसी गीतार्थ पुरुष के द्वारा रचा गया है[3]।

इसमें हिंसादिरूप पांच आस्रवों और अहिंसादिरूप पाँच संवरों का विस्तार से कथन किया गया हैं। इसकी टीका का उपयोग आरम्भ और आरम्भ-समारम्भ आदि शब्दों में हुआ है।

३२. विपाकसूत्रांग—यह ग्यारहवाँ अंग है, जो दुःखविपाक और सुखविपाक इन दो श्रुत-स्कन्धों में विभक्त है। दुखविपाक में ये दस अध्ययन हैं—१ मृगापुत्र, २ कामध्वजा-उज्झितक, ३ अभग्न-सेन, ४ शकट, ५ बृहस्पतिदत्त, ६ नन्दिमित्र, ७ उम्बरदत्त, ८ शौर्यदत्त, ९ देवदत्त और १० अंजू। इसी प्रकार दूसरे श्रुतस्कन्ध में भी दस ही अध्ययन हैं—१ सुबाहुकुमार, २ भद्रनन्दीकुमार, ३ सुजातकुमार, ४ सुवासवकुमार, ५ जिनदास, ६ धनपति युवराजपुत्र, ७ महाबलकुमार, ८ भद्रनन्दीकुमार, ९ महाचन्द्र कुमार और १० वरदत्तकुमार। ये २० कथायें यहाँ दी गई हैं। इनमें प्रारम्भ के १० पात्र दुःख के परिणाम के भोक्ता तथा अन्तिम १० पात्र सुख के परिणाम के भोक्ता हुए हैं। अभयदेव सूरि (विक्रम की १२वीं शती) विरचित टीकायुक्त जो संस्करण इसका हमारे पास है वह गुजरात ग्रन्थरत्न कार्यालय अहमदाबाद से प्रकाशित है। इसकी टीका का उपयोग उपप्रदान व कनङ्कर आदि शब्दों में हुआ है।

३३. औपपातिक सूत्र—यह १२ उपांगों में प्रथम उपांग माना जाता है। इसके ऊपर अभय-देव सूरि विरचित विवरण है। इसके आरम्भ में उन्होंने उपपात का अर्थ देव-नारकजन्म व सिद्धिगमन करते हुए उसके आश्रय से औपपातिक अध्ययन बतलाया है। साथ ही उन्होंने यह भी निर्देश किया है कि आचारांग के प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा के अन्तर्गत प्रथम उद्देशक में जो 'एवमेगेसिं' आदि प्रथम सूत्र है उसमें आत्मा को औपपातिकत्व निर्दिष्ट किया गया है। उसका चूंकि इसमें विस्तार है, अतः इसे आचारांग का उपांग समझना चाहिए।

इसमें चम्पा नगरी, पूर्णभद्र चैत्य, वनखण्ड, अशोक वृक्ष और पृथिवीकायिक का उल्लेख करते हुए वहाँ (चम्पानगरी में) कूणिक राजा का निवास बतलाया है और उसका एवं धारिणी रानी का वर्णन किया गया है। यह कूणिक भंभसार (बिम्बसार) का पुत्र था। आगे महावीर भगवान् का गुणानुवाद करते हुए उक्त पूर्णभद्र चैत्यगृह में उनके आगमन का निर्देश किया गया है। तत्पश्चात् अनगार व बाह्य एवं अभ्यन्तर तप आदि अनेक प्रासंगिक विषयों की चर्चा की गई है। भगवान् महावीर के आने का समाचार

१. समवायांग सूत्र १४५, पृ० ११४. २. नंदीसुत्त ९४, पृ. ६९.

३. देखिये जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा. १, पृ. २४८.

ज्ञात कर रानियों के साथ राजा कूणिक ने जाकर यथाविधि उनकी वन्दना आदि की और तत्पश्चात् धर्मश्रवण किया। इस धर्मदेशना में भगवान् महावीर के द्वारा लोक-अलोक, जीव-अजीव, बन्ध-मोक्ष, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, वेदना-निर्जरा, अरिहंत, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, नरक, नारक, तिर्यंच, तिर्यंचनी, माता-पिता एवं ऋषि आदि कितने ही विषयों के अस्तित्व का निरूपण किया गया था। यह धर्मदेशना आर्य-अनार्यों की अपनी-अपनी भाषा में परिणत होने वाली अर्धमागधी भाषा में की गई थी। यह क्रम ३७वें सूत्र तक चलता रहा है।

तत्पश्चात् श्रद्धालु गौतम को कुछ विषयों में सन्देह उत्पन्न हुए। तब उन्होंने वीर प्रभु से कर्मों के आस्रव व बन्धादि से सम्बन्धित कुछ प्रश्न किए, जिनका भगवान् ने समाधान किया। इसी प्रसंग में विविध प्रकार के जीव किस प्रकार से मरकर कहाँ उत्पन्न होते हैं, इत्यादि का विस्तार से विवेचन किया गया है। इसमें ४३ सूत्र हैं व अन्त में सिद्धों के प्रकरण से सम्बन्धित २२ गाथायें हैं। ग्रन्थप्रमाण १६०० है।

उक्त अभयदेव सूरि विरचित वृत्ति के साथ यह आगमोदय समिति द्वारा निर्णयसागर मुद्रणालय बम्बई से प्रकाशित कराया गया है। इसकी टीका उपयोग अर्हन् और आमरणान्त दोष आदि शब्दों में किया गया है।

३४. राजप्रश्नीय—यह बारह उपांगों में दूसरा है। इस पर आचार्य मलयगिरि (विक्रम की १२-१३वीं शताब्दी) विरचित टीका है। सुप्रसिद्ध टीकाकार आचार्य मलयगिरि आ. हेमचन्द्र के समकालीन रहे हैं[1]। उनके द्वारा राजप्रश्नीय, प्रज्ञापना, जीवाजीवाभिगम और आवश्यकसूत्र आदि अनेक आगम ग्रन्थों पर जो टीकायें रची गई हैं वे अतिशय महत्त्वपूर्ण हैं। ये टीकायें ग्रन्थ के रहस्य को भली-भांति स्पष्ट करने वाली हैं। कहा जाता है कि आ. मलयगिरि को उनकी इच्छानुसार विमलेश्वर देव से इस प्रकार की उत्तम टीकाओं के लिखने का वर प्राप्त हुआ था।

प्रस्तुत टीका के प्रारम्भ में ग्रन्थ के नाम आदि के विषय में स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि प्रदेशी नामक राजा ने केशिकुमार श्रमण—भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य—से जीवविषयक जिन प्रश्नों को किया था और केशिकुमार श्रमण ने उनका जो समाधान किया था, उससे समाहितचित्त होकर वह बोधि को प्राप्त हुआ। पश्चात् वह शुभ परिणामों के साथ मर कर सौधर्म स्वर्ग में विमान का अधिपति हुआ। वहाँ वह अवधिज्ञान के बल से भगवान् वर्धमान स्वामी को देखकर भक्ति से नम्र होता हुआ उनके समीप आया। उसने वहाँ बत्तीस प्रकार का अभिनय किया। नृत्य के पश्चात् आयु के समाप्त होने पर वहां से च्युत होकर वह मुक्ति को प्राप्त करेगा। यह सब चर्चा प्रस्तुत उपांग में है। इस सबका मूल कारण चूंकि प्रदेशी राजा के उक्त प्रश्न रहे हैं, अतएव इसका नाम 'राजप्रश्नीय' प्रसिद्ध हुआ है।

इसमें सब सूत्र ४५ हैं। जिस प्रकार औपपातिक सूत्र में क्रम से चम्पा नगरी आदि का वर्णन किया गया है उसी क्रम से यहां प्रारम्भ में आमलकल्पा नगरी आदि का वर्णन किया गया है[2]। चम्पा नगरी का राजा जहाँ कूणिक था वहाँ इस नगरी का राजा सेअ (श्वेत) नाम का था। कूणिक की रानी का नाम जैसे धारिणी था, इस राजा की रानी का नाम भी धारिणी था। उक्त क्रम से वर्णन करते हुए आगे पूर्वनिर्दिष्ट सौधर्म कल्पवासी सूर्याभ देव की विभूति—विशेषतः विमान-रचना—का वर्णन किया गया है। आगे यथावसर ३२ प्रकार की नाट्यविधि का उल्लेख किया गया है (सू. २४, पृ. १११-१३)। यह वर्णन २५वें सूत्र में समाप्त हुआ है। तत्पश्चात् सूर्याभ देव के पूर्वभव

---

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ३, पृ. ४१५-१६.

२. आ. मलयगिरि ने टीका में इसकी सूचना भी इस प्रकार की है—'जाव समोसरणं समत्तं' इति यावच्छन्दकरणात् राजवर्णको देवीवर्णकः समवसरणं चौपपातिकानुसारेण तावद् वक्तव्यं यावत् समवसरणं समाप्तम्। सू. ४, पृ. २०. अशोक पादप और शिलापट्ट के वर्णन की सूचना ग्रन्थकार के द्वारा स्वयं इस प्रकार की गई है — असोयवरपायवपुढविसिलावट्टयवत्तव्वया ओववाइयगमेणं नेया। सूत्र ३, पृ. ७.

—राजा प्रदेशी—का वर्णन करते हुए जीव व शरीर को एक मानने वाले राजा के पूर्वोक्त प्रश्नों और उनके समाधान आदि को प्रगट किया गया है। प्रश्न करते हुए गौतम गणधर के वर्णन प्रसंग में आ. मलयगिरि ने पाठान्तर की सूचना भी की है। यथा—पुस्तकान्तरे त्विदं वाचनान्तरं दृश्यते—तेण कालेणं तेण समएणं........" सू. २६, पृ. ११८. इसका एक संस्करण, जो हमारे पास है, खडयाता (Khadayata) बुकडिपो अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ है। इसकी टीका का उपयोग अतिस्निग्धमधुरत्व, अनुनादित्व अपरमर्मवेधित्व, अभिजातत्व, असंदिग्धत्व और उपनीतरागत्व आदि शब्दों में हुआ है।

३५. जीवाजीवाभिगम—यह तीसरा उपांग है। इसके ऊपर भी आ. मलयगिरि विरचित विस्तृत टीका है। टीकाकार ने प्रस्तुत उपांग का सम्बन्ध तीसरे स्थानांग से बतलाया है। इसमें नौ प्रतिपत्ति या प्रकरण हैं। सूत्रसंख्या २७२ है। मूल ग्रन्थ का प्रमाण ४७५० और टीका का प्रमाण १४००० है। जैसा कि ग्रन्थ के नाम से प्रकट है, इसमें गौतम गणधर के प्रश्न और भगवान् महावीर के उत्तररूप में जीव व अजीव के भेद-प्रभेदों की विस्तार से चर्चा की गई है। साथ ही यथाप्रसंग अन्य भी अनेक विषय उसमें समाविष्ट हैं। जैसे—रत्न-शर्कराप्रभादि पृथिवियां, द्वीप-समुद्र, विजयद्वार, रत्नभेद, शस्त्रभेद, धातुभेद, मद्यभेद, पात्रभेद एवं आभूषणभेद आदि। उक्त ९ प्रतिपत्तियों में तीसरी प्रतिपत्ति अत्यधिक विस्तृत है (सूत्र ६५-२२३, पृ. ८८-४०७)। विवक्षित प्रतिपत्ति के आद्य सूत्र में जितने जीवभेदों का निर्देश किया गया है तदनुसार प्रतिपत्ति की संज्ञा की गई प्रतीत होती है। जैसे त्रिविधा नाम की द्वितीय पतिपत्ति में जीव के स्त्री, पुरुष और नपुंसक इन तीन प्रकारों की प्ररूपणा की गई है। चतुर्विधा नाम की तृतीय प्रतिपत्ति में जीव के नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव इन चार भेदों की, पंचविधा नाम की चतुर्थ प्रतिपत्ति में जीव के एकेन्द्रिय-द्वीन्द्रिय आदि पांच भेदों की; इस क्रम से अन्तिम दशविधा नाम की नौवीं प्रतिपत्ति में जीव के इन दस प्रकारों की प्ररूपणा की गई है—प्रथम-समय-एकेन्द्रिय, अप्रथम-समय-एकेन्द्रिय, प्रथम-समय-द्वीन्द्रिय, अप्रथम-समय-द्वीन्द्रिय आदि।

इसका एक संस्करण मलयगिरि विरचित वृत्ति के साथ सेठ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसकी टीका का उपयोग अग्निकुमार, अद्धासमय, अधर्मद्रव्य, अनाहारक, उच्छ्वास और उच्छ्वासपर्याप्ति आदि शब्दों में हुआ है।

३६. प्रज्ञापनासूत्र—यह श्यामार्य वाचक विरचित चौथा उपांग है। श्यामार्य का अस्तित्व महावीर निर्वाण के ३७६ वर्ष पश्चात् बतलाया जाता है[1]। इसके ऊपर भी पूर्वोक्त आ. मलयगिरि के द्वारा टीका रची गई है। यहां मंगल के पश्चात् "वायगवरवंसाओ" आदि दो गाथायें प्राप्त होती हैं। उनकी व्याख्या करते हुए मलयगिरि ने उन्हें अन्यकर्तृक बतलाया है[2]। इन गाथाओं में श्रुत-सागर से चुनकर उत्तम श्रुत-रत्न के प्रदाता आर्य श्याम को नमस्कार करते हुए उन्हें वाचक वंश में तेईसवें निर्दिष्ट किया गया हैं[3]। साथ ही 'पूर्वश्रुतसमृद्धबुद्धि' इस विशेषण द्वारा उनके महत्त्व को प्रगट किया गया है। मलयगिरि ने प्रस्तुत ग्रन्थ को चौथे समवायांग में प्ररूपित विषय का प्रतिपादक होने से उसका उपांग सूचित किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में निम्न ३६ पद हैं, जिनकी वहां क्रम से प्रश्नोत्तर के रूप में प्ररूपणा की गई है—१ प्रज्ञापना, २ स्थान, ३ बहुवक्तव्य, ४ स्थिति, ५ विशेष, ६ व्युत्क्रान्ति, ७ उच्छ्वास, ८ संज्ञा, ९ योनि, १० चरम, ११ भाषा, १२ शरीर, १३ परिणाम, १४ कषाय, १५ इन्द्रिय, १६ प्रयोग, १७ लेश्या, १८ कायस्थिति, १९ सम्यक्त्व, २० अन्तक्रिया, २१ अवगाहनासंस्थान, २२ क्रिया, २३ कर्म, २४ कर्म-

१. 'जैन साहित्य का वृहद् इतिहास' भाग २, पृ. ८३.

२. येनेयं सत्त्वानुग्रहाय श्रुत-सागरादुद्धृता असावप्यासन्नतरोपकारित्वादस्मद्विधानां नमस्कारार्ह इति तन्नमस्कारविषयमिदमपान्तराल एवान्यकर्तृकं गाथाद्वयम्। पृ. ५११

३. नन्दीसूत्र में निर्दिष्ट स्थविरावली (२२-४२) में श्यामार्य का उल्लेख गा. २५ में उपलब्ध होता है।

वन्धक, २५ कर्मवेदक, २६ वेदवन्धक, २७ वेदवेदक २८ आहार, २९ उपयोग, ३० स्पर्शनता, ३१ संज्ञी, ३२ संयम, ३३ अवधि, ३४ प्रविचारणा, ३५ वेदना और ३६ समुद्घात। इसमें समस्त सूत्रों की संख्या ३४९ है। बीच में कहीं-कहीं कुछ गाथा सूत्र भी उपलब्ध होते हैं। मूल ग्रन्थ का प्रमाण ७७८७ है। टीका के अन्त में आ. मलयगिरि ने अपना यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि टीकाकार वे हरिभद्र सूरि जयवन्त रहें, जिन्होंने इस ग्रन्थ के विषम पदों के भाव को स्पष्ट किया है तथा जिनके वचन के प्रभाव से मैंने लेशरूप में इस विवृति को रचा है। यह मलयगिरि विरचित उस टीका के साथ आगमोदय समिति मेहसाना से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अणुतटिकाभेद और अपरीतसंसार आदि।

टीका—अद्धाद्धामिश्रिता, अनन्तानुवन्धी, अनादेयनाम, अनानुगामिक अवधि और आवर्जितकरण आदि।

३७. सूर्यप्रज्ञप्ति—यह ग्रन्थ हमें उपलब्ध नहीं हो सका। इसका कुछ परिचय यहां 'जैन साहित्य का वृहद् इतिहास (भा० २, पृ० १०५)' के अनुसार दिया जा रहा है। यह पांचवां उपांग है। इसके ऊपर भी आ. मलयगिरि की टीका है। इसमें २० प्राभृत और १०८ सूत्र हैं, जिनके आश्रय से सूर्य, चन्द्र एवं नक्षत्रों आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अभिवर्द्धित संवत्सर आदि।

टीका—अनगार, अभिवर्द्धित संवत्सर और आदित्य आदि।

३८. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति—यह छठा उपांग है। इसके ऊपर शान्तिचन्द्र वाचकेन्द्र (विक्रम की १६-१७वीं शती) विरचित प्रमेयरत्नमञ्जूषा नाम की एक टीका है। टीकाकार ने १२ अंगों के साथ १२ उपांगों का सम्वन्ध जोड़ते हुए प्रस्तुत छठे उपांग का सम्वन्ध ज्ञाताधर्मकथांग से वतलाया है (पृ. १-२)। मंगलाचरण के वाद तीसरे श्लोक में उन्होंने इसके ऊपर आचार्य मलयगिरि द्वारा रची गई टीका की सूचना करते हुए उसे संशय-ताप का नाशक कहा है। आगे चलकर उन्होंने सभी अंगों और उपांगों के टीकाकारों का नामोल्लेख करते हुए यह कहा है कि प्रस्तुत उपांग की वृत्ति श्री मलयगिरि के द्वारा की जाने पर भी वह इस समय कालदोष से व्यवछिन्न हो गई है[1]। इसी प्रकरण में उन्होंने यह भी निर्देश किया है कि वीरनिर्वाण के पश्चात् एक हजार (१०००) वर्ष में दृष्टिवाद व्यवच्छिन्न हो गया, इस कारण उसके विवरण का प्रयोजन नहीं रहा।

प्रस्तुत ग्रन्थ में ७ वक्षस्कार (अधिकार) हैं। प्रत्येक वक्षस्कार की अन्तिम पुष्पिका में टीकाकार ने अपने को अकवर के शासनकाल में उसे धर्मोपदेश से विस्मित करने वाले श्रीमत्तपागच्छाधिराज श्री हीरविजयसूरीश्वर के पाद-पद्मों की उपासना में प्रवण महोपाध्याय श्री सकलचन्द्र गणी का शिष्य उपाध्याय श्री शान्तिचन्द्र गणी वतलाया है।

इसमें जम्बूद्वीपगत भरतादि सात क्षेत्र, कुलाचल, सुदर्शनमेरु, जम्बूद्वीप की जगती, विजयद्वार, संख्यामान, सुषमसुषमादिकाल, दुःषमसुषम काल में होने वाले तीर्थंकर व चक्रवर्ती आदि, चक्रवर्ती के दिग्विजय और सूर्यचन्द्रादि ज्योतिषियों की प्ररूपणा की गई है। समस्त सूत्रसंख्या १७८ और मूलग्रन्थ का प्रमाण ४१४६ अन्त में ५१ श्लोकों द्वारा टीकाकार ने अपनी प्रशस्ति दी है। इसका उपयोग टीका के आश्रय से अनगार, अनुगम और अनुयोग आदि शब्दों में किया गया है।

३९. उत्तराध्ययन सूत्र—यह मूल सूत्रों में प्रथम माना जाता है। इसका रचनाकाल महावीर निर्वाण से लेकर लगभग १००० वर्षों में माना जाता है। कारण इसका यह है कि छत्तीस अध्ययनस्वरूप यह एक संकलन ग्रन्थ है, जिसका रचयिता कोई एक नहीं है—महावीर निर्वाण से लेकर उक्त हजार वर्षों के भीतर विभिन्न स्थविरों के द्वारा इसके विभिन्न अध्ययनों का संकलन किया गया प्रतीत होता है[2]।

१. तत्र प्रस्तुतोपाङ्गस्य वृत्तिः श्रीमलयगिरिकृतापि संप्रति कालदोषेण व्यवच्छिन्ना। पृ. २।१.

२. 'उत्तराध्ययन-सूत्र : एक परिशीलन' पृ. २६-३७.

उत्तराध्ययन में 'उत्तर' शब्द के अर्थ निर्युक्तिकार ने नाम-स्थापना आदि के भेद से अनेक प्रकार बतलाये हैं। उनमें यहाँ क्रमोत्तर की विवक्षा की गई है, जिसका अभिप्राय यह है कि ये अध्ययन चूंकि आचारांग के उत्तर (आगे) पढ़े गये हैं, अतएव इन्हें उत्तर-अध्ययन जानना चाहिए[1]। वृत्तिकार शान्त्याचार्य ने यहां कुछ विशेषता प्रगट करते हुए यह निर्देश किया है कि यह उत्तर का क्रम शय्यम्भव—दशवैकालिक के कर्ता—तक ही समझना चाहिये। इसके पश्चात् वे—उक्त अध्ययनों में से कुछ—दशवैकालिक के बाद पढ़े जाते हैं[2]। आगे चलकर निर्युक्तिकार ने उक्त अध्ययनों को अंगप्रभव—दृष्टिवाद अंग से उत्पन्न (जैसे द्वितीय परीषहाध्ययन), जिनभाषित—महावीर प्रणीत (जैसे द्रुमपुष्पिका नाम का दसवां अध्ययन), प्रत्येकबुद्धों—कपिलादिकों—से उत्पन्न (जैसे कापिलीय नाम का आठवां अध्ययन), तथा संवाद से—केशिकुमार और गौतम गणधर के प्रश्नोत्तर से—उत्पन्न (जैसे केशि-गौतमीय नाम का तेईसवां अध्ययन) बतलाया है[3]।

इसमें मुनि के आचार का विवेचन किया गया है। साथ ही अनेक उदाहरणों द्वारा उपदेशात्मक पद्धति से वस्तुस्वरूप का भी परिज्ञान कराया गया है। इसमें ये छत्तीस अध्ययन हैं—१ विनयाध्ययन, २ परीषहाध्ययन, ३ चतुरङ्गीय, ४ असंस्कृत, ५ अकाममरणीय, ६ क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय, ७ औरभ्रीय, ८ कापिलीय, ९ नमिप्रव्रज्या, १० द्रुमपत्रक, ११ वहुश्रुतपूजा, १२ हरिकेशीय, १३ चित्रसम्भूतीय, १४ इषुकारीय, १५ सभिक्षु, १६ ब्रह्मचर्यसमाधि, १७ पापश्रमणीय, १८ संयतीय (संजय), १९ मृगापुत्रीय, २० महानिर्ग्रन्थीय, २१ समुद्रपालीय, २२ रथनेमीय, २३ केशि-गौतमीय, २४ प्रवचनमातृ, २५ यज्ञीय, २६ सामाचारी, २७ खलुङ्कीय, २८ मोक्षमार्गीय, २९ सम्यक्त्वपराक्रम, ३० तपोमार्गगति, ३१ चरणविधि, ३२ प्रमाद, ३३ कर्मप्रकृति, ३४ लेश्या, ३५ अनगारमार्गगति और ३६ जीवाजीवविभक्ति। इसके ऊपर वृहद्गच्छीय नेमिचन्द्राचार्य (वि. सं. ११२९) विरचित सुखवोधा नाम की टीका है। इस टीका के साथ वह पुष्पचन्द्र क्षेमचन्द्र वलाद (अहमदावाद) के द्वारा प्रकाशित कराया गया है। इसके अतिरिक्त आचार्य भद्रवाहु द्वितीय (वि. की छठी श.) विरचित निर्युक्ति तथा वादिवेताल शान्तिसूरि (वि. की ११वीं शती—मृत्यु सं. १०९६) विरचित शिष्यहिता नाम की टीका सहित प्रथम चार अध्ययन रूप एक संस्करण सेठ देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड वम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसकी जिनदास गणिमहत्तर (विक्रम की ७वीं शताब्दी) विरचित चूर्णि श्री ऋषभदेव केशरीमल जी श्वेताम्बर संस्था रतलाम से प्रकाशित हुई है। इसका उपयोग निम्न शब्दों में हुआ है—

मूल—अचेलपरीषहजय, अधर्मद्रव्य, अनास्रव, अनुभाव, आक्रोशपरीषहजय, आज्ञारुचि और उपदेशरुचि आदि।

नि.—अचित्तद्रव्योपक्रम, अनभिप्रेत, अनादिकरण, अनुलोम, आत्मसंयोग और आशंसा आदि।

चू.—अनुगम, अनुभाव, अवधिमरण और आत्यन्तिकमरण आदि।

टी.—अनादिकरण, आक्रोशपरीषहजय और आगमद्रव्योत्तर आदि।

४०. **आवश्यकसूत्र**—इसमें प्रतिदिन नियम से की जानेवाली दैनिक क्रियाओं का निरूपण किया गया है। ऐसी क्रियाएं छह हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। इनका प्ररूपक होने से वह इन्हीं नामों वाले छह अध्ययनों में विभक्त है।

इस पर आचार्य भद्रवाहु द्वितीय (विक्रम की छठी शताब्दी) द्वारा विरचित निर्युक्ति, आचार्य जिनभद्र गणी (विक्रम की ७वीं शताब्दी) द्वारा विरचित भाष्य, तथा एक टीका हरिभद्र सूरि (वि. की ८वीं शताब्दी) द्वारा विरचित और दूसरी आचार्य मलयगिरि (विक्रम की १२-१३वीं शताब्दी) द्वारा

---

१. कमउत्तरेण पगयं आयारस्सेव उवरिमाइं तु। तम्हा उ उत्तरा खलु अज्झयणा हुंति णायव्वा.॥ उत्तरा. नि. ३.

२. विशेषश्चायम्। यथा—शय्यम्भवं यावदेष क्रमः, तदाऽऽरतस्तु दशवैकालिकोत्तरकालं पठ्यन्ते इति। पृ. ५.

३. उत्तरा. नि. ४.

विरचित ये दो टीकायें भी हैं। इनके अतिरिक्त हरिभद्र सूरि विरचित टीका पर मलधारगच्छीय आ. हेमचन्द्र (विक्रम की १२ वीं श.) विरचित एक टिप्पण भी है। जिस भाष्य का ऊपर उल्लेख किया गया है वह संक्षिप्त है, उसकी सब गाथायें विशेषावश्यक भाष्य में सम्मिलित हैं। निर्युक्तियों की गाथा संख्या १४१७ (प्रतिक्रमणान्त) और भाष्यगाथासंख्या २२७ है। उक्त आवश्यकसूत्र निर्युक्ति और हरिभद्र विरचित वृत्ति के साथ प्रथम सामायिक अध्ययन तक पूर्व भाग के रूप में तथा २ से ४ अध्ययन तक दूसरे भाग के रूप में आगमोदय समिति बम्बई द्वारा प्रकाशित हुआ है। वही निर्युक्ति और मलयगिरि विरचित टीका के साथ नि. गा. ५४२ तक पूर्व भाग के रूप में तथा नि. गा. ५४३ से ८२९ तक द्वि. भाग के रूप में आगमोदय समिति बम्बई द्वारा प्रकाशित किया गया है। नि. गा. ८३०-१०९९ तक तृतीय भाग के रूप में देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड सूरत द्वारा प्रकाशित किया गया है। इन तीन भागों में सामायिक और चतुर्विंशतिस्तव ये दो ही अध्ययन आ सके हैं। आगे के भाग हमें उपलब्ध नहीं हो सके। म. ग. हेमचन्द्र विरचित टिप्पणक सेठ देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड बम्बई द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग निम्न शब्दों में हुआ है—

मूल—अङ्गारकर्म आदि।

नि.—अनुयोग, अनुसन्धना, अर्थसिद्ध, आगमसिद्ध, आप्रच्छना और आवश्यकनिर्युक्ति आदि।

भा.—उत्तरप्रयोगकरण आदि।

चूर्णि—अक्षीणमहानसिक और अनुमान आदि।

ह. वृत्ति—अङ्गारकर्म, अनुमान, अनुयोग, अपददोष, अपरिगृहीतागमन और अप्रत्याख्यान-क्रोध आदि।

म. वृत्ति—अक्षीणमहानस और इत्वरपरिहारविशुद्धिक आदि।

हे. टिप्पण—अधोलोक आदि।

४१. **दशवैकालिक**—इसके रचयिता आचार्य शय्यम्भव हैं। इसके ऊपर आचार्य भद्रबाहु द्वितीय विरचित निर्युक्ति और आचार्य हरिभद्र विरचित टीका है। कालविषयक निक्षेप के प्रसंग में निर्युक्तिकार के द्वारा कहा गया है कि सामायिक (आवश्यकसूत्र का प्रथम अध्ययन) के अनुक्रम से वर्णन के लिए चूंकि यह विगत पौरुषी में शय्यसम्भव के द्वारा रचा गया है—पूर्वगत से उद्धृत किया गया है, अतएव इसे दशकालिक कहा जाता है[1]। आगे उपर्युक्त शय्यसम्भव की वन्दना करते हुए यह निर्देश किया गया है कि मैं (निर्युक्तिकार) मनक नामक पुत्र के जनक उन शय्यम्भव गणधर—ज्ञान-दर्शनादिरूप धर्म-गण के धारक—की वन्दना करता हूँ जिन्होंने जिनप्रतिमा के दर्शन से प्रतिबोध को प्राप्त होकर दशकालिक का उद्धार किया है[2]। इसके टीकाकार हरिभद्र सूरि ने इस सम्बन्ध में निम्न कथानक प्रस्तुत किया है—

अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्धमान स्वामी के शिष्य गणधर सुधर्म उनके तीर्थ के स्वामी हुए। तत्पश्चात् उनके भी शिष्य जम्बूस्वामी और उनके शिष्य प्रभव हुए। प्रभव को एक समय यह चिन्ता हुई कि भविष्य में मेरा गणधर कौन होगा। इसके लिए उन्होंने अपने गण और संघ में सब ओर दृष्टि डाली, पर उन्हें वहां कोई इस परम्परा का चलाने वाला नहीं दिखा। तब उन्होंने गृहस्थों में देखा। वहां उन्हें राजगृह में यज्ञ कराने वाला शय्यम्भव ब्राह्मण दिखा। यह देखकर उन्होंने राजगृह नगर में आकर दो साधुओं को भिक्षार्थ यज्ञस्थल में जाने को कहा। साथ ही उन्होंने यह भी सूचना की कि यदि कोई तुम्हें रोके तो तुम कहना "खेद है कि तत्त्व को नहीं जानते"। वहां उनके पहुँचने पर वही हुआ और उन्होंने भी वैसा ही कहा। उसे द्वार पर स्थित शय्यम्भव ने सुना। वह सोचने लगा कि शान्त तपस्वी असत्य

१. सामाइयअणुकमओ वण्णेउं विगयपोरिसीए ऊ।
णिज्जूढं किर सेज्जंभवेण दसकालियं तेण॥ नि. १२.

२. सेज्जंभवं गणवरं जिणपडिमादंसणेण पडिबुद्धं।
मणगपिअरं दसकालियस्स णिज्जूहगं वंदे॥ नि. १४.

नहीं बोल सकते । यही सोचकर वह अध्यापक के पास गया और बोला—"तत्त्व क्या है ?" उत्तर में अध्यापक ने कहा—"तत्त्व वेद है" । तब उसने तलवार को खेंचते हुए कहा कि यदि तुम तत्त्व को नहीं कहोगे तो शिर काट दूँगा । इसपर अध्यापक बोला कि मेरा समय पूर्ण हो गया, वेदार्थ में यह कहा गया है । फिर भी शिरच्छेद के भय से कहना ही चाहिए, सो जो यहाँ तत्त्व है उसे कहता हूँ । इस यूप (यज्ञ-काष्ठ) के नीचे सर्वरत्नमयी अरिहंत की प्रतिमा है, वह शाश्वतिक है । इस प्रकार अरिहंत का धर्म तत्त्व है । तब वह उसके पैरों में पड़ गया । अन्त में उसने यज्ञस्थल की सामग्री को उसे संभला दिया और वह उन साधुओं को खोजता हुआ आचार्य (प्रभव) के पास पहुँचा । वहाँ पहुँच कर उसने आचार्य और उन दोनों साधुओं की वन्दना की । फिर उसने धर्म के कहने के लिए प्रार्थना की । तब आचार्य ने उपयोग लगा कर जाना कि यह वही (शय्यम्भव) है । यह जानकर आचार्य ने साधु के धर्म का उपदेश दिया । उसे सुनकर प्रबोध को प्राप्त होते हुए उसने दीक्षा ग्रहण कर ली । वह चौदह पूर्वों का ज्ञाता हो गया ।

जब उसने दीक्षा ग्रहण की थी तब उसकी पत्नी गर्भवती थी । लोगों ने उससे पूछा कि तेरे पेट में कुछ है क्या ? उसने उत्तर में 'मनाक्—कुछ है तो' कहा । अन्त में यथासमय पुत्र के उत्पन्न होने पर उसके पूर्वोक्त उत्तर को लक्ष्य में रखकर उसका नाम 'मनक्' प्रसिद्ध हुआ । आठ वर्ष का हो जाने पर उसने माँ से पिता के विषय में पूछा । उसके उत्तर से पिता को दीक्षित हुआ जानकर वह उनके पास चम्पा नगरी में जा पहुँचा और पारस्परिक वार्तालाप के पश्चात् वह भी दीक्षित हो गया । आचार्य ने विशिष्ट ज्ञान से यह जानकर कि इसकी आयु छह मास की शेष रही है, उन्होंने उसके निमित्त प्रकृत ग्रन्थ की १० अध्ययनों में रचना की । साधारणतः स्वाध्याय व ग्रन्थरचना दिन व रात्रि के प्रथम और अन्तिम इन चार पहरों में ही की जाती है[1], पर शीघ्रता के कारण इसकी रचना काल की अपेक्षा रखकर नहीं की जा सकी । अतः विकाल में रचे और पढ़े जाने के कारण उसे दशवैकालिक कहा गया है । अथवा इसका दसवां अध्ययन चूंकि वेताल छन्द में रचा गया है, इसलिए भी इसका नाम दशवैकालिक सम्भव है ।

जैसा कि कथानक में निर्देश किया गया है, इसमें वे दस अध्ययन ये हैं—१ द्रुमपुष्पिका, २ श्रामण्य-पूर्विका, ३ क्षुल्लिकाचारकथा, ४ षड्जीवनिकाय, ५ पिण्डैषणा, ६ महाचारकथा, ७ वाक्यशुद्धि, ८ आचार-प्रणिधि, ९ विनयसमाधि और १० सभिक्षु । अन्त में रतिवाक्यचूलिका और विविक्तचर्याचूलिका ये दो चूलिकायें हैं ।

निर्युक्तिकार के अनुसार इनमें धर्मप्रज्ञप्ति—षड्जीवनिकाय नामक चौथा अध्ययन—आत्म-प्रवाद पूर्व से, पांचवां (पिण्डैषणा) कर्मप्रवाद पूर्व से, वाक्यशुद्धि नामक सातवां अध्ययन सत्यप्रवाद पूर्व से और शेष अध्ययन नौवें (प्रत्याख्यान) पूर्व के अन्तर्गत तृतीय वस्तु (अधिकार) से रचे गए हैं[2] । अन्तिम दो चूलिकायें शय्यम्भव द्वारा रची गई नहीं मानी जातीं । इसका एक संस्करण निर्युक्ति और हरिभद्र विरचित टीका के साथ देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड बम्बई से प्रकाशित हुआ है । चूर्णि श्री ऋषभदेव जी केशरीमल जी श्वे. संस्था रतलाम द्वारा प्रकाशित की गई है । इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अत्यागी आदि ।

निर्युक्ति—अकथा, अर्थकथा, आराधनी भाषा और ओघ ।

चूर्णि—अकिंचनता, अमनोज्ञ-सम्प्रयोग-सम्प्रयुक्त-आर्तध्यान, अर्थकथा, आज्ञापनी और आज्ञा-विचय आदि ।

ह. वृ—अध्यवपूरक, अनुलोम, अभ्याहृत, अर्थकथा, आराधनी भाषा, उपबृंहण, ओघ और औपदेशिक आदि ।

---

१. तत्थ कालियं जं दिण-राईणं पढमे (चरिमे) पोरिसीसु पढिज्जइ । नन्दी चू. पृ. ४७.

२. नि. गा. १६-१७.

४२ पिण्डनिर्युक्ति—यह मूल सूत्रों में चौथा माना जाता है। दशवैकालिक का पांचवां अध्ययन पिण्डैषणा है। उसके ऊपर आचार्य भद्रबाहु के द्वारा जो निर्युक्ति रची गई वह विस्तृत होने के कारण एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में मान ली गई। साधु का आहार किस प्रकार से शुद्ध होना चाहिए, इसका विचार करते हुए यहां आहारविषयक १६ उद्गम १६ उत्पादन, १० ग्रहणैषणा, १ संयोजन, १ प्रमाण, १ धूम और १ अंगार; इन ४६ दोषोंकी यहां चर्चा की गई है। इसके अतिरिक्त जिन छह कारणों से भोजन को ग्रहण करना चाहिए तथा जिन छह कारणों से उसका परित्याग करना चाहिए, उनका भी निर्देश किया गया है[1]। इन दोषों में उद्गम दोषों का सम्बन्ध गृहस्थ से, उत्पादन दोषों का सम्बन्ध साधु से, तथा ग्रासैषणा दोषों में से शंकित और अपरिणत इन दो का सम्बन्ध साधु से और शेष आठ का सम्बन्ध गृहस्थ से है[2]। प्रारम्भके निक्षेप प्रकरण में द्रव्यपिण्ड की भी कुछ विस्तृत प्ररूपणा की गई हैं। निर्युक्ति गाथासंख्या ६७१ है। इसके ऊपर आचार्य मलयगिरि द्वारा टीका भी रची गई है। इस टीका के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ सेठ देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड वम्बई द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अङ्गारदोष, अधःकर्म, अनुमोदना, आधाकर्म और आजीव आदि।

टीका—अङ्गारदोष, अधःकर्म और आधाकर्म आदि।

४३ ओघनिर्युक्ति—यह आवश्यक निर्युक्ति के अंगभूत है। इसके रचयिता आचार्य भद्रबाहु द्वितीय हैं। इसमें साधु के आचार का विवेचन करते हुए उसके आहार, विहार, आसन, वसति और पात्र आदि की विधि का निरूपण किया गया है। इसमें निर्युक्ति गाथायें ८१२ और भाष्यगाथायें ३२२ हैं। अन्तिम नि. गा. प्रक्षिप्त और अस्पष्ट सी प्रतीत होती है। इस पर द्रोणाचार्य (विक्रम की ११-१२वीं शताब्दी) द्वारा विरचित टीका भी है। इस टीका के साथ उसका एक संस्करण विजयदान सूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला सूरत से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग आराधक और आभोग आदि शब्दों में हुआ है।

४४ कल्पसूत्र—छह छेदसूत्रों में प्रथम छेदसूत्र दशाश्रुतस्कन्ध माना जाता है। इसका दूसरा नाम आचारदशा भी है। इसमें ये १० अध्ययन हैं—असमाधिस्थान, शवल, आसादनायें, आठ प्रकार की गणिसम्पदा, दस चित्तसमाधिस्थान, ग्यारह उपासकप्रतिमायें बारह भिक्षुप्रतिमाएँ, पर्युषणकल्प, तीस मोहनीयस्थान और आयतिस्थान। इनमें आठवां जो पर्युषणकल्प है वही कल्पसूत्र के रूप में एक पृथक् ग्रन्थ प्रसिद्ध हुआ है।

ग्रन्थ की भूमिका के रूप में यहाँ प्रथमतः टीकाकार ने यह निर्देश किया है कि भगवान् महावीर चूंकि वर्तमान तीर्थ के स्वामी व निकटवर्ती उपकारी हैं, इसीलिए भद्रबाहु स्वामी पहिले महावीर के चरित का वर्णन करते हैं, इसमें भी प्रथमतः साधुओं का दस प्रकार का कल्प कहा जाता है। इस दस प्रकार के कल्प की सूचक जो गाथा यहां दी गई है वह भगवती आराधना[3], पंचवस्तुक ग्रन्थ (१५००) और पंचाशक (८००) में उपलब्ध होती है।

यहाँ सर्वप्रथम 'णमो अरिहंताणं' आदि पंचनमस्कार मंत्र के द्वारा पांच परमेष्ठियों को नमस्कार

---

१. ये दोष प्रायः इन्हीं नामों और स्वरूप के साथ यहां और मूलाचार के पिण्डशुद्धि नामक छठे अधिकार में समान रूप से उपलब्ध होते हैं। कुछ गाथायें भी समान रूप से दोनों में पायी जाती हैं। (देखिये अनेकान्त वर्ष २१, किरण ४ में 'पिण्डशुद्धि के अन्तर्गत उद्दिष्ट आहार पर विचार' शीर्षक लेख)

२. नि. गा. ४०३ और ५१४-१५.

३. आचेल्लुक्कुद्देसियसेज्जाहररायपिंडकिरियम्मे।
जेट्ठपडिक्कमणे वि य मासं पज्जोसवणकप्पो॥ भ. आ. ४२१.
(पंचवस्तुक व पंचाशक में 'जेट्ठपडिकमणे विय' के स्थान में 'वयजिट्ठपडिक्कमणे' पाठ है।)

करते हुए इस पंच नमस्कार मंत्र को सब पापों का नाशक और सब मंगलों में प्रथम मंगल कहा गया है[1]। तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर के जीवनवृत्त का वर्णन करते हुए उनके विषय में इन पांच हस्तोत्तराओं—उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रों—का निर्देश किया गया है—१ भगवान् महावीर प्रथम हस्तोत्तरा—हस्त नक्षत्र के पूर्ववर्ती उत्तराफाल्गुनी—नक्षत्र में पुष्पोत्तर विमान से च्युत होकर अवतीर्ण हुए—ब्राह्मण कुण्डग्राम नगरवासी कोडालसगोत्री ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा की कुक्षि में प्रविष्ट हुए। २ इसी उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में इन्द्र की आज्ञा से हरिणेगमेसि देव के द्वारा देवानन्दा के गर्भ से निकाल कर भगवान् को क्षत्रिय कुण्डग्राम नगरवासी सिद्धार्थ क्षत्रिय की पत्नी क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ में परिवर्तित किया गया। ३ इसी उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में भगवान् का जन्म हुआ। ४ उसी उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में भगवान् ने गृहवास से निकलकर मुण्डित होते हुए—केशलोचपूर्वक—मुनिधर्म की दीक्षा ग्रहण की। ५ उक्त उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में भगवान् ने परिपूर्ण केवलज्ञान व केवलदर्शन को प्राप्त किया। इस प्रकार उक्त पांच हस्तोत्तरा भगवान् के इन पांच कल्याणकों से सम्बद्ध हैं। मुक्ति की प्राप्ति भगवान् को स्वाति नक्षत्र में हुई।

उक्त गर्भादि कल्याणकों के साथ यहां आगे भगवान् महावीर के जीवनवृत्त का विस्तार से वर्णन किया गया है। गर्भपरिवर्तन के कारण का निर्देश करते हुए यहां यह कहा गया है कि इन्द्र को जब यह ज्ञात हुआ कि श्रमण महावीर देवानन्दा के गर्भ में अवतीर्ण हुए हैं तब उसे यह विचार हुआ कि अरिहंत, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव ये शूद्रकुल में, नीचकुल में, तुच्छकुल में, दरिद्रकुल में, कृपणकुल में, भिक्षुकुल में और ब्राह्मणकुल में; इन सात कुलों में से किसी कुल में न कभी आए हैं, न आते हैं और न कभी आवेंगे। वे तो उग्रकुल, भोगकुल, राजन्यकुल, इक्ष्वाकुकुल, क्षत्रियकुल और हरिवंशकुल; इनमें तथा इसी प्रकार के अन्य भी विशुद्ध जाति, कुल व वंशों में आए हैं, आते हैं और आवेंगे। यह एक आश्चर्यभूत भाव (भवितव्य) है[2] जो अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणियों के बीतने पर उक्त अरिहंतादि अक्षीण, अवेदित और अनिर्जीर्ण नाम-गोत्रकर्म के उदय से पूर्वोक्त सात कुलों में गर्भरूप में आए हैं, आते हैं और आवेंगे, परन्तु वे योनिनिष्क्रमणरूप जन्म से उन कुलों से कभी न निकले हैं, न निकलते हैं, और न निकलेंगे। बस इसी विचार से इन्द्र ने उस हरिणेगमेसि देव के द्वारा उक्त गर्भ को परिवर्तित कराया[3]।

इस प्रकार प्रथम पांच वाचनाओं में श्रमण भगवान् महावीर के जीवनवृत्त की प्ररूपणा की गई है। इस प्रसंग में यहां भगवान् के मुक्त हो जाने पर कितने काल के पश्चात् वाचना हुई, इसका निर्देश करते हुए यह कहा गया है कि भगवान् के मुक्त हो जाने के पश्चात् नौ सौ अस्सीवें (९८०) वर्ष में वाचना हुई। आगे वाचनान्तर का उल्लेख करते हुए यह भी कहा गया है कि तदनुसार वह ९९३वें

---

१. एसो पंचणमोक्कारो सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं॥
(यह पद्य मूलाचार में उपलब्ध होता है—७,१३)

२. ऐसे आश्चर्य दस निर्दिष्ट किए गए हैं—
उवसग्ग गब्भहरणं इत्थीतित्थं अभाविया परिसा।
कण्हस्स अवरकंका अवयरणं चंद-सूराणं॥
हरिवंसकुलुप्पत्ती चमरुप्पाओ य अट्ठसयसिद्धा।
अस्संजयाण पूआ दसवि अणंतेण कालेण॥ टीका पृ. ३३.
(ये दोनों गाथायें पंचवस्तुक ९२६-२७ में उपलब्ध होती हैं।)

३. सूत्र १५-३०, पृ. २९-४८.

वर्ष में हुई'। (इससे ऐसा प्रतीत होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना वीर निर्वाण से ९९३ वर्ष के पश्चात् किसी समय हुई है)।

आगे छठी वाचना में भगवान् पार्श्वनाथ और नेमिनाथ के पांच कल्याणकों का निरूपण किया गया है।

सातवीं वाचना में प्रथमतः तीर्थकरों के मध्यगत अन्तरों को बतलाते हुए सिद्धान्त के पुस्तकारूढ़ होने के काल का भी दिर्देश किया गया है। तत्पश्चात् आदिनाथ जिनेन्द्र के पांच कल्याणकों की प्ररूपणा की गई है।

आठवीं वाचना में स्थविरावली और अन्तिम (नौवीं) वाचना में साधु-सामाचारी की प्ररूपणा की गई है। ग्रन्थप्रमाण इसका १२१५ है।

इसके ऊपर सकलचन्द्र गणि के शिष्य समयसुन्दर गणि के द्वारा कल्पलता नाम की टीका लिखी गई है। उसका रचनाकाल विक्रम सं. १६९९ के आस पास है। इस टीका के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ जिनदत्त सूरि ज्ञानभण्डार बम्बई से प्रकाशित हुआ है। दूसरी सुबोधिका नाम की टीका कीर्तिविजय गणि के शिष्य विनयविजय उपाध्याय के द्वारा वि. सं. १६९६ में लिखी गई है। इस टीका के साथ वह आत्मानन्द जैन सभा भावनगर से प्रकाशित हुआ है। इसकी टीका का उपयोग अकस्माद्भय, आकर, आचेलक्य, आदानभय, आनप्राण और इहलोकभय आदि शब्दों में हुआ है।

४५. **बृहत्कल्पसूत्र**—यह छेदसूत्रों में से एक है। इसमें साधु-साध्वियों को किस प्रकार की प्रवृत्ति करनी चाहिए और किस प्रकार की नहीं करनी चाहिए, इसका विवेचन किया गया है। इसके ऊपर आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) विरचित निर्युक्ति और आचार्य संघदास (विक्रम की ७वीं शती) गणि विरचित लघु भाष्य भी है। बृहद् भाष्य भी इसके ऊपर रचा गया है, पर उसका अधिकांश भाग अनुपलब्ध है। निर्युक्तिगाथायें भाष्यगाथाओं से मिश्रित हैं। यह पीठिका के अतिरिक्त छह उद्देशों में विभक्त है। समस्त गाथासंख्या ६४९० है। इस भाष्य में अनेक महत्त्वपूर्ण विषय चर्चित हैं। इसके ऊपर गा. ६०६ तक आ. मलयगिरि के द्वारा टीका रची जा सकी है, तत्पश्चात् शेष टीका की पूर्ति आचार्य क्षेमकीर्ति द्वारा की गई है। आचार्य क्षेमकीर्ति विजयचन्द्र सूरि के शिष्य थे। उनके द्वारा यह टीका ज्येष्ठ शुक्ला दशमी वि. सं. १३३२ को समाप्त की गई है। यह पूर्वोक्त निर्युक्ति और भाष्य के साथ आत्मानन्द सभा भावनगर द्वारा छह भागों में प्रकाशित की गई है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

नि. या भा.—अच्छिन्नकलिका, अतिपरिणामक, अनन्तजीव, अनुयोग, अभिवर्द्धित मास, अर्थ-कल्पिक, उत्क्षिप्तचरक, उन्मार्गदेशक, ओज आहार, औपम्योपलब्धि और औपशमिक सम्यक्त्व आदि।

टीका—अक्ष, अत्यन्तानुपलब्धि, अनूपक्षेत्र, अपचयभावमन्द, ओज आहार और औपम्योपलब्धि आदि।

४६ **व्यवहारसूत्र**—इसकी गणना भी छेदसूत्रों में की जाती है। बृहत्कल्पसूत्र के समान इसमें भी साधु-साध्वियों के आचार-विचार का विवेचन है। इसके ऊपर भी आचार्य भद्रबाहु विरचित निर्युक्ति है। भाष्य भी है, पर वह किसके द्वारा रचा गया है, यह निश्चित नहीं है। इतना निश्चित प्रतीत होता है कि इसके रचयिता विशेषणवती के कर्ता जिनभद्र गणि के पूर्ववर्ती हैं[2]। इसके ऊपर आ. मलयगिरि द्वारा विरचित भाष्यानुसारिणी टीका भी है। पूरा ग्रन्थ पीठिका के अतिरिक्त दस उद्देशों में विभक्त है। इसमें साधु के लिए क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, इसका उत्सर्ग और अपवाद के

---

१. समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव सव्वदुक्खपहीणस्स नववाससयाइं विइक्कंताइं दसमस्स य वास-सयस्स अयं असीइमे संवच्छरे काले गच्छइ, वायणंतरे पुण अयं तेणउए संवच्छरे काले गच्छइ इइ दिसइ। सूत्र १४८, पृ. १६०.

२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा. ३, पृ. १३७.

साथ विवेचन किया गया है । साथ ही विविध प्रकार के दोषों पर तदनुसार ही नाना प्रकार के प्रायश्चित्तों का भी विधान किया गया है । इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

भाष्य—अतिक्रम, अभ्यासवर्ती, आप्त और आरम्भ आदि ।

टीका—अकल्प्य, अकुशलमनोनिरोध, अकृतयोगी, अक्षताचार, अतिक्रम, अभ्यासवर्ती और आरम्भ आदि ।

४७ **नन्दीसूत्र**—यह चूलिका सूत्र माना जाता है । इसके रचयिता देववाचक गणि (विक्रम की छठी शताब्दी—५२३ से पूर्व[1]) हैं । इसके ऊपर आचार्य जिनदास गणि के द्वारा चूर्णि रची गई है । जिनदास गणि का समय डा. मोहनलाल जी मेहता द्वारा विक्रम की आठवीं शताब्दी का पूर्वार्ध (६५०-७५०) निश्चित किया गया है[2] । इसमें उन्होंने (चूर्णिकार ने) ग्रन्थकार देववाचक को दूष्यगणि का शिष्य बतलाया है[3] । प्रस्तुत ग्रन्थगत स्थविरावली[4] में दूष्यगणि का उल्लेख सबके अन्त में उपलब्ध होता है । चूर्णि के अतिरिक्त इसके ऊपर एक टीका हरिभद्र सूरि (विक्रम की की ८वीं शताब्दी) के द्वारा और दूसरी टीका आचार्य मलयगिरि के द्वारा रची गई है । प्रस्तुत ग्रन्थ में मंगल के प्रसंग में चौवीस तीर्थंकरों की वन्दना करते हुए अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी के ग्यारह गणधरों का उल्लेख किया गया है । तत्पश्चात् सुधर्मा स्वामी से लेकर दूष्यगणि तक स्थविरावली का शिष्यपरम्परा के रूप में निर्देश किया गया है । आगे चलकर आभिनिबोधिक आदि पाँच ज्ञानों का विस्तार से निरूपण करते हुए गमिक-अगमिक, अंगप्रविष्ट-अंगबाह्य, और कालिक-उत्कालिक आदि श्रुत के भेद-प्रभेदों की प्ररूपणा की गई है । इसका प्रकाशन मलयगिरि विरचित टीका के साथ आगमोदय समिति सूरत से तथा चूर्णि और हरिभद्र विरचित टीका का प्रकाशन ऋषभदेव जी केशरीमल जी श्वे. संस्था रतलाम से हुआ है । इसका उपयोग निम्न शब्दों में किया गया है—

सूल—अनुगामी अवधि, अनुत्तरौपपादिकदशा, आचार, ईहा और उपासकदशा आदि ।

चूर्णि—अभिनिबोध, अवग्रह, आभिनिबोधिक, आहारपर्याप्ति, उपासकदशा और ऋजुगति आदि ।

ह. टीका—अक्रियावादी, अधर्मद्रव्य, अनुत्तरौपपादिकदशा, अनुमान, अन्तकृद्दश, अन्तगत अवधि, अन्तर, ईहा, उपयोग और उपासकदशा आदि ।

मलय. टीका—अक्रियावादी, अभिनिबोध, अवाय, आचार और उपासकदशा आदि ।

४८ **अनुयोगद्वार**—यह भी चूलिका सूत्र माना जाता है । इसके प्रणेता सम्भवतः आर्यरक्षित स्थविर हैं । आर्यरक्षित आर्यवज्र के समकालीन थे । आर्यवज्र वी. नि. सं. ५८४ में स्वर्गस्थ हुए । तदनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना वी. नि. ५८४-९७ (विक्रम ११४-२७) के लगभग मानी जा सकती है[5] । आवश्यक निर्युक्ति में आर्यरक्षित का निर्देश करते हुए उनके लिए देवेन्द्रवन्दित और महानुभाव जैसे आदरसूचक विशेषणों का प्रयोग किया गया है तथा उन्हें पृथक् पृथक् चार अनुयोगों का व्यवस्थापक कहा गया है[6] । टीका में उनका कथानक भी उपलब्ध होता है । इसके प्रारम्भ में पाँच ज्ञानों का दिर्देश

१. देखिये 'नंदिसुत्तं अणुयोगद्दाराइं च' की प्रस्तावना पृ. ३२-३३.
२. देखिये 'जैन साहित्य का वृहद् इतिहास' भा. ३, पृ. ३२.
३. एवं कयमंगलोवयारे थेरावलिकमे य दंसिए अरिहेसु य दंसितेसु दूसगणिसीसो देववायगो साधुजण-हियट्ठाए इणमाह—। नन्दी चूर्णि पृ. १०.
४. नन्दी. गा. २३-४१.
५. देखिए अनुयोगद्वार की प्रस्तावना (महावीर जैन विद्यालय, बम्बई) पृ. ५०.
६. देविंदवंदिएहिं महाणुभावेहिं रक्खिअअज्जेहिं ।
जुगमासज्ज विहत्तो अणुओगो तो कओ चउहा ।। आव. नि. ७७४.
विशेषावश्यक भाष्य (२७८७) में उनके माता-पिता, भाई व आचार्य के नामों का भी निर्देश किया गया है । प्रभावकचरित (पृ. १३-३१) में उनका कथानक भी है ।

करके प्रकृत में श्रुतज्ञान का उद्देश बतलाया है। आगे प्रश्नोत्तरपूर्वक अंगप्रविष्ट आदि का निर्देश करते हुए उत्कालिक श्रुत में आवश्यक और आवश्यकव्यतिरिक्त का उद्देश बतलाया है। इस प्रकार प्रथमतः यहां आवश्यक आदि के विषय में निक्षेप आदि की योजना की गई है। इसी प्रसंग में वहां आनुपूर्वी का विस्तार से विवेचन किया गया है। आगे यथाप्रसंग औदयिकादि भाव, सात स्वर, नौ रस और द्रव्य-क्षेत्रादि प्रमाण रूप अनेक विषयों की चर्चा की गई है। इसके ऊपर जिनदास गणि महत्तर (वि. सं. ६५० से ७५०) द्वारा चूर्णि रची गई है। ये भाष्यकार जिनभद्र गणि (वि. सं. ६००-६६०) के बाद और हरिभद्र सूरि (७५७-८२७) के पूर्व में हुए हैं[1]। इस चूर्णि के अतिरिक्त उस पर एक टीका हरिभद्र सूरि द्वारा और दूसरी मलधारगच्छीय हेमचन्द्र सूरि द्वारा विरचित है। हेमचन्द्र सूरि के दीक्षागुरु मलधारी अभयदेव सूरि और शिष्य श्रीचन्द सूरि थे। इनके गृहस्थाश्रम का नाम प्रद्युम्न था। ये राज्यमन्त्री रहे हैं। इनका समय विक्रम सं. १२वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अचित्तद्रव्योपक्रम, अद्भुतरस, अनानुपूर्वी, अनेकद्रव्यस्कन्ध, अवमान, आगमद्रव्यानुपूर्वी, आगमद्रव्यावश्यक, आगमभावाध्ययन, आगमभावावश्यक, आत्माङ्गुल, आदानपद और उद्धारपल्योपम आदि।

चूर्णि—अद्धापल्योपम, अनुगम, उदयनिष्पन्न, उदयभाव, उपमित, ऊर्ध्वरेणु और औदयिकभाव आदि।

हृ. टीका—अद्भुतरस, अद्धापल्योपम, अधर्मद्रव्य, अनुगम, अन्त, अवमान, ईश्वर, उद्धारपल्योपम, ऋजुसूत्र और औदयिकभाव आदि।

म. हे. टीका—अचितद्रव्योपक्रम, अद्भुतरस, अनेकद्रव्यस्कन्ध और आगमभावावश्यक आदि।

४९. प्रशमरति प्रकरण—इसे आचार्य उमास्वाति (विक्रम की ३री शताब्दी) विरचित माना जाता है। इसमें पीठबन्ध, कषाय, रागादि, आठ कर्म, पंचेन्द्रिय विषय, आठ मद, आचार, भावना, धर्म, धर्मकथा, नव तत्त्व, उपयोग, भाव, छह द्रव्य, चारित्र, शीलांग, ध्यान, क्षपकश्रेणि, समुद्घात, योगनिरोध, मोक्षगमन और अन्तफल ये २२ अधिकार हैं। समस्त श्लोकसंख्या ३१३ है।

यहां ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम चौबीस तीर्थंकरों का जयकार करते हुए जिन, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुओं को नमस्कार किया है और तदनन्तर प्रशमरति में राग-द्वेषके अभावस्वरूप वैराग्य-विषयक अनुराग में स्थिरता के लिये जिनागम से कुछ कहने की प्रतिज्ञा की है। पश्चात् सर्वज्ञ के शासन-रूप पुर में प्रवेश को कष्टप्रद बतलाते हुए भी बहुत से श्रुत-सागर के पारंगतों की प्रशमजनक शास्त्रपद्धतियों की सहायता से उस सर्वज्ञशासन में अपने प्रवेश की सम्भावना व्यक्त की है और श्रुतभक्ति से प्राप्त बुद्धि के बल से प्रस्तुत ग्रन्थ के रचने का अभिप्राय प्रगट किया है। आगे का विषयविवेचन उक्त अधिकारों के नाम अनुसार ही क्रम से किया गया है।

इसके ऊपर आचार्य हरिभद्र (विक्रम सं. ११८५) द्वारा टीका रची गई है। इस टीका और एक अज्ञातकर्तृक अवचूरि के साथ यह परमश्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग अधिगम और अनित्यानुप्रेक्षा आदि शब्दों में हुआ है।

५०. विशेषावश्यक भाष्य—यह आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण द्वारा आवश्यक सूत्र के प्रथम अध्ययनरूप सामायिक मात्र के ऊपर रचा गया है, सामायिक अध्ययन पर निर्मित निर्युक्तियों की ही उसमें विशेष व्याख्या की गई है। आचार्य जिनभद्र बहुश्रुत विद्वान थे। आगम ग्रन्थों का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था। इसीलिए इस भाष्य में आगमों के अन्तर्गत प्रायः सभी विषयों का उन्होंने निरूपण किया है। आवश्यकतानुसार उन्होंने दार्शनिक पद्धति को भी अपनाया है। यथाप्रसंग विभिन्न मतान्तरों की भी चर्चा की गई है। डा. मोहनलाल जी मेहता उनके समय पर विचार करते हुए उन्हें वि. सं.

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भा. ३, पृ. ३२.

६५०-६० के आस पास का विद्वान् मानते हैं[1]। इसके ऊपर जिनभद्र स्वयं टीका के लिखने में प्रवृत्त हुए। पर बीच में ही दिवंगत हो जाने के कारण वे छठे गणधरवाद तक ही टीका लिख सके व स्वयं उसे पूरा नहीं कर सके। शेष भाग की टीका कोटचार्य द्वारा की गई है[2]। इसका एक संस्करण जो हमारे पास है, कोटचाचार्य विरचित टीका के साथ ऋषभदेव जी केशरीमल जी श्वे. संस्था रतलाम द्वारा दो भागों में प्रकाशित किया गया है। इसके अनुसार गाथाओं की संख्या ४३४६ है। इसमें सम्भवत: बहुतसी निर्युक्ति गाथाओं का मिश्रण हो गया है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अध्ययन, अनुगामी अवधि, अनुयोग, अभिनिवोध, अवाय, आगमद्रव्यमंगल, आभिनिवोधिक, इत्वरसामायिक, उपकरण, उपक्रम, उपयोग और ऋजुगति आदि।

टीका—इत्वरसामायिक (स्वो.) और ईहा (को.) आदि।

५१. **कर्मप्रकृति**—यह शिवशर्म सूरि द्वारा विरचित एक महत्त्वपूर्ण कर्मग्रन्थ है। शिवशर्म सूरि का समय सम्भवत: विक्रम की पाँचवी शताब्दी है[3]। इसकी गाथासंख्या ४७५ है। इसमें वन्धन, संक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा, उपशामना, निधत्ति और निकाचना ये आठ करण हैं। इनमें यथायोग्य ज्ञानावरणादि आठ कर्मों के वन्ध, परप्रकृतिपरिणमन, उत्कर्षण, अपकर्षण और उदीरणा (परिणाम के वश स्थिति को कम कर उदय में देना), करणोपशामना व अकरणोपशामना आदि अनेक भेदरूप उपशामना, निधत्ति और निकाचना, इनका निरूपण किया गया है। निधत्ति और निकाचना में विशेषता यह है कि निधत्ति में संक्रमण और उदीरणा नहीं होती, किन्तु उत्कर्षण-अपकर्षण उसमें सम्भव हैं। पर निकाचना में संक्रमणादि चारों ही नहीं होते। अन्त में उदय और सत्ता का भी कुछ वर्णन किया गया है।

प्रस्तुत कर्मप्रकृति एक गाथावद्ध संक्षिप्त रचना है और पूर्व निर्दिष्टषट्खण्डागम अधिकांश गद्यसूत्रमय है—गाथासूत्र यत्र क्वचित् ही पाये जाते हैं। इन दोनों की विषयप्ररूपणा में कहीं कहीं समानता देखी जाती है। जैसे—

कर्मप्रकृति में प्रदेशसंक्रमण की प्ररूपणा करते हुए ज्ञानावरणादि के उत्कृष्ट प्रदेश का स्वामी गुणितकर्मांशिक को वतलाया है। वह किन किन अवस्थाओं में कितने काल रहकर उस उत्कृष्ट प्रदेश का स्वामी होता है, इसका यहाँ संक्षेप में निरूपण किया गया है[4]।

यही प्ररूपणा षट्खण्डागम में कुछ विस्तार से की गई है[5]। दोनों में अर्थसाम्य तो प्राय: है ही, शब्दसाम्य भी कुछ है।

आगे कर्मप्रकृति में उक्त कर्मों के जघन्य प्रदेश के स्वामी क्षपितकर्मांशिककी प्ररूपणा करते हुए वह कब और किस प्रकार से उस जघन्य प्रदेश का स्वामी होता है, इसका संक्षेप से निर्देश किया गया गया है[6]। यही प्ररूपणा षट्खण्डागम में ज्ञानावरणीय कर्म की जघन्य द्रव्यवेदना के स्वामी उसी क्षपित-कर्मांशिक के प्रसंग में कुछ विस्तार से की गई है[7]।

षट्खण्डागम में स्थितिवन्ध के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है[8]। वही प्ररूपणा कर्मप्रकृति में चूर्णिकार के द्वारा की गई है, जो प्राय: शव्दश: समान है[9]।

---

१. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भाग ३, पृ. १३३-३५. २. वही पृ. ३५५.
३. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भाग ४, पृ. ११०.
४. कर्मप्र. संक्रमक. गा. ७४-७८
५. षट्खं. ४,२,४,६-३२ पु. १०, पृ. ३१-१०९.
६. कर्मप्र. संक्रमक. ९४-९६
७. षट्खं. ४,२,४,४८-७५, पु. १०, पृ. २६८-९६
८. षट्खं. ४,२,६,६५-१००, पु. ११, पृ. २२५-३७
९. कर्मप्र. १, ८०-८२ (चूर्णि), पृ. १७४-१७५

षट्खण्डागम में जिन दो गाथासूत्रों के द्वारा गुणश्रेणिनिर्जरा की प्ररूपणा की गई है वे दो गाथायें प्रस्तुत कर्मप्रकृति और आचारांग निर्युक्ति में भी उपलब्ध होती हैं[1]।

उक्त गुणश्रेणिनिर्जरा का निरूपण इसी प्रकार से तत्त्वार्थसूत्र में भी किया गया है[2]।

इसके ऊपर अज्ञातकर्तृक[3] चूर्णि है, जो विक्रम की १२वीं शताब्दी के पूर्व रची गई है। इसके अतिरिक्त एक टीका आ. मलयगिरि द्वारा विरचित और दूसरी टीका उपाध्याय यशोविजय (विक्रम की १८वीं शताब्दी) विरचित भी है। उक्त चूर्णि और दोनों टीकाओं के साथ उसे मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोइ (गुजरात) द्वारा प्रकाशित कराया गया है। मात्र मूल ग्रन्थ पंचाशक आदि अन्य कुछ ग्रन्थों के साथ ऋषभदेव जी केशरीमलजी श्वे. संस्था रतलाम से भी प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अधःप्रवृत्तसंक्रम, अपवर्तना और उदीरणा आदि।

चूर्णि—अकरणोपशामना, अधःप्रवृत्तसंक्रम, अनभिसंधिजवीर्य, अपवर्तना और अविभागप्रतिच्छेद आदि।

म. टीका—अधःप्रवृत्तसंकम और अपवर्तना आदि।

उ. य. टीका—अनादेय और अपवर्तना आदि।

५२. शतकप्रकरण—इसे बन्धशतक भी कहा जाता है। यह पूर्वोक्त कर्मप्रकृति के कर्ता शिवशर्म सूरि की कृति मानी जाती है। इसमें मूल गाथायें १०६ हैं। ये गाथायें अर्थगम्भीर हैं। उनके अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिये चक्रेश्वर सूरि के द्वारा वृहद् भाष्य लिखा गया है। इन भाष्य गाथाओं का श्लोकप्रमाण १४१३ हैं। चक्रेश्वर सूरि द्वारा रचित यह भाष्य, जैसा कि उन्होंने अन्त में निर्देश किया है, अन्नलदेव नृपति के राज्य में वर्तमान गोल्ल विषय विशेषण (?) नगर में वि. सं. ११६७ में[4] कार्तिक चातुर्मास दिन में पूर्ण हुआ है। ये श्री वर्धमान गणधर के शिष्य और गुणहर गुणधर के गुरु थे। इन गुणधर शिष्य की प्रेरणा से ही यह भाष्य रचा गया है[5]। इस वृहद् भाष्य के अतिरिक्त एक २४ गाथात्मक

---

१. सम्मत्तुप्पत्ती वि य सावय-विरदे अणंतकम्मंसे।
दंसणमोहक्खवए कसायउवसामए य उवसंते॥
खवए य खीणमोहे जिणे य णियमा भवे असंखेज्जा।
तव्विवरीदो कालो संखेज्जगुणाए सेढीए॥ षट्खं. पु. १२, पृ. ७८.
सम्मत्तुप्पत्तिसावयविरए संजोयणाविणासे य।
दंसणमोहक्खवगे कसायउवसामगुवसंते॥
खवगे य खीणमोहे जिणे य दुविहे असंखगुणसेढी॥
उदओ तव्विवरीओ कालो संखेज्जगुणसेढी॥कर्मप्र. ६, ८-९.
सम्मत्तुप्पत्ती सावए य विरए अणंतकम्मंसे।
दंसणमोहक्खवए उवसामंते य उवसंते॥
खवए य खीणमोहे जिणे य सेढी भवे असंखिज्जा।
तव्विवरीओ कालो संखिज्जगुणाइ सेढीए॥ आचारांग नि. २२२-२३, पृ. १६०,

२. त. सू. (दि.) ९-४५, श्वे. ९-४७

३. 'जैन साहित्य का वृहद् इतिहास' में इसके जिनदास गणि महत्तर के द्वारा रचे जाने की सम्भावना की गई है। भा. ४, पृ. १२१

४. 'जैन साहित्य का वृहद् इतिहास' भाग ४, पृ. १२७ पर वि. सं. ११७९ लिया गया है।

५. सिरिवद्धमाण-गणहर-सीसेहि विहारुगेहि सुहबोहं।
एयं सिरिचक्केसरसूरीहिं सयगगुरुभासं॥
गुणहर-गणवरणामगणिययविणेयस्स वयणओ रइयं।

लघु भाष्य, एक अज्ञातकर्तृक चूर्णि, तथा तीन टीकाओं में से एक मलधारी हेमचन्द्र सूरि (वि. की १२वीं श.) विरचित, दूसरी उदयप्रभ सूरि (सम्भवतः वि. की १३वीं श.) विरचित और तीसरी टीका गुणरत्नसूरि (वि. की १५ वीं श.) द्वारा विरचित है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में चौदह जीवस्थान (जीवसमास) और चौदह गुणस्थानों में जहाँ जितने उपयोग और योग सम्भव हैं उनको दिखलाते हुए कारणनिर्देशपूर्वक प्रकृति-स्थिति आदि चार प्रकार के बन्ध, उदय और उदीरणा की प्ररूपणा की गई है इसका एक संस्करण भाष्य और मलधारीय टीका के साथ वीर समाज राजनगर द्वारा प्रकाशित कराया गया है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

भाष्य—अनिवृत्तिकरण गुणस्थान, अपूर्वकरण गुणस्थान और अविरतसम्यग्दृष्टि आदि।

टीका—अध्रुवबन्ध, अप्रत्याख्यानावरणक्रोधादि और उदय आदि।

५३. उपदेशरत्नमाला—इसके रचियता धर्मदास गणि हैं। ये महावीर स्वामी के हस्त-दीक्षित शिष्य थे, इस मान्यता को 'जैन साहित्य का वृहद् इतिहास' में विचारणीय बतलाया है। इसका कारण वहां किये गये वज्रस्वामी के उल्लेख के अतिरिक्त आचारांगादि जैसी प्राचीन भाषा का अभाव भी है[1]। ग्रन्थकार धर्मदास गणि ने गाथा ५३७ और ६४० में इसके रचयिता के रूप में स्वयं ही अपने नाम का उल्लेख किया है[2]। ग्रन्थगत गाथाओं की संख्या ५४४ है। (गा. ५४२ के अनुसार यह गाथासंख्या ५४० है।)

इस उपदेशपरक ग्रन्थ में अनेक पौराणिक व्यक्तियों के उदाहरण देते हुए गुरु की महत्ता, आचार्य की विशेषता, विनय, धर्म एवं क्षमा आदि अनेक उपयोगी विषयों का विवेचन किया गया है। इसके ऊपर कई टीकायें लिखी गई हैं। पर हमें सटीक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो सका। मूल मात्र पंचाशक आदि के साथ ऋषभदेव जी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था रतलाम द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग अपायविचय, आज्ञाविचय, आदाननिक्षेपणसमिति, ईर्यासमिति और एषणासमिति आदि शब्दों में हुआ है।

५४. जीवसमास—यह किसकी कृति है, यह ज्ञात नहीं होता। मुद्रित संस्करण (मूल मात्र) में 'पूर्वभृत् सूरि सूत्रित' ऐसा निर्देश मात्र किया गया है। यह प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ है। समस्त गाथायें २८६ हैं। यहाँ प्रथमतः चौबीस जिनेन्द्रों को नमस्कार कर संक्षेप में जीवसमासों के कथन की प्रतिज्ञा की गई है। आगे 'ये जीवसमास निक्षेप व निरुक्तिपूर्वक छह अथवा आठ अनुयोगद्वारों तथा गति आदि चौदह मार्गणाओं के द्वारा ज्ञातव्य हैं' ऐसी सूचना करके प्रकृत छह अनुयोगद्वारों का प्रश्नात्मक निर्देश इस प्रकार किया गया है—१ विवक्षित मिथ्यात्व आदि क्या हैं, २ किसके होते हैं, ३ किसके

सुयणे सुणंतु जाणंतु बुहजणा तह विसोहंतु ॥
सत्त-णव-रुद्दमियवच्छरम्मि विक्कमणिवाउ वट्टंते।
कत्तिय-चउमासदिणे गोल्लविसयविसेसणे नयरे ॥
दहिवइंमी सिरिसिद्धरायभूवइपसायगेहस्स।
अन्नलदेवनिवइणो सुहरज्जे वट्टमाणम्मि ॥
णिप्फत्तिमुवगयमिणं ता नंदउ जाव सिद्धिसुहमूले।
तियलोक्कपायडजसो जिणवरधम्मो जये जयइ ॥ पृ. १३३-३४.

१. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भा. ४, पृ. १९३.

२. धंत-मणि-दाम-ससि-गय-णिहिपयपढमक्खराभिहाणेणं।
उवएसमालपगरणमिणमो रइयं हिअट्ठाए ॥५३७॥
इसमें धंत, मणि, दाम, ससि, गय और णिहि; इन पदों के प्रथम अक्षर को क्रम से ग्रहण करने पर धंमदास (धर्मदास) गणि होता है, इनके द्वारा इस उपदेशमाला प्रकरण के रचे जाने की सूचना की गई है।

द्वारा होते हैं, ४ कहां होते हैं, ५ कितने काल रहते हैं और ६ भाव कितने प्रकार का है? इन छह प्रश्नों के साथ प्रकृत का विवेचन किया जाता है। अथवा सत्प्ररूपणा, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्र, स्पर्श, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोगद्वारों के[1] आश्रय से विवक्षित जीवसमासों का अनुगम करना चाहिए। उसके पश्चात् गति आदि चौदह मार्गणाओं[2] और मिथ्यात्व व आसादन आदि चौदह जीवसमासों (गुणस्थानों) का नामनिर्देश किया गया है[3]।

आगे गति आदि भेदों में विभक्त जीवों का निरूपण करते हुए उनमें यथायोग्य गुणस्थान और मार्गणा आदि का विचार किया गया है। इस प्रकार सत्पदप्ररूपणा करने के पश्चात् द्रव्यप्रमाण के प्रसंग में द्रव्यादि के भेद से चार प्रकार के प्रमाण का विवेचन किया गया है। इस क्रम से यहां क्षेत्र व स्पर्शन आदि शेष अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा की गई है।

यहाँ पृथिवी आदि के भेदों के प्रसंग में जिन गाथाओं का उपयोग हुआ है वे मूलाचार में भी प्रायः उसी क्रम से उपलब्ध होती हैं[4]। यथाक्रम से दोनों ग्रन्थों की इन गाथाओं का मिलान कीजिए—

जीवसमास—२७-२९, ३० (पू.), ३१ (पू.), ३२ (पू.), ३३ (पू.), ३४-३७, ३८-३९ और ४०-४४.

मूलाचार (पंचाचाराधिकार)—९-११, १२ (पू.), १३ (पू.), १४ (पू.) १५ (पू.), १६-१९, २१-२२ और २४-२८.

पाठभेद—जीव. गा. ३५ में 'कट्ठा' व मूला. गा. १७ में 'खंध' पाठ है। जीव. गा. ४० में 'वारस' व मूला. गा. २४ में 'वावीस' पाठ है। जीव. गा. ४३ में मनुष्यों के कुलभेद वारह लाख करोड़ और मूला. गा. २७ में वे चौदह लाख करोड़ निर्दिष्ट किए गए हैं। इसी से उनकी समस्त संख्या में भेद हो गया है। जीव. गा. ४४ में जहाँ वह एक कोड़ाकोड़ि सत्तानवै लाख पचास हजार है वहाँ मूला. गा. २८ में वह एक कोड़ाकोड़ि निन्यानवै लाख पचास हजार है[5]।

प्रस्तुत ग्रन्थ का एक संस्करण जो हमारे पास है, पंचाशक आदि के साथ, मूल रूप में ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्वर संस्था रतलाम से प्रकाशित हुआ है। इसके ऊपर टीका भी लिखी गई है, पर वह हमें उपलब्ध नहीं हो सकी। इसका उपयोग अयन, अहोरात्र, आत्माङ्गुल, आवलि और उच्छ्लक्ष्ण-श्लक्ष्णिका आदि शब्दों में हुआ है।

---

१. चौदह जीवसमासों की प्ररूपणा पट्खण्डागम में भी इन्हीं आठ अनुयोगद्वारों के आश्रय से की गई है—एदेसिं चेव चोद्दसण्हं जीवसमासाणं परूवणट्ठदाए तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्दाराणि णायव्वाणि भवंति ॥ तं जहा ॥ संतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो खेत्ताणुगमो फोसणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भावाणुगमो अप्पाबहुगाणुगमो चेदि ॥ पट्खं. १, १, ५-७, पु. १, पृ. १५३-५५

२. मार्गणाभेदों की सूचक यह (६) गाथा वोधप्राभृत (३३), मूलाचार (१२-१५६), पंचसंग्रह (१-५७) और आवश्यकनिर्युक्ति (१४—कुछ शब्दभेद के साथ) आदि कितने ही ग्रन्थों में पायी जाती है।

३. जीवसमास ८-९; पट्खण्डागम में गुणस्थानों का उल्लेख 'जीवसमास' नाम से ही किया गया है। पट्खं. १,१,२, पु. १, पृ. ९१. (जीवा समस्यन्ते एष्विति जीवसमासाः। चतुर्दश च ते जीवसमासाश्च चतुर्दशजीवसमासाः। तेषां चतुर्दशानां जीवसमासानाम्, चतुर्दशगुणस्थानानामित्यर्थः। धवला पु. १, पृ. १३१)

४. इनमें से कुछ गाथायें पंचसंग्रह (भारतीय ज्ञानपीठ)—जैसे १, ७७-८१—में और कुछ गो. जीवकाण्ड (जैसे गा. १८५) में भी उपलब्ध होती हैं। जीवसमास की २७-३० गाथायें कुछ पादव्यत्यय के साथ आचारांगनिर्युक्ति (७३-७६) में पाई जाती हैं। इसके अतिरिक्त वहां कुछ गाथायें प्रायः अर्थतः समान हैं। जैसे—जीव. ३१, ३२, ३४, ३५-३६, ३६ और ३३ तथा आचा. नि. १०८,११८, १३०, १२६, १४१ और १६६.

५. कुल भेदों की यह संख्या गो. जीवकाण्ड (११५-१६) में जीवसमास के अनुसार है।

५५. ऋषिभाषित—इसके रचयिता कौन हैं, यह ज्ञात नहीं होता। इसका एक संस्करण मूल रूप में श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वे. संस्था रतलाम से प्रकाशित (सन् १९२७) हुआ है। उसमें 'श्रीमद्भिः प्रत्येकबुद्धैर्भाषितानि श्रीऋषिभाषितसूत्राणि' ऐसा निर्देश किया गया है। यह एक धर्मकथानुयोग का ग्रन्थ है। वह प्राय: श्लोक, आर्या छन्द और गद्यसूत्रों में रचा गया है। इसमें ये ४५ अध्ययन हैं—१ नारद २ वज्जियपुत्त ३ दविल ४ अंगरिसि ५ पुप्फसाल ६ वक्कलचीरी ७ कुम्मापुत्त ८ (ते) केतलि ९ महाकासव १० तेतलिपुत्त ११ मंखलिपुत्त १२ जन्नवक्कीय १३ भयालि १४ वाहुक १५ मधुरायणिज्ज १६ सोरियायण १७ विदु १८ वरिसव १९ आयरियायण २० उक्कल २१ गाहावइज्ज २२ दग-(माली) गद्दभीय २३ रामपुत्तिय २४ हरिगिरि २५ अंबड २६ मायंगिज्ज २७ वारत्तय २८ अद्दइज्ज २९ बद्धमाण ३० वाउ ३१ पासिज्ज ३२ पिंग ३३ अरुणिज्ज ३४ इसिगिरि ३५ अद्दालइज्ज ३६ तारापविज्ज ३७ सिरिगिरिज्ज ३८ साइपुत्तिज्ज ३९ संजइज्ज ४० दीवायणिज्ज ४१ इंदनागिज्ज ४२ सोमिज्ज ४३ जम ४४ वरुण और ४५ वेसमण।

ऋषिभाषितों की समाप्ति के पश्चात् ऋषिभाषितों की संग्रहणी में उपर्युक्त ४५ प्रत्येकबुद्ध ऋषियों के नाम निर्दिष्ट किए गये हैं, जिनके नाम पर वे अध्ययन प्रसिद्ध हुए हैं। इनमें से अरिष्टनेमि के तीर्थ में २०, पार्श्व जिनेन्द्र के तीर्थ में १५ और शेष महावीर के तीर्थ में हुए हैं। अन्तिम ऋषिभाषित—अर्थाधिकार संग्रहणी—में उक्त अध्ययनों के ४५ अर्थाधिकारों के नामों का निर्देश किया गया है। तद्नुसार ही जो उक्त ऋषियों के द्वारा उपदेश दिया गया है वह प्रकृत अध्ययनों में निबद्ध है।

इस पर आ. भद्रबाहु द्वारा निर्युक्ति रची गई है, पर वह उपलब्ध नहीं है। यह ऋषभदेव केशरीमल जी श्वे. संस्था रतलाम से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग अदत्तादानविरमण और अहिंसा-महाव्रत आदि शब्दों में हुआ है।

५६. पाक्षिकसूत्र—इसके भी रचयिता कौन हैं, यह ज्ञात नहीं है। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के अनुयायी आत्महितैषी जन सामायिक आदि छह आवश्यकों को नियमित किया करते हैं। उन आवश्यकों में प्रतिक्रमण भी एक है। वह दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक के भेद से पांच प्रकार का है। प्रस्तुत ग्रन्थ में पाक्षिक प्रतिक्रमण को प्रमुखता दी गई है। यहां प्रथमत: तीर्थंकर, तीर्थ, अतीर्थसिद्धि, तीर्थसिद्ध, सिद्ध, जिन, ऋषि, महर्षि और ज्ञान इनकी ग्रन्थकार द्वारा वन्दना की गई है। इस प्रकार वन्दना करके अपने को आराधना के अभिमुख बतलाते हुए ग्रन्थकार ने यह भावना व्यक्त की है कि अरिहंत, सिद्ध, साधु, श्रुत, धर्म, क्षान्ति (क्षमा), गुप्ति, मुक्ति, आर्जव और मार्दव ये सब मेरे लिए मंगल हों—कल्याणकर हों।

पश्चात् यह निर्देश किया गया है कि लोक में साधु जन परमर्षियों के द्वारा उपदिष्ट जिस महाव्रतों की उच्चारणा को किया करते हैं उसे करने के लिये मैं भी उपस्थित हुआ हूं। यह सूचना करते हुए छठे रात्रिभोजनविरमण के साथ उक्त महाव्रतोच्चारणा पांच प्रकार की कही गई है। तत्पश्चात् क्रम से प्राणातिपातविरमण आदि छहों महाव्रतों का उच्चारण किया गया है। जैसे—प्राणातिपात से विरत होना, यह अहिंसा महाव्रत है। इस अहिंसा महाव्रत में मैं सूक्ष्म, बादर, त्रस व स्थावर समस्त प्राणातिपात का मन, वचन व काय से तथा कृत, कारित व अनुमति से प्रत्याख्यान करता हूं। मैं अतीत सब प्राणातिपात की निन्दा करता हूं, वर्तमान का निवारण करता हूं, और अनागत का प्रत्याख्यान करता हूं इत्यादि।

इसी प्रकार से आगे शेष महाव्रतों की भी उच्चारणा की गई है। तत्पश्चात् भगवान् महावीर की स्तुतिपूर्वक सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान; इन छह आवश्यकों का निर्देश करते हुए उत्कालिक और कालिक श्रुत का कीर्तन किया गया है। इनके ऊपर यशोदेव सूरि (विक्रम की १२वीं शताब्दी) द्वारा टीका लिखी गई है। इस टीका के साथ वह देवचन्द्र

लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग अचौर्यमहाव्रत और अहिंसा-महाव्रत आदि शब्दों में हुआ है।

५७. ज्योतिष्करण्डक—इसके कर्ता का नाम अज्ञात है। इसमें २१ प्राभृत (अधिकार) और सब गाथायें ३७६ हैं। यहां कालमान, मासभेद, वर्षभेद, दिन व तिथि का प्रमाण, परमाणु का स्वरूप व उससे निष्पन्न होने वाले अंगुल आदि का प्रमाण, चन्द्र की हानि-वृद्धि, चन्द्र-सूर्यों की संख्या, नक्षत्रों की आकृति; चन्द्र, सूर्य व नक्षत्र आदि की गति, सूर्य-चन्द्रमण्डल और पौरुषीप्रमाण, इत्यादि विषयों की प्ररूपणा की गई है।

इस पर आचार्य मलयगिरि की टीका है। गाथा ६४-७१ में लतांग व लता आदि कालमानों की प्ररूपणा की गई है। ये कालमान अनुयोगद्वारसूत्र में निरूपित कालमानों से कुछ भिन्न हैं। इस भिन्नता का विचार करते हुए टीका में मलयगिरि ने यह कहा है कि स्कन्दिलाचार्य के समय दुष्षमाकाल के प्रभाव से जो दुर्भिक्ष पड़ा था, उसके कारण साधुओं का अध्ययन व गुणन (चिन्तन) आदि सब नष्ट हो गया था। उस दुर्भिक्ष के नष्ट होने पर सुभिक्ष के समय दो संघों का मिलाप हुआ—एक वलभी में और एक मथुरा में। उनमें सूत्रार्थ की संघटना से परस्पर वाचनाभेद हो गया। सो वह अस्वाभाविक भी नहीं हैं, क्योंकि विस्मृत सूत्र और अर्थ का स्मरण कर करके संघटना करने पर वाचनाभेद अवश्यंभावी है। इसमें असंगति कुछ भी नहीं है। उनमें जो अनुयोगद्वार आदि आज वर्तमान हैं वे माथुर वाचना के अनुसार हैं। पर ज्योतिष्करण्डक के कर्ता आचार्य वालभी वाचना के अनुयायी रहे हैं। इस प्रकार इसमें जो संख्यास्थानों का प्रतिपादन किया गया है वह वालभ्य वाचना के अनुसार किया गया है। अतएव अनुयोगद्वारप्रतिपादित संख्यास्थानों से इनकी भिन्नता को देख करके अश्रद्धा नहीं करना चाहिए[1]।

यह उक्त टीका के साथ ऋषभदेव जी केशरीमलजी श्वे. संस्था रतलाम से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग अक्ष (मापविशेष), अभिवर्धित मास, अभिवर्धित संवत्सर, आदित्यमास, आदित्यसंवत्सर, उच्छ्वास और उत्सर्पिणी आदि शब्दों में हुआ है।

५८. प्रा. पंचसंग्रह (दि.)—पंचसंग्रह इस नाम से प्रसिद्ध अनेक ग्रन्थ हैं, जो संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं में रचे गये हैं। उनमें यहां दिगम्बर सम्प्रदाय मान्य पंचसंग्रह का परिचय कराया जा रहा है। यह किसके द्वारा रचा या संकलित किया गया है, यह अभी तक अज्ञात ही बना हुआ है। पर विषयव्यावर्णन और रचनाशैली को देखते हुए वह बहुत कुछ प्राचीन प्रतीत होता है। इसमें नाम के अनुसार ये पांच प्रकरण हैं—जीवसमास, प्रकृतिसमुत्कीर्तन, बन्धस्तव, शतक और सप्ततिका। इनकी गाथासंख्या क्रमशः इस प्रकार है—२०६+१२+७७+५२२+५०७=१३२४। प्रकृतिसमुत्कीर्तन नामक दूसरे प्रकरण में कुछ गद्यभाग भी है। उक्त पांच प्रकरणों में क्रम से कर्म के बन्धक (जीव), बध्यमान (कर्म), बन्धस्वामित्व, बन्ध के कारण और बन्ध के भेदों की प्ररूपणा की गई है। प्रसंग के अनुसार अन्य भी विषयों का—जैसे उदय व सत्त्व आदि का—निरूपण किया गया है।

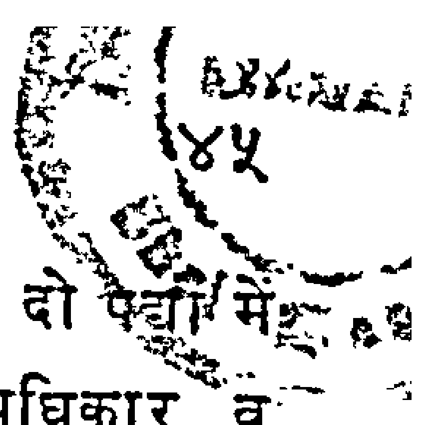
वीरसेनाचार्य द्वारा अपनी धवला टीका में अनेक ऐसी गाथाओं को उद्धृत किया गया है जो यथास्थान प्रस्तुत पंचसंग्रह में उपलब्ध होती हैं। पर ग्रन्थ और ग्रन्थकार के नाम का निर्देश वहां कहीं नहीं किया गया है। इससे कहा नहीं जा सकता है कि उनके समक्ष प्रस्तुत पंचसंग्रह रहा है या अन्य कोई प्राचीन ग्रन्थ।

इसके ऊपर भट्टारक सुमतिकीर्ति द्वारा संस्कृत टीका रची गई है। जिसे उन्होंने भाद्रपद शुक्ला दशमी वि. सं. १६२० को पूर्ण किया है। यह भारतीय ज्ञानपीठ काशी से प्रकाशित हो चुका है। इसका उपयोग अनिवृत्तिकरण गुणस्थान, अपूर्वकरण गुणस्थान, अयोगिजिन, अलेश्य, अविरतसम्यग्दृष्टि और आहारक (जीव) आदि शब्दों में हुआ हुआ है।

५९. परमात्मप्रकाश—इसके रचयिता योगीन्दु देव हैं। उनका समय विक्रम की छठीं-सातवीं

---

१. ज्योतिष्क. टीका ७१, पृ. ४०



शताब्दी है। ग्रन्थ की भाषा अपभ्रंश है। वह प्रायः दोहा छन्द में रचा गया है। अन्तिम दो पद्यों में प्रथम स्रग्धरा छन्द में और दूसरा मालिनी छन्द में रचा गया है। इसमें २ अधिकार व पद्यसंख्या १२३+२१४=३३७ है। इनमें कुछ प्रक्षिप्त पद्य भी सम्मिलित हैं। इसमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के स्वरूप को प्रगट करते हुए द्रव्य, गुण, पर्याय, निश्चयनय, मोक्ष, मोक्षफल और निश्चय-व्यवहार के भेद से दो प्रकार के मोक्षमार्ग का विवेचन किया गया है।

ग्रन्थ की रचना योगीन्दु देव के द्वारा शिष्य प्रभाकर भट्ट की विज्ञप्ति पर की गई है। ग्रन्थ को प्रारम्भ करते हुए मंगल के पश्चात् यहां यह कहा गया है कि भट्ट प्रभाकर ने भावतः पंच गुरुओं को नमस्कार कर निर्मल भावपूर्वक योगीन्दु जिनसे विज्ञप्ति की कि स्वामिन्, संसार में रहते हुए अनन्त काल बीत गया, पर मैंने थोड़ा भी सुख नही प्राप्त किया, किन्तु दुख ही अधिक प्राप्त किया है। इसलिए कृपाकर मुझे चतुर्गति के दुःख को नष्ट करनेवाले परमात्मा के स्वरूप को कहिये। इस प्रकार से विज्ञापित योगीन्दु देव कहते हैं कि हे भट्ट प्रभाकर सुनो, मैं तीन प्रकार के आत्मा के स्वरूप को कहता हूँ[1]।

ग्रन्थ के अन्त में भी ग्रन्थकार यह अभिप्राय प्रगट करते हैं कि यहां जो कहीं-कहीं कुछ पुनरुक्ति हुई है वह प्रभाकर भट्ट के कारण से हुई है, अतः पण्डित जन उसे न तो दोषजनक ग्रहण करें और न गुण ही समझें[2]।

इसके ऊपर ब्रह्मदेव के द्वारा टीका रची गई है। ब्रह्मदेव विक्रम की ११-१२वीं शताब्दी के विद्वान् हैं। उन्होंने भोजदेव के राज्यकाल (वि. सं. १०७०-१११०) में द्रव्यसंग्रह की टीका लिखी है[3]। इन्होंने भी अपनी टीका में प्रभाकर भट्ट का शंकाकार के रूप में उल्लेख करते हुए कहा है कि यदि पुण्य मुख्य रूप से मोक्ष का कारण व उपादेय नहीं है तो भरत, सगर, राम और पाण्डव आदि भी निरन्तर परमेष्ठि-गुणस्मरण एवं दान-पूजा आदि के द्वारा भक्तिवश पुण्य का उपार्जन किसलिए करते रहे हैं[4]।

यह उक्त टीका के साथ परमश्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—परमात्मा और बहिरात्मा आदि।

टीका—अव्यावाधसुख आदि।

६०. **सन्मतिसूत्र**—यह आचार्य सिद्धसेन दिवाकर द्वारा रचा गया एक प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ है, जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं में समानरूप से प्रतिष्ठित है। ये सिद्धसेन न्यायावतार के कर्ता से भिन्न व उनके पूर्ववर्ती हैं। इनका समय विक्रम की छठी या सातवीं शताब्दी है। वे निर्युक्तिकार भद्रबाहु (द्वितीय) के बाद और जिनभद्र क्षमाश्रमण के पूर्व (वि. सं. ५६२-६६६) किसी समय में हुए हैं[5]। प्रस्तुत ग्रन्थ तीन काण्डों में विभक्त है। समस्त गाथासंख्या ५४+४३+७०=१६७ है। उक्त तीन काण्डों में प्रथम का नाम नयकाण्ड और द्वितीय का नाम जीवकाण्ड पाया जाता है, तीसरे काण्ड का कोई नाम उपलब्ध नहीं होता। इसके ऊपर प्रद्युम्न सूरि के शिष्य अभयदेव सूरि (विक्रम की १०वीं शताब्दी) द्वारा विरचित विस्तृत टीका है। इसके प्रथम काण्ड में नय—विशेषतया द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय—के स्वरूप का विचार करते हुए उनके आश्रय से निक्षेपविधि की योजना-

---

१. परमा. १, ८-११.

२. इत्थु ण लेवउ पंडियहिँ गुण-दोसु वि पुणरुत्तु।
भट्ट-पभायर कारणइँ मइँ पुणु पुणु वि पउत्तु ॥२-२११.

३. अनेकान्त के 'छोटेलाल जैन स्मृति अंक' में 'द्रव्यसंग्रह के कर्ता और टीकाकार के समय पर विचार' शीर्षक लेख। पृ. १४५-४८.

४. परमा. २-६१.

५. पुरातन जैन वाक्यसूची की प्रस्तावना, पृ. १४४-४७.

पूर्वक वस्तुस्वरूप का विचार किया गया व सप्तभंगी की योजना की गई है। द्वितीय काण्ड में ज्ञान और दर्शन उपयोगों का विचार करते हुए छद्मस्थ के ज्ञान और दर्शन में तो क्रमवर्तित्व बतलाया गया है, परन्तु केवली के ज्ञान-दर्शन में उस क्रमवर्तित्व का निराकरण करते हुए उन दोनों में अभेद सिद्ध किया गया है। वहां कहा गया है कि केवली चूंकि नियमतः अस्पष्ट पदार्थों को जानते एवं देखते हैं, अतएव उनका केवलअवबोध ही समानरूप से ज्ञान और दर्शन है। आगे वहाँ कहा गया है कि इस प्रकार जिनप्ररूपित पदार्थों का जो श्रद्धान करता है उसका जो आभिनिवोधिक ज्ञान है वही दर्शन है—सम्यग्दर्शन शब्द से कहा जाने वाला है। अन्त में 'अनादि-अनिधन जीव और सादि-अनिधन केवलज्ञान इन दोनों में अभेद कैसे हो सकता है,' इस शंका का निराकरण करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार कोई पुरुष साठ वर्ष का हुआ व तीस वर्ष का राजा हुआ, इस उदाहरण में पुरुपसामान्य की अपेक्षा अभेद के होते हुए भी राजारूप पर्याय की अपेक्षा भेद देखा जाता है, उसी प्रकार प्रकृत में कथंचित् भेदाभेद समझना चाहिए।

अन्तिम तृतीय काण्ड में सामान्य और विशेष का विचार करते हुए तद्विषयक भेदैकान्त और अभेदैकान्त का निराकरण किया गया है और उनमें कथंचित् भेदाभेद को सिद्ध किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मूलरूप में जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर द्वारा तथा अभयदेव सूरि विरचित उक्त टीका के साथ गुजरात विद्यापीठ (गुजरात पुरातत्त्वमन्दिर ग्रन्थावली) अहमदाबाद द्वारा पांच भागों में प्रकाशित किया गया है। इनका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अस्ति-अवक्तव्य द्रव्य, अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य द्रव्य और अस्ति-नास्ति द्रव्य आदि।

टीका—ऋजुसूत्र और एवम्भूत नय आदि।

६१. न्यायावतार—इसके रचयिता सिद्धसेन दिवाकर हैं। इनका समय (प्रायः विक्रम की ८वीं शताब्दी) है। इसके ऊपर सिद्धर्षि (विक्रम की १०वीं शताब्दी) विरचित एक टीका है। सिद्धर्षि के द्वारा अपनी उपमितिभव-प्रपंचकथा ई. सन् ६०६ (विक्रम सं. ६६३) में समाप्त की गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ में सूत्ररूप ३२ कारिकायें (श्लोक) हैं। ये कारिकायें अर्थतः गम्भीर हैं। यहाँ सर्वप्रथम स्व-परावभासी निर्बाध ज्ञान को प्रमाण बतलाकर उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो भेदों का निर्देश किया गया है। पश्चात् प्रसिद्ध प्रमाणों के लक्षण के निरूपण का प्रयोजन बतलाते हुए प्रत्यक्ष और परोक्ष का लक्षण इस प्रकार कहा गया है—जो ज्ञान अपरोक्षस्वरूप से, अर्थात् इन्द्रियों की अपेक्षा न कर साक्षात्कारिता से, अर्थ को ग्रहण करता है उसे प्रत्यक्ष और उससे विपरीत को परोक्ष कहते हैं। आगे अनुमान के लक्षण का निर्देश करते हुए उसे प्रत्यक्ष के समान अभ्रान्त बतलाया है।

तत्पश्चात् सामान्य से शाब्द—शब्दजन्य ज्ञान—का लक्षण बतलाते हुए जिस प्रकार के शास्त्र से उत्पन्न होनेवाला वह शाब्द ज्ञान प्रमाण हो सकता है उस शास्त्र के लक्षण का निर्देश किया गया है। जिस श्लोक के द्वारा उक्त लक्षण को प्रगट किया गया है वह समन्तभद्राचार्य विरचित रत्नकरण्डक में उपलब्ध होता है[1]। इस क्रम से यहां आगे परार्थानुमान, पक्ष, हेतु, दृष्टान्त, तदाभास (पक्षाभासादि), दूषण, दूषणाभास, केवलज्ञान, प्रमाण का फल, स्याद्वादश्रुत और प्रमाता जीव; इनकी चर्चा की गई है। अन्त में कहा गया है कि यह अनादि-निधन प्रमाणादि की व्यवस्था यद्यपि सब व्यवहारी जनों को प्रसिद्ध है, फिर भी अव्युत्पन्नों को उसका बोध कराने के लिए यहाँ उसकी प्ररूपणा की गई है।

यह मूलरूपमें जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर द्वारा तथा सिद्धर्षि विरचित उक्त टीका और देवभद्र सूरिकृत टिप्पण के साथ श्वेताम्बर जैन महासभा बम्बई द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अनुमान, अनैकान्तिक और असिद्ध हेत्वाभास आदि।

---

१. आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥ न्यायाव. ६; रत्नक. ६.

टीका—अनैकान्तिक आदि।

६२. तत्त्वार्थवार्तिक—आचार्य अकलंक देव द्वारा विरचित यह तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या है। अकलंकदेव का समय ई. ७२०-८०. (वि. सं. ७७७-८३७) निश्चित किया गया है[1]। ये प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् तो थे ही, साथ ही वे सिद्धान्त के भी मर्मज्ञ थे। उनके समक्ष षट्खण्डागम रहा है और प्रस्तुत व्याख्या में उन्होंने इसका पर्याप्त उपयोग भी किया है। जैसे—तत्त्वार्थवार्तिक में प्रथम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के विषय में जो विवेचन किया गया है वह प्रायः षट्खण्डागम के आश्रय से किया गया है। यहाँ दोनों ग्रन्थों के कुछ समान उद्धरण दिये जाते हैं[2]—

एदेसिं चेव सव्वकम्माणं जाधे अंतोकोडाकोडिट्ठिदिं ठवेदि संखेज्जेहि सागरोवमसहस्सेहिं ऊणियं ताधे पढमसम्मत्तमुप्पादेदि। षट्खं १, ९-८, ५—पु. ६, पृ. २२२,

अन्तःकोटिकोटिसागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु बन्धमापद्यमानेषु विशुद्धिपरिणामवशात् सत्कर्मसु च ततः संख्येयसागरोपमसहस्रोनायामन्तःकोटिकोटिसागरोपमस्थितौ स्थापितेष प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवति। त. वा. २, ३, २।

× × ×

सो पुण पंचिंदिओ सण्णी मिच्छाइट्ठी पज्जत्तओ सव्वविसुद्धो।

षट्खं. १, ९-८, ४—पु. ६, पृ. २०६।

स पुनर्भव्यः पंचेन्द्रियः संज्ञी मिथ्यादृष्टिः पर्याप्तकः सर्वविशुद्धः प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयति। त. वा. २, ३, २।

वार्तिककार के सामने लोकानुयोग के भी कुछ प्राचीन ग्रन्थ रहे हैं। चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत १९वें सूत्र की व्यख्या करते हुए उनके द्वारा कल्पों की व्यवस्था में १४ इन्द्रों की प्ररूपणा की गई है। वहां उन्होंने यह कहा है कि ये जो यहाँ १४ इन्द्र कहे गये हैं वे लोकानुयोग के उपदेश के अनुसार कहे गये हैं। परन्तु यहाँ (तत्त्वार्थसूत्र में) वे १२ ही माने गये हैं। इसके अनुसार ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, महाशुक्र और सहस्रार ये चार इन्द्र दक्षिण इन्द्रों के अनुवर्ती हैं तथा आनत और प्राणत में एक-एक इन्द्र हैं[3]।

इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र की इस व्यख्या में प्रसंग के अनुसार अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा की गई है। ग्रन्थ भारतीय ज्ञानपीठ काशी से २ भागों में प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग अकषाय-वेदनीय, अकामनिर्जरा, अक्ष (आत्मा), अक्षम्रक्षण, अक्षीणमहानस और अगुरुलघु नामकर्म आदि शब्दों में हुआ है।

६३. लघीयस्त्रय—इसके रचयिता उक्त आचार्य अकलंक देव हैं। इसमें सब ७८ कारिकायें हैं। ग्रन्थ प्रत्यक्ष परिच्छेद, विषय परिच्छेद, परोक्ष परिच्छेद, आगम परिच्छेद, नयप्रवेश और प्रवचन-प्रवेश; इन छह परिच्छेदों में विभक्त है। इसमें प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रमाण, उनके विषय, अनेक भेदयुक्त नय और निक्षेप आदि का विवेचन किया गया है। इस पर स्वयं अकलंक देव के द्वारा विवृति, आचार्य प्रभाचन्द्र (विक्रम सं. १०३७-११२२, ई. ९८०-१०६५)[4] द्वारा विरचित विस्तृत न्यायकुमुदचन्द्र नाम की व्याख्या और अभयचन्द्र सूरि (विक्रम की १३-१४वीं शती) विरचित तात्पर्यवृत्ति टीका है। उक्त न्यायकुमुदचन्द्र व्याख्या के साथ मूल ग्रन्थ मा. दि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई से दो भागों में प्रकाशित हुआ है। तथा अभयचन्द्र विरचित वृत्ति के साथ भी वह उक्त संस्था द्वारा अलग से प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

---

१. सिद्धिविनिश्चय १, प्रस्तावना पृ. ४६ व ५५।

२. विशेष जानने के लिये देखिये अनेकान्त (वर्ष १९, किरण ५, पृ. ३२१-२५) में 'सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक पर षट्खण्डागम का प्रभाव' शीर्षक लेख।

३. त. वा. ४, १९, ८, पृ. २३३, पं. २१-२३।

४, सिद्धिविनिश्चय १, प्रस्तावना, पृ. ४१।

मूल—अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष, अनुमान, अभिरूढ और उपयोग आदि।

न्यायकु.—अनुयोग आदि।

तात्पर्यवृत्ति—अर्थक्रिया आदि।

६४. **न्यायविनिश्चय**—इसके रचयिता उक्त अकलंक देव हैं। इसमें तीन प्रकरण हैं—प्रत्यक्ष प्रस्ताव, अनुमान प्रस्ताव और प्रवचन प्रस्ताव। नामों के अनुसार इनमें क्रम से प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रवचन (आगम) प्रमाणों का ऊहापोहपूर्वक विचार किया गया है। समस्त कारिकाओं की संख्या ४८० है। यह मूलरूप में सिंघी जैन ग्रन्थमाला कलकत्ता द्वारा प्रकाशित 'अकलंकग्रन्थत्रय' में मुद्रित है तथा आ. वादिराज (विक्रम की ११वीं शताब्दी, ई. १०२५) द्वारा विरचित विवरण के साथ वह भारतीय ज्ञानपीठ काशी द्वारा दो भागों में प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग अनुमान, अन्वय और उपमान आदि शब्दों में हुआ है।

६५. **प्रमाणसंग्रह**—यह कृति भी उक्त अकलंक देव की है। इसमें प्रत्यक्ष, स्मृति आदि भेदों से युक्त परोक्ष, अनुमान व उसके अवयव, हेतु, हेत्वाभास, वाद, सर्वज्ञता और सप्तभंगी आदि विषयों की प्ररूपणा की गई है। सब कारिकायें ८७½ हैं। इस पर एक स्वोपज्ञ विवृति भी है जो कारिकाओं के अर्थ की पूरक है। यह अकलंकग्रन्थत्रय में सिंघी जैन ग्रन्थमाला कलकत्ता द्वारा प्रकाशित हो चुका है। इसका उपयोग अनुपलम्भ आदि शब्दों में हुआ है।

६६. **सिद्धिविनिश्चय**—इसके भी रचयिता उक्त आचार्य अकलंक देव हैं। इसमें निम्न लिखित १२ प्रस्ताव हैं—प्रत्यक्षसिद्धि, सविकल्पसिद्धि, प्रमाणान्तरसिद्धि, जीवसिद्धि, जल्पसिद्धि, हेतुलक्षणसिद्धि, शास्त्रार्थसिद्धि, सर्वज्ञसिद्धि, शब्दसिद्धि, अर्थनयसिद्धि, शब्दनयसिद्धि और निक्षेपसिद्धि। यह स्वोपज्ञ विवृति और आचार्य अनन्तवीर्य द्वारा विरचित टीका से सहित है। अनन्तवीर्य नाम के अनेक ग्रन्थकार हुए हैं। उनमें से प्रकृत टीका के रचयिता अनन्तवीर्य का समय पं. महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य के द्वारा ई. ९५०–९९० (वि. सं. १००७–१०४७) सिद्ध किया गया है[1]। इस टीका के साथ वह भारतीय ज्ञानपीठ काशी से दो भागों में प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग निम्न शब्दों में हुआ है—

मूल—अन्ययोगव्यवच्छेद और उपमान आदि।

टीका—अकिंचित्कर, अनैकान्तिक, अन्यथानुपपत्ति, अन्यथानुपपन्नत्व, अन्ययोगव्यवच्छेद, अयोगव्यवच्छेद, असिद्धहेत्वाभास और उपमान आदि।

६७. **पद्मपुराण**—इसे पद्मचरित भी कहा जाता है। यह आचार्य रविषेण के द्वारा महावीर निर्वाण के बाद बारह सौ तीन वर्ष और छह मास (१२०३½) के बीतने पर (वि. सं. ७३३ के लगभग) रचा गया है[2]। इसमें प्रमुखता से रामचन्द्र के जीवनवृत्त का निरूपण किया गया है रामचन्द्र की कथा इतनी रोचक रही है कि उसे थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ अनेक सम्प्रदायों ने अपनाया है। प्रकृत ग्रन्थ विविध घटनाओं व विषयविवेचन के अनुसार १२३ पर्वों में विभक्त है। यह मूल मात्र मा. दि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई से ३ भागों में प्रकाशित हुआ है तथा हिन्दी अनुवाद के साथ भी वह भा. ज्ञानपीठ काशी से ३ भागों में प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग अक्षौहिणी, अज, अधोलोक, अहिंसाणुव्रत और आक्षेपिणी कथा आदि शब्दों में हुआ है।

६८. **वरांगचरित**—इसके रचयिता आचार्य जटासिंहनन्दी हैं। इनका समय विक्रम की ८वीं शताब्दी है। प्रस्तुत ग्रन्थ ३१ सर्गों में विभक्त है। यह अनुष्टुप् व उपजाति आदि अनेक छन्दों में रचा गया है। इसमें उत्तमपुर के शासक भोजवंशी राजा धर्मसेन के पुत्र वरांग की कथा दी गई है। यथाप्रसंग वहां शुभाशुभ कर्म और उनके फल का विवेचन करते हुए मतान्तरों की समीक्षा भी की गई है।

---

१. सिद्धिविनिश्चय १, प्रस्तावना पृ. ८७.

२. पद्मपु. १२३–१८२.

यह मा. दि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग अधर्मद्रव्य, अनार्य, अस्तेयमहाव्रत, आकाश, आप्त, आर्य और ऋतु आदि शब्दों में हुआ है।

६९. **हरिवंशपुराण**—इसके रचयिता आचार्य जिनसेन प्रथम हैं जो पुन्नाटसंघ के रहे हैं। गुरु उनके कीर्तिषेण थे। इसका रचनाकाल शक सं. ७०५ (विक्रम सं. ८४०) है[1]। यह ६६ पर्वों में विभक्त है। इसमें हरिवंश को विभूषित करने वाले भगवान् नेमिनाथ व नारायण श्रीकृष्ण आदि का जीवनवृत्त है। प्रारम्भ में यहाँ मंगलाचरण के पश्चात् आचार्य समन्तभद्र, सिद्धसेन, देवनन्दी (पूज्यपाद), वज्रसूरि, महासेन, रविषेण, वरांगचरित के कर्ता जटासिंहनन्दी, शान्त, विशेषवादी, प्रभाचन्द्रके गुरु कुमारसेन, वीरसेन गुरु और पार्श्वाभ्युदय के कर्ता जिनसेन का स्मरण किया गया है[2]। तत्पश्चात् तीन केवली और पांच श्रुतकेवली आदि के नामों का उल्लेख करते हुए श्रुत की अविच्छिन्न परम्परा निर्दिष्ट की गई है[3]। सांठवें पर्व में श्रीकृष्ण के प्रश्न के अनुसार भगवान् नेमि जिनेन्द्र के मुख से तिरेसठ शलाकापुरुषों के चरित का भी निरूपण कराया गया है[4]। अन्तिम छयासठवें सर्ग में ग्रन्थ के कर्ता आचार्य जिनसेन ने अपनी परम्परा को प्रगट करते हुए इन आचार्यों का नामोल्लेख किया है—१ विनयंधर, २ गुप्तऋषि, ३ गुप्तश्रुति, ४ शिवगुप्त, ५ अर्हद्वलि, ६ मन्दरार्य, ७ मित्रवीरवि, ८ बलदेव, ९ मित्र, १० सिंहवल, ११ वीरवित्, १२ पद्मसेन, १३ व्याघ्रहस्तक, १४ नागहस्ती, १५ जितदण्ड, १६ नन्दिषेण, १७ प्रभुदीपसेन, १८ तपोधन धरसेन, १९ सुधर्मसेन, २० सिंहसेन, २१ सुनन्दिषेण (प्र.), २२ ईश्वरसेन, २३ सुनन्दिषेण (द्वि.) २४ अभयसेन, २५ सिद्धसेन, अभयसेन (द्वि.), २७ भीमसेन २८ जिनसेन, २९ शान्तिषेण, ३० जयसेन गुरु, ३१ उनके पुंनाट संघ के अग्रणी शिष्य अमितसेन—जिनके अग्रज कीर्तिषेण थे, और उनके प्रमुख शिष्य जिनसेन—प्रकृत ग्रन्थ के निर्माता।

यह मूल मात्र मा. दि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई द्वारा दो भागों में तथा हिन्दी अनुवाद के साथ भारतीय ज्ञानपीठ काशी द्वारा भी प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग अचौर्याणुव्रत, अज, अजीवविचय, अतिथिसंविभाग, अनाकांक्षक्रिया, अन्न-पाननिरोध, अपध्यान, अपायविचय और उपायविचय आदि शब्दों में हुआ है।

७०. **महापुराण**—यह वीरसेन स्वामी के शिष्य आचार्य जिनसेन द्वारा विरचित है। पं. नाथूरामजी प्रेमी ने आ. जिनसेन के समय का अनुमान शक सं. ६७५–७६५ (विक्रम सं. ८१०–९००) किया है[5]। आचार्य जिनसेन बहुश्रुत विद्वान् थे। प्रस्तुत महापुराण भारतीय ज्ञानपीठ काशी द्वारा तीन भागों में प्रकाशित किया गया है। इनमें से प्रथम दो भागों में भगवान् आदिनाथ के चरित का वर्णन है। इसीलिए यह आदिपुराण भी कहलाता है। तीसरे भाग में अजितादि शेष २३ तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों और नारायण-प्रतिनारायण आदि के चरित का कथन किया गया है। इसे उत्तरपुराण कहा जाता है। आचार्य जिनसेन इस समस्त महापुराण को पूरा नहीं कर सके। आदिपुराण में ४७ पर्व हैं, उनमें जिनसेन स्वामी के द्वारा ४२ पर्व पूर्ण और ४३वें पर्व के केवल ३ श्लोक ही रचे जा सके, तत्पश्चात् वे स्वर्गस्थ हो गये। तब उनकी इस अधूरी कृति को उनके शिष्य गुणभद्राचार्य ने पूरा किया है। इस प्रकार गुणभद्राचार्य के द्वारा आदिपुराण के शेष पांच पर्व तथा उत्तरपुराण के २९ (४८–७६) पर्व रचे गये हैं। जिनसेन के द्वारा इसके प्रारम्भ में अपने पूर्ववर्ती निम्न आचार्यों का स्मरण किया गया है—१ सिद्धसेन, २ समन्तभद्र, ३ श्रीदत्त, ४ यशोभद्र, ५ चन्द्रोदय के कर्ता प्रभाचन्द्र कवि, ६ आराधनाचतुष्टय के कर्ता शिवकोटि मुनि, ७ जटाचार्य, ८ काणभिक्षु, ९ देव (देवनन्दी), १० भट्टाकलंक, ११ श्रीपाल, १२ पात्रकेसरी, १३ वादिसिंह, १४ वीरसेन भट्टारक, १५ जयसेन गुरु और १६ कवि परमेश्वर। यह भारतीय

---

१. हरिवंशपु. ६६, ५२–५३.   २. सर्ग १, श्लोक २९–४०.

३. सर्ग १, श्लोक ५८-६५ (आगे ६६ सर्ग के २३–२४ श्लोकों में पुनः उसकी संक्षेप में सूचना की गई है)।   ४. श्लोक १३५–५७२.

५. जैन साहित्य और इतिहास, पृ. ५११–१२.

ज्ञानपीठ काशी द्वारा तीन भागों में प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग अणुव्रत, आध्यान, आर्हन्त्यक्रिया, इक्ष्वाकु, उपक्रम, उपदेशसम्यक्त्व और एकत्ववितर्कवीचार आदि शब्दों में हुआ है।

७१. **प्रमाणपरीक्षा**—इसके रचयिता आचार्य विद्यानन्द (विक्रम की ९वीं शताब्दी) हैं। इसमें सन्निकर्षादि को प्रमाण मानने वाले प्रवादियों के अभिमत की परीक्षा करते हुए उसका निराकरण किया गया है और स्वार्थव्यवसायात्मक सम्यग्ज्ञान को प्रमाण सिद्ध किया गया है। पश्चात् उस प्रमाण के प्रत्यक्ष व परोक्ष इन दो भेदों का निर्देश करके उनके उत्तर भेदों की भी प्ररूपणा करते हुए तद्विषयक मतान्तरों की समीक्षा भी की गई है।

यह आप्तमीमांसा के साथ में भारतीय जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था काशी द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग अवाय, ईहा और उपयोग आदि शब्दों में हुआ है।

७२. **तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक**—यह उक्त आचार्य विद्यानन्द द्वारा विरचित तत्त्वार्थसूत्र की विस्तृत व्याख्या है। रचनाकाल इसका ई. ८१० (वि. सं. ८६७) है। यहाँ सर्वप्रथम यह शंका उठाई गई है कि प्रवक्ताविशेष के अभाव में चूंकि किसी प्रतिपाद्यविशेष के प्रतिपित्सा (जिज्ञासा) सम्भव नहीं है, अतएव तत्त्वार्थशास्त्र का यह प्रथम सूत्र घटित नहीं होता है। इसके समाधान में कहा गया है कि जिसने समस्त तत्त्वार्थ को जान लिया है तथा जो कर्म-मल से रहित हो चुका है उसके मोक्षमार्ग के नेता सिद्ध हो जाने पर चूंकि प्रतिपित्सा असम्भव नहीं है, अतएव उक्त प्रथम सूत्र की प्रवृत्ति संगत ही है—असंगत नहीं है। इस प्रसंग में यहाँ आगमविषयक विभिन्न मान्यताओं का निराकरण करते हुए सर्वज्ञ-प्ररूपित आगम को प्रमाणभूत सिद्ध किया गया है। साथ ही अन्य प्रवादियों के द्वारा माने गये आप्त का निराकरण भी किया गया है।

इस प्रकार पूर्व पीठिकारूप से इतना विवेचन करके तत्पश्चात् क्रम से समस्त सूत्रों की तार्किक पद्धति से व्याख्या की गई है। यह रामचन्द्र नाथारंग गांधी वम्बई के द्वारा प्रकाशित कराया गया है। इसका उपयोग अण्डज, अदर्शनपरीषहजय, अधिकरणक्रिया और अनर्थक्रिया आदि शब्दों में हुआ है।

७३. **आत्मानुशासन**—गुणभद्राचार्य (विक्रम की ९-१०वीं शताब्दी) द्वारा विरचित यह एक उपदेशात्मक ग्रन्थ है। आत्महितैषी प्राणी आत्मा का उद्धार किस प्रकार से कर सकता है, इसकी शिक्षा यहाँ अनेक प्रकार से दी गई है। इसमें विविध छन्दों में २६९ श्लोक हैं। इसके ऊपर आचार्य प्रभाचन्द्र (विक्रम की १३वीं शताब्दी) विरचित एक संक्षिप्त संस्कृत टीका भी है। इस टीका के साथ मूल ग्रन्थ जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग अर्थ (सम्यक्त्वभेद), अवगाढ-सम्यक्त्व और आज्ञासम्यक्त्व आदि शब्दों में हुआ है।

७४. **धर्मसंग्रहणी**—इसके रचयिता हरिभद्र सूरि हैं। ये वहुश्रुत विद्वान् थे। इन्होंने प्राकृत और संस्कृत दोनों ही भाषाओं में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचे हैं। इसके अतिरिक्त वहुत से ग्रन्थों पर टीका भी लिखी है। इनके द्वारा विरचित अधिकांश ग्रन्थों के अन्त में 'विरह' शब्द उपलब्ध होता है। इनका समय विक्रम सं. ७५७ से ८२७ तक निश्चित किया गया है[1]। इनका आख्यान प्रभावकचरित (पृ. १०३–२३) में उपलब्ध होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ प्राकृत गाथाबद्ध है। गाथाओं का प्रमाण १३६९ है। लेखनपद्धति दार्शनिक है। यहाँ जीव को अनादिनिधन, अमूर्त, परिणामी, ज्ञायक, कर्ता और मिथ्यात्वादिकृत निज कर्म के फल का भोक्ता वतलाते हुए प्रथमतः उसके अस्तित्व को सिद्ध किया गया है। फिर उसकी परलोकगामिता के साथ नित्यता की भी सिद्धि की गई है। इसी क्रम से आगे उसकी परिणामिता, शरीरप्रमाणता, ज्ञातृत्व, कर्म-कर्तृता और कर्मफलभोक्तृत्व को भी सिद्ध किया गया है। आगे कर्म के स्वरूपादि और उसके मूर्तिमत्त्व का विचार करते हुए वाह्य अर्थ को सिद्ध किया गया है। तत्पश्चात् सम्यक्त्व, ज्ञान, वीत-रागता और सर्वज्ञता आदि का विवेचन करते हुए यथाप्रसंग अन्यान्य विषयों का भी विचार किया गया

१. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भा. ३, पृ. ३५९.

है। प्रकरणानुसार इसमें और श्रावकप्रज्ञप्ति में कितनी ही गाथाएँ समानरूप से उपलब्ध होती हैं। कुछ गाथायें समराच्चकहा में भी उपलब्ध होती हैं। यथाक्रम से मिलान कीजिये—

धर्मसंग्रहणी—६०७-२३, ७४४-४७, ७५२, ७५५-६३, ८००, ७८०(पू.), ७९६-८१४.

श्रावकप्रज्ञप्ति—१०-२६, २७-३०, ३२, ३४-४२, ४७, १०१(पू.), ४३-६१.

इसके ऊपर आचार्य मलयगिरि द्वारा टीका लिखी गई है। इस टीका के साथ ग्रन्थ देवचन्द्र लालभाई जैन साहित्योद्धार फण्ड बम्बई से प्रकाशित हुआ है। मूल मात्र पंचाशक आदि के साथ ऋषभदेव केशरीमल जी श्वे. संस्था रतलाम द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसकी टीका का उपयोग इन शब्दों में हुआ है—अनुमान, अन्तरायकर्म, आदेय नामकर्म, आयुकर्म और औपशमिकसम्यक्त्व आदि।

हरिभद्र सूरि के इन अन्य ग्रन्थों का भी प्रकृत लक्षणावली में उपयोग हुआ है—१ उपदेशपद, २ श्रावकप्रज्ञप्ति ३ धर्मबिन्दुप्रकरण, ४ पंचाशक, ५ षड्दर्शनसमुच्चय, ६ शास्त्रवार्तासमुच्चय, ७ षोडशकप्रकरण, ८ अष्टकानि, ९ योगदृष्टिसमुच्चय, १० योगबिन्दु, ११ योगविंशिका और १२ पंचवस्तुक।

७५. उपदेशपद—प्राकृत गाथाबद्ध यह उपदेशात्मक ग्रन्थ उक्त हरिभद्र सूरि के द्वारा रचा गया है। इसमें समस्त गाथायें १०३९ हैं। सर्वप्रथम यहाँ दो गाथाओं में ग्रन्थकार हरिभद्र सूरि ने भगवान् महावीर को नमस्कार करते हुए उनके उपदेश के अनुसार मन्दमति जनों के प्रबोधनार्थ कुछ उपदेशपदों के कहने की प्रतिज्ञा की है। टीकाकार मुनिचन्द्र सूरि ने 'उपदेशपदों' का अर्थ दो प्रकार से किया है—प्रथम अर्थ करते हुए उन्होंने उन्हें चार पुरुषार्थों में प्रधानभूत मोक्ष पुरुषार्थविषयक उपदेशों के पद—स्थानभूत मनुष्यजन्मदुर्लभत्व आदि—बतलाया है। तथा दूसरा अर्थ करते हुए 'उपदेश' और 'पद' दोनों में कर्मधारय समास स्वीकार कर उपदेशों को ही पद माना है। तदनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ में मनुष्य जन्म की दुर्लभता आदि अनेक कल्याणजनक विषयों की चर्चा की गई है, जो उपदेशात्मक वचनरूप ही है।

आगे कहा गया है कि संसाररूप समुद्र में मनुष्य पर्याय का प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। अतएव जिस किसी प्रकार से इसे पाकर आत्महितैषी जनों को उसका सदुपयोग करना चाहिए। उक्त मनुष्य-जन्म अत्यन्त दुर्लभ है, यह चोल्लक आदि के दृष्टान्तों द्वारा आ. भद्रबाहु आदि के द्वारा पूर्व में कहा गया है। तदनुसार मैं भी उन्हीं दृष्टान्तों को कहता हूँ। इस प्रकार कहकर—१ चोल्लक, २-३ पाशक, ४ द्यूत, ५ रत्न, ६ स्वप्न, ७ चक्र, ८ चर्म, ९ युग और १० परमाणु इन दस दृष्टान्तों का निर्देश करते हुए क्रम से उन दृष्टान्तों की पृथक्-पृथक् प्ररूपणा की गई है।

प्रथम दृष्टान्त चोल्लक का है। चोल्लक यह देशी शब्द है, जो भोजन का वाचक है। जिस प्रकार ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के यहाँ एक बार भोजन करके पुनः भोजन करना दुर्लभ हुआ, इसी प्रकार एक बार मनुष्य पर्याय को पाकर फिर उसका पुनः प्राप्त करना दुर्लभ है। इसकी कथा टीकाकार ने किन्हीं प्राचीन ५०५ गाथाओं द्वारा प्रगट की है।

उक्त दृष्टान्तों के अतिरिक्त अन्य भी कितने ही विषयों की प्ररूपणा अनेक दृष्टान्तों के साथ की गई है। ग्रन्थ का प्रकाशन मुनिचन्द्र विरचित (वि. सं. ११७४) उक्त टीका के साथ मुक्तिकमल जैन मोहनमाला बड़ौदा से हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अपवाद और औत्पत्तिकी आदि।

टीका—अनध्यवसाय, अनुमान और अपवाद आदि।

७६. श्रावकप्रज्ञप्ति—इसके रचयिता उक्त हरिभद्र सूरि हैं। यद्यपि उसकी कुछ हस्तलिखित प्रतियों में 'उमास्वातिविरचित' लिखा गया है, पर श्रावकधर्मपंचाशक, धर्मसंग्रहणी और समराइच्चकहा आदि ग्रन्थों के साथ तुलना करने पर वह हरिभद्र सूरि की ही कृति प्रतीत होती है[1]। यह बारह प्रकार

---

१. धर्मबिन्दु के टीकाकार मुनिचन्द्र सूरि ने वाचक उमास्वाति विरचित एक श्रावकप्रज्ञप्ति सूत्र का निर्देश किया है। जैसे—तथा च उमास्वातिवाचकविरचितश्रावकप्रज्ञप्तिसूत्रम्—यथा अतिथिसंविभागो नाम अतिथयः······। ध. वि. मुनि. वृ. ३-१९. (पर उमास्वाति विरचित कोई संस्कृत श्रावकप्रज्ञप्तिसूत्र उपलब्ध नहीं है।)

के श्रावकधर्म का प्ररूपक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। गाथासंख्या इसकी ४०१ है। इसमें प्रथमतः श्रावक के स्वरूप को प्रगट करते हुए कहा गया है कि जो सम्यग्दृष्टि प्रतिदिन मुनि जनों से सामाचारी—साधु और श्रावक से सम्बद्ध आचार को—सुनता है वह श्रावक कहलाता है। आगे श्रावक के बारह व्रतों का निर्देश करके उनका मूल कारण सम्यक्त्व को बतलाया है। पश्चात् जीव के साथ अनादि से सम्बन्ध को प्राप्त हुए ज्ञानावरणादि कर्मों का निरूपण करते हुए वहाँ सम्यक्त्व और उसके विषयभूत जीवादि सात तत्त्वों का विवेचन किया गया है। फिर क्रम से श्रावक के बारह व्रतों की प्ररूपणा करते हुए स्थूल प्राणवध-विरमण (प्रथम अणुव्रत) के प्रसंग में हिंसा-अहिंसा की विस्तार से (गा. १०६-२५६) चर्चा की गई है। अन्त में श्रावक के निवास आदि से सम्बद्ध सामाचारी आदि का विवेचन किया गया है।

कुछ गाथाएँ यहाँ और समराइच्चकहा में समान रूप से उपलब्ध होती हैं। जैसे—

श्रा. प्र. ५३-६० व ३६०-६१ आदि।

सम. क. ७४-८१ व ८२-८३ आदि।

इस पर 'दिक्प्रदा' नाम की स्वोपज्ञ टीका है। इस टीका के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ ज्ञानप्रसारकमण्डल नामक समाज बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अणुव्रत, अतिथिसंविभाग, आस्रव और औपशमिक सम्यक्त्व आदि।

टीका—अणुव्रत, अतिचार, अतिथि, अधोदिग्व्रत, अनङ्गक्रीडा, अनन्तानुबन्धी, अनर्थदण्डविरति, अन्तराय, आयु, आरम्भ, इत्वरपरिगृहीतागमन और ऊर्ध्वदिग्व्रत आदि।

७७. **धर्मबिन्दुप्रकरण**—यह हरिभद्र सूरि विरचित धर्म का प्ररूपक सूत्रात्मक ग्रन्थ है। इसमें आठ अध्याय हैं। गद्यात्मक समस्त सूत्रों की संख्या ५४२ और श्लोक (अनुष्टुप्) संख्या ४८ है। ये श्लोक प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ में ३-३ और अन्त में भी ३-३ ही हैं। प्रथम अध्याय को प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम यहाँ परमात्मा को नमस्कार करके श्रुत-समुद्र से जलबिन्दु के समान धर्मबिन्दु को उद्धृत करके उसके कहने की प्रतिज्ञा की गई है। पश्चात् धर्म के स्वरूप का निर्देश करते हुए उसे गृहस्थ और यति के भेद से दो प्रकार का बतलाया है। फिर सामान्य और विशेषरूप से गृहस्थधर्म के भी दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। उनमें सामान्य गृहस्थधर्म का वर्णन करते हुए प्रथमतः न्यायोपार्जित धन को आवश्यक बतलाया है, तत्पश्चात् समानकुल-शीलादि वाले अगोत्रजों (भिन्न गोत्र वालों) में विवाह आदि ३३ प्रकार के सामान्य धर्म का निर्देश करते हुए इस अध्याय को समाप्त किया गया है।

हेमचन्द्र सूरि ने सम्भवतः इसी का अनुसरण करके 'न्यायविभवसम्पन्न' आदि ३५ विशेषणों से विशिष्ट गृहस्थ को श्रावकधर्म का अधिकारी बतलाया है[1]।

आगे दूसरे अध्याय में गृहस्थधर्मदेशना की विधि का निरूपण करते हुए तीसरे अध्याय में अणुव्रतादिरूप विशेष गृहस्थधर्म की प्ररूपणा की गई है। चतुर्थ अध्याय में दीक्षा के अधिकारी का विचार करते हुए उसके लिए आर्यदेशोत्पन्न आदि १६ विशेषणों से विशिष्ट बतलाया गया है। पांचवें अध्याय में यति की विशेष विधि का वर्णन करते हुए छठे अध्याय में यतिधर्म के विषयविभाग का विवेचन किया गया है। सातवें अध्याय में धर्म के फल और आठवें अध्याय में परम्परा से तीर्थंकरत्व आदि की प्राप्ति का वर्णन किया गया है।

इसके ऊपर मुनिचन्द्र सूरि के द्वारा विक्रम सं. ११८१ में टीका लिखी गई है। इस टीका के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ आगमोदय समिति बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अणुव्रत और इन्द्रियजय आदि।

टीका—अतिथि, अतिथिसंविभाग, अनर्थदण्डविरति, अनङ्गक्रीडा और अन्न-पाननिरोध आदि।

७८. **पंचाशक**—इसमें १९ पंचाशक (लगभग ५०-५० गाथायुक्त प्रकरण) और उनकी समस्त गाथासंख्या ९४० है। प्रथम पंचाशकका नाम श्रावकधर्मपंचाशक है। इसमें सम्यक्त्व के साथ श्रावक के १२

---

१. योगशास्त्र १, ४७-५६.

व्रतों की चर्चा की गई है। इसे श्रावकप्रज्ञप्तिका संक्षिप्त रूप समझना चाहिए। शेष दूसरे-तीसरे आदि पंचाशकों के नाम ये हैं—

२ दीक्षापंचाशक, ३ वन्दनापंचाशक, ४ पूजाप्रकरण, ५ प्रत्याख्यानपंचाशक, ६ स्तवनविधि, ७ जिनभवनकरणविधि, ८ प्रतिष्ठाविधि, ९ यात्राविधि, १० श्रमणोपासकप्रतिमाविधि, ११ साधुधर्म-विधि, १२ सामाचारी, १३ पिण्डविशुद्धि, १४ शीलांग, १५ आलोचनाविधि, १६ प्रायश्चित्त, १७ स्थित्यादिकल्प, १८ भिक्षुप्रतिमा और १९ तपोविधान।

इसके ऊपर अभयदेव सूरि के द्वारा विक्रम सं. ११२४ में टीका लिखी गई है, पर वह हमें उपलब्ध नहीं हो सकी। मूल ग्रन्थ ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वे. संस्था रतलाम से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग अब्रह्मवर्जन आदि शब्दों में हुआ है।

७९. **षड्दर्शनसमुच्चय**—इसमें ८७ श्लोक (अनुष्टुप्) है। देवता और तत्त्व के भेद से मूल में हरिभद्र सूरि की दृष्टि में ये छह दर्शन रहे हैं—बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक और जैमिनीय। ग्रन्थकार को यहाँ इन्हीं छह दर्शनों का परिचय कराना अभीष्ट रहा है। तदनुसार उन्होंने प्रथमतः ११ श्लोकों में बौद्ध दर्शन का, फिर १२-३२ में नैयायिक दर्शन का ३३-४३ में सांख्य दर्शन का, ४४-५८ में जैन दर्शन का, ५९-६७ में वैशेषिक दर्शन का और ६८-७७ में जैमिनीय दर्शन का परिचय कराया है। वैशेषिक दर्शन का परिचय कराते हुए प्रारम्भ में यह कहा गया है कि देवता की अपेक्षा नैयायिक दर्शन से वैशेषिक दर्शन में कुछ भेद नहीं है—दोनों ही दर्शनों में महेश्वर को सृष्टिकर्ता व संहारक स्वीकार किया गया है। तत्त्वव्यवस्था में जो उनमें भेद रहा है उसे यहाँ प्रगट कर दिया गया है।

कितने ही दार्शनिक नैयायिक दर्शन से वैशेषिक दर्शन को भिन्न नहीं मानते—वे दोनों दर्शनों को एक ही दर्शन के अन्तर्गत मानते हैं। इस प्रकार वे पूर्वनिर्दिष्ट पाँच आस्तिक दर्शनों में एक नास्तिक दर्शन लोकायत (चार्वाक) को सम्मिलित कर छह संख्या की पूर्ति करते हैं (७८-७९)। तदनुसार यहाँ अन्त में (८०-८७) लोकायत दर्शन का भी परिचय करा दिया गया है।

यह विशेष स्मरणीय है कि यहाँ किसी भी दर्शन की आलोचना नहीं की गई है, केवल उक्त दर्शनों में किसकी क्या मान्यताएं रही हैं, इसका परिचय मात्र यहाँ कराया गया है।

इसके ऊपर गुणरत्न सूरि (विक्रम सं. १४००-१४७५) के द्वारा विरचित तर्करहस्यदीपिका नाम की विस्तृत टीका है। इस टीका के साथ वह एशियाटिक सोसाइटी ५७, पार्क स्टीट से प्रकाशित हुआ है। मूल मात्र शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि के साथ जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अजीव और आश्रव आदि।

टीका—अनुमान और आप्त आदि।

८०. **शास्त्रवार्तासमुच्चय**—यह एक पद्यबद्ध दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमें ८ स्तव (प्रकरण) हैं। उनमें पद्य (अनुष्टुप्) संख्या इस प्रकार है—११२+८१+४४+१३७+३९+६३+६६+१५९=७०१। यहाँ लोकायत मत, नियतिवाद, सृष्टिकर्तृत्व, क्षणक्षयित्व, विज्ञानवाद, शून्यवाद, द्वैत, अद्वैत और मुक्ति आदि अनेक विषयों का विचार किया गया है। सातवें स्तव के प्रारम्भ में कहा गया है कि आगम के अध्येता अन्य (जैन) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त जीवाजीवस्वरूप जगत् को अनादि कहते हैं। ऐसा कहते हुए आगे उक्त उत्पादादियुक्त वस्तु की साधक जो दो कारिकायें दी गई हैं वे आप्तमीमांसा से ली गई हैं[1]।

---

१. घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पाद-स्थितिष्वयम्।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥
पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम्॥
—शास्त्रवा. ७, २-३; आप्तमी. ५९-६०।

इसके ऊपर यशोविजय उपाध्याय (विक्रम की १७-१८वीं शताब्दी) विरचित टीका है। इस टीका के साथ वह देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड बम्बई से तथा मूल मात्र जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

टीका—अतीर्थकरसिद्ध, अदत्तादान, अध्येषणा और अनेकसिद्ध आदि।

८१. **षोडशकप्रकरण**—इसमें नाम के अनुसार १६-१६ पद्यों के १६ प्रकरण हैं, जो आर्या छन्द में रचे गये हैं। इनमें प्रथम षोडशक को प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम वीर जिनको नमस्कार कर सद्धर्मपरीक्षक आदि—बाल, मध्यमबुद्धि और बुध आदि—भावों के लिंग आदि के भेद से संक्षेप में कुछ कहने की प्रतिज्ञा की गई है। कृत प्रतिज्ञा के अनुसार आगे कहा गया है कि बाल—विशिष्ट विवेक से विकल—तो लिंग (बाह्य वेष) को देखता है, मध्यमबुद्धि चारित्र का विचार करता है, और बुध (विशिष्ट बुद्धिमान्) प्रयत्नपूर्वक आगम तत्त्व की—उसकी समीचीनता व असमीचीनता की—परीक्षा करता है। आगे उक्त बाल आदि के लक्षण निर्दिष्ट किये गये हैं। इस प्रकार से इन सब प्रकरणों में विविध विषयों का विवेचन किया गया है।

इस पर यशोभद्र सूरि विरचित संक्षिप्त टीका है। इस टीका के साथ वह ऋषभदेव जी केशरीमल जी जैन श्वे. संस्था रतलाम से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अगुरुलघु और आगम आदि।

टीका—अनुबन्धसारा, असदारम्भ और उद्वेग आदि।

८२. **अष्टकानि**—इसमें ८-८ श्लोकमय ३२ प्रकरण हैं, जो इस प्रकार हैं—१ महादेवाष्टक, २ स्नानाष्टक, ३ पूजाष्टक, ४ अग्निकारिकाष्टक, ५ भिक्षाष्टक, ६ पिण्डाष्टक, ७ प्रच्छन्नभोजनाष्टक, ८ प्रत्याख्यानाष्टक, ९ ज्ञानाष्टक, १० वैराग्याष्टक, ११ तपोऽष्टक, १२ पादाष्टक, १३ यमाष्टक, १४ नित्यात्मवादनिराकरणाष्टक, १५ क्षणिकवादनिराकरणाष्टक, १६ नित्यानित्याष्टक, १७ मांसभक्षणदूषणाष्टक, १८ अन्यदर्शनीयशास्त्रोक्तमांसभक्षणदूषणाष्टक, १९ मद्यपानदूषणाष्टक, २० मैथुनदूषणाष्टक, २१ सूक्ष्मबुद्धयष्टक, २२ भावशुद्धयष्टक, २३ शासनमालिन्यवर्जनाष्टक, २४ पुण्यादिचतुर्भंग्याष्टक, २५ पितृभक्त्यष्टक, २६ महादानस्थापनाष्टक, २७ तीर्थकृद्दानाष्टक, २८ राज्यादिदानदूषणनिवारणाष्टक, २९ सामायिकाष्टक, ३० केवलज्ञानाष्टक, ३१ देशनाष्टक और ३२ सिद्धस्वरूपाष्टक।

यह अष्टक प्रकरण शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि के साथ जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग आर्तध्यान आदि शब्दों में हुआ है।

८३. **योगदृष्टिसमुच्चय**—इसमें २२६ श्लोक (अनुष्टुप्) हैं। इच्छायोग, शास्त्र और सामर्थ्य योग के भेद से योग तीन प्रकार का है। इनमें सामर्थ्ययोग दो प्रकार का है—धर्मसंन्याससंज्ञित और योगसंन्याससंज्ञित। इन सब योगों के लक्षणों का निर्देश करते हुए यहां मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा इन आठ योगदृष्टियों का यथाक्रम से विवेचन किया गया है। इसके ऊपर स्वयं हरिभद्र सूरि के द्वारा वृत्ति भी लिखी गई है। इस वृत्ति के साथ वह जैन ग्रन्थ प्रकाशक संस्था अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग 'इच्छायोग' आदि शब्दों में हुआ है।

८४. **योगबिन्दु**—इसमें ५२७ पद्य (अनुष्टप्) हैं। यहां योग से सम्बद्ध विविध विषयों की प्ररूपणा करते हुए जैमिनीय व सांख्य आदि के अभिमत का निराकरण भी किया गया है। इसके ऊपर भी स्वोपज्ञ वृत्ति है। वृत्ति के साथ यह भी पूर्वोक्त जैन ग्रन्थ प्रकाशक संस्था अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित किया गया है।

८५. **योगविंशिका**—नाम के अनुसार इसमें २० गाथायें हैं। सर्वप्रथम यहाँ योग के स्वरूप का निर्देश करते हुए कहा गया है कि जो परिशुद्ध धर्मव्यापार मोक्ष से योजित कराता है उस सबको योग कहा जाता है। पर प्रकृत में विशेषरूप से स्थानादिगत धर्मव्यापार को ही योग जानना चाहिए। वे स्थान आदि पांच ये हैं—स्थान, उर्ण (शब्द), अर्थ, आलम्बन और रहित—रूपी द्रव्य के आलम्बन

से रहित चिन्मात्र समाधि। इनमें प्रथम दो—स्थान और ऊर्ण—कर्मयोग हैं तथा शेष तीन ज्ञानयोग हैं। स्थान से अभिप्राय कायोत्सर्ग व पद्मासन आदि का है, तथा अर्थ से अभिप्राय क्रिया आदि में उच्चारण किये जाने वाले सूत्र के वर्णादि से है। उक्त स्थानादि में प्रत्येक इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिर और सिद्धि के भेद से चार-चार प्रकार का है। इन सबका यहाँ वर्णन किया गया है।

इस पर यशोविजय उपाध्याय द्वारा ग्रन्थ के रहस्य को स्पष्ट करने वाली विस्तृत टीका लिखी गई है। इस टीका के साथ ग्रन्थ आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल आगरा से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इच्छायोग आदि शब्दों में हुआ है।

८६. **पंचवस्तुक**—इसकी गाथासंख्या १७१४ है। इसमें प्रव्रज्या का विधान, प्रतिदिन की की क्रिया—दैनिक अनुष्ठान, व्रतविषयकप्रस्थापना, अनुयोग-गणानुज्ञा और संलेखना इन पांच वस्तुओं की प्ररूपणा की गई है। इसीलिए उक्त पांच प्रकरणों का प्ररूपक होने से इसे पंचवस्तुक ग्रन्थ कहा गया है। 'वसन्त्यस्मिन् ज्ञानादयः परमगुणाः इति वस्तु' इस निरुक्ति के अनुसार जहाँ ज्ञानादि उत्कृष्ट गुण रहा करते हैं उन्हें वस्तु कहा जाता है। इन्हीं ज्ञानादि गुणों के आश्रयभूत होने से ही उक्त प्रव्रज्या-विधानादि को वस्तु मानकर उनकी यहाँ प्ररूपणा की गई है।

प्रथम प्रव्रज्या अधिकार में प्रव्रज्या देने का अधिकारी कौन है, किनके लिए प्रव्रज्या देना उचित है, वह किस स्थान में दी जानी चाहिये, तथा किस प्रकार से दी जानी चाहिये; इत्यादि प्रव्रज्या से सम्बद्ध विषयों की चर्चा की गई है। प्रव्रज्या का निरुक्त्यर्थ है मोक्ष के प्रति गमन। तदनुसार इसमें पाप के हेतुभूत गृहस्थ के व्यापार से निवृत्त होकर शुद्ध संयत के अनुष्ठान में उद्यत होना पड़ता है।

दूसरे अधिकार (प्रतिदिन की क्रिया) में उपधिका प्रतिलेखन, स्थान का प्रतिलेखन, भोजनपात्रों का प्रक्षालन, भिक्षा की विधि, नृत्यादि का त्याग और स्वाध्याय इत्यादि का विवेचन किया गया है।

तीसरे व्रतविषयक स्थापना अधिकार के प्रारम्भ में यह निर्देश किया गया है कि संसारनाश के कारण व्रत हैं। वे व्रत जिनको दिये जाते हैं, जिस प्रकार से दिये जाते हैं, और जिस प्रकार से उनका परिपालन किया जाता है; इस सबका कथन इस अधिकार में किया जावेगा। अविरति से चूंकि कर्म का आस्रव होता है और उस कर्म से संसार है—चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण होता है; इसलिए कर्म को नष्ट करने के लिए विरति करना चाहिये। इस प्रकार निर्देश करते हुए अहिंसादि व्रतों का यहां सांगोपांग विचार किया गया है। इस अधिकार के अन्त में चारित्र की प्रधानता को प्रगट करते हुए मरुदेवी के प्रसंग से अनन्त काल में होने वाले इन दस आश्चर्यरूप भावों का निर्देश किया गया है—१ उपसर्ग, २ गर्भहरण, ३ स्त्रीतीर्थ, ४ अभव्या परिषत्, ५ कृष्ण का अमरकंका गमन, ६ विमान के साथ चन्द्र-सूर्य का अवतरण, ७ हरिवंश कुल की उत्पत्ति, ८ चमरेन्द्र का उत्पात, ९ एक समय में एक सौ आठ की सिद्धि (मुक्ति) और १० असंयतों की पूजा[1]।

चतुर्थ अनुयोग—गणानुज्ञा अधिकार में प्रथमतः यह कहा गया है कि जो साधु व्रतों से सहित होते हुए समयोचित समस्त सूत्रार्थ के ज्ञाता हैं वे ही आचार्यस्थापनारूप अनुयोग आज्ञा के योग्य कहे गये हैं। अन्यथा लोक में मृषावाद, प्रवचन-निन्दा, योग्य नायक के अभाव में शेष के गुणों की हानि और तीर्थ का नाश होनेवाला है। अनुयोग का अर्थ जिनागम का व्याख्यान है। सदा प्रमाद से रहित होकर विधिपूर्वक उस व्याख्यान को करना, यही उसकी अनुज्ञा है। इस प्रकार सूचना करके तत्सम्बन्धी आवश्यक विधि-विधान का यहां विवेचन किया गया है। आगे गणानुज्ञा के प्रसंग में गण (गच्छ) के अधिष्ठाता होने के योग्य गुणों का निर्देश करते हुए उसके विषय में भी विचार किया गया है।

---

१. उवसग्ग गब्भहरणं इत्थीतित्थं अभाविआ परिसा।
कण्हस्स अवरकंका अवयरणं चंद-सूराणं ॥ ९२६ ॥
हरिवंसकुलुप्पत्ती चमरुप्पाओ अ अट्ठसय सिद्धा।
अस्संजयाण पूआ दस वि अणंतेण कालेणं ॥ ९२७ ॥

शरीर और कषायों का संलेखन करना—आगमोक्त विधि के अनुसार उन्हें कृश करना, इसका नाम संलेखना है। इसका वर्णन अन्तिम संलेखना अधिकार में किया गया है।

इसके ऊपर स्वयं हरिभद्र सूरि के द्वारा टीका (स्वोपज्ञ) लिखी गई है। इस टीका के साथ वह देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग आरभटा और इत्वरपरिहारविशुद्धिक आदि शब्दों में हुआ है।

८७. **तत्त्वार्थसूत्रवृत्ति**—यह उक्त हरिभद्र सूरि द्वारा विरचित तत्त्वार्थसूत्र की भाष्यानुसारिणी व्याख्या है। इसमें मूल सूत्रों की भाष्य के अनुसार व्याख्या करते हुए कितने ही महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा की गई है। इसका उपयोग अकामनिर्जरा, अङ्गोपाङ्गनामकर्म, अचक्षुदर्शन, अज्ञानपरीषहजय और अतिभारारोपण आदि शब्दों में हुआ है।

८८. **भावसंग्रह**—यह आचार्य देवसेन के द्वारा रचा गया है। देवसेन का समय विक्रम की १०वीं शताब्दी है। ये विमलसेन गणधर के शिष्य थे। उन्होंने वि. सं. ९९० में दर्शनसार की रचना की है। प्रस्तुत ग्रन्थ प्राकृत गाथाओं में रचा गया है। बीच में कुछ थोड़े से अन्य छन्दों का भी उपयोग हुआ है। समस्त पद्यसंख्या ७०१ है।

यहां प्रथमतः जीव के मुक्त और संसारी इन दो भेदों का निर्देश करते हुए भाव से पाप, भाव से पुण्य और भाव से मोक्ष प्राप्त होने की सूचना की गई है। तत्पश्चात् औदयिकादि पांच भावों का निर्देश करके मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थानों के नामोल्लेखपूर्वक क्रम से उनकी प्ररूपणा की गई है। प्रथम गुणस्थान के प्रसंग में मिथ्यात्व का विवेचन करते हुए सग्रन्थ और निर्ग्रन्थ को मुक्ति बतलाने वाले श्वेताम्बर सम्प्रदाय की समीक्षा की गई है। इस समीक्षा में सग्रन्थता, स्त्रीमुक्ति, केवलिभुक्ति, जिनकल्प और स्थविरकल्प आदि की चर्चा की गई है। इसी प्रसंग में श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि विक्रमराजा की मृत्यु के पश्चात् १३६वें वर्ष में सौराष्ट्र के अन्तर्गत वलभी में श्वेतपट संघ उत्पन्न हुआ। इस प्रकार उक्त चर्चा से सम्बद्ध संशयमिथ्यात्व की प्ररूपणा १६०वीं गाथा में समाप्त हुई है। आगे अनेक प्रासंगिक चर्चाओं के साथ यहां उक्त चौदह गुणस्थानों का निरूपण किया गया है।

ग्रन्थ मा. दि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग अनिवृत्तिकरण गुणस्थान, अप्रमत्तसंयत, अविरतसम्यग्दृष्टि और उपशमसम्यक्त्व आदि शब्दों में हुआ है।

८९. **आलापपद्धति**—इसके कर्ता उक्त देवसेनाचार्य हैं। यहां प्रथमतः द्रव्य के लक्षण का निर्देश करते हुए अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व और अमूर्तत्व इन दस सामान्य गुणों में से प्रत्येक द्रव्य के वे आठ-आठ बतलाये गये हैं। प्रारम्भ के छह गुण तो सभी में रहते हैं। चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व और अमूर्तत्व इन चार में से कोई दो ही रह सकते हैं। जैसे—जीव में पूर्वोक्त छह के साथ चेतनत्व और अमूर्तत्व हैं तथा पुद्गल में अचेतनत्व और मूर्तत्व हैं।

विशेष गुण सोलह हैं। उनमें से प्रत्येक द्रव्य में कितने और कौन से सम्भव हैं, इसका विचार करते हुए पर्यायों के स्वरूप और उनके भेदों का विवेचन किया गया है। इसके पश्चात् द्रव्यों के इक्कीस स्वभावों में से ग्यारह सामान्य और दस विशेष स्वभावों का विश्लेषण करते हुए वे जीवादि द्रव्यों में से किसके कितने सम्भव हैं, इसका विचार किया गया है। तत्पश्चात् प्रमाणभेदों और नयभेदों की चर्चा की गई है।

इसका प्रकाशन नयचक्र के साथ मा. दि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई से और प्रथम गुच्छक में निर्णयसागर मुद्रणालय से हुआ है। इसका उपयोग अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय और अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनय आदि शब्दों में हुआ है।

९०. **तच्चसार(तत्त्वसार)**—यह भी उक्त देवसेनाचार्य की कृति है। इसमें ७४ गाथायें हैं। सर्वप्रथम यहां परमसिद्धों को नमस्कार कर तच्चसार के कहने की प्रतिज्ञा की गई है। पश्चात् यह कहा गया है कि तत्त्व बहुत प्रकार का है, उसका वर्णन पूर्वाचार्यों द्वारा धर्म के प्रवर्तन और भव्य जनों के

प्रबोधनार्थ किया गया है। एक तत्त्व स्वगत है और दूसरा परगत। स्वगत तत्त्व निज आत्मा और परगत तत्त्व पाँचों परमेष्ठी हैं। उन परमेष्ठियों के अक्षर रूप का—उनके बोधक अ, सि, आ, उ, सा व ओम् आदि अक्षरों का—ध्यान करने वाले भव्य मनुष्यों के बहुत प्रकार के पुण्य का बन्ध होता है और परम्परा से मोक्ष भी प्राप्त होता है।

स्वगत तत्त्व दो प्रकार का है—सविकल्प और अविकल्प। इनमें सविकल्प स्वगत तत्त्व आस्रव-युक्त है और अविकल्प स्वगत तत्त्व उस आस्रव से रहित है। इन्द्रियविषयों से विमुख हो जाने पर जब मन का विच्छेद हो जाता है तब अपने स्वरूप में निर्विकल्प अवस्था होती है। इस प्रकार से शुद्ध आत्म-स्वरूप का विचार करते हुए ध्यान करने की प्रेरणा की गई है। इसी प्रसंग में स्वद्रव्य और परद्रव्य का विचार करते हुए ज्ञानी और अज्ञानी की प्रवृत्ति में विशेषता प्रगट की गई है।

यह मा. दि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई द्वारा तत्त्वानुशासनादिसंग्रह में प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग आत्मा (अप्पा) आदि शब्दों में हुआ है।

९१. **नयचक्र**—इसके रचयिता उक्त देवसेन हैं। बृहन्नयचक्र को लक्ष्य में रखकर इसे लघुनय-चक्र भी कहा जाता है। इसमें ८७ गाथायें हैं। सर्वप्रथम यहाँ वीर जिनेन्द्र को नमस्कार करते हुए नयों के लक्षण के कहने की प्रतिज्ञा की गई है। आगे नय के लक्षण में कहा गया है कि ज्ञानियों के विकल्परूप जो वस्तु के अंश को ग्रहण करने वाला श्रुतभेद है उसे नय कहा जाता है तथा उन्हीं नयों के आश्रय से जीव ज्ञानी होता है। नय के बिना चूंकि स्याद्वाद का बोध सम्भव नहीं है, अतएव एकान्त को नष्ट करने के अभिप्राय से नय का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इस प्रकार नय की आवश्यकता को प्रगट करते हुए आगे कहा गया है कि एक नय एकान्त और उसके समूह का नाम अनेकान्त है तथा वह ज्ञान का विकल्प है जो समीचीन भी होता है और मिथ्या भी होता है। नयरूप दृष्टि के बिना वस्तुस्वरूप की उपलब्धि नहीं होती और बिना वस्तुस्वरूप की उपलब्धि के जीव सम्यग्दृष्टि नहीं होते।

इसके पश्चात् द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो नयों को मूल नय बतलाते हुए उनके असंख्य भेदों की सूचना की गई है। आगे इन दो नयों के साथ नैगमादि सात नयों का निर्देश करके नय के नौ भेद और उपनय के तीन भेद कहे गये हैं।

आगे द्रव्यार्थिक के दस, पर्यायार्थिक के छह, नैगम के तीन, संग्रह के दो, व्यवहार के दो, ऋजु-सूत्र के दो तथा शेष के एक-एक भेद का निर्देश करते हुए यथाक्रम से उनकी तथा उपनयभेदों की प्ररूपणा की गई है।

अन्त में कहा गया है कि व्यवहार से चूंकि बन्ध होता है और मोक्ष चूंकि स्वभावसंयुक्त है, अत-एव स्वभाव के आराधन के समय में उसे (व्यवहार को) गौण करना चाहिए। इस प्रकार से यहाँ आत्म-स्वभाव का भी विचार किया गया है।

इसका प्रकाशन मा. दि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई से हुआ है। इसका उपयोग उत्पाद-व्ययसापेक्ष, अशुद्धद्रव्यार्थिक, ऋजुसूत्र और एवम्भूत आदि शब्दों में हुआ है।

९२. **आराधनासार**—यह कृति भी उक्त देवसेनाचार्य की है। इसमें ११५ गाथायें हैं। यहाँ सर्वप्रथम महावीर को नमस्कार कर आराधनासार के कहने की प्रतिज्ञा की गई है। पश्चात् तप, दर्शन, ज्ञान और चारित्र के समुदाय को आराधनासार बतलाते हुए उसे व्यवहार और परमार्थ (निश्चय) के भेद से दो प्रकार कहा गया है। व्यवहार से आराधनाचतुष्टय का सार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र और तप को कहा गया है। आगे उक्त सम्यग्दर्शनादि के व्यवहार की प्रधानता से लक्षणों का निर्देश करके निश्चय आराधनाचतुष्टय के सार को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि शुद्ध नय की अपेक्षा सम्पूर्ण संकल्प-विकल्पों से रहित जो निरालम्ब शुद्ध आत्मा है वही आराधनाचतुष्टय का सार है। इस निश्चय आराधना में उद्यत क्षपक इन्द्रियविषयों से विमुख होकर अपने स्वभाव का ही श्रद्धान करता है, अपने शुद्ध आत्मा को जानता है, और उसी का अनुष्ठान करता है। इस निश्चयदृष्टि में—दर्शन, ज्ञान,

चारित्र एवं तप ही आत्मा है और राग-द्वेषादि से रहित उसी शुद्ध आत्मा के आराधना की प्रेरणा की गई है।

आगे आराधक (क्षपक) की विशेषता को प्रगट करते हुए कहा गया है कि भेदगत (व्यवहाररूप) चार प्रकार की आराधना भी मोक्ष की साधक है। इस प्रकार व्यवहार आराधना को महत्त्वपूर्ण बतलाते हुए अर्ह, संगत्याग, कषायसल्लेखना, परीषहजय, उपसर्ग सहने का सामर्थ्य, इन्द्रियजय और मन का नियमन इन सात स्थलों के द्वारा दीर्घकालसंचित कर्मों को नष्ट करने के लिए प्रेरित किया गया है।

अन्त में जिन मुनीन्द्रों के द्वारा आराधनासार का उपदेश किया गया है तथा जिन्होंने उसका आराधन किया है उन सबकी वन्दना करते हुए कहा गया है कि मैं न तो कवि हूँ और न छन्द के लक्षण को भी कुछ जानता हूँ। मैंने तो निज भावना के निमित्त आराधनासार को रचा है। अन्तिम गाथा में अपने नाम का निर्देश करते हुए कहा गया है कि यदि इसमें कुछ प्रवचनविरुद्ध कहा गया हो तो उसे मुनीन्द्र जन शुद्ध कर लें।

इसके ऊपर क्षेमकीर्ति के शिष्य रत्नकीर्ति (विक्रम की १५वीं शती) के द्वारा टीका लिखी गई है। इस टीका के साथ वह मा. दि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—आराधक आदि।

टीका—आस्रव और उपशम आदि।

९३ **पंचसंग्रह**—इसके रचयिता चन्द्रर्षि महत्तर हैं। इनका समय निश्चित नहीं है। सम्भवतः वे विक्रम की १०-११वीं शताब्दी के विद्वान् होना चाहिए। प्रस्तुत ग्रन्थ दो विभागों में विभक्त है। यहाँ सर्वप्रथम वीर जिन को नमस्कार करके पंचसंग्रह के कहने की प्रतिज्ञा की गई है। 'पंचसंग्रह' इस नाम की सार्थकता को प्रगट करते हुए कहा गया है कि इसमें चूंकि यथायोग्य शतक आदि पांच ग्रन्थों का अथवा पांच द्वारों का संक्षेप (संग्रह) किया गया है, इसीलिए इसका 'पंचसंग्रह' यह सार्थक नाम है। वे पांच द्वार ये हैं—जीवस्थानों में योगों व उपयोगों का मार्गण (अन्वेषण), बन्धक, बन्धव्य—बांधने योग्य कर्म, बन्धहेतु और बन्धभेद। इनकी प्ररूपणा इसके प्रथम विभाग में की गई है।

प्रथम द्वार में ३४ गाथायें हैं। यहां जीवस्थानों और मार्गणास्थानों में यथासम्भव योगों और उपयोगों की प्ररूपणा की गई है।

दूसरे द्वार में ८४ गाथायें हैं। यहाँ बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त व अपर्याप्त एकेन्द्रिय; पर्याप्त व अपर्याप्त द्वीन्द्रियादि तीन, तथा संज्ञी व असंज्ञी पर्याप्त-अपर्याप्त पंचेन्द्रिय; इन १४ बन्धक जीवस्थानों की प्ररूपणा सत्-संख्या आदि आठ अधिकारों के आश्रय से की गई है।

तीसरे बन्धक द्वार में ६७ गाथायें है। यहाँ बन्ध के योग्य ज्ञानावरणादि आठ कर्म और उनके उत्तरभेदों के स्वरूप आदि की चर्चा की गई है।

चौथे बन्धहेतु द्वार में २३ गाथायें हैं। यहाँ बन्ध के कारणभूत मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इनकी तथा इनके उत्तरभेदों की प्ररूपणा की गई है।

पांचवें बन्धविधान द्वार में १८५ गाथायें हैं। यहाँ बांधे गये कर्म के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के आश्रय से बन्ध, उदय उदीरणा और सत्त्व का विस्तार से विचार किया गया है।

दूसरे विभाग में प्रथमतः १०१ गाथाओं के द्वारा कर्मप्रकृति के अनुसार बन्धन, संक्रम, उदीरणा और उपशमना करणों का निरूपण किया गया है। तत्पश्चात् ३ गाथाओं में निधत्ति-निकाचना करणों का विचार करते हुए अन्त में १५६ गाथाओं द्वारा सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव बन्ध के सवेध का विवेचन किया गया है।

इस पर एक टीका स्वोपज्ञ और दूसरी आ. मलयगिरि द्वारा विरचित है। यह इन दोनों टीकाओं के साथ मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोई से तथा केवल स्वोपज्ञ टीका के साथ सेठ देवचन्द लालभाई जैन

पुस्तकोद्धार फण्ड बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अध्रुवोदय, अनुदयवती प्रकृति, अश्वकर्णकरणाद्धा, उदयवती और उदीरणा आदि।

स्वो. वृ.—अचक्षुदर्शन, अध्रुवसत्कर्म, अध्रुवोदय, अनभिगृहीत मिथ्यात्व, उदयवती और उदय-संक्रमोत्कृष्ट आदि।

मलय. वृ.—अध्रुवबन्ध, अध्रुवसत्कर्म, अध्रुवोदय, अनुदयवती प्रकृति, उदयवती और उदयसंक्रमोत्कृष्ट आदि।

९४. सप्ततिकाप्रकरण (षष्ठ कर्मग्रन्थ)—यह किसके द्वारा रचा गया है, यह ज्ञात नहीं है। वैसे यह चन्द्रर्षि महत्तर प्रणीत माना जाता है। आत्मानन्द जैन सभा भावनगर से प्रकाशित संस्करण के अनुसार इसमें ७२ गाथायें हैं। यहाँ सर्वप्रथम यह सूचना की गई है कि मैं सिद्धपदों के आश्रय से—प्रतिष्ठित पदों से युक्त कर्मप्रकृतिप्राभृतादि प्राचीन ग्रन्थों के आधार से अथवा जीवस्थान-गुणस्थानरूप सिद्धपदों के आश्रय से—बन्ध, उदय और सत्तारूप प्रकृतिस्थानों के महान् अर्थयुक्त संक्षेप को कहूँगा, जो दृष्टिवाद से निकला है। आगे प्रश्न उठाया गया है कि कितनी प्रकृतियों को बांधता हुआ जीव कितनी प्रकृतियों का वेदन करता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि मूल और उत्तर प्रकृतियों में इससे सम्बद्ध भंगों के अनेक विकल्प हैं। आगे मूल प्रकृतियों के आश्रय से इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि मूल प्रकृतियों के बन्धक चार प्रकार के हैं—आठ के बन्धक, सात के बन्धक, छह के बन्धक और एक के बन्धक। मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान तक आयु के बन्धकाल में आठ के बन्धक हैं। इनके आठ का बन्ध, आठ का उदय और सत्ता भी आठों की है।

आयुबन्ध के विना सात के बन्धक मिथ्यादृष्टि से लेकर अनिवृत्तिवादरसाम्पराय तक है। इनके सात का बन्ध, आठ का उदय और आठों की सत्ता रहती है।

सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानवर्ती आयु और मोहनीय के विना छह के बन्धक हैं। इनके आठ का उदय और आठों की सत्ता रहती है।

उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय और सयोगिकेवली ये एक मात्र वेदनीय के बन्धक हैं। इनमें उपशान्त-कषाय के एक का बन्ध, मोहनीय के बिना सात का उदय और सत्ता आठों की है। क्षीणकषाय के एक का बन्ध, सात का उदय और मोहनीय के बिना सात की ही सत्ता है। सयोगिकेवली के एक का बन्ध, चार (अघाती) का उदय और चार की ही सत्ता है।

अयोगिकेवली के बन्ध एक का भी नहीं है, उनके उदय चार का और सत्ता भी चार की है।

इसकी दिग्दर्शक तालिका—

गुणस्थान	बन्ध	उदय	सत्ता	विशेष
१–७	८	८	८	आयुर्बन्धकाल में
१–९	७	८	८	आयुर्बन्ध के विना
१०	६	८	८	आयु व मोहनीय के बन्ध के विना
११	१ (वेदनीय)	७ (मोहके विना)	८	—
१२	१	७	७ (मोहके विना)	—
१३	१	४	४	—

इसी क्रम से आगे ज्ञानावरणादि प्रत्येक कर्म की उत्तरप्रकृतियों में बन्ध, उदय और सत्ता तथा संयोगी भंगों का विचार किया गया है।

तत्पश्चात् किस गुणस्थान में कितनी प्रकृतियों का बन्ध होता है, इसको स्पष्ट करते हुए उपशम-श्रेणि, अनन्तानुबन्धी का उपशम, यथाप्रवृत्तादिकरण, गुणश्रेणि, गुणसंक्रमण और क्षपकश्रेणि आदि का निरूपण किया गया है।

इसके ऊपर आचार्य मलयगिरि के द्वारा टीका रची गई है। इस टीका के साथ उपर्युक्त आत्मानन्द सभा भावनगर से शतक (५वां कर्मग्रन्थ दे.) के साथ प्रकाशित हुआ है। आचार्य मलयगिरि विरचित टीका सहित एक षष्ठ कर्मग्रन्थ जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगर से भी प्रकाशित हुआ है। पर दोनों की गाथाओं में कुछ भिन्नता भी है। इसका उपयोग (टीका से) अगुरुलघु नामकर्म, आनुपूर्वी, आहारक (शरीर), आहारपर्याप्ति, उद्योत और उपघात आदि शब्दों में हुआ है।

९५. कर्मविपाक—यह गर्गर्षि के द्वारा रचा गया प्रथम प्राचीन कर्मग्रन्थ है। गर्गर्षि का समयादि निश्चित नहीं है। सम्भवतः वे विक्रम की १०वीं शताब्दी में हुए हैं[1]। ग्रन्थगत गाथाओं की संख्या १६८ है। इसमें सर्वप्रथम वीर जिनेन्द्र को नमस्कार करते हुए गुरूपदिष्ट कर्मविपाक को संक्षेप से कहने की प्रतिज्ञा की गई है। यहाँ कर्म का निरुक्त (क्रियते इति कर्म) अर्थ करते हुए यह कहा गया है कि चार गतियों में परिभ्रमण करने वाले संसारी जीव के द्वारा मिथ्यात्वादि के आश्रय से जो किया जाता है वह कर्म कहलाता है। वह प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार प्रकार का है। उसकी मूल प्रकृतियां आठ और उत्तर प्रकृतियां एक सौ अट्ठावन हैं। मूल प्रकृतियों का नामनिर्देश करते हुए उनके लिए क्रम से पट, प्रतीहार, असि, मद्य, हडि (काठ की बेड़ी), चित्र (चित्रकार), कुम्हार और भाण्डागारिक; ये दृष्टान्त दिये गये हैं। आगे क्रम से इन मूल और उत्तर प्रकृतियों का स्वरूप दिखलाया गया है।

इस पर एक व्याख्या अज्ञातकर्तृक और दूसरी एक वृत्ति परमानन्द सूरि (सम्भवतः विक्रम की १२-१३वीं शताब्दी) द्वारा विरचित है। यह जैन आत्मानन्द सभा भावनगर से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अगुरुलघु नामकर्म, आतप नामकर्म, आहारक-कार्मणबन्धन, आहारकबन्धन, उद्योत, उपघात नामकर्म और उपभोग आदि।

व्याख्या—अङ्गोपांगनाम, अगुरुलघु नामकर्म, अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानक्रोधादि।

प. वृत्ति—अन्तरायकर्म और आयुकर्म आदि।

९६. गोम्मटसार—इसके रचयिता आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हैं। इनका समय विक्रम की ११वीं शताब्दी है। ये चामुण्डराय के समकालीन रहे हैं। चामुण्डराय राजा राचमल्ल के मंत्री और सेनापति थे। उनका दूसरा नाम गोम्मटराय भी रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ उन्हीं के उक्त नाम से गोम्मटसार कहलाता है। कारण यह कि उन्हीं के प्रश्न पर वह आ. नेमिचन्द्र द्वारा रचा गया है। इसकी रचना षट्खण्डागम नामक सिद्धान्तग्रन्थ के आधार से हुई है। उन्होंने स्वयं यह कहा है कि जिस प्रकार चक्रवर्ती ने चक्ररत्न के द्वारा छह खण्ड स्वरूप भरत क्षेत्र को निर्विघ्न सिद्ध किया, उसी प्रकार मैंने बुद्धिरूप चक्र के द्वारा छह खण्डस्वरूप षट्खण्डागम को भले प्रकार सिद्ध किया है—उसके रहस्य को हृदयंगत किया है[2]। इसके अन्तर्गत समस्त गाथाओं की संख्या १७०५ है। वह जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड इन दो भागों में विभक्त है।

जीवकाण्ड—इस विभाग में ७३३ गाथायें हैं। इसमें गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा,

---

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ४, पृ. १२७.

२. जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साहियं अविग्घेण।
तह मइचक्केण मया छक्खंडं साहियं सम्मं॥ गो. क. ३९७.

१४ मार्गणा और उपयोग; इन २० प्ररूपणाओं का वर्णन किया गया है। गुणस्थान मिथ्यात्व व सासादन आदि के भेद से चौदह हैं। इनकी प्ररूपणा ६९ गाथाओं द्वारा की गई है। जीव अनन्त हैं। उनका वादर व सूक्ष्म आदि भेद युक्त जिन एकेन्द्रियत्व आदि धर्मविशेषों के द्वारा संग्रह या संक्षेप किया जाता है उन्हें जीवसमास कहा जाता है। वादर व सूक्ष्म के भेद से एकेन्द्रिय दो प्रकार के तथा संज्ञी व असंज्ञी के भेद से पंचेन्द्रिय भी दो प्रकार के हैं। इन चार के साथ द्वीन्द्रिय आदि तीन के ग्रहण करने पर सात होते हैं। ये सातों पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी। इस प्रकार सब भेद चौदह होते हैं। ये ही जीवसमास माने जाते हैं। इन सबकी प्ररूपणा यहाँ ४७ (७०-११६) गाथाओं द्वारा की गई है।

आहार-शरीर आदि के भेद से पर्याप्तियां छह हैं। पर्याप्ति नामकर्म के उदय से यथायोग्य अपनी अपनी पर्याप्तियों के पूर्ण हो जाने पर जीव पर्याप्त कहलाता है। इन पर्याप्तियों का प्रारम्भ तो एक साथ हो जाता है, पर उनकी पूर्णता क्रम से होती है। जब तक शरीर-पर्याप्ति पूर्ण नहीं हो जाती तब तक जीव निर्वृ त्यपर्याप्त कहलाता है। अपर्याप्त नामकर्म का उदय होने पर अपनी योग्य पर्याप्तियों की पूर्णता तो नहीं हो पाती और अन्तर्मुहूर्त के भीतर ही जीव मरण को प्राप्त हो जाता है। ऐसे जीव अपर्याप्त कहे जाते हैं। इस सबकी प्ररूपणा यहाँ ११ (११७-२७) गाथाओं द्वारा की गई है।

पांच इन्द्रियाँ, मनवल आदि तीन बल, आनपान (श्वासोच्छ्वास) और आयु ये १० प्राण कहलाते हैं। इनका वर्णन यहाँ ५ (१२८–३२) गाथाओं में किया गया है।

आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चार संज्ञायें हैं। इनका वर्णन ६ (१३३–३८) गाथाओं में किया गया है।

जिन अवस्थाओं के द्वारा जीवों का मार्गण या अन्वेषण किया जाता है वे मार्गणायें कहलाती हैं। वे चौदह हैं, जो इस प्रकार हैं—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार। इन सब का वर्णन यहाँ क्रम से विस्तारपूर्वक किया गया है। यह अधिकार सबसे विस्तृत है जो ५३२ (१३९–६७०) गाथाओं में पूर्ण हुआ है। इस अधिकार के अन्तर्गत लेश्या मार्गणा की प्ररूपणा निर्देश, वर्ण, परिणाम, संक्रम, कर्म, लक्षण, गति, स्वामी, साधन, संख्या, क्षेत्र, स्पर्श, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन १६ अन्तराधिकारों के द्वारा ४८८-५५५ गाथाओं में की गई है।

वस्तु के जानने-देखने रूप जो जीव का चेतनभाव है वह उपयोग कहलाता है। वह साकार और निराकार के भेद से दो प्रकार का है। साकार उपयोग जहाँ वस्तु को विशेषरूप से ग्रहण करता है वहाँ निराकार उपयोग उसे बिना किसी प्रकार की विशेषता के सामान्यरूप से ही ग्रहण किया करता है। साकार उपयोग ज्ञान और निराकार उपयोग दर्शन माना गया है। अपने भेद-प्रभेदों के साथ इसका वर्णन यहाँ ५ (६७१=७५) गाथाओं में किया गया है।

आगे गुणस्थान और मार्गणाओं के आश्रय से पृथक्-पृथक् पूर्वोक्त बीस प्ररूपणाओं का यथायोग्य विचार किया गया है (६७६–७०४)। अन्त में गौतम स्थविर को नमस्कार करते हुए गुणस्थान और मार्गणाओं में आलाप का दिग्दर्शन कराया गया है। सामान्य, पर्याप्त और अपर्याप्त ये तीन आलाप हैं। अपर्याप्त के दो प्रकार हैं—निर्वृ त्यपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त। इनमें से मिथ्यात्व गुणस्थान में ये दोनों ही प्रकार सम्भव हैं। सासादन, असंयतसम्यग्दृष्टि और प्रमत्तविरत इन गुणस्थानों में निर्वृ त्यपर्याप्त की तो सम्भावना है, पर लब्ध्यपर्याप्त की सम्भावना नहीं है। समुद्घात अवस्था में योग की अपेक्षा सयोगकेवली के भी अपर्याप्तता सम्भव है। इस प्रकार उपर्युक्त पांच गुणस्थानों में सामान्य, पर्याप्त और अपर्याप्त ये तीनों आलाप सम्भव है। शेष नौ गुणस्थानों में एक पर्याप्त ही सम्भव है। यही क्रम मार्गणाओं में भी यथासम्भव समझना चाहिए।

कर्मकाण्ड—इसकी गाथा संख्या ९७२ है। इसमें ये नौ अधिकार हैं—प्रकृतिसमुत्कीर्तन, बन्ध-

उदय-सत्त्व, सत्त्वस्थानभंग, त्रिचूलिका, स्थानसमुत्कीर्तन, प्रत्यय, भावचूलिका, त्रिकरणचूलिका और कर्म-स्थितिरचना।

(१) **प्रकृतिसमुत्कीर्तन**—जीव शरीरनामकर्म के उदय से सशरीर होकर कर्म को—ज्ञानावरणादिरूप परिणत होने वाले पुद्गलस्कन्धों को—तथा नोकर्म को—औदारिकादि शरीररूप परिणत होने वाले पुद्गलस्कन्धों को—भी प्रतिसमय ग्रहण किया करता है। द्रव्य और भाव के भेद से कर्म दो प्रकार का है। गृहीत पुद्गलस्कन्ध का नाम द्रव्यकर्म और उसमें उत्पन्न होने वाली ज्ञान-दर्शन के आवरणादिरूप शक्ति का नाम भावकर्म है। ये कर्म मूल में ज्ञानावरणादिरूप आठ हैं। उनके उत्तरभेद सब एक सौ अड़तालीस हैं। जो जीव के स्वभावभूत ज्ञानादि गुणों का विघात करते हैं वे घातिकर्म कहलाते हैं और जो अभावात्मक (प्रतिजीवी) गुणों का विघात करते हैं वे अघातिकर्म कहलाते हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घाति हैं, शेष वेदनीय आदि चार कर्म अघाति हैं। वेदनीय कर्म के उदय से जो बाधायुक्त सुख संसार में प्राप्त होता था उसका अभाव उस वेदनीय कर्म के अभाव में हो जाता है। आयुकर्म के उदय से जो मनुष्यादि के किसी विशेष शरीर में परतंत्र रहना पड़ता था उस परतंत्रता का अभाव इस आयुकर्म के अभाव में हो जाता है। नामकर्म के उदय से जो स्थूलता दृष्टिगोचर होती थी उसका लोप इस नामकर्म के अभाव में हो जाता है। गोत्रकर्म के उदय से जो ऊंचेपन और नीचेपन का अनुभव होता था वह उस गोत्रकर्म का अभाव हो जाने पर नष्ट हो जाता है। इस प्रकार ये अघातिया कर्म अभावात्मक गुणों के विघातक तो हैं, पर घातिकर्मों के समान सद्भावस्वरूप ज्ञानादि के विघातक वे नहीं हैं। इस प्रकार विविध कर्मों के स्वरूप को प्रगट करते हुए उनकी घाति व अघाति आदि अनेक अवस्थाओं का यहां विवेचन किया गया है। अन्त में उस कर्म के विषय में नामादि निक्षेपविधि की योजना की गई है।

(२) **बन्ध-उदय-सत्त्व**—इस अधिकार में गुणस्थान और मार्गणाओं के आश्रय से प्रकृति-स्थिति आदि भेदों में विभक्त बन्ध, उदय और सत्त्व की प्ररूपणा की गई है। इस अधिकार को ग्रन्थकार ने स्तव कहा है। उसका स्वरूप बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि जो शास्त्र विवक्षित तत्त्व का सर्वांगपूर्ण विस्तार या संक्षेप से वर्णन करने वाला है वह स्तव कहलाता है। एक अंग के वर्णन करने वाले शास्त्र को स्तुति और एक अंग के एक अधिकार के प्ररूपक शास्त्र को धर्मकथा कहा जाता है। बन्ध का वर्णन करते हुए यहाँ सामान्य से यह निर्देश किया गया है कि तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध सम्यक्त्व के रहते हुए—असंयतसम्यग्दृष्टि से अपूर्वकरण गुणस्थान तक—ही होता है। आयु का बन्ध मिश्र गुणस्थान (तृतीय) और मिश्रकाययोग (निर्वृत्यपर्याप्त अवस्था) में नहीं होता, वह उक्त तीसरे गुणस्थान को छोड़ पहले से सातवें गुणस्थान तक होता है। इस अधिकार के अन्त में ग्रन्थकार ने यह कहा है कि जिस प्रकार चक्रवर्ती चक्ररत्न के द्वारा छह खण्डरूप भरत क्षेत्र पर निर्बाध विजय प्राप्त करता है उसी प्रकार मैंने बुद्धिरूपी चक्ररत्न के द्वारा षट्खण्ड को—जीवस्थानादि छह खण्डों में विभक्त षट्खण्डागम को—सिद्ध किया है। अभिप्राय यह है कि षट्खण्डात्मक सिद्धान्त का गम्भीर अध्ययन करके उसके सारभूत इस ग्रन्थ की रचना उनके द्वारा की गई है।

(३) **सत्त्वस्थान**—इस अधिकार में गुणस्थान के आश्रय से सत्त्वस्थानों की प्ररूपणा की गई है। विवक्षित गुणस्थान में जितनी कर्मप्रकृतियां सत्ता में विद्यमान हों उनके समुदाय का नाम सत्त्वस्थान है। प्रकृतियों की भिन्नता के होने पर भी संख्या में भेद न होना, इसे भंग कहा जाता है। ऐसे भंगों के साथ किस गुणस्थान में कितने सत्त्वस्थान सम्भव हैं, इसका विचार इस अधिकार में किया गया है।

(४) **त्रिचूलिका**—इस अधिकार की प्रथम चूलिका में विवक्षित प्रकृतियों का बन्ध क्या अपने उदय के पूर्व में नष्ट होता है, अपने उदय के पश्चात् नष्ट होता है, अथवा दोनों साथ ही नष्ट होते हैं; उनका बन्ध क्या अपने उदय के साथ होता है, अन्य प्रकृतियों के उदय के साथ होता है, या अपने और अन्य प्रकृतियों के उदय के साथ होता है; तथा वह बन्ध क्या सान्तर होता है, निरन्तर होता

है, अथवा सान्तर-निरन्तर होता हैं; इन नौ प्रश्नों का समाधान किया गया है[1]। दूसरी चूलिका में उद्वेलन, विध्यात, अधःप्रवृत्त, गुण और सर्व; इन पांच संक्रमणों का विचार किया गया है। इस दूसरी चूलिका के प्रारम्भ (४०८) में अपने गुरु अभयनन्दी का स्मरण करते हुए कहा गया है कि अभयनन्दी का वह श्रुत-समुद्र पाप मल को दूर करे, जिसके मथन के बिना ही नेमिचन्द्र अतिशय निर्मल हो गया। तीसरी चूलिका को प्रारम्भ करते हुए (४३६) में यह कहा गया है कि वीरेन्द्रनन्दी (अथवा वीरनन्दी और इन्द्रनन्दी) का वत्स मैं (नेमिचन्द्र) उन अभयनन्दी गुरु को नमस्कार करता हूं, जिनके चरणों के प्रसाद से अनन्त संसाररूप समुद्र से पार हुआ। इस तीसरी चूलिका मे बन्ध, उत्कर्षण, संक्रम, अपकर्षण, उदीरणा, सत्त्व, उदय, उपशामन, निधत्ति और निकाचना इन दस करणों का विवेचन किया गया है।

(५) **बन्ध-उदय-सत्त्वस्थानसमुत्कीर्तन**—इस अधिकार में बन्ध, उदय और सत्त्व के साथ प्रकृतियों के विभिन्न स्थानों का निरूपण किया गया है।

(६) **प्रत्ययप्ररूपणा**—इस अधिकार को प्रारम्भ करते हुए प्रथमतः (७८५) श्रुतसागर के पारगामी इन्द्रनन्दी के गुरु और उत्तम वीरनन्दी के स्वामी ऐसे अभयनन्दी को नमस्कार किया गया है[2]। पश्चात् यहां बन्ध के कारणभूत पांच मिथ्यात्व, बारह प्रकार की अविरति, पच्चीस कषाय और पन्द्रह योग इन सत्तावन भेद (५+१२+२५+१५=५७) रूप आस्रव का गुणस्थानक्रम से निरूपण किया गया है।

(७) **भावचूलिका**—यहां प्रारम्भ (८११) में गोम्मट जिनेन्द्र-चन्द्र को नमस्कार करते हुए गोम्मट पदार्थ संयुक्त व गोम्मटसंग्रह की विषयभूत भावगत चूलिका के कहने की प्रतिज्ञा की गई है। पश्चात् की गई इस प्रतिज्ञा के अनुसार यहां अपने उत्तरभेदों के साथ औपशमिक, क्षायिक, मिश्र, औदयिक और पारिणामिक इन भावों का विवेचन किया गया है।

(८) **त्रिकरणचूलिका**--इस अधिकार में मोहनीय की इक्कीस (दर्शनमोहनीय तीन और अनन्तानुबन्धिचतुष्टय से रहित) प्रकृतियों के क्षय व उपशामन के कारणभूत अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन परिणामों की प्ररूपणा की गई है।

(९) **कर्मस्थितिरचनासद्भाव**—बांधे हुए कर्म कब तक उदय को प्राप्त नहीं होते और फिर अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार वे किस क्रम से निर्जीर्ण होते हैं, इस सबका विचार इस अन्तिम अधिकार में किया गया है।

अन्तिम प्रशस्ति में ग्रन्थकार ने कर्म की निर्जरा और तत्व के अवधारण के लिए गोम्मटदेव के द्वारा गोम्मटसंग्रहसूत्र गोम्मट के रचे जाने का संकेत करते हुए यह कहा है कि जिनमें गणधरदेवादि ऋद्धिप्राप्त महर्षियों के गुण विद्यमान हैं ऐसे वे अजितसेन स्वामी जिसके गुरु हैं वह राजा (चामुण्डराय या गोम्मटराय) जयवन्त हो। गोम्मटसंग्रहसूत्र, गोम्मटशिखर के ऊपर गोम्मटजिन और गोम्मटराय (चामुण्डराय) के द्वारा निर्मित दक्षिणकुक्कुटजिन जयवन्त हों। जिस गोम्मट के द्वारा निर्मित प्रतिमा का मुख सर्वार्थसिद्धि के देवों और सर्वावधि व परमावधि के धारक योगियों के द्वारा देखा गया है वह गोम्मट जयवन्त हो। जिसने ईषत्प्राग्भार नाम के अनुपम जिनभवन का निर्माण कराया वह चामुण्डराय जयवन्त हो। जिस गोम्मटराय के द्वारा खड़े किये गये स्तम्भ के ऊपर जो यक्षमूर्तियां हैं उनके मुकुट की किरणों से सिद्धों के पाद धोये जाते हैं, वह गोम्मटराय जयवन्त हो। जिसने गोम्मटसूत्र के लिखने में देशी (?) की वह गोम्मटराय, अपर नाम वीरमार्तण्डी, चिरकाल जीवित रहे।

---

१. इस सबका विस्तृत विवेचन षट्खण्डागम के द्वितीय खण्ड बन्धस्वामित्वविचय (पु. ८) में किया गया है।

२. संस्कृत टीका में इस गाथा का अर्थ करते हुए अभयनन्दी, इन्द्रनन्दि गुरु और वीरनन्दिनाथ इन तीनों को ही किये गये नमस्कार का निर्देश किया गया है तथा वहां गाथामें अप्रयुक्त 'च' शब्द का अध्याहार किया गया है। स्व. पं. नाथूराम जी प्रेमी ने इन्द्रनन्दी और वीरनन्दी को आ. नेमिचन्द्र का ज्येष्ठ गुरुभाई बतलाया है (जैन साहित्य और इतिहास पृ. २७०)।

इसके ऊपर एक अभयचन्द्राचार्य (वि. की १४वीं शती) विरचित *मन्दप्रबोधिका* नाम की संस्कृत टीका और दूसरी नेमिचन्द्राचार्य[1] (वि. की १४वीं शती) विरचित जीवतत्त्वप्रदीपिका संस्कृत टीका है। इनमें मन्दप्रबोधिका टीका जीवकाण्ड की २८२वीं गाथा तक ही उपलब्ध है। इन दो टीकाओं के अतिरिक्त एक सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका नाम की हिन्दी टीका भी है, जो पण्डितप्रवर टोडरमल जी द्वारा जीवतत्त्वप्रदीपिका का अनुसरण कर विस्तार से लिखी गई है। इन तीनों टीकाओं के साथ प्रस्तुत ग्रन्थ गांधी हरिभाई देवकरण जैन ग्रन्थमाला कलकत्ता से प्रकाशित हो चुका है। संक्षिप्त हिन्दी के साथ वह परमश्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई से भी दो भागों में प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग इन शब्दों में हुआ है—

मूल—अण्डर, अधःप्रवृत्तकरण, अनिन्द्रिय जीव, अनिवृत्तिकरण गुणस्थान, अनिःसृतावग्रह, अनुयोगद्वार श्रुतज्ञान और अप्रमत्तसंयत आदि।

टीका—अक्षरात्म श्रुतज्ञान, अगाढ, अगुरुलघु नामकर्म, अधःप्रवृत्तसंक्रम, अनन्तानुबन्धिक्रोधादि, अनुकृष्टि, अनुत्तरौपपादिकदशा, अप्रत्याख्यानावरणक्रोधादि, आक्षेपिणी कथा और उद्वेलनसंक्रम आदि।

९७. **लब्धिसार**—यह भी उपर्युक्त नेमिचन्द्राचार्य की कृति है। इसमें दर्शनलब्धि, चारित्रलब्धि और क्षायिकचारित्र ये तीन अधिकार हैं। इनकी गाथासंख्या इस प्रकार है—१६७+२२४+२६१=६५२। जैसा कि ग्रन्थकार ने पंचपरमेष्ठियों की वन्दना करते हुए प्रारम्भ में सूचित किया है, तदनुसार वस्तुतः दो ही अधिकार समझना चाहिए—सम्यग्दर्शनलब्धि और चारित्रलब्धि। उपशम और क्षय के भेद से चारित्र दो प्रकार का है। सम्यग्दर्शनलब्धि अधिकार में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का विचार करते हुए यह बतलाया है कि अनादि मिथ्यादृष्टि अथवा सादि मिथ्यादृष्टि जीव चारों गतियों में से किसी भी गति में प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है। विशेष इतना है कि उसे संज्ञी, पर्याप्तक, गर्भज, विशुद्ध—अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणरूप परिणामों से उत्तरोत्तर विशुद्धि को प्राप्त—और साकार उपयोग वाला होना चाहिए। सम्यक्त्वप्राप्ति के पूर्व उसके उन्मुख हुए मिथ्यादृष्टि जीव के ये पांच लब्धियां होती हैं—क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण। इनमें पूर्व की चार लब्धियां तो भव्य और अभव्य दोनों के ही सामान्यरूप से हो सकती हैं, पर अन्तिम करणलब्धि भव्य के ही होती है।

जब ज्ञानावरणादि अप्रशस्त (पाप) कर्मों की फलदानशक्ति उत्तरोत्तर अनन्तगुणी हीन होकर उदय को प्राप्त होती है तब उस जीव के प्रथम क्षयोपशमलब्धि होती है। इस क्षयोपशमलब्धि के प्रभाव से जो जीव के साता वेदनीय आदि प्रशस्त कर्मप्रकृतियों के बन्धयोग्य धर्मानुरागरूप परिणति होती है उसे विशुद्धिलब्धि कहा जाता है। जीव-पुद्गलादि छह द्रव्यों और नौ पदार्थों के उपदेशक आचार्य आदि की प्राप्ति को अथवा उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण-धारण की प्राप्ति को देशनालब्धि कहते हैं। उक्त तीन लब्धियों से सम्पन्न जीव अब आयु को छोड़कर शेष सात कर्मों की स्थिति को हीन करके अन्तःकोडाकोडि प्रमाण कर देता है तथा अप्रशस्त घातिया कर्मों के अनुभाग को खण्डित करके लता और दारु समान दो स्थानों में स्थापित करता है, साथ ही अघातिया कर्मों के अनुभाग को जब नीम और कांजीर के समान दो भागों में स्थापित करता है तब उसके प्रायोग्यलब्धि होती है। ये चार लब्धियां भव्य के समान अभव्य के भी हो सकती हैं, यह कहा ही जा चुका है। उक्त चार लब्धियों के पश्चात् भव्य जीव के जो अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणरूप उत्तरोत्तर विशुद्धि को प्राप्त होने वाले परिणामों की प्राप्ति होती है, इसे करणलब्धि कहा जाता है। यह अभव्य जीव के सम्भव नहीं है। इसकी प्राप्ति के अन्तिम समय में जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार यहां प्रसंगवश गुणस्थान के अनुसार विभिन्न प्रकृतियों के नामोल्लेखपूर्वक उनके बन्ध आदि की हीनता के क्रम को दिखलाया गया है।

चारित्रलब्धि—यह देश और सकल चारित्र के भेद से दो प्रकार की है। इनमें देशचारित्र को मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि प्राप्त करते हैं तथा सकलचारित्र को इन दोनों के साथ देशसंयत

१. देखिये अनेकान्त वर्ष ४, कि. १, पृ. ११३-२० में 'गोम्मटसार की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका, उसका कर्तृत्व और समय' शीर्षक लेख।

भी प्राप्त करता है। मिथ्यादृष्टि जब उपशमसम्यक्त्व के साथ देशचारित्र के ग्रहण के उन्मुख होता है तब वह जिस प्रकार सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए अधःप्रवृत्त आदि तीन करणों को करता है उसी प्रकार इस देशचारित्र की प्राप्ति के लिये भी उक्त तीन करणों को करता है और उन तीन करणों के अन्तिम समय में वह उक्त देशचारित्र को प्राप्त कर लेता है। परन्तु यदि उक्त मिथ्यादृष्टि वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व के साथ उक्त देशचारित्र के ग्रहण के उन्मुख होता है तो अधःप्रवृत्तकरण और अपूर्वकरण इन दो परिणामों के अन्तिम समय में वह देशचारित्र को प्राप्त कर लेता है।

सकल चारित्र तीन प्रकार का है—क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक। इनमें जो जीव उपशमसम्यक्त्व के साथ क्षायोपशमिक चारित्र के ग्रहण में उद्यत होता है उसके उसकी प्राप्ति की विधि प्रथमोपशमसम्यक्त्व की प्राप्ति के समान है। जो वेदकसम्यग्दृष्टि औपशमिक चारित्र के ग्रहण में उद्यत होता है उसकी विधि भिन्न है। उसका निरूपण इस अधिकार में विशेषरूप से किया गया है (२०५-३९१)।

आगे क्षायिकचारित्र की प्राप्ति में की जानेवाली क्रियाओं का वर्णन विस्तार से किया गया है। इसी को क्षपणासार कहा जाता है।

गोम्मटसार के समान इस पर भी नेमिचन्द्राचार्य की संस्कृत टीका और पण्डितप्रवर टोडरमलजी विरचित हिन्दी टीका भी है। संस्कृत टीका औपशमिक चारित्र के विधान तक (गा. ३९१ तक) ही उपलब्ध है, आगे क्षायिक चारित्र के प्रकरण में वह उपलब्ध नहीं है। इससे पं. टोडरमलजी के द्वारा गा. ३९१ तक तो उक्त संस्कृत टीका के अनुसार व्याख्या की गई है और तत्पश्चात् आचार्य माधवचन्द्र त्रैविद्य द्वारा विरचित संस्कृत गद्यरूप क्षपणासार के आधार से वह की गई है। पं. टोडरमलजी ने इस क्षपणासार की रचना का निर्देश करते हुए यह बतलाया है कि उक्त ग्रन्थ आचार्य माधवचन्द्र द्वारा भोज नामक राजा के मंत्री बाहुबली के परिज्ञानार्थ रचा गया है। उक्त दोनों टीकाओं के साथ यह हरिभाई देवकरण जैन ग्रन्थमाला कलकत्ता से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग अधःप्रवृत्तकरण और अपूर्वकरण गुणस्थान आदि शब्दों में हुआ है—

९८. **त्रिलोकसार**—यह भी पूर्वोक्त नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती के द्वारा रचा गया है। इसमें छह अधिकार हैं—लोकसामान्य, भवनलोक, व्यन्तरलोक, ज्योतिर्लोक, वैमानिकलोक और नरतिर्यग्लोक। इनमें गाथाओं का प्रमाण क्रमशः इस प्रकार है—२०७+४२+५२+१४९+११०+४५८=१०१८।

(१) **लोकसामान्य**—जहां जीवादि छह द्रव्य देखे जाते हैं या जो उन छह द्रव्यों से व्याप्त है वह लोक कहलाता है। वह अनन्त आकाश के ठीक मध्य में अवस्थित है। वह अनादिनिधन होता हुआ स्वभावसिद्ध है—उसका कोई निर्माता नहीं है। आकाश दो प्रकार का है—लोकाकाश और अलोकाकाश। जितने आकाश को व्याप्त करके धर्म, अधर्म, आकाश और कालाणु अवस्थित हैं तथा जीव एवं पुद्गलों का गमनागमन जहां तक सम्भव है उतना आकाश लोकाकाश कहलाता है। उसके सब ओर जो अनन्त शुद्ध आकाश है वह अलोकाकाश माना गया है। उक्त लोक अधः, मध्य और ऊर्ध्व के भेद से तीन प्रकार का है। आधे मृदंग के ऊपर एक दूसरे मृदंग को खड़ा रखने पर जो उसका आकार होता है वैसा ही आकार इस लोक का है। इस प्रकार इस लोक का वर्णन करते हुए अनेक भेदरूप लौकिक और लोकोत्तर मानों, तीन वातवलयों, रत्नप्रभादि पृथिवियों और उनमें रहने वाले नारकियों का निरूपण किया गया है।

(२) **भवनलोक**—इसमें असुरकुमार-नागकुमारादि दस प्रकार के भवनवासी देवों की प्ररूपणा की गई।

(३) **व्यन्तरलोक**—इसमें किन्नर व किम्पुरुष आदि आठ प्रकार के व्यन्तर देवों की प्ररूपणा की गई है।

(४) **ज्योतिर्लोक**—यहां चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारे इन पांच प्रकार के ज्योतिषी देवों की प्ररूपणा करते हुए प्रथमतः मध्यलोक के अन्तर्गत १६ अभ्यन्तर और १६ अन्तिम द्वीपों के नामों

का निर्देश किया गया है। तत्पश्चात् जम्बूद्वीपादि के विस्तारादि का वर्णन करते हुए उक्त ज्योतिषियों के स्थान, विमान, संचार, ताप व तम (अन्धकार) के क्षेत्र, अधिक मास, दक्षिण-उत्तरायण और संख्या आदि का निरूपण किया गया है।

(५) **वैमानिकलोक**—इस अधिकार में १६ कल्पों के नामों का निर्देश करते हुए उनमें १२ इन्द्रों की व्यवस्था, कल्पातीत (९ ग्रैवेयक, ९ अनुदिश और ५ अनुत्तर) विमान, इन्द्रकादि विमानों का विस्तारादि, देव-देवियों की विक्रिया और उनके वैभव आदि की प्ररूपणा की गई है।

(६) **नर-तिर्यग्लोक**—यहां भरतादि सात क्षेत्र, हिमवान् आदि छह कुलपर्वत, इन पर्वतों के ऊपर स्थित तालावों में रहनेवाली श्री-ह्री आदि देवियां, उनका परिवार, उक्त तालावों से निकलनेवाली गंगा-सिन्धु आदि चौदह नदियां, पूर्वोक्त क्षेत्र-पर्वतादिकों का विस्तारादि व उसके लाने के गणितसूत्र, विदेह-क्षेत्र के मध्य में स्थित मेरु पर्वत, उसके ऊपर पाण्डुक वनमें स्थित तीर्थंकराभिषेक-शिलायें, विदेहक्षेत्र में वर्षा आदि का स्वरूप, वत्तीस विदेह और तद्गत नगरियों (राजधानियों) के नाम, विजयार्धगत ११० नगरियों के नाम, पर्वतों पर स्थित कूटों के नाम, चतुर्थ काल में होनेवाले शलाकापुरुष तथा पांचवें व छठे कालों में होनेवाले परिणमन; इत्यादि यथाप्रसंग कितने ही विषयों की प्ररूपणा की गई है। अन्त में नन्दीश्वरद्वीपस्थ ५२ जिनभवनों का निर्देश कर अष्टाह्निक पर्व में वहाँ इन्द्रादिकों के द्वारा की जाने वाली पूजा का उल्लेख करते हुए उत्तम, मध्यम और जघन्य अकृत्रिम जिनभवनों के रचनाक्रम को दिखलाया गया है।

प्रत्येक अधिकार के प्रारम्भ में ग्रन्थकार द्वारा वहां वर्तमान अकृत्रिम जिनभवनों की वन्दना की गई है। सर्वान्त में अपनी लघुता को प्रगट करते हुए ग्रन्थकार ने यह कहा है कि अभयनन्दी के वत्स अल्पश्रुत के ज्ञाता मुझ नेमिचन्द्र मुनि के द्वारा यह त्रिलोकसार रचा गया है। वहुश्रुत आचार्य उसे क्षमा करें।

९९. पंचसंग्रह—यह आचार्य अमितगति (द्वितीय) के द्वारा विक्रम सं. १०७३ में रचा गया है। इसमें पांच परिच्छेद हैं। जैसा कि प्रारम्भ (श्लोक २) में संकेत किया गया है, तदनुसार इसमें वन्धक, वध्यमान, वन्धस्वामी, वन्धकारण और वन्धभेद ये पांच प्रकरण हैं। पद्यसंख्या उसकी इस प्रकार है—३५३+४८+१०६+७७९+७९+९०=१४५५। बीच-बीच में बहुतसा गद्य भाग भी है।

वन्धक प्रकरण में कर्म के वन्धक जीवों की प्ररूपणा गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, मार्गणा और उपयोग आदि के आश्रय से की गई है।

दूसरे प्रकरण में वध्यमान—वन्ध को प्राप्त होनेवाली ज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियों—की प्ररूपणा की गई है।

तीसरे प्रकरण में वन्ध के स्वामियों की प्ररूपणा करते हुए वन्ध, उदय और सत्त्व की व्युच्छित्ति आदि का विवेचन किया गया है।

चौथे प्रकरण में वन्धकारणों का विचार करते हुए प्रथमतः चौदह जीवसमासों में से एकेन्द्रिय आदि जीवों में कहां कितने वे सम्भव हैं, इसका विवेचन किया गया है। आगे यही विवेचन मार्गणाओं के आश्रय से किया गया है। तत्पश्चात् गत्यादि मार्गणाओं एवं जीवसमास आदि में कहां कितने गुणस्थान, उपयोग, योग और प्रत्यय (कारण) सम्भव हैं; इत्यादि का विचार किया गया है।

आगे मार्गणाओं के आश्रय से वन्धस्थान, उदयस्थान और सत्त्वस्थानों की प्ररूपणा करते हुए अन्त में गुणस्थान और मार्गणास्थानों में कौन जीव कितनी और किन-किन प्रकृतियों के वन्धक हैं, इत्यादि का विचार किया गया है।

यहां पुष्पिकावाक्यों में पृ. ४८ पर जीवसमास, पृ. ५३ पर प्रकृतिस्तव, पृ. ७२ पर कर्मबन्धस्तव, पृ. १४९ पर शतक और पृ. २२५ पर सप्ततिप्रकरण के समाप्त होने की सूचना की गई है।

इसके अतिरिक्त पृ. ४८ पर महावीर को नमस्कार करते हुए प्रकृतिस्तव के कहने की, पृ. ५

पर सर्वज्ञों को नमस्कार कर बन्ध, उदय और सत्त्व के व्युच्छेद के कहने की, पृ. ७३ पर जिनेन्द्रवचनामृत का जयकार करते हुए दृष्टिवाद से उद्धृत करके जीव-गुणस्थानगोचर कुछ श्लोकों के कहने की, पृ. १४६ पर अरहंतों को नमस्कार करके अपनी शक्ति के अनुसार सप्तति के कहने की, तथा पृ. २२६ पर वीर जिनेश्वर को नमस्कार कर सामान्य (गुणस्थान) और विशेष (मार्गणाभेद) रूप से बन्धस्वामित्व के कहने की प्रतिज्ञा की गई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मा. दि. जैन ग्रन्थमाला समिति बम्बई से प्रकाशित हुआ है। इसका उपयोग अकृतसमुद्घात, अगृहीतमिथ्यात्व, अनिवृत्तिकरणगुस्थान, अपूर्वकरण और असंयतसम्यग्दृष्टि आदि शब्दों में हुआ है।

१००. **जंबूदीवपण्णत्ती**—यह आचार्य पद्मनन्दी द्वारा रचा गया है। उनका समय विक्रम की ११वीं शताब्दी हो सकता है[1]। इसमें १३ उद्देश व समस्त गाथाओं की संख्या २४२९ है। उद्देशक्रम से उसका विषयपरिचय इस प्रकार है—

(१) **उपोद्घातप्रस्ताव**—यहाँ सर्वप्रथम पंचगुरुओं का वन्दन करते हुए आचार्यपरम्परा के अनुसार जिनदृष्ट द्वीप-सागरों की प्रज्ञप्ति के कहने की प्रतिज्ञा की गई है। पश्चात् वर्धमान भगवान्को नमस्कार करते हुए श्रुतगुरुओं की परिपाटी में प्रथमतः गौतम, सुधर्म (लोहार्य) और जम्बूस्वामी इन तीन अनुबद्ध केवलियोंका निर्देश किया गया है। तत्पश्चात् नन्दी आदि पाँच श्रुतकेवलियोंसे लेकर सुभद्र आदि चार आचारांगधरों तक की परम्पराका निर्देश किया गया है। फिर आचार्यपरम्परा व आनुपूर्वीके अनुसार द्वीप-सागरों की प्रज्ञप्ति के कहने की प्रतिज्ञा की गई है।

आगे चलकर समस्त द्वीप-सागरोंकी संख्या का निर्देश करते हुए जम्बूद्वीपके विस्तारादि, उसको वेष्टित करनेवाली जगती और जम्बूद्वीप के अन्तर्गत क्षेत्र-पर्वतादिकों की संख्या मात्रका निर्देश किया गया है। इस उद्देशमें ७४ गाथायें हैं।

(२) **भरतैरावतवर्षवर्णन**—यहाँ भरतादि सात क्षेत्रों और उनको विभाजित करनेवाले हिमवान् आदि छह कुलपर्वतों का निर्देश करते हुए भरत व ऐरावत क्षेत्रों और उनमें प्रवर्तमान अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी कालोंकी प्ररूपणा की गई है। इसमें २१० गथायें हैं।

(३) **पर्वत-नदी-भोगभूमिवर्णन**—इस उद्देशमें कुलपर्वतों, मानुषोत्तर, कुण्डल एवं रुचक पर्वतों; नदियों और हैमवतादि क्षेत्रों में प्रवर्तमान कालों (भोगभूमियों) की प्ररूपणा की गई है। इसमें २४६ गथायें हैं।

(४) **सुदर्शन मेरु**—यहाँ मन्दर आदि पर स्थित जिनभवनों का वर्णन करते हुए तीर्थंकरों के जन्माभिषेक के लिये आनेवाले सौधर्मादि इन्द्रियों की विभूति की प्ररूपणा की गई है। इसमें २६२ गाथायें हैं।

(५) **मन्दर-जिनवरभवन**—यहां मन्दर आदि पर्वतोंपर स्थित जिनभवनों का निरूपण करते हुए नन्दीश्वरद्वीप, कुण्डल पर्वत, मानुषोत्तर पर्वत और रुचक पर्वतोंपर स्थित जिनभवनों की उक्त जिनभवनोंसे समानता प्रकट की गई है। आगे जाकर अष्टाह्निक पर्व में जिनपूजन के लिये आनेवाले १६ इन्द्रोंकी शोभा को दिखलाते हुए उनके द्वारा किये जानेवाले पूजामहोत्सव की प्ररूपणा की गई है। यहाँ गाथाओं की संख्या १२५ है।

(६) **देवकुरु-उत्तरकुरु**—यहां विदेहक्षेत्रगत देवकुरु-उत्तरकुरु क्षेत्रों के विस्तारादि तथा उनमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्यादिकी प्ररूपणा की गई है। इसमें १७८ गाथायें हैं।

(७) **विदेह वर्ष**—यहाँ वनखण्डों, देवारण्यों, वेदिकाओं, विभंगानदियों, वक्षारपर्वतों तथा कच्छा विजय और उसमें स्थित क्षेमा नगरी (राजधानी) का वर्णन किया गया है। इसमें १५३ गाथायें हैं।

(८) **पूर्वविदेहविभाग**—इसमें पूर्वविदेहस्थ सुकच्छा आदि विजयों और उनमें स्थित क्षेमपुरी

१. उक्त ग्रन्थ की प्रस्तावना पृ. १४२-४३।

आदि नगरियों के साथ विभंगानदियों आदिका भी वर्णन किया गया है। इसमें १९८ गाथायें हैं।

(९) अपरविदेह—पूर्वविदेहगत कच्छा आदि के ही समान यहाँ रत्नसंचयादि नगरियों और पद्मा आदि विजयों का वर्णन किया गया है। यहाँ १९७ गाथायें हैं।

(१०) लवणसमुद्र विभाग—यहाँ लवणसमुद्रके विस्तारादि के साथ उनमें स्थित विविध पातालों और कृष्ण-शुक्ल पक्षों में होनेवाली हानि-वृद्धि आदिका निरूपण किया गया है। इसमें १०२ गाथायें हैं।

(११) द्वीप-सागरादि—यहाँ धातकीखण्ड द्वीप, कालोद समुद्र और पुष्कर द्वीप का वर्णन करते हुए रत्नप्रभादि सात पृथिवियों, उनमें स्थित भवनवासी व व्यन्तर देवों, नरकों में उत्पन्न होनेवाले नारकियों, अढ़ाई द्वीपों व स्वयम्भूरमण समुद्र के पूर्व में स्थित असंख्यात द्वीप-समुद्रों में उत्पन्न होनेवाले तिर्यंचों तथा वैमानिक देवोंकी प्ररूपणा की गई है। यहाँ ३६५ गाथायें हैं।

(१२) ज्योतिषपटल—इस उद्देशमें चन्द्र-सूर्यादि ज्योतिषी देवों की प्ररूपणा की गई है।

(१३) प्रमाणभेद—यहाँ विविध मानों का वर्णन करते हुए समय-आवली आदि कालमानों और परमाणु व त्रसरेणु आदि क्षेत्रमानों का विवेचन किया गया है। पश्चात् प्रत्यक्ष व परोक्षरूप प्रमाणभेदों की चर्चा करते हुए सर्वज्ञताका भी कुछ विचार किया गया है। सर्वान्त में मनुष्यक्षेत्रस्थ इष्वाकार पर्वतों, यमक पर्वतों, जम्बू आदि वृक्षों, वनों, भोगभूमियों और नदियों आदि की समस्त संख्या का निर्देश करते हुए ग्रन्थकार ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—मैंने परमागम के देशक प्रसिद्ध विजय गुरु के पास में अमृतस्वरूप जिनवचन को सुनकर कुछ उद्देशों में इस ग्रन्थ को रचा है[1]। माघनन्दी गुरु, उनके शिष्य सिद्धान्तमहोदधि सकलचन्द्र गुरु और उनके शिष्य श्रीनन्दी गुरु हुए। उनके (श्रीनन्दिगुरु के) निमित्त यह जम्बूद्वीप की प्रज्ञप्ति लिखी गई है[2]। पंचाचार से समग्र वीरनन्दीगुरु, उनके शिष्य बलनन्दी गुरु और उनके शिष्य गुणगणकलित, गारवरहित और सिद्धान्त के पारंगत पद्मनन्दी हुए। मुनि पद्मनन्दी ने विजयगुरु के पास में सुपरिशुद्ध आगम को सुनकर इसे संक्षेप में लिखा है[3]। उस समय नरपतियों से पूजित शक्ति भूपाल वारां नगर का प्रभु था। मुनिगणों के समूहों से मण्डित यह वारां नगर पारियात्र देश में स्थित था। इस वारां नगर में रहते हुए संक्षेप से बहुपदार्थ संयुक्त जम्बूद्वीप की प्रज्ञप्ति लिखी गई है। छद्मस्थ से विरचित इसमें जो भी प्रवचनविरुद्ध लिखा गया हो, उसे सुगीतार्थ प्रवचनवत्सलता से शुद्ध कर लें[4]।

इस पर तिलोयपण्णत्ती का प्रभाव

प्रस्तुत ग्रन्थ पूर्व निर्दिष्ट तिलोयपण्णत्ती की शैली पर लिखा गया है। जैसे तिलोयपण्णत्ती में सर्वप्रथम पंचगुरुओं की वन्दना की गई है। वैसे ही इसके प्रारम्भ भी उक्त पंचगुरुओं की वन्दना की गई है। विशेष इतना है कि जहाँ तिलोयपण्णत्ती में प्रथमतः सिद्धों को नमस्कार किया गया है वहाँ प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रथमतः अरिहंतों को नमस्कार किया गया है।

ति. प. में प्रथम महाधिकार के अन्त में नाभेय जिन (ऋषभनाथ) को नमस्कार करके आगे प्रत्येक महाधिकार के आदि व अन्त में क्रमशः अजितादि तीर्थंकरों को नमस्कार करते हुए अन्तिम नौवें महाधिकार के प्रारम्भ में शान्ति जिन को नमस्कार किया गया है। तत्पश्चात् इसी नौवें महाधिकार के अन्त में कुन्थु आदि वर्धमानान्त शेष तीर्थंकरों को नमस्कार किया गया है। इसी प्रकार इस जं. दी. प. में भी द्वितीय उद्देश के प्रारम्भ में ऋषभ जिनेन्द्र को और अन्त में अजित जिनेन्द्र को नमस्कार किया गया है। इसी क्रम से आगे प्रत्येक उद्देश के आदि व अन्त में एक-एक तीर्थंकर को नमस्कार करते हुए तेरहवें अधिकार के अन्त में वीर जिनेन्द्र को नमस्कार किया गया है।

---

१. उ. १३, गा. १४४–४५.
२. उ. १३, गा. १५४–५७.
३. उ. १३, गा. १५८–६४.
४. उद्देश १३, गा. १६५–७०.

इसके अतिरिक्त तिलोयपण्णत्ती की कितनी ही गाथाओं को यहां उसी रूप में अथवा कुछ शब्द-परिवर्तन के साथ इसके अन्तर्गत कर लिया गया है[1]।

तिलोयपण्णत्ती की रचना जिस प्रकार भाषा की दृष्टि से समृद्ध व प्रौढ़ तथा विषयविवेचन की दृष्टि से सुसम्बद्ध है, इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना नहीं है—वह भाषा की दृष्टि से शिथिल और विषयविवेचन की दृष्टि से कुछ अव्यवस्थित है। पुनरुक्ति भी प्रस्तुत ग्रन्थ में जहां तहां देखी जाती है।

ग्रन्थ का प्रकाशन जैन संस्कृति संरक्षक संघ (जीवराज जैन ग्रन्थमाला) सोलापुर द्वारा हो चुका है। इसका उपयोग आत्माङ्गुल आदि शब्दों में हुआ है।

१०१. कर्मस्तव—यह द्वितीय प्राचीन कर्मग्रन्थ है। इसके कर्ता का नाम ज्ञात नहीं है। इसमें ५५ गाथायें हैं। यहां सर्वप्रथम जिनवरेन्द्र को नमस्कार करते हुए बन्ध, उदय और सत्त्वयुक्त स्तव के कहने की प्रतिज्ञा की गई है। बन्ध, उदय और सत्ता के व्यवच्छेद का प्ररूपक होने से चूंकि यह असाधारण सद्भूत गुणों का कीर्तन करने वाला है, अत एव इसे नाम से स्तव कहा गया है। यहां प्रथमतः गुणस्थानक्रम से बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता से व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों की संख्या का निर्देश करके तत्पश्चात् उसी क्रम से उन कर्मप्रकृतियों का नामोल्लेख भी किया गया है। इसके ऊपर गोविन्द गणी (सम्भवतः विक्रम की १३वीं शताब्दी) द्वारा टीका लिखी गई है। इस टीका के साथ वह पूर्वोक्त कर्मविपाक के साथ जैन आत्मानन्द सभा भावनगर से प्रकाशित हुआ है। इस पर एक ३२ गाथात्मक अज्ञातकर्तृक भाष्य भी है, जो ग्रन्थ के अन्त में मुद्रित है। इसकी टीका का उपयोग अचक्षुदर्शन, अन्तराय कर्म, अपर्याप्तनाम, अप्रत्याख्यानावरणक्रोधादि, अवाय, आतप नामकर्म, उच्छ्वासपर्याप्ति, उदय, उदीरणा और उद्योतनाम आदि शब्दों में हुआ है।

१०२. षडशीति—इसका दूसरा नाम आगमिकवस्तुविचारसार प्रकरण है। यह चतुर्थ प्राचीन कर्मग्रन्थ है। इसके कर्ता जिनवल्लभ गणी (विक्रम की १२वीं शताब्दी) हैं। गाथायें इसमें ८६ हैं। यहां सर्वप्रथम पार्श्व जिन को नमस्कार करते हुए गुरु के उपदेशानुसार जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुणस्थान, उपयोग, योग और लेश्या के कुछ कहने की प्रतिज्ञा की गई है। तदनुसार इसमें आगे क्रम से जीवस्थानों में गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, बन्ध, उदय, उदीरणा व सत्तास्थानों की प्ररूपणा; मार्गणास्थानों में जीवस्थान, गुणस्थान, योग, उपयोग, लेश्या और अल्पबहुत्व की प्ररूपणा; तथा गुणस्थानों में जीवस्थान, योग, उपयोग, लेश्या, बन्धहेतु, बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्तास्थान और अल्पबहुत्व की प्ररूपणा की गई है।

अन्त में अपने नाम का निर्देश करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि जिनवल्लभ के द्वारा लाया गया (रचा गया) यह जिनागमरूप अमृतसमुद्र का बिन्दु है। हितैषी विद्वज्जन इसे सुनें, उसका मनन करें, और जानें।

इस पर एक टीका हरिभद्रसूरि के द्वारा रची गई है। ये देवसूरि के प्रशिष्य और जिनदेव उपाध्याय के शिष्य थे। उक्त टीका उन्होंने अणहिल्लपाटकपुर में जयसिंहदेव के राज्य में आशापुर वसति में विक्रम सं. ११७२ में लिखी है। दूसरी टीका सुप्रसिद्ध आ. मलयगिरि के द्वारा लिखी गई है। इन दोनों टीकाओं के साथ ग्रन्थ कर्मविपाकादि के साथ जैन आत्मानन्द सभा भावनगर से प्रकाशित हुआ है। इस पर एक ३८ गाथात्मक अज्ञातकर्तृक भाष्य भी है जो ग्रन्थसंग्रह के अन्त में मुद्रित है। इसका उपयोग (टीका से) अचक्षुदर्शन, अनन्तानुबन्धी, आहारक (शरीर), आहारक (जीव) और उपयोग आदि शब्दों में हुआ है। (शेष अगले भाग में)

१. देखिये ति. प. भा. २, प्रस्तावना पृ. ६८–७० और जंबूदीवपण्णत्ती की प्रस्तावना पृ. १२८.

लक्षणवैशिष्ट्य

देश-काल की विशेषता अथवा लक्षणकार की मनोवृत्ति के कारण एक ही लक्ष्य के लक्षण में कहीं कुछ विशेषता या विविधता भी देखी जाती है। जैसे—

अकर्मभूमिक—अकर्मभूमिक का यौगिक अर्थ कर्मभूमिभिन्न—भोगभूमि—में उत्पन्न हुआ जीव होता है। इस अभिप्राय को व्यक्त करने वाला लक्षण समवायांग की अभयदेव विरचित वृत्ति में पाया जाता है। स्थानांग में लक्षित 'अकर्मभूमि' के लक्षण से भी यही अभिप्राय ध्वनित होता है। परन्तु धवलाकार ने वेदनाकालविधान के अन्तर्गत सूत्र ८ की व्याख्या करते हुए 'अकर्मभूमिक' से देव और नारकियों को ग्रहण किया है।

प्रकरण वहाँ काल की अपेक्षा ज्ञानावरणीय की उत्कृष्ट वेदना के स्वामी का है। वह चूंकि भोगभूमिजों के सम्भव नहीं है, अतएव सूत्रस्थ 'अकम्मभूमियस्स' पद का अर्थ वहाँ 'देव-नारकी' किया गया है।

अक्षौहिणी—पउमचरिउ और पद्मचरित्र (पद्मपुराण) के अनुसार अक्षौहिणी का प्रमाण २१८७०० तथा धवला के अनुसार वह ९०९०९०९००० है।

अचेलक—अचेल, अचेलक और आचेलक्य ये समानार्थक शब्द हैं। आचारांगसूत्र १८० में (पृ. २१८) अचेल शब्द उपलब्ध होता है। प्रसंग वहाँ चरित्र को वृद्धिगत करने का है। इसके लिए वहाँ कहा गया है कि मोक्ष के निकटवर्ती कितने ही जीव धर्म को ग्रहण करके धर्मोपकरणों के विषय में सावधान होते हुए धर्म का आचरण करते हैं। इस प्रकार से जो काम-भोगादि में आसक्त न होकर धर्माचरण में दृढ़ होते हैं तथा समस्त गृद्धि—भोगाकांक्षा को—दुःखरूप समझकर उसे छोड़ देते हैं वे ही महामुनि होते हैं। ऐसा महर्षि चेतन-अचेतन परिग्रह में निर्ममत्व होकर विचार करता है कि मेरा कुछ भी नहीं, मैं अकेला हूं। इस प्रकार एकत्वभावना को भाता हुआ जो अचेल—वस्त्रादि सब प्रकार के परिग्रह से रहित साधु—संयम में उद्यत होकर अवमौदर्य में स्थित होता है वह सब प्रकार के उपद्रव को सहन करता है।

इसकी टीका में शीलांकाचार्य ने 'अचेल' का अर्थ 'अल्पवस्त्रवाला या जिनकल्पिक' किया है।

आगे उक्त आचारांग के सूत्र १८२ में कहा गया है कि जो साधु वस्त्र का परित्याग करके संयम में दृढ है उसके अन्तःकरण में इस प्रकार का आर्तध्यान नहीं होता है—मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है, वस्त्र की मैं याचना करूंगा, धागे की याचना करूंगा, सुई की याचना करूंगा, जोडूंगा, सीऊंगा, बड़ा करूंगा, छोटा करूंगा, पहिनूंगा और शरीर को आच्छादित करूंगा इत्यादि।

इसकी टीका में भी शीलांकाचार्य ने प्रथमतः अचेलका अर्थ अल्प अर्थ में 'नञ्' मानकर 'अज्ञ' पुरुष का उदाहरण देते हुए 'अल्पचेल' किया है। पर आगे चलकर सम्भवतः प्रसंग की प्रतिकूलता का अनुभव करते हुए उन्होंने यह भी कह दिया है—अथवा जिनकल्पिक के अभिप्राय से ही इस सूत्र की व्याख्या करनी चाहिए।

इसी आचारांग सूत्र (२०८–१०) में अपवाद के रूप में यह भी बतलाया है कि जो भिक्षु तीन वस्त्रों को ग्रहण कर संयम का परिपालन कर रहा है उसे कैसी भी शैत्य आदि की बाधा क्यों न हो, चौथे वस्त्र की याचना नहीं करना चाहिए तथा विहित वस्त्रों को धारण करते हुए भी उन्हें धोना नहीं चाहिए। शीत ऋतु के बीत जाने पर तीन की अपेक्षा दो और फिर दो की अपेक्षा एक रखकर अन्त में उसे भी छोड़कर अचेल हो जाना चाहिए। ऐसा करने से उपकरणविषयक लघुता प्रगट होती है तथा कायक्लेशरूप तपका आचरण होता है।

स्थानांगसूत्र में (सू. ४५५, पृ. ३२५) अल्पप्रतिलेखा, लाघविक प्रशस्त, वैश्वासिक रूप, तप अनुज्ञात और विपुल इन्द्रियनिग्रह, इन पांच स्थानों द्वारा अचेलको—वस्त्रहीन साधु को—प्रशस्त बतलाया है।

इसकी टीका में अभयदेव सूरि ने अचेल का अर्थ 'न विद्यन्ते चेलानि वासांसि यस्यासावचेलकः' इस निरुक्ति के साथ निर्वस्त्र—जिनकल्पिक—ही किया है।

मूलाचार (१-३०) में वस्त्र, चमड़ा, वल्कल अथवा पत्र (पत्ता) आदि से शरीर के न ढकने को आचेलक्य का स्वरूप वतलाते हुए उसे लोकपूज्य वतलाया है।

भगवती आराधना में जिस दस प्रकार के कल्प का[1] निर्देश किया गया है उसमें आचेलक्य पहला है[2]। इसकी टीका में अचेलकता—निर्वस्त्रता—का प्रवलता से समर्थन करते हुए अपराजित सूरि ने उसके आश्रय से इन गुणों का प्रादुर्भाव वतलाया है—त्याग, आकिंचन्य, सत्य, लाघव, अदत्तविरति, भावविशुद्धिमय ब्रह्मचर्य, उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, तप, संयमविशुद्धि इन्द्रियविजय और कषायका अभाव आदि।

आगे एतद्विषयक शंका-समाधान में उन्होंने आचारप्रणिधि[3], आचारांग का द्वितीय अध्ययन लोकविजय, वस्त्रैषणा[4], पात्रैषणा[5], भावना[6], सूत्रकृतांग का पुण्डरीक अध्ययन[7], आचारांग, उत्तराध्ययन और दशवैकालिक आदि आगमों के नामोल्लेखपूर्वक कुछ अवतरण भी दिये हैं।

आगे आचारांग के वस्त्रविधायक अन्य सूत्र का भी निर्देश करते हुए उन्होंने वतलाया है कि उसका विधान कारणविशेष की अपेक्षा से किया गया है[8]।

उत्तराध्ययन (२-१३) में कहा गया है कि ज्ञानी साधु चाहे अचेल हो और चाहे सचेल हो उसे इसको धर्मोपकारक जानकर खिन्न नहीं होना चाहिए।

आगे इसी उत्तराध्ययन (२३-२९) में पार्श्वपरम्परा के शिष्य केशिकुमार ने गौतम गणधर से प्रश्न करते हुए कहा है कि वर्धमान स्वामी ने तो अचेलक धर्म का उपदेश दिया है और भगवान् पार्श्व ने सान्तरोत्तर—विशेषवस्त्रयुक्त—धर्म का उपदेश दिया है। एक मार्ग के प्रवर्तक दोनों के उपदेश में यह भेद क्यों ? उत्तर में गौतम ने कहा है कि जनसमुदाय को साधुत्व का परिज्ञान कराने के लिए अनेक प्रकार का विकल्प किया गया है। लिंग का प्रयोजन संयम का निर्वाह और ग्रहण (ज्ञान) है। वस्तुतः मोक्ष के साधक तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र हैं।

अटटांग—यह एक कालका भेद है। तिलोयपण्णत्ती के अनुसार यह ८४ त्रुटित प्रमाण, अनुयोगद्वार सूत्र के अनुसार ८४ लाख त्रुटितप्रमाण तथा ज्योतिष्करण्डक के अनुसार ८४ लाख महात्रुटित प्रमाण है। इन कालवाचक शब्दों में क्रमादि का व्यत्यय भी हुआ है। जैसे—अनुयोगद्वारसूत्र (सूत्र ३६७, पृ. १४९) में उनका क्रम इस प्रकार है—१ त्रुटितांग, २ त्रुटित, ३ अटटांग, ४ अटट, ५ अववांग, ६ अवव, ७ हुहुकांग, ८ हुहुक, ९ उत्पलांग, १० उत्पल, ११ पद्मांग, १२ पदम, १३ नलिनांग, १४ नलिन, १५ अर्थनिपूरांग,

---

१. देखिये पीछे पृ. ३४ का ३रा टिप्पण।

२. आचेलक्कुद्देसिय सेज्जाहररायपिंडकिरियम्मे। जेट्ठपडिक्कमणे वि य मासं पज्जोसवणकप्पो ॥ भ. आ. ४२१.

३. दशवैकालिक का आठवां अध्ययन।

४. आचाराग्र (द्वि. श्रुतस्कन्ध) की प्रथम चूलिका का ५वां अध्ययन।

५. इसी चूलिका का छठा अध्ययन।

६. आचाराग्र की तीसरी चूलिका।

७. सूत्रकृ. द्वि. श्रुतस्कन्ध का प्रथम अध्ययन।

८. आर्यिकाणामागमे अनुज्ञातं वस्त्रं कारणापेक्षया। भिक्षूणां [यः] ह्रीमानयोग्यशरीरावयवो दुश्चर्माभिलम्बमानबीजो वा परीषहसहने वा अक्षमः स गृह्णाति। तथा चोक्तमाचाराङ्गे—सुदं मे आउस्संतो भगवदा एवमक्खादं—इह खलु संजमाभिमुखा दुविहा इत्थी-पुरिसा जादा भवंति। तं जहा—सव्वसमण्णागदे णो सव्वसमण्णागदे चेव। तत्थ जे सव्वसमण्णागदे थिरांगहत्थ-पाणि-पादे सव्विंदियसमण्णागदे तस्स णं णो कप्पदि एगमवि वत्थं धारिउं एव परिहिउं एव अण्णत्थ एगेण पडिलेहणेण इति। भ. आ. ४२१ टीका, पृ. ६१२.

१६ अर्थनिपूर, १७ अयुतांग, १८ अयुत, १९ नयुतांग, २० नयुत, २१ प्रयुतांग, २२ प्रयुत, २३ चूलिकांग, २४ चूलिका, २५ शीर्षप्रहेलिकांग, २६ शीर्षप्रहेलिका।

ज्योतिष्करंडक (२, ६४-७०) में—१ लतांग, २ लता, ३ महानलिन, ४ नलिनांग, ५ नलिन, ६ महानलिनांग, ७ महानलिन, ८ पद्मांग, ९ पद्म, १० महापद्मांग, ११ महापद्म, १२ कमलांग, १३ कमल, १४ महाकमलांग, १५ महाकमल, १६ कुमुदांग, १७ कुमुद, १८ महाकुमुदांग, १९ महाकुमुद, २० त्रुटितांग, २१ त्रुटित, २२ महात्रुटितांग, २३ महात्रुटित, २४ अटटांग, २५ अटट, २६ महाअटटांग, २७ महाअटट, २८ ऊहांग, २९ ऊह, ३० महाऊहांग, ३१ महाऊह, ३२ शीर्षप्रहेलिकांग, ३३ शीर्षप्रहेलिका[1]।

इस मतभेद का कारण माथुरी और वालभी वाचनाओं का पाठभेद रहा है[2]।

अतिचार—प्रसंग के अनुसार इसके अनेक लक्षण उपलब्ध होते हैं। जैसे—पिण्डनिर्युक्ति (१८२) में अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार इन चार के स्वरूप को प्रगट करते हुए कहा गया है कि किसी श्रावक के द्वारा आधाकर्म (साधु को लक्ष्य करके जिस भोजनपाक क्रिया को प्रारम्भ किया जाता है उस क्रिया को और उसके निमित्त से निष्पन्न भोजन को भी आधाकर्म कहा जाता है) का निमंत्रण देने पर उसे साधु यदि स्वीकार करता है तो वह अतिक्रम दोष का भागी होता है। तत्पश्चात् साधु जब उसे स्वीकार करके जाने के लिए उद्यत होता है—पैरों को उठाता-धरता आदि है—तब वह व्यतिक्रम दोष का पात्र होता है। तदनन्तर उक्त आधाकर्म को ग्रहण करने पर अतिचार दोष होता है। अन्त में उसके निगलने पर वह चतुर्थ अनाचार दोष का पात्र होता है।

मूलाचार (११-११) में भी चौरासी लाख गुणों के उत्पादन प्रकरण में उक्त अतिक्रमादि चार का नामोल्लेख मात्र किया गया है। उसकी टीका में वसुनन्दी ने उनका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—संयतसमूह के मध्य में स्थित रहकर विषयों की इच्छा करना, इसका नाम अतिक्रम है। संयतसमूह को छोड़कर संयत के विषयोपकरणों के जुटाने को व्यतिक्रम कहते हैं। व्रत की शिथिलता और कुछ असंयम के सेवन को अतिचार कहा जाता है। व्रत को भंग करके स्वच्छन्दतापूर्ण जो प्रवृत्ति की जाती है, यह अनाचार कहलाता है।

षट्खण्डागमप्ररूपित शीलव्रतविषयक निरतिचारता को स्पष्ट करते हुए धवलाकार ने मद्यपान, मांसभक्षण, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद; इनका त्याग न करने को अतिचार कहा है (पु. ८, पृ. ८२)।

हरिभद्र सूरि ने श्रावकप्रज्ञप्ति की टीका में असत् अनुष्ठानविशेषों को, तथा आवश्यकनिर्युक्ति की टीका में संज्वलन कषायों के उदय से होने वाले चारित्रस्खलनविशेषों को अतिचार कहा है।

आ. अमितगति ने द्वात्रिंशिका में विषयों में प्रवर्तन को अतिचार निर्दिष्ट किया है।

---

१. तिलोयपण्णत्ती आदि अन्य ग्रन्थगत इन कालमानों की तालिका ति. प. भाग २, परिशिष्ट पृ. ९९७ पर देखिये।

२. इह स्कन्दिलाचार्यप्रवृत्तौ दुष्षमानुभावतो दुर्भिक्षप्रवृत्त्या साधूनां पठन-गुणनादिकं सर्वमप्यनेशत्। ततो दुर्भिक्षातिक्रमे सुभिक्षप्रवृत्तौ द्वयोः संघमेलापकोऽभवत्। तद्यथा—एको वालभ्यामेको मथुरायाम्। तत्र च सूत्रार्थसंघटनेन परस्परं वाचनाभेदो जातः, विस्मृतयोर्हि सूत्रार्थयोः स्मृत्वा स्मृत्वा संघटने भवत्यवश्यं वाचनाभेदो न काचिदनुपपत्तिः। तत्रानुयोगद्वारादिकमिदानीं प्रवर्तमानं माथुरवाचनानुगतम्, ज्योतिष्करण्डकसूत्रकर्ता चाचार्यो वालभ्यः, तत इदं संख्यास्थानप्रतिपादनं वालभ्यवाचनानुगतमिति नास्त्यनुयोगद्वारसंख्यास्थानैः सह विसदृशत्वमुपलभ्य विचिकित्सितव्यमिति। ज्योतिष्क. मलय. वृत्ति २-७१, पृ. ४१.

धर्मबिन्दु की टीका, योगशास्त्र, भगवती आराधना की मूलाराधनाद. टीका और सागारधर्मामृत[1] आदि में व्रत की शिथिलता, मलिनता अथवा उसके एकदेश भंग को अतिचार कहा गया है।

वर्तमान में उक्त अतिचार शब्द प्रायः व्रत की मलिनता या उसके देशतः भंग अर्थ में रूढ है। सम्यक्त्व और अहिंसादि १२ व्रतों में से प्रत्येक व्रत के ५-५ अतिचारों की व्यवस्थित प्ररूपणा सर्वप्रथम तत्त्वार्थसूत्र में उपलब्ध होती है। इससे पूर्व के किसी अन्य ग्रन्थ में वह देखने में नहीं आयी। आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्रप्राभृत में बारह प्रकार के देशचारित्र की प्ररूपणा की है, पर वहां किसी भी व्रत और सम्यक्त्व के अतिचारों की सूचना नहीं की गई। वहां एक विशेषता यह है कि देशावकाशिकव्रत का न तो तीन गुणव्रतों में उल्लेख किया गया है और न चार शिक्षाव्रतों में भी। चार शिक्षाव्रतों में सामायिक, प्रोषध और अतिथिपूजा के साथ सल्लेखना को ग्रहण किया गया है (२४-२५)।

यद्यपि उवासगदसाओ में आनन्द उपासक को लक्ष्य करके सम्यक्त्व व स्थूलप्राणातिपातविरमण आदि प्रत्येक व्रत के ५-५ अतिचारों का निर्देश किया गया है[2] पर वह तत्त्वार्थसूत्र का अनुसरण है अथवा इसके अनुसार तत्त्वार्थसूत्र में उनका विवेचन किया गया है, यह कहा नहीं जा सकता।

सोमदेव सूरि ने अपने उपासकाध्ययन में प्रायः इन अतिचारों का निर्देश तो किया है, पर उन्होंने उनके लिए अतिचार या उसके पर्यायवाची किसी अन्य शब्द का भी प्रयोग नहीं किया, और न उनकी संख्या (सल्लेखना को छोड़कर) का भी निर्देश किया है। केवल उन्हें विवक्षित व्रत के निवर्तक या घातक घोषित किया है[3]।

अधःकर्म, आधाकर्म—सामान्यरूप से ये दोनों शब्द समानार्थक हैं। पिण्डनिर्युक्तिकार ने (गाथा ९५) इसके ये चार नाम निर्दिष्ट किये हैं—आहाकम्म (आधाकर्म), अहेकम्म (अधःकर्म), आयाहम्म (आत्मघ्न) और अत्तकम्म (आत्मकर्म)।

आ. भूतबलि षट्खण्डागम में इसका लक्षण इस प्रकार करते हैं—उपद्रावण, विद्रावण, परितापन और आरम्भ के निमित्त से जो सिद्ध होता है उसे आधाकर्म कहते हैं।

मूलाचार (६-५) में लगभग इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि छह काय के प्राणियों के विराधन और उपद्रावण आदि से जो निष्पन्न है, तथा स्वकृत अथवा परकृतरूप से जो अपने को प्राप्त है उसे आधाकर्म जानना चाहिए। 'स्वकृत व परकृतरूप से अपने को प्राप्त' इतना मात्र यहां विशेष जोड़ा गया है।

पिण्डनिर्युक्ति (९७) में इसका लक्षण इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है—जिस साधु के निमित्त अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार औदारिक शरीरवाले जीवों का उद्द्रवण (अपद्रावण)—अतिपात वर्जित पीड़ा—की जाती है और त्रिपातन—मन, वचन व काय इन तीन का अथवा देह, आयु और इन्द्रिय इन तीन का विनाश या उनसे वियुक्त किया जाता है; उसे आधाकर्म कहते हैं। आगे यहां (९९) भाव आधाकर्म का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि साधु चूंकि संयमस्थानकाण्डकों, लेश्या और स्थिति सम्बन्धी विशुद्ध एवं विशुद्धतर स्थानों में वर्तमान अपने भावको अधः करता है—हीन और हीनतर स्थानों में स्थापित करता है—अतएव इसे भाव अधःकर्म कहा जाता है। यह विवेचन भी बहुत कुछ अंश में षट्खण्डागम और मूलाचार जैसा ही है।

भगवती आराधना में वसति के प्रकरण में गा. २३० की टीका में अपराजित सूरि के द्वारा प्रकृत

---

१. पं. आशाधर ने अपने सागारधर्मामृत की स्वोपज्ञ टीका में जो १२ व्रतों के अतिचारों का विशेष स्पष्टीकरण किया है उसका आधार प्रायः हेमचन्द्रसूरि का योगशास्त्र और उसका स्वोपज्ञ विवरण रहा है। (विशेष के लिए देखिये अनेकान्त वर्ष २०, पृ. ११६-२५ व १५१-६१ में 'सागारधर्मामृत पर इतर श्रावकाचारों का प्रभाव' शीर्षक लेख।)

२. उवासगदसाओ (पी. एल. वैद्य, फर्गुसन कालेज पूना) १, ४४-५७, पृ. ६-१२.

३. देखिए श्लोक ३७०, ३८१, ४१८, ७५६, ७६६, ८५१ और ९०३ आदि।

आधाकर्म का स्वरूप प्रगट करते हुए कहा गया है कि वृक्षों को काटकर लाना, ईंटों का पकाना, भूमि को खोदना, पत्थर और बालू आदि से पूर्ण करना, पृथिवी का कूटना, कीचड़ (गारा) करना, कीलों का करना, अग्नि से लोहे को तपाकर घन से पीटना और आरी से लकड़ी चीरना; इत्यादि व्यापार से छह कायिक जीवों को बाधा पहुँचा कर जो वसति स्वयं निर्मित की जाती है या दूसरे से करायी जाती है उसे आधाकर्म शब्द से कहा जाता है। यह लक्षण प्रायः पिण्डनिर्युक्ति जैसा है। विशेष इतना है कि पिण्डनिर्युक्ति में उक्त लक्षण आहार के प्रकरण में कहा गया है, और यहाँ चूंकि वह वसति के प्रकरण में कहा गया है, अतः वसति के विषय में सम्भव दोषों को ही यहाँ प्रगट किया गया है।

शीलांकाचार्य के अभिप्रायानुसार साधु के लिए जो सचित्त को अचित्त किया जाता है या अचित्त को पकाया जाता है, यह आधाकर्म है। लगभग यही अभिप्राय आचार्य हेमचन्द्र भी निरुक्तिपर्वक (आधाय विकल्प्य यतिं मनसि कृत्वा सचित्तस्याचित्तकरणमचित्तस्य वा पाको निरुक्तादाधाकर्म) योगशास्त्र में प्रगट करते हैं।

अनादेय, आदेय—इन दोनों के लक्षणों में कुछ भेद देखा जाता है। सर्वार्थसिद्धि आदि में उनके लक्षण में कहा गया है कि जो नामकर्म प्रभायुक्त शरीर का कारण है वह आदेय और उससे विपरीत अनादेय कहलाता है।

तत्त्वार्थ भाष्य में आदेयभाव के निवर्तक कर्म को आदेय और विपरीत को अनादेय बतलाया गया है। इसको स्पष्ट करते हुए हरिभद्र सूरि और सिद्धसेन गणी कहते हैं कि जिस जीव के आदेय नामकर्म का उदय होता है वह जो कुछ भी कहे उसे लोग प्रमाण मानते हैं तथा उसे देखते ही वे खड़े होते हुए उच्चासनादि देकर सम्मानित करते हैं, इस प्रकार उनके अभिप्रायानुसार जो आदरोत्पादन का हेतु है वह आदेय और उससे विपरीत अनादेय माना गया है।

धवलाकार के मत से आदेय नामकर्म वह है जिसके उदय से जीव को आदेयता प्राप्त होती है, आदेयता का अभिप्राय वे गृहणीयता या बहुमान्यता प्रगट करते हैं। अनादेय के लक्षण में वे कहते हैं कि जिस कर्म के उदय से उत्तम अनुष्ठान करता हुआ भी जीव गौरवित नहीं होता है वह अनादेय कहलाता है।

आचार्य वसुनन्दी मूलाचार की वृत्ति में पूर्वोक्त दोनों ही प्रकार के लक्षणों को इस प्रकार से व्यक्त करते हैं—जिसके उदय से आदेयता—प्रभोपेत शरीर—होता है वह, अथवा जिसके उदय से जीव आदेयवाक्य होता है वह, आदेयनामकर्म कहलाता है।

उक्त दोनों प्रकार के लक्षणों में से आदेयता—आदरपात्रता—रूप आदेय के लक्षण में श्वे. ग्रन्थकार प्रायः एकमत हैं, पर दि. ग्रन्थकारों में कुछ मतभेद रहा दिखता है।

अनिश्रित, अनिःसृत—बहु व अल्प आदि बारह पदार्थों के आश्रय से अवग्रहादि में से प्रत्येक के १२-१२ भेद होते हैं। उनमें एक अनिश्रित या अनिःसृत अवग्रह है। तत्त्वार्थवार्तिक में उसके स्वरूप का निर्देश करते हुए कहा गया है कि अतिशय विशुद्धि से युक्त श्रोत्र आदि के परिणाम के निमित्त से जिसका पूर्णरूप से उच्चारण नहीं किया गया है उसका जो ग्रहण होता है उसे अनिःसृत अवग्रह कहते हैं। आगे चक्षु इन्द्रिय के आश्रय से यह कहा गया है कि पांच वर्ण वाले वस्त्र, कम्बल व चित्रपट आदि के एकदेश विषयक पांच वर्ण के ग्रहण से समस्त पांच वर्णों के दृष्टिगोचर न होने पर भी सामर्थ्य से जो उनका ग्रहण होता है, यह अनिःसृतावग्रह कहलाता है। अथवा किसी अन्य देश में स्थित पांच वर्ण वाले एक वस्त्र आदि के कथन से जिसका पूर्णरूप से कथन नहीं किया गया है उसके भी एकदेश के कथन से जो उनका ग्रहण हो जाता है, इसका नाम अनिःसृत-अवग्रह है।

हरिभद्र सूरि तत्त्वार्थसूत्र (१-१६) की टीका में उसके लक्षण में कहते हैं कि मेघशब्द आदि से भेरीशब्द के अवग्रहण के समान अन्य की अपेक्षा से रहित जो वेणु आदि के शब्द का ग्रहण होता है, इसे अनिश्रित अवग्रह कहते हैं। यह लक्षणनिर्देश वृद्धव्याख्या के अनुसार किया गया है। आचार्य सिद्धसेन गणी

उसका लक्षण इस प्रकार प्रकट करते हैं—निश्रित का अर्थ 'लिंग से जाना गया' है, जैसे जूही के फूलों के अतिशय शीत, मृदु और स्निग्ध आदि स्पर्श का अनुभव पूर्व में हुआ था, उस अनुमान से लिंग के द्वारा उस विषय को न जानता हुआ जो उसका ज्ञान प्रवृत्त होता है उसे अनिश्रित-अवग्रह कहते हैं।

धवलाकार तीन स्थलों पर उसका लक्षण पृथक्-पृथक् इस प्रकार करते हैं। पु. ६—अनभिमुख अर्थ के ग्रहण को अनिःसृतावग्रह कहते हैं, अथवा उपमान-उपमेय भाव के बिना जो ग्रहण होता है उसे अनिःसृतावग्रह जानना चाहिए। पु. ९—वस्तु के एकदेश के आश्रय से समस्त वस्तु का जो ग्रहण होता है, यह अनिःसृतावग्रह कहलाता है, अथवा वस्तु के एकदेश या समस्त ही वस्तु के आलम्बन से जो वहां असंनिहित अन्य वस्तु का बोध होता है, यह भी अनिःसृतप्रत्यय कहलाता है। पु. १३—आलम्बनीभूत वस्तु के एकदेश के ग्रहण समय में जो एक वस्तु का ज्ञान होता है उसे, अथवा वस्तु के एकदेश के ज्ञान के समय में ही दृष्टान्त के आश्रय से अथवा अन्य प्रकार से भी जो अनवलम्बित वस्तु का ज्ञान होता है उसे, तथा अनुसन्धानप्रत्यय और प्रत्यभिज्ञान को भी अनिःसृतप्रत्यय कहते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त अनिःसृतावग्रह के लक्षणों में अनेकरूपता उपलब्ध होती है। उक्त लक्षणों का फलितार्थ ऐसा प्रतीत होता है—

१. त. वा.—पूर्णतया अनुच्चारित शब्द का ग्रहण, वस्तु के एकदेशगत वर्णादि के देखने से समस्त वस्तुगत वर्णादि का ज्ञान, अन्यदेशस्थ पंचरंगे किसी एक वस्त्रादि के कथन से अन्य अकथित का ग्रहण।

२. त. वृ. हरि.—अन्य शब्द निरपेक्ष शब्द का ग्रहण।

३. त. वृ. सिद्ध—लिंगनिरपेक्ष ग्रहण।

४. धवला—अनभिमुख अर्थका ग्रहण, उपमान-उपमेय भाव के बिना होने वाला ज्ञान, वस्तु के एकदेश से समस्त वस्तु का तथा असंनिहित अन्य वस्तु का ग्रहण एवं अनुसन्धानप्रत्यय आदि।

अनुक्त-अवग्रह—सर्वार्थसिद्धि में इसका लक्षण 'अभिप्राय से ग्रहण' कहा गया है। तत्त्वार्थवार्तिक में इस लक्षण का अनुसरण करते हुए प्रकारान्तर से यह भी कहा गया है कि श्रोत्र इन्द्रियादि के प्रकृष्ट विशुद्धि परिणाम के निमित्त से एक वर्ण के भी न निकलने पर अभिप्राय से ही अनुच्चारित शब्द का जो अवग्रह होता है उसका नाम अनुक्त-अवग्रह है। अथवा स्वर-संचार के पहले बाजे को विवक्षित स्वर-संचार के अनुरूप करते हुए देखकर अवादित शब्द को जान लेना कि आप इस शब्द को (स्वर को) बजाने वाले हैं, इस प्रकार के ग्रहण को अनुक्तावग्रह कहा जाता है। आगे चक्षु इन्द्रिय के आश्रय से उदाहरण देते हुए कहा गया है कि किसी को शुक्ल व कृष्ण आदि वर्णों का मिश्रण करते हुए देखकर यह बिना कहे ही जान लेना कि आप अमुक वर्ण इनके मिलाने से तैयार कर रहे हैं, यह अनुक्तावग्रह है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में कहा गया है कि स्तोक पुद्गल के निकलने से जो बोध होता है वह अनुक्तावग्रह कहलाता है।

तत्त्वार्थभाष्यानुसारी सूत्रपाठ में प्रकृत सूत्र (१-१६) में 'अनुक्त' के स्थान में 'असन्दिग्ध' पाठ है। इस सम्बन्ध में वृत्तिकार सिद्धसेन गणी कहते हैं कि 'उक्तमवगृह्णाति' यह विकल्प एक श्रोत्रावग्रह को ही विषय करता है, वह सर्वव्यापी नहीं है। कारण यह कि उक्त का अर्थ शब्द है और वह भी अक्षरात्मक शब्द। इसका अवग्रह एक मात्र श्रोत्रावग्रह ही हो सकता है। अनुक्त जो उक्त से विपरीत अनक्षरात्मक शब्द है उसके अवग्रहण का नाम अनुक्तावगृह होगा। इसमें चूंकि अव्याप्ति दोष सम्भव है, अतः दूसरों ने उसके स्थान में 'निश्चितमवगृह्णाति' इस विकल्प को स्वीकार किया है। उदाहरण इसके लिए यह दिया गया है—स्त्री के स्पर्शविषयक अवग्रह से स्त्री का ही ज्ञान होता है तथा पुष्पों या चन्दन के स्पर्श से पुष्पों या चन्दन का ही ज्ञान होता है।

धवलाकार अनुक्तावग्रह (अनुक्तप्रत्यय) के लक्षण में कहते हैं कि विवक्षित इन्द्रिय के प्रतिनियत गुण से विशिष्ट वस्तु का जब बोध होता है तब उस इन्द्रिय के अनियत गुण से विशिष्ट उक्त वस्तु का

जिसके आश्रय से बोध होता है उसका नाम अनुक्तावग्रह है। जैसे—चक्षु इन्द्रिय से गुड़ का ज्ञान होने पर उसके अनियत गुण स्वरूप जो रस का भी बोध होता है, तथा घ्राण इन्द्रिय से दही के गन्ध को जानकर उसी समय उसके खट्टे-मीठेपन का भी ज्ञान होता है, यही अनुक्तावग्रह है। मूलाचार की वृत्ति में आचार्य वसुनन्दी ने और आचारसार के कर्ता वीरनन्दी ने धवलाकार के लक्षण का अनुसरण किया है (देखो अनुक्त शब्द)।

तत्त्वार्थसूत्र की सुखबोधा वृत्ति में उसके लक्षण में कहा गया है कि किसी के द्वारा 'अग्नि को लाओ' ऐसी आज्ञा देने पर 'खप्पर आदि से' अग्नि के ले जाने का जो स्वयं विचार उदित होता है, इसे अनुक्तावग्रह कहते हैं।

इन सब लक्षणों में सर्वार्थसिद्धि का लक्षण व्यापक है, कारण कि बिना कहे ही प्रसंग के अनुसार अभिप्राय से शब्दादि सभी विषयों का अवग्रह हो सकता है। तदनुसार ही तत्त्वार्थवार्तिककार ने श्रोत्र व चक्षु इन्द्रियों के आश्रय से उदाहरण देते हुए उसे स्पष्ट भी किया है। सुखबोधा वृत्ति का उदाहरण तो बहुत उपयुक्त प्रतीत होता है, वहाँ अग्नि लाने की आज्ञा देते हुए यह नहीं कहा गया है कि खप्पर से लाना या थाली आदि से। फिर भी उसे ले जाना वाला सोचता है कि उसका हाथों से या कपड़े आदि से ले जाना तो शक्य नहीं है, अतः वह खप्पर आदि से ले जाता है। यह अनुक्तावग्रह ही है। इससे सिद्धसेन गणी द्वारा दिये गये अव्याप्ति दोष की सम्भावना नहीं दिखती।

धवलाकार आदि के द्वारा स्वीकृत लक्षण भी उचित हैं। कारण यह कि लोकव्यवहार में आम आदि के गन्ध को घ्राण इन्द्रिय के द्वारा जानकर उसके अविषयभूत खट्टे या मीठे रस का बोध होता हुआ देखा जाता है।

अनुपस्थापन—परिहार प्रायश्चित्त दो प्रकार का है—अनुपस्थापन परिहार और पारंचिक परिहार। प्रकृत अनुपस्थापन शब्द के विविध ग्रन्थों में अनेक रूप देखे जाते हैं। जैसे—तत्त्वार्थवार्तिक व आचारसार में अनुपस्थापन, बृहत्कल्पसूत्र में अणवट्ठप्प (अनवस्थाप्य), धवला में अणवट्ठअ (अनवस्यक?) तथा चारित्रसार एवं अनगारधर्मामृत में अनुपस्थान।

तत्त्वार्थवार्तिक में इसका लक्षण संक्षेप में इस प्रकार कहा गया है—हीनता को प्राप्त होकर आचार्य के पास में, अथवा अपने से हीन आचार्य के पास में जो प्रायश्चित ग्रहण किया जाता है, इसका नाम अनुपस्थापन प्रायश्चित्त है। यहां परिहार प्रायश्चित्त के उक्त प्रकार से दो भेदों का निर्देश नहीं किया गया है।

षट्खण्डागम की टीका धवला में उसके उपर्युक्त दो भेदों का तो निर्देश किया गया है, पर वह किस प्रकार का अपराध होने पर स्वीकार किया जाता है, इसका निर्देश जैसे तत्त्वार्थवार्तिक में नहीं किया गया वैसे ही यहां भी नहीं किया गया है। विशेषता यह है कि यहां उसका जघन्य काल छह मास और उत्कृष्ट बारह वर्ष प्रमाण कहा गया है। साथ ही यहां यह भी निर्देश किया गया है कि इस प्रायश्चित्त को स्वीकार करनेवाला साधु कायभूमि से—ऋषियों के आश्रम से—परे जाकर प्रतिवन्दना से रहित होता है—बाल मुनिजन भी यदि वन्दना करते हैं तो वह प्रतिवन्दना नहीं करता। वह गुरु को छोड़कर अन्य साधुओं के प्रति मौन रखता हुआ उपवास, आचाम्ल, पुरिमार्ध, एकस्थान और निर्विकृति आदि के द्वारा अपने रस, रुधिर एवं मांस को सुखाता है।

चारित्रसार में उक्त अनुपस्थान प्रायश्चित्त को निजगण और परगण के भेद से दो प्रकार का निर्दिष्ट किया गया है। इनमें निजगणानुपस्थान प्रायश्चित्त किस प्रकार के अपराध पर ग्रहण किया जाता है, इसका निर्देश करते हुए यहां कहा गया है कि जो प्रमाद से दूसरे मुनि के ऋषि छात्र को, गृहस्थ को, अन्य पाखण्डियों से सम्बन्धित चेतन-अचेतन द्रव्य को, अथवा पर स्त्री को चुराता है; अन्य मुनियों पर प्रहार करता है तथा इसी प्रकार का और भी विरुद्ध आचरण करता है उसे यह निजगणानुपस्थान प्रायश्चित्त ग्रहण करना पड़ता है। यह प्रायश्चित्त उसके सम्भव है जो नौ-दस पूर्वों का धारक,

प्रथम तीन संहनन से संयुक्त, परीषहों का विजेता, धर्म में दृढ़, धीर और संसार से भयभीत होता है। वह ऋषि-आश्रम से बत्तीस धनुष दूर जाकर स्थित होता हुआ बाल मुनियों के द्वारा वन्दना करने पर भी प्रतिवन्दना नहीं करता, गुरु के साथ आलोचना करता है, शेष जनों के विषय में मौन रखता है, तथा पिच्छी को विपरीत रूप से धारण करता है। वह उत्कृष्ट रूप से बारह वर्ष तक कम से कम पांच-पांच उपवास और अधिक से अधिक छह-छह मास के उपवास करता है।

उपर्युक्त अपराध को यदि कोई अभिमान के साथ करता है तो उसे दूसरा परगणोपस्थापन प्रायश्चित्त करना पड़ता है। तदनुसार उसे अपने गण का आचार्य परगण के आचार्य के पास भेजता है, जो उसकी आलोचना को सुनकर प्रायश्चित्त के दिये बिना अन्य आचार्य के पास भेजता है। वह भी उसकी आलोचना को सुनकर बिना प्रायश्चित्त दिये अन्य आचार्य के पास भेजता है। इस प्रकार से उसे सातवें आचार्य के पास तक भेजा जाता है। सातवां आचार्य उसे प्रथम आचार्य के पास वापिस भेजता है। तब प्रथम आचार्य ही उससे पूर्वोक्त प्रायश्चित का पालन कराता है।

आचारसार और अनगारधर्मामृत में प्रकृत प्रायश्चित का विधान उक्त चारित्रसार के समान ही किया गया है।

मूलाचार की वसुनन्दिविरचित वृत्ति (५-१६५) में उक्त परिहार प्रायश्चित्त के गणप्रतिबद्ध और अगणप्रतिबद्ध ये दो भेद निर्दिष्ट किये गये हैं। गणप्रतिबद्ध प्रायश्चित्त को ग्रहण करनेवाला जहां मुनिजन प्रश्रवण (मूत्र) आदि करते हैं वहां रहता है, पीछी को आगे करके मुनियों की वन्दना करता है, पर मुनि उसकी वन्दना नहीं करते; इस प्रकार उसके द्वारा जो गण में क्रिया की जाती है, यह गणप्रतिबद्धपरिहार कहलाता है। जिस देश में धर्म का ज्ञान नहीं रहता, वहां जाकर वह मौनपूर्वक तपश्चरण का अनुष्ठान करता है, यह अगणप्रतिबद्धप्रायश्चित है। यहां धवला और चारित्रसार आदि के समान परिहार प्रायश्चित्त के अनुपस्थान और पारंचिक भेद तो निर्दिष्ट नहीं किये गये, पर गणप्रतिबद्ध और अगणप्रतिबद्ध इन दो भेदों का उल्लेख अवश्य किया गया है। ये कुछ अंश में उक्त अनुपस्थापन परिहार से समानता रखते हैं।

बृहत्कल्पसूत्र (उ. ४, सू. ३) में अनवस्थाप्य तीन प्रकार के निर्दिष्ट किये गये हैं—साधर्मिकों (साधुओं) की उपधि व शिष्य आदि की चोरी करनेवाला, अन्य धार्मिकों की उपधि आदि की चोरी करनेवाला और हाथ, लाठी एवं मुट्ठी आदि से दूसरे पर प्रहार करनेवाला। जिसके लिये यह प्रायश्चित्त दिया जाता है उसका भी ग्रहण यहां अनवस्थाप्य शब्द से ही किया गया है।

इसके पूर्व यहां पारंचिक प्रायश्चित्त की प्ररूपणा की जा चुकी है। पारंचिक प्रायश्चित्त से जहां आचार्य विशुद्धि को प्राप्त करता है, वहां इस अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त से उपाध्याय विशुद्धि को प्राप्त होता है। अनवस्थाप्य का अर्थ है अपराधक्षण में ही व्रतों में अवस्थापन के अयोग्य।

आशातन और प्रतिसेवी के भेद से उक्त अनवस्थाप्य दो प्रकार का है। इनमें भी प्रत्येक के दो भेद हैं—सचारित्र और अचारित्र। सचारित्र और अचारित्र का अभिप्राय यह है कि किसी अपराध के सेवन से तो चारित्र सर्वथा ही नष्ट हो जाता है और किसी के सेवन से वह देशरूप में नष्ट होता है। कारण यह है कि अपराध के समान होने पर भी परिणाम के वश उसमें विविधता होती है। इसी प्रकार परिणाम के समान होने पर भी कहीं पर अपराध में भी विविधता होती है।

जो आशातन अनवस्थाप्य तीर्थंकर, प्रवचन, श्रुत, आचार्य, गणधर और महर्द्धिक इनमें से तीर्थंकर या प्रवचन की आशातना—विराधना या तिरस्कार—करता है उसके लिए अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त का विधान है। शेष में से जो किसी एक की आशातना करता है उसके लिए चार गुरु प्रायश्चित्त होते हैं। परन्तु यदि कोई शेष उन चारों की ही आशातना करता है तो वह अनवस्थाप्य होता है।

प्रतिसेवना अनवस्थाप्य भी पूर्वोक्त साधर्मिक आदि के भेद से तीन प्रकार का है। इनके लिए भी अपराध के अनुसार यहां विविध प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान है—जैसे शैक्ष के लिये मूल

प्रायश्चित्त तक, उपाध्याय के लिए अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त तक और आचार्य के लिए पारंचिक प्रायश्चित्त तक।

किन गुणों से युक्त साधु (उपाध्याय) को यह अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त दिया जाता है, इसका विचार करते हुए यहां कहा गया है कि जो संहनन (वज्रवृषभनाराच), वीर्य, आगम—जघन्य से नौवें पूर्व के अन्तर्गत आचार नामक तीसरी वस्तु और उत्कर्ष से असम्पूर्ण दसवां पूर्व, तथा सूत्र और अर्थ इनसे व तदनुरूप विधि से परिपूर्ण है; सिंहनिःक्रीडित आदि तपों का आदर करता है, इन्द्रियों व कषायों के निग्रह में समर्थ है, प्रवचन के रहस्य को जानता है, गच्छ से निकाले जाने का अशुभ भाव जिसके हृदय में जरा भी नहीं रहता तथा जो निर्वासन के योग्य है; इन गुणों से युक्त साधु ही प्रकृत अनवस्थाप्य के योग्य स्थान को प्राप्त करता है। उक्त गुणों से जो रहित होता है उसे अनवस्थाप्य के योग्य अपराध के होने पर भी मूल प्रायश्चित ही दिया जाता है।

आशातन अनवस्थाप्य जघन्य से छह मास और उत्कर्ष से बारह मास तक गच्छ से पृथक् रहता है। परन्तु प्रतिसेवी अनवस्थाप्य जघन्य से एक वर्ष और उत्कर्ष से बारह वर्ष तक गच्छ से पृथक् रहता है। कारणविशेष से वह इसके पूर्व भी गच्छ में प्रविष्ट हो सकता है।

इस प्रकार के अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त को जो प्राप्त करता है वह उपाध्याय ही होता है। उसे अपने गण में रहते हुए इस प्रायश्चित्त को ग्रहण नहीं करना चाहिए, किन्तु अपने समान किसी शिष्य को अपना भार सौंपकर अन्य गण में चले जाना चाहिये और वहां पहुंचकर प्रशस्त द्रव्य-क्षेत्रादि में दूसरे गण के आचार्य को आलोचना देना चाहिए। उस समय उपसर्ग के निवारणार्थ दोनों ही कायोत्सर्ग करते हैं। अपने गण में रहते हुए इस प्रायश्चित्त के न कर सकने का कारण यह है कि वैसा होने पर शिष्यों का उसके ऊपर विश्वास नहीं रह सकता, वे निर्भय होकर आज्ञा भंग कर सकते हैं; तथा शिष्यों के अनुरोध से भक्त-पानादि के लाने में नियंत्रणा नहीं होती। ये सब दोष परगण में चले जाने पर सम्भव नहीं हैं।

जब वह अन्य गण के आचार्य को आलोचना देता है तब आचार्य चतुर्विंशतिस्तव का उच्चारण करते हुए इतर साधुओं से कहते हैं कि यह तप को स्वीकार करता है, इसलिए यह आप लोगों के साथ संभाषण आदि न करेगा, आप लोग भी इसके साथ संभाषण आदि न करें।

उक्त अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त को स्वीकार करके वह परगण में शैक्ष आदि सभी साधुओं की वन्दना करता है, गच्छ में रहता हुआ वह शेष साधुओं के उपभोग से रहित उपाश्रय के एक पार्श्व में रहता हुआ संभाषण, प्रतिप्रच्छन, परिवर्तन और अभ्युत्थान आदि नहीं करता।

प्रकृत प्रायश्चित्त की प्ररूपणा यहां ५०५८–५१३७ गाथाओं में की गई है।

अनुमानित—यह १० आलोचनादोषों में दूसरा है। कहीं-कहीं (चारित्रसार, अनगारधर्मामृत और आचारसार आदि में) इसका उल्लेख 'अनुमापित' नाम से किया गया है। मूलाचार (११-१५) और भगवती आराधना (५६२) के अनुसार वे दस दोष ये हैं—आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी। तत्त्वार्थवार्तिक में इन दोषों के स्वरूप का निर्देश करते हुए उनके नामों का निर्देश न करके केवल प्रथम-द्वितीयादि संख्याशब्दों का ही उपयोग किया गया है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में उनका स्वरूप तो संक्षेप में दिखलाया गया है, पर वहां न उनके नामों का निर्देश किया गया है और न संख्याशब्दों का भी। तत्त्वार्थभाष्य और तदनुसारिणी हरिभद्र सूरि एवं सिद्धसेन गणी विरचित टीकाओं में उक्त दोषों का उल्लेख ही नहीं किया गया है। वहां केवल आलोचना के इन पर्याय शब्दों का निर्देश मात्र किया गया है—आलोचन, विवरण, प्रकाशन, आख्यान और प्रादुष्करण।

प्रकृत अनुमानित दोष का लक्षण भगवती आराधना में पांच गाथाओं द्वारा (५६६-७३) इस प्रकार बतलाया गया है—अपराध करने वाला साधु स्वभावतः शारीरिक सुख की अपेक्षा रखता हुआ

अपने वल को छिपाकर पार्श्वस्थ होने के कारण गुरु से कहता है कि मैं चूंकि निहीन (दुर्बल) हूँ, अतएव उपवास के लिए असमर्थ हूँ। आप मेरे वल, अंगों की दुर्बलता—उदराग्नि की मन्दता—और रुग्ण अवस्था को जानते ही हैं, मैं उत्कृष्ट तप करने के लिए समर्थ नहीं हूँ। मैं सबकी आलोचना करता हूं, यदि तत्पश्चात् आप मेरे ऊपर अनुग्रह करते हैं। आपकी कृपा से मैं शुद्धि की इच्छा करता हूँ, जिससे मेरा कृत अपराध से उद्धार हो सके। इस प्रकार से प्रार्थना करता हुआ वह अनुमान से ही हीन-अधिक प्रायश्चित देनेरूप गुरु के अभिप्राय को जानकर शल्य से युक्त (शंकित) होता हुआ पीछे आलोचना करता है। यह दूसरा (अनुमानित) आलोचनादोष है। इस दोष की समीक्षा करते हुए आगे कहा गया है कि जिस प्रकार सुख का इच्छुक कोई मनुष्य गुणकारक समझकर अपथ्य भोजन को करता है और पीछे उसके कटुक फल को भोगता है उसी प्रकार उक्त प्रकार से आलोचना करने वाला उससे शुद्धि की कल्पना करके परिणाम में अपने अहित को ही करता है।

उक्त दोष (द्वितीय) का लक्षण तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, चारित्रसार और आचारसार में इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है—मैं स्वभावतः दुर्बल व रोगी होने से उपवास आदि के करने में असमर्थ हूँ। यदि प्रायश्चित्त थोड़ा दिया जाता है तो मैं प्रकृत दोषों का निवेदन करूंगा। इस प्रकार से दीनतापूर्ण वचन कहना, यह आलोचना का अनुमानित नाम का दूसरा दोष है। इस प्रकार के लक्षण में 'अनुमानित' की सार्थकता नहीं दिखती।

भगवती आराधना की विजयोदया टीका में कहा गया है कि किसी प्रकार से गुरु के अभिप्राय को जानकर—थोड़ा प्रायश्चित्त देने वाले हैं या अधिक, इसका अनुमान करके—आलोचना करना, इसे आलोचना का अनुमानित दोष कहा जाता है।

मूलाचार की टीका में इसके लक्षण में यह कहा गया है कि जो अपने शरीर और आहार के तुच्छ वल को प्रगट करने वाले दीन वचनों के द्वारा आचार्य को अनुमान कराकर अपने प्रति दयार्द्रचित्त करते हुए अपने दोषों का निवेदन करता है वह आलोचना सम्बन्धी इस अनुमानित दोष का भागी होता है।

व्यवहारसूत्र भाष्य की मलयगिरि विरचित टीका में कहा गया है कि छोटे से अपराध के निवेदन आदि के द्वारा आचार्य अल्प दण्ड देने वाले हैं या गुरुतर, इसका अनुमान करके जो आलोचना की जाती है; इसका नाम अनुमानित दोष है।

अनृत—तत्त्वार्थसूत्र में सामान्य से असत् बोलने को अनृत (असत्य) कहा गया है। इसको स्पष्ट करते हुए सर्वार्थसिद्धि व तत्त्वार्थवार्तिक में कहा गया है कि असत् का अर्थ अप्रशस्त और अप्रशस्त का अर्थ है प्राणिपीड़ाकर। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो वचन प्राणी को पीड़ा पहुँचाने वाला है वह चाहे विद्यमान अर्थ का प्ररूपक हो और चाहे अविद्यमान अर्थ का, किन्तु उसे असत्य ही कहा जाता है।

तत्त्वार्थभाष्य में असत् का अर्थ सद्भावप्रतिषेध, अर्थान्तर और गर्हा किया गया है। इनमें सद्भावप्रतिषेध के स्वरूप को प्रगट करते हुए भूतनिह्नव—विद्यमान अर्थ के अपलाप और अभूतोद्भावन—अतत्स्वरूपता—को सद्भावप्रतिषेध कहा गया है। इनके लिये उदाहरण देते हुए क्रमशः उसे इस प्रकार से स्पष्ट किया गया है—जैसे आत्मा नहीं है व परलोक नहीं है, इत्यादि वचन विद्यमान अर्थ के अपलापक होने से असत् (असत्य) माने जाते हैं। यह आत्मा समा (एक प्रकार का छोटा धान्य) के चावल बराबर है, अंगूठे के पर्व प्रमाण है, आदित्यवर्ण (भास्वररूप) है या निष्क्रिय है, इत्यादि वचन अभूतोद्भावक होने से—अयथार्थ स्वरूप के प्ररूपक होने के कारण—असत्य माने जाते हैं। गाय को घोड़ा और घोड़े को गाय कहना, यह अर्थान्तररूप असत् वचन है। सत्य होते हुए भी यदि कोई वचन हिंसा, कठोरता अथवा पिशुनतायुक्त है तो वह गर्हारूप (कुत्सित—शास्त्रनिषिद्ध) होने से असत् माना जाता है।

तत्त्वार्थवार्तिक (७, १४, ५) में यह शंका उठाई गई है कि 'असदभिधानमनृतम्' के स्थान में 'मिथ्याऽनृतम्' ऐसा सूत्र होना चाहिए था, क्योंकि इसमें सूत्रोचित लाघव था। इसके समाधान में यहां

यह कहा गया है कि ऐसा करने से केवल विपरीत अर्थ मात्र का बोध हो सकता था—हिंसादियुक्त वचन का बोध उससे नहीं हो सकता था। कारण यह कि 'मिथ्या' शब्द की प्रवृत्ति विपरीत अर्थ में ही देखी है। अत एव वैसा सूत्र करने पर भूतनिह्नव और अभूतोद्भावनविषयक वचन ही असत्य ठहरता, न कि हिंसादि का कारणभूत वचन। आगे भूतनिह्नव और अभूतोद्भावन के लिए जो 'आत्मा नहीं है' इत्यादि उदाहरण दिये गये हैं वे भाष्य जैसे ही हैं।

ऐसी ही आशंका सिद्धसेन गणी ने भी उक्त सूत्र की टीका में उठाई है और उसके समाधान का अभिप्राय भी लगभग वैसा ही रहा है।

आचार्य अमृतचन्द्र के द्वारा अपने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (९१-९९) में जो असत्य वचन का विवेचन किया गया है वह भाष्यकार के अभिप्राय से बहुत कुछ मिलता-जुलता है (देखिये 'असत्य' शब्द)।

अन्यविवाहकरण—यह ब्रह्मचर्याणुव्रत का एक अतिचार है। सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक में सामान्य से दूसरे के विवाह के करने को उक्त अतिचार कहा गया है।

तत्त्वार्थभाष्य में इन पांच अतिचारों के नाम मात्र का निर्देश किया गया है।

हरिभद्र सूरि और सिद्धसेन गणी अपनी-अपनी टीका में उसे स्पष्ट करते हुए पर या अन्य शब्द से अपनी सन्तान को छोड़कर अन्य की सन्तान को ग्रहण करते हैं। तदनुसार अपनी सन्तान का विवाह करना तो अतिचार नहीं है, किन्तु कन्याफल की इच्छा से अथवा स्नेहवश किसी दूसरे की सन्तान का विवाह करने पर उक्त अतिचार अनिवार्य है। इनके पश्चाद्वर्ती प्रायः सभी ग्रन्थकारों ने—जैसे हेमचन्द्र सूरि, मुनिचन्द्र और पं. आशाधर आदि ने—इसी अभिप्राय को व्यक्त किया है।

अपरिगृहीतागमन—यह भी एक उक्त ब्रह्मचर्यव्रत का अतिचार है। इन अतिचारों के विषय में ग्रन्थकारों में कुछ मतभेद रहा है। तत्त्वार्थसूत्र के जिस सूत्र में इन अतिचारों का नामनिर्देश किया गया है उसमें भी सर्वार्थसिद्धि और भाष्य के अनुसार कुछ भिन्न पाठ है। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार वे पांच अतिचार ये हैं—परविवाहकरण, इत्वरिका-परिगृहीतागमन, इत्वरिका-अपरिगृहीतागमन, अनंगक्रीडा और कामतीव्राभिनिवेश। तत्त्वार्थभाष्य के अनुसार वे ही अतिचार इस प्रकार हैं—परविवाहकरण, इत्वर-परिगृहीतागमन, अपरिगृहीतागमन, अनंगक्रीडा और कामतीव्राभिनिवेश।

पं. आशाधर ने सागारधर्मामृत (४-५८) में इन अतिचारों का निर्देश इस प्रकार किया है—इत्वरिकागमन, परविवाहकरण, विटत्व, स्मरतीव्राभिनिवेश और अनंगक्रीडा। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र में निर्दिष्ट इत्वरिका-परिगृहीतागमन और इत्वरिका-अपरिगृहीतागमन इन दो का अन्तर्भाव एक 'इत्वरिका-गमन' में करके विटत्व नाम के एक अन्य भी अतिचार को सम्मिलित कर लिया है।

हरिभद्र सूरि और सिद्धसेन गणी श्रावक को लक्ष्य करके अब्रह्म की निवृत्ति दो प्रकार से बतलाते हैं—स्वदारसन्तोष से अथवा परपरिगृहीत स्त्री के सेवन के परित्याग से। तदनुसार स्वदारसन्तोषी अपनी पत्नी को छोड़कर शेष सभी स्त्रियों के सेवन से दूर रहता है। किन्तु दूसरा जो परपरिगृहीत स्त्री के सेवन का त्याग करता है वह अपनी पत्नी के सेवन का तो त्यागी होता ही नहीं है, साथ ही जो वेश्या आदि दूसरों के द्वारा परिगृहीत नहीं है उनके उपभोग से भी वह निवृत्त नहीं होता है। विशेष इतना है कि यदि उक्त अपरिगृहीत वेश्या आदि ने किसी अन्य का कुछ काल के लिए भाड़ा ले लिया है तो तब तक वह परपरिगृहीत स्त्री के त्यागी को भी अनुपभोग्य होती है।

योगशास्त्र के कर्ता आचार्य हेमचन्द्र और सागारधर्मामृत के कर्ता पं. आशाधर का भी लगभग यही अभिप्राय रहा है। आ. हेमचन्द्र ने इत्वरात्ता (इत्वर-परिगृहीता) गमन और अनात्तागमन इन दो अतिचारों का निर्देश केवल स्वदारसन्तोषी के लिए किया है। शेष तीन अतिचार दोनों के लिए कहे गये हैं[1]।

---

१. इमौ चातिचारौ स्वदारसन्तोषिण एव, न तु परदारवर्जकस्य; इत्वरात्ताया वेश्यात्वेन अनात्तायास्त्व-नाथतयैवापरदारत्वात्। शेषास्त्वतिचारा द्वयोरपि। योगशा. स्वो. विव.

प्रकृत अपरिगृहीतागमन अतिचार के विषय में सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक आदि के कर्त्ताओं ने अपरिगृहीता शब्द से सामान्यतः पर पुरुष से सम्बन्ध रखनेवाली वेश्या या स्वामी से रहित अन्य दुराचारिणी स्त्री को ग्रहण किया है। परन्तु हरिभद्र सूरि आदि ने उसमें एक विशेषण और जोड़कर जिसने किसी दूसरे में आसक्त होकर उसका भाड़ा ले लिया है ऐसी वेश्या अथवा अनाथ—स्वामिविहीन—कुलांगना को ग्रहण किया है। इसका यह अभिप्राय हुआ कि यदि कोई ब्रह्मचर्याणुव्रती किसी वेश्या अथवा स्वामिरहित अन्य किसी स्त्री के साथ समागम करता है तो सर्वार्थसिद्धि आदि के मत से यह उसके व्रत को दूषित करनेवाला अतिचार होगा। किन्तु हरिभद्र सूरि आदि के मत से वह अतिचार नहीं होगा, वह अतिचार उनके मत से तभी होगा जब कि उसने किसी दूसरे का भाड़ा ले लिया हो।

अप्रतिपाती (अवधि)—तत्त्वार्थवार्तिक में प्रतिपाती और अप्रतिपाती के स्वरूप को प्रगट करते हुए कहा गया है कि जो देशावधि विद्युत्प्रकाश के समान विनष्ट होनेवाला है उसे प्रतिपाती और इसके विपरीत को—जो विद्युत्प्रकाश के समान नष्ट होनेवाला न हो—अप्रतिपाती कहा जाता है।

धवला में इसे कुछ और विशद करते हुए कहा गया है कि जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर केवलज्ञान के उत्पन्न हो जाने पर ही नष्ट होता है, उसके पूर्व में नष्ट नहीं होता; उसका नाम अप्रतिपाती है।

देवेन्द्रसूरि द्वारा विरचित कर्मविपाक की स्वोपज्ञ वृत्ति में उसका स्वरूप कुछ भिन्न इस प्रकार कहा गया है—जो प्रतिपतित न होकर अलोक के एक प्रदेश को भी जानता है वह अप्रतिपाती कहलाता है। लोकप्रकाश में भी उसका यही लक्षण कहा गया है।

आचार्य मलयगिरि ने उसके लक्षण का निर्देश करते हुए प्रज्ञापना की वृत्ति में कहा है कि जो केवलज्ञान अथवा मरण के पूर्व नष्ट नहीं होता उसे अप्रतिपाती कहा जाता है।

अव्यक्त दोष—यह दस आलोचनादोषों में नौवां है। भगवती आराधना (५९८-६००) में इसके स्वरूप का निर्देश करते हुए कहा गया है कि जो ज्ञानबाल और चारित्रबाल के पास आलोचना करता हुआ यह समझता है कि मैंने सबकी आलोचना कर ली है उसकी यह आलोचना अव्यक्त नामक नौवें आलोचनादोष से दूषित होती है। कारण यह है कि वैसी आलोचना परिणाम में हानिप्रद है। जिस प्रकार कोई अज्ञानी सुवर्ण जैसे दिखनेवाले किसी पदार्थ को यथार्थ सुवर्ण समझकर ग्रहण करता है, पर उसका उपयोग अभीष्ट वस्तु के ग्रहण में नहीं होता है, तथा दुष्ट के साथ की गई मित्रता जिस प्रकार परिणाम में अहितकर होती है, उसी प्रकार अल्पज्ञ के समक्ष की जानेवाली आलोचना शुद्धि का कारण न होकर अनर्थकारक ही होती है।

अनुमानित दोष के प्रसंग में यह पूर्व में कहा जा चुका है कि तत्त्वार्थवार्तिक और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में इन दोषों के नामों का निर्देश नहीं किया गया, उनके लिए केवल सख्या शब्दों—प्रथम व द्वितीय आदि शब्दों—का ही निर्देश किया गया है। प्रकृत (अव्यक्त) दोष वहां नौवां विवक्षित रहा है या दसवां, यह निश्चय नहीं किया जा सका। वहां नौवें और दसवें दोषों के लक्षण इस प्रकार कहे गये हैं— ९ किसी प्रयोजन को लक्ष्य में रखकर जो साधु अपने ही समान है उसके पास प्रमाद से किये गये अपने असदाचरण का निवेदन करके यदि गुरुतर भी प्रायश्चित्त ग्रहण किया जाता है तो भी वह निष्फल होता है, यह नौवां आलोचना दोष है। १० इसके अपराध से मेरा अपराध समान है, उसे यही जानता है; अतः इसे जो प्रायश्चित्त दिया गया है वही मेरे लिये भी शीघ्रता से कर लेना चाहिये, ऐसा विचार करते हुए प्रायश्चित्त लेना; यह दसवां दोष है।

चारित्रसार में अनेक विषयों का विवेचन केवल तत्त्वार्थवार्तिक के आधार से ही नहीं, बल्कि कहीं कहीं तो उसी के शब्दों व वाक्यों में किया गया है। प्रकृत अव्यक्त दोष का लक्षण यहां तत्त्वार्थवार्तिककार के शब्दों में ही व्यक्त किया गया है। यहाँ इतना विशेष है कि 'नवम' शब्द के साथ उसका अव्यक्त नाम

भी निर्दिष्ट किया गया है[1] (पृ. ६१-६२)।

लक्षणकारों की दृष्टि में 'अव्यक्त' शब्द के ये दो अर्थ रहे प्रतीत होते हैं—प्रगट न करना[2] और अगीतार्थ—आगम में अनिष्णात[3]। यदि तत्त्वार्थवार्तिककार की दृष्टि में अव्यक्त का अर्थ अप्रगट रहा है तब तो उनके द्वारा निर्दिष्ट दसवां दोष ही अव्यक्त हो सकता है। वहां उसके लक्षण में स्पष्टतया 'स्वदुश्चरितसंवरणम्—अपने दुराचरण को प्रगट न करना या छिपाना' यह निर्दिष्ट किया गया है।

आचारसार में इसके लक्षण का निर्देश करते हुए कहा गया है जो गुरु अपने समान ही ज्ञान और तप में बाल (हीन) है उसके समक्ष लज्जा, भय अथवा प्रायश्चित्तादि के भय के कारण आलोचना करना—बहुश्रुत आचार्य के पास नहीं करना, यह अव्यक्त नाम का आलोचनादोष है। यह लक्षण पूर्वोक्त भगवती आराधनागत लक्षण के समान है।

मूलाचार की टीका में उक्त लक्षण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि जो प्रायश्चित्त आदि के विषय में निपुण नहीं है उसे अव्यक्त कहा जाता है। उसके पास जो अल्प प्रायश्चित्त आदि के निमित्त से अपने दोष को कहता है वह इस अव्यक्त दोष का पात्र होता है।

व्यवहारसूत्र भाष्य की मलयगिरि विरचित टीका में उसका लक्षण इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है—अव्यक्त नाम अगीतार्थ का है, ऐसे अगीतार्थ गुरु के आगे जो अपराध की आलोचना की जाती है, इसे अव्यक्त नामक नौवां आलोचनादोष जानना चाहिए।

भट्टारक श्रुतसागर ने भावप्राभृत की टीका में स्पष्टतापूर्वक दोष के न कहने को अव्यक्त दोष कहा है।

अस्थिर नामकर्म—सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थभाष्य में स्थिरता के निवर्तक कर्म को स्थिर और इससे विपरीत को अस्थिर नामकर्म कहा गया है। सर्वार्थसिद्धिगत इस लक्षण के स्पष्टीकरण में तत्त्वार्थवार्तिककार कहते हैं कि जिसके उदय से दुष्कर उपवासादि तप के करने पर भी अंग-उपांगों की स्थिरता रहती है उसे स्थिर नामकर्म कहते हैं, तथा जिसके उदय से थोड़े भी उपवासादि के करने से अथवा थोड़ी-सी शीत या उष्णता आदि के सम्बन्ध से अंग-उपांग कृशता को प्राप्त होते हैं उसे अस्थिर नामकर्म कहते हैं।

तत्त्वार्थभाष्यगत उक्त लक्षण को विशद करते हुए हरिभद्र सूरि और सिद्धसेन गणी कहते हैं कि जिसके उदय से शिर, हड्डी और दांत आदि शरीरावयवों में स्थिरता होती है वह स्थिर और जिसके उदय से कान और त्वक् आदि शरीरावयवों में अस्थिरता, चलता व मृदुता होती है वह अस्थिर नामकर्म कहलाता है।

धवलाकार कहते हैं कि जिसके उदय से रस-रुधिरादि धातुओं की स्थिरता, अविनाश व अगलन होता है उसे स्थिर नामकर्म तथा जिसके उदय से उक्त रस-रुधिरादि धातुओं का उपरिम धातु के रूप में परिणाम होता है उसे अस्थिर नामकर्म कहा जाता है।

अन्य ग्रन्थों में से भगवती आराधना की टीका में अपराजित सूरि ने सर्वार्थसिद्धि व तत्त्वार्थभाष्य का, मूलाचार की वृत्ति में वसुनन्दी ने धवलाकार का, भास्करनन्दी ने त. सुखबोधा वृत्ति में तत्त्वार्थवार्तिककार का तथा शेष (चन्द्रर्षि महत्तर, गोविन्द गणी और अभयदेव सूरि आदि) ने हरिभद्र सूरि का अनुसरण किया है।

---

१. प्रस्तुत लक्षणावली में 'अव्यक्त दोष' के अन्तर्गत तत्त्वार्थवार्तिकगत जिस दसवें दोष के लक्षण का उल्लेख किया गया है उसके स्थान में इस नौवें दोष का लक्षण ग्रहण करना चाहिए—यत्किञ्चित् प्रयोजनमुद्दिश्यात्मना समानायैव प्रमादाचरितमावेद्य महदपि गृहीतं प्रायश्चित्तं न फलकरमिति नवमः। यही अभिप्राय तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के विषय में भी जानना चाहिये।

२. देखिये भावप्राभृत की टीकागत उक्त लक्षण। भावप्राभृत के टीकाकार भट्टारक श्रुतसागर ने तत्त्वार्थसूत्र की वृत्ति में अव्यक्त का अर्थ अप्रबुद्ध निर्दिष्ट किया है।

३. देखिये आचारसारगत और मूलाचार की टीकागत उक्त लक्षण।

आकम्पित—यह दस आलोचनादोषों में प्रथम है। भगवती आराधना में इसका लक्षण इस प्रकार कहा गया है—भोजन-पान, उपकरण और क्रियाकर्म (कृतिकर्म) इनके द्वारा गणी (आचार्य) को दयार्द्र करके जो आलोचना की जाती है, उसमें चूंकि यह उद्देश रहता है कि इस प्रकार आचार्य मेरे ऊपर अनुग्रह करेंगे व आलोचना भी सब हो जावेगी, अत एव इसे आकम्पित नाम का प्रथम आलोचना-दोष समझना चाहिए।

तत्त्वार्थवार्तिक आदि में भी उसका लक्षण लगभग इसी प्रकार का कहा गया है। विशेषता इतनी है कि भगवती आराधना में जहां अनुकम्पा के हेतुभूत भक्त-पान, उपकरण और क्रियाकर्म का निर्देश किया गया है; वहां इन ग्रन्थों में केवल उपकरणदान का ही निर्देश किया गया है, भक्त-पानादि का नहीं। मूलाचार की वसुनन्दी विरचित टीका में अवश्य भक्त-पान और उपकरणादि का निर्देश किया गया है।

भावप्राभृत की टीका में भट्टारक श्रुतसागर ने सम्भवत: उक्त लक्षण की सार्थकता दिखलाने के अभिप्राय से यह कहा है कि आलोचना करते हुए शरीर में चूंकि कम्प उत्पन्न होता है, भय करता है; इसी से इसे आकम्पित कहा जाता है। उन्होंने तत्त्वार्थवृत्ति में उसके लक्षण का निर्देश तत्त्वार्थवार्तिक के ही समान किया है।

आनुपूर्वी या आनुपूर्व्य नामकर्म—इसके लक्षण का निर्देश करते हुए तत्त्वार्थभाष्य में कहा गया है कि विवक्षित गति में उत्पन्न होने वाला जीव जब अन्तर्गति (विग्रहगति) में वर्तमान होता है तब उसे अनुक्रम से जो उस (विवक्षित) गतिके अभिमुख—उसके प्राप्त कराने में समर्थ होता है उसे आनुपूर्वी नामकर्म कहते हैं।

इसी भाष्य में मतान्तर को प्रगट करते हुए पुनः कहा गया है कि दूसरे आचार्य यह कहते हैं कि जो निर्माण नामकर्म से निर्मित अंग और उपांगों के रचनाक्रम का नियामक है उसे आनुपूर्वी नामकर्म कहा जाता है।

सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक आदि के अनुसार जिसके उदय से पूर्व शरीर का आकार विनष्ट नहीं होता है वह आनुपूर्वी नामकर्म कहलाता है।

उत्कृष्ट श्रावक—ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक श्रावक को उत्कृष्ट कहा गया है। आचार्य समन्तभद्र उसके लक्षण को प्रगट करते हुए रत्नकरण्डक में कहते हैं कि जो घर से—उसे छोड़कर—मुनियों के आश्रम में चला जाता है और वहां गुरु के समीप में व्रतों को ग्रहण करता हुआ भिक्षा से प्राप्त भोजन करता है, तप का आचरण करता है, तथा वस्त्रखण्ड को—लंगोटी मात्र को—धारण करता है वह उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है। यहां उस उत्कृष्ट श्रावक के कोई भेद निर्दिष्ट नहीं किए गए।

पर वसुनन्दिश्रावकाचार और सागारधर्मामृत में उसके दो भेद निर्दिष्ट करते हुए कहा गया है कि प्रथम उत्कृष्ट श्रावक वह है जो एक वस्त्र को धारण करता है, कैंची अथवा उस्तरे से बालों को निकलवाता है, बैठने आदि के समय में उपकरण (कोमल वस्त्रादि) के द्वारा प्रतिलेखन करता है—झाड़ता है, बैठकर हाथ में अथवा बर्तन में एक बार भोजन करता है, पर्व दिनों में नियम से उपवास करता है, भिक्षा के लिए जाते हुए पात्र को धोता है व किसी गृहस्थ के घर जाकर आंगन में स्थित होता हुआ 'धर्मलाभ' के उच्चारणपूर्वक याचना करता है, वहां भिक्षाभोजन प्राप्त हो अथवा न भी हो, वहां से शीघ्र निकल कर दूसरे घर पर जाता है व मौनपूर्वक शरीर को दिखलाता है, यदि मार्ग में कोई भोजन के लिए प्रार्थना करता है तो प्रथमतः प्राप्त हुए भोजन को खाकर फिर शेष भोजन वहां करता है। यदि कोई बीच में नहीं रोकता है तो उदरपूर्ति के योग्य भिक्षा के लिए भ्रमण करता है, पश्चात् किसी एक गृह पर प्रासुक पानी को मांग कर भोजन को सोधता हुआ खाता है और फिर पात्र को धोकर गुरु के समीप जाता है। यदि यह विधि किसी को नहीं रुचती है तो वह एकभिक्षा के नियम-

पूर्वक मुनि के आहार के बाद भोजनार्थ जाता है, यदि अन्तराय आदि होता है तो फिर गुरु के समीप चार प्रकार के उपवास को ग्रहण करता है और सबकी आलोचना करता है।

दूसरा उत्कृष्ट श्रावक उक्त प्रथम के ही समान है। विशेष इतना है कि वह बालों का नियम से लोच करता है, पिच्छी को धारण करता है, लंगोटी मात्र रखता है, और हाथ में ही भोजन करता है। पं. आशाधर के अभिमतानुसार इसका नाम आर्य है (प्रथम की कोई संज्ञा निर्दिष्ट नहीं की गई)। आ. वसुनन्दी ने अन्त में यह सूचना की है कि उक्त दोनों प्रकार के उत्कृष्ट श्रावक का कथन सूत्र के अनुसार किया गया है।

उपभोग—भोग और उपभोग ये दोनों शब्द अनेक ग्रन्थों में व्यवहृत हुए हैं। पर उनके लक्षण में एकरूपता नहीं रही। तत्त्वार्थसूत्र में इन दोनों शब्दों का उपयोग २-३ बार हुआ है[1]। किन्तु सूत्रात्मक ग्रन्थ होने से उनके लक्षणों का निर्देश वहां नहीं किया गया है।

रत्नकरण्डक में इनके पृथक्-पृथक् लक्षण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि जिसे एक बार भोग कर छोड़ दिया जाता है वह भोग और जिसे एक बार भोग कर फिर से भोगा जा सकता है वह उपभोग कहलाता है। जैसे क्रमशः भोजन आदि और वस्त्र आदि[2]।

सर्वार्थसिद्धि (२-४) में नौ प्रकार के क्षायिक भाव की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि समस्त भोगान्तराय के क्षय से जो अतिशययुक्त अनन्त क्षायिक भोग प्रादुर्भूत होता है उससे कुसुमवृष्टि आदि उत्पन्न होती हैं तथा सम्पूर्ण उपभोगान्तराय के क्षय से जो अनन्त क्षायिक उपभोग होता है उससे सिंहासन, चामर एवं तीन छत्र आदि विभूतियाँ प्रादुर्भूत होती हैं। इसका फलितार्थ यह प्रतीत होता है कि जो कुसुमादि एक बार भोगने में आते हैं उन्हें भोग और जो छत्र-चामरादि अनेक बार भोगे जाते हैं उन्हें उपभोग समझना चाहिए।

आगे (२-५४) यहां कार्मण शरीर की विशेषता को प्रगट करते हुए कहा गया है कि अन्तिम (कार्मण शरीर) उपभोग से रहित है। यहां उपभोग का स्पष्टीकरण करते हुए यह कहा गया है कि इन्द्रियों के द्वारा जो शब्दादिक की उपलब्धि होती है उसे उपभोग जानना चाहिए। यहां सम्भवतः एक व अनेक बार इन्द्रियों के द्वारा उपलब्ध होने वाले सभी पदार्थों को उपभोग शब्द से ग्रहण किया गया है।

यहीं पर दिग्व्रतादि सात शीलों के निर्देशक सूत्र (७-२१) की व्याख्या में उपभोग-परिभोग-परिणामव्रत का विवेचन करते हुए भोजन आदि—जो एक ही बार भोगे जाते हैं—उन्हें उपभोग और वस्त्राभूषणादि—जो बार-बार भोगे जाते हैं—उन्हें परिभोग कहा गया है।

तत्त्वार्थवार्तिक में सर्वार्थसिद्धिकार के ही अभिप्राय को पुष्ट किया गया है। विशेष इतना है कि यहां (७,२१,९-१०) उपभोग का निरुक्त्यर्थ करते हुए कहा गया है कि 'उपेत्य भुज्यते इत्युपभोगः' अर्थात् जिन अशन-पानादि वस्तुओं को आत्मसात् करके भोगा जाता है उन्हें उपभोग कहा जाता है तथा 'परित्यज्य भुज्यत इति परिभोगः' अर्थात् जिन वस्त्राभूषणादि को एक बार भोग कर व छोड़कर फिर से भोगा जाता है उन्हें परिभोग कहा जाता है।

तत्त्वार्थवार्तिककार के द्वारा निर्दिष्ट इस निरुक्तार्थका अनुसरण हरिवंशपुराण, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और चारित्रसार में भी किया गया है।

इस प्रकार उक्त दोनों ग्रन्थों में प्रथमतः (२-४) जो उपभोग का लक्षण निर्दिष्ट किया गया है, उससे अन्त में (७ २१) निर्दिष्ट किया गया, उसका लक्षण भिन्न है।

---

१. ज्ञान-दर्शन-दान-लाभ-भोगोपभोगवीर्याणि च (२-४), निरुपभोगमन्त्यम् (२-४४, श्वे. २-४५), दिग्देशानर्थदण्डविरति·········(७-२१, श्वे. ७-१६)।

२. भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः। उपभोगोऽशन-वसनप्रभृतिपांचेन्द्रियो विषयः ॥८३॥

तत्त्वार्थभाष्य में उपभोग-परिभोगव्रत के प्रसंग में यह कहा गया है कि अशन-पान, खाद्य, स्वाद्य, गन्ध और माला आदि तथा वस्त्र, अलंकार, शयन, आसन, गृह, यान और वाहन आदि जो बहुत पापजनक पदार्थ हैं; उनका परित्याग करना तथा अल्प पापजनक पदार्थों का परिमाण करना, इसका नाम उपभोग-परिभोगव्रत है। यहां यद्यपि उपभोग और परिभोग के लक्षणों का स्पष्ट निर्देश नहीं किया गया है, फिर भी जिस क्रम से उक्त व्रत का लक्षण कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि जो एक वार भोगने में आता है उसे उपभोग और जो अनेक वार भोगने में आता है उसे परिभोग कहा जाता है।

तत्त्वार्थसूत्र की हरिभद्र सूरि विरचित भाष्यानुसारिणी टीका (२-४) में कहा गया है कि उचित भोग के साधनों की प्राप्ति में जो निर्विघ्नता का कारण है उसे क्षायिक भोग और उचित उपभोग के साधनों की प्राप्ति में जो निर्विघ्नता का कारण है उसे क्षायिक उपभोग कहा जाता है। यहीं पर आगे उन दोनों में भेद प्रगट करते हुए यह कहा गया है कि जो एक वार भोगा जाता है वह भोग और जो वार-वार भोगा जाता है वह उपभोग कहलाता है। जैसे क्रमशः भक्ष्य-पेय आदि और वस्त्र-पात्र आदि।

आगे (६-२६) यहाँ उक्त भोग और उपभोग के लक्षणों में कहा गया है कि मनोहर शब्दादि विषयों के अनुभवन को भोग और अन्न, पान व वस्त्रादि के सेवन को उपभोग कहते हैं।

उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत के प्रसंग में यहाँ (७-१६) इतना मात्र कहा गया है कि उपभोग व परिभोग शब्दों का व्याख्यान किया जा चुका है। तदनुसार एक ही वार भोगे जाने वाले पुष्पाहारादि को उपभोग और वार-वार भोगे जाने वाले वस्त्रादि को परिभोग जानना चाहिए।

तत्त्वार्थभाष्य की सिद्धसेन गणि विरचित टीका (२-४) में कहा गया है कि उत्तम विषयसुख के अनुभव को भोग कहते हैं, अथवा एक वार उपयोग में आने के कारण भक्ष्य, पेय और लेह्य आदि पदार्थों को भोग समझना चाहिए। विषय-सम्पदा के होने पर तथा उत्तरगुणों के प्रकर्ष से जो उनका अनुभवन होता है, इसका नाम उपभोग है; अथवा वार-वार उपभोग के कारण होने से वस्त्र व पात्र आदि को उपभोग कहा जाता है।

आगे (६-२६) हरिभद्र सूरि के समान सिद्धसेन गणि ने भी उन्हीं के शब्दों में मनोहर शब्द आदि विषयों के अनुभवन को भोग तथा अन्न, पान व वस्त्र आदि के सेवन को उपभोग कहा है। अनर्थदण्डविरति के प्रसंग में (७-१६) सिद्धसेनगणि उन दोनों का निरुक्तार्थ करते हुए कहते हैं कि 'उपभुज्यत इत्युपभोगः' इसमें 'उप' का अर्थ 'एक वार' है, तदनुसार जो पुष्पमाला आदि एक ही वार भोगी जाती है, उन्हें उपभोग कहा जाता है। अथवा 'उप' शब्द का अर्थ 'अभ्यन्तर' है तदनुसार अन्तर्भोगरूप आहार आदि को उपभोग कहा जाता है। 'परिभुज्यत इति परिभोगः' इस निरुक्ति में 'परि' शब्द का अर्थ 'वार वार' है। तदनुसार जिन्हें वार-वार भोगा जाता है ऐसे वस्त्र, गन्ध-माला और अलंकार आदि को परिभोग जानना चाहिए।

सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक के समान हरिभद्र सूरि और सिद्धसेन गणि के द्वारा भी जो पूर्व में (२-४) उपभोग का लक्षण कहा गया है उससे पीछे (७-१६) निर्दिष्ट किया गया उसी का लक्षण भिन्न है।

पीछे के अधिकांश ग्रन्थकारों ने वार-वार भोगे जाने वाले पदार्थों को ही उपभोग माना है।

श्रुतसागर सूरि ने 'उपभोग-परिभोगपरिमाणम्' के स्थान में 'भोगोपभोगपरिमाणम्' पाठान्तर की सूचना की है, पर वह कहां उपलब्ध होता है, इसका कुछ निर्देश नहीं किया।

———

प्राकृत शब्दों की विकृति व उनका संस्कृत रूपान्तर

अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के द्वारा जो तत्त्वोपदेश दिया गया वह अर्धमागधी प्राकृत में दिया गया था। गौतमादि गणधरों के द्वारा वह आचारांगादि श्रुत के रूप में उसी भाषा में ग्रथित किया गया। तत्पश्चात् वही मौखिक रूप में श्रुतकेवलियों आदि की परम्परा से अंगश्रुत के एकदेश के धारक आचार्यों तक प्रवाहित रहा। तदनन्तर भयानक दुर्भिक्ष के कारण जब साधु जन संयम के संरक्षणार्थ विभिन्न स्थानों को चले गये तब पारस्परिक तत्त्वचर्चा के अभाव में जो कुछ शेष रहा था वह भी लुप्तप्राय हो गया। इस प्रकार से उसे सर्वथा लुप्त होते हुए देख कर विचारशील महर्षियों ने यथासम्भव स्मृति के आधार पर पुस्तकरूप में ग्रथित किया। वही वर्तमान में हमें प्राप्त है। इस प्रकार आगम-भाषा मूलतः प्राकृत ही रही है, पर महर्षियों के विभिन्न प्रान्तों में रहने के कारण तथा उच्चारणभेद व लिपिदोष के कारण भी वह भाषा उसी रूप में अवस्थित नहीं रह सकी व कुछ विकृत हो गई। यही कारण है जो आज एक ही शब्द के अनेक रूप उपलब्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त समय की स्थिति को देखते हुए जब उमास्वाति आदि महर्षियों को संस्कृत में ग्रन्थरचना की आवश्यकता प्रतीत हुई तब उन्होंने संस्कृत में भी ग्रन्थरचना प्रारम्भ कर दी। इसके लिए प्राकृत शब्दों का संस्कृत रूपान्तर करने में भी कुछ शब्द भेद हुआ है।

उदाहरणस्वरूप षट्खण्डागम की धवला टीका में परिहार प्रायश्चित्त के दो भेदों का निर्देश करते हुए उसका प्रथम भेद 'अणवट्ठओ' बतलाया है। हस्तलिखित प्रतियों में इसके ये रूप और भी पाये जाते हैं— 'अणुवट्ठवओ', 'अणुवट्ठवओ' और 'अणुवट्ठओ'। इसका संस्कृत रूपान्तर तत्त्वार्थवार्तिक और आचारसार में 'अनुपस्थापन' तथा चारित्रसार और अनगारधर्मामृत टीका में 'अनुपस्थान' पाया जाता है। वही मूलरूप में बृहत्कल्पसूत्र में 'अणवट्ठप्प—अनवस्थाप्य' पाया जाता है[1]।

दूसरा उदाहरण त्रिलोकसार की गाथा ५८५ है। इसमें हिमवान् पर्वत पर स्थित वृषभाकार नाली का वर्णन करते हुए उसके मुख, कान, जिह्वा और दृष्टि को तो सिंह के आकार तथा भ्रू और शीर्ष आदि को बैल के आकार का बतलाता गया है। इस प्रकार से उसमें अविकल वृषभाकारता नहीं रही। वस्तुस्थिति यह रही है कि ग्रन्थकर्ता के सामने इसका वर्णन करने वाली जो पूर्व गाथा रही है उसमें 'सिंग' शब्द रहा है। वह विकृत होकर ग्रन्थकार को 'सिंघ' के रूप में उपलब्ध हुआ और उन्होंने प्रकृत गाथा में उसके पर्यायवाची 'केसरी' शब्द का प्रयोग कर दिया। 'सिंग' शब्द के रहने से उसका सीधासादा अर्थ यह हो जाता है कि उसके सींग आदि सब चूंकि बैल के समान हैं, अतएव वह वृषभाकार प्रसिद्ध हुई है[2]।

इसी प्रकार साधु के आहारविषयक १६ उद्गमदोषों में एक अभिहृत नाम का दोष है। मूल प्राकृत शब्द 'अभिघड' रहा है[3]। उसका संस्कृत रूप भगवती आराधना की विजयोदया टीका (२३०) में 'अभ्यहिड', मूलाराधनादर्पण में 'अभिहड', मूलाचार वृत्ति में 'अभिघट' और आचारसार (८-२० व

---

१. देखिये पीछे पृ. ७६-७८ पर 'अनुपस्थापन' शब्द की समीक्षा।

२. देखिये तिलोयपण्णत्ती भा. २, प्रस्तावना पृ. ६७.

३. मूलाचार ६-४, १६ व २१ पिण्डनिर्युक्ति ६३ व ३२६.

८-३२) में 'अभिहत' पाया जाता है। वही पिण्डनिर्युक्ति की मलयगिरि विरचित वृत्ति (६३ व ३२६) में क्रम से 'अभिहृत' और 'अभ्याहृत', चारित्रसार (पृ. ३३) में मूलाचार के अनुसार 'अभिघड' तथा अनगारधर्मामृत (५-६ व १६) में 'अभिहृत' उपलब्ध होता है।

प्रकृत में यहां ये तीन उदाहरण दिए गए हैं। इसी प्रकार अनेक प्राकृत शब्दों में विकार व उनके विविध संस्कृत रूपान्तर हुए हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं —

प्राकृत	संस्कृत रूपान्तर
अज्झोवज्झ, अज्झोवरय	अध्यधि, अध्यवधि, अध्यवपूरक
अधापवत्त, अहापवत्त	अथाप्रवृत्त, अधःप्रवृत्त, यथाप्रवृत्त
अवाय	अपाय, अवाय
अवाधा, अवाहा, आवाधा	अवाधा, आवाधा
आउज्जीकरण, आवज्जिदकरण, आवज्जीकरण	आयोजिकाकरण, आवर्जितकरण
आचिण्ण-अणाचिण्ण	आचिन्न-अनाचिन्न, आचीर्ण-अनाचीर्ण, आदृत-अनादृत
आधाकम्म, अहेकम्म, आयाहम्म, अत्तकम्म	आधाकर्म, अधःकर्म, आत्मघ्नकर्म, आत्मकर्म
आसीविस	आशीविष, आशीरविष, आशीर्विष, आस्यविष
उद्दावण, ओद्दावण	अपद्रावण, उपद्रवण
उवसण्णासण्ण, ओसण्णासण्ण, उस्सण्हसण्हिया ओसण्णासण्णिया	अवसंज्ञासंज्ञा, अवसन्नासन्निका उत्संज्ञासंज्ञा, उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिका

वीर-सेवा-मन्दिर
२१, दरियागज
दिल्ली

बालचन्द्र शास्त्री

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	कालम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	१	६	नवस्मकर्म	नवरमकर्म
२	१	७	१००	१०८
६	१	१०	**अक्षम्रक्षणवृत्ति**	**अक्षम्रक्षण**
६	१	१६	२५	३५
१८	२	४	६५१	४५५
१८	२	११	१-३	१-३०
२१	२	४०	विषयं	विचयं
२३	२	१७	ग्रडडंगसहस्साइं	ग्रडडंगसयसहस्साइं
२७	१	१	३६	१-३६
२८	२	३०	२-८	३-८
३१	२	६	प्रवुत्त	प्रवृत्त
३६	२	२१	ग्रारंभ	परिदावण-ग्रारंभ
४०	१	२२	ग्रध्यदि	ग्रध्यधि
४०	१	२२	**ग्रज्झोवज्ज**	**ग्रज्झोवज्झ**
४६	२	२६	**घय.**	**घव.**
५२	२	२६	**ग्रनवक्ष्या-**	**ग्रनवेक्ष्या-**
६६	२	३५	एकवर्णनि-	एकवर्णानि-
७३	१	२६	**दशवै. नि. १-४८**	× × ×
८१	१	३०	**६. ग्रा. मूल.**	**भ. ग्रा. मूला.**
८१	२	३२	-मात्मा, ग्रादित्यवर्णः	-मात्मा, ग्रङ्गुष्ठपर्वमात्रो-ऽयमात्मा, ग्रादित्यवर्णः
९२	१	३२	गोरश्वस्य-	गोरश्वस्त-
९२	१	३४	सम्वन्वः । ३	सम्वन्धः । (प्रमाल. वृ. ३८६) । ३
११२	१	३८	**स्वो.**	**मान. स्वो.**
११४	१	१३	**स्थानांग सू.**	**स्थानांग ग्रभय. वृ. सू.**
१३२	१	२७	कपिलव	कपिल व
१६६	२	१३	गामान्तर	नामान्तर
१९९	१	२१	**ग्रानपूर्वी**	**ग्रानुपूर्वी**
२०६	२	१८	**प्रज्ञाव.**	**प्रज्ञाप.**
२१५	१	१३	देखी ग्रायुक्तकरण	देखो ग्रायोजिकाकरण
२१५	१	२२	**पृ.**	**३४५, पृ.**
२६२	२	३८	**द्वेग**	**उद्वेग**
२७३	१	२८	वाहनाशन	वाहनाश[स]न
३०२	१	२२	श्रावर्ण-	श्रवर्ण-

———

जैन-लक्षणावली

(जैन पारिभाषिक शब्द-कोष)

अकथा (अकहा) १. मिच्छत्तं वेयंतो जं अण्णाणी कहं परिकहेइ। लिंगत्थो व गिही वा सा अकहा देसिया समए ॥ (दशवै. अ. ३, नि. २०६)। २. मिथ्यादृष्टिना अज्ञानिना लिंगस्थेन वा गृहिणा कथ्यमाना कथा अकथा। (अभिधान० भा० १,पृ० १२४)। अज्ञानी मिथ्यादृष्टि चाहे लिंगी (द्रव्य प्रव्रजित साधु) हो या गृहस्थ, उसके द्वारा कही जाने वाली कथा अकथा है।

अकन्दर्पी—अकन्दर्पी कन्दर्पोद्दीपनभाषितादिविकलः। (व्य. सू. मलय. वृ. १)।
कामोद्दीपक वचन नहीं बोलने वाले पुरुष को अकन्दर्पी कहते हैं।

अकरणोपशामना (अकरणुवसामणा)—१. जा सा अकरणुवसामणा तिस्से दुवे णामधेयाणि—अकरणुवसामणा त्ति वि अणुदिण्णोवसामणा त्ति वि, एसा कम्मपवादे। (कसायपा. चू. पृ. ७०७; धव. पु. १५, पृ. २७५)। २. कम्मपवादो णाम अट्ठमो पुव्वाहियारो, जत्थ सव्वेसिं कम्माणं मूलुत्तरपयडिभेयभिण्णाणं दव्व-खेत्त-काल-भावे समस्सियूण विवागपरिणामो अविवागपज्जाओ च बहुवित्थरो अणुवण्णिदो। तत्थ एसा अकरणोवसामणा दट्ठव्वा, तत्थेदिस्से पबंधेण परूवणोवलंभादो। (जयध.–कसायपा. पृ. ७०७ का टि. १); ३. एद–(करणोवसामणा-) व्वदिरित्तलक्खण-अकरणोवसामणा णाम। पसत्थाऽपसत्थकरणपरिणामेहि विणा अपत्तकालाणं कम्मपदेसाणमुदयपरिणामेण विणा अवट्ठाणं करणोवसामणा त्ति वुत्तं होइ। (जयध. पत्र ८५६)। ४. करणं क्रिया, ताए विणा जा उवसामणा अकरणोवसामणा गिरिनदीपाषाणवट्टसंसारत्थस्स जीवस्स वेदनादिभिः कारणैरुपशान्तता भवति, सा अकरणोवसामणा। (कर्मप्र. चू. उप.क.गा. १)। ५. इह द्विविधा उपशामना करणकृताऽकरणकृता च। तत्र करणं क्रिया यथाप्रवृत्ताऽपूर्वाऽनिवृत्तिकरणसाध्यः क्रियाविशेषः, तेन कृता करणकृता। तद्विपरीताऽकरणकृता। या संसारिणां जीवानां गिरनदीपाषाणवृत्ततादिसंभववद्यथाप्रवृत्तादिकरणक्रियाविशेषमन्तरेणाऽपि वेदनानुभवनादिभिः कारणैरुपशमनोपपजायते साऽकरणकृतेत्यर्थः। इदं च करणकृताऽकरणकृतत्वरूपं द्वैविध्यं देशोपशामनाया एव द्रष्टव्यम्, न सर्वोपशामनायाः; तस्याः करणेभ्य एव भावात्। (कर्मप्र. उपश. मलय. वृ. गा. १, पृ. २५४)।

४. जिस प्रकार पर्वत पर बहने वाली नदी में अवस्थित पाषाण आदि में बिना किसी प्रकार के प्रयोग के स्वयमेव गोलाई आदि उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार संसारी जीवों के अधःप्रवृत्तकरण आदि परिणामस्वरूप क्रियाविशेष के बिना ही केवल वेदना के अनुभव आदि कारणों से कर्मों का जो उपशमन—उदय परिणाम के बिना अवस्थान—होता है उसे अकरणोपशमना कहते हैं।

अकर्मबन्ध—१. मिच्छत्ताऽसंजम-कसाय-जोगपच्चएहि अकम्मसरूवेण ट्ठिदकम्मइयक्खंधाणं जीवपदेसाणं च जो अण्णोण्णेण समागमो सो अकम्मबंधो णाम। (जयध. १, पृ. १८७)। २. अकम्मबंधो णाम कम्मइयवग्गणादो अकम्मसरूवेणावट्ठिदपदेसाणं गहणं। (जयध० पत्र ४५८)।

अकर्मरूप से स्थित कार्मण स्कन्धों का और जीवप्रदेशों का मिथ्यात्व आदि चार बन्धकारणों के द्वारा जो परस्पर प्रवेश होता है, इसका नाम अकर्मबन्ध है।

अकर्मभूमि—१. जंबूद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेण ततो अकम्मभूमीओ प. तं.—हेमवते हरिवासे देवकुरा। जंबूद्दीवे२ मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेण तओ अकम्मभूमीओ प. तं.—उत्तरकुरा रम्मगवासे एरण्णवए। (स्थानांग ३, ४, १९७, पृ. १५०)। २. नवरमकर्मभूमिः भोगभूमिरित्यर्थः। (स्थाना. अभय. वृ. ३, १, १३१, पृ. १००)। ३. हेमवयं हरिवासं देवकुरू तह य उत्तरकुरू वि। रम्मय एरन्नवयं इय छब्भूमीउ पंचगुणा॥ एया अकम्मभूमीउ तीस सया जुअलधम्मजणठाणं। दसविहकप्पमहद्दुमसमुत्थभोगा पसिद्धाओ॥ (प्रव. सारो. १६४, ५४–५५)। ४. कृष्णादिकर्मरहिताः कल्पपादपफलोपभोगप्रधाना भूमयोऽकर्मभूमयः। (अभि. रा. भा. १, पृ. १२१)।

४ असि-मषि आदि कर्मों से रहित भूमि (भोगभूमि) अकर्मभूमि कही जाती है।

अकर्मभूमिक (अकम्मभूमिय)—१. अकम्मभूमियस्स वा त्ति उत्ते देव-णेरइया घेत्तव्वा। (धव. पु. ११, पृ. ८९) २. अकर्मभूमिकानां भोगभूमिजन्मनां मनुष्याणां × × ×। (समवा. अभय. वृत्ति १०, पृ. १८)

अकर्मभूमिक पद से देव और नारकी ग्रहण किये जाते हैं।

अकर्मोदय (अकम्मोदय)—ओकड्डणवसेण पत्तोदयकम्मक्खंधो अकम्मोदओ णाम। (जयध. पु. १, पृ. १०८)।

अपकर्षण के वश उदय को प्राप्त हुए कर्मस्कन्ध का नाम अकर्मोदय है।

अकल्प्य (अकप्प)—१. जं अविहीए सेवइ। (जीतक. चू. गा. १); २. अकप्पो नाम पुढवाइकायाणं अपरिणयाणं गहणं करेइ। अहवा उदउल्लससणिद्ध-ससरक्खाइएहिं हत्थमत्तेहिं गिण्हइ। जं वा अगीयत्थेणं आहारोवहिं उप्पाइयं तं परिभुजंतस्स अकप्पो। पञ्चकादिप्रायश्चित्तशुद्धियोग्यमपवादसेवनविधिं त्यक्त्वा गुरुतरदोषसेवनं वा अकप्पो। (जीतक. चू. वि. व्या. गाथा १, पृ. ३४–२); ३. तत्र पिण्ड-उपाश्रय-वस्त्र-पात्ररूपं चतुष्टयं यदनेषणीयं तदकल्प्यम्। (जीतक. चू. वि. व्या. पृ. ३३, २–35)। ४. अकल्प्योऽपरिणतपृथिवीकायिकादिग्रहणमगीतार्थोपनीतोपधि - शय्याऽऽहाराद्युपभोगश्च। (व्यव. सू. भा. मलय. वृ. १)।

४ अवस्थान्तर को अप्राप्त (सचित्त) पृथिवीकायिकादि का ग्रहण और अगीतार्थ—पूर्ण शास्त्रज्ञानसे रहित—दाता के द्वारा लाये गए उपधि, शय्या व आहार आदि का उपभोग भी साधु के लिए अकल्प्य—अग्राह्य—होता है।

अकषाय (अकसाई)—१. सकलकषायाभावोऽकषायः। उक्तं च—अप्प-परोभयवाहण-बंधासंजमणिमित्तकोधादी। जेसिं णत्थि कसाया अमला अकसाइणो जीवा॥ (प्रा. पंचसं. १–११६; धव. पु. १, पृ. ३५१ उ.); २. न विद्यते कषायोऽस्येत्यकषायः। (त. वा. ६, ४, ३)।

१ जिस जीव के समस्त कषायों का अभाव हो चुका है वह अकषाय या अकषायी कहा जाता है।

अकषायत्व (अकषायत्त)—चरित्तमोहिणीयस्स उवसमेण खएण च उप्पण्णा लद्धी, तीए अकसायत्तं होदि; ण सेसकम्माणं खएणुवसमेण वा। (धव. पु. ७, पृ. ८३)।

चारित्रमोहनीय के उपशम अथवा क्षय से जो लब्धि—सामर्थ्यविशेष—होता है उससे जीव के अकषायत्व—विगतकषायता—होती है, शेष किसी भी कर्म के क्षय अथवा उपशम से वह अकषायत्व नहीं होता।

अकषायवेदनीय—देखो नोकषायवेदनीय। कषायप्रतिषेधप्रसंग इति चेत् न, ईषदर्थत्वान्नञः। यथा अलोमिका एलका इति। नास्याः कच्छपवल्लोमाभावः, किन्तु छेदयोग्यलोमाभावेऽपि ईषत्प्रतिषेधादलोमिकेत्युच्यते, तथा नेमे कषाया अकषाया हास्यादय इति। (त. वा. ८, ९, ३)।

जिस चारित्रमोहनीय कर्म का ईषत् (अल्प) कषाय स्वरूप से वेदन होता है उसकी अकषायवेदनीय संज्ञा है।

अकस्मात्क्रिया—अन्यस्मै निःसृष्टे शरादावन्यघातोऽकस्मात्क्रिया। (धर्मसं. स्वो. टीका ३–२७, पृ. ८२)।

दूसरे किसी को लक्ष्य करके बाण आदि के छोड़ने पर जो उससे उसका घात न होकर अन्य (अलक्ष्यभूत) ही किसी व्यक्ति का घात हो जाता है, इसका नाम अकस्मात्क्रिया है।

अकस्माद्भय—देखो आकस्मिक भय । १. एकं ज्ञानमनाद्यनन्तमचलं सिद्धं किलैतत् स्वतो यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः । तन्नाकस्मिकमत्र किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो निःशंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ।। (समय. कलश १५४) । २. अकस्मादेव वाह्यनिमित्तानपेक्षं गृहादिष्वेव स्थितस्य रात्र्यादौ भयमकस्माद्भयम् । (ललितवि. मुनि. पंजिका पृ. ३८) । ३. वाह्यनिमित्तनिरपेक्षं भयं अकस्माद्भयम् । (कल्पसू. वृ. १-१५) । ४. अकस्मात् सहसैव विश्रब्धस्यार्त्तध्वनिश्रवणाद्भयमकस्माद्भयम् । (अभि. रा. भा. १, पृ. १२३) ।

३ बाहिरी निमित्त के विना सहसा होने वाले भय को अकस्माद्भय कहते हैं ।

अकामनिर्जरा — १. अकामश्चारकनिरोधवन्धनवद्धेषु क्षुत्तृष्णानिरोध-ब्रह्मचर्य-भूशय्या-मलधारण—परितापादिः, अकामेन निर्जरा अकामनिर्जरा । (स. सि. ६-२०) । २. अकामनिर्जरा पराधीनतयाऽनुरोधाच्चाकुशलनिवृत्तिराहारादिनिरोधश्च । (तत्त्वा. भा. ६-२०) । ३. विषयानर्थनिवृत्तिं चात्माभिप्रायेणाकुर्वतः पारतन्त्र्याद् भोगोपभोगनिरोधोऽकामनिर्जरा । (त. वा. ६, १२, ७) । ४. निर्जरा कर्मपुद्गलशाटः, न कामः अपेक्षापूर्वकारिता यत्रानुष्ठाने साऽकामनिर्जरा, अबुद्धिपूर्वेत्यर्थः । सा पराधीनतया चारकादिवासेन धावनाद्यकरणतः प्राणातिपाताद्यकरणेन तथा अनुरोधत्वाद्दाक्षिण्यादित्यर्थः । (त. भा. हरि. वृ. ६-२०) । ५. विषयानर्थनिवृत्तिमात्माभिप्रायेणाकुर्वतः पारतन्त्र्यादुपभोगादिनिरोधः अकामनिर्जरा; अकामस्य अनिच्छतो निर्जरणं पापपरिशाटः, पुण्यपुद्गलोपचयश्च परवशस्य चामरणमकामनिर्जरायुषः परिक्षयः । (तत्त्वा. भा. सिद्ध. वृ. ६-१३); काम इच्छा प्रेक्षापूर्वकारिता, तदर्थोपयोगभाजो या निर्जरा सा कामनिर्जरा, निर्जरा कर्मपुद्गलपरिहाणिः, न कामनिर्जरा अकामनिर्जरा —अनभिलषतोऽचिन्तयत एव कर्मपुद्गलपरिशाटः । (तत्त्वा. भा. सिद्ध. वृ. ६-२०) । ६. अकामनिर्जरा यथाप्रवृत्तकरणेन गिरिसरिदुपलघोलनाकल्पेनाकामस्य निरभिलाषस्य या निर्जरा कर्मप्रदेशविघटनरूपा । (योगशा. स्वो. विव. ४-१०७) । ७. अकामा कालपक्वकर्मनिर्जरलक्षणा, सैव विपाकजाऽनौपक्रमिकी चोच्यते । (अन.ध. टी. २-४३)। ८. स्वेच्छामन्तरेण कर्मनिर्जरणमकामनिर्जरा । (त. सुखबो. वृ. ६-२०) ९. यः पुमान् चारकनिरोधवन्धनबद्धः ××× पराधीनपराक्रमः सन् बुभुक्षानिरोधं तृष्णादुःखं ब्रह्मचर्यकृच्छ्रं भूशयनकष्टं मलधारणं परितापादिकं च सहमानः सहनेच्छारहितः सन् यत् ईषत् कर्म निर्जरयति साऽकामनिर्जरा इत्युच्यते । (तत्त्वा. वृ. श्रुत. ६-२०) ।

१ कारागार (जेल) में रोके जाने पर अथवा अन्य प्रकार से बन्धनबद्ध (परतन्त्र) होने पर जो भूख-प्यास को रोकना, ब्रह्मचर्य का धारण करना, पृथिवी पर सोना, शरीर में मल को धारण करना और सन्ताप आदि को सहा जाता है; इसका नाम अकाम है । इस प्रकारके अकाम से—अनिच्छापूर्वक उपर्युक्त दुख के सहने से—जो कर्मनिर्जरा हुआ करती है उसका नाम अकामनिर्जरा है ।

अकाममरण—अकामेन अनीप्सितत्वेन म्रियतेऽस्मिन् इति अकाममरणं वालमरणम् । (अभि. रा. भा. १, पृ. १२५) ।

नहीं चाहते हुए भी जो मरण आ जाता है वह अकाममरण नामका एक वालमरण का भेद है ।

अकायिक—तेण परमकाइया चेदि ।।४६।। तेन—द्विविधकायात्मकजीवराशेः, परं वादर-सूक्ष्मशरीरनिवन्धनकर्मातीतत्वतोऽशरीराः सिद्धाः अकायिकाः । (षट्खं.—धवला. पु. १, पृ. २७७) ।

जो जीव वादर एवं सूक्ष्म शरीर के कारणभूत कर्म से छुटकारा पा जाने के कारण सदा के लिए काय (शरीर) से रहित हो चुके हैं वे अकायिक—निकल परमात्मा—कहे जाते हैं ।

अकारण दोष (ग्रासैषणा दोष)—१. अकारणं वेदनादिषट्कारणरहितम् । (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २६, पृ. ५८)। २. यदा तपःस्वाध्याय-वैयावृत्त्यादिकारणषट्कं विना बल-वीर्याद्यर्थं सरसाहारं करोति तदा पंचमोऽकारणदोषः । (अभि. रा. भा. १, पृ. १२५) ।

२ तप, स्वाध्याय व वैयावृत्ति आदि छह कारणों के विना ही बल-वीर्यादि की वृद्धि के लिये सरस (पुष्टिकर) आहार करना, यह पांच ग्रासैषणादोषों में पांचवां अकारण नामका दोष है ।

अकालमृत्यु—अकाल एव जीवितभ्रंशोऽकालमृत्युः। (अभि. रा. भा. १, पृ. १२५)।

असमय में—वद्ध आयुःस्थिति के पूर्व में ही—जीवित का नाश होना अकालमृत्यु है।

अकालुष्य— तेषामेव (क्रोध-मान-माया-लोभानामेव) मन्दोदये तस्य (चित्तस्य) प्रसादोऽकालुष्यम्। तत् कादाचित्कविशिष्टकषायक्षयोपशमे सत्यज्ञानिनोऽपि भवति। कषायोदयानुवृत्तेरसमग्रव्यावर्तितोपयोगस्यावान्तरभूमिकासु कदाचित् ज्ञानिनोऽपि भवतीति। (पंचा. का. अमृत. वृ. १३८)।

क्रोधादि कषायों का मन्द उदय होने पर जो चित्त की निर्मलता होती है उसका नाम अकालुष्य है।

अकिंचनता—१. अकिंचनता सकलग्रन्थत्यागः। (भ. आ. विजयो. टी. गा. १४६)। २. अकिंचणदा—नास्य किंचनास्त्यकिंचनः, अकिंचनस्य भाव आकिंचन्यमकिंचनता उपात्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहाय ममेदमित्यभिसन्धिनिवृत्तिः। (मूला. वृ. ११–५)। ३. अकिंचणया णाम सदेहे निसंगता, णिम्ममत्तणं त्ति वुत्तं भवइ। (दशवै. चू. पृ. १८); ४. नास्य किंचन द्रव्यमस्तीत्यकिंचनस्तस्य भावोऽकिंचनता। शरीर-धर्मोपकरणादिष्वपि निर्ममत्वमकिंचनत्वम्। (योगशा. स्वो. विव. ४–९३)।

२ गृहीत शरीर आदि में—पुस्तक व पिच्छी आदि धर्मोपकरणों में—भी संस्कार (सजावट) को दूर करने की इच्छा से ममत्वबुद्धि न रहना, इसका नाम अकिंचनता है।

अकिंचित्कर (हेत्वाभास)—१. सिद्धेऽकिंचित्करो हेतुः स्वयं साध्यव्यपेक्षया। (प्रमाणसं. ४४, पृ. ११०); २. तदज्ञाने पुनरज्ञातोऽकिंचित्करः। (सिद्धिवि. वृ. ६–३२, पृ. ४३०)। ३. तस्य हेतुलक्षणस्य पक्षेऽन्यत्र वाऽज्ञाने पुनरज्ञातोऽकिंचित्करः। (सिद्धिवि. टी. ६–३२, पृ. ४३०)। ४. सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिंचित्करः॥ सिद्धः श्रावणः शब्दः, शब्दत्वात्॥ किंचिदकरणात्, यथाऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किंचित्कर्तुमशक्यत्वात्॥ (परीक्षा. ६, ३५–३८)। ५. यथा—प्रतीते प्रत्यक्षादिनिराकृते च साध्ये हेतुरकिंचित्करः। (रत्नाव. ६, पृ. ११४)। ६. अप्रयोजको हेतुरकिंचित्करः। (न्यायदी. ३, पृ. १०२)।

४ सिद्ध अथवा प्रत्यक्षादि से बाधित साध्य की सिद्धि के लिए प्रयुक्त हेतु अकिंचित्कर—कुछ भी नहीं करने वाला—होता है।

अकुशल—अकुशलं दुःखहेतुकम्। (आप्तमी. वृ. का. ८)।

दुःख देने वाले पापकर्म को अकुशल कहते हैं।

अकुशलभाव—अकुशलो (भावो) ऽविरत्यादिरूपः। (व्यव. सू. भा. मलय. वृ. १–३६, पृ. १६)।

असंयम (अविरति) आदि रूप परिणामों को अकुशलभाव कहते हैं।

अकुशलमनोनिरोध — अकुशलस्यार्त्तध्यानाद्युपगतस्य मनसो निरोधोऽकुशलमनोनिरोधः। (व्यव. सू. भा. मलय. वृ. १, गा. ७७, पृ. ३०)।

आर्तध्यान आदि से युक्त मन के निग्रह करने को अकुशलमनोनिरोध कहते हैं।

अकृतप्राग्भार—शून्यं गृहं गिरेर्गुहा वृक्षमूलम् आगन्तुकानां वेश्म देवकुलं शिक्षागृहं केनचिदकृतम् अकृतप्राग्भारं कथ्यते। (कार्त्तिके. टी. ४४९)।

शून्य गृह, पर्वत की गुफा, वृक्षमूल, आगन्तुकों का घर, देवकुल और शिक्षालय; जो किसी के द्वारा रचे नहीं गये हैं, अकृतप्राग्भार कहे जाते हैं।

अकृतयोगी (अकडजोगी)—१. अकडजोगी जोगं अकाऊण सेवइ। (जीतक. चू. पृ. ३, पं. २०)। २. ग्लानादौ कार्ये गृहेषु वारत्रयं पर्यटनमकृत्वा सेवते, यद्वा संथाराइसु तिन्नि वारा एसणीयं अन्निसिउं जया तइयवाराए वि न लब्भइ तया चउत्थपरिवाडीए अणेसणीयं घेतव्वं। एवं तिगुणं व्यापारमकृत्वैव जा [जो] बियवाराए चेव अणेसणीयं गिण्हइ सो अकडजोगी। (जीतक. चू. विष. व्या. पृ. ३४–८)। ३. अकृतयोगी अगीतार्थः। त्रीन् वारान् कल्प्यमेषणीयं चापरिभाव्य प्रथमवेलायामपि यतस्ततोऽल्पा-[ऽकल्प्या-]नेषणीयमपि ग्राही। (व्यव. सू. भा. मलय. वृ. १०, पृ. ६३४)।

२ ग्लान आदि कार्य में तीन वार गृहों में घूमने पर भी यदि कल्प्य और एषणीय नहीं प्राप्त होता है तो चौथी वार अकल्प्य और अनेषणीय के भी लेने का विधान है। इस आगमविधि के प्रतिकूल पहिली या दूसरी वार में ही जो अकल्प्य और अनेषणीय वस्तुओं को ले लेता है ऐसे साधु को अकृतयोगी कहते हैं।

अकृतसमुद्घात (अकदसमुग्घाद)—१. जेसिं आउसमाइं णामा-गोदाइं वेदणीयं च। ते अकद-समुग्घादा जिणा उवणमंति सेलेसिं। (भ. आ. २११०); धव. पु. १, पृ. ३०४ पर उद्धृत)। २. आयुषा सदृशं यस्य जायते कर्मणां त्रयम्। स निरस्तसमुद्घातः शैलेश्यं प्रतिपद्यते। (भ. आ. अमित. पद्यानुवाद २१८३)। ३. षण्मासायुषि शेषे स्यादुत्पन्नं यस्य केवलम्। समुद्घातमसौ याति केवली नाऽपरः पुनः। (पंचसं. अमित. १–३२७)। ४. छम्मासाउगसेसे उप्पण्णं जस्स केवलं होज्ज। सो कुणइ समुग्घायं इयरो पुण होइ भयणिज्जो॥ (वसु. श्रा. ५३०)।

१ जिनके नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म स्थिति में आयु कर्म के समान होते हैं वे चूंकि केवलिसमुद्घात को नहीं किया करते हैं, अतएव वे अकृत-समुद्घात जिन कहे जाते हैं।

अक्रमानेकान्त—ज्ञान-सुखाद्यनेकाक्रमिकधर्मापेक्षया अक्रमानेकान्तः। (न्यायकु. २–७, पृ. ३७२)।

अनेकान्त दो प्रकारका है—क्रमानेकान्त और अक्रमानेकान्त। एक ही व्यक्ति में जो युगपत् ज्ञान-सुखादि अनेक अक्रमिक धर्मों का अस्तित्व पाया जाता है, यह अक्रमानेकान्त है। [अमुक्तत्व-मुक्तत्वादि क्रमिक धर्मों की जो युगपत् सम्भावना है वह क्रमानेकान्त की अपेक्षा से घटित होती है।]

अक्रियावादी—१. न हि कस्यचिदनवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया समस्ति, तद्भावे चावस्थितेरभावा-दित्येवं वादिनोऽक्रियावादिनः। तथा चाहुरेके—क्षणिकाः सर्वसंस्काराः अस्थितानां कुतः क्रिया। भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते॥ एते चात्मादिनास्तित्वप्रतिपत्तिलक्षणाः। (नन्दी. हरि. वृ. ८८, पृ. ७८)। २. आत्म-नास्तित्वादिप्रत्यया-पत्तिलक्षणा भवन्त्यक्रियावादिनः। (तत्त्वा. भा. सिद्ध. वृ. ७–१८)। ३. तथा नास्त्येव जीवादिकः पदार्थ इत्येवंवादिनो ऽक्रियावादिनः। (सूत्रकृ. वृ. १२–११८)। ४. तथाऽक्रियां नास्तीत्यादिकां वदितुं शीलं येषां ते ऽक्रियावादिनः। (सूत्रकृ. वृ. १२–४)। ५. न कस्यचित् प्रतिक्षणमनवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया सम्भवति, उत्पत्त्यनन्तरमेव विनाशादित्येवं ये वदन्ति ते अक्रियावादिनः। (नन्दी. मलय. वृ. ८८, पृ. २१५)। ६. न हि कस्यचिदवस्थितस्य पदार्थस्य क्रिया समस्ति, क्रियोत्पत्त्याधारत्वेनाभिमत एव काले पदार्थावस्थितेरभावादित्येवं वादिनोऽक्रियावादिनः। (नयोपदेश टी. १२८, पृ. ६५)।

१ जो अवस्थानके अभाव का प्रसंग प्राप्त होने की संभावना से अवस्थान से रहित किसी भी अन-वस्थित पदार्थ की क्रिया को स्वीकार नहीं करते वे अक्रियावादी कहे जाते हैं।

अक्ष (अक्ख)—अक्खे त्ति वुत्ते जूवक्खो सय-डक्खो वा घेत्तव्वो। (धव. पु. ९, पृ. २५०); जूअट्ठवणे जय-पराजयणिमित्तकवड्डुओ खुल्लो पासओ वा अक्खो णाम। (धव. पु. १३, पृ. १०); अक्खो णाम पासओ। (धव. पु. १४, पृ. ६)।

जुआ आदि के खेल में जय-पराजय की निमित्त-भूत कौड़ी और पांसे को अक्ष कहते हैं। गाड़ी के पहिये की धुरी को भी अक्ष कहते हैं।

अक्ष (मापविशेष)—दंडे धणुं जुगं नालिया य अक्ख मुसलं च चउहत्था। (ज्योतिष्क. २–७९)।

चार हाथ प्रमाण मापविशेष (धनुष) को अक्ष कहते हैं।

अक्ष (आत्मा)—१. अक्ष्णोति व्याप्नोति जाना-तीत्यक्ष आत्मा। (स. सि. १–१२; त. वा. १, १२, २; त. सुखवो. वृ. १–१२, त. वृ. श्रुत. १, १२; न्यायदी. पृ. ३९)। २. अश्नाति भुङ्क्ते यथा-योग्यं सर्वानर्थानिति अक्षः। यदि वा अश्नुते ज्ञानेन व्याप्नोति सर्वान् ज्ञेयानिति अक्षः जीवः। (बृहत्क. वृ. २५)। ३. 'अशूङ् व्याप्तौ' अश्नुते ज्ञानात्मना सर्वानर्थान् व्याप्नोतीत्यक्षः, यदि वा 'अश भोजने' अश्नाति सर्वानर्थान् यथायोग्यं भुङ्क्ते पालयति वेत्यक्षो जीवः। (आव. सू. मलय. वृ. गा. १, पृ. १३)।

'अक्ष्णोति' इत्यादि शब्दनिरुक्ति के अनुसार यथा-योग्य सर्व पदार्थों के जानने वाले, भोगने वाले या पालने वाले जीव को अक्ष कहते हैं।

अक्षताचार—तत्र स्थापितादिपरिहारी अक्षता-चारः। (व्यव. सू. भा. वृ. ३, १६४)।

जो साधु आवश्यक में उद्युक्त होकर स्थापित आदि आधाकर्मों तथा अन्न-पानादि का भी परि-त्याग करता है उसका नाम अक्षताचार—अभग्न-चरित्र वाला—है।

अक्षपकानुपशामक(अक्खवयाणुवसामग)—तत्थ

जे अक्खवयाणुवसामया ते दुविहा—अणादि-अपज्ज-वसिदवंधा च अणादि-सपज्जवसिदवंधा चेदि। (धव. पु. ७, पृ. ५)।

जिन जीवों का कर्मवन्ध अनादि-अनन्त है वे (अभव्य) तथा जिनका कर्मवन्ध अनादि होकर भी विनष्ट होने वाला है वे—मिथ्यादृष्टि आदि अप्रमत्तान्त गुणस्थानवर्ती भव्य—भी अक्षपकानुपशामक—क्षपणा या उपशामना न करने वाले अनादि वादर साम्परायिक कर्मबन्धक हैं।

अक्षम्रक्षणवृत्ति—१. यथा शकटं रत्नभारपरिपूर्णं येन केनचित् स्नेहेन अक्षलेपं च कृत्वा अभिलपित-देशान्तरं वणिगुपनयति, तथा मुनिरपि गुण-रत्न-भरितां तनु-शकटीमनवद्यभिक्षायुरक्षम्रक्षणेन अभि-प्रेतसमाधिपत्तनं प्रापयतीत्यक्षम्रक्षणमिति च नाम निरूढम्। (त. वा. ६, ६, १६; श्लो. वा. ६–६; चा. सा. पृ २५)। २. तथा अक्षस्य शकटीचक्रा-विष्ठानकाष्ठस्य म्रक्षणं स्नेहेन लेपनमक्षम्रक्षणम्। तदिवाऽशनमप्यक्षम्रक्षणमिति रूढम्, येन केनापि स्नेहेनेव निरवद्याहारेणायुपोऽक्षस्येवाभ्यङ्गं प्रति-विधाय गुण-रत्नभारपूरिततनुशकटचाः समाधीष्ट-देशप्रापणनिमित्तत्वात्। (अन. ध. टी. ६–४९)।

१ जिस प्रकार कोई व्यापारी रत्नों के वोझ से परिपूर्ण गाड़ी का जिस किसी भी तेल के द्वारा अक्षम्रक्षण करके—उसमें ओंगन देकर—उसे अभीष्ट स्थान पर ले जाता है, उसी प्रकार मुनि भी सम्यग्दर्शनादि गुणरूप रत्नों से भरी हुई शरीर-रूप गाड़ी को निर्दोष भिक्षा के द्वारा आयु के अक्ष-म्रक्षण से—आयुःस्थिति के साथ इन्द्रियों को भी इस योग्य रखकर—अभीष्ट ध्यान रूप नगर में पहुंचाता है। इसीलिये दृष्टान्त की समानता से उसका नाम 'अक्षम्रक्षण' प्रसिद्ध हुआ है।

अक्षयराशि (अक्खयरासी)—अहवा वए संते वि अक्खयो को वि रासी अत्थि, सव्वस्स सपडि-वक्खस्सेवुवलंभादो। (धव. पु. ४, पृ. ३३६)।

व्यय के होते हुए भी जिस राशि का कभी अन्त नहीं होता वह राशि अक्षय कही जाती है —जैसे भव्य जीवराशि। इसका भी कारण यह है कि उष्णता एवं हानि आदि सव ही अपने प्रति-पक्ष—अनुष्णता एवं वृद्धि आदि—के साथ ही उपलब्ध होते हैं।

अक्षर (अक्खर)—१. न क्खरति अणुवयोगे वि अक्खरं सो य चेतणाभावो। अविसुद्धणयाण मतं शुद्धणयाणक्खरं चेव॥ (विशे. भा. ४५३)। २. खरणाभावा अक्खरं केवलणाणं। (धव. पु. ६, पृ. २१); सुहुमणिगोदलद्धिअपज्जत्तस्स [जं] जहण्णयं णाणं तं लद्धि-अक्खरं णाम। कधं तस्स अक्खरसण्णा? खरणेण विणा एगसरूवेण अवट्ठा-णादो। केलणाणमक्खरं, तत्थ वड्ढि-हाणीणमभा-वादो। दव्वट्ठियणए सुहुमणिगोदणाणं तं चेवे त्ति वा अक्खरं। (धव. पु. १३, पृ. २६२)। ३. 'क्षर संचलने' क्षरतीति क्षरम्, तस्य नञा प्रतिषेधेऽक्षरम्; अनुपयोगेऽपि न क्षरतीति भावार्थः; तस्य सतत-मवस्थितत्वात्। स च कः इत्यतः आह—स च अक्षरपरिणामः चेतनाभावः—चेतनासत्ता। केषां नयानां मतेनेत्याह—अविशुद्धनयमतेन नैगम संग्रह-व्यवहाराभिप्रायेण, द्रव्यार्थिकमूलप्रकृतित्वात्। शुद्ध-नयानां तु ऋजुसूत्रादीनां क्षरमेवेति *गाथार्थः*। (विशे. भा. को. वृ. ४५३)। ४. अकारादिलब्ध्य-क्षराणामन्यतरत् अक्षरम्। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. गा. ७)।

२ अपने स्वरूप या स्वभाव को नहीं छोड़ने वाले ऐसे हानि रहित सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक जीव के ज्ञान को और हानि-वृद्धि से रहित केवलज्ञान को भी अक्षर कहा जाता है।

अक्षरगता (अक्खरगया)—अक्खरगया अणुव-घादिदिय-सण्णिपंचिंदिय-पज्जत्तभासा। (धव. पु. १३, पृ. २२१–२२)।

अविनष्ट इन्द्रियवाले संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंकी भाषा अक्षरगता भाषा कहलाती है।

अक्षरज्ञान—चरिमपज्जयसमासणाणट्ठाणे सव्वजीव-रासिणा भागे हिदे लद्धं ताहि चेव पक्खित्ते अक्खर-णाणं उप्पज्जदि। (धव. पु. १३, पृ. २६४)।

पर्यायसमास श्रुतज्ञान के अन्तिम विकल्प में समस्त जीवराशि का भाग देने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह अक्षरज्ञान कहलाता है।

अक्षरश्रुतज्ञान (अक्खरसुदणाणं)—देखो अक्षर-ज्ञान। तं (पज्जायसमाससुदणाणस्स अपच्छिम-वियप्पं) अणंतेहि रूवेहि गुणिदे अक्खरं णाम सुद-णाणं होदि। (धव. पु. ६, पृ. २२); एगादो अक्ख-रादो जहण्णेण [जं] उप्पज्जदि णाणं तं अक्खर-

सुदणाणमिदि घेत्तव्वं। (धव. पु. १३, पृ. २६५)। पर्यायसमास श्रुतज्ञान के अन्तिम विकल्प को अनन्त रूपों से गुणित करने पर जो श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है वह अक्षरश्रुतज्ञान कहलाता है।

अक्षरसमास (अक्खरसमास) — अक्खर-सुदणाणादो उवरिमाणं पदसुदणाणादो हेट्ठिमाणं संखेज्जाणं सुदणाणवियप्पाणमक्खरसमासो त्ति सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. २३); इमस्स अक्खरस्स उवरि विदिए अक्खरे वड्ढिदे अक्खरसमासो णाम सुदणाणं होदि। एवमेगेगक्खरवड्ढिकमेण अक्खर-समासं सुदणाणं वड्ढमाणं गच्छदि जाव संखेज्जक्ख-राणि वड्ढिदाणि त्ति। (धव. पु. १३, पृ. २६५)। अक्षरज्ञान के ऊपर द्वितीय अक्षर की वृद्धि होने पर अक्षरसमास का प्रथम विकल्प होता है। इस प्रकार संख्यात अक्षरों की वृद्धि होने तक उक्त अक्षरसमास श्रुतज्ञान के द्वितीय-तृतीयादि विकल्प चलते रहते हैं।

अक्षरसमासावरणीय — पुणो एदस्सुवरिमस्स अक्खररस जमावरणीयकम्मं तमक्खरसमासावरणीयं णाम चउत्थमावरणं। (धव. पु. १३, पृ. २७७)। अक्षरसमास ज्ञान को रोकने वाला कर्म अक्षर-समासावरणीय माना जाता है।

अक्षरसंयोग — संजोगो णाम किं दोण्णमक्ख-राणेयत्तं, किं सह उच्चारणं, एयत्थीभावो वा ? ण ताव × × ×। तदो एगत्थीभावो संजोगो त्ति घेत्त-व्वो। (धव. पु. १३, पृ. २५०)।
जितने अक्षर संयुक्त होकर किसी एक अर्थ को प्रगट करते हैं उनके संयोगका नाम अक्षरसंयोग है।

अक्षरात्मक (शब्द)—देखो अक्षरीकृत। अक्ष-रात्मकः संस्कृत-प्राकृतादिरूपेणार्य-म्लेच्छभाषाहेतुः। (पंचा. का. जय. वृ. ७९)।
जो शब्द संस्कृत और प्राकृत आदि के रूप से आर्य व म्लेच्छ जनों की भाषा का कारण होता है वह अक्षरात्मक कहलाता है।

अक्षरात्मक श्रुतज्ञान — वाच्य-वाचकसम्बन्ध-संकेतसङ्कलनपूर्वकं यज्ज्ञानमुत्पद्यते तदक्षरात्मक-श्रुतज्ञानम्। (गो. जी. म. प्र. व जी. त. प्र. टी. ३१५)।
वाच्य-वाचक सम्बन्ध के संकेत की योजना-पूर्वक होने वाला ज्ञान अक्षरात्मक श्रुतज्ञान कह-लाता है।

अक्षरावरणीय—अक्खरसुदणाणस्स जमावारयं कम्मं तमक्खरावरणीयं। (धव. पु. १३, पृ. २७७)। अक्षरश्रुतज्ञान का आवारक कर्म अक्षरावरणीय कर्म कहलाता है।

अक्षरीकृत शब्द—देखो अक्षरात्मक। अक्षरी-कृतः शास्त्राभिव्यञ्जकः संस्कृत-विपरीतभेदादार्य-म्लेच्छव्यवहारहेतुः। (स. सि. ५–२४; त. वा. ५, २४, ३; त. सुखबो. ५–२४)।
जो अक्षररूप भाषात्मक शब्द शास्त्र का अभि-व्यञ्जक होकर संस्कृत और संस्कृत भिन्न—प्राकृत आदि—भाषाओं के भेद से आर्य एवं म्लेच्छ जन के व्यवहार का कारण होता है वह अक्षरीकृत भाषा-लक्षण शब्द कहा जाता है।

अक्षिप्र (अवग्रहभेद) — सणिग्गहणमखिप्पा-वग्गहो। (धव. पु. ६, पृ. २०); अभिनवशराव-गतोदकवत् शनैः परिच्छिन्दानः अक्षिप्रप्रत्ययः। (धव. पु. ९, पृ. १५२; पु. १३, पृ. २३७)।
नवीन सकोरे के ऊपर छिड़के हुए जल के समान पदार्थों का जो धीरे धीरे देर में ज्ञान होता है, उसका नाम अक्षिप्र प्रत्यय है।

अक्षीणमहानस—१. लाभंतरायकम्मक्खय-उव-समसंजुदाए जीए फुडं। मुणिभुत्तसेसमण्णं धामत्थं पियं जं कं पि॥ तद्दिवसे खज्जंतं खंधावारेण चक्क-वट्टिस्स। झिज्झइ ण लवेण वि सा अक्खीणमहा-णसा रिद्धी॥ (ति. प. ४, १०८९–९०)। २. ला-भान्तरायस्य क्षयोपशमप्रकर्षप्राप्तेभ्यो यतिभ्यो यतो भिक्षा दीयते ततो भाजनाच्चक्रधरस्कन्धावारोऽपि यदि भुञ्जीत तद्दिवसे नान्नं क्षीयेत, तेऽक्षीणमहा-नसाः। (त. वा. ३–३६, पृ. २०४; चा. सा. पृ. १०१)। ३. कूरो घियं तिम्मणं वा जस्स परिवि-सिदूण पच्छा चक्कवट्टिखंधावारे भुंजाविज्जमाणे वि ण णिट्ठादि सो अक्खीणमहाणसो णाम। (धव. पु. ९, पृ १०१–२)। ४. अक्षीणं महानसं रसवती येषां यस्माद् भाण्डकादुद्धृत्य भोजनं तेभ्यो दत्तं तच्चक्रवर्तिकटकेऽपि भोजिते न क्षीयते। (प्रा. योगि-भक्ति टीका १७, पृ. २०४)। ५. महानसम् अन्न-पाकस्थानम्, तदाश्रितत्वादन्नमपि महानसमुच्यते। ततश्चाक्षीणं पुरुषशतसहस्रेभ्योऽपि दीयमानं

स्वयमभुक्तं सत् तथाविधलब्धिविशेषादत्रुटितम्, तच्च तन्महानसं च भिक्षालब्धभोजनमक्षीणमहानसम्; तदस्ति येषां ते तथा (अक्षीणमहानसाः)। (औपपा. अभय. वृ. १५, पृ. २८)। ६. अक्षीणं महानसं येषां ते अक्षीणमहानसाः, येषां भिक्षा नान्यैर्बहुभिरप्युपभुज्यमाना निष्ठां याति, किन्तु तैरेव जिमितैः, ते अक्षीणमहानसाः। (आव. मलय. वृ. नि. ७५, पृ. ८०)। ७. यस्मिन्नमत्रे अक्षीणमहानसैर्मुनिभिर्भुक्तं तस्मिन्नमत्रे चक्रवर्तिपरिजनभोजनेऽपि तद्दिने अन्नं न क्षीयते ते मुनयः अक्षीणमहानसाः कथ्यन्ते। (त. वृ. श्रुत. ३-३६)।

लाभान्तराय कर्म के प्रकृष्ट क्षयोपशम युक्त जिस ऋद्धि के प्रभाव से उस ऋद्धि के धारक महर्षि के भोजन कर लेने पर भोजनशाला में शेष भोजन चक्रवर्ती के कटक (समस्त सैन्य) के द्वारा भी भोजन कर लेने पर क्षीण नहीं होता—उतना ही बना रहता है—वह अक्षीणमहानस ऋद्धि कही जाती है।

अक्षीणमहानसिक—देखो अक्षीणमहानस। १. अक्खीणमहानसियस्स भिक्खा न अन्नेण णिट्ठविज्जइ, तम्मिए जिमिए निट्ठाइ। (आव. चू. मलय. वृ. पृ. ८० उ.) २. अक्खीणमहानसिया भिक्खं जेणाणियं मुणो तेणं। परिभुत्तं चिय खिज्जइ बहुएहिं वि ण उण अन्नेहिं॥ (प्रव. सारो. टीका १५०४, पृ. ४२६)।

अक्षीणमहानसिक की भिक्षा — अक्षीणमहानस ऋद्धि के धारक महर्षि के द्वारा लायी गई भिक्षा— अन्य बहुतों के द्वारा भोजन कर लेने पर भी समाप्त नहीं होती, किन्तु उसी के भोजन करने पर ही समाप्त होती है। इस ऋद्धि के धारक साधु को अक्षीणमहानसिक कहा जाता है।

अक्षीणमहालय—१. जीए चउवणुमाणे समचउरसालयम्मि णर-तिरिया। मंति यसंखेज्जा सा अक्खीणमहालया रिद्धी॥ (ति. प. ४-१०९१)। २. अक्षीणमहालयलब्धिप्राप्ता यतयो यत्र वसन्ति देव-मनुष्य-तैर्यग्योना यदि सर्वेऽपि तत्र निवसेयुः परस्परमबाधमानाः सुखमासते। (त. वा. ३-३६; पृ. २०४; चा. सा. पृ. १०१)। ३. अक्षीणमहालयर्द्धिप्राप्ताश्च यत्र परिमितभूप्रदेशेऽवतिष्ठन्ते तत्रासंख्याता अपि देवास्तिर्यञ्चो मनुष्याश्च सपरिवाराः परस्परं बाधारहितास्तीर्थकरपर्षदीव सुखमासते। (योगशा. स्वो. विवरण १-८)। ४. अक्षीणमहालयास्तु मुनयो यस्मिन् चतुःशयेऽपि मन्दिरे निवसन्ति तस्मिन् मन्दिरे सर्वे देवाः सर्वे मनुष्याः सर्वे तिर्यञ्चोऽपि यदि निवसन्ति तदा तेऽखिला अपि अन्योन्यं बाधारहितं सुखेन तिष्ठन्ति इति अक्षीणमहालयाः। (त. वृ. श्रु. ३-३६)।

जिस ऋद्धि से संयुक्त मुनि के द्वारा अधिष्ठित चार हाथ मात्र भूमि में अगणित मनुष्य और तिर्यंच —सभी जीव—निर्बाध रूप से समा जाते हैं वह अक्षीणमहालय ऋद्धि कही जाती है।

अक्षीणावास— देखो अक्षीणमहालय। जम्हि चउहत्थाए वि गुहाए अच्छिदे संते चक्कवट्टिखंधावारं पि सा गुहा अवगाहदि सो अक्खीणावासो णाम। (धव. पु. ९, पृ. १०२)।

जिस महर्षि के चार हाथ प्रमाण ही गुफा में अवस्थित रहने पर उस गुफा में चक्रवर्ती का समस्त स्कन्धावार (छावनी) भी अवस्थित रह सकता है उसे अक्षीणावास—अक्षीणमहालय ऋद्धि का धारक —जानना चाहिए।

अक्षेम—मारीदि-डमरादीणमभावो खेमं णाम; तव्विवरीदमक्खेमं। (धव. पु. १३, पृ. ३३६)।

मारि (प्लेग), ईति और डमर (राष्ट्र का भीतरी व बाहिरी उपद्रव) आदि के अभाव को क्षेम तथा उनके सद्भाव को अक्षेम कहा जाता है।

अक्षौहिणी—१. भेओऽथ पढम पन्ती सेणा सेणामुहं हवइ गुम्मं। अह वाहिणी उ पियणा चमू तहा-अणिक्किणी अन्तो॥ एक्को हत्थी एक्को य रहवरो तिण्णि चेव वरतुरया। पञ्चेव य पाइक्का एसा पन्ति समुद्दिट्ठा॥ पंती तिउणा सेणा सेणा तिउणा मुहं हवइ एक्कं। सेणामुहाणि तिण्णि उ गुम्मं एत्तो समक्खायं॥ गुम्माणि तिण्णि एक्का य वाहिणी सा वि तिगुणिया पियणा। पियणाउ तिण्णि य चमू तिण्णि चमूऽणिक्किणी भणिया॥ दस य अणिक्किणिनामाउ होइ अक्खोहिणी अहऽक्खाया। संखा एक्केक्कस्स उ अङ्गस्स तओ परिकहेमि॥ एयावीस सहस्सा सत्तरिसहियाणि अट्ठ य सयाणि। एसा रहाण संखा हत्थीण वि एत्तिया चेव॥ एक्कं च सयसहस्सं नव य सहस्सा सयाणि तिण्णेव। पन्नासा चेव तहा जोहाण वि एत्तिया संखा॥ पञ्चुत्तरा य

सट्ठी होइ सहस्साणि छ च्चिय सयाणि । दस चेव वरतुरङ्गा संखा अक्खोहिणीए उ ।। अट्ठारस य सहस्सा सत्त सया दोण्णि सयसहस्साइं । एक्का य इमा संखा सेणिय अक्खोहिणीए य ।। (पउमच. ५६, ३-११) । २. पत्तिः प्रथमभेदोऽत्र तथा सेना प्रकीर्तिता । सेनामुखं ततो गुल्म-वाहिनी-पृतना-चमूः ।। अष्टमोऽनीकिनीसंज्ञस्तत्र भेदो बुधैः स्मृतः । यथा भवन्त्यमी भेदास्तथेदानीं वदामि ते ।। एको रथो गजश्चैकस्तथा पञ्च पदातयः । त्रयस्तुरङ्गमाः सैषा पत्तिरित्यभिधीयते ।। पत्तिस्त्रिगुणिता सेना तिस्रः सेनामुखं च ताः । सेनामुखानि च त्रीणि गुल्ममित्यनुकीर्त्यते ।। वाहिनी त्रीणि गुल्मानि पृतना वाहिनीत्रयम् । चमूस्त्रिपृतना ज्ञेया चमूत्रयमनीकिनी ।। अनीकिन्यो दश प्रोक्ता प्राज्ञैरक्षौहिणीति सा । तत्राङ्गानां पृथक् संख्या चतुर्णां कथयामि ते ।। अक्षौहिण्यां प्रकीर्त्यानि रथानां सूर्यवर्चसाम् । एकविंशतिसंख्यानि सहस्राणि विचक्षणैः ।। अष्टौ शतानि सप्तत्या सहितान्यपराणि च । गजानां कथितं ज्ञेयं संख्यानं रथसंख्यया ।। एकलक्षं सहस्राणि नव पञ्चाशदन्वितम् । शतत्रयं च विज्ञेयमक्षौहिण्याः पदातयः ।। पञ्चषष्टिसहस्राणि षट्शती च दशोत्तरा । अक्षौहिण्यामियं संख्या वाजिनां परिकीर्तिता ।। (पद्मच. ५६, ४-१३) । ३. नव नागसहस्राणि नागे नागे शतं रथाः । रथे रथे शतं तुरगाः तुरगे तुरगे शतं नराः ।। एदमेक्कक्खोहिणीए पमाणं । (धव. पु. ९, पृ. ६१-६२) ।

१ पउमचरिय और पद्मचरित्र के अनुसार निम्न संख्या युक्त रथ व हाथी आदि के समुदाय को अक्षौहिणी कहा जाता है—रथ १, हाथी १, पदाति ५ और घोड़ा ३; इनके समुदाय का नाम पत्ति है । इससे तिगुणी—रथ ३, हाथी ३, पदाति १५ और घोड़ा ९—सेना कही जाती है । तिगुणी सेना —रथ ९, हाथी ९, पदाति ४५, घोड़ा २७—सेनामुख कहलाती है । तीन सेनामुखों—रथ २७, हाथी २७, पदाति १३५, घोड़ा ८१—का नाम गुल्म है । तीन गुल्मों—रथ ८१, हाथी ८१, पदाति ४०५, घोड़ा २४३—प्रमाण वाहिनी होती है । तीन वाहिनियों—रथ २४३, हाथी २४३, पदाति १२१५, घोड़ा ७२९—के समुदाय को पृतना कहा जाता है । पृतना से तिगुणी—रथ ७२९, हाथी ७२९, पदाति ३६४५, घोड़ा २१८७—चमू होती है । तीन चमू प्रमाण—रथ २१८७, हाथी २१८७, पदाति १०९३५, घोड़ा ६५६१—अनीकिनी कही जाती है । और इस प्रकारकी दस अनीकिनियों का नाम अक्षौहिणी है—रथ २१८७० + हाथी २१८७० + पदाति १०९३५० + घोड़ा ६५६१० = २१८७०० । ३ धवला के अनुसार उसे अक्षौहिणी का प्रमाण इतना है—हाथी ९००० + रथ ९००००० + घोड़ा ९०००००००० + पदाति ९०००००००००० = ९०९०९०९००० एक अक्षौहिणी ।

अगति—गदिकम्मोदयाभावा सिद्धिगदी अगदी । (धव. पु. ७, पृ. ६) ।

गति नामकर्म का अभाव हो जाने पर सिद्धि की गति अगति कही जाती है । अभिप्राय यह है कि गति—संसारपरिभ्रमण—का कारण गति नामकर्म है । सिद्धोंके चूंकि उस गति नामकर्म अभाव हो चुका है, अतः उनकी गति (अवस्था) अगति—गति से रहित—कही जाती है ।

अगमिक श्रुत—१. अण्णोण्णसगभिवाणठितं जं पढिज्जइ तं अगमितं, तं प्रायसो आयारादिकालियसुतं । (नन्दी चू. पृ. ४७) । २. गाथाति अगमियं खलु कालियसुतं दिट्ठिवाते वा । (विशेषा. ५४६) । ३. अगमिकं तु प्रायो गाथाद्यसमानग्रन्थत्वात् कालिकश्रुतमाचारादि । (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ८९) । ४. गमाः सदृशपाठविशेषाः, ते विद्यन्ते यस्य तत्र वा भवं तद् गमिकम् । तत्प्रतिपक्षस्त्वगमिकम् । (कर्मवि. पूर्वा. व्याख्या १४, पृ. ८) । ५. अर्थभेदे सदृशालापकं गमिकम्, इतरदगमिकम् । (कर्मवि. परमा. व्याख्या १४, पृ. ९) । ६. तथा गाथा-श्लोकादिप्रतिबद्धमगमिकम् । खलु अलंकारार्थः । एतच्च प्रायः कालिकश्रुतम् । यत आह दृष्टिवादे च । किंचिद्गाथाद्यसमानग्रन्थमिति गाथार्थः । (विशेषा. को. वृ. ५५२) । ७. अगमिकम् असदृशाक्षरालापकम्, तत् प्रायः कालिकश्रुतगतम् । (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ६, पृ. १७) ।

३ गाथा आदि से असमान ग्रन्थरूप कालिक श्रुत को अगमिक श्रुत कहते हैं—जैसे आचारादि ग्रन्थ ।

अगाढ (सम्यक्त्वदोष)—१. अगाढम् अदृढम् ।

तद्यथा—स्वेन कारितेऽर्हत्प्रतिमादौ 'अयं देवो मम इति, अन्यस्य इति' भ्रान्त्याऽर्हद्देवश्रद्धानस्य स्व-पर-संकल्पभेदेन शिथिलत्वम् अगाढत्वम् । (गो. जी. म. प्र. टीका २५) । २. वृद्धयष्टिरिवात्यक्तस्थाना करतले स्थिता । स्थान एव स्थितं कम्प्रमगाढं वेदकं यथा ॥ स्वकारिते ऽर्हच्चैत्यादौ देवोऽयं मेऽन्य-कारिते । अन्यस्यासाविति भ्राम्यन्मोहाच्छ्राद्धोऽपि चेष्टते । (अन. ध. २-५७) ।

१ अपने द्वारा निर्मापित जिनप्रतिमादि के विषय में 'यह मेरा देव है' तथा अन्य के द्वारा निर्मापित उक्त जिनप्रतिमादि में 'यह अन्य का देव है' इस प्रकार के अस्थिर श्रद्धान को अगाढ़ कहते हैं । यह सम्यक्त्व का एक दोष है ।

अगारी—१. प्रतिश्रयार्थिभिरङ्ग्यते इति अगारं वेश्म, तद्वानगारी । × × × × चारित्रमोहोदये सत्यगारसम्बन्धं प्रत्यनिवृत्तः परिणामो भावागार-मित्युच्यते । स यस्यास्त्यसावगारी वने वसन्नपि । गृहे वसन्नपि तदभावादनगारमित्युच्यते । (स. सि. ७-१६) । २. प्रतिश्रयार्थितया अङ्गनादगारम् ॥१॥ प्रतिश्रयार्थिभिः जनैरङ्ग्यते गम्यते तदित्यगारम्, वेश्म इत्यर्थः । अगारमस्यास्तीत्यगारी । (त. वा. ७-१६; त. सुखबो. वृ. ७-१६) । ३. अगारं वेश्म, तदुपलक्षणमारम्भ-परिग्रहवत्तायाः । × × × एवं द्वयमप्यगारशब्देनोपलक्ष्यते । तदेतावारम्भ-परिग्रहा-वगारं यथासम्भवमस्ति यस्य भविष्यतीति वा जाता-शंसस्यापरित्यक्ततत्सम्बन्धस्य सर्वोऽप्यगारी, तदभि-सम्बन्धाद् गृहस्थ इत्यर्थः । × × × अगारमस्या-स्तीत्यगारी, परिग्रहारम्भवान् गृहस्थ इत्यर्थः । (त. भा. सि. वृ. ७-१४) । ४. अङ्गचते गम्यते प्रतिश्रयार्थिभिः पुरुषैः गृह-प्रयोजनवद्भिः पुरुषैरित्य-गारं गृहमुच्यते । अगारं गृहं पस्त्यमावासो विद्यते यस्य स अगारी । (त. वृ. श्रुत. ७-१६) ।

१ अगार का अर्थ गृह होता है । उस अगार से—तत्सम्बद्ध ममत्व परिणाम से—जो सहित होता है वह अगारी कहलाता है । ३ अगार यह आरम्भ और परिग्रह सहित होने का उपलक्षण है । इस प्रकारके आरम्भ और परिग्रह रूप अगार (गृह) से जो सहित होता है वह अगारी (गृहस्थ) कहा जाता है ।

अगीतार्थ—अगीतार्थः येन च्छेदश्रुतार्थो न गृहीतो गृहीतो वा विस्मारितः । (बृहत्क. वृ. ७०३) ।

जिसने छेदश्रुत—प्रायश्चित्तशास्त्र—का अध्ययन नहीं किया है, अथवा अध्ययन करके भी जो उसे भूल गया है, ऐसे साधु को अगीतार्थ कहते हैं ।

अगुणप्रतिपन्न (**अगुणपडिवण्ण**)—को पुण गुणो ? संजमो संजमासंजमो वा [तं अपडिवण्णो अगुणपडिवण्णो] । (धव. पु. १५, पृ. १७४) ।

गुण शब्द से संयम या संयमासंयम अभीष्ट है । इस प्रकारके गुण को जो प्राप्त नहीं है वह अगुण-प्रतिपन्न—असंयत—कहलाता है ।

अगुणोपशामना (**अगुणोवसामणा**)—१. जा सा देसकरणुवसामणा तिस्से अण्णाणि दुवे णामाणि अगुणोवसामणा त्ति च अप्पसत्थुवसामणा त्ति च । (धव. पु. १५, पृ. २७५-७६) । २. तथा देशस्य—देशोपशामनायाः—तयोर्द्वयोः पूर्वोक्तयोर्नामधेययो-विपरीते नामधेये । तद्यथा—अगुणोपशामनाऽप्रश-स्तोपशामना च । (कर्मप्र. मलय. वृ. उपश. २, पृ. २५५) ।

अगुणोपशामना यह देशकरणोपशामना का पर्याय-नाम है । (उदयादि करणों में से कुछ का उपशान्त हो जाना और कुछ का अनुपशान्त बना रहना, इसका नाम अगुणोपशामना या देशकरणोप-शामना है) ।

अगुप्तिभय—१. स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे न यच्छक्तः कोऽपि परप्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः । अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो निःशंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति । (समयप्रा. कलश १५२)। २. आत्मरक्षोपायदुर्गाद्यभावात् जायमानम् अगुप्ति-भयम् । (त.वृ. श्रुत. ५-२४)। ३. दृङ्मोहस्योदयाद् बुद्धिः यस्य चैकान्तवादिनी । तस्यैवागुप्तिभीतिः स्यान्नूनं नान्यस्य जातुचित् । (पंचाध्यायी २, ५३६) ।

२ दुर्ग (किला) आदि गोपनस्थान के न होने पर जो अरक्षा का भय होता है वह अगुप्तिभय कहलाता है ।

अगुरुलघु, अगुरुलघुक—१. न विद्येते गुरु-लघुनी यस्मिंस्तदगुरुलघुकम् । नित्यं प्रकृतिवियुक्तं लोका-

लोकावलोकनाभोगम् । स्तिमिततरङ्गोदधिसमम-वर्णमस्पर्शमगुरुलघु। (षोड. १५–१५) २. न गुरुक-मधोगमनस्वभावं न लघुकमूर्ध्वगमनस्वभावं यद् द्रव्यं तदगुरुलघुकम्—अत्यन्तसूक्ष्मं भाषा-मनःकर्म-द्रव्यादि। (स्था. अभय. वृ. १०, १, ७१३, पृ. ४५०–५१)।

गुरुता और लघुता के न होने का नाम अगुरुलघु या अगुरुलघुक है।

अगुरुलघु गुण—१. अगुरुलहुगा अणंता तेहिं अणंतेहिं परिणदा सव्वे। देसेहि असंखादा सिय लोगं सव्वमावण्णा ॥(पंचास्ति. ३१) २. स्वनिमित्तस्तावदनन्तानामगुरुलघुगुणानामागमप्रामाण्यादभ्युपगम्य-मानानां षट्स्थानपतितया वृद्ध्या हान्या च प्रवर्तमानानां स्वभावादेतेषामुत्पादो व्ययश्च। (स. सि. ५–७; त. वा. ५–७, पृ. ४४६)। अगुरुलघवो गुणास्तु तेषामगुरुलघुत्वाभिधानस्य स्वरूपप्रतिष्ठत्वनिबन्धनस्य स्वभावस्याविभागपरिच्छेदाः प्रतिसमयसम्भवत्षट्स्थानपतितवृद्धि-हानयोऽनन्ताः। (पं. का. अमृत. वृ. ३१)। ३. यदि सर्वथा गुरुत्वं भवति तदा लोहपिण्डवदधःपतनम्, यदि च सर्वथा लघुत्वं भवति तदा वाताहतार्कतूलवत् सर्वदैव भ्रमणमेव स्यात्, न च तथा; तस्मादगुरुलघुत्वगुणोऽभिधीयते। (बृ. द्र.सं. टी. ३४)। ४. अगुरुलहुगा अणंता—प्रत्येकं षट्स्थानपतितहानि-वृद्धिभिरनन्ताविभागपरिच्छेदैः सहिता अगुरुलघवो गुणा अनन्ता भवन्ति। तेहिं अणंतेहिं परिणदा सव्वे—तैः पूर्वोक्तगुणैरनन्तैः परिणताः सर्वे। सर्वे के? जीवा इति सम्बन्धः। (पं. का. जयसेन वृ. ३१)।

जीवादिक द्रव्यों की स्वरूपप्रतिष्ठा का कारण जो अगुरुलघु नामक स्वभाव है उसके प्रतिसमय सम्भव जो छह स्थान पतित वृद्धि-हानिरूप अनन्त अविभागप्रतिच्छेद हैं उनका नाम अगुरुलघु गुण है, जो संख्या में अनन्त हैं।

अगुरुलघुता (गुण)—अगुरुलघुता सूक्ष्मा वागगोचरविवर्जिता। (द्रव्यानु. तर्क. ११–४)।

वचन के अगोचर जो सूक्ष्मता है वह अगुरुलघुता है—द्रव्य का अगुरुलघु नामका सामान्य गुण है।

अगुरुलघु नामकर्म—१. यस्योदयादयःपिण्डवद् गुरुत्वान्नाधः पतति, न चार्कतूलवल्लघुत्वादूर्ध्वं गच्छति, तदगुरुलघुनाम। (स. सि. ८–११, त. वा. ८, ११, १२; त. सुखबो. वृ. ८–११)। २. अगुरुलघुपरिणामनियामकमगुरुलघुनाम। (त. भा. ८, १२)। ३. यन्निमित्तमगुरुलघुत्वं तदगुरुलघुनाम। (त. श्लो. ८–११)। ४. अगुरुलघुनाम यदुदयान्न गुरुर्नापि लघुर्भवति देहः। (श्रावकप्र. टी. ३१)। ५. अणंताणंतेहि पोग्गलेहि आऊरियस्स जीवस्स जेहि कम्मक्खंधेहितो अगुरुलहुअत्तं होदि, तेसिमगुरुअलहुअं ति सण्णा। × × सो (पुग्गलक्खंधो) जस्स कम्मस्स उदएण जीवस्स गरुओ हलुवो वा त्ति णावडइ तममगुरुवलहुअं। (धव. पु. ६, पृ. ५८); जस्स कम्मस्सुदएण जीवस्स सगसरीरं गुरुलहुगभावविवज्जियं होदि तं कम्ममगुरुअलहुगं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६४)। ६. यस्य कर्मण उदयात्सर्वजीवानामिह कुब्जादीनामात्मीयशरीराणि न गुरूणि न लघूनि स्वतः। किं तर्हि? अगुरुलघुपरिणाममेवावरुन्धन्ति तत्कर्मागुरुलघुशब्देनोच्यते। (त. भा. सि. वृ. ८–१२)। ७. अगुरुलघुनामकर्मोदयात् स्वशरीरं न गुरु नापि लघु प्रतिभाति। (पंचसं. चन्द्र. स्वो. वृ. ३-१२७ पृ. ३८)। ८. यदुदयादगुरुलघुत्वं स्वशरीरस्य जीवानां भवति तदगुरुलघुनाम। (समवा. अभय. वृ. सू. ४२, पृ. ६३)। ९. गरुयं न होइ देहं न य लहुयं होइ सव्वजीवाणं। होइ हु अगुरुयलहुयं अगुरुलहुयनामउदएणं। कर्मवि. गा. ११८)। १०. यस्य कर्मस्कन्धस्योदयाज्जीवोऽनन्तानन्तपुद्गलपूर्णोऽयःपिण्डवद् गुरुत्वान्नाधः पतति, न चार्कतूलवल्लघुत्वादूर्ध्वम्, तदगुरुलघुनाम। (मूला. वृ. १२–६)। ११. यदुदयात् प्राणिनां शरीराणि न गुरूणि, न लघूनि, नापि गुरुलघूनि; किन्त्वगुरुलघुपरिणामपरिणतानि भवन्ति तदगुरुलघुनाम। (कर्मप्र. यशो. टीका १–१, पृ. ५; षष्ठ कर्म. टी. ६; पंचसं. मलय. वृ. ३–७ ११५; प्रज्ञाप. मलय. वृ. सू. २९३, पृ. ४७३)। १२. अगुरुलघुनाम यदुदयात् स्वजात्यपेक्षया नैकान्तेन गुरुर्नापि लघुर्देहो भवति। (धर्मसं. टी. गा. ६१८)। १३. यस्य कर्मण उदये न गुरु नापि लघु शरीरं जीवस्य तदगुरुलघुनाम। (कर्मवि. व्या. गा. ७५)। १४. सर्वप्राणिनां शरीराणि यदुदयादात्मीयात्मीयापेक्षया नैकान्तगुरूणि नैकान्तलघूनि भवन्ति, तदगुरुलघुनाम। (बन्धस्वा. टी. ३८, पृ. ५१; प्रव. सारो. टी.

गा. १२६२; कर्मस्त. टी. गाथा १०, पृ. २८)। १५. यदुदयेन लोहपिण्डवद् गुरुत्वेनाधो न भ्रंश्यति, अर्कतूलवल्लघुत्वेन यत्र तत्र नोड्डीयते, तदगुरुलघुनाम। (त. वृ. श्रुत. ८–११)। १६. यस्योदयादयःपिण्डवद् गुरुत्वान्न च पतति न चार्कतूलवल्लघुत्वादूर्ध्वं गच्छति, तदगुरुलघुनाम। (गो. क. जी. त. प्र. टी. ३३)।

१ जिस नामकर्म के उदय से जीव लोहपिण्ड के समान भारी होने से न तो नीचे गिरता है और न आक की रुई के समान ऊपर उड़ता है वह अगुरुलघु नामकर्म कहलाता है।

अगृहीतग्रहणाद्धा—अप्पिदपोग्गलपरियट्टब्भंतरे जं अगहिदपोग्गलगहणकालो अगहिदगहणद्धा णाम। (धव. पु. ४, पृ. ३२८)।

विवक्षित पुद्गलपरिवर्तन के भीतर जो अगृहीत पुद्गलों के ग्रहण का काल है वह अगृहीतग्रहणाद्धा नामका पुद्गलपरिवर्तन काल है।

अगृहीत मिथ्यात्व — १. एकेन्द्रियादिजीवानां घोराज्ञानविवर्तिनाम्। तीव्रसन्तमसाकारं मिथ्यात्वमगृहीतकम्। (पञ्चसं. अमित. १–१३५)। २. केषाञ्चिदन्धतमसायतेऽगृहीतम् × × ×। (सा. ध. १–५)। ३. अगृहीतं परोपदेशमन्तरेण प्रवृत्तत्वादनुपात्तमनादिसन्तत्या प्रवर्त्तमानस्तत्त्वारुचिरूपश्चित्परिणामः। (सा. ध. स्वो. टीका १–५)। ४. अगृहीतं स्वभावोत्थमतत्त्वरुचिलक्षणम्। (धर्मसं. श्रा. ४–३७)।

३ परोपदेश के बिना अनादि परम्परा से प्रवर्तमान अतत्त्वश्रद्धानरूप परिणति का नाम अगृहीत मिथ्यात्व है।

अगृहीता—मृतेषु तेषु (बन्धुवर्गेषु) सैव स्यादगृहीता च स्वैरिणी। (लाटीसं. २–२०१)।

अपने अभिभावक बन्धुजनों के मर जाने पर स्वेच्छाचार में प्रवृत्त कुलटा स्त्री अगृहीता कही जाती है।

अग्नि—विद्युदुल्काऽशनिसंघर्षसमुत्थिता सूर्यमणिसंसृतादिरूपश्चाग्निः। (आचा. शीलांक वृत्ति १, ३, सू. ३१ गा. ११८ पृ. ४४)।

जो बिजली, उल्का और वज्र आदि के संघर्ष से तथा सूर्य और सूर्यकान्त मणि के संयोग से दाहक वस्तु उत्पन्न होती है उसे अग्नि कहते हैं।

अग्निकाय—पृथिवीकायो मृतमनुष्यादिकायवत्। × × × × एवमवादिष्वपि योज्यम्। (स. सि. २–१३)।

अग्निकायिक जीव के द्वारा परित्यक्त काय (शरीर) अग्निकाय कहलाता है। जैसे—मृत मनुष्यादि का निर्जीव शरीर मनुष्यकाय आदि कहलाता है।

अग्निकायिक (अगणिकाइय)—१. पृथिवी कायोऽस्यास्तीति पृथिवीकायिकः तत्कायसम्बन्धवशीकृत आत्मा। × × × एवमवादिष्वपि योज्यम्। (स. सि. २–१३)। २. अगणिकाइयणामकम्मोदइल्ला सव्वे जीवा अगणिकाइया णाम। (धव. पु. १२, पृ. २०८)।

जो जीव अग्निरूप शरीर से सम्बद्ध है वह अग्निकायिक कहलाता है।

अग्निकायिकस्थिति (अगणिकाइयठिदी)—अण्णकाइएहिंतो अगणिकाइएसु उप्पण्णपढमसमये चेव अगणिकाइयणामकम्मस्स उदयो होदि। तदुदयपढमसमयप्पहुडि उक्कस्सेण जाव असंखेज्जा लोगा त्ति तदुदयकालो होदि। सो कालो अगणिकाइयट्ठिदी णाम। (ध. पु. १२, पृ. २०८)।

अन्य पर्याय से अग्निकायिक जीवों में उत्पन्न होने के प्रथम समय में अग्निकायिक नामकर्म का उदय होता है। इस प्रथम समय से लेकर उत्कृष्ट असंख्यात लोक प्रमाण काल तक उसका उदय रहता है। इतने काल को अग्निकायिक की स्थिति जानना चाहिए।

अग्निकुमार—१. मानोन्मानप्रमाणयुक्ता भास्वन्तोऽवदाता घटचिह्ना अग्निकुमाराः। (त. भा. ४, ११)। २. अग्निकुमारा भूषणनियुक्तपूर्णकलशरूपचिह्नधराः। (जीवाजी. वृ. ३–१, पृ. २६१)। ३. अग्निकुमाराः सर्वाङ्गोपाङ्गेषु मानोन्मानप्रमाणोपपन्ना विविधाभरणभास्वन्तस्तप्तस्वर्णवर्णाः। (संग्रहणी वृ. १७)। ४. अङ्गन्ति पातालं विहाय क्रीडार्थमूर्ध्वमागच्छन्तीति अग्नयः। (त. वृ. श्रुत. ४–१०)।

३ जो देव समस्त शरीरावयवों में मान व उन्मान के प्रमाण से सम्पन्न होते हुए विविध आभरणों से अलंकृत, तपे हुए स्वर्ण के समान वर्ण वाले और

घट चिह्न से उपलक्षित होते हैं वे 'अग्निकुमार' इस नाम से प्रसिद्ध हैं।

अग्निजीव — समवाप्तपृथिवीकायनामकर्मोदयः कार्मणकाययोगस्थो यो न तावत् पृथिवीं कायत्वेन गृह्णाति स पृथिवीजीवः। एवमबादिष्वपि योज्यम्। (स. सि. २–१३)।

जो जीव अग्निकाय नामकर्म के उदय से संयुक्त होकर कार्मण काययोग में स्थित होता हुआ जब तक अग्नि को कायरूप से नहीं ग्रहण करता है तब तक वह अग्निजीव कहलाता है।

अङ्कुशित—१. अङ्कुशमिव कराङ्गुष्ठं ललाटदेशे कृत्वा यो वन्दनां करोति तस्याङ्कुशितदोषः। (मूला. वृ. ७–१०६)। २. भालेऽङ्कुशवदंगुष्ठविन्यासोऽङ्कुशितं मतम्। (अन. ध. ८–१००)।

१. जो अंकुश के समान हाथ के अंगूठे को मस्तक पर करके वन्दना करता है वह इस अंकुशित दोष का भागी होता है।

अङ्ग—१. अङ्गति गच्छति व्याप्नोति त्रिकालगोचराशेषद्रव्य-पर्यायानित्यङ्गशब्दनिष्पत्तेः। (धव. पु. ६, पृ. १६४)। २. णलया बाहू अ तहा णियंब पुट्ठी उरो य सीसं च। अट्ठेव दु अंगाइं देहण्णाइं उवंगाइं। (धव. पु. ६, पृ. ५४ उद्धृत; गो. क. २८)। ३. सीसमुरोअरपिट्ठी दो बाहू ऊरुआ य अट्ठंगा। (आव. भा. गा. १६०, पृ. ४५८)। ४. शीर्षमुर उदरं पृष्ठं द्वौ बाहू द्वौ च ऊरू इत्यष्टावङ्गानि। (आव. भा. मलय. वृत्ति गा. १६०, पृ. ५६०)। शिरःप्रभृतीन्यङ्गानि। (धर्मसं. वृ. गा. ६११)। ६. अङ्गानि शिरःप्रभृतीनि। (कर्मवि. व्या. गा. ७१)।

१ जो 'अङ्गति' अर्थात् त्रिकालविषयक समस्त द्रव्य-पर्यायों को व्याप्त करता है वह अंग (श्रुत) कहा जाता है, यह अङ्ग शब्द का निरुक्त्यर्थ है। ३ शरीर के शिर, वक्षस्थल, पेट, पीठ, दो हाथ और दो जंघायें; इन आठ अवयवों को अङ्ग कहते हैं।

अङ्गना—अंगे स्वशरीरे पयोधर-नितम्ब-जघनस्मरकूपिकादिरूपे अनुरागो येषां ते अङ्गानुरागाः, तान् अङ्गानुरागान् कुर्वन्तीति अङ्गनाः। (आचा. नि. चू.—अभिधानराजेन्द्र १, पृ. ३८)।

जो कामोद्दीपक अपने स्तनादि युक्त अंग (शरीर) में अनुराग रखने वाले पुरुषों को अनुरक्त किया करती हैं, उन्हें अंगना कहते हैं। यह अंगना का निरुक्ति के अनुसार लक्षण है।

अङ्गनिमित्त—देखो अंगमहानिमित्त। वातादिप्पगिदीओ रुहिरप्पहुदिसहावसत्ताइं। णिण्णाण उण्णयाणं अंगोवंगाण दंसणा पासा॥ णर-तिरियाणं दट्ठुं जं जाणइ दुक्ख-सोक्ख-मरणाइं। कालत्तयणिप्पण्णं अंगणिमित्तं पसिद्धं तु॥ (ति. प. ४, १००६–७)।

मनुष्य व तिर्यचोंके निम्न और उन्नत अंग-उपांगों के देखने व छूने से वात, पित्त एवं कफ रूप प्रकृति तथा रुधिर आदि धातुओं को देखकर तीनों कालों में उत्पन्न होने वाले सुख, दुख एवं मरण को जान लेना; इसका नाम अंगनिमित्त प्रसिद्ध है।

अङ्गप्रविष्ट—१. यद्भगवद्भिः सर्वज्ञैः सर्वदर्शिभिः परमर्षिभिरर्हद्भिस्तत्स्वाभाव्यात् परमशुभस्य च प्रवचनप्रतिष्ठापनफलस्य तीर्थकरनामकर्मणोऽनुभावादुक्तं भगवच्छिष्यैरतिशयवद्भिरुत्तमातिशयवाग्बुद्धिसम्पन्नैर्गणधरैर्दृब्धं तदङ्गप्रविष्टम्। (त. भा. १–२०)। २. अङ्गप्रविष्टमाचारादिद्वादशभेदं बुद्धयतिशयर्द्धियुक्तगणधरानुस्मृतग्रन्थरचनम् ॥ १२ ॥ भगवदर्हत्सर्वज्ञहिमवन्निर्गतवागङ्गार्थविमलसलिलप्रक्षालितान्तःकरणैः बुद्धयतिशयर्द्धियुक्तैर्गणधरैरनुस्मृतग्रन्थरचनम् आचारादिद्वादशविधमङ्गप्रविष्टमित्युच्यते। (त. वा. १–२०, पृ. ७२)।

भगवत् अर्हत्सर्वज्ञोपदिष्ट अर्थ की गणधरों के द्वारा जो आचारादि रूप से अंगरचना की जाती है, उसे अंगप्रविष्ट कहते हैं।

अङ्गबाह्य—१. गणधरानन्तर्यादिभिस्त्वत्यन्तविशुद्धागमैः परमप्रकृष्टवाङ्मतिबुद्धिशक्तिभिराचार्यैः काल-संहननायुर्दोषादल्पशक्तीनां शिष्याणामनुग्रहाय यत् प्रोक्तं तदङ्गबाह्यमिति। (त. भा. १–२०)। २. आरातीयाचार्य-कृताङ्गार्थप्रत्यासन्नरूपमङ्गबाह्यम् ॥ १३ ॥ यद् गणधरशिष्य-प्रशिष्यैरारातीयैरधिगतश्रुतार्थतत्त्वैः कालदोषादल्पमेधायुर्बलानां प्राणिनामनुग्रहार्थमुपनिबद्धं संक्षिप्ताङ्गार्थवचनविन्यासं तदङ्गबाह्यम्। (त. वा. १–२०, पृ. ७८)। ३. अङ्गानि अवयवा आचारादयस्तेभ्यो बाह्यमिति अङ्गबाह्यम्। (त. भा. सि. वृ. १-२०, पृ. ९०)।

२ गणधरों के शिष्य-प्रशिष्यादि आरातीय आचार्यों

के द्वारा अल्पबुद्धि शिष्यों के अनुग्रहार्थ की गई संक्षिप्त अंगार्थग्रन्थरचना को अङ्गबाह्य कहते हैं।

अङ्गमहानिमित्त—१. वातादिप्पगिदीओ रुहिरप्पहुदिस्सहावसत्ताइं। णिण्णाण उण्णयाणं अंगोवंगाण दंसणा पासा ॥ णर-तिरियाणं दट्ठुं जं जाणइ दुक्ख-सोक्ख-मरणाइं। कालत्तयणिप्पण्णं अंगणिमित्तं पसिद्धं तु। (ति. प. ४, १००६–७), २. अंग-प्रत्यंगदर्शनादिभिस्त्रिकालभाविसुख-दुःखादिविभावनमङ्गम् ॥ त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०२)। ३. तत्थ अंगगयमहाणिमित्तं णाम मणुस्स-तिरिक्खाणं सत्त-सहाव-वाद-पित्त-सेंभ-रस-रुहिर-मांस-मेदट्ठि - मज्ज-सुक्काणि सरीरवण्ण-गंध-रस - फासणिण्णुण्णदाणि जोएदूण जीविय-मरण-सुह-दुक्ख-लाहालाह-पवासादि-विसयावगमो। (धव. पु. ९, पृ. ७२)। ४. तिर्यङ्-मनुष्याणां सत्वस[स्व]भाव-वातादिप्रकृति-रस-रुधिरादिधातुशरीरवर्ण-गन्धनिम्नोन्नतांग-प्रत्यंगदर्शन-स्पर्शनादिभिस्त्रिकालभाविसुख - दुःखादिविभावनमंगम्। (चारित्रसार पृ. ९४)। ५. तथांगं शिरोग्रीवादिकं दृष्ट्वा पुरुषस्य यच्छुभाशुभं ज्ञायते तदंगनिमित्तमिति। (मूलाचार वृत्ति ६–३०)। ६. अंगं शरीरावयवप्रमाणस्पन्दितादिविकारफलोद्भावकम्। (समवा. सू. अभय. वृ. २९, पृ. ४७)।

२ शरीर के अंग-उपांगों को देखकर त्रिकालभावी सुख-दुःखादि शुभाशुभ के जानने की शक्ति को अंग-महानिमित्त कहते हैं।

अङ्गार (इंगाल)—दग्धेन्धनो विगतधूमज्वालोऽङ्गारः इन्धनस्थः प्लोषक्रियाविशिष्टरूपः। (आचारांग शी. वृत्ति १, १, ३, गा. ११८, पृ. ४४)।

धूम और ज्वाला से रहित धधकती हुई अग्नि को अङ्गार कहते हैं।

अङ्गारकर्म—१. देखो अग्निजीविका। अंगार-कम्ममिदि भणिदे अंगारसंपायणट्ठा कट्ठदहणकिरिया घेत्तव्वा। अथवा तेहिं तहा णिव्वत्तिदेहिं जो सुवण्ण-समाणादिवावारो सो वि अंगारकम्ममिदि घेत्तव्वं। (जयध. दे. पत्र ९५२)। २. इंगाला निद्दहितुं विक्किणाति। (श्राव. सू. ७)। ३. अंगारकर्म अंगारकरण-विक्रयक्रिया। (श्राव. वृ. सू. ७)। ४. इंगालकम्मं ति इंगाले दहिउं विक्किणइ, तत्थ छण्हं कायाणं वहो। तं ण कप्पइ। (श्रा. प्र. टीका २८८ उद्धृत)

१ अंगार—कोयला—उत्पन्न करने के लिए काष्ठ को जलाना, अथवा अग्नि के द्वारा सोना, चांदी व लोहा आदि को शुद्ध करना, तथा उनके विविध आभरण और उपकरण बनाना यह सब अंगारकर्म कहलाता है।

अङ्गारजीविका—अंगार-भ्राष्ट्रकरणं कुंभायःस्वर्ण-कारिता। ठठारत्वेष्टकापाकाविति ह्यंगारजीविका॥ (योगशा. ३–१०१; त्रि. श. पु. च. ६, ३, ३३६)। कोयला बना कर, भाड़ भूंजकर, कुम्हार, लुहार, सुनार एवं ठठेरे आदि के कार्य कर और ईंट व कवेलू आदि पका कर आजीविका के करने को अंगार आजीविका कहते हैं।

अङ्गारदोष—१. तं होदि सयंगालं जं आहारेदि मुच्छिदो संतो। (मूला. ६–५८; पि. नि. ६५५)। २. जे णं णिग्गंथे वा णिग्गंथी वा फासु-एसणिज्जं असण-पाण-खाइम-साइमं पडिग्गाहेत्ता मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववन्ने आहारं आहारे ति एस णं गोयमा! सइंगाले पाण-भोयणे। (भग. श. ७, उ. १)। ३. रागेण सइंगालं × × × ॥ (पि. नि. ६५९)। ४. आहाररागाद् गार्द्ध्याद् भुञ्जानस्य चारित्रांगारत्वापादनादंगारदोषः। (आचा. शी. वृ. २, १, सू. २७३)। ५. रागेणाऽऽध्मातस्य यद् भोजनं तत् साङ्गारम्। (पिण्डनि. मलय. वृ. ६५९)। ६. स्वाद्वन्नं तद्दातारं वा प्रशंसयन् यद् भुङ्क्ते स रागाग्निना चारित्रेन्धनस्याङ्गारीकरणादङ्गारदोषः। (योगशा. स्वो.विव. १–३८; धर्मसं. स्वो. वृ.३–२३)। ७. गृद्धयाऽङ्गारोऽश्नतः × × ×। (अन. ध. ५–३७); ८. इष्टान्नादिप्राप्तौ रागेण सेवनमङ्गारदोषः। (भा. प्रा. टी. १००)।

१ इष्ट अन्न-पानादि के अतिगृद्धता से सेवन को अंगारदोष कहते हैं। ६ स्वादु अन्न अथवा उसके देने वाले श्रावक की प्रशंसा करके भोजन करने को भी अंगार दोष कहते हैं।

अङ्गुल—१. कम्ममहीए वालं लिक्खं जूवं जवं च अंगुलयं। इगिउत्तरा य भणिदा पुव्वेहिं अट्ठगुणिदेहिं। (ति. प. १–१०६)। २. अष्टौ यवमध्यानि एकमंगुलमुत्सेधाख्यम्। (त. वा. ३, ३८, ६)। ३. अट्ठजवमज्झाओ से एगे अङ्गुले। (भग. सू. श. ६, उ. ७)। ४. जवमज्झा अट्ठ हवन्ति अंगुलं × × ×। (ज्योतिष्क. २–७५)। ५. अष्टौ यवमध्यान्येकमङ्गुलम्। (ज्योति. मलय. वृ. २–७५)।

६. अङ्च्यन्ते प्रमाणतो ज्ञायन्ते पदार्था अनेनेत्यङ्गुलं मानविशेषः। (संग्रह. दे. वृ. २४४)।

२ आठ यवमध्य प्रमाण माप को अंगुल कहते हैं। ६ जिस मापविशेष को आधार बना करके पदार्थों का प्रमाण जाना जाता है उसे अंगुल कहते हैं।

अंगुलिदोष—१. यः कायोत्सर्गेण स्थितो अंगुलिगणनां करोति तस्याङ्गुलिदोषः। (मूला. वृ. ७, १७२)। २. आलापकगणनार्थमङ्गुलीश्चालयतः स्थानमङ्गुलिदोषः। (योगशा. स्वो. विव. ३–१३०)। ३. × × × अंगुलीगणनाङ्गुली। (अन. ध. ८, ११८); अंगुली नाम दोषः स्यात्। कासौ? अङ्गुलिगणना अङ्गुलीभिः संख्यानम्। (अन. ध. स्वो. टीका ८–११८)।

१ कायोत्सर्ग करते समय अंगुलियोंसे मंत्र गणना करने को अंगुलिदोष कहते हैं।

अङ्गुष्ठप्रसेनी (प्रश्निका)—यया (विद्यया) अङ्गुष्ठे देवताकारः क्रियते सा अङ्गुष्ठप्रसेनिका विद्या। (अभि. रा. भा. १, पृ. ४३)।

जिस विद्या के द्वारा देवता को अंगूठे के ऊपर अवतीर्ण कराया जाता है, उसे अङ्गुष्ठप्रसेनी या अङ्गुष्ठप्रश्निका विद्या कहते हैं।

अङ्गोपाङ्गनाम—१. यदुदयादङ्गोपाङ्गविवेकस्तदङ्गोपाङ्गनाम। (स. सि. ८–११; त. श्लो. ८–११; भ. आ. मूला. २१२४)। २. **यदुदयादङ्गोपाङ्गविवेकस्तदङ्गोपाङ्गनाम** ॥ ४ ॥ यस्योदयाच्छिरः-पृष्ठोरु-बाहूदर-नालक-पाणि-पादानामष्टानामङ्गानां तद्भेदानां च ललाट-नासिकादीनां उपाङ्गानां विवेको भवति तदङ्गोपाङ्गनाम। (त. वा. ८–११; गो. क. जी.प्र.टी.गा. ३२)। ३. अङ्गोपाङ्गनाम औदारिकादिशरीरत्रयाङ्गोपाङ्गनिर्वर्तकं यदुदयादङ्गोपाङ्गान्युत्पद्यन्ते शिरोऽङ्गुल्यादीनि। (त. भा. हरि. वृत्ति २–१७)। ४. अङ्गोपाङ्गनाम यदुदयादङ्गोपाङ्गनिर्वृत्तिः। शिरःप्रभृतीन्यङ्गानि, श्रोत्रादीन्युपाङ्गानि। (श्रा. प्र. टी. २०)। ५. जस्स कम्मक्खंधस्सुदएण सरीरस्संगोवंगणिप्फत्ती होज्ज, तस्स कम्मक्खंधस्स सरीरंगोवंगं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ५४)। ६. जस्स कम्मस्सुदएण अट्ठण्णमंगाणमुवंगाणं च णिप्पत्ती होदि तं अंगोवंगं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६४.)। ७. पञ्चविधौदारिकशरीरनामादिकार्येण साधितं यदेषामेवाङ्गोपाङ्गनिर्वृत्तिकारणं तदङ्गोपाङ्गनाम। (अनु. हरि. वृ. पृ. ६३)। ८. अंगोपाङ्गनिबन्धनं नाम अङ्गोपाङ्गनाम। यदुदयाच्छरीरतयोपात्ता अपि पुद्गला अङ्गोपाङ्गविभागेन परिणमन्ति तत्कर्माङ्गोपाङ्गं नाम। (कर्म. १)। ९. अङ्गानि शिरःप्रभृतीनि उपाङ्गान्यङ्गुल्यादीनि, यस्य कर्मणः उदये सर्वाण्यङ्गोपाङ्गानि निष्पद्यन्ते तदङ्गोपाङ्गनाम च ज्ञातव्यम्। (कर्मवि. व्या. ७१, पृ. ३२), १०. यदुदयाच्छरीरतयोपात्ता अपि पुद्गला अङ्गोपाङ्गविभागेन परिणमन्ति तत्कर्मापि अङ्गोपाङ्गनाम। (कर्मवि. दे. स्वो. टी. गा. २४)। ११. अङ्गोपाङ्गनाम यदुदयादङ्गोपाङ्गनिष्पत्तिः। (धर्मसं. मलय. वृ. गा. ६१७)। १२. यदुदयादङ्गोपाङ्गव्यक्तिर्भवति तदङ्गोपाङ्गम्। (त. वृ. श्रुत. ८–११)। १३. यदुदयादंगोपांगविवेकनिष्पत्तिः तदंगोपांगं नाम, यस्य कर्मण उदयेन नालक-बाहूरु-दर-नितम्बोरःपृष्ठ-शिरांस्यष्टावंगानि उपांगानि च मूर्द्धकरोटि-मस्तक-ललाट-सन्धि-भुज-कर्ण-नासिका-नयनाक्षिकूप-हनु-कपोलावरौष्ठ-सृक्वक-तालु-जिह्वा-ग्रीवा-स्तन-चूचुकांगुल्यादीनि भवन्ति तदंगोपांगम्। (मूला. वृ. १२–१९४)।

१ जिस नामकर्म के उदय से हस्त, पाद, शिर आदि अंगों का और ललाट, नासिका आदि उपांगों का विवेक हो उसे आंगोपांग नामकर्म कहते हैं।

अङ्घ्रिप्रक्षालन — अङ्घ्रिप्रक्षालनं तथास्वीकृतनिवेशितसंयतस्य प्रासुकोदकेन पादधावनं तत्पादोदकवन्दनं च। (सा. ध. स्वो. टी. ५–४५)।

पडिगाहे हुए साधु के प्रासुक जल से पैर धोने व पादजल के वन्दन को अङ्घ्रिप्रक्षालन कहते हैं।

अचक्षुदर्शन (अचक्खुदंसण)—१. सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खु त्ति। (पंचसं. १–१३९; गो.जी. ४८४)। २. शेषेन्द्रियैर्दर्शनमनयनदर्शनं अचक्षुर्दर्शनम्। (पंचसं. च. स्वो. वृ. २–१२२)। ३. एवं (चक्षुर्दर्शनवत्—अचक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मक्षयोपशमतः अवबोधव्यापृतिमात्रसारं सूक्ष्मजिज्ञासारूपमवग्रहप्राग्जन्ममतिज्ञानावरणक्षयोपशमसम्भूतं सामान्यमात्रग्राह्यवग्रहव्यङ्ग्यं स्कन्धावारोपयोगवत्) अचक्षुर्दर्शनं शेषेन्द्रियोपलब्धिलक्षणम्। (त. भा. हरि.वृ. २–९)। ४. दिट्ठस्स य जं सरणं णायव्वं तं अचक्खु त्ति ॥ धव. पु. ७, पृ. १०० उ.); दिट्ठस्स शेषेन्द्रियैः प्रतिपन्नस्यार्थस्य, जं यस्मात्, सरणं अवगमनम्, णायव्वं

तं तत् अचक्खु त्ति अचक्षुदर्शनमिति । सेसिंदिय-णाणुप्पत्तीदो जो पुव्वमेव सुवसत्तीए अप्पणो विसयम्मि पडिवद्धाए सामण्णेण संवेदो अचक्खुणाणुप्पत्तिणिमित्तो तमचक्खुदंसणमिदि । (धव. पु. ७, पृ. १०१; सोद-घाण-जिब्भा-फास-मणेहिंतो समुप्पज्जमाणणाणकारणसगसंवेयणमचक्खुदंसणं णाम । (धव. पु. १३, पृ. ३५५); शेपेन्द्रिय-मनसां दर्शनमचक्षुदर्शनम् । (धव. पु. ६, पृ. ३३)। ५. शेपेन्द्रियमनोविपयमवशिष्टमचक्षुर्दर्शनम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-८)। ६. यत्तदावरणक्षयोपशमाच्चक्षुर्वर्जितेतरचतुरिन्द्रियानिन्द्रियावलम्वाच्च मूर्तामूर्तद्रव्यं विकलं सामान्येनाववुध्यते तदचक्षुर्दर्शनम् । (पंचा. का. अमृत. वृ. ४२)। ७. एवमचक्षुर्दर्शनं शेपेन्द्रियसामान्योपलब्धिलक्षणम् । (अनु. हरि. वृ. पृ. १०३)। ८. शेपेन्द्रियज्ञानोत्पादकप्रयत्नानुविद्धगुणीभूतविशेपसामान्यालोचनमचक्षुर्दर्शनम् । (मूला. वृ. १२-१८८)। ९. शेपाणां पुनरक्षाणामचक्षुर्दर्शनं जिनैः ॥ (पंचसं. अभि. १-२५०)। १० अचक्षुपा चक्षुर्वर्ज-शेपेन्द्रियचतुष्टयेन मनसा च दर्शनं सामान्यार्थग्रहणमेवाचक्षुर्दर्शनम् । (शतक. मल. हेम. वृ. ३७)। ११. अचक्षुपा चक्षुर्वर्जशेपेन्द्रिय-मनोभिर्दर्शनमचक्षुदर्शनम् । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३-२९३; जीवाजी. मलय. वृ. १-१३; कर्मप्र. यशो. टी. १०२)। १२. अचक्षुपा चक्षुर्वर्ज-शेपेन्द्रिय-मनोभिर्दर्शनं स्व-स्वविपये सामान्यग्रहणमचक्षुर्दर्शनम् । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९-३१२)। १३. अचक्षुपा चक्षुर्वर्जेन्द्रियचतुष्टयेन मनसा वा दर्शनं तदचक्षुर्दर्शनम् । (स्थाना. अभय. वृ. ९, ३, ६७२, कर्मस्त. गोविंद. टी. गा. ९, पृ. ८३)। १४. सामान्य-विशेपात्मके वस्तुनि अचक्षुपा चक्षुर्वर्जशेपेन्द्रिय-मनोभिर्दर्शनं स्व-स्वविपयसामान्यग्रहणमचक्षुर्दर्शनम् । (पडशी. मलय. वृ. १६)। १५. शेपेन्द्रिय - नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति वहिरङ्गद्रव्येन्द्रिय-द्रव्यमनोऽवलम्वेन यन्मूर्त्तामूर्त्तं च वस्तु निर्विकल्पसत्तावलोकेन यथासम्भवं पश्यति तदचक्षुर्दर्शनम् । (पंचा. का. जय. वृ. ४२)। १६. स्पर्शन-रसन-घ्राण-श्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमत्वात् स्वकीय-स्वकीयवहिरङ्गद्रव्येन्द्रियालम्वनाच्च मूर्त्तं सत्तासामान्यं विकल्परहितं परोक्षरूपेणैकदेशेन यत् पश्यति तदचक्षुर्दर्शनम् । (वृ. द्रव्यसं. टी. ४)। १७. इतरैर्नयनवर्जैरिन्द्रियैर्मनसा च दर्शनमितरदर्शनम् । (पंचसं. मलय. वृ. ३-४)। १८. यः सामान्याववोधः स्याच्चक्षुर्वर्जापरेन्द्रियैः । अचक्षुर्दर्शनं तत्स्यात् सर्वेपामपि देहिनाम् । (लोकप्र. ३-१०५५)। १९. शेपेन्द्रिय-मनोभिर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनम् । (कर्मप्र. यशोवि. टी. १०२)।

७ चक्षुरिन्द्रिय के सिवाय शेप चार इन्द्रियों और मन के द्वारा होने वाले सामान्य प्रतिभास या अवलोकन को अचक्षुदर्शन कहते हैं ।

अचक्षुदर्शनावरण (अचक्खुदंसणावरणीय)—१. तत् (शेपेन्द्रिय-मनोदर्शनं) आवृणोत्यचक्षुर्दर्शनावरणीयम् । (धव. पु. ६, पृ. ३३); तस्स अचक्खुदंसणस्स आवारयमचक्खुदंसणावरणीयं । (धव. पु. १३, पृ. ३५५)। २. अचक्षुर्दर्शनावरणं शेपेन्द्रियदर्शनावरणम् । (श्रा. प्र. टी. १४)। ३. शेपेन्द्रिय-मनोविपयविशिष्टमचक्षुर्दर्शनम्, तल्लब्धिघात्यचक्षुर्दर्शनावरणम् । (तत्त्वा. भा. सि. वृ. ८-८)। ४. तस्य (अचक्षुर्दर्शनस्य) आवरणम् अचक्षुर्दर्शनावरणम् । (मूला. वृ. १२-१८८)। ५. इतरदर्शनावरणमचक्षुर्दर्शनावरणम्—चक्षुर्वर्जशेपेन्द्रिय-मनोदर्शनावरणम् । (धर्मसं. मलय. वृ. ६११.)। ६. चक्षुर्वर्जशेपेन्द्रिय-मनोभिर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनम्, तस्यावरणीयमचक्षुर्दर्शनावरणीयम् । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३-२९३; कर्मप्र. यशो. टीका १०२)।

१ अचक्षुर्दर्शन का आवरण करने वाले कर्म को अचक्षुर्दर्शनावरण कहते हैं ।

अचक्षुःस्पर्श—चक्षुपा स्पृश्यते गृह्यमाणतया युज्यते इति चक्षुःस्पर्शम्—स्थूलपरिणतिमत्पुद्गलद्रव्यम् । अतोऽन्यदचक्षुःस्पर्शम् । (उत्तरा. नि. ४-१८६)।

जिस स्थूल परिणाम वाले द्रव्य को चक्षु इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण किया जा सकता है उसका नाम चक्षुःस्पर्श है। अचक्षुःस्पर्श इसके विपरीत समझना चाहिये ।

अचरमसमय-सयोगिभवस्थ - केवलज्ञान—ततः (चरमसमयात्) प्राक् शेपेपु समयेपु वर्तमानमचरमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञानम् । (आव. मलय. वृ. ७८, पृ. ८३)।

सयोगिकेवली के अन्तिम समय से पूर्ववर्ती शेप समयों में वर्तमान केवलज्ञान को अचरमसमयसयोगिभवस्थ केवलज्ञान कहते हैं ।

अचारित्र (अच्चरिंद) — चारित्त-पडिणिवद्धं कसायं जिणवरेहिं पण्णत्तं। तस्सोदएण जीवो अच्चरिदो होदि णादव्वो ॥ (समयप्रा. १७३)।

चारित्ररोधक कषाय के उदय से चारित्र के प्रतिकूल आचरण करने को अचारित्र या असंयमभाव कहते हैं।

अचित्त—१. आत्मनः परिणामविशेषश्चित्तम् ॥१॥ आत्मनश्चैतन्यविशेषपरिणामश्चित्तम्, तेन रहितम् अचित्तम्। (त. वा. २–३२)। २. न विद्यते चित्तमस्मिन्नित्यचित्तम् अचेतनं जीवरहितं प्रासुकं वस्तु। (अभि. रा. भा. १, पृ. १८५); पत्ताणां पुप्फाणं सरडुफलाणं तहेव हरिआणं। विंटम्मि मिलाणम्मि य णायव्वं जीवविप्पजढं ॥६॥ (अभि. रा. भा. १, पृ. १८६)।

१ जो योनि चैतन्य परिणामविशेष से रहित प्रदेशोंवाली होती है, वह अचित्त कही जाती है।

अचित्तकाल — अचित्तकालो जहा—धूलीकालो चिक्खल्लकालो उण्हकालो वरिसाकालो सीदकालो इच्चेवमादि। (धव. पु. ११, पृ. ७६)।

शीत, उष्ण, वर्षा और धूलि आदि के निमित्त से तत्सम्बद्ध काल को भी अचित्तकाल कहते हैं।

अचित्तगुणयोग (अच्चित्तगुणजोग)—अच्चित्तगुणजोगो जहा रूव-रस-गंध-फासादीहि पोग्गलदव्वजोगो आगासादीणमप्पप्पणो गुणेहिं सह जोगो वा। (धव. पु. १०, पृ. ४३३)।

रूप, रस. गन्ध और स्पर्श आदि अचित्त गुणों के साथ पुद्गल का तथा इसी प्रकार अन्य आकाश आदि द्रव्यों का भी अपने-अपने गुणों के साथ जो संयोग है, उसे अचित्तगुणयोग कहते हैं।

अचित्ततद्व्यतिरिक्तद्रव्यान्तर (अचित्ततव्वदिरित्तदव्वंतर)—अचित्ततव्वदिरित्तदव्वंतरं णाम घणोअहि-तणुवादाणं मज्झे ट्ठिओ घणाणिलो। (धव. पु. ५, पृ. ३)।

घनोदधि और तनुवात के मध्य में स्थित घनानिल को अचित्त-तद्व्यतिरिक्त द्रव्यान्तर कहते हैं।

अचित्तद्रव्यपूजा—१. तेसिं (जिणाईणं) च शरीराणं दव्वसुदस्स वि अचित्तपूजा सा। (वसु. श्रा. गा. ४५०)। २. तेषां तु यच्छरीराणां पूजनं साऽपरार्चना। (ध. सं. श्रा. ९, ९३)।

जिनदेवादि के अचित्त—पौद्गलिक—जड़ शरीरकी और द्रव्यश्रुत की भी जो पूजा की जाती है, वह अचित्तद्रव्यपूजा कहलाती है।

अचित्तद्रव्यभाव (अचित्तदव्वभाव)— अचित्तदव्वभावो दुविहो—मुत्तदव्वभावो अमुत्तदव्वभावो चेदि। तत्थ वण्ण-गंध-रस-फासादियो मुत्तदव्वभावो। अवगाहणादियो अमुत्तदव्वभावो। [अचेदणाणं मुत्तामुत्तदव्वाणं भावो अचित्तदव्वभावो।] (धव. पु. १२, पृ. २)।

अचित्तद्रव्यभाव दो प्रकारका है—मूर्तद्रव्यभाव और अमूर्तद्रव्यभाव। उनमें वर्ण-गन्धादि भाव मूर्तद्रव्यभाव और अवगाहन आदि भाव अमूर्तद्रव्यभाव है। इन दोनों ही भावों को—मूर्त व अमूर्त अचित्त (अजीव) द्रव्योंके परिणामों को—अचित्तद्रव्यभाव समझना चाहिये।

अचित्तद्रव्यवेदना (अचित्तदव्ववेयणा)—अचित्तदव्ववेयणा पोग्गल-कालागास-धम्माधम्मदव्वाणि। (धव. पु. १०, पृ. ७)।

अचेतन पुद्गल, काल, आकाश, धर्म और अधर्म द्रव्यों को अचित्तनोकर्म-नोआगमद्रव्यवेदना कहते हैं।

अचित्तद्रव्यस्पर्शन (अचित्तदव्वफोसण) — अचित्ताणं दव्वाणं जो अण्णोण्णसंजोओ सो अचित्तदव्वफोसणं। (धव. पु. ४, पृ. १४३)।

अचेतन द्रव्यों का जो पारस्परिक संयोग है, वह अचित्तद्रव्यस्पर्शन है।

अचित्तद्रव्योपक्रम—१. अचित्तद्रव्योपक्रमः कनकादेः कटक-कुण्डलादिक्रिया। (उत्तरा. नि. वृ. १, २८)। २. से किं तं अचित्तदव्वोवक्कमे? खंडाईणं गुडाईणं मच्छंडीणं से तं अचित्तदव्वोवक्कमे। (अनुयो. सू. ६५)। ३. खंडादयः प्रतीता एव। नवरं मच्छंडी खंडशर्करा, एतेषां खण्डाद्यचित्तद्रव्याणामुपायविशेषतो माधुर्यादिगुणविशेषकरणं परिकर्मणि सर्वथा विनाशकरणं वस्तुनाशे अचित्तद्रव्योपक्रमः। (अनुयो. मल. हेम. वृ. सू. ६५)।

१ सोना-चांदी आदि अचित्त द्रव्यों के कड़ा व कुंडल आदि बनाने की प्रक्रिया को अचित्तद्रव्योपक्रम कहते हैं। ३ खांड व गुड़ आदि अचेतन द्रव्यों में उपायविशेष से माधुर्यादि गुणों के उत्पादन की प्रक्रिया को भी अचित्तद्रव्योपक्रम कहते हैं।

अचित्तनोकर्मद्रव्यबन्धक (अचित्तणोकम्मदव्व-वंधय) — अचित्तणोकम्मवंधया जहा कट्ठाणं बंधया, सुप्पाणं वंधया, कडयाणं वंधया इच्चेवमादि। (धव. पु. ७, पृ. ४)।

अचेतन लकड़ियों के बन्धकों (वढ़ई), सूप व टोकरी आदि के बन्धकों (वसोर) तथा चटाई आदि के बन्धकों को अचित्तनोकर्मद्रव्यबन्धक समझना चाहिये।

अचित्तपरिग्रह—अचित्तं रत्न-वस्त्र-कुप्यादि, तदेव चाचित्तपरिग्रहः। (आ. वृ. सू. ५)।

रत्न, वस्त्र और सोना-चांदी आदि अचित्त परिग्रह कहलाते हैं।

अचित्तप्रक्रम (अचित्तपक्कम)—हिरण्ण-सुवण्णादीणं पक्कमो अचित्तपक्कमो णाम। (धव. पु. १५, पृ. १५)।

सोना व चांदी आदि के प्रक्रम को अचित्तप्रक्रम कहा जाता है।

अचित्तमङ्गल—अचित्तमङ्गलं कृत्रिमाकृत्रिमचैत्यालयादिः। (धव. पु. १, पृ. २८)।

कृत्रिम व अकृत्रिम चैत्यालय आदि अचित्त मङ्गल हैं।

अचित्तयोनिक—तत्राचित्तयोनिका देव-नारकाः। देवाश्च नारकाश्चाचित्तयोनिकाः, तेषां हि योनिरुपपादप्रदेशपुद्गलप्रचयोऽचित्तः। (त. वा. २, ३२, १८)।

अचित्त उपपादस्थान पर उत्पन्न होने वाले देव व नारकी अचित्तयोनिक हैं।

अचित्ता (योनि)—देखो अचित्त। १. अचित्ता (योनिः) सर्वथा जीवविप्रमुक्ता। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ९–१५१)। २. सुराणां निरयाणां च योनिः अचित्ता—सर्वथा जीवप्रदेशविप्रमुक्ता। (संग्रहणी दे. भ. वृ. २५४)।

जो उत्पाद-स्थान-प्रदेश जीवों से सर्वथा रहित होते हैं उन्हें अचित्ता योनि कहते हैं।

अचित्तादत्तादान—अचित्तं वस्त्र-कनक-रत्नादि, तस्यापि क्षेत्रादौ सुन्यस्त-दुर्न्यस्त-विस्मृतस्य स्वामिनाऽदत्तस्य चौर्यबुद्ध्यादानमचित्तादत्तादानमिति। (श्राव. वृ. ६, ८२२)।

खेत आदि में गढे हुए व रखे हुए तथा भूले हुए सोना, चांदी व रुपये-पैसे आदि अचेतन वस्तुओं के— जो स्वामी द्वारा नहीं दिये गये हैं—लेने को अचित्तादत्तादान कहते हैं।

अचेलक—१. न विद्यन्ते चेलानि वासांसि यस्यासावचेलकः। (स्थानांग अभय. वृ. ५, ३, ६५१)। २. अविद्यमानं नञ् कुत्सार्थे कुत्सितं वा चेलं यस्यासावचेलकः। (प्रव. सारो. वृ. ७८, ६५१)।

२ जिसके या तो किसी प्रकार का वस्त्र ही नहीं है, अथवा कुत्सित वस्त्र है; वह अचेलक है।

अचेलकत्व—१. न विद्यते चेलं यस्यासावचेलकः, अचेलकस्य भावोऽचेलकत्वं वस्त्राभूषणादिपरिग्रहत्यागः। (मूला. वृ. १–३)। २. औत्सर्गिकमचेलकत्वम्×××। (भ. आ. अमित. ८०)।

वस्त्राभूषणादि परिग्रह को छोड़ कर स्वाभाविक वेष (निर्ग्रन्थता) को स्वीकार करना, इसका नाम अचेलकत्व है।

अचेलत्व—देखो आचेलक्य। चेलानां वस्त्राणां वहुधन-नवीनावदात-सुप्रमाणानां सर्वेषां वाऽभावः अचेलत्वम्। (समवा. अभय. वृ. २२, पृ. ३९)। देखो अचेलकत्व।

अचेलपरीषहजय—एगया अचेलए होई सचेले यावि एगया। एयं धम्महियं णच्चा णाणी णो परिदेवए॥ (उत्तरा. २–१३); ×××अचेलस्य सतः किमिदानीं शीतादिपीडितस्य मम शरणमिति न दैन्यमालम्बेत। (उत्तरा. नेमि. वृ. २–१३)।

ज्ञानी कभी सर्वथा वस्त्ररहित होकर और कभी कुत्सित व उत्तम वस्त्र धारण करके भी इसे साधु-धर्म के लिए हितावह समझते हुए शीत आदि से पीड़ित होने पर भी कभी दैन्य भाव को प्राप्त नहीं होता, इसी का नाम अचेलपरीषहजय है।

अचौर्यमहाव्रत—१. गामे वा णयरे वा रण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थं। जो मुंचदि गहणभावं तिदियवदं होदि तस्सेव॥ (नियमसार ५८)। २. गामादिसु पडिदाइं अप्पप्पहुदिं परेण संगहिदं। णादाणं परदव्वं अदत्तपरिवज्जणं तं तु॥ (मूला. १–७); गामे णगरे रण्णे थूलं सच्चित्त वहु सपडिवक्खं। तिविहेण वज्जिदव्वं अदिण्णगहणं च तण्णिच्चं॥ (मूला. ५–९४)। ३. सव्वाओ अदत्तादाणाओ वेरमणं। (समवा. सू. ५; पाक्षिक सूत्र पृ. २२)। ४. अल्पस्य महतो वापि परद्रव्यस्य साधुना। अनादानमदत्तस्य तृतीयं तु महाव्रम्॥ (ह. पु. २,

११६) । ५. अदत्तादानाद्विरतिरस्तेयम् । (भ. आ. विज. टी. ५७); ममेदमिति संकल्पोपनीतद्रव्यवियोगे दुःखिता भवन्ति, इति तद्दयया अदत्तस्यादानाद् विरमणं तृतीयं व्रतम् । (भ. आ. विज. टी. ४२१) । ६. कृत-कारितादिभिस्तस्माद् (अदत्तादानाद्) विरतिः स्तेयव्रतम् । (चा. सा. पृ. ४१) । ७. वह्वल्पं वा परद्रव्यं ग्रामादौ पतितादिकम् । अदत्तं यत्तदादानवर्जनं स्तेयवर्जनम् ॥ (आचा. सा. १, १८) । ८. सुहुमं वायरं वावि परदव्वं नेव गिण्हइ । तिविहेणावि जोगेण तं च तइयं महव्वयं ॥ (गु. गु. ष. ३, पृ. १३) ।

१ ग्राम, नगर अथवा वन आदि किसी भी स्थान पर किसी के रखे, भूले या गिरे हुए द्रव्य के ग्रहण करने की इच्छा भी नहीं करना; यह अचौर्यमहाव्रत कहलाता है ।

अचौर्याणुव्रत—१. निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम् । न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्यादुपारमणम् ॥ (रत्नक. ३–५७) । २. अन्यपीडाकरं पार्थिवभयादिवशादवश्यं परित्यक्तमपि यददत्तम्, ततः प्रतिनिवृत्तादरः श्रावक इति तृतीयमणुव्रतम् । (स. सि. ७–२०)। ३. अन्यपीडाकरात् पार्थिवभयाद्युत्पादितनिमित्तादप्यदत्तात्प्रतिनिवृत्तः ॥३॥ अन्यपीडाकरपार्थिवभयादिवशादवश्यं परित्यक्तमपि यददत्तं ततः प्रतिनिवृत्तादरः श्रावक इति तृतीयमणुव्रतम् । (त. वा. ७, २०, ३)। ४. परद्रव्यस्य नष्टादेर्महतोऽल्पस्य चापि यत् । अदत्तार्थस्य नादानं तत्तृतीयमणुव्रतम् ॥ (ह. पु. ५८, १४०) । ५. जो वहुमुल्लं वत्थुं अप्पयमुल्लेण णेव गिण्हेदि । वीसरियं पि ण गिण्हदि लाहे थोवे हि तूसेदि ॥ जो परदव्वं ण हरइ माया-लोहेण कोहमाणेण । दिढचित्तो सुद्धमई अणुव्वई सो हवे तिदिओ ॥ (कार्तिके. ३३५–३६)। ६. असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम् । तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम् ॥ (पुरुषा. १०६)। ७. गामे णयरे रण्णे वट्टे पडियं च अहव विस्सरियं । णादाणं परदव्वं तिदियं तु अणुव्वयं होइ ॥(धम्मर. १४५)। ८. अन्यपीडाकरं पार्थिवादिभयवशादवशादवश्यपरित्यक्तं वा निहितं पतितं विस्मृतं वा यददत्तं ततो निवृत्तादरः श्रावक इति तृतीयमणुव्रतम् । (चा. सा. पृ. ५) । ९. ग्रामादौ पतितस्याल्पप्रभृतेः परवस्तुनः । आदानं न त्रिधा यस्य तृतीयं तदणुव्रतम् ॥ (सुभा. सं. ७७३) । १०. चौरव्यपदेशकरस्थूलस्तेयव्रतो मृतस्वधनात् । परमुदकादेश्चाखिलभोग्यान् न हरेद्दीत न परस्वम् ॥ संक्लेशाभिनिवेशेन तृणमप्यन्यभर्तृकम् । अदत्तमाददानो वा ददानस्तस्करो ध्रुवम् ॥ (सा. ध. ४, ४६-४७) । ११. अदत्तपरवित्तस्य निक्षिप्त-विस्मृतादितः । तत्परित्यजनं स्थूलमचौर्यव्रतमूचिरे ॥ (भावसं. वाम. ४५४) । १२. पतितं विस्मृतं नष्टमुत्पथे पथि कानने । वर्जनीयं परद्रव्यं तृतीयं तदणुव्रतम् ॥ (पूज्य. श्रा. २५) । १३. परस्वग्रहणाच्चौर्यव्यपदेशनिवन्धनात् । या निवृत्तिस्तृतीयं तत्प्रोचे सार्वैरणुव्रतम् ॥ (धर्मसं. मानवि. २–२७, पृ. ६०) ।

१ किसी के रखे हुए, गिरे हुए या भूले हुए द्रव्य को न स्वयं ग्रहण करना और न दूसरे को भी देना, यह स्थूल चोरी के त्याग स्वरूप तीसरा अचौर्याणुव्रत है ।

अच्छवि (स्नातक)—छविः शरीरम्, तदभावात् काययोगनिरोधे सति अच्छविर्भवति । (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–४९, पृ. २८६) ।

काययोग का निरोध हो जाने पर छवि अर्थात् शरीर से रहित हुए केवली अच्छवि स्नातक (एक मुनिभेद) कहलाते हैं ।

अच्छिन्नकालिका (सूक्ष्मप्राभृतिका)—छिन्नमछिन्ना काले × × × । (वृहत्क. १६८३); या तु यदा तदा वा क्रियते सा अच्छिन्नकालिका । (वृहत्क. वृ. १६८३); × × × या तु न ज्ञायते कस्मिन् दिवसे विधीयते सा अच्छिन्नकालिकेति । (वृहत्क. वृ. १६८४) ।

वसति के आच्छादन व लेपन आदि रूप जिस प्राभृतिका के उपलेपन आदि का काल (अमुक मास व तिथि आदि) नियत नहीं है—जब तब किया जाता है—वह अच्छिन्नकालिका प्राभृतिका कहलाती है ।

अज—१. अजास्ते जायते येषां नाङ्कुरः सति कारणे । (पद्मच. ११, ४२) । २. त्रिवर्षा व्रीहयोऽव्बीजा अजा इति सनातनः ॥ (ह. पु. १७–६६) ।

१ उगने के कारण-कलाप मिलने पर भी जिनके भीतर अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति का अभाव हो जाता है, ऐसे तीन वर्ष या इससे अधिक पुराने

धान्य को अज कहते हैं।

अजघन्य द्रव्यवेदना (ज्ञानावरणीय की)—तव्वदिरित्तमजहण्णा। (षट्खं. ४, २–४, ७६ पु. १०, पृ. २६६); खीणकसायचरिमसमए एगणिसेगट्ठिदीए एगसमयकालाए चेट्ठिदाए णाणावरणीयस्स जहण्णदव्वं होदि। एदस्स जहण्णदव्वस्सुवरि ओकड्डुक्कड्डणमस्सिदूण परमाणुत्तरं वड्ढिदे जहण्णमजहण्णट्ठाणं होदि। (धव. पु. १०, पृ. ३००)।

क्षीणकषाय गुणस्थान के अन्तिम समय में एक समयवाली एक निषेकस्थिति के अवस्थित रह जाने पर ज्ञानावरणीय कर्म की द्रव्य की अपेक्षा जघन्य वेदना होती है। इस जघन्य द्रव्य के ऊपर अपकर्षण और उत्कर्षण के वश एक परमाणु की वृद्धि के होने पर ज्ञानावरणीय के प्रकृत अजघन्य द्रव्यका प्रथम विकल्प होता है। तत्पश्चात् दो परमाणुओं की वृद्धि होने पर उक्त अजघन्य द्रव्य का द्वितीय विकल्प होता है। यह क्रम एक परमाणुसे हीन उसके उत्कृष्ट द्रव्य तक समझना चाहिये। अपनी अपनी कुछ विशेषताओं के साथ दर्शनावरणादि अन्य कर्मों की भी अजघन्य वेदना का यही क्रम है। (सूत्र ७८, १०६, ११०, १२२)।

अजंगम प्रतिमा—सुवर्ण-मरकतमणिघटिता, स्फटिकमणिघटिता, इन्द्रनीलमणिनिर्मिता, पद्मरागमणिरचिता, विद्रुमकल्पिता, चन्दनकाष्ठानुष्ठिता वा अजंगमा प्रतिमा। (वोधप्रा. टी. १०)।

सुवर्ण व मरकत आदि मणिविशेषों से निर्मित अचेतन प्रतिमाओं को अजंगम प्रतिमा कहते हैं।

अजातकल्प—××× अगीतो खलु भवे अजातो तु। (व्यव. सू. भा.गा. १६); अगीतोऽगीतार्थः खलु भवेदजातोऽजातकल्पः। (व्यव. सू. भा. वृ. गा. १६)।

अगीतार्थ—सूत्र, अर्थ और उभयसे रहित—कल्प (आचार) अजातकल्प कहलाता है।

अजित—१. यस्य प्रभावात् त्रिदिवच्युतस्य क्रीडास्वपि क्षीवमुखारविन्दः। अजेयशक्तिर्भुवि वन्धुवर्गश्चकार नामाजित इत्यवन्ध्यम्॥ (वृ. स्वयं. स्तोत्र ६)। २. परीषहादिभिर्न जित इति अजितः। तथा गर्भस्थे भगवति जननी द्यूते राज्ञा न जिता इत्यजितः। (योगशा. ३–१४४)।

१ स्वर्ग से अवतीर्ण जिस द्वितीय तीर्थंकर के प्रभाव से वन्धुवर्ग—कुटुम्बी जन—उनकी क्रीड़ाओं में भी प्रफुल्लित मुख-कमल से संयुक्त होता हुआ चूंकि अजेय शक्ति से सम्पन्न हुआ था, अतएव उसने उनके 'अजित' इस सार्थक नाम को प्रसिद्ध किया था। २ परीषह व उपसर्ग आदि के द्वारा नहीं जीते जाने के कारण द्वितीय जिनेन्द्र को अजित कहा गया है तथा उनके गर्भवास के समय द्यूतक्रीडा में पिता के द्वारा माता को न जीत सकने के कारण भी उनके इस प्रभावशाली पुत्र को—दूसरे तीर्थंकर को—अजित कहा गया है।

अजिनसिद्ध—अजिनसिद्धा य पुंडरिया पमुहा। (नवतत्त्व. ५६, पृ. १७७)।

पुंडरीक आदि अजिनसिद्ध हुए हैं।

अजीव—१. तद्विपर्ययलक्षणो (अचेतनालक्षणो) ऽजीवः। (स. सि. १–४)। २. तद्विपर्ययोऽजीवः॥८॥ यस्य जीवनमुक्तलक्षणं नास्त्यसौ तद्विपर्ययाद् अजीव इत्युच्यते। (त. वा. १–४)। ३. तद्विपरीतः(सुख-दुःख-ज्ञानोपयोगलक्षणरहितः) त्वजीवः। (त. भा. हरि. वृ. १–४)। ४. ××× यश्चैतद्विपरीतवान् (चैतन्यलक्षणरहितः)। अजीवः स समाख्यातः ×××॥ (षड्द. स. ४–४९); ५. चैतन्याभावलक्षणोऽजीवः। (पंचा. का. अमृत. वृ. १०८)। ६. तद्विलक्षणः पुद्गलादिपंचभेदः पुनरप्यजीवः। (पंचा. का. जय. वृ. १०८)। ७. उपयोगलक्षणरहितोऽजीवः (रत्नक. टी. २–५)। ८. स्यादजीवोऽप्यचेतनः। (पञ्चाध्या. २-३)। ९. तद्विलक्षणः (चेतनालक्षणरहितः) पुद्गल-धर्माधर्माकाश-कालस्वरूपपञ्चविधोऽजीवः। (आरा.सा.टी.४)। १०. यस्तु ज्ञान-दर्शनादिलक्षणो नास्ति, स पुद्गल-धर्माधर्माकाश-काललक्षणोऽजीवः (त. वृ. श्रुत. १–४)। ११. अजीवः पुनस्तद्विपरीत-(चेतनाविपरीत-) लक्षणः (त. सुखबो. वृ. १–४)। १२. स्यादजीवस्तदन्यकः। (विवेकवि. ८–२५१)।

जिसमें चेतना न पायी जाय उसे अजीव कहते हैं।

अजीवकरण—१. जीवमजीवे भावे अजीवकरणं तु तत्थ वन्नाई। (आव. नि. गा. १०१९)। २. जं जं निज्जीवाणं कीरइ जीवप्पओगओ तं तं। वन्नाइ रूवकम्माइ वावि अज्जीवकरणं तु॥ (आव. भा. गा. १५७, पृ. ४५८)।

२ जीव के प्रयोग से अजीव (पुद्गल) द्रव्यों के जो कुछ भी किया जाता है उसको तथा वर्ण आदि जो रूपकर्म—कुसुंभी रंग आदि का निर्माण—भी किया जाता है उसको भी अजीवकरण कहा जाता है।

अजीवकाय—१. अजीवकायाः धर्माधर्माकाश-पुद्गलाः। (त. सू. ५–१)। २. अजीवाश्च ते कायाश्च ते अजीवकाया इति समानाधिकरणलक्षणा वृत्तिरियं वेदितव्या। (त. वा. ५, १, १)। ३. अजीवानां कायाः अजीवकायाः, शिलापुत्रकस्य शरीरमित्यभेदेऽपि षष्ठी दृष्टा तथा सुवर्णस्याङ्गुलीयकम्। अन्यत्वाशंकाव्यावृत्त्यर्थो वा कर्मधारयः एवाभ्युपेयते। (त. भा. सिद्ध. टी. ५–१)।

३. अजीवों के कायों का अथवा अजीव ऐसे कायों का नाम अजीवकाय है। वे अजीवकाय प्रकृत में धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल; ये चार द्रव्य विवक्षित हैं।

अजीवकायासंयम—अजीवकायासंयमो विकट-सुवर्ण-बहुमूल्यवस्त्र-पात्र-पुस्तकादिग्रहणम्। (समवा. अभय. वृ. १७)।

मनोहर सुवर्ण और बहुमूल्य वस्त्र, पात्र एवं पुस्तक आदि के ग्रहण करने को अजीवकायासंयम कहते हैं।

अजीवक्रिया—अजीवस्य पुद्गलसमुदायस्य यत् कर्मतया परिणमनं सा अजीवक्रिया। (स्थाना. अभय. वृ. २–६०)।

अचेतन पुद्गलों के कर्मरूप से परिणत होने को अजीवक्रिया कहते हैं।

अजीव नाममंगल—१. अजीवस्य यथा श्रीमल्लाटदेशे दवरकवलनकं मंगलमित्यभिधीयते। (आव. हरि. वृ. पृ. ४)। २. अजीवविषयं यथा लाटदेशे दवरकवलनकस्य मंगलमिति नाम। (आव. मलय. वृ. पृ. ६)।

किसी अचेतन द्रव्य के 'मंगल' ऐसा नाम रखने को अजीव नाममंगल कहते हैं। जैसे—लाट देश में डोरा के वलनक का 'मंगल' यह नाम।

अजीवनैसृष्टिकी—एवमजीवादजीवेन वा धनुरादिना शिलीमुखादि निसृजति यस्यां सा अजीवनैसृष्टिकी। × × × अथवा अजीवे अचित्तस्थण्डिलादौ अनाभोगादिनाऽनेषणीयं स्वीकृतमजीवं वस्त्रं पात्रं वा सूत्रव्यपेतं यथाभवत्यप्रमार्जिताद्यविधिना निसृजति परित्यजति यस्यां सा अजीवनैसृष्टिकी। (आव. टि. मल. हेम. पृ. ६४)।

निर्जीव धनुष आदि से वाण आदि के निकलने रूप क्रिया को अजीवनैसृष्टिकी कहते हैं। अथवा स्वीकृत निर्जीव वस्त्र व पात्र, जो सूत्र के प्रतिकूल होने से अग्राह्य हैं, उन्हें असावधानी से प्रमार्जित आदि विधि के विना ही निर्जीव शुद्ध भूमि आदि में जिस क्रिया से छोड़ा जाता है उस क्रिया का नाम अजीवनैसृष्टिकी क्रिया है।

अजीवप्रादोषिकी क्रिया—अजीवप्रादोषिकी तु क्रोधोत्पत्तिनिमित्तभूतकण्टक-शर्करादिविषया। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–६)।

क्रोध की उत्पत्ति के कारणभूत कण्टक व कंकड़ आदि के लगने से होने वाली द्वेषरूप क्रिया को अजीवप्रादोषिकी क्रिया कहते हैं।

अजीवबन्ध—१. तत्राजीवविषयो जतु-काष्ठादिलक्षणः। (स. सि. ५–२४; त. वा. ५, २४, ६)। २. अजीवविषयो बन्धः दारु-लाक्षादिलक्षणः। (त. वृ. श्रुत. ५–२४)।

अचेतन लाख व काष्ठ आदि के बन्ध को अजीवबन्ध कहते हैं।

अजीवमिश्रिता (अजीवमीसिया)—१. यदा प्रभूतेषु मृतेषु स्तोकेषु जीवत्सु एकत्र राशीकृतेषु शंखादिष्वेवं वदति—अहो, महानयं मृतो जीवराशिरिति, तदा सा अजीवमिश्रिता। अस्या अपि सत्यामृषात्वम्, मृतेषु सत्यत्वात् जीवत्सु मृषात्वात्। (प्रज्ञाप. वृ. ११, १६५)। २. साऽजीवमीसिया वि य जा भन्नइ उभयरासिविसया वि। वज्जित्तु विसयमन्नं एस बहुअजीवरासि त्ति॥ (भाषार. ६२)।

१ जीव और अजीव राशियों का संमिश्रण होने पर भी अजीवों की प्रधानता से बोली जाने वाली भाषा को अजीवमिश्रिता कहते हैं। जैसे बहुत से मरे हुए और कुछ जीवित भी शंखों को एकत्रित करने पर जो उस राशि को देख कर यह कहा जाता है कि अरे! यह कितनी जीवराशि मरण को प्राप्त हुई है, इस प्रकार की भाषा को अजीवमिश्रिता जानना चाहिये।

अजीवविचय धर्मध्यान—१. द्रव्याणामप्यजीवानां धर्माधर्मादिसंज्ञिनाम्। स्वभावचिन्तनं धर्म्यमजीवविषयं मतम्॥ (ह. पु. ५६–४४)। २. धर्मा-

धर्माकाश-पुद्गलानामनन्तपर्यायात्मकानामजीवानामनुचिन्तने। (सन्मतिसू. वृ. ४ खं.)। ३. जीवभावविलक्षणानाम् अचेतननां पुद्गल-धर्माधर्माकाशद्रव्याणामनन्तविकल्पपर्यायस्वभावानुचिन्तनमजीवविचयम्। (कार्तिके. टीका ४८२)।

पुद्गल, धर्म और अधर्मादि अचेतन द्रव्यों के अनन्त-पर्यायात्मक स्वभाव का चिन्तवन करना; यह अजीवविचय धर्मध्यान है।

अजीवशरण—प्राकारादि अजीवशरणम्। (त. वा. ९, ७, २)।

प्राकार और दुर्ग आदि लौकिक अजीवशरण (निर्जीव रक्षक) माने जाते हैं।

अजीवसंयम—१. अजीवरूपाण्यपि पुस्तकादीनि दुःषमादोषात् प्रज्ञाबलहीनशिष्यानुग्रहार्थं यतनया प्रतिलेखना-प्रमार्जनापूर्वं धारयतोऽजीवसंयमः। (योगशा. स्वो. विव. ४–९३)। २. अजीवरूपाण्यपि पुस्तकादीनि दुःषमादिदोषात्तथाविधप्रज्ञाऽऽयुष्क-श्रद्धा-संवेगोद्यम-बलादिहीनाद्यकालीनविनेयजनानुग्रहाय प्रतिलेखनाप्रमार्जनापूर्वं यतनया धारयतोऽजीवसंयमः। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३–४६, पृ. २८)।

दुःषमा काल के प्रभाव से बुद्धिबल से हीन शिष्यों के अनुग्रहार्थ जो अचेतन पुस्तक आदि आगमविहित हैं उनका रजोहरण आदि से प्रतिलेखन व प्रमार्जन करके यत्नाचारपूर्वक धारण करने को अजीवसंयम कहते हैं।

अजीवस्पर्शनक्रिया—अजीवस्पर्शनक्रिया मृगरोम-कुतव-पट्टशाटक-नील्युपधानादिविषया। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–६)।

मृगरोम, कुतुव (कुतुव—घी तेल आदि रखनेका पात्र विशेष, अथवा अनाज मापने का मापविशेष—कुडव), पाटा, साड़ी, नील और उपधि आदि अजीव पदार्थों के स्पर्श करने की क्रिया को अजीवस्पर्शन-क्रिया कहते हैं।

अजीवाप्रत्याख्यानक्रिया—यदजीवेषु मद्यादिष्वप्रत्याख्यानात् कर्मबन्धनं सा अजीवाप्रत्याख्यानक्रिया। (स्थाना. अभय. वृ. २–६०)।

अचेतन मद्य आदि के सेवन का त्याग नहीं करने से जो कर्मबन्ध होता है उसे अजीवाप्रत्याख्यानक्रिया कहते हैं।

अज्ञ—अज्ञस्तत्त्वज्ञानोत्पत्त्ययोग्योऽभव्यादिः। (इष्टो-प. टी. ३५)।

जो तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के योग्य नहीं हैं ऐसे अभव्य आदि जीवों को अज्ञ कहते हैं।

अज्ञातभाव—१. मदात् प्रमादाद् वा अनवबुध्य प्रवृत्तिरज्ञातम्। (स. सि. ६–६)। २. मदात्प्रमादाद्वाऽनवबुध्य प्रवृत्तिरज्ञातम् ॥४॥ सुरादिपरिणामकृतात् करणव्यामोहकरात् मदाद्वा मनःप्रणिधानविरहलक्षणात् प्रमादाद्वा व्रज्यादिष्वनवबुध्य प्रवृत्तिरज्ञातमिति व्यवसीयते। (त. वा. ६, ६, ४)। ३. अपरः एतद्विपरीतः (ज्ञानादुपयुक्तस्यात्मनो यो भावस्तद्विपरीतः), स खल्वज्ञातभावोऽनभिसंधाय प्राणातिपातकारीत्यत्रापि पूर्ववदेव कर्मबन्धविशेषो दृष्टव्यः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–७)। ४. मदेन प्रमादेन वा अज्ञात्वा हननादौ प्रवर्तनमज्ञातमिति भण्यते। (त. वृ. श्रुत. ६–६)।

१ मद या प्रमाद से जो विना जाने प्रवृत्ति हो जाती है उसे अज्ञातभाव कहते हैं।

अज्ञान—१. ज्ञानावरणकर्मण उदयात् पदार्थानवबोधो भवति तदज्ञानमौदयिकम्। (स. सि. २–६)। २. अज्ञानं त्रिविधं मत्यज्ञानं श्रुताज्ञानं विभङ्गं चेति ॥६॥ ××× ज्ञानाज्ञानविभागस्तु मिथ्यात्वकर्मोदयानुदयापेक्षः। (त. वा. २, ५, ६); ज्ञानावरणोदयादज्ञानम् ॥५॥ ज्ञस्वभावस्यात्मनः तदावरणकर्मोदये सति नाववोधो भवति तदज्ञानमौदयिकम्, घनसमूहस्थगितदिनकरतेजोऽनभिव्यक्तिवत्। (त. वा. २, ६, ५)। ३. यथायथमप्रतिभासितार्थ-प्रत्ययानुविद्धावगमोऽज्ञानम्। (धव. पु. १, पृ. ३६४)। ४. ज्ञानमेव मिथ्यादर्शनसहचरितमज्ञानम्, कुत्सितत्वात् कार्याकरणादशीलवदपुत्रवद्वा। (त. भा. सिद्ध. वृ. २–५); अज्ञानग्रहणान्निद्रादिपंचकमाक्षिप्तम्, यतो ज्ञान-दर्शनावरण-दर्शनमोहनीयादज्ञानं भवति। ××× अज्ञानमेकभेदं ज्ञान-दर्शनावरण-सर्वघातिदर्शनमोहोदयादज्ञानमनवबोधस्वभावमेकरूपम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. २–६)। ५. किमज्ञानम्? मोह-भ्रम-संदेहलक्षणम्। इष्टोप. टी. २३)।

२ मिथ्यात्व के उदय के साथ विद्यमान ज्ञान को भी अज्ञान कहा जाता है जो तीन प्रकारका है—मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभंग। ज्ञानावरण कर्म के उदय से वस्तु के स्वरूप का ज्ञान न होने को

भी अज्ञान कहते हैं।

अज्ञानमिथ्यात्व—विचारिज्जमाणे जीवाजीवादिपयत्था ण संति णिच्चाणिच्चवियप्पेहिं, तदो सव्वमण्णाणमेव, णाणं णत्थि त्ति अहिणिवेसो अण्णाणमिच्छत्तं। (धव. पु. ८, पृ. २०)।

वस्तुस्वरूप का विचार करने पर जीवाजीवादि पदार्थ न नित्य सिद्ध होते हैं और न अनित्य ही सिद्ध होते हैं; इसलिए सब अज्ञान ही है, ऐसे अभिनिवेश का नाम अज्ञान मिथ्यात्व है।

अज्ञानपरीषहजय—१. अज्ञोऽयं न वेत्ति पशुसम इत्येवमाद्यधिक्षेपवचनं सहमानस्य परमदुश्चरतपोऽनुष्ठायिनो नित्यमप्रमत्तचेतसो मेऽद्यापि ज्ञानातिशयो नोत्पद्यते इति अनभिसंदधतोऽज्ञानपरीषहजयोऽवगन्तव्यः। (स. सि. ९–९)। २. अज्ञानावमानज्ञानाभिलाषसहनमज्ञानपरीषहजयः ॥२७॥ अज्ञोऽयं न किंचिदपि वेत्ति पशुसम इत्येवमाद्यधिक्षेपवचनं सहमानस्याध्ययनार्थग्रहण-पराभिभवादिष्वसक्तवुद्धेश्चिरप्रव्रजितस्य विविधतपोविशेषभराक्रान्तमूर्तेः सकलसामर्थ्याप्रमत्तस्य विनिवृत्तानिष्टमनोवाक्कायचेष्टस्याद्यापि मे ज्ञानातिशयो नोत्पद्यते इत्यनभिसंदधतः अज्ञानपरीषहजयोऽवगन्तव्यः। (त. वा. ९, ९,२७)। ३. ज्ञानप्रतिपक्षेणाप्यज्ञानेनागमशून्यतया परीषहो भवति, ज्ञानावरणक्षयोपशमोदयविजृम्भितमेतदिति स्वकृतकर्मफलभोगादपैति तपोऽनुष्ठानेन वेत्येवमालोचयतोऽज्ञानपरीषहजयो भवति। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ९–९)। ४. पूर्वेऽसिधन् येन किलाशु तन्मे चिरं तपोऽभ्यस्तवतोऽपि वोधः। नाद्यापि बोभोत्यपि तूच्यकेऽहं गौरित्यतोऽज्ञानरुजोऽपसर्पेत्। (अन. ध. ६–१०९)। ५. यो मुनिः सकलशास्त्रार्थसुवर्णपरीक्षाकपपट्टससानधिषणोऽपि मूर्खैरसहिष्णुभिर्वा मूर्खोऽयं बलीवर्द इत्याद्यवक्षेपवचनमाप्यमानोऽपि सहते, अत्युत्कृष्टदुश्चरतपोविधानं च विधत्ते, सदा अप्रमत्तचेताश्च सन् ब्रह्मचर्यवर्चसं नोपेक्षते स मुनिरज्ञानपरीषहजयं लभते। (त. वृ. श्रुत. ९–९)।

१ 'यह अज्ञ है, पशु है' इत्यादि तिरस्कारपूर्ण वचनों को सहते और परम दुश्चर तपश्चरण करते हुए भी विशिष्ट ज्ञान के उत्पन्न न होने पर उसके लिए संक्लेश नहीं करना, अज्ञानपरीषहजय है।

अज्ञानिक—देखो आज्ञानिक। अज्ञानमेषामस्त्युपगमोऽस्तीत्यज्ञानिकाः, अथवा अज्ञानेन चरन्ति दीव्यन्ति वा अज्ञानिकाः, अज्ञानमेव पुरुषार्थसाधनमभ्युपयन्ति, न खलु तत्त्वतः कश्चित् सकलस्य वस्तुनो वेदितास्तीति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–१)।

जो अज्ञान को स्वीकार करते हैं, अथवा अज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति करते हुए सर्वज्ञ के सम्भव न होने से अज्ञान को ही पुरुषार्थ का साधक मानते हैं, वे अज्ञानिक कहे जाते हैं।

अञ्जलिमुद्रा—उत्तानौ किञ्चिदाकुञ्चितकरशाखौ पाणी विधारयेदिति अञ्जलिमुद्रा। (निर्वाणक. पृ. ३३)।

हाथों को ऊँचा उठा कर और अंगुलियों को कुछ संकुचित करके दोनों हाथों के बांधने को अञ्जलिमुद्रा कहते हैं।

अटट (अडड)—१. × × × तं पि गुणिदव्वं। चउसीदीलक्खेहिं अडडं णामेण णिद्दिट्ठं। (ति. प. ४–३००)। २. चोरासीइं अडडंगसहस्साइं से एगे अडडे। (अनुयो. सू. १३७)। ३. चतुरशीत्यडडाङ्गशतसहस्राण्येकमडडम्। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. २–६९)।

१ चौरासी लाख अटटांगों का एक अटट होता है।

अटटाङ्ग—१. तुडिदं चउरासीदिहदं अडडंगं होदि × × ×। (ति.प. ४–३००)। २. चउरासीइं तुडियसयसहस्साइं से एगे अडडंगे। (अनुयो. सू. १३७)। ३. चतुरशीतिमहात्रुटितशतसहस्राण्येकमडडाङ्गम्। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. २–६९)।

१ चौरासी त्रुटितों का एक अटटाङ्ग होता है।

अट्टालक—प्राकारस्योपरि भृत्याश्रयविशेषाः। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, १, ११७); प्राकारस्योपर्याश्रयविशेषः। (जीवाजी. मलय.वृ. ३,२, १४०)।

प्राकार (कोट) के ऊपर नौकरों के रहने के लिए जो स्थानविशेष बनाये जाते हैं उन्हें अट्टालक कहते हैं।

अणिमा—१. अणुतणुकरणं अणिमा अणुछिद्दे पविसिदूण तत्थेव। विकरदि खंधावारं णिएसमवि चक्कवट्टिस्स ॥ (ति. प. ४–१०२६)। २. अणुशरीरविकरणमणिमा। बिसच्छिद्रमपि प्रविश्यासित्वा तत्र चक्रवर्तिपरिवारविभूतिं सृजेत्। (त. वा. ३, ३६, पृ. २०२; चा. सा. पृ. ९७)। ३. तत्थ महापरिमाणं सरीरं संकोडिय परमाणुपमाणसरीरेण

अवट्ठाणमणिमा णाम। (धव. पु. ६, पृ. ७५)। ४. अणोः कायस्य करणं अणिमा। (प्रा. योगिभ. टी. ६)। ५. अणुत्वमणुशरीरविकरणं येन विसच्छिद्रमपि प्रविशति, तत्र च चक्रवर्तिभोगानपि भुङ्क्ते। (योगशा. स्वो. विव. १-८)। ६. अणुशरीरता यथा विसच्छिद्रमपि प्रविशति, तत्र च चक्रवर्तिभोगानपि भुङ्क्ते।(प्रव. सारो. वृ. गा.१४९५)। ७. सूक्ष्मशरीरविधानमणिमा। अथवा विसच्छिद्रेऽपि प्रविश्य चक्रवर्तिपरिवारविभूतिसर्जनमणिमा। (त. वृत्ति श्रुत. ३-३६)।

२ अत्यन्त सूक्ष्म शरीररूप विक्रिया करने को अणिमा ऋद्धि कहते हैं। इस ऋद्धि का धारक साधु कमलनाल में प्रवेश करके उसके प्रभाव से वहाँ पर चक्रवर्ती के परिवार व विभूति की भी रचना कर सकता है।

अणु—देखो परमाणु। १. प्रदेशमात्रभाविस्पर्शादिपर्यायप्रसवसामर्थ्येनाण्यन्ते शब्द्यन्त इत्यणवः। (स. सि. ५-२५)। २. प्रदेशमात्रभाविस्पर्शादिपर्यायप्रसवसामर्थ्येनाण्यन्ते शब्द्यन्ते इत्यणवः ॥१॥ प्रदेशमात्रभाविभिः स्पर्शादिभिः गुणैस्सततं परिणमन्ते इत्येवम् अण्यन्ते शब्द्यन्ते ये ते अणवः सौक्ष्म्यादात्मादयः आत्ममध्याः आत्मान्ताश्च। (त. वा. ५, २५, १)। ३. ××× तत्रावद्धाः किलाणवः॥ (योगशा. स्वो. विव. १-१६, पृ. ११३)। ४. प्रदेशमात्रभाविनां स्पर्शादिपर्यायाणां उत्पत्तिसामर्थ्येन परमागमे अण्यन्ते साध्यन्ते कार्यलिङ्गं विलोक्य सद्रूपतया प्रतिपद्यन्ते इत्यणवः। (त. वृत्ति श्रुत. ५-२५)। ५. प्रदेशमात्रभाविभिः स्पर्शादिभिर्गुणैः सततं परिणमन्त इत्येवमण्यन्ते शब्द्यन्ते ये ते अणवः। (त. सुखबो. वृ. ५-२५)।

१ जो प्रदेश मात्र में होनेवाली स्पर्शादि पर्यायों के उत्पन्न करने में समर्थ हैं, ऐसे उन आगमनिर्दिष्ट पुद्गल के अविभागी अंशों को अणु कहा जाता है।

अणुचटन—१. अणुचटनं सन्तप्तायःपिण्डादिष्वयोघनादिभिरभिहन्यमानेषु स्फुलिङ्गनिर्गमः। (स. सि. ५-२४; त.वा. ५, २४, १४; कार्तिके. वृ. २०६; त. सुखबोध वृत्ति ५-२४)। २. अतितप्तलोहपिण्डादिषु द्रुघणादिभिः कुट्यमानेषु अग्निकणनिर्गमनं अणुचटनमुच्यते। (त. वृ. श्रुत. ५-२४)।

१ अग्नि से सन्तप्त लोहपिण्ड को घनों से पीटने पर जो स्फुलिंग निकलते हैं उन्हें अणुचटन कहते हैं।

अणुच्छेद—परमाणुगयएगादिदव्वसंखाए अण्णेसि दव्वाणं संखावगमो अणुच्छेदो णाम, अथवा पोग्गलागासादीणं णिव्विभागछेदो अणुच्छेदो णाम। (धव. पु. १४, पृ. ४३६)।

परमाणुगत एक आदि द्रव्यसंख्याके द्वारा अन्य द्रव्यों की संख्या के जानने को अणुच्छेद कहते हैं, अथवा पुद्गल व आकाश आदि के निर्विभाग छेद का नाम अणुच्छेद है।

अणुतटिकाभेद—से किं तं अणुतडियाभेदे? जण्णं अगडाण वा तडागाण वा दहाण वा नदीण वा वावीण वा पुक्खरिणीण वा दीहियाण वा गुंजलियाण वा सराण वा सरसराण वा सरपंतियाण वा सरसरपंतियाण वा अणुतडियाभेदे भवति, से तं अणुतडियाभेदे। (प्रज्ञाप. ११-१७०, पृ. २६६)।

कूप, तडाग, ह्रद, नदी, बावड़ी, पुष्करिणी, दीर्घिका, गुंजालिका (वक्र नदी), सर, सरःसर, सरःपंक्ति और सरःसरःपंक्ति; इनका अणुतटिकाभेद (इक्षु-त्वक् के समान) होता है। यह शब्दद्रव्यों के पांच भेदों में चौथा है।

अणुव्रत—१. प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेयकाममूर्च्छेभ्यः। स्थूलेभ्यः पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रतं भवति। (रत्नक. ३-६)। २. पाणवध-मुसावादादत्तादाण-परदारगमणेहिं। अपरिमिदिच्छादो वि अ अणुव्वयाइं विरमणाइं॥(भ.आ. २०८०)। ३. देशतो विरतिरणुव्रतम्।(स. सि. ७-२; त. भा. सि. वृ. ७, २)। ४. हिंसादेर्देशतो विरतिरणुव्रतम्। (त. वा. ७, २, २)। ५. एभ्यो हिंसादिभ्य एकदेशविरतिरणुव्रतम्। (त. भा. ७-२)। ६. अणुव्वयाइं थूलगपाणिवहविरमणाईणि। (श्रा. प्र. १०६)। ७. अणूनि च तानि व्रतानि चाणुव्रतानि स्थूलप्राणातिपातादिविनिवृत्तिरूपाणि। (श्रा. प्र. टी. ६)। ८. देशतो हिंसादिभ्यो विरतिरणुव्रतम्। (त. श्लो. ७-२; त. वृ. श्रुत. ७-२)। ९. विरतिः स्थूलहिंसादिदोषेभ्योऽणुव्रतं मतम्।(म. पु. ३९-४)। १०. स्थूलप्राणातिपातादिभ्यो विरतिरणुव्रतानि पञ्च। (धर्मवि. ३-१६)। ११. विरतिः स्थूलवधादेर्मनोवचोऽङ्गकृतकारितानुमतैः। क्वचिदपरेऽप्यननुमतैः पञ्चाहिंसाद्यणुव्रतानि स्युः॥ (सा. ध. ४-५)। १२. विरतिः स्थूलहिंसादेर्द्विविध-त्रिविधादिना। अहिंसादीनि पञ्चाणुव्रतानि जगदुर्जिनाः॥ (योगशा. २-१८)। १३.

देशतो विरतिः पञ्चाणुव्रतानि ॥ (त्रि. श. पु. च. १, १, १८८)। १४. अणूनि लघूनि व्रतानि अणुव्रतानि॥ (सूत्रकृ. वृ. २, ६, २)। १५. तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात्। देशतो विरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम् ॥ (पञ्चाध्यायी २–७२४; लाटीसं. ४–२४२)।

१ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन स्थूल पापों के त्याग को अणुव्रत कहते हैं।

अण्ड— १. यन्नखत्वक्सदृशमुपात्तकाठिन्यं शुक्र-शोणितपरिवरणं परिमण्डलं तदण्डम्। (स. सि. २, ३३)। २. शुक्र-शोणितपरिवरणमुपात्तकाठिन्यं नखत्वक्सदृशं परिमण्डलमण्डम्।(त. वा. २, ३३, २; त. श्लो. २–३३)। ३. यत्कठिनं शुक्र-शोणितपरिवरणं वर्तुलं तदण्डम्। (त. सुखबोध वृ. २–३३)। ४. यच्छुक्र-लोहितपरिवरणं परिमण्डलमुपात्तकाठिन्यं नखछल्लीसदृशं नखत्वचासदृक्षं तदण्डमित्युच्यते। (त. वृ. श्रुत. २–३३)।

१ गर्भाशयगत शुक्र-शोणित का आवरण करने वाले नख की त्वचा के समान वर्तुलाकार कठिन द्रव्य को अण्ड कहते हैं।

अण्डज—अण्डे जाता अण्डजाः। (स.सि. २–३३; त. वा. २, ३३, ३; त. श्लो. २–३३)।

अण्डे में उत्पन्न हुए प्राणी अण्डज कहे जाते हैं।

अण्डर—जंबूदीवं भरहो कोसल-सागेद-तग्घराइं वा। खंधंडरआवासा पुलविसरीराणि दिट्ठंता॥ (गो. जी. १९४)।

जिस प्रकार जंबूद्वीप के भीतर भरतक्षेत्रादि हैं उसी प्रकार स्कन्धों के भीतर अण्डर आदि निगोद जीवों के उत्पत्तिस्थानविशेष) हैं।

अण्डायिक—[अण्डे कर्मवशादुत्पत्त्यर्थमाय आगमनं अण्डायः, अण्डायो विद्यते येषां ते] अण्डायिकाः सर्प-गृहकोकिलाः ब्राह्मण्यादयः। (त. वृ. श्रुत. २–१४)।

उत्पत्ति के लिए जिन प्राणियों का आगमन कर्मवश अण्डे में होता है, ऐसे सर्पादि प्राणी अण्डायिक कहे जाते हैं।

अतद्गुण(वस्तु)—न विद्यन्ते शब्दप्रवृत्तिनिमित्तास्ते जगत्प्रसिद्धा जाति-गुणक्रिया-द्रव्यलक्षणा गुणा विशेषणानि यस्मिन् वस्तुनि तद्वस्तु अतद्गुणम्। (त. वृ. श्रुत. १–५)।

जिस वस्तु में शब्दप्रवृत्ति के निमित्तभूत लोकप्रसिद्ध जाति, गुण, क्रिया व द्रव्य स्वरूप गुण–विशेषण—नहीं रहते वह अतद्गुण कही जाती है।

अतद्भाव—१. सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव पज्जओ त्ति वित्थारो। जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो॥(प्रव.सा. २-१५)। २. एकस्मिन् द्रव्ये यद् द्रव्यं गुणो न तद् भवति, यो गुणः स द्रव्यं न भवतीत्येवं यद् द्रव्यस्य गुणरूपेण, गुणस्य वा द्रव्यरूपेण, तेनाभवनं सोऽतद्भावः। (प्रव. अमृ. वृ. २–१६)।

द्रव्य, गुण और पर्याय जो सत् हैं; इनके सत्त्व का विस्तार द्रव्यादि रूप से तीन प्रकार होता है। द्रव्य में गुण-रूपता और गुण में जो द्रव्यरूपता का अभाव है, इसका नाम अतद्भाव है।

अतिक्रम—१. परिमितस्य दिगवधेः अतिलङ्घनमतिक्रमः। (स. सि. ७–३०; त. वा. ७–३०)। २. आहाकम्मणिमंतण पडिसुणमाणे अइक्कमो होइ। (पिं.नि. १८२; व्यव. सू.भा. गा. १-४३)। ३. यथा कश्चिज्जरद्गवः महासस्यसमृद्धिसम्पन्नं क्षेत्रं समवलोक्य तत्सीमसमीपप्रदेशे समवस्थितस्तत्प्रति स्पृहां संविधत्ते सोऽतिक्रमः। (प्राय. चू. वृ. १४६)। ४. क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमम् × × ×। (द्वात्रिं. ९)। ५. अतिक्रमणं संयतस्य संयतसमूहमध्यस्थस्य विषयाभिकाङ्क्षा। (मूला.वृ. ११–११)। ६. अतिक्रमणं प्रतिश्रवणतो मर्यादाया उल्लङ्घनमतिक्रमः। (व्यव. सू. भा. मलय. वृ. २५१)। ७. कोऽपि श्राद्धो नालप्रतिबद्धो ज्ञातिप्रतिबद्धो गुणानुरक्तो वा आधाकर्म निष्पाद्य निमंत्रयति—यथा भगवन् युष्मन्निमित्तं अस्मद्गृहे सिद्धमन्नमास्ते इति समागत्य प्रतिगृह्यतां इत्यादि तत्प्रतिशृण्वति अभ्युपगच्छति अतिक्रमो नाम दोषो भवति। स च तावद् यावद् उपयोगपरिसमाप्तिः। किमुक्तं भवति?—यत्प्रतिशृणोति प्रतिश्रवणानन्तरं चोत्तिष्ठति पात्राण्युद्गृह्णाति उद्गृह्य च गुरोः समीपमागत्योपयोगं करोति, एष समस्तोऽपि व्यापारोऽतिक्रमः। (व्यव. सू. भा. मलय. वृ. १–४३, पृ. १७)।

१ दिग्व्रत में जो दिशाओं का प्रमाण स्वीकार किया गया है उसका उल्लंघन करना, यह एक दिग्व्रत का अतिक्रम नामका अतिचार है। ४ मानसिक शुद्धि के अभाव को अतिक्रम कहते हैं। ७ आधाकर्म करके—साधु के निमित्त भोजन बनाकर—निमंत्रण देने पर यदि साधु उक्त निमंत्रणवचन को सुनता है व

उठकर पात्र आदि को ग्रहण करता हुआ गुरुके समीप आकर उपयोग करता है तो उसकी इस प्रकार की प्रवृत्ति अतिक्रम दोष से दूषित होने वाली है।

अतिक्रान्त प्रत्याख्यान—१. पज्जोसवणाए तवं जो खलु न करेइ कारणज्जाए। गुरुवेयावच्चेणं तवस्सि-गेलन्नयाए व ॥ सो दाइ तवोकम्मं पडिवज्जइ तं अइच्छिए काले। एयं पच्चक्खाणं अइक्कंतं होइ नायव्वं ॥ (स्थानांग अभय. वृ. १०–७४८, पृ. ४७२)। २. अइक्कंतं णाम पज्जोसवणाए तवं तेहिं कारणेहिं ण कीरति गुरु-तवस्सि-गिलाणकारणेहिं सो अइक्कंतं करेति तहेव विभासा। (आ. चू. आव. को. २)।

१ पर्युषणा के समय गुरु, तपस्वी और ग्लान (रोगी) साधु की वैयावृत्त्य आदि करने के कारण जिस स्वीकृत तपश्चरण को नहीं कर सके व पीछे यथेच्छित समय में उसे करे, इसे अतिक्रान्त प्रत्याख्यान कहते हैं।

अतिचार (अदिचार)—१. आहाकम्म निमंतण ××× गहिए तइओ। (पिंडनि. गा. १८२; व्यव. सू. भा. १–४३)। २. अतिचारो व्यतिक्रमः स्खलितं इत्यनर्थान्तरम्। (त. भा. ७–१८)। ३. सुरावाण-मांसभक्खण-कोह-माण-माया - लोह-हस्स- रइ- [अरइ-] सोग-भय-दुगुंछित्थि-पुरिस- णवुंसयवेयाऽपरिच्चागो अदिचारो। (धव. पु. ८, पृ. ८२)। ४. अतिचाराः असदनुष्ठानविशेषाः। (श्रा. प्र. टी. ८६)। ५. अतिचरणान्यतिचाराः चारित्रस्खलनविशेषाः, संज्वलनानामेवोदयतो भवन्ति। (आव. हरि. वृ. नि. गा. ११२)। ६. ××× अतिचारो-विषयेषु वर्तनम्। (द्वात्रिं. ६)। ७. अतिचारो विराधना देशभङ्ग इत्येकोऽर्थः। (धर्मबिन्दु वृ. १५३)। ८. अतिचारः व्रतशैथिल्यम् ईषदसंयमसेवनं च। (मूला. वृ. ११–११)। ९. (पुनर्विवरोदराऽन्तरास्यं संप्रवेश्य ग्रासमेकं समाददामीत्यभिलापकालुष्यमस्य व्यतिक्रमः।) पुनरपि तद्वृत्तिसमुल्लंघनमस्यातिचारः। (प्राय. चू. वृ. १४६)। १०. गृहीते त्वाधाकर्मणि तृतीयोऽतीचारलक्षणो दोषः। स च तावद्यावत् वसतावागत्य गुरुसमक्षमालोच्य स्वाध्यायं कृत्वा गले तदाधाकर्म्म नाद्यापि प्रक्षिपटि। (पिण्डनि. मलय. वृ. १८२)। ११. अतिचरण ग्रहणतो व्रतस्यातिक्रमणं अतीचारः। (व्यव. सू. भा. मलय. वृ. १–२५१); आधाकर्मणि गृहीते उपलक्षणमेतत्। यावद् वसतौ समानीते गुरुसमक्षमालोचिते भोजनार्थमुपस्थापिते मुखे प्रक्षिप्यमाणेऽपि यावन्नाद्यापि गिलति तावत् तृतीयोऽतिचारलक्षणो दोषः। (व्यव. सू. भा. मलय. वृ. १–४३)। १२. अतिचारो मालिन्यम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–८८)। १३. अतीत्य चरणं ह्यतिचारो माहात्म्यापकर्षोऽशतो विनाशो वा। (भ. आ. मूला. १४४; तपस्यनशनादौ सापेक्षस्य तदंशभंजनमतिचारः। (भ. आ. मूला. ४८७)। १४. सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोंऽशभंजनम्। (सा. ध. ४–१७; धर्मसं. श्रा. ६–११)। १५. अतिचरणमतिचारो मूलोत्तरगुणमर्यादातिक्रमः। (धर्मरत्नप्र. स्वो. वृ. १०४)।

१ आधाकर्म करके दिये गये निमंत्रण को स्वीकार करना अतिचार है। ३ मद्यपान, मांसभक्षण एवं क्रोध आदि का परित्याग नहीं करना अतिचार है। ४ असत् अनुष्ठानविशेष का नाम अतिचार है। ५ चारित्र सम्बन्धी स्खलनों (विराधना) का नाम अतिचार है। ६ विषयों में प्रवर्तना अतिचार है। ७ व्रत के देशतः भंग होने का नाम अतिचार है। ८ व्रत में शिथिलता अथवा कुछ असंयम सेवन का नाम अतिचार है। इत्यादि।

अतिथि — १. संयममविनाशयन्नततीत्यतिथिः। अथवा नास्य तिथिरस्तीत्यतिथिः अनियतकालगमन इत्यर्थः। (स. सि. ७–२१; चा. सा. पृ. १३; त. सुखबोध वृ. ७–२१)। २. संयममविनाशयन्नततीत्यतिथिः ॥११॥ चारित्रलाभबलोपेतत्वात् संयममविनाशयन् अततीत्यतिथिः। अथवा नास्य तिथिरस्ति इत्यतिथिः। (त. वा. ७–२१)। ३. भोजनार्थं भोजनकालोपस्थायी अतिथिरुच्यते, आत्मार्थनिष्पादिताहारस्य गृहिणो व्रती साधुरेवातिथिः। (श्रा. प्र. टी. गा. ३२६; त.भा.हरि. वृ. ७–१६)। ४. स संयमस्य वृद्ध्यर्थमततीत्यतिथिः स्मृतः। (ह. पु. ५८–१५८)। ५. पंचेन्द्रियप्रवृत्त्याख्यास्तिथयः पञ्च कीर्त्तिताः। संसाराश्रयहेतुत्वात्ताभिर्मुक्तोऽतिथिर्भवेत् ॥ (उपासका. ८७८)। ६. स्वयमेव गृहं साधुर्योऽत्रातति संयतः। अन्वर्थवेदिभि प्रोक्तः सोऽतिथिर्मुनिपुङ्गवैः ॥ (सुभा. र. सं. ८१७; अमित. श्रा. ६–९५)। ७. तथा न विद्यते सततप्रवृत्तातिविशदैकाकारानुष्ठानतया तिथ्यादि-दिनविभागो यस्य सोऽतिथिः। (योगशा. स्वो. विव.

१–५३, पृ. १५६; धर्मबि. वृ. ३६; श्राद्धगुणवि. १६, पृ. ४५) । ८. ज्ञानादिसिद्धयर्थतनुस्थित्यर्थान्नाय यः स्वयम् । यत्नेनातति गेहं वा न तिथिर्यस्य सोऽतिथिः । (सा. ध. ५–४२) । ९. तिथि-पर्वोत्सवाः सर्वे त्यक्ता येन महात्मना । अतिथिं तं विजानीयात् ॥ (सा. ध. टीका ५–४२ व योगशा. स्वो. विव. पृ. १५६ में उद्धृत; धर्मसं. स्वो. वृ. १, १४, ६) । १०. विद्यते तिथिर्यस्य सोऽतिथिः पात्रतां गतः । (भावसं. वाम. ५०८) । ११. न विद्यते तिथिः प्रतिपदादिका यस्य सोऽतिथिः । अथवा संयमलाभार्थमतति गच्छत्युद्दण्डचर्यां करोतीत्यतिथिर्यतिः । (चा. प्रा. टी. २५) । १२. संयममविराधयन् अतति भोजनार्थं गच्छति यः सोऽतिथिः । अथवा न विद्यते तिथिः प्रतिपद्-द्वितीया-तृतीयादिका यस्य सोऽतिथिः, अनियतकालभिक्षागमनः । (त. वृ. श्रुत. ७–२१) ।

१ संयम की विराधना न करते हुए भिक्षा के लिए घर घर घूमने वाले साधु को अतिथि कहते हैं। अथवा जिसके तिथि-पर्व आदि का विचार न हो उसे भी अतिथि कहते हैं।

अतिथिपूजन—चतुर्विधो वराहारः संयतेभ्यः प्रदीयते । श्रद्धादिगुणसम्पत्त्या तत् स्यादतिथिपूजनम् ॥ (वरांग. १५–१२४) ।

श्रद्धा आदि गुणों से युक्त श्रावक जो संयत (साधु) जनों को चार प्रकारका उत्तम आहार देता है, उसका नाम अतिथिपूजन (अतिथिसंविभाग) है।

अतिथिसंविभाग—१. अतिथये (देखो 'अतिथि') संविभागोऽतिथिसंविभागः । (स. सि. ७–२१; त. वा. ७, २१, १२; चा. सा. पृ. १४) । २. अतिथिसंविभागो नाम न्यायागतानां कल्पनीयानामन्न-पानादीनां द्रव्याणां देश-काल-श्रद्धा-सत्कारक्रमोपेतं परयाऽऽत्मानुग्रहबुद्धया संयतेभ्यो दानमिति । (त. भा. ७–१६) । ३. नायागयाण अन्नाइयाण तह चेव कप्पणिज्जाणं । देसद्ध-सद्ध-सक्कारकमजुयं परमभत्तीए ॥ आयाणुग्गहबुद्धीइ संजयाणं जमित्थ दाणं तु । एयं जिणेहि भणियं गिहीण सिक्खावयं चरिमं । (श्रा. प्र. ३२५–२६) । ४. स संयमस्य वृद्धयर्थमततीत्यतिथिः स्मृतः । प्रदानं संविभागोऽस्मै (अतिथये) यथाशुद्धिर्यथोदितम् ॥ (ह. पु. ५८–१५८) । ५. संयममविराधयन्नततीत्यतिथिः, न विद्यतेऽस्य तिथिरिति वा, तस्मै संविभागः प्रतिश्रयादीनां यथायोग्यमतिथिसंविभागः । (त. श्लो. ७–२१) । ६. तिविहे पत्तम्हि सया सद्धाइगुणेहिं संजुदो णाणी । दाणं जो देदि सयं णवदाणविहीहिं संजुत्तो ॥ सिक्खावयं च तदियं तस्स हवे सव्वसिद्धि-सोक्खयरं । दाणं चउव्विहं पि य सव्वे दाणाणं सारयरं ॥ (कार्तिके. ३६०–६१) । ७. अतिथिर्भोजनार्थं भोजनकालोपस्थायी स्वार्थं निर्वर्तिताहारस्य गृहिव्रतिनः साधुरेवातिथिः । तस्य संविभागोऽतिथिसंविभागः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–१६) । ८. विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय । स्वपरानुग्रहहेतोः कर्तव्योऽवश्यमतिथये भागः ॥ (पु. सि. १६७) । ९. असणाइचउवियप्पो आहारो संजयाण दादव्वो । परमाए भत्तीए तिदिया सा वुच्चए सिक्खा ॥ (धर्मर. १५५) । १० आहार-पानौषधिसंविभागं गृहागतानां विधिना करोतु । भक्त्याऽतिथीनां विजितेन्द्रियाणां व्रतं दधानोऽतिथिसंविभागम् ॥ (धर्मप. १९–६१) । ११. चतुर्विधो वराहारो दीयते संयतात्मनाम् । शिक्षाव्रतं तदाख्यातं चतुर्थं गृहमेधिनाम् ॥ (सुभाषित. ८१६) । १२. अशनं पेयं स्वाद्यं खाद्यमिति निगद्यते चतुर्भेदम् । अशनमतिथेर्विधेयो निजशक्त्या संविभागोऽस्य ॥ (अमित. श्रा. ६–९६) । १३. दानं चतुर्विधाहारपात्राच्छादनसद्मनाम् । अतिथिभ्योऽतिथिसंविभागव्रतमुदीरितम् ॥ (योगशा. ३–८७) । १४. अतिथेः सङ्गतो निर्दोषो विभागः पश्चात्कृतादिदोषपरिहारायांशदानरूपोऽतिथिसंविभागस्तद्रूपं व्रतमतिथिसंविभागव्रतम् । आहारादीनां च न्यायार्जितानां प्रासुकैषणीयानां कल्पनीयानां देश-काल-श्रद्धा-सत्कारपूर्वकमात्मानुग्रहबुद्धया यतिभ्यो दानमतिथिसंविभागः । (योगशा. स्वो. विव. ३–८७) । १५. अतिथयो वीतरागधर्मस्थाः साधवः साध्व्यः श्रावकाः श्राविकाश्च, तेषां न्यायागतकल्पनीयादिविशेषणानामन्न-पानादीनां संगतवृत्त्या विभजनं वितरणं अतिथिसंविभागः । (धर्मबि. मुनि. वृत्ति १५१) । १६. व्रतमतिथिसंविभागः पात्रविशेषाय विधिविशेषेण । द्रव्यविशेषवितरणं दातृविशेषस्य फलविशेषाय ॥ (सा. ध. ५–४१) । १७. आहारवाह्यपात्रादेः प्रदानमतिथेर्मुदा । उदीरितं तदतिथिसंविभागव्रतं जिनैः ॥ (धर्मसं. स्वो. २, ४०, ६४) । १८. साहूण सुद्धदाणं भत्तीए संविभागवयं ।

(गु. गु. ष. गा. ७)। १९. संविभागोऽतिथीनां हि कर्तव्यो निजशक्तितः। स्वेनोपार्जितवित्तस्य तच्छिक्षाव्रतमन्त्यजम् ॥ (पूज्य. उ. ३४)। २०. संविभागोऽतिथीनां यः किञ्चिद्विशिष्यते हि सः। न विद्यतेऽतिथिर्यस्य सोऽतिथिः पात्रतां गतः ॥ (भावसं. वा. ५०९)। २१. अततीत्यतिथिर्ज्ञेयः संयमं त्वविराधयन्। तस्य यत्संविभजनं सोऽतिथिसंविभागकः ॥ अथवा न विद्यते यस्य तिथिः सोऽतिथिः कथ्यते। तस्मै दानं व्रतं तत्स्यादतिथेः संविभागकम् ॥ (धर्मसं. श्रा. ७, ८०-८१)। २२. अतिथये समीचीनो विभागः निजभोजनाद् विशिष्टभोजनप्रदानमतिथिसंविभागः। (त. वृ. श्रुत. ७–२१)। २३. अतिहिसंविभागो नाम नायागयाणं कप्पणिज्जाणं अन्न-पाणाईणं दव्वाणं देस-काल-सद्धा-सक्कारकमजुत्तं पराए भत्तीए आयाणुग्गहवुद्धीए संजयाणं दाणं। (अभि. रा. १, पृ. ३३)।

अतिथि (संयत) के लिए नवधा भक्तिपूर्वक आहार व औषधि आदि चार प्रकारका दान करने को अतिथिसंविभाग कहते हैं।

अतिपरिणामक (अइपरिणामय)—जो दव्व-खेत्तकयकाल-भावओ जं जहिं जया काले। तल्लेसुस्सुत्तमई अइपरिणामं वियाणाहि ॥ (बृहत्क. १–७९५)।

जिन देव ने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जब जिस वस्तु को ग्राह्य-अग्राह्य कहा है, उसकी अपेक्षा न करके उत्सर्ग मार्ग की उपेक्षा करते हुए अपवादमार्ग को ही मुख्य मान कर उत्सूत्र आचरण करने वाले साधु को अतिपरिणामक कहते हैं।

अतिप्रसाधन—यावताऽर्थेनोपभोग-परिभोगौ भवतस्ततोऽधिकस्य करणमतिप्रसाधनम्। (रत्नक. टीका ३–३५)।

अपनी आवश्यकता से अधिक उपभोग-परिभोग की सामग्री के संग्रह करने को अतिप्रसाधन कहते हैं।

अतिभार—भरणं भारः, अतिभरणम् अतिभारः, प्रभूतस्य पूगफलादेः स्कन्धपृष्ठारोपणमित्यर्थः। ××× तदत्रायं पूर्वाचार्योक्तविधिः—××× अइभारो ण आरोवेयव्वो, पुव्विं चेव जा वाहणाए जीविया सा मुत्तव्वा। न होज्ज अन्ना जीविया, ताहे दुपदो जं सयं चेव उक्खिवइ उत्तारेइ वा भारं एवं वहाविज्जइ, वइल्लाणं जहा साभावियाओ वि भाराओ ऊणओ कीरइ, हल-सगडेसु वि वेलाए चेव मुंचइ। आस-हत्थीसु वि एस चेव विही। (श्रा. प्र. टीका २५८)।

द्विपद (मनुष्य) और चतुष्पद (बैल आदि) जितने बोझ को कन्धे अथवा पीठ आदि पर स्वाभाविक रूप में ले जा सकें, उससे अधिक बोझ का नाम अतिभार है। इसके सम्बन्ध में पुरातन आचार्यों का विधान तो यह है कि प्रथम तो दूसरों पर बोझा लादने आदि से सम्बद्ध आजीविका को ही छोड़ना चाहिये, पर यदि ऐसा सम्भव न हो तो उनके ऊपर उतना ही बोझ रखना चाहिये, जिसे वे स्वभावतः ढो सकते हों।

अतिभारवहन—देखो अतिभारारोपण। लोभावेशादधिकभारारोपणमतिभारवहनम्। (रत्नक. टीका ३–१६)।

लोभ के वश घोड़ा, बैल या दासी-दास आदि पर उनकी सामर्थ्य से बाहिर अधिक भार को लाद कर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने को अतिभारवहन कहते हैं।

अतिभारारोपण—देखो अतिभार। १ न्याय्यभारादतिरिक्तभारवाहनमतिभारारोपणम्। (स. सि. ७–२५; त. श्लो. वा. ७, २५)। २ न्याय्यभारादतिरिक्तभारवाहनमतिभारारोपणम् ॥४॥ न्यायादनपेताद् भारादतिरिक्तस्य वाहनम्, अतिलोभाद् गवादीनामतिभारारोपणमिति गण्यते। (त. वा. ७, २५, ४)। ३. भरणं भारः पूरणम्, अतीव बाढम्, सुष्ठु भारोऽतिभारस्तस्यारोपण स्कन्धपृष्ठादिस्थापनमतिभारारोपणम्। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ७–२०)। ४. अतिभारारोपणं न्याय्यभारादधिकभारारोपणम्। (रत्नक. टीका २–८)। ५. अतिभारारोपणं न्याय्यभारादतिरिक्तस्य वोढुमशक्यस्य भारस्यारोपणं वृषभादीनां पृष्ठ-स्कन्धादौ वाहनोपाधिरोपणम्। तदपि दुर्भावात्क्रोधाल्लोभाद्वा क्रियमाणमतिचारः। (सा. ध. स्वो. टी. ४–१५)। ६. न्याय्याद् भारादधिकभारवाहनं राजदानादिलोभादतिभारारोपणम्। (त. वृ. श्रुत. ७–२५; कार्तिके. टी. ३३२)। ७. अतीवभारोऽतिभारः, प्रभूतस्य पूगफलादेर्गवादिपृष्ठादावारोपणम्। (धर्मबि. मु. वृ. १५६)।

१ मनुष्य व पशु आदि के ऊपर लोभ आदि के वश

न्याय्य भार से—जिसे वे स्वाभाविक रूप से ढो सकें—अधिक लादने को अतिभारारोपण कहते हैं।

अतिमात्र-आहारदोष—१. अतिमात्र आहारः–अशनस्य सव्यंजनस्य [द्वौ,] तृतीयभागमुदकस्योदरस्य यः पूरयति, चतुर्थभागं चावशेषयति यस्तस्य प्रमाणभूत आहारो भवति। अस्मादन्यथा यः कुर्यात्तस्यातिमात्रो नामाहारदोषो भवति। (मूला. वृ. ६–५७)। २. सव्यञ्जनाशनेन द्वौ पानेनैकमंशमुदरस्य। भृत्वाऽभृतस्तृतीयो मात्रा तदतिक्रमः प्रमाणमलः॥ (अन. ध. ५–३८)।

१ साधु अपने उदर के दो भागों को व्यंजन (दाल आदि) सहित अन्न से और एक भाग को पानी से भरे तथा चौथे भाग को खाली रखे। इससे अधिक भोजन-पान करने पर अतिमात्र आहार नामका दोष होता है।

अतिलोभ—विशिष्टेऽर्थे लब्धेऽप्यधिकलाभाकाङ्क्षाऽतिलोभः। (रत्नक. टी. ३–१६)।

विशेष अर्थ का लाभ होने पर भी और अधिक लाभ की आकांक्षा करना, यह परिग्रहपरिमाण अणुव्रत का अतिलोभ नामका अतिचार है।

अतिवाहन—लोभातिगृद्धिनिवृत्त्यर्थं परिग्रहपरिमाणे कृते पुनर्लोभावेशवशादतिवाहनं करोति, यावन्तं हि मार्गं बलीवर्दादयः सुखेन गच्छन्ति ततोऽतिरेकेण वाहनमतिवाहनम्। (रत्नक. टी. ३–१६)।

लोभ व अतिशय गृद्धि के हटाने के लिये परिग्रह का परिमाण कर लेने पर भी पुनः लोभ के वश से बैल व घोड़े आदि को उनकी शक्ति से अधिक दूर तक ले जाना, यह अतिवाहन नामका अतिचार है।

अतिविस्मय—तत्-(संग्रह-)प्रतिपन्नलाभेन विक्रीते तस्मिन् मूलतोऽप्यसंगृहीते वाऽधिकेऽर्थे तत्क्रयाणकेन लब्धे लोभावेशादतिविस्मयं विषादं करोति। (रत्नक. टी. ३–१६)।

किसी संगृहीत वस्तु को एक नियत लाभ लेकर बेच देने के पश्चात् उसका भाव बढ़ जाने पर अधिक लाभ से वंचित रहने का विषाद करना, यह अतिविस्मय नामका परिग्रहपरिमाणाणुव्रत का अतिचार है।

अतिव्याप्ति दोष—१. अलक्ष्ये वर्तनां प्राहुरतिव्याप्तिं बुधाः यथा। गुण आत्मन्यरूपित्वमाकाशादिषु दृश्यते॥ (मोक्षपं. १५)। २. लक्ष्यालक्ष्यवर्त्यतिव्याप्तम्, यथा तस्यैव (गोरेव) पशुत्वम्। (न्यायदीपिका पृ. ७)।

२ लक्ष्य और अलक्ष्य में लक्षण के रहने को अतिव्याप्ति दोष कहते हैं।

अतिशायिनीत्व— अत्रातिशायनीत्वमाश्रयभेदव्यापारप्रयुक्ताल्पाल्पतर-बहु - बहुतरप्रतियोगिकत्वम्। (अष्टस. यशो. वृ. १–४, पृ. ६२)।

आश्रय के भेद से होने वाले व्यापारविशेष की अल्प से अल्पतर या बहु से बहुतर प्रतियोगिकता को अतिशायिनीत्व कहते हैं।

अतिसंग्रह—इदं धान्यादिकमग्रे विशिष्टं लाभं दास्यतीति लोभावेशादतिशयेन तत्संग्रहं करोति। (रत्नक. टी. ३–१६)।

यह धान्यादिक आगे विशिष्ट लाभ देगा, इस प्रकार लोभ के आवेश से उनका अतिशय संग्रह करना; यह अतिसंग्रह नामका अतिचार है।

अतिस्थापना (अइच्छावणा, अइट्ठावणा, अदित्थावणा)—१. तमोक्कड्डिय उदयादि जाव आवलियतिभागो ताव णिक्खिवदि। आवलिय-वे-तिभागमेत्तमुवरिमभागे अइच्छावइ। तदो आवलियतिभाओ णिक्खेवविसओ, आवलिय-वे-तिभागा च अइच्छा-(त्था) वणा त्ति भण्णइ। (जयधवला) २. अपकृष्टद्रव्यस्य निक्षेपस्थानं निक्षेपः, × × × तेनातिक्रम्यमाणं स्थानं अतिस्थापनम् × × × (ल. सा. टी. ५६)।

जिन निषेकों में अपकर्षण या उत्कर्षण किये गये द्रव्य का निक्षेप नहीं किया जाता है उनका नाम अतिस्थापना है। ऐसे निषेक उदयावलि के दो त्रिभाग मात्र होते हैं।

अतिस्निग्धमधुरत्व—१. अतिस्निग्धमधुरत्वं अमृत-गुडादिवत् सुखकारित्वम्। (समवा. अभय. वृ. ३५, पृ. ६३)। २. अतिस्निग्ध-मधुरत्वं बुभुक्षितस्य घृत-गुडादिवत् परमसुखकारिता॥(रायप. टी. पृ. १६)।

२ भूखे व्यक्ति को घी-गुड़ आदि के समान अतिशय सुखकारी वचनादि की प्रवृत्ति का नाम अतिस्निग्ध-मधुरत्व है।

अतीत काल—१. णिप्फण्णो ववहारजोग्गो अदीदो णाम। (धव. पु. ३, पृ. २९)। २. वस्तु यदेव विवक्षितं वर्तमानं समयमवधीकृत्य भूतवान् समयराशिः सोऽतीतः। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. १–७)।

२. अवधीकृत्य समयं वर्तमानं विवक्षितम्। भूतः समयराशिर्यः कालोऽतीतः स उच्यते ॥ (लोकप्र. २८–२९६)।

२ वर्तमान समय को अवधि करके जो समयराशि बीत चुकी है उस सब समयराशि का नाम अतीत काल है।

अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष—अतीन्द्रियप्रत्यक्षं व्यवसायात्मकं स्फुटमवितथमतीन्द्रियमव्यवधानं लोकोत्तरमात्मार्थविषयम्। (लघी. स्वो. वृ. ६१)।

जो निश्चय स्वरूप ज्ञान अतिशय निर्मल, यथार्थ—भ्रान्ति से रहित, इन्द्रियव्यापार से निरपेक्ष, देशादि व्यवधान से रहित, समस्त लोक में उत्कृष्ट तथा निज को व बाह्य अर्थ दोनों को ही विषय करने वाला है वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा जाता है।

अतीन्द्रिय सुख—यत्पुनः पञ्चेन्द्रियविषयव्यापाररहितानां निर्व्याकुलचित्तानां पुरुषाणां सुखं तदतीन्द्रियसुखम्। पञ्चेन्द्रिय-मनोजनितविकल्पजालरहितानां निर्विकल्पसमाधिस्थानां परमयोगिनां रागादिरहितत्वेन स्वसंवेद्यमात्मसुखं तद्विशेषेणातीन्द्रियम्। यच्च भावकर्म-द्रव्यकर्मरहितानां सर्वप्रदेशाह्लादैकपारमार्थिकपरमानन्दपरिणतानां मुक्तात्मनामतीन्द्रियसुखं तदत्यन्तविशेषेण नेतव्यम्। वृहद्द्रव्यसं. ३७)।

इन्द्रिय व मन की अपेक्षा न रख कर आत्म मात्र की अपेक्षा से जो निराकुल—निर्बाध—सुख प्राप्त होता है वह अतीन्द्रिय सुख है।

अतीर्थंकरसिद्ध—१. अतीर्थंकरसिद्धाः सामान्यकेवलित्वे सति सिद्धाः। (योगशा. स्वो. विव. ३, १२४)। २. अतीर्थंकराः सामान्यकेवलिनः सन्तः सिद्धा अतीर्थंकरसिद्धाः। (शास्त्रवा. टी. ११–५४)। ३. अतीर्थंकरसिद्धा अन्ये सामान्यकेवलिनः। (श्रा. प्र. टी. ७६)।

३ सामान्य केवली होकर सिद्ध होने वाले जीवों को अतीर्थंकरसिद्ध कहते हैं।

अतीर्थंकरसिद्धकेवलज्ञान—तीर्थंकराः सन्तो ये सिद्धास्तेषां केवलज्ञानं तीर्थंकरसिद्धकेवलज्ञानम्, शेषाणामतीर्थंकरसिद्धकेवलज्ञानम्। (आव. मलय. वृ. ७८, पृ. ८४)।

तीर्थंकर होकर सिद्ध होने वालों का केवलज्ञान तीर्थंकरसिद्धकेवलज्ञान और शेष सिद्ध होने वालों का केवलज्ञान अतीर्थंकरसिद्धकेवलज्ञान कहलाता है।

अतीर्थसिद्ध—१. अतीर्थे सिद्धा अतीर्थसिद्धाः, तीर्थान्तरसिद्धा इत्यर्थः। श्रूयते च 'जिणंतरे साहुवोच्छेओ त्ति' तत्रापि जातिस्मरणादिना अवाप्तापवर्गमार्गाः सिध्यन्ति एवम्। मरुदेवीप्रभृतयो वा अतीर्थसिद्धास्तदा तीर्थस्यानुत्पन्नत्वात्। (श्रा. प्र. टी. ७६)। २. अतीर्थे जिनान्तरे साधुव्यवच्छेदे सति जातिस्मरणादिनावाप्तापवर्गमार्गाः सिद्धा अतीर्थसिद्धाः। (योगशा. स्वो. विव. ३–१२४)। ३. तीर्थस्याभावोऽतीर्थम्। तीर्थस्याभावश्चानुत्पादोऽपान्तराले व्यवच्छेदो वा, तस्मिन् ये सिद्धास्तेऽतीर्थसिद्धाः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १–७)। ४. तीर्थस्याभावेऽनुत्पत्तिलक्षणे आन्तरालिकव्यवच्छेदलक्षणे वा सति सिद्धा अतीर्थसिद्धाः मरुदेव्यादयः, सुविधिस्वाम्याद्यपान्तराले विरज्याप्तमहोदयाश्च। (शास्त्रवा. यशो. टी. ११, ५४)।

१ तीर्थ से अभिप्राय चातुर्वर्ण्य श्रमणसंघ अथवा प्रथम गणधर का है। उनके न होते हुए जो तीर्थान्तर में सिद्ध होते हैं वे अतीर्थसिद्ध हैं। उस समय तीर्थ के उत्पन्न न होने से मरुदेवी आदि भी अतीर्थसिद्ध माने गये हैं।

अतीर्थसिद्धकेवलज्ञान — यत् पुनस्तीर्थकराणां तीर्थेऽनुत्पन्ने व्यवच्छिन्ने वा सिद्धास्तेषां यत् केवलज्ञानं तदतीर्थसिद्धकेवलज्ञानम्। (आव. मलय. वृ. ७८, पृ. ८४)।

जो तीर्थंकरों के तीर्थ के उत्पन्न न होने पर या उसके विच्छिन्न हो जाने पर सिद्ध हुए हैं उनके केवलज्ञान को अतीर्थसिद्धकेवलज्ञान कहा जाता है।

अत्यन्तानुपलब्धि—अत्थस्स दरिसणम्मि वि लद्धी एगंततो न संभवइ। दट्ठुं पि न याणंते वोहियपंडा फणस सत्तू ॥ (वृहत्क. भा. ४७)।

अर्थ के—पदार्थ के—प्रत्यक्ष देखते हुए भी उससे अपरिचित होने के कारण जो उसका सर्वथा परिज्ञान नहीं होता है उसे अत्यन्तानुपलब्धि कहते हैं। जैसे—पश्चिम दिशा में रहने वाले म्लेच्छ वहां कटहल के न होने से उस कटहल को और पाण्ड्य (देशविशेष में उत्पन्न) जन सत्तू को देखते हुए भी विशिष्ट नामादि से उसे नहीं जानते हैं।

अत्यन्ताभाव—१. शशशृंगादिरूपेण सोऽत्यन्ताभाव उच्यते। (प्रमाल. ३८६)। २. अत्यन्ताभावः

अत्यन्तं सर्वथा निःसत्ताकया अभावः। (प्रमाल. टी. ३८६)। ३. कालत्रयापेक्षिणी हि तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरत्यन्ताभावः। (प्र. न. त. ३-६१)।
१ जिसका त्रिकाल में भी सद्भाव सम्भव न हो, उसके अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं। जैसे—खरगोश के सिर पर सींगों का अभाव।

अत्यन्ताभावत्व—त्रैकालिकी तादात्म्यपरिणामनिवृत्तिरत्यन्ताभाव इत्यत्र परिणामपदमहिम्ना धर्मनियामकसम्बन्धबोधात् तृतीयातत्पुरुषाश्रयणाच्च संसर्गावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वमत्यन्ताभावत्वम्। (अष्टस. यशो. वृ. पृ. १६६)।
देखो अत्यन्ताभाव।

अत्यन्तायोगव्यवच्छेद — क्रियासंगतैवकारोऽत्यन्तायोगव्यवच्छेदबोधकः। उद्देश्यतावच्छेदकव्यापकाभावाप्रतियोगित्वम्। यथा—नीलं सरोजं भवत्येव। (सप्तभं. पृ. २६)।
क्रियासंगत एवकार जिसका बोधक होता है वह अत्यन्तायोगव्यवच्छेद कहलाता है। जैसे—सरोज नीला होता ही है।

अत्यागी (न चाई)—वत्थ-गंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य। अच्छंदा जे ण भुंजंति न से चाइ त्ति वुच्चइ॥ (दशवै. २-२)।
जो वस्त्र एवं गन्धादि रूप भोगसामग्री को स्वच्छन्दतापूर्वक—परवश होने से—नहीं भोग सकता है वह त्यागी नहीं है—अत्यागी है।

अत्यासादना—१. पंचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाय महव्वया पंच। पवयणमाउ-पयत्था तेत्तीसच्चासणा भणिया॥ (मूला. २-१८, पृ. ६१)। २. पञ्चास्तिकायादिविषयत्वात् पञ्चास्तिकायादय एवासादना उक्ताः, तेषां वा ये परिभवास्ता आसादना इति सम्बन्धः। (मूला. वृ. २-१८)।
पांच अस्तिकाय, छह जीवनिकाय, पांच महाव्रत, आठ प्रवचनमातृका (५ समिति व ३ गुप्ति) और नौ पदार्थ; ये तेतीस अत्यासादना (आसादना) कहे गये हैं। अथवा उनके जो परिभव हैं वे आसादना कहलाते हैं।

अत्राणभय—१. यत् सन्नाशमुपैति यन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थितिर्ज्ञानं सत्स्वयमेव तत् किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः। अस्यात्राणमतो न किंचन भवेत् तद्भीः कुतो ज्ञानिनो निःशंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति। (समय. कलश १५१)। २. पुरुषाद्यरक्षणमत्राणभयम्। (त. वृ. श्रुत. ६-२४)।
पुरुषादिकों के संरक्षण के अभाव में जो भय उत्पन्न होता है वह अत्राणभय कहलाता है।

अथाप्रवृत्तकरण—देखो अधःप्रवृत्तकरण।

अदत्तक्रिया—अदत्तक्रिया स्तेयलक्षणा। (गु. गु. ष. स्वो. वृ. पृ. ४१)।
चोरी में प्रवर्तना अदत्तक्रिया है।

अदत्तग्रहण—१. तथा अदत्तग्रहणम्—अदत्तं यदि किंचिद् गृह्णीयात् × × × अशनस्यान्तरायो भवति। (मूला. वृ. ६-८०)। २. स्वयमेव ग्रहेऽन्नादेरदत्तग्रहणाऽऽह्वयः॥ (अन. ध. ५-५६)।
दूसरे के द्वारा विना दिये हुये अन्नादि को स्वयं ही ग्रहण करना अदत्तग्रहण दोष है।

अदत्तादान—१. अदत्तस्य अदिण्णस्स आदाणं गहणं अदत्तादाणं, × × × एत्थ वि जेण 'आदीयदे अणेण इदि आदाणं' तेण अदिण्णत्थो तग्गहणपरिणामो च अदत्तादाणं। (धव. पु. १२, पृ. २८१)। २. ग्रामाराम-शून्यागार-वीथ्यादिषु निपतितः मणि-कनक-वस्त्रादिवस्तुनो ग्रहणमदत्तादानम्। (चा. सा. पृ. ४१)। ३. धर्मविरोधेन स्वामिजीवाद्यननुज्ञात-परकीयद्रव्यग्रहणम् अदत्तादानम्। (शास्त्रवा. टी. १-४)।
२ ग्राम, आराम (उद्यान), शून्य गृह और वीथी (गली) आदि में गिरे, पड़े या रखे हुए मणि, सुवर्ण व वस्त्र आदि के ग्रहण करने का विचार करना, इसे अदत्तादान कहते हैं। ३ स्वामी की आज्ञा के विना पराई वस्तु के लेने को अदत्तादान कहते हैं।

अदत्तादान प्रत्यय—अदत्तस्स आदाणं गहणं अदत्तादाणं, सो चेव पच्चओ अदत्तादाणपच्चओ। (धव. पु. १२, पृ. २८१)।
विना दी हुई वस्तु के ग्रहणस्वरूप प्रत्यय (ज्ञानावरणीयवेदना के कारण) को अदत्तादान प्रत्यय कहा जाता है।

अदत्तादानविरमण—देखो [illegible]। १. अदत्तादाणं तिविहं तिविहेण णेव कुज्जा, ण कारवे, [illegible]। (ऋषिभा. १-५)।

विना दी हुई परकीय वस्तु को तीन प्रकार से—मन, वचन व काय से—न स्वयं ग्रहण करना और न दूसरे से ग्रहण कराना, यह अदत्तादानविरमण नामका तीसरा अचौर्यमहाव्रत है।

अदन्तमनव्रत (अदंतमणवय)—१ अंगुलि-णहाऽवलेहणिकलीहिं पासाणछल्लिआदीहिं। दंतमलासोहणयं संजमगुत्ती अदंतमणं ॥ (मूला. १–३३)। २ दशनाघर्षणं पापाणाऽङ्गुलीत्वङ्नखादिभिः। स्याद् दन्ताकर्षणं भोग-देह-वैराग्यमन्दिरे ॥ (आचा. सा. १–४६)।

अंगुली, नख, अवलेखिनी (दन्तकाष्ठ—दातोन) कलि (तृणविशेष), पत्थर और बकला आदि से दांतों के मैल को नहीं निकालना; यह अदन्तमनव्रत है जो संयमसंरक्षण का कारण है।

अदर्शन—१ दृगावरणसामान्योदयाच्चादर्शनं तथा। (त. श्लो. २, ६, ६); अदर्शनमिहार्थानामश्रद्धानं हि तद् भवेत्। सति दर्शनमोहेऽस्य न ज्ञानात् प्रागदर्शनम् ॥ (त. श्लो. ६, १४, १)। २. अदर्शनो मिथ्याभिलापेण सम्यक्त्ववर्जित अन्धो वा। (श्रा. दि. पृ. ७४)।

१ सामान्य दर्शनावरण कर्म के उदय से होनेवाले वस्तुप्रतिभास के अभाव को अदर्शन कहते हैं। तथा दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से होने वाले तत्त्वार्थश्रद्धान के अभाव को भी अदर्शन या मिथ्यादर्शन कहा जाता है। २ मिथ्या अभिलाषा से सम्यक्त्व से हीन जीव को तथा अन्धे प्राणी को भी अदर्शन कहा जाता है।

अदर्शनपरीषह—अदर्शनपरीषहस्तु सर्वपापस्थानेभ्यो विरतः प्रकृष्टतपोऽनुष्ठायी निःसंगश्चाहं तथापि धर्माधर्मात्मदेव-नारकादिभावान्नेक्षे, अतो मृषा समस्तमेतदिति अदर्शनपरीषहः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–६)।

मैं सर्व पापस्थानों से विरत हूं, घोर तपश्चरण करता हूं, और समस्त परिग्रह से रहित भी हूं; तो भी क्रम से धर्म-अधर्मस्वरूप देवभाव व नारकभाव को नहीं देख रहा हूं, इससे प्रतीत होता है कि यह सब असत्य है; ऐसे विचार का नाम अदर्शनपरीषह है।

अदर्शनपरीषहजय—१. परमवैराग्यभावनाशुद्धहृदयस्य विदितसकलपदार्थतत्त्वस्यार्हदायतन-साधुधर्मपूजकस्य चिरन्तनप्रव्रजितस्याद्यापि मे ज्ञानातिशयो नोत्पद्यते, महोपवासाद्यनुष्ठायिनां प्रातिहार्यविशेषाः प्रादुरभूवन्निति प्रलापमात्रमनर्थकेयं प्रव्रज्या, विफलं व्रतपरिपालनमित्येवमसमादधानस्य दर्शनविशुद्धियोगाददर्शनपरीषहसहनमवसातव्यम्। (स. सि. ६–६; त. वा. ६, ६, २८)। २. प्रव्रज्याद्यनर्थकत्वासमाधानमदर्शनसहनम्। (त. वा. और त. श्लो. ६–६)। ३. वर्ण्यन्ते वहवस्तपोऽतिशयजाः सप्तर्द्धिपूजादयः, प्राप्ताः पूर्वतपोवनैरिति वचोमात्रं तदद्यापि यत्। तत्त्वज्ञस्य ममापि तेषु न हि कोऽपीत्यार्तसंगोज्झिता, चेतोवृत्तिरदृक्परीषहजयः सम्यक्त्वसंशुद्धितः ॥ (आचा. सा. ७–१६)। ४. अदर्शनं महाव्रतानुष्ठानेनाप्यदृष्टातिशयवाधा, उपलक्षणमात्रमेतत्, अन्येऽप्यत्र पीडाहेतवो दृष्टव्याः। तस्याः क्षमणं सहनम् × × × ततः परीषहजयो भवति। (मूला. वृ. ५–५८)। ५. महोपवासादिजुषां मृषोद्याः प्राक् प्रातिहार्यातिशया न हीक्षे। किञ्चित्तथाचार्यपि तद् वृथैषा निष्ठेत्यसन् सदृगदर्शनासट् ॥ (अन. ध. ६–११०)। ६. यो मुनिरत्युत्कृष्टवैराग्यभावनाविशुद्धान्तरंगो भवति, विज्ञातसमस्तवस्तुतत्त्वश्च स्यात्, जिनायतन-त्रिविधसाधु-जिनधर्मपूजनसम्माननतन्निष्ठो भवति, चिरदीक्षितोऽपि सन्नेवं न चिन्तयति—अद्यापि ममातिशयवद्वोधनं न संजायते, उत्कृष्टश्रुतव्रतादिविधायिनां किल प्रातिहार्यविशेषाः प्रादुर्भवन्ति, इति श्रुतिर्मिथ्या वर्तते, दीक्षेयं निष्फला, व्रतधारणं च फल्गु एव वर्तते, इति सम्यग्दर्शनविशुद्धिसन्निधानादेवं न मनसि करोति तस्य मुनेरदर्शनपरीषहजयो भवतीति अवसानीयम्। (त. वृ. श्रुत. ६–६)।

चिरकाल तक तपश्चरण करने पर भी ज्ञानातिशय या ऋद्धिविशेष के नहीं प्राप्त होने पर 'यह दीक्षा व्यर्थ है या व्रतों का धारण करना व्यर्थ है' ऐसा विचार न करके अपने सम्यग्दर्शन को शुद्ध बनाये रखना, इसे अदर्शनपरीषहजय कहते हैं।

अदित्साप्रत्याख्यान—दातुमिच्छा दित्सा, न दित्सा अदित्सा, तया प्रत्याख्यानमदित्साप्रत्याख्यानम्। सत्यपि देये, सति च सम्प्रदानकारके, केवलं दातुर्दातुमिच्छा नास्तीत्यतोऽदित्साप्रत्याख्यानम्। (सूत्रकृ. वृ. २, ४, १७६)

देय द्रव्य और सत्पात्र के होने पर भी दाता की

देने की इच्छा के विना जो परित्याग किया जाता है, इसका नाम अदित्साप्रत्याख्यान है।

अदीक्षाब्रह्मचारी — १. अदीक्षाब्रह्मचारिणो वेषमन्तरेणाभ्यस्तागमा गृहधर्मनिरता भवन्ति। (चा. सा. पृ. २०; सा. ध. स्वो. टी. ७–१९)। २. वेषं विना समभ्यस्तसिद्धान्ता गृहधर्मिणः। ये ते जिनागमे प्रोक्ता अदीक्षाब्रह्मचारिणः॥ (धर्म. श्रा. ९–१७)।

१ ब्रह्मचारी का वेष धारण किये विना ही गुरु के समीप आगम का अभ्यास कर तत्पश्चात् गृहस्थाश्रम के स्वीकार करने वालों को अदीक्षाब्रह्मचारी कहते हैं।

अदृष्टदोष—१. अदृष्टम् आचार्यादीनां दर्शनं पृथक् त्यक्त्वा भूप्रदेशं शरीरं चाप्रतिलेख्याऽतद्गतमनाः पृष्ठदेशतो वा भूत्वा यो वन्दनादिकं करोति तस्यादृष्टदोषः। (मूला. वृ. ७–१०९)। २. अदृष्टं गुरुदृग्मार्गत्यागो वाऽप्रतिलेखनम्। (अन. ध. ८, १०८)।

१ आचार्य आदि का दर्शन न करके अन्यमनस्क होते हुए अथवा पृष्ठ भागसे शरीर और भूमि के शुद्ध किये विना ही वन्दना करने को अदृष्टदोष कहते हैं। अथवा उनके पीछे स्थित होकर वन्दनादि करने को अदृष्ट दोष कहा जाता है।

अदेश-कालप्रलापी —कज्जविवत्तिं दट्ठुं भणाइ पुव्विं मए उ विण्णायं। एवमिदं तु भविस्सइ अदेशकालप्पलावी उ॥ (बृहत्क. ७५४)।

कार्य के विनाश को देख कर जो यह कहता है कि यह तो मैंने पहले ही जान लिया था कि भविष्य में यह इस प्रकार होगा। जैसे—किसी साधु ने पात्र का लेपन किया, तत्पश्चात् सुखाते हुए वह प्रमादवश फूट गया, यह देखकर कोई अपने चातुर्य को प्रगट करता हुआ कहता है कि जब इसका संस्कार करना प्रारम्भ किया गया था तभी मैंने जान लिया था कि यह सिद्ध होकर भी फूट जावेगा। इस प्रकार जो अवसर को न देखकर कहता है वह अदेश-कालप्रलापी है।

अद्धाकाल—चन्द्र - सूर्यादिक्रियाविशिष्टोऽर्धतृतीय-द्वीप-समुद्रान्तर्वर्त्यद्धाकालः समयादिलक्षणः। (आव. हरि. व मलय. वृ. नि. ६६०)।

चन्द्र-सूर्य आदि की क्रिया से परिलक्षित होकर जो समयादिरूप काल अढ़ाई द्वीप में प्रवर्तमान है वह अद्धाकाल कहलाता है।

अद्धाद्धामिश्रिता (अद्धाद्धामीसिया)—१. तथा दिवसस्य रात्रेर्वा एकदेशोऽद्धाद्धा, सा मिश्रिता यया सा अद्धाद्धामिश्रिता। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १-१६५)। २. रयणीए दिवसस्स च देसो देसेण मीसियो जत्थ। भन्नइ सच्चामोसा अद्धाद्धामीसिया एसा। (भाषार. ६७); रजन्या दिवसस्य वा देशः प्रथमप्रहरादिलक्षणो देशेन द्वितीयप्रहरादिलक्षणेन यत्र मिश्रितो भण्यते एसा अद्धाद्धामिश्रिता सत्यामृषा। (भाषार. स्वो. टी. ६७)।

दिन या रात्रि के एक देश का नाम अद्धाद्धा है, उससे मिश्रित भाषा को अद्धाद्धामिश्रिता भाषा कहते हैं। जैसे—कोई किसी को शीघ्र तैयार हो जानेके विचार से प्रथम पौरुषी (प्रहर—पाद प्रमाण छाया) के होते हुए यह कहता है कि चल मध्याह्न (दोपहर) हो गया।

अद्धानशन—अद्धाशब्दः कालसामान्यवचनश्चतुर्थादिषण्मासपर्यन्तो गृह्यते। तत्र यदनशनं तदद्धानशनम्। (भ. आ. विजयो. २०९)। २. अद्धाशब्दश्चतुर्थादिषण्मासपर्यन्तो गृह्यते, तत्राहारत्यागोऽद्धानशनं कालसंख्योपवास इत्यर्थः। (भ. आ. मूला. टी. २०९)

अद्धा शब्द कालसामान्य का वाचक है, उससे यहां चतुर्थ (एक दिन) से लेकर छह मास तक का काल लिया गया है। इस काल के भीतर जो आहार का परित्याग किया जाता है उसे अद्धानशन कहते हैं।

अद्धानिषेकस्थितिप्राप्तक (अद्धाणिसेगट्ठिदिपत्तय) —जं कम्मं जिस्से ट्ठिदीए णिसित्तमणोकड्डिदमणुकड्डिदं च होदूण तिस्से चेव ट्ठिदीए उदए दिस्सदि तमद्धाणिसेगट्ठिदिपत्तयं णाम। (धव. पु. १०, पृ.११३)।

जो कर्म जिस स्थिति में निक्षिप्त है वह अपकर्षण व उत्कर्षण से रहित होकर उसी स्थिति में जब उदय में दिखता है तब उसे अद्धानिषेकस्थिति-प्राप्तक कहा जाता है।

अद्धापल्य (अद्धारपल्ल)—१. उद्धाररोमरासिं छेत्तूणमसंखवाससमयसमं॥ पुव्वं व विरचिदेणं तदियं अद्धारपल्लणिप्पत्ती। (ति.प. १, १२८-२९)।

२. उद्धारपल्यरोमच्छेदैर्वर्षशतसमयमात्रच्छिन्नैः पूर्णमद्धापल्यम्। (स. सि. ३-३८)। ३. असंख्यवर्षकोटीनां समयैः रोमखण्डितैः। उद्धारपल्यमद्धाख्यं स्यात् कालोऽद्धाभिधीयते। (ह. पु. ७-५३)।

२ उद्धारपल्य के प्रत्येक रोमखण्ड को सौ वर्षों के समयों से गुणित करके उनसे परिपूर्ण गड्ढे को अद्धापल्य कहते हैं।

अद्धापल्योपम काल—१. ततः (अद्धापल्यतः) समये समये एकैकस्मिन् रोमच्छेदेऽपकृष्यमाणे यावता कालेन तद्रिक्तं भवति तावान् कालोऽद्धापल्योपमाख्यः। (स. सि. ३-३८; त. वा. ३, ३८, ७)। २. अद्धा इति कालः, सो य परिमाणतो वाससयं वालग्गाण खण्डाण वा समुद्धरणतो अद्धापलितोवमं भण्णति। अहवा अद्धा इति आउद्धा, सा इमातो णेरइयाण आणिज्जति अतो अद्धापलितोवमं। (अनु. चू. पृ. ५७)। ३. अद्ध त्ति कालाख्या, ततश्च वालाग्राणां तत्खण्डानां च वर्षशतोद्धरणादद्धापल्यस्तेनोपमा यस्मिन्, अथवा अद्धा आयुःकालः, सोऽनेन नारकादीनामानीयत इत्यद्धापल्योपमम्। (अनु. हरि. वृ. पृ. ८४)। ४. अद्धा कालः, स च प्रस्तावाद्वालाग्राणां तत्खण्डानां वोद्धरणे प्रत्येकं वर्षशतलक्षणस्तत्प्रधानं पल्योपममद्धापल्योपम्। (संग्रहणी. वृ. ४; शतक. दे. स्वो. टी. ८५)। ५. तदनन्तरं समये समये एकैकं रोमखण्डं निष्कास्यते। यावत्कालेन सा महाखनिः रिक्ता संजायते तावत्कालः अद्धापल्योपमसंज्ञः समुच्यते। (त. वृ. श्रुत. ३-३८)।

अद्धापल्य में से एक एक समय में एक एक रोमखंड को निकालते हुए समस्त रोमखण्डों के निकालने में जितना काल लगे, उतने काल का नाम अद्धापल्योपम है।

अद्धाप्रत्याख्यान (अद्धापच्चक्खाण) — अद्धा कालो तस्स य पमाणमद्धं तु जं भवे तमिह। अद्धापच्चक्खाणं दसमं तं पुण इमं भणियं॥ (प्रव. सारो. गा. २०१)।

अद्धा नाम काल का है। उसके—मुहूर्त व दिन आदि के—प्रमाण से किये जाने वाले त्याग को अद्धाप्रत्याख्यान कहते हैं।

अद्धामिश्रिता—१. अद्धा कालः, स चेह प्रस्तावाद्दिवसो रात्रिर्वा परिगृह्यते, स मिश्रितो यया साऽद्धामिश्रिता। यथा—कश्चित् कंचन त्वरयन् दिवसे वर्तमान एवं वदति उत्तिष्ठ रात्रिर्यातेति, रात्रौ वा वर्तमानायामुत्तिष्ठोद्गतः सूर्य इति। (प्रज्ञापना मलय. वृ. ११-१६५, पृ. २५६)।

दिन और रात्रि रूप काल का मिश्रण कर जो भाषा बोली जाती है उसे अद्धामिश्रिता कहते हैं। जैसे—दिन के रहते हुए यह कहना कि चलो उठो रात हो गई, अथवा रात्रि के रहते हुए भी यह कहना कि उठ जाओ सूर्य निकल आया है।

अद्धासमय—अद्धेति कालस्याख्या, अद्धा चासौ समयश्चाद्धासमयः। अथवा अद्धायाः समयो निर्विभागो भागोऽद्धासमयः। अयं चैक एव वर्तमानः सन्, नातीतानागताः; तेषां यथाक्रमं विनष्टानुत्पन्नत्वात्। (जीवाजी. मलय. वृ. ४, पृ.६)।

काल को अथवा काल के अविभागी अंश को अद्धासमय कहते हैं।

अद्धासागरोपम—एषामद्धापल्यानां दश कोटीकोटयः एकमद्धासागरोपमम्। (स. सि. ३-३८; त. वा. ३, ३८, ७; त. सुखबो. वृ. ३-३८; त. वृ. श्रुत. ३-३८)।

दश कोडाकोडी अद्धापल्यों प्रमाण काल का नाम एक अद्धासागरोपम है।

अद्धास्थान—अद्धट्ठाणं णाम समयावलिय-खण-लव-मुहुत्तादिकालवियप्पा। (जयध. पत्र ७७३)।

समय, आवली, क्षण, लव और मुहूर्त आदि रूप जो काल के विकल्प हैं वे सब अद्धास्थान कहलाते हैं।

अद्भुत रस (अब्भुअरस)—१. विम्हयकरो अपुव्वो अनुभुअपुव्वो य जो रसो होइ। हरिस-विसाउप्पत्ती-लक्खणओ अब्भुओ नाम॥ (अनु. गा. ६८)। २. विस्मयकरोऽपूर्वो वा तत्प्रथमसमयोत्पद्यमानो भूतपूर्वो वा पुनरुत्पन्ने यो रसो भवति स हर्ष-विषादोत्पत्तिलक्षणस्तद्बीजत्वाद् अद्भुतनाम। (अनु. हरि. वृ. गाथा ६८, पृ. ६६)। ३. श्रुतं शिल्पं त्याग-तपःशौर्यकर्मादि वा सकलभुवनातिशायि किमप्यपूर्वं वस्त्वद्भुतमुच्यते, तद्दर्शन-श्रवणादिभ्यो जातो रसोऽप्युपचाराद्विस्मयरूपोऽद्भुतः। (अनु. मल. हेम. वृ. गा. ६३, पृ. १३५)।

१ अपूर्व अथवा पूर्व में अनुभूत भी जो हर्ष-विषाद की उत्पत्तिस्वरूप आश्चर्यजनक रस होता है उसका नाम अद्भुतरस है।

अद्वेष—अद्वेषः अप्रीतिपरिहारः। (षोडशक वृ. १६-१३)।
तत्त्वविषयक अप्रीति (विद्वेष) के दूर करने का नाम अद्वेष है।

अधन—चलितवृत्तोऽधनः। (प्रश्नो. २१)।
जो चारित्र से भ्रष्ट है उसका नाम अधन है।

अधम उपवास—××× अनेकभक्तः सोऽधमः ×××॥ (अन. ध. ७-१५); तथा भवत्यधमः स उपवासः। कीदृशः? धारणे पारणे चैकभक्तरहितः साम्बुरित्येव। (अन. ध. स्वो. टी. ७-१५)।
जिस उपवास में धारणा और पारणा के दिन एकाशन न किया जाय और उपवास के दिन पानी पिया जाय, उसे अधम उपवास कहते हैं।

अधम (जघन्य) पात्र—१. अविरयसम्माइट्ठी जहण्णपत्तं मुणेयव्वं॥ (वसु. श्रा. २२२)। २. यतिः स्यादुत्तमं पात्रं मध्यमं श्रावकोऽधमम्। सुदृष्टिस्तद्विशिष्टत्वं विशिष्टगुणयोगतः। (सा. ध. ५-४४)
अविरतसम्यग्दृष्टि जीव को अधम या जघन्य पात्र कहते हैं।

अधर्म—१. यदीयप्रत्यनीकानि (मिथ्यादृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि) भवन्ति भवपद्धतिः॥ (रत्नक. १-३)। २. सयलदुक्खकारणं अधम्मो। (जयध. पु. १, पृ. ३७०)। ३. प्रत्यवायहेतुरधर्मः। (वृ. सर्वज्ञ. सि. ७७)। ४. अधर्मस्तु तद्विपरीतः [मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रात्मकः, यतो नाभ्युदय-निश्रेयससिद्धिः]। गद्यचि. ११, पृ. २४३)। ५. अधर्मः पुनरेतद्विपरीतफलः। (नीतिवा. १-२)। ६. अहिंसा परमो धर्मः स्यादधर्मस्तदत्ययात्। (लाटीसं. २-१); अधर्मस्तु कुदेवानां यावानाराधनोद्यमः। तैः प्रणीतेषु धर्मेषु चेष्टावाक्कायचेतसाम्॥ (लाटीसं. ४-१२२; पंचाध्या. २-६००)। ७. मिथ्यात्वाविरति-प्रमाद-कषाय-योगरूपः कर्मबन्धकारणम् आत्मपरिणामोऽधर्मः। (अभि. रा. १, पृ. ५६६)।
४ जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि न हो, ऐसे कर्मबन्ध के कारणभूत मिथ्यादर्शन, ज्ञान व चारित्र रूप आत्मपरिणाम को अधर्म कहते हैं।

अधर्म द्रव्य—१. जह हवदि धम्मदव्वं तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं। ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव। (पञ्चा. का. ८६)। २. गमणणिमित्तं धम्ममधम्मं ठिदि जीव-पुग्गलाणं च। (नि. सा. ३०)। ३. गति-स्थित्युपग्रहौ धर्माधर्मयोरुपकारः। (त. सू. ५-१७)। ४. स्थितिपरिणामिनां जीव-पुद्गलानां स्थित्युपग्रहे कर्तव्येऽधर्मास्तिकायः साधारणाश्रयः। (स. सि. ५-१७)। ५. अधम्मत्थिकाओ ठिइलक्खणो। (दशवै. चू. अ. ४, पृ. १४२)। ६. तद्विपरीतोऽधर्मः॥ २०॥ तस्य (धर्मद्रव्यस्य) विपरीतलक्षणः (स्वयं स्थितिपरिणामिनां जीव-पुद्गलानां यः साचिव्यं दधाति सः) अधर्म इत्याम्नायते। (त. वा. ५, १, २०)। ७. एवं चेव (धम्मदव्वमिव ववगदपंचवण्णं ववगदपंचरसं ववगददुगंधं ववगदअट्ठपासं असंखेज्जपदेसियं लोगपमाणं) अधम्मदव्वं पि। णवरि जीव-पोग्गलाणं एदं ठिदिहेदू। (धव. पु. ३, पृ. ३); अधम्मदव्वस्स जीव-पोग्गलाणमवट्ठाणस्स णिमित्तभावेण परिणामो सब्भावकिरिया। (धव. पु. १३. पृ. ४३); तेसिं (जीव-पोग्गलाणं) अवट्ठाणस्स णिमित्तकारणलक्खणमधम्मदव्वं। (धव. पु. १५, पृ. ३३)। ८. अहम्मो ठाणलक्खणो। (उत्तरा. २८-८)। ९. स्थानक्रियासमेतानां महीवाधर्म उच्यते। (वरांग. २६, २४)। १०. सकृत्सकलस्थितिपरिणामिनामसान्निध्यधानाद् गतिपर्यायादधर्मः। (त. श्लो. ५-१)। ११. यः स्थितिपरिणामपरिणतयोर्जीव-पुद्गलयोरेव स्थित्युपष्टम्भहेतुर्विवक्षया क्षितिरिव मत्स्यस्य, स खल्वसंख्येयप्रदेशात्मकोऽमूर्त एवाधर्मास्तिकाय इति। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ५८)। १२. जीव-पुद्गलानां स्वाभाविके क्रियावत्त्वे तत्परिणतानां तत्स्वभावाधारणादधर्मः। (अनु. हरि. वृ. पृ. ४१)। १३. (सर्वेषामेव जीव-पुद्गलानां) स्थितिपरिणामभाजां चाधर्मम्। (त. भा. हरि. वृ. ५-१७)। १४. अधर्मः स्थित्युपग्रहः। (म. पु. २४, ३३)। १५. स्थित्या परिणतानां तु सचिवत्वं दधाति यः। तमधर्मं जिनाः प्राहुर्निरावरणदर्शनाः॥ जीवानां पुद्गलानां च कर्तव्ये स्थित्युपग्रहे। साधारणाश्रयोऽधर्मः पृथिवीव गवां स्थितौ॥ (त. सा. ३, ३६-३७)। १६. तं (गतिहेतुत्वसंज्ञितं गुणं) न धारयतीत्यधर्मः। अथवा स्थितेरुदासीनहेतुत्वादधर्मः। (भ. आ. विजयो. टी. ३६)। १७. ठिदिकारणं अधम्मो विस्सामट्ठाणं च होइ जह छाया। पहियाणं रुक्खस्स य गच्छंतं णेव सो धरई॥ (भावसं. ३०७)। १८. ठाणजुदाण अधम्मो पुग्गलजीवाण ठाणसहयारी।

छाया जह पहियाणां गच्छंता णेव सो धरई ॥ (द्रव्यसं. १८)। १९. द्रव्याणां पुद्गलादीनामधर्मः स्थितिकारणम्। लोकेऽभिव्यापकत्वादिधर्मोऽधर्मोऽपि धर्मवत् ॥ (चन्द्र. च. १८–७१)। २०. स्वहेतुस्थितिमज्जीव-पुद्गलस्थितिकारणम्। अधर्मः × ×॥ (आ. सा. ३–२१)। २१. जीव-पुद्गलयोः स्थितिहेतुलक्षणोऽधर्मः। (पंचा. का. जय. वृ. ३)। २२. दत्ते स्थितिं प्रपन्नानां जीवादीनामयं स्थितिम्। अधर्मः सहकारित्वाद्यथा छायाध्ववर्तिनाम् ॥ (ज्ञाना. ६, ४३)। २३. स्वकीयोपादानकारणेन स्वयमेव तिष्ठतां जीवपुद्गलानामधर्मद्रव्यं स्थितेः सहकारिकारणम्, लोकव्यवहारेण तु छायावद्वा पृथिवीवद्वेति। (वृ. द्रव्यसं. १८)। २४. स्वभाव-विभावस्थितिपरिणतानां तेषां (जीव-पुद्गलानां) स्थितिहेतुरधर्मः। (नि.सा.टी.९)। २५. × × अहम्मो ठाणलक्खणो। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. ५, पृ. २२)। २६. अधर्मास्तिकायः स्थानं स्थितिस्तल्लक्षणः। (उत्तरा. वृ. २८, ८)। २७. × × × थिरसंठाणो अहम्मो य। (नवत. ९)। २८. जीवानां पुद्गलानां च स्थितिपरिणामपरिणतानां तत्परिणामोपष्टम्भकोऽमूर्तोऽसंख्यातप्रदेशात्मकोऽधर्मास्तिकायः। (जीवाजी. मलय. वृ. ४)। २९. स्थितिहेतुरधर्मः स्यात् परिणामी तयोः स्थितेः। सर्वसाधारणोऽधर्मः × × ×॥ (द्रव्यानु. १०–५)। ३०. जीवानां पुद्गलानां च प्रपन्नानां स्वयं स्थितिम्। अधर्मः सहकार्येषु × × ×। (योगशा. स्वो. विव. १–१६, पृ. ११३)। ३१. तयोरेव (जीव-पुद्गलयोः)साधारण्येन स्थितिहेतुरधर्मः। (भ. आ. मूला. ३६)। ३२. स्थानक्रियावतोर्जीव-पुद्गलयोस्तत्क्रियासाधनभूतमधर्मद्रव्यम्। (गो. जी. जी. प्र. ६०५)। ३३. अधर्मः स्थितिदानाय हेतुर्भवति तद्द्वयोः। (भावसं. वाम. ६६४)। ३४. स्थानयुक्तानां स्थितेः सहकारिकारणमधर्मः। (आरा. सा. टी. ४)। ३५. स्थितिपरिणामपरिणतानां स्थित्युपष्टम्भकोऽधर्मास्तिकायो मत्स्यादीनामिव मेदिनी, विवक्षया जलं वा। (स्थाना. अभय. वृ. १–८); अधर्मास्तिकायः स्थित्युपष्टम्भगुणः। (स्थाना. अभय. २–५८)। ३६. तिष्ठद्भाववतोश्च पुद्गल-चितोश्चौदास्यभावेन यद्धेतुत्वं पथिकस्य मार्गमटतश्छाया यथावस्थितेः। धर्मोऽधर्मसमाह्वयस्य गतमोहात्मप्रदिष्टः सदा शुद्धोऽयं सकृदेव शश्वदनयोः स्थित्यात्मशक्तावपि ॥ (अध्या. मा. ३-३१)।३७.× × ×अधर्मः स्थित्युपग्रहः ॥(जम्बू. च. ३–३४)। ३८. तद्विपरीतलक्षणः (स्वयं स्थितिक्रियापरिणामिनां जीव-पुद्गलानां साचिव्यं यो ददाति सः)। (त. सुखबो. वृ. ५–१)

४ जो स्वयं ठहरते हुए जीव और पुद्गल द्रव्यों के ठहरने में सहायक होता है उसे अधर्म द्रव्य कहते हैं।

अधर्मास्तिकायद्रव्यत्व—क्रम-यौगपद्यवृत्तिस्वपर्यायव्याप्यधर्मास्तिकायत्वोपहितं सत्त्वमधर्मास्तिकायद्रव्यत्वम्। (स्या. र. वृ. पृ. १०)।

अधर्मास्तिकाय की क्रम से और युगपद् होने वाली अपनी पर्यायों से समन्वित द्रव्यता को अधर्मास्तिकायद्रव्यत्व कहते हैं।

अधर्मास्तिकायानुभाग—तेसि-(जीव-पोग्गलाण-) मवट्ठाणहेदुत्तं अधम्मत्थिकायाणुभागो। (धव. पु. १३, पृ. ३४९)।

जीव और पुद्गलों के ठहरने में सहायक होना, यह अधर्मास्तिकाय का अनुभाग (शक्ति) है।

अधःकर्म(आधाकम्म, अहेकम्म)—देखो आधाकर्म। १. जं तं आधाकम्मं णाम ॥ तं ओद्दावण-विद्दावण-आरंभकदणिप्फण्णं तं सव्वं आधाकम्मं णाम ॥ (षट्खं. ५, ४, २१–२२–धव.पु. १३, पृ. ४६)। २. जं दव्वं उदगाइसु छूढमहे वयइ जं च भारेण। सीईए रज्जुएण व ओयरणं दव्वऽहेकम्मं। संजमठाणाणं कंडगाण लेसा-ठिईविसेसाणं। भावं अहे करेई तम्हा तं भावऽहेकम्मं ॥ (पिं. नि. ९८–९९)। ३. विशुद्धसंयमस्थानेभ्यः प्रतिपत्याऽऽत्मानमविशुद्धसंयमस्थानेषु यदधोऽधः करोति तदधःकर्म। (बृहत्क. भा. ४)। ४. संयमस्थानानां कण्डकानां संख्यातीतसंयमस्थानसमुदायरूपाणाम्, उपलक्षणमेतत् षट्स्थानकानां संयमश्रेणेश्च, तथा लेश्यानां तथा सातावेदनीयादिशुभप्रकृतीनां सम्बन्धिनां स्थितिविशेषाणां च सम्बन्धिषु विशुद्धेषु विशुद्धतरेषु स्थानेषु वर्तमानं सन्तं निजं भावम्—अध्यवसायम्—यस्मादाधाकर्म भुञ्जानः साधुरधः करोति—हीनेषु हीनतरेषु स्थानेषु विधत्ते—तस्मादाधाकर्म भावादधःकर्म। (पिं. नि. मलय. वृ. ९९)। ५. साध्वर्थं यत् सचित्तमचित्तीक्रियते अचित्तं वा यत् पच्यते तदाधाकर्म। (आचा. शी. वृ. २, १, २६६)।

६. एतैः (आरम्भोपद्रव-विद्रावण-परितापनैः) चतुर्भिर्दोषैर्निष्पन्नमन्नमतिनिन्दितमधःकर्म। (भा. प्रा. टी. ६६)

१ उपद्रावण, विद्रावण, परितापन और आरम्भ; इन कार्यों से उत्पन्न—उनके आश्रयभूत—औदारिक शरीर को अधःकर्म कहा जाता है। २ अधःकर्म दो प्रकारका है—द्रव्य अधःकर्म और भाव अधःकर्म। पानी आदि में छोड़ी गई वस्तु (पाषाण आदि) स्वभावत. अपने भार से नीचे जाती है, अथवा नसैनी या रस्सी के सहारे जो नीचे उतरते हैं; यह द्रव्य अधःकर्म है। असंख्यात संयमस्थानों के समुदाय रूप संयमकाण्डक, छह स्थानकों की संयमश्रेणि, लेश्या और सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियों सम्बन्धी स्थितिविशेष; इनसे सम्बन्धित विशुद्ध व विशुद्धतर स्थानों में वर्तमान साधु चूंकि आधाकर्म का उपभोग करता हुआ अपने भाव को—अध्यवसाय को—नीचे करता है—हीन से हीनतर स्थानों में करता है, अतएव उस आधाकर्म को अधःकर्म कहा जाता है।

अधःप्रवृत्तकरण (अधापवत्तकरण)—१. एदासि विसोधीणमधापवत्तलक्खणाणमधापवत्तकरणमिदि सण्णा। कुदो? उवरिमपरिणामा अध हेट्ठा हेट्ठिमपरिणामेसु पवत्तंति त्ति अधापवत्तसण्णा। (धव. पु. ६, २१७)। २. जम्हा हेट्ठिमभावा उवरिमभावेहिं सरिसगा हुंति। तम्हा पढमं करणं अधापवत्तो त्ति णिद्दिट्ठं॥ (गो. जी. ४८; ल. सा. ३५)। ३. अथ प्रागप्रवृत्ताः कदाचिदीदृशाः करणाः परिणामा यत्र तदथाप्रवृत्तकरणम्। अधस्थैरुपरिस्थाः समानाः प्रवृत्ताः करणा यत्र तदधःप्रवृत्तकरणमिति चान्वर्थसंज्ञा॥ (पंचसं. अमित. १, पृ. ३८)। ४. अधः अधस्तनसमये वृत्ताः प्रवृत्ता इव करणाः उपरितनसमयवर्तिविशुद्धिपरिणामा यस्मिन् सन्ति स अधःप्रवृत्तकरणः। (गो. जी. म. प्र. टी. २४८)।

२ अधःप्रवृत्तकरण परिणाम वे कहलाते हैं जो अधस्तन समयवर्ती परिणाम उपरितन समयवर्ती परिणामों के साथ कदाचित् समानता रखते हैं। उनका दूसरा नाम अथाप्रवृत्तकरण भी है। ये परिणाम अप्रमत्तसंयत गुणस्थान में पाये जाते हैं।

अधःप्रवृत्तकरणविशुद्धि—तत्थ अधापवत्तकरणसण्णिदविसोहीणं लक्खणं उच्चदे। तं जधा—अंतोमुहुत्तमेत्तसमयपंतिमुड्ढायारेण ठएदूण ट्ठविय तेसिं समयाणं पाओग्गपरिणामपरूवणं कस्सामो—पढमसमयपाओग्गपरिणामा असंखेज्जा लोगा, अधापवत्तकरणविदियसमयपाओग्गा वि परिणामा असंखेज्जा लोगा। एवं समयं पडि अधापवत्तपरिणामाणं पमाणपरूवणं कादव्वं जाव अधापवत्तकरणद्धाए चरिमसमओ त्ति। पढमसमयपरिणामेहिंतो विदियसमयपाओग्गपरिणामा विसेसाहिया। विसेसो पुण अंतोमुहुत्तपडिभागिओ। विदियसमयपरिणामेहिंतो तदियसमयपरिणामा विसेसाहिया। एवं णेयव्वं जाव अधापवत्तकरणद्धाए चरिमसमओ त्ति। (धव. पु. ६, पृ. २१४–२१५)

प्रथम समय के योग्य अधःप्रवृत्त-परिणामों की अपेक्षा द्वितीय समय के योग्य परिणाम अनन्तगुणे विशुद्ध होते हैं, इनकी अपेक्षा तृतीय समय के योग्य परिणाम अनन्तगुणे विशुद्ध होते हैं, इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के समयों प्रमाण उन परिणामों में समयोत्तरक्रम से अनन्तगुणी विशुद्धि समझना चाहिए।

अधःप्रवृत्तसंक्रम (अहापवत्तसंकम)—१. वंधे अहापवित्तो परित्तिओ वा अवंधे वि। (कर्मप्र. संक्रम. गा. ६६, पृ. १८४)। २. अहापवत्तसंकमो णाम संसारत्थाणं जीवाणं वंधणजोग्गाणं कम्माणं वज्झमाणाणं अवज्झमाणाणं वा थोवातो थोवं वहुगाओ वहुगं वज्झमाणीसु य संकमणं। (कर्मप्र. चू. संक्रम. गा. ६६, पृ. १०६)। ३. वंधपयडीणं सगबंधसंभवविसए जो पदेससंकमो सो अधापवत्तसंकमो त्ति भण्णदे। (जयध. भा. ६, पृ. १७१)। ४. ध्रुवबन्धिनीनां प्रकृतीनां वन्धे सति यथाप्रवृत्तसंक्रमः प्रवर्तते। ××× इयमत्र भावना—सर्वेषामपि संसारस्थानामसुमतां ध्रुववन्धिनीनां वन्धे, परावर्तप्रकृतीनां तु स्व-स्वभववन्धयोग्यानां वन्धेऽवन्धे वा यथाप्रवृत्तसंक्रमो भवति। (कर्मप्र. मलय. वृ. संक्रम. ६६, पृ. १८४–८५)। ५. वन्धप्रकृतीनां स्ववन्धसम्भवविषये यः प्रदेशसंक्रमस्तदधःप्रवृत्तसंक्रमणं नाम। (गो. क. जी. प्र. टी. ४१३)।

१, ४ संसारी जीवों के ध्रुवबन्धिनी प्रकृतियों का उनके बन्ध के होने पर, तथा स्व-स्व-भवबन्धयोग्य परावर्तमान प्रकृतियों का बन्ध या अबन्ध की दशा में भी जो प्रदेशसंक्रम—परप्रकृतिरूप परिणमन—

होता है, उसे यथाप्रवृत्त या अधःप्रवृत्तसंक्रम कहते हैं। ३ अपने बन्ध की सम्भावना रहने पर जो बन्धप्रकृतियों का प्रदेशसंक्रम—परप्रकृतिरूप परिणमन—होता है उसे अधःप्रवृत्तसंक्रम कहा जाता है।

अधिक (सूत्रदोष)—वर्णादिभिरभ्यधिकमधिकम् × ×, अथवा हेतूदाहरणाधिकमधिकम्। यथा—अनित्यः शब्दः, कृतकत्व-प्रयत्नानन्तरीयकत्वाभ्यां घट-पटवदित्यादि। (आव. हरि. व मलय.वृ.८८१)।

वर्णादि से अधिक होना, यह अधिक नामका सूत्र-दोष है। अथवा हेतु और उदाहरणसे अधिक होना, इसे अधिक नामका सूत्रदोष समझना चाहिए। जैसे—'शब्द अनित्य है' इस प्रतिज्ञावाक्य की पुष्टि के लिए कृतकत्व व प्रयत्नानन्तरीयत्व रूप हेतु और घट-पटादिरूप उदाहरण का अधिक प्रयोग।

अधिकमास—१. तन्मध्ये (युगमध्ये)ऽन्ते चाधिक-मासौ। (त. भा. ४–१५)। २. तेषां पञ्चानां संवत्सराणां मध्येऽभिवर्धिताख्येऽधिमासकः, एतदन्ते चाभिवर्धित एव। (त. भा. हरि. वृ. ४–१५)। ३. तेषां पंचानां संवत्सराणां मध्येऽभिवर्धिताख्ये संवत्सरेऽधिकमासकः पतति, अन्ते च अभिवर्धित एव। (त. भा. सिद्ध वृ. ४–१५)। ४. इगिमासे दिणवड्ढी वस्से बारह दुवस्सगे सदले। अहिओ मासो पंचयवासप्पजुगे दुमासहिया। (त्रि. सा. ४१०)। ५. एकस्मिन् मासे दिनैकवृद्धिः, एकस्मिन् वर्षे द्वादशदिनवृद्धिः,दलसहिते द्विवर्षे एकमासोऽधिकः, पञ्चवर्षात्मके युगे द्वौ मासौ अधिकौ × × ×। (त्रि. सा. टी. ४१०)।

४ एक मास में एक दिन की वृद्धि होती है। इस प्रकार से एक वर्ष में १२ दिन की व अढ़ाई वर्षों में एक मास की वृद्धि होती है। यह एक मास अधिक मास कहलाता है। पञ्चवर्षात्मक युग के भीतर दो मास अधिक होते हैं।

अधिकरण— अधिक्रियन्तेऽस्मिन्नर्था इत्यधिकर-णम्॥ अर्थाः प्रयोजनानि पुरुषाणां यत्राधिक्रि-यन्ते प्रस्तूयन्ते तदधिकरणम्, द्रव्यमित्यर्थः। (त. वा. ६, ६, ५)। २. अधिकरणं द्विविधम्—द्रव्याधि-करणं भावाधिकरणं च। तत्र द्रव्याधिकरणं छेदन-भेदनादि, शस्त्रं च दशविधम्। भावाधिकरणमष्टो-त्तरशतविधम्। एतदुभयं जीवाधिकरणमजीवाधि-करणं च। (त. भा. ६–८)।

जहाँ पुरुषों के प्रयोजन अधिकृत अर्थात् प्रस्तुत होते हैं वह अधिकरण—द्रव्य—कहलाता है, यह अधि-करण का निरुक्त लक्षण है।

अधिकरणक्रिया—देखो आधिकरणिकी क्रिया। १. हिंसोपकरणादानं तथाधिकरणक्रिया॥ (त. श्लो. ६, ५, ६)। २. अधिक्रियते येनात्मा दुर्गति-प्रस्थानं प्रति तदधिकरणं परोपघातिकूट-गलपाशादि-द्रव्यजातम्, तद्विषयाऽधिकरणक्रिया। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–६)। ३. हिंसोपकरणाधिकृतिरधिकरणक्रिया। (त. सुखबो. वृ. ६–५)। ४. अधिक्रियते स्थाप्यते नरकादिष्वात्माऽनेनेत्यधिकरणमनुष्ठानविशेषो बाह्यं वस्तु वा चक्र-खड्गादि, तत्र भवा तेन वा निर्वृत्ता आधिकरणिकी। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २२–२७९); आधिकरणिकी खड्गादिप्रगुणीकरणम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २२–२८१)।

१ हिंसा के उपकरणों को ग्रहण करना अधिकरण-क्रिया या आधिकरणिकी क्रिया कहलाती है।

अधिकरणोदीरक (अहिगरणोदीरण)–अधिकर-णोदीरकम्— खामिय-उवसमियाइं अहिगरणाइं पुणो उदीरेइ। जो कोइ तस्स वयणं अहिगरणोदीरणं [गं]भणिअं। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. ५, पृ. १९)।

जो क्षमित और उपशान्त अधिकरणों को पुनः उदीर्ण करता है उसके वचन को अधिकरण-उदीरक कहा जाता है।

अधिक-हीन-मान-तुला—मानं प्रस्थादि हस्तादि च, तुला उन्मानम्, मानं च तुला च मान-तुलम्, अधिकं च हीनं चाधिक-हीनम्, तच्च तन्मान-तुलं च (अधिक-हीनमान-तुलम्)। अधिकमाने हीनमानम्, अधिकतुला हीनतुला चेत्यर्थः। तत्र न्यूनेन मानादि-ना ऽन्यस्मै ददाति, अधिकेनात्मनो गृह्णातीत्येव-मादिकूटप्रयोगो हीनाधिकमानोन्मानमित्यर्थः। (सा. ध. स्वो. टीका ४–५०)।

नाप-तौल के पात्रों और बांटों को हीनाधिक रखना और अधिक से लेना तथा हीन से देना, यह अचौ-र्याणुव्रत का अधिक-हीन-मान-तुला नामक अति-चार है।

अधि (अभि) गतचारित्रार्य — चारित्रमोहस्योप-शमात् क्षयाच्च बाह्योपदेशानपेक्षा आत्मप्रसादादेव चारित्रपरिणामास्कन्दिनः उपशान्तकषायाः क्षीण-

कषायाश्चाऽधिगतचारित्रार्याः।(त. वा. ३, ३६,२)। **चारित्रमोह के उपशम अथवा क्षय से जो उपशान्तकषाय अथवा क्षीणकषाय जीव बाह्य उपदेश की अपेक्षा न कर आत्मनैर्मल्य से ही चारित्ररूप परिणाम को प्राप्त होते हैं उन्हें अधिगतचारित्रार्य कहा जाता है।**

अधिगम—१. शिक्षागमोपदेशश्रवणान्येकार्थकान्यधिगमस्य। (प्रशम. प्र. २२३)। २. अधिगमो णाणपमाणमिदि एगट्ठो। (धव. पु. ३, पृ. ३९)। ३. अधिगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते पदार्था येन सोऽधिगमः—ज्ञानमेवोच्यते। (आव. हरि. वृ. नि. ११५४)। ४. अधिगच्छत्यनेन तत्त्वार्थानधिगमयत्यनेनेति वाऽधिगमः। (त. श्लो. वा. १-१)। ५. अधिगमो हि स्वार्थाकारव्यवसायः। (अष्टस. २, ३६)। ६. निश्चीयते पदार्थानां लक्षणं नयभेदतः। सोऽधिगमोऽभिमन्तव्यः सम्यग्ज्ञानविलोचनैः॥ (भावसं. वाम. ३३६)। ७. जीवाद्यर्थस्वरूपावधारणमधिगमः। (त. सुखबो. वृ. १-३)।

३ जिसके द्वारा पदार्थ जाने जाते हैं, ऐसे ज्ञान को अधिगम कहते हैं। ४ जिसके द्वारा तत्त्वार्थों को स्वयं जानता है, अथवा जिसके आश्रय से उनका बोध दूसरों को कराया जाता है, उसे अधिगम कहते हैं।

अधिगम या अधिगमज सम्यग्दर्शन—१. यत्परोपदेशपूर्वकं जीवाद्यधिगमनिमित्तं स्यात्तदुत्तरम्। (स. सि. १-३; त. वा. १-३)। २. अथवा, यत् सम्यग्दर्शनं विध्युपायज्ञमनुष्यसम्पर्काज्जीवादिपदार्थतत्त्वाधिगमापेक्षमुत्पद्यते तदधिगमसम्यग्दर्शनम्। (त. वा. १, ३, ८)। ३. अधिगमः अभिगमः आगमो निमित्तं श्रवणं शिक्षा उपदेश इत्यनर्थान्तरम्। तदेवं परोपदेशाद्यत्तत्त्वार्थश्रद्धानं भवति तदधिगमसम्यग्दर्शनमिति। (त. भा. १-३)। ४. अधिगमाज्जीवादिपदार्थपरिच्छेदलक्षणात् श्रद्धानलक्षणमधिगमसम्यक्त्वम्। (आव. हरि. वृ. नि. ११४२)। ५. परोपदेशतस्तु बाह्यनिमित्तापेक्षं कर्मोपशमादिजमेवाधिगमसम्यग्दर्शनमिति। (त. भा. हरि. वृ. १, ३)। ६. ××× अधिगमस्तेन (परोपदेशेन) कृतं तदिति निश्चयः॥ (त. श्लो. १, ३, ३)। ७. यत्पुनस्तीर्थकरादुपदेशे सति बाह्यनिमित्तमपेक्ष्योपशमादिभ्यो जायते तदधिगमसम्यग्दर्शनमिति। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-३)। ८. ××× जिनागमाभ्यासभवं द्वितीयम्॥ (धर्मप. २०-६६)। ९. गुरूपदेशमालम्ब्य सर्वेषामपि देहिनाम्। यत्तु सम्यक् श्रद्धानं तत् स्यादधिगमजं परम्॥ (योगशा. स्वो. विव. १-१७, पृ. ११८), १०. गुरूपदेशमालम्ब्य भव्यानामिह देहिनाम्। सम्यक् श्रद्धानं तु यत्तद् भवेदधिगमोद्भवम्॥ (त्रि. श. पु. च. १३-५९८)। ११. ××× तत्कृतोऽधिगमश्च सः॥ (अन. ध. २, ४८)। स तत्त्वबोधः ××× तत्कृतस्तेन परोपदेशेन जनितः। (अन. ध. स्वो. टीका २-४८)। १२. यत्पुनः परोपदेशपूर्वकं जीवाद्यर्थनिश्चयादाविर्भवति तदधिगमजम्। (त.सुखबो.वृ.१-३)। १३. यत्सम्यग्दर्शनं परोपदेशेनोत्पद्यते तदधिगमजमुच्यते। (त. वृ. श्रुत. १-३)। १४. यत्पुनश्चान्तरङ्गेऽस्मिन् सति हेतौ तथाविधे। उपदेशादिसापेक्षं स्यादधिगमसंज्ञकम्॥ लाटीसं. ३-२२)

१ परोपदेशपूर्वक जीवादि तत्त्वों के निश्चय से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, उसे अधिगम या अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अधिराज (अहिराज)—१. पंचसयरायसामी अहिराजो होदि कित्तिभरिददिसो। (ति. प. १-४५)। २. पञ्चशतनरपतीनामधिराजोऽधीश्वरो भवति लोके। (धव. पु. १, पृ. ५७ उद्धृत), ३. पंचसयरायसामी अहिराजो ×××॥ (त्रि. सा. ६८४)

पांच सौ राजाओं के स्वामी को अधिराज कहते हैं।

अधिवास—गन्धमाल्यादिभिः संस्कारविशेषः। (चैत्यवं. भा. चू. पृ. ५)

१ गन्ध व माला आदि के द्वारा किये जाने वाले संस्कारविशेष को अधिवास कहते हैं।

अधोऽति(व्यति)क्रम — १. कूपावतरणादेरधोऽतिक्रमः। (स. सि. ७-३०)। २. कूपावतरणादेरधोऽतिवृत्तिः। (त. वा. ७, ३०, ३; त. श्लो. ७-३०)। ३. कूपावतरणादिरधोऽतिक्रमः। (चा. सा. पृ. ८)। ४. अधो ग्राम-भूमिगृह-कूपादेः ××× योऽसौ भागो नियमितः प्रदेशः तस्य व्यतिक्रमः। (योगशा. स्वो. विव. ३-९७), ५. अधो ग्राम-भूमिगृह-कूपादेः व्यतिक्रमः। (सा. ध. स्वो. टीका ५-५)। ६. अवटावतरणादेरधोव्यतिक्रमः। (त. वृत्ति श्रुत. ७-३०)। ७. वापी-कूप-भूमिगृहादावधस्तात्परिमाणस्य व्यतिक्रमः, अधोदिशः परिनियमनम् अतिचारः। (कार्तिके.

३४२)। ८. अगाधभूधरावेशाद् विख्यातोऽधोऽव्यतिक्रमः। (लाटीसं. ६–११८)।

१ कूप व बावड़ी आदि में नीचे उतरने की स्वीकृत सीमा के उल्लंघन को अधोऽतिक्रम कहते हैं।

अधोदिग्व्रत—१. अधोदिक्परिमाणं अधोदिग्व्रतम्। (श्रा. प्र. टी. २८०)। २. अधोदिक् तत्सम्बन्धि तस्यां वा व्रतं अधोदिग्व्रतम् अर्वाग्दिव्रतम्, एतावती दिगध इन्द्रकूपाद्यवतरणादवगाहनीया, न परत इत्येवं भूतमिति हृदयम्। (आव. वृ. ६, पृ. ८२७)।

१ अधोदिशा सम्बन्धी कुएँ आदि में गमनागमन के परिमाण को अधोदिग्व्रत कहते हैं।

अधोलोक—१. हेट्ठिमलोयायारो वेत्तासणसण्णिहो सहावेण। (ति. प. १–१३७)। २. वेत्तासणसरिसो च्चिय अहलोगो चेव होइ नायव्वो। (पउमच. ३–१९)। ३. तत्र छव्वी नाम विस्तीर्णा पुष्पचङ्गेरी, तदाकारोऽधोलोकः। (आव. वृ. टि. मल. हेम. पृ. ६४)। ४. मंदरमूलादो हेट्ठा अधोलोगो। (धव. पु. ४, पृ. ६)।

१ पुरुषाकार लोक में नीचे का भाग, जो वेत्रासन सदृश है, उसे अधोलोक कहते हैं।

अधोव्यतिक्रम—देखो अधोऽतिक्रम।

अध्यधिदोष, अध्यवधिरोध (अज्झोवज्ज)—देखो अध्यवपूरक। १. जलतन्दुलपवखेवो दाणट्ठं संजदाण सयपयणे। अज्झोवज्झं णेयं अहवा पागं तु जाव रोहो वा॥ (मूला. ६–८)। २. तन्दुलाम्ब्वधिकक्षेपः स्वार्थं पाके यतीन् प्रति। स्यादध्यवधिरोधो वा पाकान्तं तत्तपस्विनाम्॥ (आचा. सा. ८–२४)। ३. स्याद्दोषोऽध्यधिरोधो यत् स्वपाके यतिदत्तये। प्रक्षेपस्तण्डुलादीनां रोधो वा ऽऽपाचनाद्यतेः॥ (अन. ध. ५–८)। ४. अथाध्यवधिर्नाम दोषो द्वितीय उच्यते यतीनाम्—पाके क्रियमाण आत्मन्यागते च सति तत्र पाके तन्दुला अम्बु चाधिकं क्षिप्यते सोऽध्यवधिर्दोष उच्यते। अथवा यावत्कालं पाको न भवति तावत्कालं तपस्विनां रोधः क्रियते, सोऽध्यवधिर्दोषः उत्पद्यते। (भा. प्रा. टीका ९९)। ५. अपवरकं संयतानां भवत्विति विकृतं अज्झोवज्झं। (कार्तिके. ४४९)।

१ अकस्मात् अतिथि के आ जाने पर अपने लिए पकाई जाने वाली भोज्यसामग्री में और भी जल व चावलादि के मिलाने को अध्यधिदोष कहते हैं। अथवा रसोई तैयार होने तक साधु को चर्चा आदि करके रोके रहना भी अध्यधिदोष कहलाता है।

अध्ययन (अज्झयण)—१. जेण सुहप्पज्झयणं अज्झप्पाणयणमहियमयणं वा। वोहस्स संजमस्स व मोक्खस्स व जं तमज्झयणं॥ (विशे. भा. ९६३)। २. अधिगम्मंति व अत्था अणेण अधिगं व णयणमिच्छति। अधिगं व साहु गच्छति तम्हा अज्झयणमिच्छंति॥ (अभि. रा. १, पृ. २३१)।

१ जो शुभ (निर्मल) अध्यात्म (चित्त) को उत्पन्न करता है वह अध्ययन है। अथवा जो अध्यात्मको—निर्मल चित्तवृत्ति को—लाता है उसका नाम अध्ययन है। अथवा जिसके द्वारा बोध, संयम और मोक्ष की प्राप्ति होती है उसे अध्ययन जानना चाहिए। यह अध्ययन का निरुक्त लक्षण है।

अध्यवपूरक—देखो अध्यधिदोष। १. अध्यवपूरकं स्वार्थमूलाद्ग्रहणप्रक्षेपरूपम्। (दशवै. हरि. वृ. ५, ५५)। २. यद् गृहिणा मूलारम्भे स्वार्थकृते तन्मध्ये यतिनिमित्तमधिकावतारणं सोऽध्यवपूरकः। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २०, पृ. ४९)। ३. स्वार्थमधिश्रयणादौ कृते पश्चात्तन्दुलादिप्रक्षेपणादध्यवपूरकः। (आचा. शी. वृ. २, १, २९६)। ४. स्वार्थमधिश्रयणे सति साधुसमागमश्रवणात्तदर्थं पुनर्यो धान्यादिवापः सोऽध्यवपूरकः। (योगशा. स्वो. विव. १, ३८)। ५. गृहिणः स्वार्थमग्निज्वालनाद्याद्ग्रहणदानान्ते आरम्भे कृते सति पश्चात् स्वार्थकल्पितं तन्दुलमध्ये कर्पटिकार्थं तन्दुलादीनां माणकं संकल्पितं प्रक्षिप्य राध्नोति यदा तदध्यवपूरकः। (जीतक. चू. वि. व्या. पृ. ४६)।

४ अपने लिए बनाये जाने वाले भोजन में साधु का आगमन सुन कर उनके निमित्त कुछ और अधिक अन्न के मिला देने को अध्यवपूरक कहते हैं।

अध्यवसान—१. स्व-परयोरविवेके सति जीवस्याध्यवसितिमात्रमध्यवसानम्। (समयप्रा. अमृत. वृ. २९५)। २. अध्यवसानं राग-स्नेह-भयात्मकोऽध्यवसायः। (स्थाना. अभय. वृ. ७–५६१, पृ. ३७९)। ३. अतिहर्ष-विषादाभ्यामधिकमवसानं चिन्तनमध्यवसानम्। (विशे.—अभि. रा. १, पृ. २३२); मणसंकेप्पेत्ति वा अज्झवसाणं ति वा एगट्ठा। (अभि. रा. भा. १, पृ. २३२)।

१ स्व और पर के विवेक के विना केवल जीव का निश्चय होने को अध्यवसान कहते हैं। ३ अधि—अतिशय हर्ष-विषादसे जो अधिक—अवसान चिन्तन होता है उसका नाम अध्यवसान है। यह अध्यवसान का निरुक्त लक्षण है। मन का संकल्प और अध्यवसान ये दोनों समानार्थक हैं।

अध्यात्म—१. गतमोहाधिकाराणामात्मानमधिकृत्य या। प्रवर्तते क्रिया शुद्धा तदध्यात्मं जगुर्जिनाः॥ (अध्या. सा. २–२)। २. आत्मानमधिकृत्य स्याद्यः पञ्चाचारचारिमा। शब्दयोगार्थनिपुणास्तदध्यात्मं प्रचक्षते॥ (अध्यात्मो. १–२)।

१ निर्मोह अवस्था में आत्मा को अधिकृत करके जो शुद्ध क्रिया प्रवर्तित होती है उसका नाम अध्यात्म है।

अध्यात्मक्रिया—१ कोङ्कणसाधोरिव यदि सुताः सम्प्रतिक्षेत्रवल्लराणि ज्वलयन्ति, तदा भव्यमित्यादि चिन्तनमध्यात्मक्रिया। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३, २७, पृ. ८२)। २. अध्यात्मक्रिया चित्तकलमलकरूपा। (गु. गु. ष. वृत्ति पृ. ४१)।

२ चित्त की कलमलक रूप क्रिया का नाम अध्यात्मक्रिया है।

अध्यात्ममयी क्रिया—अपुनर्बन्धकाद्यावद् गुणस्थानं चतुर्दशम्। क्रमशुद्धिमती तावत् क्रियाऽध्यात्ममयी मता॥ (अध्या. सा. २–४)।

अपुनर्बन्धक—फिर से उत्कृष्ट बन्ध न करने वाले—गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक क्रमशः बढ़ने वाली विशुद्धिरूप क्रिया को अध्यात्ममयी क्रिया कहते हैं।

अध्यात्मयोग— १. आत्ममनोमरुत्तत्त्वसमतायोगलक्षणो। ह्यध्यात्मयोगः × × ×॥(यशस्ति. ६-१)। २. तत्र अनादिपरभावं औदयिकभावरमणीयताधर्मत्वेन निर्धार्य तत्पुष्टिहेतुक्रियां कुर्वन् अधर्म धर्मवृत्त्या इच्छन् प्रवृत्तः स एव निरामयः निःसङ्गशुद्धात्मभावनाभावितान्तःकरणस्य स्वभाव एव धर्म इति योगवृत्त्या अध्यात्मयोगः। (ज्ञानसार वृ. ६–१, पृ. २२)।

१ आत्मा, मन और वायु के एक रूप समायोग को अध्यात्मयोग कहते हैं।

अध्यात्मविद्या—अधिकमधिकृतं वाऽधिष्ठितं वा यदात्मन्यधिगमजनितं वा निस्तरङ्गान्तरङ्गम्। निरवधि निरवद्यं वेदनं मुक्तिहेतुः स्फुटघटितनिरुक्तिः सैवमध्यात्मविद्या॥ (आत्मप्र. ४८)।

आत्मविषयक ज्ञान से जो संकल्प-विकल्प से रहित निर्मल अन्तरङ्ग होता है, यही अध्यात्मविद्या है।

अध्यात्मवैरिणी क्रिया—आहारोपधिपूजर्द्धिगौरवप्रतिबन्धतः। भवाभिनन्दी यां कुर्यात् क्रियां साऽध्यात्मवैरिणी॥ (अध्यात्मसार २–५)।

अपने संसार को वृद्धिगत करने वाले जीव के द्वारा आहार, परिग्रह, पूजा व ऋद्धि-गौरव आदि से सम्बद्ध जो क्रिया की जाती है वह अध्यात्मवैरिणी कही जाती है।

अध्यापकवर्णजनन—देखो उपाध्यायवर्णजनन। १. अधिगतश्रुतार्थयाथातथ्यवाच्यवाचकानुरूपव्याख्यानाः निरस्तनिद्रा-तन्द्रा-प्रमादाः सुचरिताः सुशीलाः सुमेधसः इत्यध्यापकवर्णजननम्। (भ. आ. विजयो. टी. १–४७)। २. उपेत्य विनयेन ढौकित्वा ऽधीयते श्रुतमेतेभ्य इति उपाध्यायाः। प्रबुद्धजिनागमार्थयाथातथ्याः सुचरितचूडामणयः पटुतर्कीसुरस्रोतस्विनीनदीष्णमतयो निरस्तनिद्रा-तन्द्रा-प्रमादाः सुमेधसः शिष्यमेवानुरूपव्याख्याना इत्यध्यापकवर्णजननम्। (भ. आ. मूला. टी. ४७)।

पठित श्रुत के अर्थ का यथार्थ वाच्य-वाचक-भावके अनुसार व्याख्यान करने वाले अध्यापक—उपाध्याय—निद्रा, आलस्य व प्रमाद से रहित होते हुए अपने पद के योग्य उत्तम आचरण करनेवाले व निर्मल बुद्धि के धारक होते हैं। इस प्रकार अध्यापकों की स्तुति करने का नाम अध्यापकवर्णजनन है।

अध्येषणा—१. अध्येषणीये प्रयोक्तुरनुग्रहद्योतिकाऽध्येषणा। (शास्त्रवा.टी. ३–३)। २. अध्येषणा सत्कारपूर्वो व्यापारः। (अष्टस. यशो. वृ. ३, पृ. ५८)।

२ सत्कार-पूर्वक किये जाने वाले व्यापार को अध्येषणा कहते हैं।

अध्रुव प्रत्यय—देखो अध्रुवावग्रह। न यथाग्रहमेव स इति प्रत्ययो ध्रुवः, तत्प्रतिपक्षः प्रत्ययः अध्रुवः। (धव. पु. ९, पृ. १५४); विद्युत्प्रदीपज्वालादौ उत्पाद-विनाशविशिष्टवस्तुप्रत्ययः अध्रुवः। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यविशिष्टवस्तुप्रत्ययोऽपि अध्रुवः, ध्रुवात् पृथग्भूतत्वात्। (धव. पु. १३, पृ. २३९)।

कभी वहुत पदार्थों का तो कभी स्तोक पदार्थ का, अथवा कभी वहुत प्रकारके पदार्थ का तो कभी एक प्रकारके पदार्थ का, इस प्रकार हीनाधिकरूप से जो पदार्थ का अवग्रह होता है उसे अध्रुवप्रत्यय या अध्रुवावग्रह कहते हैं।

अध्रुव वन्ध—१.*कालान्तरे व्यवच्छेदभागध्रुवः।* (पञ्चसं. मलय. वृ. ५–२३)। २. यः पुनरायत्यां कदाचिद् व्यवच्छेदं प्राप्स्यति स भव्यसम्बन्धी वन्धोऽध्रुवः। (शतक. मल. हेम. टी. ३६, पृ. ५२)। जिस वन्ध की आगामी काल में कभी व्युच्छित्ति होगी ऐसे भव्य जीवों के कर्मवन्ध को अध्रुव वन्ध कहते हैं।

अध्रुववन्धिनी—१. निजवन्धहेतुसम्भवेऽपि भजनीयवन्धा अध्रुववन्धिन्यः। (कर्मप्र. मलय. वृ. पृ. ८)। २. यासां च निजहेतुसद्भावेऽपि नावश्यम्भावी वन्धस्ता अध्रुववन्धिन्यः। (शतक. दे. स्वो.टी. १)। बन्धकारणों का सद्भाव होने पर भी जिन प्रकृतियों का कदाचित् वन्ध होता है और कदाचित् नहीं भी होता है, उन्हें अध्रुववन्धिनी कहते हैं।

अध्रुवसत्कर्म, अध्रुवसत्ताक–१. यत् कादाचित्कभावि तदध्रुवसत्कर्म। (पञ्चसं. स्वो. वृ. ३–५५)। २. यत् पुनरवाप्तगुणानामपि कदाचिद् भवति, कदाचिन्न, तदध्रुवसत्कर्म। (पञ्चसं. मलय.वृ. ३–५५)। ३. यास्तु कादाचित्कभाविन्यस्ता अध्रुवसत्ताकाः। (शतक. दे. स्वो. टी. गा. १)। ४. कदाचिद् भवन्ति कदाचिन्न भवन्तीत्येवमनियता सत्ता यासां ता अध्रुवसत्ताकाः। (कर्मप्र. यशो. टीका गा. १)। २ विवक्षित कर्मप्रकृतियों का जो सत्कर्म उत्तरगुणों के प्राप्त होने पर भी कदाचित् होता है और कदाचित् नहीं भी होता है वह अध्रुव सत्कर्म कहलाता है। ४ जिनकी सत्ता अनियत हो—कभी पाई जावे और कभी न पाई जावे—ऐसी कर्मप्रकृतियों को अध्रुवसत्कर्म या अध्रुवसत्ताक कहते हैं।

अध्रुवानुप्रेक्षा—लोगो विलीयदि इमो फेणो व्व सदेव-माणुस-तिरिक्खो। रिद्धीओ सव्वाओ सिविणयसंदंसणसमाओ॥ (भ. आ. १७१६)।

यह चतुर्गतिरूप लोक जलफेन या बुद्बुद के समान देखते-देखते ही विलय को प्राप्त हो जाता है और ये सांसारिक ऋद्धियां स्वप्न में देखे हुए राज्यादि के समान विलीन हो जाती हैं, ऐसा चिन्तवन करना अध्रुवानुप्रेक्षा है।

अध्रुवावग्रह—१. कदाचिद् वहूनां कदाचिदल्पस्य कदाचिद् वहुविधस्य कदाचिदेकविधस्य वेति न्यूनाधिकभावादध्रुवावग्रहः। (स. सि. १–१६)। २. पौनःपुन्येन संक्लेश-विशुद्धिपरिणामकारणापेक्षस्यात्मनो यथानुरूपपरिणामोपात्तश्रोत्रेन्द्रियसान्निध्येऽपि तदावरणस्येषदीषदाविर्भावात् पौनःपुनिकं प्रकृष्टावकृष्टश्रोत्रेन्द्रियावरणादिक्षयोपशमपरिणतत्वाच्चाध्रुवमवगृह्णाति × × ×। (त. वा. १, १६, १६)। ३. न सोऽयमित्याद्यध्रुवावग्रहः। (धव. पु. १, पृ. ३५७); तव्विवरीय-(अणिच्चत्ताए) गहणमद्धुवावग्गहो। (धव. पु. ६, पृ. २१)। ४. विद्युदादेरनित्यत्वेनान्वितस्याध्रुवो ग्रहः। (आचा. सा. ४-२६)। ५. तद्विपरीत-(अयथार्थग्रहण-) लक्षणः पुनरध्रुवावग्रहः। (त. सुखवो. वृ. १–१६)।

१ कभी वहुत पदार्थों का तो कभी स्तोक पदार्थ का, अथवा कभी वहुत प्रकारके पदार्थ का तो कभी एक ही प्रकारके पदार्थ का; इस प्रकार हीनाधिकरूप जो पदार्थ का अवग्रह होता है उसे अध्रुवावग्रह कहते हैं।

अध्रुवोदय—१. वोच्छिण्णो वि हु संभवइ जाण अधुवोदया ताओ। (पञ्चसं. गा. ३–१५६, पृ. ४८); यासां तु व्यवच्छिन्नोऽपि विनाशमुपगतोऽपि (उदयो) भूयः प्रादुर्भवति तथाविधहेतुसम्बन्धं प्राप्य ता अध्रुवोदयाख्याः। (पञ्चसं. स्वो. वृ. ३–३८)। २. यासां पुनः प्रकृतीनां व्यवच्छिन्नोऽपि विनाशमुपगतोऽपि, हु निश्चितं, तथाविधद्रव्यादिसामग्रीविशेषरूपं हेतुं सम्प्राप्य भूयोऽप्युदय उपजायते ता अध्रुवोदयाः सातवेदनीयादयः। (पञ्चसं. मलय. वृ. ३–३८)। ३. × × × × एगसमयादिअंतोमुहुत्तमेत्तकालावट्ठाणस्सेव अद्धुवोदयविवक्खादो। (संतकम्मपंजिया—धव. पु. १५, पृ. २४)।

२ उदय-व्युच्छित्ति हो जाने पर भी द्रव्यादि सामग्रीविशेष के निमित्त से जिनका उदय पुनः सम्भव है ऐसी सातावेदनीयादि प्रकृतियों को अध्रुवोदय कहते हैं।

अध्वर्यु—षोडशानामुदारात्मा यः प्रभुर्भावनात्विजाम्। सोऽध्वर्युरिह वोद्धव्यः शिवशर्माध्वरोद्धुरः॥ (उपासका. ८८३)।

जो महापुरुष तीर्थंकर प्रकृति की बन्धक षोडश-कारणभावनारूप ऋत्विजों का—याजकों का—प्रभु होकर मोक्षसुखरूप यज्ञ के बोझ का धारक हो उसे अध्वर्यु जानना चाहिए।

अनक्षरगता भाषा—अनक्षरगता अनक्षरात्मिका द्वीन्द्रियाद्यसंज्ञिपंचेन्द्रियपर्यन्तानां जीवानां स्व-स्वसंकेतप्रदर्शिका भाषा। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टीका २२६)।

द्वीन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवों की जो अपने अपने संकेत को प्रगट करने वाली भाषा है उसे अनक्षरगता भाषा कहते हैं।

अनक्षरश्रुत—से किं तं अणक्खरसुयं? अणक्खरसुयं अणेगविहं पण्णत्तं। तं जहा—ऊससियं णीससियं णिच्छूढं खासियं च छीयं च। णिस्सिंघियमणुसारं अणक्खरं छेलियाईयं॥ से तं अणक्खरसुयं। (नन्दी. सू. ३८, पृ. १८७; श्राव. नि. २०)।

उच्छ्वसित, निःश्वसित, निष्ठ्यूत (थूक), कासित या काशित (छींक), छींक, निस्सिंघिय (अव्यक्त शब्द), अनुस्वार के समान उच्चारण की जाने वाली हुंकार आदि ध्वनि और छेलिय (सेण्टित—चीत्कार); इत्यादि सब संकेतविशेष होने से अनक्षर-श्रुतस्वरूप हैं।

अनक्षरात्मक शब्द—१. अनक्षरात्मको द्वीन्द्रियादीनामतिशयज्ञानस्वरूपप्रतिपादनहेतुः। (स. सि. ५, २४)। २. अवर्णात्मको द्वीन्द्रियादीनाम्, अतिशयज्ञानस्वरूपप्रतिपादनहेतुश्च। (त. वा. ५, २४, ३)। ३. बालादिसंज्ञ्यसंज्ञ्यंगिवागनक्षरवागिमाः। (आचा. सा. ५–९०)। ४. अनक्षरः शब्दो द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय-पञ्चेन्द्रियाणां प्राणिनां ज्ञानातिशयस्वभावकथनप्रत्ययः। (त. वृत्ति श्रुत. ५–२४)। ५. अनक्षरात्मको द्वीन्द्रियादिशब्दरूपो दिव्यध्वनिरूपश्च। (पंचा. का. जय. वृ. ७९)।

द्वीन्द्रियादि असंज्ञी प्राणियों का जो शब्द अतिशय ज्ञानस्वरूप के प्रतिपादन का कारण होता है उसे अनक्षरात्मक शब्द कहते हैं।

अनगार—१. न विद्यतेऽगारमस्येत्यनगारः। × × × चारित्रमोहोदये सत्यगारसम्बन्धं प्रत्यनिवृत्तः परिणामो भावागारमित्युच्यते। (स. सि. ७–१९; त.वा. ७, १९, १; त.वृ. श्रुत. ७–१९)। २. अगाः वृक्षाः, तैः कृतमगारम्, नास्य अगारं विद्यते इत्य-नगारः। (उत्तरा. चू. ६२, ९७, पृ. ६१)। ३. न गच्छन्तीत्यगाः वृक्षास्तैः कृतमगारं गृहम्। नास्यागारं विद्यते इत्यनगारः परित्यक्तद्रव्य-भावगृह इत्यर्थः। (नन्दी. हरि. वृ पृ. ३१)। ४. अगारं गृहम्, तद्येषां विद्यते इति अगाराः गृहस्थाः, न अगारा अनगाराः। (दशवै. हरि. वृ. नि. १–९०)। ५. अगारं गृहम्, न विद्यते अगारं यस्यासावनगारः, परित्यक्तद्रव्य-भावगृह इत्यर्थः। (नन्दी. मलय. वृ. सू. ९, पृ. ८१ सूर्यप्र. मलय. वृ. ३; जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, १०३)। ६. न विद्यते अगारमस्येत्य-नगारः। (त. श्लो. ७–१९)। ७. निवृत्तरागभावो यः सोऽनगारो गृहोषितः। (ह. पु. ५८–१३७)। ८. महाव्रतोऽनगारः स्यात् × × ×। (त. सा. ४, ७९)। ९. अनगाराः सामान्यसाधवः। (चा. सा. पृ. २२)। १०. योऽनीहो देह-गेहेऽपि सोऽनगारः सतां मतः। (उपासका. ८६२)। ११. गात्रमात्र-धना पूर्वे सर्वसावद्यवर्जिताः। (क्ष. चू. ७–१९)। १२. पूर्वे (अनगाराः) सावद्यवर्जिताः। (जी. च. ७–१३)। १३. नास्यागारं गृहं विद्यत इत्यनगारः। (जम्बूद्वी. शान्ति. वृ. २, पृ. १५)।

१ भावागार का त्यागी महाव्रती अनगार कहा जाता है। चारित्रमोह का उदय रहने पर जो गृह-निवृत्ति के प्रति परिणति नहीं होती है, इसका नाम भावागार है।

अनङ्गक्रीडा—१. अङ्गं प्रजननं योनिश्च, ततोऽन्यत्र क्रीडा अनङ्गक्रीडा। (स. सि. ७–२८)। २. अन-ङ्गेषु क्रीडा अनङ्गक्रीडा ॥३॥ अंगं प्रजननं योनिश्च ततोऽन्यत्र क्रीडा अनङ्गक्रीडा। अनेकविधप्रजनन-विकारेण जघनादन्यत्र चाङ्गे रतिरित्यर्थः। (त. वा. ७, २८, ३)। ३. अनङ्गक्रीडा नाम कुच-कक्षोरु-वदनान्तरक्रीडा, तीव्रकामाभिलाषेण वा परिसमाप्त-सुरतस्याप्याहार्यैः स्थूलकादिभिर्योषिद्वाच्यप्रदेशा-सेवनमिति। (श्रा. प्र. टी. २७३)। ४. अनङ्गः कामः कर्मोदयात् पुंसः स्त्री-नपुंसक-गुदासेवनेच्छा हस्तकर्मादीच्छा वा, योषितोऽपि योषित्-गुह्यासेवने-च्छा हस्तकर्मादीच्छा वा; नपुंसकस्य पुरुष-स्त्रीसेव-नेच्छा हस्तकर्मादीच्छा वा; न एवंविधोऽभिप्रायो मोहोदयादुद्भूतः काम उच्यते। नान्यः कश्चित् कामः। तेन सह क्रीडा रमणमनङ्गक्रीडा। चर्मादि-काष्ठ-पुस्त-फल-मृत्तिका-चर्मादिघटितप्रजननैः स्त्री-

कृत्योऽपि स्वलिंगेन भूयः मृद्नात्येवावाच्यप्रदेशं योषिताम्, तथा केशाकर्षण-प्रहारदान-दन्त-नखकदर्थनाप्रहारैर्मोहनीयकर्मविशात् किल क्रीडति तथाप्रकारं कामी। सर्वेषामनङ्गक्रीडा बलवति रागे प्रसूयते। (त. सू. हरि. वृ. ७-२३; योगशा. स्वो. विव. ३-९४)। ५. अङ्गं लिङ्गं योनिश्च, तयोरन्यत्र मुखादिप्रदेशे क्रीडाऽनङ्गक्रीडा। (रत्नक. टी. २, १४)। ६. अङ्गं प्रजननं योनिश्च, ततो जघनादन्यानेकविधप्रजननविकारेण रतिरनङ्गक्रीडा। (चा. सा. पृ. ७)। ७. अनङ्गानि कुच-कक्षोरु-वदनादीनि, तेषु क्रीडनं अनङ्गक्रीडा। योनि-मेहनयोरन्यत्र रमणम्। (पंचा. विव. ३)। ८. अङ्गं देहावयवोऽपि मैथुनापेक्षया योनिर्मेहनं वा, तद्व्यतिरिक्तानि अनङ्गानि कुच-कक्षोरु-वदनादीनि, तेषु क्रीडा रमणं अनङ्गक्रीडा। अथवा अनङ्गः कामः, तस्य तेन वा क्रीडा अनङ्गक्रीडा। स्वलिङ्गेन निष्पन्नप्रयोजनस्याहार्यैश्चर्मादिघटितप्रजननैर्योषिदवाच्यप्रदेशासेवनम्। (धर्मवि. वृ. ३-२६, पृ. ३९)। ९. अङ्गं साधनं देहावयवो वा, तच्चेह मैथुनापेक्षया योनिर्मेहनं च, ततो ऽन्यत्र मुखादिप्रदेशे रतिः। यतश्च चर्मादिमयैर्लिगैः स्वलिङ्गेन कृतार्थोऽपि स्त्रीणामवाच्यप्रदेशं पुनः पुनः कुद्नाति, केशाकर्षणादिना वा क्रीडन् प्रबलरागमुत्पादयति, सोऽप्यनङ्गक्रीडोच्यते। (सा. ध. स्वो. टी. ४-५८)। १०. अङ्गं स्मरमन्दिरं स्मरलता च, ताभ्यामन्यत्र कर-कक्षा-कुचादिप्रदेशेषु क्रीडनमनङ्गक्रीडा। अनङ्गाभ्यां क्रीडा अनङ्गक्रीडा। (त. वृ. श्रुत. ७-२८)। ११. दोषश्चानंगक्रीडाख्यः स्वप्नादौ शुक्रविच्युतिः। विनापि कामिनीसङ्गात् क्रिया वा कुत्सितोदिता॥ (लाटीसं. ६, ७७)। १२. अङ्गं योनिर्लिङ्गं च, ताभ्यां योनिलिङ्गाभ्यां विना कर-कुक्ष-कुचादिप्रदेशेषु क्रीडनमनङ्गक्रीडा। (कार्तिके. टी. ३३७-३८)।

१ कामसेवन के अङ्गों (प्रजनन और योनि) के अतिरिक्त अन्य अङ्गों से कामक्रीडा करने को अनङ्गक्रीडा कहते हैं।

अनङ्गप्रविष्ट—१. अनङ्गप्रविष्टं तु स्थविरकृतं आवश्यकादि। (आव. हरि. वृ. २०)। २. यत् पुनः स्थविरैर्भद्रबाहुस्वामिप्रभृतिभिराचार्यैरुपनिवद्धं तदनङ्गप्रविष्टम्, तच्चावश्यकनिर्युक्त्यादि। (आव. मलय. वृ. नि. २०)। ३. शेषं प्रकीर्णकाद्यनङ्गप्रविष्टम्। (कर्मस्त. गोवि. टी. ९-१०, पृ. ८१)।

२ जो आगम साहित्य स्थविरों—भद्रबाहु आदि आचार्यों—द्वारा रचित है वह अनंगप्रविष्ट माना जाता है। जैसे—आवश्यकनिर्युक्ति आदि।

अनङ्गश्रुत—सामाइयं चउवीसत्थओ वंदणं पडिक्कमणं वेणइयं किदियम्मं दसवेयालियं उत्तरज्झयणं कप्पववहारो कप्पाकप्पियं महाकप्पियं पुंडरीयं महापुंडरीयं णिसिहियमिदि चोद्दसविहमणंगसुदं। (धव. पु. ९, पृ. १८८)।

सामायिक व चतुर्विंशतिस्तव आदि चौदह अनंगश्रुत के अन्तर्गत माने जाते हैं।

अनतिचार—१. आत्यन्तिको भृशमप्रमादोऽनतिचारः। (त. भा. ६-२३)। २. अनतिचार उच्यते—अतिचरणमतिचारः स्वकीयागमातिक्रमः, नातिचारोऽनतिचारः, उत्सर्गापवादात्मकसर्वज्ञप्रणीतसिद्धान्तानुसारितया शील-व्रतविषयमनुष्ठानमित्यर्थः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-२३)।

प्रमाद के आत्यन्तिक अभाव को अनतिचार कहते हैं।

अनध्यवसाय—१. 'इदमेवं चेवेत्ति' णिच्छयाभावो अणज्झवसाओ। (धव. पु. ७, पृ. ८६)। २. विशिष्टस्य विशेषाणामस्य च स्वे न वेदनम्। गच्छतस्तृणसंस्पर्श इवानध्यास इष्यते॥ (मोक्षपं. ७)। ३. किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः। यथा गच्छतस्तृणस्पर्शज्ञानम्। (प्र. न. त. १, १३-१४; न्यायदी. पृ. ९)। ४. अनध्यवसायः क्वचिदप्यर्थे बोधस्याप्रवृत्तिः। (उपदेश. वृ. ११८)। ५. इदं किमप्यस्तीति निर्द्धाररहितविचारणेत्यनध्यवसायः। (धर्मवि. वृ. १-३८, पृ. ११)। ६. विशेषानुल्लेख्यनध्यवसायः। (प्र. मी. १, १, ६)। ७. दूरान्धकारादिवशादसाधारणधर्मविमर्शरहितः प्रत्ययोऽनिश्चयात्मकत्वादनध्यवसायः। (प्र. मी. टी. १, १, ६)। ८. अस्पृष्टविशेषं किमित्युल्लेखेनोत्पद्यमानं ज्ञानमात्रमनध्यवसायः। (रत्नाकरा. टी. १-१३)।

३ 'यह क्या है' इस प्रकारके अनिश्चात्मक ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं। जैसे—मार्ग में चलते हुए पुरुष को तृणस्पर्शादि के विषय में होने वाला अनिश्चयात्मक ज्ञान।

अनुगामी अवधि—१. कश्चिन्नानुगच्छति तत्रैवातिपतति उन्मुग्धप्रश्नादेशिपुरुषवचनवत्। (स. सि.

१–२२; त. वा. १, २२, ४)। २. विशुद्धयनन्वयादेशोऽननुगामी च कस्यचित्। (त. श्लो. १, २२, १२)। ३. इयरो य णाणुगच्छइ ठियपईवो व्व गच्छंतं। (विशेषा. गा. ७१८)। ४. जं तमणणुगामी णाम ओहिणाणं तं तिविहं—खेत्ताणणुगामी, भवाणणुगामी खेत्त-भवाणणुगामी चेदि। जं खेत्तंतरं ण गच्छदि भवंतरं चेव गच्छदि तं खेत्ताणणुगामी त्ति भण्णदि। जं भवंतरं ण गच्छदि, खेत्तंतरं चेव गच्छदि, तं भवाणणुगामी णाम। जं खेत्तंतर-भवांतराणि च ण गच्छदि, एकम्हि चेव खेत्ते भवे च पडिवद्धं तं खेत्त-भवाणणुगामि त्ति भण्णदि। (धव. पु. १३, पृ. २९४–९५)। ५. यत्क्षेत्रे तु समुत्पन्नं यत्तत्रैवाववोधकृत्। द्वितीयमवधिज्ञानं तच्छृङ्खलितदीपवत्॥ (लोकप्र. ३–८४०)। ६. यत्तु तद्देशस्थस्यैव भवति स्थानस्थदीपवत्, देशान्तरगतस्य त्वपैति तदननुगामीति। (कर्मस्त. गो. टीका गा. ९–१०)। ७. यदवधिज्ञानं स्वस्वामिनं जीवं नानुगच्छति तदननुगामि। (गो. जी. जी. प्र. ३७२)। ८. यस्तु दिशुद्धेरननुगमनान्न गच्छन्तमनुगच्छति। किं तर्हि? तत्रैवाभिपतति, शून्यहृदयपुरुषादिष्टप्रश्नवचनवत् सोऽननुगामी। (त. सुखबो. वृ. १–२२)। ९. कश्चिदवधिर्नैवानुगच्छति, तत्रैवातिपतति, विवेकपराङ्मुखस्य प्रश्ने सति आदेष्टृपुरुषवचनं यथा तत्रैवातिपतति, न तेनाग्रे प्रवर्तते। (त. वृ. श्रुत. १–२२)।

१ जो अवधिज्ञान मूर्ख पुरुष के प्रश्न के उत्तर में आदेश देने वाले वचन के समान क्षेत्रान्तर या भवान्तर में अपने स्वामी के साथ नहीं जाता है उसे अननुगामी अवधि कहते हैं।

अनन्त—अन्तो विनाशः, न विद्यते अन्तो विनाशो यस्य तदनन्तम्। (धव. पु. ३, पृ. १५); जो (रासी) पुण ण समप्पइ सो रासी अणंतो। (धव. पु. ३, पृ. २६७); तदो (असंखेज्जादो) उवरि जं केवलणाणस्सेव विसओ तमणंतं णाम। (धव. पु. ३, पृ. २६८); सो अणंतो वुच्चदि, जो संखेज्जासंखेज्जरासिव्वए संते अणंतेण वि कालेण ण णिट्ठादि। वुत्तं च—संते वए ण णिट्ठादि काले णाणंतएण वि। जो रासी सो अणंतो त्ति णिद्दिट्ठो महेसिणा॥ (धव. पु. ४, पृ. ३३८); जासिं संखाणमायविरहियाणं संखेज्जासंखेज्जेहि वइज्जमाणाणं पि वोच्छेदो ण होदि, तासिमणंतमिदि सण्णा। (धव. पु. ४, पृ. ३९४); सो रासी अणंतो उच्चइ जो संते वि वए ण णिट्ठादि। (धव. पु. ४, पृ. ४७८)।

आय-रहित और निरन्तर व्यय-सहित होने पर भी जो राशि कभी समाप्त न हो, उसे अनन्त कहते हैं। अथवा जो राशि एक मात्र केवलज्ञान की ही विषय हो वह अनन्त है।

अनन्तकाय—देखो अनन्तजीव। अनन्तकायाश्च स्नुही-गुडूच्यादयः ये छिन्ना भिन्नाश्च प्ररोहन्ति, एकस्य यच्छरीरं तदेवानन्तानन्तानां साधारणाहारप्राणत्वात् साधारणानाम्, × × × अनन्तः साधारणः कायो येषां तेऽनन्तकायाः। (मूला. वृ. ५–१६)।

जिन अनन्त जीवों का एक साधारण शरीर हो तथा जो अपने मूल और जो शरीरसे छिन्न-भिन्न होने पर भी पुनः उग आते हैं ऐसे स्नुही (थूवर) गुडूची (गुरवेल) आदि अनन्तकाय कहलाते हैं।

अनन्तकायिक—देखो अनन्तकाय। अनन्तैर्जीवैरुपलक्षितः कायो येषां ते अनन्तकाया मूलादिप्रभवा वनस्पतिकायिकाः। (सा. ध. स्वो. टी. ५–१७)।

जिनका शरीर अनन्त जीवों से उपलक्षित हो ऐसे मूल, अग्र एवं पोर आदि से उत्पन्न होने वाले वनस्पतिकायिक जीवों को अनन्तकायिक कहा जाता है।

अनन्तजित्—१. अनन्तदोषाशयविग्रहो ग्रहो विषंगवान् मोहमयश्चिरं हृदि। यतो जितस्तत्त्वरुचौ प्रसीदता त्वया ततोऽभूर्भगवाननन्तजित्॥ (स्वयंभूस्तोत्र ६६)। २. अनन्तकर्मांशान् जयति, अनन्तैर्वा ज्ञानादिभिर्जयति अनन्तजित्। तथा गर्भस्थे जनन्या अनन्तरत्नदाम दृष्टम्, जयति च त्रिभुवनेऽपीति अनन्तजित्। भीमो भीमसेन इति न्यायादनन्तः। (योगशा. स्वो. विव. ३–१२४)।

१ जो अनन्त दोषोत्पादक मोहरूप पिशाच को जीत चुके हैं, वे भगवान् अनन्त जिन अनन्तजित् हैं। २ जो अनन्त कर्मांशों को जीतता है अथवा अनन्त ज्ञानादि के द्वारा सर्व जगत् को जानने से जयशील हो, तथा जिसके गर्भ में स्थित होने पर माता ने अनन्त रत्नों की माला देखी; उस अनन्त जिन (चौदहवें तीर्थंकर) को अनन्तजित् कहते हैं।

अनन्तजीव—देखो अनन्तकाय। [illegible] सरीरं जं ण होइ णिज्जीवं। जं पि य [illegible] अणंतजीवं वियाणाहि॥ [illegible] मुच्चदि भदे। [illegible]

वियाणाहि ॥ जस्स मूलस्स भग्गस्स समो भंगो पदीसइ । अणंतजीवे उ से मूले जे याऽवऽन्ने तहाविहे ॥ (बृहत्क. ९६७–६९) ।

जिस दूधयुक्त व उससे रहित भी पत्र (पत्ता) की सिरायें (स्नायु) व सन्धियां अदृश्य हों वह पत्र अनन्तजीव (अनन्तकाय) है। इसी प्रकार जिस मूल आदि को तोड़ने पर चक्राकार—समान—भंग होता है तथा जिसकी गांठ के भंग होने पर खेत के ऊपर की पपड़ी के समान चूर्ण उड़ता हुआ दिखता है वह भी अनन्तजीव है। अभिप्राय यह है कि जिस मूल के भग्न होने पर समान भंग दिखता है उस मूल को अनन्तजीव जानना चाहिए।

अनन्तमिश्रिता—१. मूलकादिकमनन्तकायं तस्यैव सत्कैः परिपाण्डुपत्रैरन्येन वा केनचित् प्रत्येकवनस्पतिना मिश्रमवलोक्य सर्वोऽप्येषोऽनन्तकायिक इति वदतोऽनन्तमिश्रिता। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ११, १६५)। २. साणंतमीसिया वि य परित्तपत्ताइजुत्तकंदम्मि। एसो अणंतकाओ त्ति जत्थ सव्वत्थ वि पओगो ॥ (भाषार. ६४)। ३. अनन्तमिश्रितापि च सा भवति यत्र यस्यां परित्तानि यानि पत्रादीनि तद्युक्ते कन्दे मूलकादौ सर्वत्रापि सर्वावच्छेदेनापि एषोऽनन्तकाय इति प्रयोगः ॥ (भाषार. टी. ६४)।

अनन्तकायस्वरूप मूलक (मूली) को उसी के धवल (प्रत्येक वनस्पति) पत्तों के साथ अथवा अन्य किसी प्रत्येक वनस्पति के साथ मिश्रित देखकर जो यह कहता है कि 'यह सब अनन्तकायिक है' उसकी इस प्रकारकी भाषा अनन्तमिश्रिता कही जाती है।

अनन्तरक्षेत्रस्पर्श—जो सो अणंतरखेत्तफासो णाम। जं दव्वमणंतरखेत्तेण फुसदि सो सव्वो अणंतरखेत्तफासो णाम। (षट्खं. ५, ३, १५–१६, पु. १३, पृ. १७)।

जो द्रव्य अनन्तर क्षेत्र से स्पर्श करता है उसका नाम अनन्तरक्षेत्रस्पर्श है।

अनन्तरबन्ध—कम्मइयवग्गणाए ट्ठिदपोग्गलखंधाणं मिच्छत्तादिपच्चएहि कम्मभावेण परिणदपढमसमए बंधो अणंतरबंधो। (धव. पु. १२, पृ. ३७०)।

कार्मण वर्गणा स्वरूप से स्थित पुद्गलस्कन्धों का मिथ्यात्व आदि कारणों के द्वारा कर्मरूप परिणत होने के प्रथम समय में जो बन्ध होता है उसे अनन्तरबन्ध कहते हैं।

अनन्तरसिद्धकेवलज्ञान—यस्मिन् समये सिद्धो जायते, तस्मिन् समये वर्तमानमनन्तरसिद्धकेवलज्ञानम्। (आव. मलय. वृ. नि. ७८)।

जिस समय में जीव सिद्ध होता है उस समयमें वर्तमान केवलज्ञान को अनन्तरसिद्धकेवलज्ञान कहते हैं।

अनन्तरसिद्धासंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना—न विद्यते अन्तरं व्यवधानमर्थात्समयेन येषां ते ऽनन्तरास्ते च ते सिद्धाश्चानन्तरसिद्धाः, सिद्धत्वप्रथमसमये वर्तमाना इत्यर्थः, ते च ते ऽसंसारसमापन्नजीवाश्चानन्तरसिद्धासंसारसमापन्नजीवास्तेषां प्रज्ञापनाऽनन्तरसिद्धासंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १–६)।

सिद्ध होने के प्रथम समय में विद्यमान ऐसे संसार से मुक्त होने वाले जीवों की प्रज्ञापना या प्ररूपणा को अनन्तरसिद्धासंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना कहते हैं।

अनन्तराप्ति—विवक्षितभवान्मृत्वोत्पद्य चानन्तरे भवे। यत्सम्यक्त्वाद्यश्नुतेऽङ्गी साऽनन्तराप्तिरुच्यते ॥ (लोकप्र. ३–२८२)।

विवक्षित भव से मरकर व अनन्तर भव में उत्पन्न होकर जीव जो सम्यक्त्व आदि को प्राप्त करता है, इसे अनन्तराप्ति कहा जाता है।

अनन्तरोपनिधा—१. जत्थ णिरंतरं थोवबहुत्तपरिक्खा कीरदे, सा अणंतरोवणिधा। (धव. पु. ११, पृ. ३५२); अणंतगुणवड्ढीए असंखेज्जगुणवड्ढीए संखेज्जगुणवड्ढीए संखेज्जभागवड्ढीए असंखेज्जभागवड्ढीए अणंतभागवड्ढीए अणतरहेट्ठिमट्ठाणं पेक्खिदूण ट्ठिदट्ठाणाणं जा थोवबहुत्तपरूवणा सा अणंतरोवणिधा। (धव. पु. १२, पृ. २१४)। २. उपवानमुपवा, वातूनामनेकार्थत्वान्मार्गणमित्यर्थः। (पञ्चसं. मलय. वृ. बं. क. ६)।

जिस प्रकरण में अनन्तगुणवृद्धि आदि स्वरूप से अनन्तर अधस्तन स्थान की अपेक्षा स्थित स्थानों के निरन्तर अल्पबहुत्व की परीक्षा की जाती है उसका नाम अनन्तरोपनिधा है।

अनन्तवियोजक—१. स एव पुनः अनन्तानुबन्धिक्रोध-मान-माया-लोभानां वियोजनपरः (अनन्तवियोजकः) × × ×। (स. सि. ९–४५)। २. अनन्तः संसारस्तदनुबन्धिनोऽनन्ताः क्रोधादयस्तान् वियोजयति क्षपयत्युपशमयति वा अनन्तवियोजकः। (त.

भा. सिद्ध. वृ. ६–४७) ।

१ अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ की विसंयोजना करने वाले जीव को अनन्तवियोजक कहते हैं ।

अनन्तवीर्य—१. वीर्यान्तरायस्य कर्मणो ऽत्यन्तक्षयादाविर्भूतमनन्तवीर्यं क्षायिकम् । (स. सि. २–४) । २. वीर्यान्तरायात्यन्तसंक्षयादनन्तवीर्यम् ॥६॥ आत्मनः सामर्थ्यस्य प्रतिबन्धिनो वीर्यान्तरायकर्मणोऽत्यन्तसंक्षयादुद्भूतवृत्ति क्षायिकमनन्तवीर्यम् । (त. वा. २, ४, ६) । ३. वीर्यान्तरायनिर्मूलप्रक्षयोद्भूतवृत्ति श्रम-क्लमाद्यवस्थाविरोधि निरन्तरवीर्यमप्रतिहतसामर्थ्यमनन्तवीर्यम् । (जयध. पत्र १०१७) । ४. कस्मिश्चित्स्वरूपचलनकारणे जाते सति घोरपरीषहोपसर्गादौ निजनिरञ्जनपरमात्मध्याने पूर्वं धैर्यमवलम्बितं तस्यैव फलभूतमनन्तपदार्थपरिच्छित्तिविषये खेदरहितत्वमनन्तवीर्यम् । (वृ. द्रव्यसं. टी. १४) । ५. केवलज्ञानविषये अनन्तपरिच्छित्तिशक्तिरूपमनन्तवीर्यम् भण्यते । (परमात्मप्र. टी. ६१) ।

१ वीर्यान्तराय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने पर जो अप्रतिहत सामर्थ्य उत्पन्न होता है उसे अनन्तवीर्य कहते हैं ।

अनन्तसंसारी (अणंतसंसार)—जे पुण गुरुपडिणीया बहुमोहा ससवला कुसीला य । असमाहिणा मरंते ते होंति अणंतसंसारा ॥ (मूला. २–७१; **अभिधा. १, पृ. २६६**) ।

जो गुरु के प्रतिकूल, बहुमोही—प्रकृष्ट राग-द्वेष से कलुषित, हीन आचार वाले और कुशील—व्रतरक्षा से रहित—होते हुए समाधि के विना आर्त-रौद्र परिणाम से मरते हैं वे अनन्तसंसारी—अर्धपुद्गल प्रमाण काल तक संसारपरिभ्रमण करने वाले होते हैं ।

अनन्तानुबन्धी—१. अनन्तानुबन्धी सम्यग्दर्शनोपघाती । तस्योदयाद्धि सम्यग्दर्शनं नोत्पद्यते, पूर्वोत्पन्नमपि च प्रतिपतति । (त. भा. ८–१०) । २. अनन्तकालमतिप्रभूतकालमनुबन्धमुदिता कुर्वन्तीति अनन्तानुबन्धिनः । (पंचसं. स्वो. वृ. १२३, पृ. ३५) । ३. पारम्पर्येणानन्तं भवमनुबद्धं शीलं येषामिति अनन्तानुबन्धिनः उदयस्थाः सम्यक्त्वविघातिनः । (श्रा. प्र. टी. १७) । ४. अनन्तान् भवान् अनुबद्धं शीलं येषां ते अनन्तानुबन्धिनः । (धव. पु. ६, पृ. ४१) । ५. अनन्तं भवमनुबध्नाति अविच्छिन्नं करोतीत्येवंशीलोऽनन्तानुबन्धी । अनन्तो वा ऽनुबन्धोऽस्येत्यनन्तानुबन्धी सम्यग्दर्शनसहभाविक्षमादिस्वरूपोपशमादिचरणलवविबन्धी, चारित्रमोहनीयत्वात्तस्य । (स्थाना. सू. अभय. वृ. ४, १, २४६, पृ. १८३) । ६. अनन्तः संसारस्तमनुबध्नन्ति तच्छीलाश्चानन्तानुबन्धिनः । (त. भा. सि. वृ. ६–६) । ७. अनन्तं संसारमनुबध्नन्तीत्येवंशीला अनन्तानुबन्धिनः । × × × एषां च संयोजना इति द्वितीयं नाम । तत्रायमन्वर्थः—संयोज्यन्ते सम्बन्ध्यन्ते ऽसंख्यैर्भवैर्जन्तवो यैस्ते संयोजनाः । (**पंचसं. मलय. वृ. ३–५; कर्मप्र. यशो. वृ. १; शतक. मल. हेम. वृ. ३७; कर्मवि. दे. स्वो. वृ. १७**) । ८. तत्रानन्तं संसारमनुबध्नन्ति इत्येवंशीला अनन्तानुबन्धिनः । उक्तं च—अनन्तान्यनुबध्नन्ति यतो जन्मानि भूतये । ततोऽनन्तानुबन्धाख्या क्रोधाद्येषु नियोजिताः । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३–२६३) । ९. तत्र पारम्पर्येण भवमनन्तमनुबध्नन्तीत्येवंशीला अनन्तानुबन्धिनः, उदयस्थानाममीषां सम्यक्त्वविघातकृत्त्वात् । (षडशी. मलय. वृ. ७६) । १०. तत्र पारम्पर्येण अनन्तं भवमनुबध्नन्ति अनुसन्दधतीत्येवंशीला इत्यनुबन्धिनः । (धर्मसं. मलय. वृ. ६१४) । ११. सम्यक्त्वगुणविघातकृदनन्तानुबन्धी । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १४–१८८) । १२. अनन्तं संसारमनुबध्नन्ति अनुसन्दधति, तच्छीलाश्चेत्यनन्तानुबन्धिनः। (कर्मस्त. गो. टी. ९–१०) । १३. अनन्त आ संसारं यावत् अनुबन्धः प्रवाहो येषां ते ऽनन्तानुबन्धिनः । (कर्मवि. पू. व्या. गा. ४१) । १४. तत्रानन्तं संसारमनुबध्नन्तीत्येवंशीला अनन्तानुबन्धिनः । यदवाचि—यस्मादनन्तं संसारमनुबध्नन्ति देहिनाम् । ततो ऽनन्तानुबन्धीति संज्ञाऽऽद्येषु निवेशिता । (कर्मवि. दे. स्वो. टी. १८) । १६. अनन्तं संसारं भवमनुबध्नात्यविच्छिन्नं करोतीत्येवंशीलोऽनन्तानुबन्धी । अनन्तो वा अनुबन्धो यस्येति अनन्तानुबन्धी । (अभिधा. १, पृ. २६६) ।

१ जिसका उदय होने पर सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता है, और यदि वह उत्पन्न हो चुका है तो नष्ट हो जाता है, उसका नाम अनन्तानुबन्धी है । ४ अनन्त भवों की परम्परा को चालू रखने वाली कषायों को अनन्तानुबन्धी कषाय कहा जाता है ।

अनन्तानुवन्धिक्रोध-मान-माया-लोभ—१. अनन्तसंसारकारणत्वान्मिथ्यादर्शनमनन्तम्, तदनुवन्धिनोऽनन्तानुवन्धिनः क्रोध-मान-माया-लोभाः। (स. सि. ८–९; त. वा. ८, ९, ५)। २. अनन्तान् भवाननुवद्धुं शीलं येषां ते अनन्तानुवन्धिनः, अनन्तानुवन्धिनश्च ते क्रोध-मान-माया-लोभाश्च अनन्तानुवन्धिक्रोधमानमायालोभाः। जेहि कोह-माण-माया-लोहेहि अविणट्ठसरूवेहि सह जीवो अणंते भवे हिंडदि तेसिं कोह-माण-माया-लोहाणं अणंताणुवंधी सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ४१); अथवा अणंतो अणुवंधो जेसिं कोह-माण-माया-लोहाणं, ते अणंताणुवंधिकोह-माण-माया-लोहा। एदेहिंतो वड्ढिदसंसारो अणंतेसु भवेसु अणुवंधं ण छड्डेदि त्ति अणताणुवंधो संसारो, सो जेसिं ते अणंताणुवंधिणो कोह-माण-माया-लोहा। (धव. पु. ६, पृ. ४१–४२)। ३. सम्यक्त्वं घ्नन्त्यनन्तानुवन्धिनस्ते कषायकाः। (उपासका. ९२५)। ४. अनन्तानुवन्धिनः क्रोधमानमायालोभाः कषायाः आत्मनः सम्यक्त्वपरिणामं कषन्ति, अनन्तसंसारकारणत्वादनन्तं मिथ्यात्वं अनन्तभवसंस्कारकालं वा अनुवध्नन्ति संघटयन्ति इत्यनन्तानुवन्धिनः। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टीका २८३)। ५. अनन्तानुभवान्मिथ्यात्वासंयमादौ अनुवन्धः शीलं येषां तेऽनन्तानुवन्धिनः, ते च ते क्रोधमानमायालोभा अनन्तानुवन्धिक्रोधमानमायालोभाः। अथवाऽनन्तेषु भवेष्वनुवन्धो विद्यते येषां ते अनन्तानुवन्धिनः। (मूला. वृ. १२–१९१)। ६. अनन्तभवभ्रमणहेतुत्वादनन्तं मिथ्यात्वमनुवध्नन्ति सम्बन्धयन्ति इत्येवंशीला ये क्रोध-मान माय-लोभाः सम्यक्त्वघातकाः ते अनन्तानुवन्धिक्रोधमानमायालोभाः। (कार्तिके. टी. ३०८; त. वृ. श्रुत. ८–९)।

१ अनन्त शब्द से यहाँ मिथ्यात्व को लिया गया है, कारण कि वह अनन्त संसार परिभ्रमण का कारण है। जो क्रोध, मान, माया और लोभ कषायें निरन्तर उस मिथ्यात्व से सम्बन्ध रखती हैं, उनका नाम अनन्तानुवन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ है।

अनन्तानुवन्धिमाया—घनवंशीमूलसमा त्वनन्तानुवन्धिनी माया। यथा निविडवंशीमूलस्य कुटिलता किल वह्निनाऽपि न दह्यते, एवं यज्जनिता मनःकुटिलता कथमपि न निवर्तते साऽनन्तानुवन्धिनी माया। (कर्मवि. दे. टी. गा. २०)।

बांस की जड़ के समान अतिशय कुटिलता की कारणभूत माया को अनन्तानुवन्धिनी माया कहते हैं।

अनन्तानुबन्धिविसंयोजनक्रिया—तत्थ अधापवत्त-अपुव्व-अणियट्टिकरणाणि तिण्णि वि करेदि। एत्थ अधापवत्तकरणे णत्थि गुणसेढी। अपुव्वकरणपढमसमयप्पहुदि पुव्वं व उदयावलियवाहिरे गलिदसेसमपुव्व-अणियट्टिकरणद्धादो विसेसाहियमायामेण पदेसग्गेण संजदगुणसेढिपदेसग्गादो असंखेज्जगुणं तदायामादो संखेज्जगुणहीणं गुणसेढिं करेदि। ठिदि-अणुभागखंडयघादे आउअवज्जाणं कम्माणं पुव्वं व करेदि। एवं दोहि वि करणेहि काऊण अणंताणुवंधिचउक्कट्ठिदीओ उदयावलियवाहिराओ सेसकसायसरूवेण संछुहदि। एसा अणंताणुवंधिविसंजोजणकिरिआ। (धव. पु. १०, पृ. २८८)।

अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन दो परिणामों के द्वारा यथासम्भव अनन्तानुवन्धिचतुष्क की उदयावलिबाह्य स्थिति और अनुभाग को शेष कषायोंरूप परिणत करने के लिए जो क्रिया की जाती है वह अनन्तानुवन्धिविसंयोजन क्रिया कहलाती है।

अनन्तानुवन्धी क्रोध — विदलितपर्वतराजिसदृशः पुनरनन्तानुवन्धी क्रोधः कथमपि निवर्तयितुमशक्यः। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. गा. १९)।

पर्वतराजि या पाषाणरेखा के समान कठिनता से नष्ट होने वाले क्रोध को अनन्तानुवन्धी क्रोध कहते हैं।

अनन्तानुवन्धी मान—शिलायां घटितः शैलः, शैलश्चासौ स्तम्भश्च शैलस्तम्भस्तदुपमस्त्वनन्तानुवन्धी मानः, कथमप्यनमनीय इत्यर्थः। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. १९)।

शैल स्तम्भ के समान अत्यन्त कठोर परिणाम वाले अहंकार को अनन्तानुवन्धी मान कहते हैं।

अनन्तानुवन्धी लोभ— कृमिरागरक्तपट्टसूत्ररागसमानः कथमप्यपनेतुमशक्योऽनन्तानुवन्धी लोभः। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. २०)।

कृमिराग से रंगे हुए वस्त्र के रंग के समान दीर्घ काल तक किसी भी प्रकार से नहीं छूटने वाले लोभ को अनन्तानुवन्धी लोभ कहते हैं।

अनन्तावधिजिन (अणंतोही)— अणंते त्ति उत्ते उक्कस्साणंतस्स गहणं, ××× उक्कस्साणंतो

ओही जस्स सो अणंतोही। × × × अथवाऽवयव-विणासाणं वाचओ अंतसद्दो घेत्तव्वो, ओही मज्जाया उक्कस्साणंतादो पुधभूदा। अन्तश्च अवधिश्च अन्तावधी, न विद्येते तौ यस्य स अनन्तावधिः। अभेदाज्जीवस्यापीयं संज्ञा। अनन्तावधयश्च ते जिनाश्च अनन्तावधिजिनाः। (धव. पु. ६, पृ. ५१–५२)।
जिस ज्ञान की अवधि (मर्यादा) उत्कृष्ट अनन्त है, अर्थात् जो ज्ञान अनन्त वस्तुओं को विषय करता है, वह अनन्तावधि कहलाता है; ऐसा ज्ञान जिन जिनों के—कर्मविजेताओं के–होता है उन्हें अनन्तावधिजिन जानना चाहिए।

अनन्तावबोध—अतीतानागत-वर्तमानाऽनन्तार्थ-व्यंजनपर्यायात्मकसूक्ष्मान्तरित-दूरार्थेषु अनन्तेषु अप्रतिबद्धप्रवृत्तिरमलः केवलाख्योऽनन्तावबोधः। (लघुस. सि. पृ. ११६)।
त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यों की अनन्त अर्थपर्यायों और व्यंजनपर्यायों को, तथा सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थों को निर्बाधरूप से जानने वाला निर्मल केवलज्ञान अनन्तावबोध कहलाता है।

अनन्तोपभोग—१. निरवशेषस्योपभोगान्तरायस्य प्रलयात् प्रादुर्भूतोऽनन्त उपभोगः क्षायिकः। (स. सि. २–४)। २. निरवशेषोपभोगान्तरायप्रलयादनन्तोपभोगः क्षायिकः। (त. वा. २, ४, ५)।
उपभोगान्तराय के निर्मूल विनष्ट हो जाने पर जो उपभोग प्रादुर्भूत होता है उसका नाम अनन्तोपभोग है।

अनपनीतत्व—अनपनीतत्वं कारक-काल-वचन-लिङ्गादिव्यत्ययरूपवचनदोषापेतता। (समवा. अभय. वृ. ३५; रायप. मलय. वृ. पृ. १७)।
कारक, काल, वचन और लिंग आदि के व्यत्ययरूप वचनदोष से रहित वाक्यप्रयोग को अनपनीतत्व कहते हैं।

अनपवर्तन—अनपवर्तनं यथावस्थितिकं पुरा बद्धं तस्य तावत्स्थितिकस्यैवानुभवनम्। (संग्रहणी वृ. २५६)।
पूर्व में बांधी हुई कर्मस्थिति का ह्रास न होकर उतनी ही स्थितिरूप कर्म का अनुभवन करने को अनपवर्तन कहते हैं।

अनपवर्तनीय—अनपवर्तनीयं पुनस्तावत्कालस्थित्यैव, न ह्रासमायाति स्वकालावधेरारात्। × × × एवं हि तीव्रपरिणामप्रयोगबीजजनितगवित तदायुरात्तमतीतजन्मनि न शक्यमन्तराल एवावच्छेत्तुमित्यनपवर्तनीयमुच्यते। (त. भा. सिद्ध. वृ. २–५१)।
आयु कर्म की जितनी स्थिति बांधी गई है उतनी ही स्थिति का वेदन करना व अपने काल की अवधि के पूर्व उसका विघात नहीं होना, इसका नाम उसकी अनपवर्तनीयता है। अभिप्राय यह है कि अनपवर्तनीय आयु वह कही जाती है जिसका विघात पूर्व जन्म में बांधी गई स्थिति के पूर्व किसी भी प्रकार से न हो सके।

अनभि(धि)गतचारित्रार्य— अन्तश्चारित्रमोहक्षयोपशमसद्भावे सति बाह्योपदेशनिमित्तविरतिपरिणामा अनभि(धि)गतचारित्रार्याः। (त. वा. ३, ३६, २)।
अन्तरंग में चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम होने पर और बहिरंग में गुरु के उपदेशादि का निमित्त मिलने पर जो चारित्र रूप परिणाम से युक्त हुए हैं उन्हें अनभिगतचारित्रार्य कहते हैं।

अनभिगृहीत मिथ्यात्व—१. न अभिगृहीतम् अनभिगृहीतम्, यथैक-द्वि-त्रि-चतुरिन्द्रियैर्भद्रकैश्च। (पंच. सं. स्वो. वृ. ४–२)। २. परोपदेशं विनापि मिथ्यात्वोदयादुपजायते यदश्रद्धानं तदनभिगृहीतं मिथ्यात्वम्। (भ. आ. विजयो. टी. ५६)। ३. अनभिगृहीतं परोपदेशं विनापि मिथ्यात्वोदयाज्जातम्। भ. आ. मूला. टी. ५६)।
२ परोपदेश के बिना ही मिथ्यात्व कर्म के उदय से जो तत्त्वों का अश्रद्धान उत्पन्न होता है, उसे अनभिगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं।

अनभिगृहीता क्रिया — अनभिगृहीताऽनभ्युपगतदेवताविशेषाणां तत्त्वार्थश्रद्धानम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–६)।
देवताविशेष को स्वीकार न करने वालों के तत्त्वार्थश्रद्धान को—विपरीत तत्त्वश्रद्धा को—अनभिगृहीता क्रिया कहते हैं।

अनभिगृहीता दृष्टि—सर्वप्रवचनेष्वेव साधुदृष्टिरनभिगृहीतमिथ्यादृष्टिः। सर्वमेव पुनरपुरस्तत्मक्-

क्तिकं वा समतया मन्यते मौढ्यात्। (त. भा. सि. वृ. ७-१८)।

जो सभी मत-मतान्तरों को समीचीन मानता हुआ सयुक्तिक व युक्तिशून्य कथन को मूर्खतावश समान मानता है, उसकी दृष्टि (श्रद्धा) को अनभिगृहीता दृष्टि कहा जाता है।

अनभिगृहीता भाषा—१. अनभिगृहीता भाषा अर्थमनभिगृह्य या प्रोच्यते डित्थादिवदिति। (दशवै. हरि. वृ. नि. ७-२७७); आव. हरि. वृ. म. हे. टि. पृ. ७६)। २. सा होइ अणभिगहिया जत्थ अणेगेसु पुट्ठकज्जेसु। एगयराणवहारणमहवा दिच्छाइयं वयणं। (भाषार. ७७); यत्र यस्यां अनेकेषु पृष्टकार्येषु मध्य एकतरस्यानवधारणमनिश्चयो भवति—एतावत्सु कार्येषु मध्ये किं करोमीति प्रश्नयेत् प्रतिभासते, तत्कुर्वति प्रतिवचने कस्यापि शृङ्गग्राहिकयाऽनिर्धारणात् सा ऽनभिगृहीता भवति। (भाषार.टी. ७७)।

१ अर्थ को नहीं ग्रहण करके बोली गई भाषा—जैसे डित्थ-डवित्थादि—को अनभिगृहीता भाषा कहते हैं। २ अथवा एक साथ पूछे गये अनेक कार्यों में से किसी एक का भी निश्चय न करके उत्तर देने को अनभिगृहीता भाषा कहते हैं।

अनभिग्रहा भाषा—अनभिग्रहा यत्र न प्रतिनियतार्थावधारणम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ११-१६५)।

प्रतिनियत अर्थ के निश्चय से रहित भाषा को अनभिग्रहा भाषा कहते हैं।

अनभिप्रेत (अणभिपेअ) — × × × अणभिप्पेओ अ पडिलोमो॥ (उत्तरा. नि. १-४३)।

अपने लिए अनिष्ट या प्रतिकूल वस्तु को अनभिप्रेत कहते हैं।

अनभियोग्य देव—तेभ्यो (अभियोगेभ्यो)ऽन्ये किल्विषिकादयोऽनुत्तमा देवा उत्तमाश्च पारिषदादयोऽनभियोग्याः। (जयध. पत्र ७६४)।

अभियोग्य देवों के अतिरिक्त जो किल्विषिक आदि अधम और पारिषद आदि उत्तम जाति के देव हैं वे अनभियोग्य देव कहलाते हैं।

अनभिसन्धिजवीर्य (अणभिसंधिजवीरय)—१. असंखेइया खल-रसातिपरिणामणा सत्ती अणभिसंधिजं वीरितं। (कर्मप्र. चू. गा. १-३)। २. इतरदनभिसन्धिजम्—यद् भुक्तस्याहारस्य धातु-मलत्वरूपपरिणामापादनकारणमेकेन्द्रियाणां वा तत्तत्क्रियानिबन्धनम्। (कर्मप्र. मलय. वृ. १-३, पृ. २०)।

२ उपभुक्त आहार को सप्त धातु और मल-मूत्रादि रूप परिणमाने वाली शक्ति को अनभिसन्धिज वीर्य कहते हैं। अथवा, जो एकेन्द्रिय जीवों की विविध क्रिया का कारण हो उसे अनभिसन्धिज वीर्य समझना चाहिए।

अनभिहित—अनभिहितं स्वसिद्धान्तेऽनुपदिष्टम्। (आव. मलय. वृ. नि. ८८२)।

अपने सिद्धान्त में अनुपदिष्ट या अकथित तत्त्व को अनभिहित कहते हैं।

अनर्थक्रिया—१. तद्विपरीता (अर्थदण्डरूपार्थक्रियाविपरीता) अनर्थक्रिया। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. पृ. ४१)। २. तदर्थाभावे तद्ग्रहणमनर्थाय क्रिया। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३, २७, ८२)।

प्रयोजन रहित क्रिया को अनर्थक्रिया कहते हैं।

अनर्थदण्ड—१. कज्जं किं पि ण साहदि णिच्चं पावं करेदि जो अत्थो। सो खलु हवे अणत्थो × × ×॥ (कार्तिके. ३४३)। २. उपकारात्यये पापादाननिमित्तमनर्थदण्डः। (त. वा. ७, २१, ४; त. श्लो. ७-२१)। ३. तद्विपरीतोऽनर्थदण्डः प्रयोजननिरपेक्षः, अनर्थः अप्रयोजनमनुपयोगो निष्कारणतेति पर्यायाः। विनैव कारणेन भूतानि दण्डयति, तथा कुठारेण प्रहृष्टस्तरुस्कन्ध-शाखादिषु प्रहरति, कृकलास-पिपीलिकादीन् व्यापादयति कृतसङ्कल्पः, न च तद्व्यापादने किञ्चिदतिशयोपकारि प्रयोजनं येन विना गार्हस्थ्यं प्रतिपालयितुं न शक्यते। (आव. हरि. वृ. ६, ८३; त. भा. सि. वृ. ७-१६)। ४. प्रयोजनं विना पापादानहेतुरनर्थदण्डः। (चा. सा. पृ. ६)। ५. शरीराद्यर्थविकलो यो दण्डः क्रियते जनैः सोऽनर्थदण्डः। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. २, ३५, ८१)।

१ जिस अर्थ से—क्रिया से—कार्य तो कुछ भी सिद्ध नहीं होता, किन्तु सदा पाप ही किया जाता है वह अनर्थदण्ड कहलाता है।

अनर्थदण्डविरति—१. अभ्यन्तरं दिगवधेरपार्थिकेभ्यः सपापयोगेभ्यः। विरमणमनर्थदण्डव्रतं विदुर्व्रतधराग्रण्यः॥ (रत्नक. ३-२८)। २. असत्युपकारे पापादानहेतुरनर्थदण्डः, ततो विरतिरनर्थदण्डविरतिः। (स. सि. ७-२१)। ३. उपकारात्यये पापादाननिमित्तमनर्थदण्डः॥४॥ असत्युपकारे पापा-

दानहेतुः अनर्थदण्ड इत्यवध्रियते । विरमणं विरतिः, निवृत्तिरिति यावत् । (त. वा. ७, २१, ४) । ४. अनर्थदण्डो नामोपभोग-परिभोगावस्यागारिणो व्रतिनोऽर्थः, तद्व्यतिरिक्तोऽनर्थः । तदर्थो दण्डोऽनर्थदण्डः । तद्विरतिर्व्रतम् । (त. भा. ७–१६) । ५. विरतिर्निवृत्तिरनर्थदण्डे अनर्थदण्डविषया । इह लोकमङ्गीकृत्य निःप्रयोजनभूतोपमर्दनिग्रहविषया । (श्रा. प्र. टी. २८९) । ६. असत्युपकारे पापादानहेतुः अनर्थदण्ड इति व्यवह्रियते । विरमणं विरतिः, निवृत्तिरिति यावत् । (त. श्लोक. ७–२१) । ७. एवं पंचपयारं अणत्थदंडं दुहावहं णिच्चं । जो परिहरेइ णाणी गुणव्वदी सो हवे विदिओ ।।(कार्तिके. ३४९)। ८. तद्विपरीतो(अर्थदण्डविपरीतो)ऽनर्थदण्डः प्रयोजननिरपेक्षः, अनर्थोऽप्रयोजनमनुपयोगो निष्कारणता, विनैव कारणेन भूतानि दण्डयति यथा कुठारेण प्रहृष्टस्तरुस्कन्ध-शाखादिषु प्रहरति कृकलास-पिपीलिकादि व्यापदयति । (त. भा. हरि. व सि. वृ. ७–१६) । ९. परोपदेशहेतुर्योऽनर्थदण्डोऽपकारकः । अनर्थदण्डविरतिर्व्रतं तद्विरतिः स्मृतम् । (ह. पु. ५८–१४७) । १०. दण्ड-पाश-बिडालाश्च विष-शस्त्राग्नि-रज्जवः । परेभ्यो नैव देयास्ते स्व-पराघातहेतवः ।। छेदं भेद-वधौ बन्ध-गुरुभारातिरोपणम् । न कारयति योऽन्येष तृतीयं तद् गुणव्रतम् ।। (वरांगच. १५, ११९-२०) । ११. समासतः सर्वमुपयुज्यमानं शरीरादीनामगारिणो व्रतिन उपकारकोऽर्थः, तस्मादुपकारकादर्थाद् व्यतिरिक्तोऽनर्थः । × × × तदर्थो दण्डः × × × तस्माद् विरतिः । (त. भा. सि. वृ. ७–१६) । १२. पञ्चधाऽनर्थदण्डस्य परं पापोपकारिणः । क्रियते यः परित्यागस्तृतीयं तद् गुणव्रतम् ।। (सुभाषित. ८००) । १३. योऽनर्थं पञ्चविधं परिहरति विवृद्धशुद्धधर्ममतिः । सोऽनर्थदण्डविरतिं गुणव्रतं नयति परिपूर्तिम् ।। (अमित. श्रा. ६–८०) । १४. मज्जार-साण-रज्जु वंड(?)लोहो य अग्गिविससत्थं । स-परस्स घादहेदुं अण्णेसिं णेव दादव्वं ।। वह-बंध-पास-छेदो तह गुरुभाराधिरोहणं चेव । ण वि कुणइ जो परेसिं विदियं तु गुणव्वयं होइ ।। (धर्मर. १४९–१५०) । १५. अर्थः प्रयोजनं धर्म-स्वजनेन्द्रियगतमुपकाररूपम्, तस्मै अर्थाय दण्डः सावद्यानुष्ठानरूपस्तत्प्रतिषेधादनर्थदण्डः, तस्य विरतिरनर्थदण्डविरतिः । (धर्मबि. मु. वृ. ३-१७)। १६. शरीरादिनिमित्तं यः प्राणिनां दण्डः सोऽर्थाय प्रयोजनाय दण्डोऽर्थदण्डः, तस्य शरीराद्यर्थदण्डस्य यः प्रतिपक्षरूपोऽनर्थदण्डो निष्प्रयोजनो दण्ड इति यावत्, तस्य त्यागोऽनर्थदण्डविरतिः । (योगशा. स्वो. विव. ३-७४)। १७. शरीराद्यर्थदण्डस्य प्रतिपक्षतया स्थितः । योऽनर्थदण्डस्तत्त्यागस्तृतीयं तु गुणव्रतम् ।। (त्रि. श. पु. च. १, ३, ६३८) । १८. पीडा पापोपदेशाद्यैर्देहाद्यर्थाद्विनाऽङ्गिनाम् । अनर्थदण्डस्तत्त्यागोऽनर्थदण्डव्रतं मतम् ।। (सा. ध. ५–६) । १९. असत्युपकारे पापादानहेतुः पदार्थोऽनर्थ इत्युच्यते, न विद्यतेऽर्थ उपकारलक्षणं प्रयोजनं यस्यासावनर्थ इति व्युत्पत्तेः । स च दण्ड इव दण्डः पीडाहेतुत्वात् । ततोऽनर्थश्चासौ दण्डश्चानर्थदण्ड इत्यवधार्यते । विरमणं विरतिर्निवृत्तिरित्यर्थः । (त. सुखबो. वृ. ७–२१)। २०. पाश-मण्डल-मार्जार-विष-शस्त्र-कृशानवः । न पापं च अमी देयास्तृतीयं स्याद् गुणव्रतम् । (पू. उपा. ३०) । २१. खनित्र-विष-शस्त्रादेर्दानं स्याद् वधहेतुकम् । तत्त्यागोऽनर्थदण्डानां वर्जनं तत् तृतीयकम् ।। (भावसं. वाम. ४६१) । २२. अर्थः प्रयोजनं तस्याभावोऽनर्थः स पञ्चधा । दण्डः पापास्रवस्तस्य त्यागस्तद्व्रतमुच्यते ।। (धर्मसं. श्रा. ७–८) । २३. तस्य (पञ्चप्रकारस्य अनर्थदण्डस्य) सर्वस्यापि परिहरणम् अनर्थदण्डविरतिव्रतनामकं तृतीयं व्रतं भवति । (त. वृत्ति श्रुत. ७–२१) ।

जिन कार्यों के करने से अपना कुछ भी प्रयोजन सिद्ध न हो, किन्तु केवल पाप का ही संचय हो, ऐसे पापोपदेश आदि पांच प्रकार के अनर्थदण्डों के त्याग को अनर्थदण्डविरति या अनर्थदण्डव्रत कहते हैं ।

अनर्पित—१. तद्विपरीतम् (अर्पितविपरीतम्) अनर्पितम् । (स. सि. ५–३२); २. तद्विपरीतमनर्पितम् ।।२।। प्रयोजनाभावात् सतोऽप्यविवक्षा भवतीत्युपसर्जनीभूतमनर्पितमित्युच्यते । (त. वा. ५, ३२, २) । ३. अनर्पितव्यावहारिकम् । (त. भा. ५–३१) । ४. × × × किन्तु [illegible] [illegible] अविवक्षिता अनर्पिता इति × × × । (धव. पु. ८, पृ. ६) । ५. तद्विपरीत (अर्पितविपरीतम्) अनर्पितम् । (त. सुखबो. वृ. ५–३२) । ६. नार्पितं न प्रापितं न प्राधान्यं न उपनीतं न विवक्षितमनर्पितम् उच्यते, प्रयोजनाभावात् सतोऽपि

स्वभावस्याविवक्षितत्वात् उपसर्जनीभूतम् अप्रधानभूतम् अनर्पितमित्युच्यते। (त. वृ. श्रुत. ५-३२)।

१ अविवक्षित या अप्रधान वस्तु को अनर्पित कहते हैं।

अनवधृतकालानशन — अनवधृतकालमादेहोपरमात्। (त. वा. ९, १९, २)।

जिस अनशन (उपवास) का कोई काल नियत नहीं है, ऐसे यावज्जीवन चलने वाले अनशन को अनवधृतकालानशन कहा जाता है।

अनवस्था दोष—१. अप्रामाणिकानन्तपदार्थपरिकल्पनया विश्रान्त्यभावोऽनवस्था। (प्र. र. माला पृ. २७७, टि. १०)। २. अनवस्थालता च स्यान्नभस्तलविसर्पिणी। (चन्द्रप्र. च. २-५८)। ३. तथा चोक्तम्—मूलक्षतिकरीमाहुरनवस्था हि दूषणम्। वस्त्वानन्त्येऽप्यशक्तौ च नानवस्था विचार्यते। (प्र. र. माला पृ. १७१)। ४. अनवस्था तु पुनः पुनः पदद्वयावर्तनरूपा प्रसिद्धैव। (अभि. रा. १, पृ. ३०२)।

१ अप्रामाणिक अनन्त पदार्थों की कल्पना करते हुए जो विश्रान्ति का अभाव होता है, इसका नाम अनवस्था दोष है।

अनवस्थाप्यता — १. हस्ततालादिप्रदानदोषाद् दुष्टतरपरिणामत्वाद् व्रतेषु नावस्थाप्यते इत्यनवस्थाप्यः, तद्भावोऽनवस्थाप्यता। (आव. हरि. वृ. नि. १४१८)। २. अवस्थाप्यत इत्यवस्थाप्यस्तन्निषेधादनवस्थाप्यः, तस्य भावोऽनवस्थाप्यता, दुष्टतरपरिणामस्याकृततपोविशेषस्य व्रतानामा[मना]रोपणम्। (योगशा. स्वो. विव. ४-९०)।

१ हस्तताल—हाथ से ताडन—आदि प्रदान के दोष से अत्यन्त दुष्ट परिणाम होने के कारण व्रतादिक में अवस्थापन की अयोग्यता को अनवस्थाप्यता कहते हैं।

अनवस्थाप्यार्ह—जम्मि पडिसेविए उवट्ठावणाअजोगो, कंचि कालं न वएसु ठाविज्जइ जाव पइविसिट्ठतवो न चिण्णो, पच्छा य चिण्णतवो तद्दोसोवरओ वएसु ठाविज्जइ, एयं अणवट्ठप्पारिहं। (जीत. चू. पृ. ६)।

जिसका सेवन करने पर कुछ काल व्रतों में स्थापना के योग्य नहीं होता, पश्चात् तप का अनुष्ठान करने पर उस दोष के शान्त हो जाने से व्रतों में जो स्थापन के योग्य हो जाता है, इसका नाम अनवस्थाप्यार्ह है।

अनवस्थितावधि—१. अनवस्थितं हीयते वर्धते च, वर्धते हीयते च, प्रतिपतति चोत्पद्यते चेति पुनः पुनरूर्मिवत्। (त. भा. १-२३)। २. अन्योऽवधिः सम्यग्दर्शनादिगुणहानि-वृद्धियोगाद्यत्परिमाण उत्पन्नस्ततो वर्धते यावदनेन वर्धितव्यम्, हीयते च यावदनेन हातव्यं वायुवेगप्रेरितजलोर्मिवत्। (स. सि. १-२२; त. वा. १, २२, ४; त. वृ. श्रुत. १-२२; सुखबो. वृ. १-२२)। ३. जमोहिणाणमुप्पण्णं संतं कयावि वड्ढदि, कयावि हायदि, कयावि अवट्ठाणभावमुवणमदि; तमणवट्ठिदं णाम। (धव. पु. १३, पृ. २९४)। ४. विशुद्धेरनवस्थानात् सम्भवेदनवस्थितः। (त. श्लोक. १, २२); नावतिष्ठते क्वचिदेकस्मिन् वस्तुनि शुभाशुभानेकसंयमस्थानलाभात्। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-२३)। ५. यत्कदाचिद्वर्धते, कदाचिद्धीयते, कदाचिदवतिष्ठते च तदनवस्थितम्। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. ३७२)।

१ जो अवधिज्ञान वायु से प्रेरित जल की लहर के समान हानि को प्राप्त होता है व बढ़ता भी है, बढ़ता है व हानि को भी प्राप्त होता है तथा च्युत भी होता है व उत्पन्न भी होता है; उसे अनवस्थित अवधि कहते हैं। २ जो अवधिज्ञान सम्यग्दर्शन आदि गुणों की हानि और वृद्धि के योग से जितने प्रमाण में उत्पन्न हुआ है उससे जहां तक बढ़ना चाहिए बढ़ता भी है, और जहां तक हानि को प्राप्त होना चाहिए हानि को भी प्राप्त होता है, उसे अनवस्थित अवधिज्ञान कहा जाता है।

अनवेक्ष्याप्रमृज्यसंस्तार—संस्तीर्यते यः प्रतिपन्नपोषधव्रतेन दर्भ-कुश-कम्बलि-वस्त्रादिः स संस्तारः, स चावेक्ष्य प्रमार्ज्य च कर्तव्यः, अनवेक्ष्याप्रमार्ज्य च करणेऽतिचारः। इह चानवेक्षणेन दुरवेक्षणम् अप्रमार्जनेन दुष्प्रमार्जनं संगृह्यते। (योगशा. स्वो. विव. ३-११८)।

भली भांति देखे और प्रमार्जन किये बिना ही दर्भ-शय्यादि के बिछाने को अनवेक्ष्याप्रमृज्यसंस्तार कहते हैं। यह पोषधव्रत का तीसरा अतिचार है।

अनवेक्ष्याप्रमृज्यादान—आदानं ग्रहणं यष्टि-पीठफलकादीनाम्, तदप्यवेक्ष्य प्रमृज्य च कार्यम्; अनवेक्षितस्याप्रमार्जितस्य चादानमतिचारः। आदानग्रहणेन निक्षेपोऽप्युपलक्ष्यते यष्ट्यादीनाम्, तेन सोऽप्यवेक्ष्य प्रमार्ज्य च कार्यः। अनवेक्ष्याप्रमृज्य च

निक्षेपोऽतिचार इति द्वितीयः। (योगशा. स्वो. विव. ३-११८)।

विना देखे और विना प्रमार्जन किये ही लाठी आदि किसी पदार्थ के ग्रहण करने या रखने को अनवेक्ष्या-प्रमृज्यादान कहते हैं। यह पोषधव्रत के पांच अति-चारों में दूसरा है।

अनवेक्ष्याप्रमृज्योत्सर्ग — उत्सर्जनमुत्सर्गस्त्यागः, उच्चारप्रस्रवणखेलसिंघाणकादीनामवेक्ष्य प्रमृज्य च स्थण्डिलादौ उत्सर्गः कार्यः। अवेक्षणं चक्षुषा निरीक्षणम्, मार्जनं वस्त्रप्रान्तादिना स्थण्डिलादेरेव विशुद्धीकरणम्। अथानवेक्ष्याप्रमृज्य चोत्सर्गं करोति तदा पोषधव्रतमतिचरति। (योगशा. स्वो. विव. ३-११८)।

विना देखे और विना प्रमार्जन किये ही शरीर के मल-मूत्र, कफ और नासिकामल आदि का जहां कहीं भी क्षेपण करना; इसे अनवेक्ष्याप्रमृज्योत्सर्ग कहते हैं। यह पोषधव्रत का प्रथम अतिचार है।

अनशन—१. अशनमाहारस्तत्परित्यागोऽनशनम्। (त. भा.हरि. व सिद्ध. वृ. ९-१९; योगशा.स्वो.विव. ४-८९)। २. न अशनमनशनम्—आहारत्यागः। (दशवै. हरि. वृ. १-४७)। ३. अशनत्यागोऽनशनम् ×××। (श्रा. सा. ६-५)। ४. खाद्यादिचतुर्धाऽऽहारसंन्यासोऽनशनं मतम्। (लाटीसं. ७-७६)।

चारों आहार के परित्याग को अनशन कहते हैं।

अनशन तप— देखो अनेषण। १. संयमरक्षणार्थं कर्मनिर्जरार्थं च चतुर्थ-षष्ठाष्टमादि सम्यगनशनं तपः। (त. भा. ९-१९)। २. दृष्टफलानपेक्षं संयमप्रसिद्धि-रागोच्छेद-कर्मविनाश-ध्यानागमावाप्त्यर्थमनशनम्। (स. सि. ९-१९; त. वा. ९, १९, १; त. श्लो. ९-१९)। ३. अनशनं नाम यत्किंचिद् दृष्टफलं मंत्रसाधनाद्यनुद्दिश्य क्रियमाणमुपवसनमनशनम्। (चा. सा. पृ. ५९)। ४. चतुर्थाद्यर्धवर्षान्त उपवासोऽथवाऽऽमृतेः। सकृद्भुक्तिश्च मुक्त्यर्थं तपोऽनशनमिष्यते। (अन. ध. ७-११)। ५. तदात्व-फलमनपेक्ष्य संयमप्राप्तिनिमित्तं रागविध्वंसनार्थं कर्मणां चूर्णीकरणार्थं सद्ध्यानप्राप्त्यर्थं शास्त्राभ्यासार्थं च यत् क्रियते उपवासस्तदनशनम्। (त. वृ. श्रुत.९-१९)। ६. दृष्टफलानपेक्षमन्तरङ्गतपःसिद्ध्यर्थंमभोजनमनशनम्। (त. सुखबो. वृ. ९-१९)।

२ मंत्र-साधनादि किसी दृष्ट फल की अपेक्षा न करके संयम की सिद्धि, रागोच्छेद, कर्मविनाश, ध्यान और आगम की प्राप्ति के लिए जो भोजन का परित्याग किया जाता है उसका नाम अनशन है।

अनशनातिचार—स्वयं न भुङ्क्ते अन्यं भोजयति, परस्य भोजनमनुजानाति मनसा वचसा कायेन च, स्वयं क्षुधापीडित आहारमभिलषति, मनसा पारणां मम कः प्रयच्छति क्व वा लप्स्यामीति चिन्ता अनशनातिचारः। रसवदाहारमन्तरेण परिश्रमो मम नापैति इति वा, षड्जीवनिकायबाधायां अन्यतमेन योगेन वृत्तिः, प्रचुरनिद्रतया(?)संक्लेशक[कर]मनर्थमिदमनुष्ठितं मया, सन्तापकारीदं नाचरिष्यामि इति संकल्पः। (भ. आ. विजयो. टी. ४८७)। २. अनशनस्य परं मनसा वाचा कायेन वा भोजयतो भुंजानं वाऽनुमन्यमानस्य स्वयं वा क्षुत्क्षामतयाऽऽहारमभिलषतोऽतिचारः स्यात्, मनसा को मां पारणां प्रदास्यति क्व वा लप्स्ये इति चिन्ता वा, सुरसाहारमन्तरेण परिश्रमो मम नापैति इति वा, षड्जीवनिकायबाधायामन्यतमेन योगेन वृत्तिर्वा, प्रचुरनिद्रतया संक्लेशो वा, किमर्थमिदमनुष्ठितं मया, सन्तापकारि पुनरिदं नाचरिष्यामीति संक्लेशो वेति। (भ. आ. मूला. टी. ४८७)।

उपवास के दिन स्वयं भोजन न करके दूसरे को भोजन कराना, अन्य भोजन करने वाले की अनुमोदना करना, भूख से पीड़ित होने पर स्वयं आहार की अभिलाषा करना, कल मुझे कौन पारणा करायेगा व कहां वह प्राप्त होगी, इस प्रकार विचार करना; अथवा सुरस आहार के विना मेरा श्रम दूर नहीं होगा, इत्यादि विचार करना; यह अनशन का अतिचार है—उसे मलिन करने वाले ये सब दोष हैं।

अनस्तिकाय—कालोऽनस्तिकायः, तस्य प्रदेशप्रचयाभावात्। (धव. पु. ९, पृ. १६८)।

जिस द्रव्य के प्रदेशसमुदाय सम्भव नहीं है उसे अनस्तिकाय कहते हैं। ऐसा द्रव्य एक काल ही है।

अनाकाङ्क्षक्रिया—१. शाठ्यालस्याभ्यां प्रवचनोपदिष्टविधिकर्तव्यतानादरोऽनाकाङ्क्षक्रिया। (स. सि. ६-५; त. वा. ६, ५, १०)। २. शाठ्यालस्य-वशादर्हत्प्रोक्ताचारविधौ तु यः। अनादरः स [illegible] स्यादनाकाङ्क्षक्रिया [illegible]॥ (त. श्लो. ६, ५, २१)। ३. शाठ्यालस्याभ्यां [illegible] कर्तव्यतां प्रति। अनादरोऽनाकाङ्क्षक्रिया [illegible]। (ह. पु. ५८-७८)। ४. प्रमादालस्याभ्यां प्रवचनो-

पदिष्टविधिकर्तव्यताऽनादरोऽनाकाङ्क्षक्रिया । (त. सुखबो. वृ. ६–५)। ५. शठत्वेन अलसत्वेन च जिन-सूत्रोपदिष्टविधिविधानेऽनादरः अनाकाङ्क्षाक्रिया । (त. वृ. श्रुत. ६–५) ।

१ शठता या आलस्य के वश होकर आगमनिर्दिष्ट आवश्यक कार्यों के करने में अनादर का भाव रखना अनाकाङ्क्षक्रिया है ।

अनाकाङ्क्षणा (निःकाङ्क्षितत्व)—कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये । पापबीजे सुखेऽनास्थाश्रद्धा-नाकाङ्क्षणा स्मृता ॥ (रत्नक. १–१२) ।

कर्माधीन, विनश्वर, दुःखोत्पादक और पाप के बीज-भूत सांसारिक सुख में अनास्था का श्रद्धान करना —उसमें विश्वास न रखना, इसका नाम अना-काङ्क्षणा (सम्यग्दर्शन का निष्कांक्षित अंग) है ।

अनाकार — आकारो विकल्पः, सह आकारेण साकारः । अनाकारस्तद्विरीतः, निर्विकल्प इत्यर्थः । त. भा. सि. वृ. २–९) ।

आकार या विकल्प से रहित उपयोग को अनाकार या निर्विकल्प कहते हैं। उसे दर्शन भी कहा जाता है ।

अनाकारोपयोग—१. अणायारुवजोगो दंसणं । को अणागारुवजोगो णाम ? सागारुवजोगादो अण्णो । कम्म-कत्तारभावो आगारो, तेण आगारेण सह वट्ट-माणो उवजोगो सागारो त्ति । (धव. पु. १३, पृ. २०७)। २. पमाणदो पुधभूदं कम्ममायारो, तं जम्मि णत्थि सो उवजोगो अणायारो णाम, दंसणुव-जोगो त्ति भणिदं होदि । (जयध. पु. १, पृ. ३३१) । ३. इंदिय-मणोहिणा वा अत्थे अविसेसदूण जं गहणं । अंतोमुहुत्तकालो उवजोगो सो अणा-यारो ॥ (गो. जी. ६७५) । ४. अनाकारं निर्वि-कल्पकं दर्शनमित्यर्थः । (त.सुखबो. वृ. २–९) । ५. न विद्यते यथोक्तरूप आकारो यत्र सोऽनाकारः । स चासावुपयोगश्चानाकारोपयोगः । यत्तु वस्तुनः सामान्यरूपतया परिच्छेदः सोऽनाकारोपयोगः । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९–३१२) ।

२ प्रमाण से भिन्न कर्म—ज्ञान से भिन्न अन्य वहि-र्भूत विषय—का नाम आकार है। ऐसा आकार जिस उपयोगविशेष में सम्भव नहीं है उसे अना-कारोपयोग कहा जाता है। दूसरे शब्द से उसे दर्शनोपयोग भी कहा गया है ।

अनागत (अणागद)—१. जहा सव्वे लोए पत्थो तिहा विहत्तो अणागदो वट्टमाणो अदीदो चेदि । तत्थ अणिप्फण्णो अणागदो णाम । घडिज्जमाणो वट्टमाणो । णिप्फण्णो ववहारजोग्गो अदीदो णाम । × × × तधा कालो वि तिविहो अणागदो वट्टमाणो अदीदो चेदि । (धव. पु. ३, पृ. २९) । २. यो विवक्षितं वर्तमानसमयमवधीकृत्य भावी समयराशिः स सर्वोऽपि कालोऽनागतः । (ज्योतिष्क. मलय. वृ. १–७)। ३. अवधीकृत्य समयं वर्तमानं विवक्षितम् । भावी समयराशिर्यः कालः स स्यादनागतः । (लोक-प्र. २८–२९७) ।

१ अनिष्पन्न प्रस्थ (धान्य के मापने का एक माप-विशेष)के समान अनिष्पन्न सभी समयों को अनागत काल कहा जाता है। २ विवक्षित वर्तमान समय को अवधि करके—सीमारूप मानकर—उसके आगे की जितनी भी समयराशि (समयों का समूह) है उस सब ही को अनागत काल माना जाता है ।

अनाचरित दोष—१. दूरदेशाद् ग्रामान्तराद्वाऽऽनी-तमनाचरितम् । भ. आ. विजयो. २३०; कार्तिके.टी. ४४९, पृ. ३३८)। २. इतरत् (आचरिताद्विपरीतम्) अनाचरितम् । (भ. आ. मूला. टी. २३०) ।

दूर देश से या ग्रामान्तर से लाये हुए आहार को ग्रहण करना अनाचरित दोष है ।

अनाचार— १. × × × वदन्त्यनाचारमिहाति-सक्तताम् । (द्वात्रि. ९) । २. अनाचारो व्रतभङ्गः सर्वथा स्वेच्छया प्रवर्तनम् । (मूला. वृ. ११–११) । ३. गिलिते त्वाधाकर्म्मणा[ण्य]नाचारः । (व्यव. सू. भा. मलय. वृ. १–४३) । ४. साध्वाचारस्य परिभोगतो ध्वंसेऽनाचारः । (व्यव. १ उ.—अभि. रा. १, पृ. ३११) ।

१ विषयों में जो अतिशय आसक्ति होती है उसे अनाचार कहते हैं। ३ आधाकर्म के—अपने निमित्त से निर्मित भोजन के—निगलने पर साधु के अना-चार माना जाता है ।

अनाचिन्न—१. परदो वा तेहिं भवे तव्विवरीदं अणाचिण्णं । (मूला. ६-२०)। २. परतस्त्रिभ्यः सप्त-गृहेभ्यः ऊर्ध्वं यद्यागतमोदनादिकमनाचिन्नं ग्रहणायो-ग्यम्, तद्विपरीतं वा ऋजुवृत्त्या विपरीतेभ्यः सप्तभ्यो यद्यागत तदप्यनाचिन्नमादातुमयोग्यम् । (मूला. वृ. ६–२०) ।

आहार यदि तीन या सात घरों के अतिरिक्त आगे के घरों से लाया गया है तो वह अनाचिन्न—ग्रहण करने के अयोग्य—होता है।

अनात्तागति—अनात्ता अपरिगृहीता वेश्या, स्वैरिणी, प्रोषितभर्तृका, कुलाङ्गना वा अनाथा; तस्यां गतिरासेवनम्। इयं चानाभोगादिना अतिक्रमादिना वा अतिचारः। (योगशा. स्वो. विव. ३-९४)।

अनात्ता से अभिप्राय अपरिगृहीत वेश्या, कुलटा, प्रोषितभर्तृका (जिसका पति प्रवास में है), कुलीन स्त्री और अनाथ स्त्री का है। उसका सेवन करना, यह स्वदारसन्तोषव्रती के लिए अतिचार है।

अनात्मभूत (लक्षण)–तद्विपरीतं (यद्वस्तुस्वरूपाननुप्रविष्टं तत्) अनात्मभूतम्। यथा दण्डः पुरुषस्य। (न्यायदी. पृ. ६)।

जो लक्षण वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ न हो, उसे अनात्मभूत लक्षण कहते हैं। जैसे—पुरुष का लक्षण दण्ड।

अनात्मभूत (हेतु)—प्रदीपादिरनात्मभूतः (बाह्यो हेतुः)। ××× तत्र मनोवाक्कायवर्गणालक्षणो द्रव्ययोगः चिन्ताद्यालम्बनभूतः अन्तरभिनिविष्टत्वादाभ्यन्तर इति व्यपदिश्यमान आत्मनोऽन्यत्वादनात्मभूतः (आभ्यन्तरो हेतुः) इत्यभिधीयते। (त. वा. २, ८, १)।

उपयोग (चैतन्य परिणामविशेष) का जो हेतु आत्मा से सम्बन्ध को प्राप्त नहीं है वह बाह्य अनात्मभूत हेतु कहलाता है—जैसे प्रदीप आदि। उक्त प्रदीप आदि चक्षुरादि के समान आत्मा से सम्बद्ध न होकर भी आत्मा के उपयोग में हेतु होते हैं, अतः वे बाह्य अनात्मभूत हेतु हैं। चिन्ता आदि का आलम्बनभूत जो मन, वचन व काय वर्गणारूप द्रव्य योग है वह आभ्यन्तर अनात्मभूत हेतु कहलाता है। वह चूंकि आत्मा से भिन्न है, अतएव जैसे अनात्मभूत है वैसे ही वह अन्तरंग में निविष्ट होने से आभ्यन्तर भी है। वह भी उस उपयोग में हेतु होता ही है।

अनात्मशंसन—यदात्मव्यतिरिक्तं तदनात्म, तस्य शंसनं कथनम्, तत्स्वरूपम् अनात्मशंसनाष्टकम्। (ज्ञानसार वृत्ति १८, पृ. ६६)।

आत्मा के अतिरिक्त अन्य पर पदार्थों के स्वरूप के कहने को अनात्मशंसन कहते हैं।

अनादर—१. क्षुदम्यर्दितत्वादावश्यकेष्वनादरोऽनुत्साहः। (स. सि. ७-३४; चा. सा. पृ. १२; सा. ध. स्वो. टी. ५-४०; त. सुखबो. वृत्ति ७-३४)। २. इतिकर्तव्यं प्रत्यसाकल्याद्यथाकथञ्चित्प्रवृत्तिरनुत्साहोऽनादरः इत्युच्यते। (त. वा. ७, ३३, ३; चा. सा. पृ. ११, त. सुखबो. वृ. ७-३३); आवश्यकेष्वनादर; ॥४॥ आवश्यकेषु अनादरः अनुत्साहो भवति। कुतः? क्षुदम्यर्दितत्वात्। (त. वा. ७, ३४, ४)। ३. आवश्यकेष्वनादरोऽनुत्साहः। (त. श्लो. ७-३४); ४. अनादरः पोषधव्रतप्रतिपत्तिकर्तव्यतायामिति चतुर्थः। (योगशा. स्वो. विव. ३-११८; अनादरोऽनुत्साहः प्रतिनियतवेलायां सामायिकस्याकरणम्, यथाकथंचिद्वा करणम्, प्रबलप्रमादादिदोषात् करणानन्तरमेव पारणं च। (योगशा. स्वो. विव. ३-११६; सा. ध. स्वो. टी. ५-३३। ५. अनादरः पुनः प्रबलप्रमादादिदोषाद् यथाकथंचित्करणं कृत्वा वा ऽकृतसामायिककार्यस्यैव तत्क्षणमेव पारणमिति। (धर्मबि. मु. वृ. १६४)। ६. अनादरः अनुत्साहः प्रतिनियतवेलायां सामायिकस्याकरणम्। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. २, ५५, ११४)। ७. यदाऽन्यस्यतया मोहात्कारणाद्वा प्रमादतः। अनुत्साहतया कुर्यात्तदाऽनादरदूषणम्। (लाटीसं. ६-१९३)। ८. चतुर्थोऽतिचार अनादर अनुत्साहः अनुद्यम इति यावत्। (त. वृ. श्रुत. ७-३३; क्षुधा-तृषादिभिरभ्यर्दितस्य आवश्यकेषु अनुत्साहः अनादर उच्यते। त. वृ. श्रुत. ७-३४)।

भूख-प्यास, श्रम व आलस्यादि के कारण सामायिक और पोषधोपवास आदि से सम्बद्ध आवश्यक क्रियाओं के करने में उत्साह न रख कर उन्हें यथाकथंचित् पूरा करने को अनादर नामका अतिचार कहते हैं।

अनादिकरण—१. धम्माधम्मागासा एवं तिन्नि भवे अणाईयं। (उत्तरा. नि. ४-१८६)। २. धर्माधर्माकाशानामन्योन्यसंवलनेन सदाऽवस्थानमनादिकरणम्। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ४-१८६)।

धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्यों के परस्पर व्याघात के बिना सदा एक साथ अवस्थान को अनादिकरण कहते हैं।

अनादि-नित्य-पर्यायार्थिक नय—अकट्टिमा अणिहणा ससि-सूराईण पज्जया गिण्हइ। जो सो अणाइ-

णिच्चो जिणभणिओ पज्जयत्थिणयो। (ल. न. च. २७; वृ. न. च. २००)।
जो नय अकृत्रिम व अनादिनिधन चन्द्र-सूर्यादिक की पर्यायों को ग्रहण करे, उसे अनादि-नित्यपर्यायार्थिक नय कहते हैं।

अनादिपरिणाम—तत्रानादिर्धर्मादीनां गत्युपग्रहादिः सामान्यापेक्षया। (स. सि. ५-४२; त. वृ. श्रुत. ५-४२)। २. अनादिर्लोकसंस्थान-मन्दराकारादिः। (त. वा. ५, २२, १०); तत्रानादिर्धर्मादीनां गत्युपग्रहादि। (त. वा. ५, ४२, ३)। ३. तत्रानादिर्लोकसंस्थानमन्दराकारादिः। स पुरुषप्रयत्नापेक्षत्वाद्वैस्रसिकः। (त. सुखबो. वृ. ५-२२); तत्रानादिर्धर्मादीनां गत्युपग्रहादिस्वतुल्यकालसन्तानवर्ती सामान्यरूपः। (त. सुखबो. वृ. ५-४२)।
अनादिकालीन लोक व सुमेरु पर्वत का आकार आदि तथा धर्म-अधर्म आदि का गति-स्थिति आदि उपकार अनादि परिणाम कहलाता है।

अनादि-सान्त (बन्ध)—यस्त्वनादिकालात् सततप्रवृत्तोऽपि पुनर्बन्धव्यवच्छेदं प्राप्स्यति असावनादिसान्तः, अयं भव्यानाम्। (शतक. दे. स्वो. वृ. ५)।
अनादि काल से प्रवृत्त होकर भविष्य में विच्छेद को प्राप्त होने वाले बन्ध को अनादि-सान्त बन्ध कहते हैं।

अनादिसिद्धान्तपद—अनादिसिद्धान्तपदानि धर्मास्तिरधर्मास्तिरित्येवमादीनि। अपौरुषेयत्वतोऽनादिः सिद्धान्तः, स पदं स्थानं यस्य तदनादिसिद्धान्तपदम्। (धव. पु. १, पृ. ७६); धम्मत्थिओ अधम्मत्थिओ कालो पुढवी आऊ तेऊ इच्चादीणि अणादियसिद्धंतपदाणि। (धव. पु. ६, पृ. १३८)।
जिनका पद (स्थान) अपौरुषेय होने से अनादि परमागम है ऐसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल, पृथिवी, अप् और तेज आदि पद अनादिसिद्धान्त पद कहलाते हैं।

अनादृत—१. आदरः सम्भ्रमस्तत्करणमादृतता, सा यत्र न भवति तदनादृतमुच्यते। (आव. ह. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ८७)। २. अनादृतं सम्भ्रमरहितं वन्दनम्। (योगशा. स्वो. विव. ३-१३०)।
आदर के बिना जो वन्दनादि क्रिया-कर्म किया जाता है उसे अनादृत कहते हैं।

अनादृत दोष (अणाढिय दोष)—आयरकरणं आढा तव्विवरीयं अणाढियं होइ। (प्रव. सारो. गा. १५५)। २. अनादृतं विनाऽऽदरेण सम्भ्रममन्तरेण यत् क्रियाकर्म क्रियते तदनादृतमित्युच्यते। (मूला. वृ. ७-१०६)। ३. अनादृतमतात्पर्यं वन्दनायां ××× । (अन. ध. ८-९८)।
देखो अनादृत।

अनादेयनाम — १. निष्प्रभशरीरकारणमनादेयनाम। (स. सि. ८-११; त. वा. ८, ११, ३७; त. श्लो. ८-११; भ. आ. मूला. टीका २१२४; गो. क. जी. प्र. टी. ३३; त. सुखबोध वृ. ८-११; त. वृ. श्रुत. ८-११)। २. विपरीतं (अनादेयभावनिर्वर्तकम्) अनादेयनाम। (त. भा. ८-१२)। ३. तद्विपरीतमनादेयम्। श्रावकप्र. टी. २४)। ४. युक्तियुक्तमपि वचनं यदुदयान्न प्रमाणयन्ति लोकाः, न चाभ्युत्थानाद्यर्हणमर्हस्यापि कुर्वन्ति, तदनादेयनामेति। अथवा आदेयता श्रद्धेयता दर्शनीयता यस्य भवति स च शरीरगुणो यस्य विपाकाद् भवति तदादेयनाम। एतद्-विपरीतमनादेयनामेति। (त. हरि. व सिद्ध. वृ. ८-१२)। ५. अनादेयकर्मोदयादग्राह्यवाक्यो भवति। (पंचसं. स्वो. वृ. ३-१६)। ६. यदुदयादनादेयत्वं निष्प्रभशरीरम्, अथवा यदुदयादनादेयवाक्यं तदनादेयं नाम। (मूला. वृ. १२, १९६)। ७. तव्विवरीयभावणिव्वत्तयकम्ममणादेयं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ६५); जस्स कम्मस्सुदएण सोभणाणुट्ठाणो वि जीवो ण गउरविज्जदि तमणादेज्जं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६६)। ८. यदुदयाद् युक्तमपि ब्रुवाणः परिहार्यवचनस्तदनादेयनाम। (प्रव. सारो. टी. गा. १२६६; शतक. मल. हेम. टीका ३७; कर्मस्तव गो. वृ. गा. ९-१०)। ९. तद्विपरीतम् (आदेयविपरीतम्) अनादेयम्, यदुदयवशादुपपन्नमपि ब्रुवाणो नोपादेयवचनो भवति, नाप्युपक्रियमाणोऽपि जनस्तस्याभ्युत्थानादि समाचरति। (प्रज्ञापना मलय. वृत्ति २३-२९३, पृ. ४७५; पञ्चसं. मलय. वृत्ति ३-८)। १०. यदुदयवशात्तु उपपन्नमपि ब्रुवाणो नोपादेयवचनो भवति, न च लोकोऽभ्युत्थानादि तस्य करोति तदनादेयनाम। (षष्ठ कर्म. मलय. वृ. ६; कर्मवि. दे. स्वो. टीका गा. ५०; कर्मप्र. यशो. टी. १)। ११. (आएज्जकम्मउदए चिट्ठा जीवाण भासणं जं च। तं बहु मन्नइ लोओ) अबहुमयं इयरउदएण।

(कर्मवि. गर्ग. गा. १४६)। १२. न आदेयमनादेयम्, यदुदयाज्जीवोऽनादेयो भवति अग्राह्यवाक्यो भवति, सर्वोऽप्यवज्ञां विधत्ते, तदनादेयनाम। (कर्मवि. पू. व्या. गा. ७५)।

४ जिसके उदय से युक्तियुक्त वचन होने पर भी लोग उसे प्रमाण न मानें, आदर का पात्र होने पर भी उठकर खड़े हो जाने आदि रूप योग्य आदर व्यक्त न करें, अथवा जिसके उदय से वह शरीरगुण न प्राप्त हो सके कि जिसके आश्रय से देखने मात्र से ही लोगों के द्वारा आदेय (ग्राह्य या श्रद्धाका पात्र) हो सके उसे आदेय नामकर्म कहते हैं।

अनादेश — अनादेशः सामान्यम्। सामान्यत्वं चौदयिकादीनां गति-कषायादिविशेषष्वनुवृत्तिधर्मकत्वात् (उत्तरा. नि. वृ. १-४८)।

गति-कषायादि औदयिक भावविशेषों में रहने वाले अनुवृत्ति स्वरूप सामान्य का नाम अनादेश है।

अनाद्यनन्त बन्ध—न विद्यते आदिर्यस्यानादिकालसन्तानभावेन सततप्रवृत्तेः सो अनादिः, अनादिश्चासौ अनन्तश्च कदाचिदप्यनुदयाभावादनाद्यनन्तः। ××× यो हि बन्धोऽनादिकालादारभ्य सन्तानभावेन सततं प्रवृत्तो न कदाचन व्यवच्छेदमापन्नो न चोत्तरकालं कदाचिद् व्यवच्छेदमाप्स्यति सोऽनाद्यनन्तो ऽभव्यानामेव भवति। (शतक. दे. स्वो. टी. ५)।

जिसका आदि-अन्त नहीं है—जो निरन्तर प्रवर्तमान है, ऐसा बन्ध अनाद्यनन्त कहा जाता है। जो न कभी विच्छेद को प्राप्त हुआ है और न आगे भी कभी विच्छेद को प्राप्त होने वाला है वह अनाद्यनन्त बन्ध कहलाता है, जो अभव्य जीवों के ही होता है।

अनाद्यपर्यवसाननित्यता —तथाद्या लोकसंनिवेशवदनासादितपूर्वापरावधिविभागा सन्तत्यव्यवच्छेदेन स्वभावमजहती तिरोहितानेकपरिणतिप्रसवशक्तिगर्भा भवनमात्रकृतास्पदा प्रतीतैव। (त. भा. सिद्ध. वृ. ५-४)।

जो नित्यता लोक के आकार के समान पूर्वापर अवधि के विभागों से रहित होकर अव्युच्छिन्न सन्तानपरम्परा से स्वभाव को न छोड़ती हुई तिरोहित अनेक अवस्थाओं के उत्पादन की शक्ति को अव्यक्त रूप से अपने भीतर रखती है उसे अनाद्यपर्यवसान-नित्यता कहते हैं।

अनानुगामिक अवधि—देखो अननुगामिक। १. ×× × अणाणुगामिअं ओहिनाणं से जहा नामए केइ पुरिसे एगं महंतं जोइट्ठाणं काउं तस्सेव जोइट्ठाणस्स परिपेरंतेहिं परिपेरंतेहिं परिघोलेमाणे२ तमेव जोइट्ठाणं पासइ, अन्नत्थ गए न पासइ, एवमेव अणाणुगामिअं ओहिनाणं जत्थेव समुप्पज्जइ तत्थेव संखेज्जाणि असंखेज्जाणि वा संबद्धाणि वा असंबद्धाणि वा जोअणाइं जाणइ पासइ, अन्नत्थ गए ण पासइ, से त्तं अणाणुगामिअं ओहिणाणं। (नन्दी. सू. ११)। २. अनानुगामिकं यत्र क्षेत्रे स्थितस्योत्पन्नं ततः प्रच्युतस्य प्रतिपतति प्रश्नादेशपुरुषज्ञानवत्। (त. भा. १-२३)। ३. एवमेव (ज्योतिःप्रकाशितं क्षेत्रं पश्यन् पुरुष इव) अनानुगामुकमवधिज्ञानं यत्रैव क्षेत्रे व्यवस्थितस्य सतः समुत्पद्यते तत्रैव व्यवस्थितः सन् संख्येयानि वा असंख्येयानि वा योजनानि सम्बद्धानि वा असंबद्धानि वा जानाति पश्यति; नान्यत्र, क्षेत्रसम्बन्धसापेक्षत्वादवधिज्ञानावरणक्षयोपशमस्य, तदेतदनानुगामुकम्। (नन्दी. हरि. वृ ११, पृ. ३३)। ४. अननुगमनशीलोऽननुगामुकः स्थितप्रदीपवत्। (आव. हरि. वृ. नि. ५६)। ५. तस्य (आनुगामिकस्य) प्रतिषेधोऽनानुगामिकमिति। अर्थमस्य भावयति—यत्र क्षेत्रे प्रतिश्रयस्थानादौ स्थितस्येति कायोत्सर्गक्रियादिपरिणतस्य उत्पन्नम्—उद्भूतं भवति तेन चोत्पन्नेन यावत् तस्मात् स्थानान्न निर्याति, तावज्जानातीत्यर्थः। ततोऽपक्रान्तस्य—स्थानान्तरवर्तिनः प्रतिपतति नश्यति। कथमिव? उच्यते—प्रश्नादेशपुरुषज्ञानवत्। (त. भा. सि. वृ. १-२३)। ६. न आनुगामिकं अनानुगामिकम्, शृंखलाप्रतिबद्धप्रदीप इव यन्न गच्छन्तमनुगच्छति तदवधिज्ञानमनानुगामिकम्। (नन्दी. मलय. वृ. सू. ९)। ७. तथा न आनुगामिकोऽनानुगामिकः शृंखलाप्रतिबद्धप्रदीप इव यो गच्छन्तं पुरुषं नानुगच्छतीति। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३३-३१९)। ८. उत्पत्तिक्षेत्र एव विषयावभासकमनानुगामिकम्। (जैनतर्क. पृ. ११८)।

३ जो अवधिज्ञान जिस क्षेत्र में अवस्थित जीव के उत्पन्न होता है उसी क्षेत्र में उसके अवस्थित रहने पर वह संख्यात व असंख्यात योजन के अन्तर्गत

अपने नियत विषय को जानता है, स्वामी के अन्यत्र जाने पर वह उसे नहीं जानता। इसका कारण यह है कि उसके आवारक अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम उक्त क्षेत्र के ही सम्बन्ध की अपेक्षा रखकर उत्पन्न हुआ है। ऐसे अवधिज्ञान को अनानुगामुक अवधिज्ञान कहा जाता है।

अनानुपूर्वी—देखो यथातथानुपूर्वी। से किं तं अणाणुपुव्वी ? एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए अणंतगच्छगयाए सेढीए अण्णमण्णब्भासो दुरूवूणो, से तं अणाणुपुव्वी। अहवा ××× से किं तं अणाणुपुव्वी ? एआए चेव एगाइआए एगुत्तरिआए असंखिज्जगच्छगयाए सेढीए अन्नमन्नब्भासो दुरूवूणो, से तं अणाणुपुव्वी। (अनुयोग. सू. ११४)।

अनुलोम (प्रथम-द्वितीय आदि) और विलोम (अन्त्य व उपान्त्य आदि) क्रम से रहित जो किसी की प्ररूपणा की जाती है उसका नाम अनानुपूर्वी है। उदाहरणार्थ—कालानुपूर्वी के आश्रय से समयादिरूप अनन्त कालभेदों की प्ररूपणा में अनानुपूर्वी के विकल्प इस प्रकार होते हैं—एक को आदि लेकर एक अधिक क्रम से चूंकि कालभेद अनन्त हैं, अतः १-२-३-४ आदि के क्रम से अन्तिम विकल्प तक अंकों को स्थापित करके उन्हें परस्पर गुणित करने पर जो राशि उपलब्ध हो उसमें से दो (प्रथम और अन्तिम अंकों के कम कर देने पर जो संख्या प्राप्त हो उतने प्रकृत में अनानुपूर्वी के विकल्प होते हैं। उनमें से वक्ता की इच्छानुसार किसी भी विकल्प को लेकर जो प्ररूपणा की जाती है वह अनानुपूर्वीक्रम से कही जावेगी।

अनाभिग्राहिक मिथ्यात्व—१. अनाभिग्राहिकं तु प्राकृतलोकानां सर्वे देवा वन्दनीया न निन्दनीयाः। एवं सर्वे गुरवः, सर्वे धर्मा इति। (योगशा. स्वो. विव. २–३)। २. मन्यतेऽङ्गी दर्शनानि यद्वशादखिलान्यपि। शुभानि माध्यस्थ्यहेतुरनाभिग्राहिकं हि तत्। (लोकप्र. ३–६९२)। ३. अनाभिग्राहिकं अज्ञानां गोपादीनामीषन्माध्यस्थ्याद्वाऽनभिगृहीतदर्शनविशेषा[णां] सर्वदर्शनानि शोभनानि इत्येवंरूपा या प्रतिपत्तिः। (कर्मस्त. गो. वृ. गा. ९–१०)। ४. एतद्-(आभिग्राहिक-) विपरीतमनाभिग्राहिकम्, यद्वशात् सर्वाण्यपि दर्शनानि शोभनानि इत्येवमीषन्माध्यस्थ्यमुपजायते। (षडशी. मलय. वृ. गा. ७५; पंचसं. मलय. वृ. ४-२; सम्बोध. वृ. ४७, पृ. ३२)।

२ सभी दर्शन—मत-मतान्तर—अच्छे हैं, इस प्रकार की बुद्धि से सबके समान मानने को अनाभिग्राहिक मिथ्यात्व कहते हैं।

अनाभोग—१. आभोगो उवओगो तस्साभावे भवे अणाभोगो। (प्रत्या. स्व. गा. ५५)। २. आभोगनमाभोगः, नाभोगः अनाभोगः, आगमस्यापर्यालोचोऽज्ञानमेव श्रेय इति भावः। (पञ्चसं. स्वो. वृ. ४–२)। ३. अनाभोगः सम्मूढचित्ततया व्यक्तोपयोगाभावो दोषाच्छादकत्वात् सांसारिकजन्महेतुत्वाद्वा। (ललितवि. पृ. ३)। ४. अनाभोगोऽज्ञानस्याकार्यमासेवमानस्य भवति। (आव. ह. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ९०)। ५. न विद्यते आभोगः परिभावनं यत्र तदनाभोगं तच्चैकेन्द्रियादीनामिति। (पञ्चसं. मलय. वृ. ४–२)।

१ उपयोग के अभाव का नाम अनाभोग (असावधानी) है। २ आगम का पर्यालोचन न करके अज्ञान को ही श्रेयस्कर मानना, इसका नाम अनाभोग मिथ्यात्व है।

अनाभोगक्रिया—१. अप्रमृष्टादृष्टभूमौ कायादिनिक्षेपोऽनाभोगक्रिया। (स. सि. ६–५; त. वा. ६, ५, ९; त. सुखबो. ६-५; त. वृ. श्रुत. ६–५)। २. अदृष्टे योऽप्रमृष्टे च स्थाने न्यासो यतेरपि। कायादेः सा त्वनाभोगक्रिया×××॥ (त. श्लो. ६, ५, १६)। ३. अप्रमृष्टाप्रदृष्टायां निक्षेपोऽङ्गादिनः क्षितौ। अनाभोगक्रिया सा तु ×××॥ (ह. पु. ५८-७३)। ४. अनाभोगक्रिया अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जिते देशे शरीरोपकरणनिक्षेपः। (त.भा. सि. वृ. ६-६)।

१ बिना शोधी और बिना देखी भूमि पर सोना व उठना-बैठना आदि शरीर सम्बन्धी क्रिया को अनाभोग क्रिया कहते हैं।

अनाभोगनिक्षेप—१. असत्यामपि त्वरायां जीवाः सन्ति न सन्तीति निरूपणमन्तरेण निक्षिप्यमाणं तदेवोपकरणादिकमनाभोगनिक्षेपाधिकरणम्। (भ. आ. विजयो. टी ८१४; अन. ध. स्वो. टी. ४–२८)। २. अनालोकितरूपतया उपकरणादिस्थापनं अनाभोग इत्युच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ६–९)।

१ शीघ्रता के न होने पर भी जीव-जन्तु के देखे बिना ही ज्ञान-संयम के साधनभूत उपकरणादि के रखने को अनाभोगनिक्षेप कहते हैं।

अनाभोगनिर्वर्तित कोप—यदा त्वेवमेव तथाविध-मुहूर्त्तवशाद् गुण-दोषविचारणाशून्यः परवशीभूय कोपं कुरुते तदा स कोपोऽनाभोगनिर्वर्तितः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १४–१९९)।

उस प्रकारके मुहूर्त के वश भले-बुरे का विचार किये बिना ही परवशता से क्रोध करने को अनाभोगनिर्वर्तित कोप कहते हैं।

अनाभोगनिर्वर्तिताहार— तद्विपरीतो (आभोगनिर्वर्तिताहारविपरीतो) अनाभोगनिर्वर्तितः, आहारयामीति विशिष्टेच्छामन्तरेण यो निष्पाद्यते प्रावृट्-काले प्रचुरतरमूत्राद्यभिव्यङ्ग्यशीतपुद्गलाहारवत् सोऽनाभोगनिर्वर्तितः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २८, ३०४)।

आहार की विशिष्ट इच्छा के बिना ही जिस किसी प्रकारके आहार के बनाने को अनाभोगनिर्वर्तित आहार (नारकियों का आहार) कहते हैं। जैसे वर्षा काल में बहुत अधिक मूत्र आदि से व्यक्त होने वाला उष्ण पुद्गलों का आहार।

अनाभोग बकुश—१. सहसाकारी अनाभोगबकुशः। (त. भा. सि. वृ. ९–४९)। २. शरीरोपकरण-विभूषणयोः सहसाकारी अनाभोगबकुशः। (प्रव. सारो. टी. गा. ७२४)। ३. द्विविधविभूषणस्य च सहसाकारी अनाभोगबकुशः। (धर्मसं. मान. स्वो. टी. ३–५६, पृ. १५२)।

सहसा बिना सोचे-विचारे शरीर और उपकरण आदि के विभूषित करने वाले साधु को अनाभोग बकुश कहते हैं।

अनाभोगिक—अनाभोगिकं विचारशून्यस्यैकेन्द्रिया-देर्वा विशेषविज्ञानविकलस्य भवति। (योगशा. स्वो. विव. २–३)।

विचारशून्य व्यक्ति के अथवा विशेष ज्ञान से रहित एकेन्द्रियादि के जो विपरीत श्रद्धान होता है उसका नाम अनाभोगिक मिथ्यात्व है।

अनाभोगित दोष— अनालोक्याप्रमार्जनं कृत्वा आदानं निक्षेपो वेति द्वितीयो भङ्गः। (भ. आ. विजयो. टी. ११९८)। २. अनालोक्याप्रमार्जनं कृत्वा पुस्तकादेरादानं निक्षेपं वा कुर्वतोऽनाभोगिता-ख्यो द्वितीयो दोषः। (भ. आ. मूला. टी. ११९८)।

बिना देखे और बिना शोधे पुस्तकादि को रखना या उठाना, यह अनाभोगित नाम का दोष है।

अनायतन (अणाययण)—१. सम्यक्त्वादिगुणानामायतनं गृहमावास आश्रय आधारकरणं निमित्तमायतनं भण्यते, तद्विपक्षभूतमनायतनम्। (बृ. द्रव्यसं. टी. गा. ४१)। २. मिथ्यादृग्ज्ञानवृत्तानि त्रीणि त्रींस्तद्वतस्तथा। षडनायतनान्याहुस्तत्सेवां दृङ्मलं त्यजेत्॥ (अन. ध. २–८४)। ३. कुदेव-लिङ्गि-शास्त्राणां तच्छ्रितां च भयादितः। षण्णां समाश्रयो यत्स्यात् तान्यनायतनानि षट्। (धर्मसं. श्रा. ४, ४४)। ४. सावज्जमणायवणं असोहिठाणं कुशीलसंसग्गि। एगट्ठा होंति पया एए विवरीय आययणा॥ (अभि. रा. १, पृ. ३१०)।

१ सम्यग्दर्शनादि गुणों के आश्रय या आधार को आयतन कहते हैं। और इनसे विपरीत स्वरूप वाले मिथ्यादर्शनादि के आश्रय या आधार को अनायतन कहते हैं।

अनार्य—१. ये सिंहला बर्बरका किराता गान्धार-काश्मीर-पुलिन्दकाश्च। काम्बोज-वाह्लीक-खसौद्रकाद्यास्तेऽनार्यवर्गे निपतन्ति सर्वे॥ × × × त्वनार्या विपरीतवृत्ताः॥(वरांग.८, ३-४)। २. अनार्याः क्षेत्र-भाषा-कर्मभिर्बहिष्कृताः × × यदि वा अविपरीत-दर्शनाः साम्प्रतेक्षिणो दीर्घदर्शिनो न भवन्त्यनार्याः। (सूत्रकृ. शी. वृ. २, ६, १८)। ३. सग-जवण-सबर-बब्बर-काय मुरुंडोड्ड गोण पक्कणया। अरवाग होण रोमय पारस खस खासिया चेव॥ दुंबिलय लउस बोक्कस-भिल्लंध पुलिंद कुंच भमररुआ। कोंवाय चीण चंचुय मालव दमिला कुलग्घा या॥ केक्कय किराय हयमुह खरमुह गय-तुरग-मिंढयमुहा य। हयकन्ना गयकन्ना अन्नेऽवि अणारिया बहवे॥ (प्रव. सारो. १५८३–८५)। ४. आराद् दूरेण हेयधर्मेभ्यो याताः प्राप्ताः उपादेयधर्मैरित्यार्याः, × × × तद्विपरीता अनार्याः, शिष्टासम्मतनिखिलव्यवहारा इत्यर्थः। (प्रव. सारो. वृ. १५८५)।

१ जिनका आचरण विपरीत है—निन्द्य है—वे अनार्य कहलाते हैं। वे कुछ ये हैं—सिंहल, बर्बरक, किरात, गान्धार, काश्मीर, पुलिन्द, काम्बोज, वाह्लीक, खस और औद्रक (आदि)।

अनालब्ध दोष—१. उपकरणादिकं [illegible] कृत्वा यः करोति [illegible]। (मूला. वृ. ७-१०६)। २. [illegible] × × [illegible] (अन. ध. ८–१०८)। ३. [illegible]

दोषः स्यात् । या किम् ? या क्रिया । कया ? तदाशया उपकरणाद्याकांक्षया । (अन. ध. स्वो. टीका ८, १०६) ।

१ उपकरणादि प्राप्त करने की इच्छा से गुरु की वन्दनादिक करना, यह अनालब्ध दोष कहलाता है ।

अनालम्वनयोग—१. तग्गुणपरिणइरूवो सुहुमोऽणालंवणो नाम ॥ (योगविं. १६) । २. सामर्थ्ययोगतो या तत्र दिदृक्षेत्यसङ्गसक्त्याढ्या । साऽनालम्वनयोगः प्रोक्तस्तद्दर्शनं यावत् ॥ (षोडशक १५–८) ।

२ सामर्थ्ययोग से—क्षपकश्रेणि के द्वितीय अपूर्वकरण गुणस्थान में होने वाले अतिक्रान्तविषयक शास्त्रदर्शित उपाय से—जो आसक्ति रहित निरन्तर प्रवृत्तिरूप असंग शक्ति से परिपूर्ण परतत्त्वविषयक देखने की इच्छा होती है, इसका नाम अनालम्वनयोग है ।

अनावृष्टि—आवृष्टिर्वर्षणम्, तस्य अभावः अनावृष्टिः । (धव. पु. १३, पृ. ३३६) ।

वृष्टि का अर्थ वर्षा होता है, उस वर्षा के न होने का नाम अनावृष्टि है ।

अनाशंसा—अनाशंसा सर्वेच्छोपरमः । (ललितवि. पं० पृ. १०२) ।

किसी भी प्रकारकी इच्छा के नहीं करने को अनाशंसा कहते हैं ।

अनाश्वान्—योऽक्ष-स्तेनेष्वविश्वस्तः शाश्वते पथि निष्ठितः । समस्तसत्त्वविश्वास्यः सोऽनाश्वानिह गीयते ॥ (उपासका. ८६६) ।

जो इन्द्रियरूप चोरों के विषय में विश्वास न कर —उनके विषयों की आशा स रहित हो, मोक्षमार्ग पर निष्ठा (आस्था) रखता हो, और समस्त प्राणियों का विश्वासपात्र हो; उसे अनाश्वान् कहते हैं ।

अनास्त्र(श्र)व (अणासव)—पाणवह-मुसावाया अदत्त-मेहुण-परिग्गहा विरओ । राईभोयणविरओ जीवो हवइ अणासवो ॥ पंचसमिओ तिगुत्तो अकसाओ जिइंदिओ । अगारवो य णिस्सल्लो जीवो हवइ अणासवो ॥ (उत्तरा. ३०, २–३) ।

हिंसादि पांच पापों से रहित, रात्रिभोजन से विरत, पांच समिति व तीन गुप्तियों से युक्त, कषाय से रहित, जितेन्द्रिय तथा गारव व शल्य से विहीन संयतको अनास्त्रव कहते हैं ।

अनाहार—शरीरप्रायोग्यपुद्गलपिण्डग्रहणमाहारः। ××× तद्विपरीतोऽनाहारः । (धव. पु. १, पृ. १५३) ।

औदारिकादि तीन शरीरों के योग्य पुद्गलों को नहीं ग्रहण करना अनाहार है ।

अनाहारक—१. त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलग्रहणमाहारः, तदभावादनाहारकः । (स. सि. २–३०; त. श्लो. २–३०; त. वृ. श्रुत. २–३० । २. विग्गहगदिमावण्णा केवलिणो समुग्घदो अजोगी य । सिद्धा य अणाहारा ×××॥ (प्रा. पञ्चसं. १–१७७; गो. जी. ६६५) । ३. अनाहारका ओजाद्याहाराणामन्यतमेनापि नाहारयन्तीत्यर्थः । (श्रा. प्र. टी. १६८) । ४. ××× ततोऽनाहारकोऽन्यथा ॥(त.सा. २–९४) । ५. सिद्ध-विग्रहगत्यापन्न-समुद्घातगतसयोगकेवल्ययोगिकेवलिनामेवानाहारकत्वात् । (जीवाजी. मलय. वृ. ९–२४७, पृ. ४४३) । ६. त्रीण्यौदारिक-वैक्रियिकाहारकाख्यानि शरीराणि षट् चाहार-शरीरेन्द्रियानप्राण-भाषा-मनःसंज्ञिकाः पर्याप्तीर्यथासम्भवमाहरतीत्याहारकः, नाहारकोऽनाहारकः । (त. सुखबो. वृ. २–३०) ।

१ तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गल स्वरूप आहार को न ग्रहण करने वाले जीवों को अनाहारक कहते हैं । २ विग्रहगति को प्राप्त चारों गति के जीव, समुद्घातगत सयोगिकेवली, अयोगिकेवली और सिद्ध; ये अनाहारक होते हैं ।

अनिकाचित—तव्विवरीदं (णिकाचिदविवरीयं) अणिकाचिदं । (धव. पु. १६, पृ. ५७६) ।

निकाचित से विपरीत अर्थात् जिन कर्मप्रदेशाग्रों का उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण या उदीरणा की जा सके; उन्हें अनिकाचित कहते हैं ।

अनिच्छाप्रवृत्तदर्शनवालमरण—१. कालेऽकाले वाऽध्यवसानादिना यन्मरणं जिजीविषोस्तद्द्वितीयम् । (भ. आ. विजयो.टी. २५)। २. कालेऽकाले वाऽध्यवसानादिना विना जिजीविषोर्मरणमनिच्छाप्रवृत्तम् । (भा. प्रा. टी. ३२) ।

२ काल या अकाल में अध्यवसान (विचार) आदि के विना जो जीवित के इच्छुक का मरण होता है उसे अनिच्छाप्रवृत्त-दर्शनवालमरण कहते हैं ।

अनित्थंलक्षण संस्थान—१. ततोऽन्यन्मेघादीनां संस्थानमनेकविधमित्यमिदमिति निरूपणाभावादनि-

त्थंलक्षणम् । (स. सि. ५–२४) । २. ××× अतोऽन्यदनित्थम् ॥ ××× अतोऽन्यन्मेघादीनां संस्थानमनेकविधमित्थमिदमिति निरूपणाभावात् अनित्थंलक्षणम् । (त. वा. ५, २४, १३; त. सुखबो. ५–२४) । ३. अनित्थंलक्षणं चानियताकारम् । (त. श्लो. ५–२४) । ४. ज्ञेयमम्भोधरादीनामनित्थलक्षणं तथा । (त. सा. ३–६४) । ५. इदं वस्तु इत्थंभूतं वर्तते इति वक्तुमशक्यत्वात् अनित्थंलक्षणं संस्थानमुच्यते । (त. वृत्ति श्रुत. ५–२४) । ६. पूर्वभवाकारस्यान्यथाव्यवस्थापनाच्छुषिरपूर्त्या । संस्थानमनित्थंस्थं स्यादेषामनियताकारम् ॥ (लोकप्र. २–११८) ।

१ किसी एक निश्चित आकार से रहित—अनियत आकार वाले—मेघादिकों के संस्थान को अनित्थंलक्षण संस्थान कहते हैं । ६ रिक्त स्थानों—जैसे आत्मप्रदेशों से रहित नासिका आदि—की पूर्ति होकर जो अनियत आकारवाला मुक्त जीवों का अन्य प्रकारका आकार हो जाता है वह अनित्थंलक्षण आकार कहा जाता है ।

अनित्य—अनित्यो हि प्रतिक्षणविनाशी । (स्या. मं. टी. ५) ।

प्रतिक्षण विनश्वर वस्तु को अनित्य कहते हैं ।

अनित्यनिगोत—त्रसभावमवाप्ता अवाप्स्यन्ति च ये ते अनित्यनिगोताः । (त. वा. २, ३२, २७) ।

जो निगोत जीव त्रस पर्याय को प्राप्त कर चुके हैं व आगे प्राप्त करने वाले हैं वे अनित्य निगोत कहे जाते हैं ।

अनित्यभावना—देखो अनित्यानुप्रेक्षा ।

अनित्यानुप्रेक्षा—१. इमानि शरीरेन्द्रियविषयोपभोग-परिभोगद्रव्याणि समुदायरूपाणि जलबुद्बुदवदनवस्थितस्वभावानि गर्भादिष्ववस्थाविशेषेषु सदोपलभ्यमानसंयोगविपर्ययाणि । मोहादत्राज्ञो नित्यतां मन्यते । न किञ्चित् संसारे समुदितं ध्रुवमस्ति आत्मनो ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावादन्यदिति चिन्तनमनित्यतानुप्रेक्षा । (स. सि. ९–७; त. वा. ९, ७, १) । २. इष्टजनसम्प्रयोगर्द्धिविषयसुखसम्पदस्तथाऽऽरोग्यम् । देहश्च यौवनं जीवितञ्च सर्वाण्यनित्यानि ॥ (प्रशमर. १५१) । ३. जं किंचि वि उप्पण्णं तस्स विणासो हवेइ णियमेण । परिणामसरूवेण वि ण य किंचि वि सासयं अत्थि ॥ जम्मं मरणेण समं संपज्जइ जोव्वणं जरासहियं । लच्छी विणाससहिया इय सव्वं भंगुरं मुणह ॥ अथिरं परियणसयणं पुत्त-कलत्तं सुमित्त-लावण्णं । गिह-गोहणाइ सव्वं णवघणविंदेण सारिच्छं ॥ सुरधणु-तडि व्व चवला इंदियविसया सुभिच्चवग्गा य । दिट्ठपणट्ठा सव्वे तुरय-गया रह-वरादी य ॥ पंथे पहियजणाणं जह संजोओ हवेइ खणमित्तं । बंधुजणाणं च तहा संजोओ अद्धुओ होइ ॥ अइलालिओ वि देहो ण्हाण-सुयंधेहि विविह-भक्खेहिं । खणमित्तेण वि विहडइ जलभरिओ आमघडओ व्व ॥ जा सासया ण लच्छी चक्कहराणं पि पुण्णवंताणं । सा किं बंधेइ रइं इयरजणाणं अपुण्णाणं ॥ कत्थ वि ण रमइ लच्छी कुलीण-धीरे वि पंडिए सूरे । पुज्जे धम्मिट्ठे वि य सुवत्त-सुयणे महासत्ते ॥ जलबुब्बुयसारिच्छं धण-जोव्वण-जीवियं पि पेच्छंता । मण्णंति तो वि णिच्चं अइबलिओ मोहमाहप्पो ॥ चइऊण महामोहं विसये मुणिऊण भंगुरे सव्वे । णिव्विसयं कुणह मणं जेण सुहं उत्तमं लहइ ॥ (कार्तिके. ४–११ व २१-२२) । ४. उपात्तानुपात्तद्रव्यसंयोगव्यभिचारस्वभावोऽनित्यत्वम् । (त. श्लो. ९–७) । ५. शरीरेन्द्रियविषयभोगादेर्भंगुरत्वमनित्यत्वम् । (त. सुखबो. वृ. ९–७) ६. संसारे सर्वपदार्थानामनित्यताचिन्तनमनित्यभावना । (सम्बोधस. वृ. १९) ।

१ शरीर तथा इन्द्रियां और उनके विषयभूत भोग-उपभोग द्रव्य जलबुद्बुदों के समान क्षणभंगुर हैं, मोह से अज्ञ प्राणी उनमें नित्यता की कल्पना करता है; वस्तुतः आत्मा के ज्ञान-दर्शनमय उपयोग स्वभाव को छोड़कर और कोई वस्तु नित्य नहीं है, इस प्रकार से चिन्तवन करने को अनित्यभावना या अनित्यानुप्रेक्षा कहते हैं ।

अनिदा—नितरां निश्चितं वा सम्यक् दीयते चित्तमस्यामिति निदा ××× सामान्येन चित्तवती सम्यग्विवेकवती वा इत्यर्थः । इतरा त्वनिदा चित्तविकला सम्यग्विवेकविकला । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३५, सू. ३३०)।

पिछले भव में किये गये शुभाशुभ के स्मरण से रहित ऐसे चित्त के अभाव में अथवा सम्यक् विवेक के अभाव में जिस वेदना का अनुभव किया जाता है वह अनिदा वेदना कहलाती है ।

अनिधत्त—तव्विवरीयं (णिवत्तविवरीयं—जं पदेसग्गमोकड्डिज्जदि, उक्कड्डिज्जदि, परपयडि संकामिज्जदि, उदये दिज्जदि तं) अणिधत्तं । (धव. पु. १६, पृ. ५७६)।

जिस कर्मप्रदेशाग्र का अपकर्षण, उत्कर्षण और परप्रकृति संक्रमण किया जा सकता है तथा जो उदय में भी दिया जा सकता है उसे अनिधत्त कहते हैं।

अनिन्द्रिय—अनिन्द्रियं मनः अन्तःकरणमित्यनर्थान्तरम् । × × × ईषदिन्द्रियमनिन्द्रियमिति, यथा अनुदरा कन्या इति । (स. सि. १–१४) । २ अनिन्द्रियं मनोऽनुदरावत् ॥२॥ मनोऽन्तःकरणमनिन्द्रियमित्युच्यते । (त. वा. १, १४, २) । ३. नेन्द्रियमनिन्द्रियम्, नो-इन्द्रियं च प्रोच्यते । अत्रेषदर्थे प्रतिवन्धो द्रष्टव्यो यथाऽनुदरा कन्येति । तेनेन्द्रियप्रतिषेधेनात्मनः करणमेव मनो गृह्यते, तदन्तःकरणं चोच्यते । (त. सुखवो. वृ. १–१४) । ४. इन्द्रियादन्यदनिन्द्रियं मनः ओघश्चेति । (त. भा. सिद्ध. व. १–१४)।

१ इन्द्रियों के समान वाह्य में दृष्टिगोचर न होकर इन्द्रिय के ही कार्य (ज्ञानोत्पादन) के करनेवाले अन्तःकरण रूप मन को अनिन्द्रिय कहते हैं।

अनिन्द्रिय जीव—न सन्ति इन्द्रियाणि येषां तेऽनिन्द्रियाः । के ते ? अशरीराः सिद्धाः । (धव. पु. १, पृ. २४८); ण य इंदिय-करणजुदा अवग्गहाईहि गाहया अत्थे । णेव य इंदियसोक्खा अणिंदियाणंतणाण-सुहा ॥ (प्रा. पञ्चसं. १–७४; धव. पु. १, प. २४८ उ.; गो. जी. १७३) ।

जो इन्द्रिय रूप करणों से युक्त होकर अवग्रहादि के द्वारा पदार्थों को ग्रहण नहीं करते तथा इन्द्रियजन्य सुख से रहित हैं ऐसे अतीन्द्रिय अनन्त ज्ञान (केवलज्ञान) धारक मुक्त जीव अनिन्द्रिय—इन्द्रियविहीन—कहे जाते हैं।

अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष—१. अनिन्द्रियप्रत्यक्षं स्मृतिसंज्ञा-चिन्ताभिनिबोधात्मकम् । (लघी. स्वो. वृ. ६१) । २. अनिन्द्रियप्रत्यक्षं वह्वादिद्वादशप्रकारार्थविषयमवग्रहादिविकल्पमष्टचत्वारिंशत्संख्यम् । (प्रमाणप. पृ. ६८) । ३. अनिन्द्रियादेव विशुद्धिसव्यपेक्षादुपजायमानमनिन्द्रियप्रत्यक्षम् । (प्र. र. मा. २–५) । ४. केवलमनोव्यापारप्रभवमनिन्द्रियप्रत्यक्षम् । (लघीय. अभय. वृ. ६१) ।

१ स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अभिनिबोध (अनुमान) रूप ज्ञान को अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं। ४ एक मात्र—इन्द्रियनिरपेक्ष—मन से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनिन्द्रियप्रत्यक्ष कहा जाता है जो उपर्युक्त स्मृति आदि रूप है।

अनिन्द्रिय सुख—अणुवममभेयमक्खयममलमजरमरुजमभयमभवं च । एयंतियमच्चंतियमव्वावाघं सुहमजेयं ॥ (भ. आ. २१५३)।

अनुपम, अमेय, अक्षय, निर्मल, अजर, अरुज (रोगरहित), भयविरहित, संसारातीत—मुक्तिजनित—ऐकान्तिक (असहाय), आत्यन्तिक (अविनश्वर), निर्वाध और अजेय सुख को अनिन्द्रिय या अतीन्द्रिय कहते हैं।

अनिबद्ध मंगल—जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण कयदेवदाणमोक्कारो तमणिबद्धमंगलं । (धव. पु. १, पृ. ४१) ।

सूत्र के आदि में सूत्रकार के द्वारा जो देवता-नमस्कार किया तो गया हो, पर ग्रन्थ में निबद्ध न किया गया हो, उसे अनिबद्ध मंगल कहते है।

अनियत विहार—अनियतविहारोऽनियतक्षेत्रावासः। (अन. ध. स्वो. टी. ७–६८) ।

अनियत क्षेत्र में रहने का नाम अनियतविहार है।

अनिर्वृत्तिकर—निर्वृत्तिः सुखम्, अनिर्वृत्तिः पीडा, तत्करणशीलोऽनिर्वृत्तिकरः । (आव. मलय. वृत्ति १०८६) ।

स्वभावतः पीडा उत्पन्न करने वाले को अनिर्वृत्तिकर कहते हैं।

अनिर्हारिम—यत्पुनर्गिरिकन्दरादौ तदनिर्हरणादनिर्हारिमम् । (स्थाना. अभय. वृ. २, ४, १०२) ।

पर्वत की गुफा आदि में जो पादपोपगमन—छिन्न होकर गिरे हुए पादप (वृक्ष) के समान उपगमन—अतिशय निश्चेष्ट अवस्था युक्त मरण—होता है वह अनिर्हारिम मरण कहलाता है। कारण यह कि वसतिमें हुए मरण में जैसे शरीर का निर्हरण होता है वैसे वह यहां नहीं होता।

अनिवृत्ति(र्वात)करण—१. यतस्तावन्न निवर्तते यावत्सम्यक्त्वं न लब्धमित्यतोऽनिवर्तिकरणम् । (त. भा. हरि. वृत्ति १–३, पृ. २५); २. निवर्तनशीलं निवर्ति, न निवर्ति अनिवर्ति, आ सम्यग्दर्शन-

लाभान्न निवर्तते । (श्राव. हरि. वृत्ति नि. १०६)। ३. येनाध्यवसायविशेषेणानिवर्तकेन ग्रन्थिभेदं कृत्वाऽतिपरमाह्लादजनकं सम्यक्त्वमवाप्नोति तदनिवृत्तिकरणम् । (गुण. क्रमा. स्वो. टी. २२) ।

३ जिस विशिष्ट आत्मपरिणाम के द्वारा जीव ग्रन्थि को भेदकर अतिशय आनन्दजनक सम्यक्त्व को प्राप्त करता है वह अनिवर्ति या अनिवृत्तिकरण कहलाता है। इस परिणाम से चूंकि सम्यक्त्व की प्राप्ति होने तक जीव निवृत्त नहीं होता है, अतः उसकी यह सार्थक संज्ञा है।

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान—१. एकम्मि कालसमए संठाणादीहिं जह णिवट्टंति । ण णिवट्टंति तहा वि य परिणामेहिं मिहो जम्हा ।। होंति अणियट्टिणो ते पडिसमयं जेसिमेक्कपरिणामा । विमलयरझाण-हुयवहसिहाहिं णिद्दड्ढकम्म-वणा ।।(प्रा. पञ्चसं. १, २०–२१, धव. पु. १, पृ. १८६ उ.; गो. जी. ५६–५७; भावसं. दे. ६४९–५० । २. विणिवट्टंति विसुद्धिं समयपइट्ठा वि जस्स अन्नोन्नं । तत्तो णियट्टिठाणं विवरीयमओ उ अनियट्टी ।। (शतक. भा. ८९; गु. गु. षट्. स्वो. वृ. १८,पृ. ४५)। ३. परस्पराध्यवसायस्थानव्यावृत्तिलक्षणा । निवृत्तिर्यस्य नास्त्येषोऽनिवृत्ताख्योऽसुमान् भवेत् ।। ततः पदद्वयस्यास्य विहिते कर्मधारये । स्यात्सोऽनिवृत्तिवादरसम्परायाभिधस्ततः ।। तस्यानिवृत्तिवादरसम्परायस्य कीर्तितम् । गुणस्थानमनिवृत्तिवादरसम्परायकम् ।। (लोकप्र. ३, ११८८–९०) । ४. तुल्ये समाने काले यतः समा सर्वेषामपि तत्प्रविष्टानां विशोधिर्भवति, न विषमा; ततो नाम सान्वयं निर्वचनीयं अनिवृत्तिकरणम् ।(कर्मप्र. मलय. वृ. उप. क. गा. १६) । ५. निवर्तन्तेऽङ्गिनोऽन्योऽन्यं यत्रैकसमयाश्रिताः । निवृत्तिः कथ्यते तेनानिवृत्तिस्तद्विपर्ययात् ।।(सं. प्रकृतिवि. जयति. १–१४)। ६. युगपदेतद्गुणस्थानकं प्रतिपन्नानां बहूनामपि जीवानामन्योऽन्यमध्यवसायस्थानस्य व्यावृत्तिः निवृत्तिर्नास्त्यिस्येति अनिवृत्तिः । समकालमेतद् गुणस्थानकमारूढस्यापरस्य यदध्यवसायस्थानं विवक्षितोऽन्योऽपि कश्चित्तद्वर्त्येवेत्यर्थः । (धर्मसं. दे. स्वो. वृ. २)। ७. भावानामनिवृत्तित्वादनिवृत्तिगुणास्पदम् । (गुण. क्रमा. ३७) । दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षादिसंकल्पविकल्परहितनिश्चलपरमात्मैकतत्त्वैकाग्रध्यान—परिणतिरूपाणां भावानामनिवृत्तित्वादनिवृत्तिगुणास्पदं गुणस्थानं भवति । (गुण. क्रमा. स्वो. वृ. ३७) । ८. दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षादिरूपसमस्तसंकल्प-विकल्परहितनिजनिश्चलपरमात्मतत्त्वैकाग्र—ध्यानपरिणामेन कृत्वा येषां जीवानामेकसमये ये परस्परं पृथक्कर्तुं नायान्ति ते वर्णसंस्थानादिभेदेऽप्यनिवृत्तिकरणौपशमिक-क्षपकसंज्ञा द्वितीयकषायाद्येकविंशतिभेदभिन्नचारित्रमोहप्रकृतीनामुपशमक्षपणसमर्था नवमगुणस्थानवर्तिनो भवन्ति । (बृ. द्रव्यसं. टी. १३)। ९. परिणामा निवर्तन्ते मिथो यत्र न यत्नतः । अनिवृत्तिवादरः स्यात् क्षपकः शमकश्च सः । (योगशा. स्वो. वि. १–१६) । १०. क्षपयन्ति न ते कर्म शमयन्ति न किञ्चन । केवलं मोहनीयस्य शमनक्षपणोद्यताः ।। संस्थानादिना भिन्नाः समानाः परिणामतः । समानसमयावस्थास्ते भवन्त्यनिवृत्तयः । (पञ्चसं. अमित. १, ३७–३८); एकसमयस्थानामनिवृत्तयोऽभिन्नाः करणाः यत्र तदनिवृत्तिकरणम् । (पञ्चसं. अमित. १, पृ. ३८; अन. ध. स्वो. टी. २. ४६–४७) । ११. साम्परायशब्दे कषायो लभ्यते । यत्र साम्परायस्य कषायस्य स्थूलत्वेनोपशमः क्षयश्च वर्तते तदनिवृत्तवादरसाम्परायसंज्ञं गुणस्थानमुच्यते । तत्र जीवा उपशमकाः क्षपकाश्च भवन्ति । एकस्मिन् समये नानाजीवापेक्षयापि एकरूपाः परिणामा भवन्ति । यतः परिणामानां परस्परं स्वरूपानिवृत्तिस्तेन कारणेनानिवृत्तिकरणवादरसाम्परायसंज्ञं नवमगुणस्थानमुच्यते । (त. वृत्ति श्रुतसागर ९-१) ।

जिस गुणस्थान में विवक्षित एक समय के भीतर वर्तमान सर्व जीवों के परिणाम परस्पर में भिन्न न होकर समान हों, उसे अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहते हैं।

अनिश्रितवचनता—अनिश्रितवचनता रागाद्यकलुषितवचनता । (उत्तरा. नि. वृ. १–५७) ।

राग-द्वेषादि जनित कालुष्य से रहित वचनों के बोलने को अनिश्रितवचनता कहते हैं।

अनिश्रितावग्रह—अनिश्रितमवगृह्णातीति निश्रितो लिङ्गप्रमितोऽभिधीयते, यथा यूथिकाकुसुमानामत्यन्त-शीत-मृदु-स्निग्धादिरूपः प्राक् स्पर्शोऽनुभूतस्तेनानुमानेन लिङ्गेन तं विषयं न यदा परिच्छिनत्ति, यदा तत्स्पर्शं प्रवर्तते तदा अनिश्रितम् अलिङ्गमवगृह्णातीत्युच्यते ।

(त. भा. सिद्ध. वृ. १–१६)।
निश्रित का अर्थ है लिंग से जाना गया। जैसे जूही के फूलों का शीत, कोमल और स्निग्ध आदि रूप स्पर्श पूर्व में अनुभव में आया था; उस अनुमान रूप लिंग से उस विषय को न जानता हुआ जब ज्ञान उत्पन्न होता है तब वह अनिश्रितावग्रह कहा जाता है।

अनिष्टयोगार्त—१. आर्तममनोज्ञस्य सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः। (त. सू. ९–३०)। २. अमणुण्णाणं सद्दाइविसयवत्थूण दोसमइलस्स। धणिअं विओगचिंतणमसंपयोगाणुसरणं च॥ (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २, पृ. ८)। ३. अमनोज्ञानां शब्दादीनां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगचिन्तनमसम्प्रयोगप्रार्थना च प्रथमम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–७३)।
देखो अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान।

अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान–१. अमनोज्ञानां विषयाणां सम्प्रयोगे तेषां विप्रयोगे यः स्मृतिसमन्वाहारो भवति तदार्त्तध्यानमाचक्षते। (त. भा. ९–३१)। २. तस्य (अमनोज्ञस्य विष-कण्टकादेः) सम्प्रयोगे स कथं नाम मे न स्यादिति सङ्कल्पश्चिन्ताप्रबन्धः स्मृतिसमन्वाहारः प्रथममार्तमित्याख्यायते। (स. सि. ९–३०)। ३. अमनोज्ञस्योपनिपाते स कथं नाम मे न स्यादिति संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धः आर्तमित्याख्यायते। (त. वा. ९, ३०, २; त. श्लो. ९–३०)। ४. अमनोज्ञविषयविप्रयोगोपाये व्यवस्थापनं मनसो निश्चलमार्तध्यानम्, केनोपायेन वियोगः स्यादित्येकतानमनोनिवेशनमार्तध्यानमित्यर्थः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–३१)। ५. क्रूरैर्व्यन्तर-चौर-वैरि-मनुजैर्व्यालैर्मृगैरापदि प्राप्तायां गरलादिकैश्च महती तन्नाशचिन्ताऽऽपदा। संयोगो न भवेत्सदा कथमिति क्लेशातिनुन्नं मनश्चार्तध्यानमनिष्टयोगजनितं जातं दुरन्तैनसः॥ (आचा. सा. १०–१५)। ६. विक्षिप्तः अनिष्टसंयोगेन विक्षेपं व्याकुलतां प्राप्तः आकुल-व्याकुलमनाः इति अनिष्टसंयोगाभिधानम् आर्त्तध्यानम्। (कार्तिके. टी. ४७३)।
२ विष व कण्टक आदि अनिष्ट पदार्थों का संयोग होने पर उसके दूर करनेके लिये मन में जो बार बार संकल्प-विकल्प उठते हैं, इसे अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान कहते हैं।

अनिसृष्ट—१. गृहस्वामिनाऽनियुक्तेन वा दीयते वसतिः, यत्स्वामिनापि बालेन परवशवर्तिना दीयते सोभय्यनिसृष्टेति उच्यते। (भ. आ. विजयो. टी. २३०)। २. अनिसृष्टमीशानीशाऽनभिमतया यदर्प्यते। (आचा. सा. ८–३४)। ३. यद्बहुसाधारणं अन्यैरदत्तं एको गृही दत्ते तदनिसृष्टम्। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २०, पृ. ४९)। ४. सामान्यं श्रेणीभक्तकाद्येकस्य ददतोऽनिसृष्टम्। (आचारांग शी. वृ. २, १, २६६)। ५. यद् गोष्ठीभक्तादिसर्वैरदत्तमननुमतं वा एकः कश्चित् साधुभ्यो ददाति तदनिसृष्टम्। (योगशा. स्वो. विव. १–३८)। ६. ईशानीशानभिमतेन स्वाम्यस्वाम्यनभिमतेन यद्दीयते तदनिसृष्टम्। (भावप्रा. टी. ९९)। ७. गृहस्वामिना अनियुक्तेन या दीयते यद् [त्] स्वामिनापि बालेन परवशवर्तिना दीयते तद् द्विविधमनिसृष्टम्। (कार्तिके. टी. ४४८–४९)।
१ अनियुक्त—अनधिकारी—गृहस्वामी के द्वारा जो वसति दी जाती है, अथवा पराधीन बालक जैसे स्वामी के द्वारा जो वसति दी जाती है, इसका नाम अनिसृष्ट दोष है।

अनिस्सरणात्मक तैजस—१. औदारिक-वैक्रियिकाहारकदेहाभ्यन्तरस्थं देहस्य दीप्तिहेतुरनिस्सरणात्मकम्। (त. वा. २, ४९, ८ पृ. १५३)। २. जं तमणिस्सरणप्पयं तेजइयसरीरं तं भुत्तण्ण-पाणप्पाचयं होदूण अच्छति अन्तो। (धव. पु. १४, पृ. ३२८)। ४. अनिस्सरणात्मकं त्वौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीराभ्यन्तरवर्ति तेषां त्रयाणामपि दीप्तिहेतुकम्। (त. वृत्ति श्रुत. २–४८)।
१ औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर के भीतर स्थित जो शरीर देहदीप्ति का कारण है उसे अनिस्सरणात्मक तैजस कहा जाता है।

अनिःसृतावग्रह—१. सुविशुद्धश्रोत्रादिपरिणामात् साकल्येनानुच्चारितस्य ग्रहणादनिःसृतमवगृह्णाति। त. वा. १, १६, १६, पृ. ६४, पं. ४); पञ्चवर्णवस्त्रकम्बलचित्रपटादीनां सकृदेकदेशविषयपञ्चवर्ण ग्रहणात् कृत्स्नपञ्चवर्णेष्वदृष्टेष्वनिःसृतेष्वपि तद्वर्णाविष्करणसामर्थ्यादनिःसृतमवगृह्णाति। अथवा देशान्तरस्य पञ्चवर्णपरिणतैकवस्त्रादिकथनात् साकल्येनाकथितस्याप्येकदेशकथनेनैव तत्कृत्स्नपञ्चवर्णग्रहणादनिःसृतम्। (त. वा. १, १६, १६, पृ. ६४,

पं. २८-२९)। २. अणहिमुहअत्यग्गहणं अणिसियावग्गहो। अहवा तेण (उवमाणोवमेयभावेण) विणा गहणं अणिसियावग्गहो। (धव. पु. ६, पृ. २०); वस्त्वेकदेशमवलम्ब्य साकल्येन वस्तुग्रहणं वस्त्वेकदेशं समस्तं वा अवलम्ब्य तत्रासन्निहितवस्त्वन्तरविषयोऽपि अनिःसृतप्रत्ययः। (धव. पु. ९, पृ. १५२); वस्त्वेकदेशस्य आलम्बनीभूतस्य ग्रहणकाले एकवस्तुप्रतिपत्तिः, वस्त्वेकदेशप्रतिपत्तिकाले एव वा दृष्टान्तमुखेन अन्यथा वा अनवलम्बितवस्तुप्रतिपत्तिः, अनुसन्धानप्रत्ययः प्रत्यभिज्ञानप्रत्ययश्च अनिःसृतप्रत्ययः। (धव. पु. १३, पृ. २३७); ३. वत्थुस्स पदेसादो वत्थुग्गहणं तु वत्थुदेसं वा। सयलं वा अवलंबिय अणिस्सिदं अण्णवत्थुगई॥ पुक्खरगहणे काले हत्थिस्स य वदण-गवयगहणे वा। वत्थंतरचंदस्स य धेणुस्स य बोहणं च हवे॥ (गो. जी. ३११-३१२)। ४. वस्त्वंशाद्वस्तुनस्तस्य वस्त्वंशाद्वस्तुनोऽथवा। तत्रासन्निहितान्यस्याऽनिसृतं मननं यथा॥ घटार्वाग्भागकन्यास्य-गवयग्रहणक्षणे। स्फुटं घटेन्दु-गोज्ञानमभ्याससमयान्विते॥ (आचा. सा. ४, २०–२१)। ५. अनभिमुखार्थग्रहणमनिःसृतावग्रहः। (मूला. वृ. १२–१८७)। ६. एकदेशदर्शनात् समस्तस्यार्थस्य ग्रहणमनिःसृतावग्रहः। यथा जलनिमग्नस्य हस्तिनः एकदेशकरदर्शनादयं हस्तीति समस्तस्यार्थस्य ग्रहणम्। (त. सुखबो. वृ. १–१६)।

१ कानों की निर्मलतारूप परिणाम के वश पूर्णतया नहीं उच्चारण किये गये शब्दादि का ग्रहण, अथवा पांच वर्ण वाले कम्बल आदि के एक भाग से सम्बद्ध उन पांच वर्णों के देखने से अदृष्ट और अनिःसृत भी उन समस्त पांचों वर्णों का सामर्थ्य से होने वाला ज्ञान, अथवा देशान्तर के पांच वर्ण वाले वस्त्र के एक देश कथन से ही पूर्णरूप में न कहे जाने पर भी उसके समस्त पांच वर्णों का होने वाला ज्ञान; अनिःसृतावग्रह कहलाता है।

अनिह्नव—अनिह्नव इति गृहीतश्रुतेनानिह्नवः कार्यः, यद्यत्सकाशेऽधीतं तत्र स एव कथनीयो नान्यः, चित्तकालुष्यापत्तेः। (धर्मबि. मु. वृ. २–११)।

जिस गुरु के समीप में जो कुछ पढ़ा हो, उसके विषय में उसी गुरु का उल्लेख करना, अन्य का नहीं; यह अनिह्नव नामक ज्ञानाचार है।

ल. ९

अनिह्नवाचार—देखो अनिह्नव। यस्मात् पठितं श्रुतं स एव प्रकाशनीयः। यद्वा पठित्वा श्रुत्वा ज्ञानी सञ्जातस्तदेव श्रुतं ख्यापनीयमिति अनिह्नवाचारः। (मूला. वृ. ५–७२)।

जिस गुरु से शास्त्र पढ़ा हो उसी के नाम को प्रकट करना, अथवा जिस आगम को पढ़-सुनकर ज्ञानवान् हुआ हो उसी आगम को प्रकट करना; यह ज्ञान का अनिह्नवाचार है।

अनीक—१. सेणोवमा यणीया। (ति. प. ३–६७)। २. अनीकं दण्डस्थानीयम्। (स. सि. ४–४)। ३. दण्डस्थानीयान्यनीकानि। पदात्यादीनि सप्तानीकानि दण्डस्थानीयानि वेदितव्यानि। (त. वा. ४, ४, ७)। ४. *अनीकानि अनीकस्थानीयान्येव।* (त. भा. ४–४)। ५. अनीकान्यनीकान्येव, सैन्यानीत्यर्थः। हय-गज-रथ-पदाति-वाहनस्वरूपाणि प्रतिपत्तव्यानि। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४–४)। ६. दण्डस्थानीयानि सप्तानीकानि भवन्ति। उक्तं च— गजाश्व-रथ-पादात-वृष-गन्धर्व-नर्तकी। सप्तानीकानि ज्ञेयानि प्रत्येकं च महत्तराः॥ (त. सुखबो. वृ. ४–४)। ७. अनीकाः हस्त्यश्व-रथ-पदाति-वृषभ-गन्धर्व-नर्तकी-लक्षणोपलक्षितसप्तसैन्यानि। (त. वृत्ति श्रुत-सागर ४–४)।

६ हाथी, घोड़े, रथ, पादचारी, बैल, गन्धर्व और नर्तकी; इन सात प्रकार की सेना रूप देवों को अनीक कहते हैं।

अनीश्वर—१. निषिद्धमीश्वरं भर्त्रा व्यक्ताव्यक्तोभयात्मना। वारितं दानमन्येन तन्मन्येन त्वनीश्वरम्॥ (अन. ध. ५–१५)। व्यक्तरूपेणाव्यक्तरूपेण व्यक्ताव्यक्तरूपेण च स्वामिना वारितं दानमीश्वराख्यं निषिद्धं त्रिधा स्यात्—व्यक्तेश्वरनिषिद्धमव्यक्तेश्वरनिषिद्धं व्यक्ताव्यक्तेश्वरनिषिद्धं चेति। × × × तद्यथा—निषिद्धाख्यो दोषस्तावदीश्वरोऽनीश्वरश्चेति द्वेधा। तत्राप्याद्यस्त्रेधा—व्यक्तेश्वरेण वारितं दानं यदा साधुर्गृह्णाति तदा व्यक्तेश्वरो नाम दोषः, यदाऽव्यक्तेश्वरेण वारितं गृह्णाति तदाऽव्यक्तेश्वरो नाम, यदैकेन दानपतिना व्यक्तेन द्वितीयेन चाव्यक्तेन च वारितं गृह्णाति तदा व्यक्ताव्यक्तेश्वरो नाम तृतीय ईश्वराख्यनिषिद्धभेदस्य भेदः स्यात्। एवमनीश्वरेऽपि व्याख्येयम्। (अन. ध.

स्वो. टी. ५-१५)।

व्यक्त, अव्यक्त या उभयरूप अपने आपको स्वामी माननेवाले अन्य—स्वामी से भिन्न—अमात्य आदि के द्वारा निवारण किये जाने पर भी दिये गये दान को अनीश्वर दोष युक्त दान कहते हैं।

अनुकम्पा—१. तिसिदं वुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो। पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसो होदि अणुकंपा ॥ (पञ्चा. का. १३५)। २. अनुग्रहार्द्रीकृतचेतसः परपीडामात्मस्थामिव कुर्वतोऽनुकम्पनमनुकम्पा। (स. सि. ६-१२; त. वा. ६, १२, ३)। ३. सर्वप्राणिषु मैत्री अनुकम्पा। (त. वा. १, २, ३०)। ४. त्रस-स्थावरेषु दयाऽनुकम्पा। (त. श्लो. १, २, १२)। ५. अनुकम्पा दुःखितेषु कारुण्यम्।(त.भा. हरि. वृ. १-२)। ६. दट्ठूण पाणिणिवहं भीमे भव-सागरम्मि दुक्खत्तं। अविसेसतोऽणुकंपं दुहावि सामत्थतो कुणति ॥ (धर्मसं. ८११; श्रा. प्र. ५८)। ७. अनुकम्पा घृणा कारुण्यं सत्त्वानामुपरि, यथा सर्व एव सत्त्वा सुखार्थिनो दुःखप्रहाणार्थिनश्च, नैतेषामल्पापि पीडा मया कार्येति निश्चित्य चेतसाऽऽर्द्रेण प्रवर्तते स्वहितमभिवाञ्छन् ××× । (त. भा. सिद्ध. १-२); अनुकम्पा दया घृणेत्यनर्थान्तरम्। ××× अथवा अनुग्रहबुद्धयाऽऽर्द्रीकृतचेतसः परपीडामात्मसंस्थामिव कुर्वतोऽनुकम्पनमनुकम्पा। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-१३)। ८. सत्त्वे सर्वत्र चित्तस्य दयार्द्रत्वं दयालवः। धर्मस्य परमं मूलमनुकम्पां प्रचक्षते ॥ (उपासका. २३०)। ९. अनुकम्पा दुःखितसत्त्वविषया कृपा। (धर्मवि. मु. वृ. ३-७)। १०. अनु पश्चाद् दुःखितसत्त्वकम्पनादनन्तरं यत्कम्पनं सा अनुकम्पा। (वृहत्क. वृ. १३२०)। ११. अनुकम्पा दुःखितेषु अपक्षपातेन दुःखप्रहाणेच्छा। (योगशा. स्वो. विव. २-१५)। १२. एकेन्द्रियप्रभृतीनां सर्वेषामपि देहिनाम्। भवाब्धौ मज्जतां क्लेशं पश्यतो हृदयार्द्रता ॥ तद्दुःखैर्दुःखितत्वं च तत्प्रतीकारहेतुषु। यथाशक्ति प्रवृत्तिश्चेत्यनुकम्पाऽभिधीयते ॥ (त्रि. श. पु. च. १, ३, ६१५-६१६)। १३. क्लिश्यमानजन्तूद्धरणबुद्धिः अनुकम्पा। (भ. आ. मूला. टी. १६९६)। १४. ××× अनुकम्पाऽखिलसत्त्वकृपा ××× ॥ (अन. ध. २-५२)। १५. अनुकम्पा कृपा ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः। (लाटीसं. ३-८९; पंचाध्यायी २-४४६)। १६. दुःखितं जनं दृष्ट्वा कारुण्यपरिणामोऽनुकम्पा। (चारित्रप्रा. टी. १०)। १७. सर्वेषु प्राणिषु चित्तस्य दयार्द्रत्वमनुकम्पा। (त. वृत्ति श्रुत. १-२; कार्तिके. टी. ३२६; त. सुखवो. वृ. १-२ व ६-१२)। १८. आत्मवत् सर्वसत्त्वेषु सुख-दुःखयोः प्रियाप्रियत्वदर्शनेन परपीडापरिहारेच्छा। (शास्त्रवा. टी. ६-५)।

१ तृषित, वुभुक्षित एवं दुखित प्राणी को देखकर उसके दुःख से स्वयं दुःखी होना व मन में उसके उद्धार की चिन्ता करना, इसका नाम अनुकम्पा है।

अनुकृष्टि (अणुकट्ठी)—१. अधापवत्तकरणपढमसमयपहुडि जाव चरमसमओ त्ति ताव पादेक्कमेक्केक्कम्मि समए असंखेज्जलोगमेत्ताणि परिणामट्ठाणाणि छवड्ढिकमेणावट्ठिदाणि ट्ठिदिवंधोसरणादीणं कारणभूदाणि अत्थि, तेसिं परिवाडीए विरचिदाणं पुणरुत्तापुणरुत्तभावगवेसणा अणुकट्ठी णाम। अनुकर्षणमनुकृष्टिरन्योन्येन समानत्वानुचिन्तनमित्यनर्थान्तरम्। (जयध. अ. प. ९४६)। २. अणुकट्ठी णाम [अणिओगद्दारं] ट्ठिदिं पडि ठिदिवंधज्झवसाणट्ठाणाणं समाणत्तमसमाणत्तं च परूवेदि। (धव. पु. ११, पृ. ३४९)। ३. अनुकृष्टिर्नाम अधस्तनसमयपरिणामखण्डानामुपरितनसमयपरिणामखण्डैः सादृश्यम्। (गो. जी. जी. प्र. ४९)।

१ अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय से लेकर अन्तिम समय तक प्रत्येक समय में जो असंख्यात लोक मात्र परिणामस्थान छह वृद्धियों के क्रम से अवस्थित होते हुए स्थितिबन्धापसरणादि के कारण होते हैं, परिपाटी क्रम से विरचित उन परिणामों की पुनरुक्तता व अपुनरुक्तता की खोज करना, इसका नाम अनुकृष्टि है।

अनुक्त—१. अनुक्तमभिप्रायेण ग्रहणम्। (स. सि. १-१६)। २. अनुक्तमभिप्रायेण प्रतिपत्तेः॥१२॥ 'अभिप्रायेण प्रतिपत्तिरस्ति' इत्यनुक्तग्रहणं क्रियते। (त. वा. १, १६, १२)। ३. प्रकृष्टविशुद्धिश्रोत्रेन्द्रियादिपरिणामकारणत्वात् एकवर्णनिर्गमेऽपि अभिप्रायेणैवानुच्चारितं शब्दमवगृह्णाति 'इमं भवान् शब्दं वक्ष्यति' इति। अथवा, स्वरसञ्चारणात् प्राक् तंत्रीद्रव्यातोद्याद्यामर्शनेनैव अवादितमनुक्तमेव शब्दमभिप्रायेणावगृह्याचष्टे 'भवानिमं शब्दं वादयिष्यति' इति। (त. वा. १-१६, पृ. ६४ पं.

५-८)। ३. स्तोकपुद्गलनिष्क्रान्तेरनुक्तस्त्वाभिसंहितः। (त. श्लो. १, १६, ७)। ४. अनुक्तस्तूक्तादन्यः इति। अनया कल्पनया शब्द एवानक्षरात्मकोऽभिधीयते, तमवगृह्णाति अनुक्तमवगृह्णातीति भण्यते। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-१६)। ५. प्रत्यक्षनियताऽन्यादृग्गुणार्थैकाक्षबोधनम्। अनुक्तम् × × ×॥ (आचा. सा. ४-२३)। ६. अनियमितगुणविशिष्टद्रव्यग्रहणमनुक्तावग्रहः। (मूला. वृ. १२-१८७)। ७. अनुक्तं चाभिप्राये स्थितम्। (त. वृत्ति श्रुत. १-१६)।

१ शब्दोच्चारण के बिना अभिप्राय से ही पदार्थ के ग्रहण करने को अनुक्त-अवग्रह कहते हैं। इसी को अनुक्तप्रत्यय या अनुक्तज्ञान भी कहते हैं।

अनुक्तप्रत्यय—देखो अनुक्त। इन्द्रियप्रतिनियतगुणविशिष्टवस्तूपलम्भकाल एव तदिन्द्रियानियतगुणविशिष्टस्य तस्योपलब्धिर्यतः सोऽनुक्तप्रत्ययः। (धव. पु. ६, पृ. १५३-१५४)।

विवक्षित इन्द्रिय के प्रतिनियत गुण—जैसे स्पर्शन का स्पर्श—से विशिष्ट वस्तु के उपलम्भ के समय में ही उसके अनियत गुण—जैसे उक्त स्पर्शन के रसादि—से विशिष्ट उस वस्तु की जिस ज्ञान से उपलब्धि होती है वह अनुक्तप्रत्यय कहलाता है। जैसे—नमक के उपलम्भ के समय में ही उसके खारेपन का ज्ञान अथवा शक्कर के दृष्टिगोचर होने पर उसकी मिठास का ज्ञान।

अनुक्तावग्रह—देखो अनुक्तप्रत्यय। १. अणियमियगुणविसिट्ठदव्वग्गहणमउ[णु]त्तावग्गहो। जहा—चक्खिदिएण गुडादीणं रसस्स गहणं, घाणिदिएण दहियादीणं रसग्गहणमिच्चादि। (धव. पु. ६, पृ. २०)। २. अग्निमानयेति केनचिद् भणिते कर्परादिना समानयेति परेणानुक्तस्य कर्परादेरग्न्यानयनोपायस्य स्वयमूहनमनुक्तावग्रहः। (त. सुखबो. वृ. १-१६)।

अनियमित गुणविशिष्ट वस्तु के ग्रहण को अनुक्तावग्रह कहते हैं। जैसे—चक्षु इन्द्रिय से गुड आदि को देख कर उनके रस का अथवा घ्राण इन्द्रिय से सूंघ कर दही आदि के रस का ज्ञान।

अनुगम—१. अनुगम्यतेऽनेनास्मिन्नस्मादिति अनुगमनम् अनुगमः। अनुगो वा सूत्रस्य गमोऽनुगमः सूत्रानुसरणमित्यर्थः। (उत्तरा. चू. पृ. ६)। २. यदनुगमनमनुगमः, अनुरूपार्थगमनं वा अनुगमः, अनुरूपं वाऽन्तस्यानुगमनाद्वा अनुगमः; सूत्रानुकूलगमनं वा अनुगमः। (अनुयो. चू. १३-५३, पृ. २३)। ३. अनुगमनम् अनुगमः, अनुगम्यते वाऽनेनास्मादस्मिन्निति वाऽनुगमः सूत्रस्यानुकूलः परिच्छेद इत्यर्थः। (आव. हरि. वृ. नि. ७६, पृ. ५४)। ४. तथानुगमः आनुपूर्व्यादीनामेव सत्पदप्ररूपणादिभिरनुयोगद्वारैरनेकधाऽनुगमनम् अनुगमः। (अनु. हरि. वृ. पृ. ३२)। ५. यथावस्त्ववबोधः अनुगमः, केवलि-श्रुतकेवलिभिरनुगतानुरूपेणावगमो वा। (धव. पु. ३, पृ. ८); जधा दव्वाणि ट्ठिदाणि तधावबोधो अणुगमो। (धव. पु. ४, पृ. ६ व पृ. ३२२); जम्हि जेण वा वत्तव्वं परूविज्जदि सो अणुगमो। अहियारसण्णिदाणमणिओगद्दाराणं जे अहियारा तेसिमणुगमो त्ति सण्णा। × × × अथवा अनुगम्यन्ते जीवादयः पदार्था अनेनेत्यनुगमः। (धव. पु. ६, पृ. १४१)। ६. अनुगम्यतेऽनेन प्राक् ततोऽधिकार इत्यनुगमः। (जयध. पत्र ४५६)। ६. अनुगमः संहितादिव्याख्यानप्रकाररूपः उद्देश-निर्देश-निर्गमनादिद्वारकलापात्मको वा। (समवा. अभय. वृ. १४०)। ७. सूत्रस्यानुकूलमर्थकथनमनुगमः, अथवा अनुगम्यते व्याख्यायते सूत्रमनेनास्मिन्नस्मादिति वा। (अनुयो. मल. हेम. वृ. सू. ५६)। ८. एवमनुगमनमनुगम्यतेऽनेनास्मिन्नस्मादिति वा अनुगमः, निक्षिप्तसूत्रस्यानुकूलः परिच्छेदोऽर्थकथनमिति यावत्। (जम्बूद्वी. शान्ति. वृ. पृ. ५)। ६. अनुगमनमनुगमः, सूत्रस्यानुरूपमर्थाख्यानम्। (व्यव. सू. भा. मलय. वृ. १, पृ. १)। १०. अनुगमनमनुगम्यते वा शास्त्रमनेनेति अनुगमः सूत्रस्यानुकूलः परिच्छेदः। (आव. मलय. वृ. नि. ८६, पृ. ६०)। अनुरूपं सूत्रार्थाविराधया तदनुगुणं गमनं संहितादिक्रमेण व्याख्यातुः प्रवर्तनमनुगमः। (उत्तरा. नि. वृ. २८, पृ. १०); सूत्रस्यानुगतिरित्यनुगमः × × ×। (उत्तरा. नि. वृ. २८, पृ. ११ उद्.)।

५ (ध. पु. ६) जिस अधिकार में या जिसके द्वारा यथातत्त्व पदार्थ की प्ररूपणा की जाती है उसे अनुगम कहते हैं। अधिकार नामक अनुयोगद्वारों के जो अवान्तर अधिकार होते हैं उनका नाम अनुगम है। अथवा जिसके द्वारा जीवादि पदार्थ जाने जाते हैं

उसे अनुगम जानना चाहिये ।

अनुगामी अवधि—१. से किं तं आणुगामिअं ओहिणाणं ? आणुगामिअं ओहिणाणं दुविहं पण्णत्तं । तं जहा—अंतगयं च मज्झगयं च । से किं तं अंतगयं ? अंतगयं तिविहं पण्णत्तं । तं जहा—पुरओ अंतगयं मग्गओ अंतगयं पासओ अंतगयं । से किं तं पुरओ अंतगयं ? पुरओ अंतगयं—से जहा नामए केइ पुरसे उक्कं वा चडुलिअं वा अलायं वा मणिं वा पईवं वा जोइं वा पुरओ काउं पणुल्लेमाणे पणुल्लेमाणे गच्छेज्जा, से तं पुरओ अंतगयं । से किं तं मग्गओ अंतगयं ? मग्गओ अंतगयं—से जहा नामए केइ पुरसे उक्कं वा चडुलिअं वा अलायं वा मणिं वा पईवं वा जोइं वा मग्गओ काउं अणुकड्ढेमाणे अणुकड्ढेमाणे गच्छिज्जा से तं मग्गओ अंतगयं । से किं तं पासओ अंतगयं ? पासओ अंतगयं—से जहा नामए केइ पुरिसे उक्कं वा चडुलिअं वा अलायं वा मणिं वा पईवं वा पासओ काउं परिकड्ढेमाणे परिकड्ढेमाणे गच्छिज्जा से तं पासओ अंतगयं । से तं अंतगयं । से किं तं मज्झगयं ? मज्झगयं से जहानामए केइ पुरिसे उक्कं वा चडुलिअं वा अलायं वा मणिं वा पईवं वा जोइं वा मत्थए काउं समुव्वहमाणे समुव्वहमाणे गच्छिज्जा से तं मज्झगयं । ××× से तं आणुगामिअं ओहिणाणं । (नन्दी. सू. १०, पृ. ८२–८३ व ८५) । २. कश्चिदवधिर्भास्करप्रकाशवद् गच्छन्तमनुगच्छति । (स. सि. १, २२; त. वा. १, २२, ४) । ३. अणुगामिओऽणुगच्छइ गच्छंतं लोयणं जहा पुरिसं । (विशेषा. ७११) । ४. जमोहिणाणमुप्पण्णं संतं जीवेण सह गच्छदि तमणुगामी णाम । (धव. पु. १३, पृ. २९४) । ५. विशुद्ध्यनुगमात् पुंसोऽनुगामी देशतोऽवधिः । परमावधिरप्युक्तः सर्वावधिरपीदृशः ।। (त. श्लो. १, २२, ११) । ६. तत्र गच्छन्तं पुरुषं आ समन्तादनुगच्छतीत्येवंशीलमानुगामी । आनुगाम्येवानुगामिकम् । स्वार्थे 'कः' प्रत्ययः । अथवा अनुगमः प्रयोजनं यस्य तदानुगामिकम् । यल्लोचनवद् गच्छन्तमनुगच्छति तदवविज्ञानमानुगामिकमिति भावः । (नन्दी. मलय. वृ. ९, कर्मस्त. गो. वृ. ९–१०) । ७. तत्र भास्करप्रकाशवद् देशान्तरं गच्छन्तमनुगच्छति विशुद्धिपरिणामवशात् सोऽवधिरनुगामी । (त. सुखबो. वृ. १–२२) । ८. यदवविज्ञानं स्वस्वामिनं जीवमनुगच्छति तदनुगामी । (गो. जी. मं. प्र. व जी. प्र. टीका ३७२) । ९. कश्चिदवधिर्गच्छन्तं भवान्तरं प्राप्नुवन्तमनुगच्छति पृष्ठतो याति सवितुः प्रकाशवत् । (त. वृत्ति श्रुत. १–२२) । १०. यद्धि देशान्तरगतमप्यन्वेति स्वधारिणम् । अनुगाम्यवधिज्ञानं तद्विज्ञेयं स्वनेत्रवत् । (लोकप्र. ३–८३९) ।

२ सूर्य के प्रकाश के समान देशान्तर या भवान्तर में जाते हुए अवधिज्ञानी के साथ जाने वाले अवधिज्ञान को अनुगामी अवधिज्ञान कहते हैं ।

अनुग्रह— १. स्व-परोपकारोऽनुग्रहः । (स. सि. ७–३८; त. वा. ७–३८; त. श्लो. ७–३८ त. वृत्ति श्रुत. ७–३८) । २. अनुग्रहः परस्परोपकारादिलक्षणो जीवानाम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–७); अनुगृह्यतेऽननेत्यनुग्रहोऽन्नादिरुपकारकः प्रतिगृहीतुः, दातुश्च प्रधानानुषङ्गिकफलम् । प्रधानं मुक्तिः, आनुषङ्गिकं स्वर्गादिप्राप्तिः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–३३) ।

१ अपने और पर के उपकार को अनुग्रह कहते हैं । २ जीवों के पारस्परिक उपकार को भी अनुग्रह कहा जाता है ।

अनुग्रहबुद्धि— रागवशात् कटक-कटिसूत्रादिना भूषणाभिप्रायोऽनुग्रहबुद्धिं कुर्वते । (समाधि.टी. ६१)। वहिरात्मा राग के वश से कटक व कटिसूत्र आदि आभूषणों के द्वारा भूषित करने के अभिप्राय रूप अनुग्रहबुद्धि को करते हैं ।

अनुच्छेद—परमाणुगदएगादिदव्वसंखाए अण्णेसिं दव्वाणं संखावगमो अणुच्छेदो णाम । अथवा, पोग्गलागासादीणं णिव्विभागच्छेदो अणुच्छेदो णाम । (धव. पु. १४, पृ. ४३६) ।

परमाणुगत एक आदि द्रव्यसंख्या से अन्य द्रव्यों की संख्या का वोध होना, इसका नाम अनुच्छेद है । अथवा पुद्गल व आकाश आदि के विभागरहित छेद को अनुच्छेद जानना चाहिए ।

अनुज्ञा—१. सूत्रार्थयोरन्यप्रदानं प्रदानं प्रत्यनुमननं अनुज्ञा । (व्यव. सू. भा. मलय. वृ. गा. १–११५) । २. निषेधाभावव्यञ्जिकाऽनुज्ञा । (शास्त्रवा. ३, ३ टी.) ।

दूसरे के लिए सूत्र और अर्थ के स्वयं प्रदान करने को तथा प्रदान करते हुए अन्य की अनुमोदना करने

को अनुज्ञा कहते हैं।

अनुत्कृष्ट वेदना—१. तव्वदिरित्तमणुक्कस्सा।(षट्खं. ४, २, ४, ३३—पु. १०, पृ. २१०); २. तदो उक्कस्सादो वदिरित्तं जं दव्वं तमणुक्कस्स (णाणावरणीय) वेयणा होदि। (धव. पु. १०, पृ. २१०)।
उत्कृष्ट वेदना से विपरीत ज्ञानावरण की द्रव्यवेदना को अनुत्कृष्ट द्रव्यवेदना कहते हैं।

अनुत्कृष्ट द्रव्यवेदना—१. तव्वदिरित्तमणुक्कस्सं। (षट्खं. ४, २, ४, ४७—पु. १०, पृ. २५५)। २. तदो उक्कस्सादो वदिरित्तमणुक्कस्सवेयणा (आउवस्स)। (धव. पु. १०, पृ. २५५)।
उत्कृष्ट वेदना से विपरीत आयु की द्रव्यवेदना को अनुत्कृष्ट द्रव्यवेदना कहते हैं।

अनुत्तर (श्रुतज्ञान) — उत्तरं प्रतिवचनम्, न विद्यते उत्तरं यस्य श्रुतस्य तदनुत्तरं श्रुतम्। अथवा अधिकम् उत्तरम्, न विद्यते उत्तरोऽन्यसिद्धान्तः अस्मादित्यनुत्तरं श्रुतम्। (धव. पु. १३, पृ. २८३)।
जिस श्रुतवचन का कोई प्रतिवचनरूप उत्तर उपलब्ध न हो, उसे अनुत्तर (श्रुत) कहते हैं। अथवा जिससे अधिक कोई अन्य सिद्धान्त न हो, ऐसे भावश्रुत को अनुत्तर (श्रुत) कहते हैं।

अनुत्तरौपपादिकदशा—१. ××× अणुत्तरोववाइअदसासु णं अणुत्तरोववाइआणं नगराइं उज्जाणाइं चेइआइं वणसंडाइं समोसरणाइं रायाणो धम्मायरिया धम्मकहाओ इहलोइअ-परलोइआ इड्ढिविसेसा भोगपरिच्चागा पव्वज्जाओ परिआगा सुअपरिग्गहा तवोवहाणाइं पडिमाओ उवसग्गा संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं अणुत्तरोववाइयत्ते उववत्ती सुकुलपच्चायाईओ पुण बोहिलाभा अंतकिरिआओ आघविज्जंति ××× से तं अणुत्तरोववाइयदसाओ। (नन्दी. सू. ५३)। २. उपपादो जन्म प्रयोजनमेषां त इमे औपपादिकाः, विजय-वैजयन्त-जयन्ताऽपराजित-सर्वार्थसिद्धाख्यानि पञ्चानुत्तराणि। अनुत्तरेषु औपपादिकाः अनुत्तरौपपादिकाः ऋषिदास-धा(ध)न्य-सुनक्षत्र-कार्तिक-नन्द-नन्दन-शालिभद्राऽभय-वारिषेण-चिलातपुत्रा इत्येते दश वर्धमानतीर्थंकरतीर्थे। एवमृषभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेषु अन्ये अन्ये दश-दशानगाराः दारुणानुपसर्गान्निर्जित्य विजयाद्यनुत्तरेषूत्पन्ना इत्येवमनुत्तरौपपादिका दशाऽस्यां वर्ण्यन्त इति अनुत्तरौपपादिकदशा, अथवा अनुत्तरौपपादिकानां दशा अनुत्तरौपपादिकदशा तस्यामायुर्वैक्रियिकानुबन्धविशेषः। (त. वा. १, २०, १२; धव. पु. ६, पृ. २०२)। ३. उत्तरः प्रधानः, नास्योत्तरो विद्यत इति अनुत्तरः। उपपतनमुपपातः, जन्मेत्यर्थः। अनुत्तरः प्रधानः संसारे ऽन्यस्य तथाविधस्याभावात्, उपपातो येषामिति समासः, तद्वक्तव्यताप्रतिबद्धा दशाः दशाध्ययनोपलक्षिता अनुत्तरौपपादिकदशाः। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. १०५)। ४. अणुत्तरोववादियदसा णाम अंगं बाणउदिलक्ख-चोयालसहस्सपदेहि (९२४४०००) एक्केक्कम्हि य तित्थे दारुणे बहुविहोवसग्गे सहिऊण पाडिहेरं लद्धूण अणुत्तरविमाणं गदे दस दस वण्णेदि। (धव. पु. १, पृ. १०३)। ५. अनुत्तरौपपादिका देवा येषु ख्याप्यन्ते ताः अनुत्तरौपपादिकदशाः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–२०)। ६. चतुश्चत्वारिंशत्सहस्राद्विनवतिलक्षपदपरिमाणं प्रतितीर्थं निर्जितदुर्द्धरोपसर्गाणां समासादितपञ्चानुत्तरोपपादानां दश-दशमुनीनां प्ररूपकम् अनुत्तरौपपादिकदशम्। उपपादो जन्म प्रयोजनं येषां ते औपपादिका मुनयः, अनुत्तरेषु औपपादिकाः अनुत्तरौपपादिकाः, ते दश यत्र निरूप्यन्ते तत्तथोक्तम्। (श्रुतभक्ति टीका ८)। ७. तीर्थङ्कराणां प्रतितीर्थं दश दश मुनयो भवन्ति। ते उपसर्गं सोढ्वा पञ्चानुत्तरपदं प्राप्नुवन्ति। तत्कथानिरूपकं चतुश्चत्वारिंशत्सहस्राधिकद्विनवतिलक्षपदप्रमाणमनुत्तरौपपादिकदशम्। (त. वृत्ति श्रुत. १–२०)। ८. ति-णहं-चउ-चउ-दुग-णव-पयाणि णाणुत्तरोववाददसे। विजयादि(दी)सु पंचसु य उववादिदा विमाणेसु॥ पडितित्थं सहिऊण हु दारुणुवसग्गोपलद्धमाहप्पा। दह दह मुणिणो विहिणा पाणे मोत्तूण झाणमया॥ विजयादिसु उववण्णा वण्णिज्जंते सुहावसुहबहुला। ते पनह वीरतित्थे उजु (रिसि) दासो सालिभद्दक्खो॥ सुणक्खत्तो अभयो वि य धण्णो वरवारिसेण-णंदणया। णंदो चिलायपुत्तो कत्तइओ जह तह अण्णे॥ (अंगपण्णत्ती १, ५२–५५)। ९. अनुत्तरेषु विजय-वैजयन्त-जयन्ताऽपराजित-सर्वार्थसिद्धचाख्येष्वौपपादिका अनुत्तरौपपादिकाः। प्रतितीर्थं दश दश मुनयो दारुणान् महोपसर्गान् सोढ्वा लब्धप्रातिहार्याः समाधिविधिना त्यक्तप्राणा ये विजयाद्यनुत्तरविमानेषूत्पन्नास्ते वर्ण्यन्ते यस्मिन्त-

नुत्तरौपपादिकदशं नाम नवममङ्गम् । (गो.जी. जी. प्र. ३५७) ।

२ उपपाद अर्थात् जन्म ही जिनका प्रयोजन है वे औपपादिक कहे जाते हैं । प्रत्येक तीर्थंकर के समय में दारुण उपसर्गों को सहन करके विजयादि पांच अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होने वाले दश दश महामुनियों के चरित्र का जिस अंग में वर्णन किया जाता है उसे अनुत्तरौपपादिकदशा या अनुत्तरौपपादिकदशांग कहते हैं । जैसे—वर्धमान तीर्थंकर के तीर्थ में ऋषिदास आदि दस का (मूल में देखिये) ।

अनुत्पादानुच्छेद—अनुत्पादः असत्त्वम्, अनुच्छेदोऽविनाशः । अनुत्पाद एव अनुच्छेदः (अनुत्पादानुच्छेदः), असत अभाव इति यावत्, सतः असत्त्वविरोधात् । एसो पज्जवट्ठियणयववहारो । (धव. पु. ८, पृ. ६–७); अणुप्पादाणुच्छेदो णाम पज्जवट्ठिओ णओ, तेण असंतावत्थाए अभाववएसमिच्छदि, भावे उवलब्भमाणे अभावत्तविरोहादो । (धव. पु. १२, पृ. ४५८) ।

पर्यायार्थिक नय को अनुत्पादानुच्छेद कहा जाता है। अनुपाद का अर्थ असत्त्व और अनुच्छेद का अर्थ है अविनाश । 'अनुत्पाद ही अनुच्छेद' ऐसा कर्मधारय समास करने पर उसका अभिप्राय होता है असत् का अभाव। कारण कि कभी सत् का अभाव सम्भव नहीं है । अतः अभाव का व्यवहार पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा ही सम्भव है ।

अनुत्सेक—१. विज्ञानादिभिरुत्कृष्टस्यापि सततस्तत्कृतमदविरहोऽनहङ्कारताऽनुत्सेकः । (स. सि. ६, २६; त. वा. ६, २६, ४; त. श्लो. ६–२६; त. सुखबो. वृ. ६–२६) । २. उत्सेको गर्वः श्रुत-जात्यादिजनितः, नोत्सेकोऽनुत्सेको विजितगर्वता । (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ६-२५); उत्सेकश्चित्तपरिणामो गर्वरूपः, तद्विपर्ययोऽनुत्सेकः । (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ६–६) । ३. ज्ञान-तपःप्रभृतिभिर्गुणैर्यदुत्कृष्टोऽपि सन् ज्ञान-तपःप्रभृतिभिर्मदमहंकारं यन्न करोति सोऽनुत्सेक इत्युच्यते । (त. वृत्ति श्रुत. ६–२६) ।

१ विशिष्ट ज्ञान और तप आदि से उत्कृष्ट होकर भी उनका मद—अहंकार—न करना, इसका नाम अनुत्सेक है ।

अनुदयबन्धोत्कृष्ट — १. अनुदये बन्धादुत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म यासां ता अनुदयबन्धोत्कृष्टाः । (पञ्चसं. स्वो. वृ. ३–६२) । २. यासां तु विपाकोदयाभावे बन्धादुत्कृष्टस्थितिसत्कर्मावाप्तिस्ता अनुदयबन्धोत्कृष्टाः । (पंचसं. मलय. वृ. ३–६२; कर्मप्र. यशो. टी. १, पृ. १५) ।

२ जिन कर्मप्रकृतियों का विपाकोदय के अभाव में बन्ध से उत्कृष्ट स्थितिसत्त्व पाया जाता है, उन्हें अनुदयबन्धोत्कृष्ट कहते हैं ।

अनुदयवती प्रकृति (अणुदयवई)—१. चरिमसमयम्मि दलियं जासि अन्नत्थ संकमे ताओ××× ॥ (पंचसंग्रह ३–६६) । २. यासां प्रकृतीनां दलिकं चरमसमयेऽन्यासु प्रकृतिषु स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमय्य अन्यप्रकृतिव्यपदेशेनानुभवेत्, न स्वोदयेन, ताः अनुदयवत्योऽनुदयवतीसंज्ञाः । (पंचसं. मलय. वृत्ति ३–६६; कर्मप्र. यशो. टी. १, पृ. १५) ।

जिन कर्मप्रकृतियों का प्रदेशपिण्ड चरम समय में स्तिबुक संक्रमण के द्वारा अन्य प्रकृतियों में संक्रान्त होकर अन्य प्रकृतिरूप से ही विपाक को प्राप्त हो, स्वोदय से नहीं; उन प्रकृतियों को अनुदयवती प्रकृतियां कहते हैं ।

अनुदयसंक्रमोत्कृष्ट—१. अनुदये संक्रमेण उत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म यासां ता अनुदयसंक्रमोत्कृष्टाः । (पंचसं. स्वो. वृ. ३–६२) । २. यासां पुनरनुदये संक्रमत उत्कृष्टस्थितिलाभस्ता अनुदयसंक्रमोत्कृष्टाख्याः । (पंचसं. मलय. वृ. ३–६२); अनुदये सति संक्रमत उत्कृष्टा स्थितिर्यासां ता अनुदयसंक्रमोत्कृष्टाः । (पंचसं. मलय. वृ. ५–१४५) ।

२ जिन कर्मप्रकृतियों का विपाकोदय के अभाव में संक्रमण से उत्कृष्ट स्थितिसत्त्व पाया जावे, उन्हें अनुदयसंक्रमोत्कृष्ट कहते हैं ।

अनुदीर्णोपशामना— जा सा अकरणोवसामणा तिस्से दुवे णामधेयाणि—अकरणोवसामणा त्ति वि अणुदिण्णोवसामणा त्ति वि । (कसायपा. चूर्णि पृ. ७०७) ।

देखो अकरणोपशामना ।

अनुनादित्व — १. अनुनादित्वं प्रतिरवोपेतत्वम् । (समवा. अभय. वृ. सू. ३५) । २. अनुनादिता प्रतिरवोपेतता । (रायप. मलय. वृ. पृ. १६) ।

शब्द का प्रतिध्वनि से सहित होना, इसे अनुनादित्व कहते हैं ।

अनुपक्रम—१. जेणाउमुवक्कमिज्जइ अप्पसमुत्थेण इयरगेणावि । सो अज्झवसाणाई उवक्कमो अणुवक्कमो इअरो । (संग्रहणी. २६६)। २. इतरस्तु तद्विपरीतो (आयुषोऽपवर्तनहेतुभूताध्यवसानादिनाऽऽत्मसमुत्थेन वाह्येन च विषाग्नि-शस्त्रादिना विरहितो) ऽनुपक्रमः। (संग्रहणी. दे. वृ. २६६)।

आयु के अपवर्तन (विघात) के कारणभूत अध्यवसान आदि तथा वाह्य विष, शस्त्र एवं अग्नि आदि के अभाव का नाम अनुपक्रम है।

अनुपगूहन— प्रमादाज्जातदोषस्य जिनमार्गरतस्य तु। ईर्ष्ययोद्भासनं लोके तत् स्यादनुपगूहनम्। (धर्मसं. श्रा. ४-४६)।

ईर्ष्या के वश जिनमार्ग पर चलने वाले किसी धर्मात्मा के प्रमादजनित दोष के प्रकट करने को अनूपगूहन कहते हैं।

अनुपचरितसद्भूतव्यवहारनय—१. निरुपाधिगुण-गुणिनोर्भेदविषयोऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य केवलज्ञानादयो गुणाः। (आलाप. पृ. १४८)। २. स्यादादिमो यथान्तर्लीना या शक्तिरस्ति यस्य सतः। तत्तत्सामान्यतया निरूप्यते चेद्विशेषनिरपेक्षम्॥ इदमत्रोदाहरणं ज्ञानं जीवोपजीवि जीवगुणः। ज्ञेयालम्बनकाले न तथा ज्ञेयोपजीवि स्यात्॥ (पंचाध्यायी १, ५३५-३६)। ३. निरुपाधिगुण-गुणिनोर्भेदकोऽनुपचरितसद्भूतव्यवहारः, यथा केवलज्ञानादयो गुणाः। (नयप्रदीप पृ. १०२)।

१ उपाधिरहित गुण-गुणी के भेद को विषय करने वाले नय को अनुपचरित-सद्भूत-व्यवहारनय कहते हैं। जैसे जीव के केवलज्ञानादि गुण। २ वस्तु की अन्तर्गत शक्ति के विशेष-निरपेक्ष होकर सामान्यरूप से निरूपण करने वाले नय को अनुपचरित-सद्भूत-व्यवहारनय कहते हैं।

अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनय — १. संश्लेषसहितवस्तुसम्बन्धविषयोऽनुपचरितासद्भूतव्यवहारो यथा जीवस्य शरीरमिति। (आलाप. पृ. १४८; नयप्रदीप १४, पृ. १०३)। २. अपि वा ऽसद्भूतो योऽनुपचरिताख्यो नयः स भवति यथा। क्रोधाद्या जीवस्य हि विवक्षिताश्चेदबुद्धिभवाः॥ (पंचाध्यायी १-५४६)।

१ जो नय संश्लेष (संयोग) युक्त वस्तु के सम्बन्ध को विषय करता है वह अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय कहलाता है। जैसे—जीव का शरीर। २ अबुद्धिपूर्वक होने वाले क्रोधादिक भावों में जीव के भावों की विवक्षा करने को अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनय कहते हैं।

अनुपदेश—अनर्थक उपदेशोऽनुपदेशः। (त. वा. १, ४, २)।

निरर्थक उपदेश का नाम अनुपदेश है।

अनुपरतकायिकी क्रिया — उपरतो देशतः सर्वतो वा सावद्ययोगाद्विरतः। नोपरतोऽनुपरतः, कुतश्चिदप्यनिवृत्त इत्यर्थः। तस्य कायिकी अनुपरतकायिकी। इयं प्रतिप्राणिनि वर्तते। इयमविरतस्य वेदितव्या, न देशविरतस्य सर्वविरतस्य वा। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २२-२७६)।

जो सावद्य योग से-पाप कार्यों से—सर्वदेश या एकदेश रूप से विरत नहीं है उसका नाम अनुपरत (अविरत) है। उसके द्वारा जो भी शरीर से क्रिया की जाती है वह अनुपरतकायिकी क्रिया कहलाती है।

अनुपलम्भ—अन्योपलम्भोऽनुपलम्भः। (प्रमाणसं. स्वो. वृ. ३१)।

किसी एक के अभावस्वरूप जो अन्य की उपलब्धि होती है उसका नाम अनुपलम्भ है। जैसे—क्षणक्षय एकान्त सम्भव नहीं है, क्योंकि उसका अनुपलम्भ है—वह पाया नहीं जाता। यहाँ क्षणक्षय एकान्त का अनुपलम्भ कथंचित् नित्यानित्यात्मक अनेकान्त की उपलब्धिस्वरूप है।

अनुपवास—१. जलवर्जनचतुर्विधाहारत्यागः, ईषदुपवासोऽनुपवास इति व्युत्पत्तेः। (सा. ध. स्वो. टी. ५-३५)। २. ××× आरम्भादनुपवासः॥ (धर्मसं. श्रा. ६-१७०)।

१ जल को छोड़ कर शेष चारों प्रकार के आहार के परित्याग को अनुपवास कहते हैं। २ अथवा गृह सम्बन्धी कार्य को करते हुए जो उपवास किया जाता है उसे अनुपवास कहते हैं।

अनुपस्थान, अनुपस्थापन (परिहारप्रायश्चित्त) —१. अपकृष्टाचार्यमूले प्रायश्चित्तग्रहणमनुपस्थापनम्। (त. वा. ९, २२, १०)। २. वसिहीदो दुविहो अणवट्ठओ पारंचिओ चेदि। तत्थ अणवट्ठओ जहण्णेण छम्मासकालो उक्कस्सेण बारसवासपेरंतो। कायभूमीदो परदो चेव कयविहारो पडिवंदणविर-

हिदो गुरुवदिरित्तासेसजणेसु कयमोणाभिग्गहो खवणायंविलपुरिमड्ढेयट्ठाण-णिव्वियादीहि सोसियरस-रुहिर-मांसो होदि। (धव. पु. १३, पृ. ६२)। ३. परिहारोऽनुपस्थान-पारञ्चिकभेदेन द्विविधः। तत्रानुपस्थानं निज-परगणभेदाद् द्विविधम्। प्रमादादन्यमुनिसम्बन्धिनमृषिं छात्रं वा परपाखण्डिप्रतिवद्धचेतनाचेतनद्रव्यं वा परस्त्रियं वा स्तेनयतो मुनीन् प्रहरतो वा अन्यदप्येवमादि विरुद्धाचरितमाचरतो नव-दशपूर्वधरस्य आदित्रिकसंहननस्य जितपरीषहस्य दृढधर्मिणो धीरस्य भवभीतस्य निजगणानुपस्थापनं प्रायश्चित्तं भवति। तेन ऋष्याश्रमाद् द्वात्रिंशद्दण्डान्तरं विहितविहारेण, बालमुनीनपि वन्दमानेन, प्रतिवन्दनाविरहितेन, गुरुणा सहालोचयता, शेषजनेषु कृतमौनव्रतेन, विधृतपराङ्मुखपिच्छेन, जघन्यतः पञ्च-पञ्चोपवासा उत्कृष्टतः षण्मासोपवासाः कर्तव्याः। उभयमप्याद्वादशवर्षादिति। दर्पादिनन्तरोक्तान् दोषानाचरतः परगणोपस्थापनं प्रायश्चित्तं भवतीति। स सापराधः स्वगणाचार्येण परगणाचार्यं प्रति प्रहेतव्यः। सोऽप्याचार्यस्तस्यालोचनमाकर्ण्य प्रायश्चित्तमदत्त्वा आचार्यान्तरं प्रस्थापयति सप्तमं यावत्। पश्चिमश्च प्रथमालोचनाचार्यं प्रति प्रस्थापयति। स एव पूर्वः पूर्वोक्तप्रायश्चित्तेनैवमाचारयति। (चा. सा. पृ. ६३–६४; अन. ध. स्वो. टी. ७–५६)। ४. परिहारोऽनुपस्थापन-पारञ्चिकभेदभाक्। निजान्यगणभेदं तत्राद्यं तत्राद्यमुत्तमम्॥ द्वादशाब्देषु षण्मास-षण्मासानशनं मतम्। जघन्यं पञ्च-पञ्चोपवासं मध्यं तु मध्यमम्॥ द्वात्रिंशद्दण्डदूरालयस्थेन वसतेर्यतीन्। सर्वान् प्रणमतापेतप्रतिवन्दनसाधुना॥ स्वदोषख्यालये पिच्छं बिभ्राणेन पराङ्मुखम्। सूरीतरैः सहोपात्तमोनेनैतद्विधीयते। प्रमादेनान्यपाखण्डिगृहस्थ-यतिसंश्रितम्। वस्तु स्तेनयतः किञ्चिच्चेतनाचेतनात्मकम्॥ यतीन् प्रहरतोऽन्यस्त्रीहरणादींश्च कुर्वतः। दश-नवपूर्वज्ञस्य ह्याद्यसंहननस्य तत्॥ करोति यदि दर्पेण दोषान् पूर्वविभाषितान्। सोऽयमन्यगणानुपस्थापनेन विशुद्धयति॥ प्रायश्चित्तं तदेवात्र किन्तु स्वगणसूरिणा। आलोच्य प्रेषितः सप्तसूरिपार्श्वमनुक्रमात्॥ आलोच्य तैस्तैरप्राप्तप्रायश्चित्तोऽन्त्यसूरिणा। तमाद्यं प्रापितस्तेन दत्तं चरति पूर्ववत्॥ (आचा.सा. ६, ५३-६१)। ३ परिहारप्रायश्चित्त अनुपस्थापन (अनवस्थाप्य या अनुपस्थान) और पारंचिक के भेद से दो प्रकारका है। उनमें अनुपस्थापन भी दो प्रकारका है—निज-गण-अनुपस्थापन और परगण-उपस्थापन। जो साधु प्रमाद से दूसरे मुनि सम्बन्धी ऋषि या छात्र को, अन्य पाखण्डी से सम्बद्ध चेतन-अचेतन द्रव्य को, अथवा परस्त्री को चुराता है; मुनियों पर प्रहार करता है, या इसी प्रकार का अन्य भी विरुद्ध आचरण करता है; नौ-दश पूर्वों का धारक है, आदि के तीन संहननों में से किसी एक से सहित है, दृढधर्मी है, धीर है, और संसार से भयभीत है; ऐसे साधु को निजगण-अनुपस्थापन प्रायचित्त दिया जाता है। तदनुसार वह ऋष्याश्रम से ३२ धनुष दूर जाता है, बालमुनियों को भी वन्दन करता है, गुरु के पास आलोचना करता है, शेष जन के प्रति मौन रखता है, अपराध को प्रगट करने के लिए पीछी को विपरीत स्वरूप से (उलटी) धारण करता है, इस प्रकार रहता हुआ वह १२ वर्ष तक कम-से-कम ५-५ और अधिक से अधिक ६–६ मास का उपवास करता है।

उपर्युक्त अपराध को ही यदि कोई मुनि अभिमान के वश करता है तो उसे परगण-उपस्थापन प्रायश्चित्त दिया जाता है। तदनुसार उसे अपने संघ का आचार्य अन्य संघ के आचार्य के पास भेजता है। वह उसके अपराध की आलोचना को सुनकर बिना प्रायश्चित्त दिये ही अन्य आचार्य के पास भेजता है, इस प्रकार से उसे सातवें आचार्य के पास तक भेजा जाता है। वह भी उसकी आलोचना को सुनकर बिना प्रायश्चित्त दिये ही उसी प्रथम आचार्य के पास भेज देता है। तब वही उसे पूर्वोक्त (निजगण-अनुपस्थापनोक्त) प्रायश्चित्त को देता है। इस प्रकार अनुपस्थापन प्रायश्चित्त दो प्रकारका है।

अनुपालनाशुद्ध—१. आदंके उवसग्गे समे य दुब्भिक्खवुत्तिकंतारे। जं पालिदं ण भग्गं एदं अणुपालणासुद्धं॥ (मूला. ७–१४५)। २. कंतारे दुब्भिक्खे आयंके वा महइ समुप्पण्णे। जं पालियं ण भग्गं तं जाण अणुपालणासुद्धं॥ (श्राव. भा. ६–२१४)। आतंक (रोग), उपसर्ग, श्रम, दुर्भिक्षवृत्ति (अकाल के कारण भिक्षा की अप्राप्ति) और वनप्रदेश; इन कारणों के रहते हुए संरक्षित चारित्र के भग्न न होने देने का नाम अनुपालनशुद्ध है।

अनुप्रेक्षा (भावना)—१. अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकबोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः। (त. सू. ९–७)। २. शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा। (स. सि. ९–२; त. सुखबो. वृत्ति ९–२)। ३. स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षाः। शरीरादीनां स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा वेदितव्याः। (त. वा. ९, २, ४) ४. स्वभावानुचिन्तनमनुप्रेक्षा। (त. श्लो. ९–२)। ५. अनुचिन्तनमेतेषामनुप्रेक्षाः प्रकीर्तिताः। (त. सा. ६–३०)। ६. अनुप्रेक्षाऽर्हद्गुणानामेव मुहुर्मुहुरनुस्मरणम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–१२४)। ७. अनुप्रेक्ष्यन्ते शरीराद्यनुगतत्वेन स्तिमितचेतसा दृश्यन्ते इत्यनुप्रेक्षाः। (अन. ध. स्वो. टी. ६–५७)। ८. कायादिस्वभावादिचिन्तनमप्रेक्षा। (त. वृत्ति श्रुत. ९–२); निज-निजनामानुसारेण तत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा भवति। (त. वृ. श्रुत. ९–७)। ९. अनु पुनः पुनः प्रेक्षणं चिन्तनं स्मरणमनित्यादिस्वरूपाणामित्यनुप्रेक्षा, निज-निजनामानुसारेण तत्त्वानुचिन्तनमनुप्रेक्षा इत्यर्थः। (कार्तिके. टी. १)। १०. परिज्ञातार्थस्य एकाग्रेण मनसा यत्पुनः पुनरभ्यसनमनुशीलनं सानुप्रेक्षा, अनित्यादिभावनाचिन्तनाऽनुप्रेक्षा। (कार्तिके. टी. ४६६)।

२ शरीर आदि के स्वभाव का चिन्तन करना, इसका नाम अनुप्रेक्षा है।

अनुप्रेक्षा (स्वाध्याय)—१. अणुप्पेहा णाम जो मणसा परियट्टेइ, णो वायाए। (दशवै. नि. १–४८; दशवै. चूर्णि १, पृ. २९)। २. अधिगतार्थस्य मनसाऽभ्यासोऽनुप्रेक्षा। (स. सि. ९–२५; त. श्लो. वा. ९–२५)। ३. अनुप्रेक्षा ग्रन्थार्थयोरेव मनसाऽभ्यासः। (त. भा. ९–२५; योगशा. स्वो. विव. ४–९०)। ४. अधिगतार्थयोरेव मनसाऽभ्यासोऽनुप्रेक्षा। अधिगतपदार्थप्रक्रियस्य तप्तायस्पिण्डवदर्पितमनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा वेदितव्याः। (त. वा. ९, २५, ३; भावप्रा. टी. ७८)। ५. कम्मणिज्जरणट्ठमट्ठि-मज्जाणुगयस्स सुदणाणस्स परिमलणमणुपेक्खणा णाम। (धव. पु. ९, पृ. २६३); सुदत्थस्स सुदाणुसारेण चिंतणमणुपेहणं णाम। (धव. पु. १४, पृ. ९)। ६. ग्रन्थार्थानुचिन्तनमनुप्रेक्षा। (अनुयो. हरि. वृ. ७, पृ. १०)। ७. अनुप्रेक्षा नाम तत्त्वार्थानुचिन्ता। (ललितवि. पृ. ८२)। ८. सत्देहे सति ग्रन्थार्थयोर्मनसाऽभ्यासोऽनुप्रेक्षा। (त. भा. सि. वृत्ति ९–२५)। ९. अवगतार्थानुप्रेक्षणमनुप्रेक्षा। (भ. आ. विजयो. टी. १०३)। १०. साधोरधिगतार्थस्य योऽभ्यासो मनसा भवेत्। अनुप्रेक्षेति निर्दिष्टः स्वाध्यायः सः जिनेशिभिः। (त. सा. ७–२०)। ११. अधिगतपदार्थप्रक्रियस्य तप्तायःपिण्डवदर्पितचेतसो मनसाऽभ्यासोऽनुप्रेक्षा। (चा. सा. पृ. ६७)। १२. अनुप्रेक्षा परिज्ञाते भावना या मुहुर्मुहुः। (आचा. सा. ४–९१)। १३. अन्विति ध्यानतः पश्चात् प्रेक्षा त्वालोचनं हृदि। अनुप्रेक्षा स्यादसौ चाश्रयभेदाच्चतुर्विधा॥ (लोकप्र. ३०, ४७०)। १४. अर्थाविस्मरणार्थं च तच्चिन्तनमनुप्रेक्षा। (धर्मसं. स्वो. वृ. ३–५४, पृ. १४२)। १५. साऽनुप्रेक्षा यदभ्यासोऽधिगतार्थस्य चेतसा। स्वाध्यायलक्ष्म पाठोऽन्तर्जल्पात्मात्रापि विद्यते॥ (अन. ध. ७–८६)। १६. निश्चितार्थस्य मनसाऽभ्यासोऽनुप्रेक्षा। (त. सुखबो. वृ. ९–२५)। १७. परिज्ञातार्थस्य एकाग्रेण मनसा यत्पुनः पुनरभ्यसनमनुशीलनं साऽनुप्रेक्षा। (त. वृ. श्रुत. ९–२५)।

२ पठित अर्थ का मन से अभ्यास करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है।

अनुप्रेक्षादोष—अनुप्रेक्षमाणस्यैवोष्ठपुटे चलयतः स्थानमनुप्रेक्षादोषः। (योगशा. विव. ३–१३०)। वस्तुस्वरूप का चिन्तवन करते हुए ओष्ठों के चलाने को अनुप्रेक्षा दोष कहते हैं।

अनुबन्धयुता मुदिता—अनुबन्धः सन्तानोऽव्यवच्छिन्नसुखपरम्परया देव-मनुजजन्मसु कल्याणपरम्परारूपस्तेन प्रयुज्यते सुखे परमैहिकनयापेक्षया आत्म-परापेक्षया च तृतीया। (षोड. वृ. १३–१०)। देव और मनुष्य के जन्म में अविच्छिन्न कल्याणपरम्परा के भोगने से प्राप्त होने वाली प्रसन्नता को अनुबन्धयुता मुदिता भावना कहते हैं।

अनुबन्धसारा (उपेक्षा)—अनुबन्धः कार्यविषयः प्रवाहरूपपरिणामस्तत्सारा [उपेक्षा अनुबन्धसारा]। यथा कश्चित् कुर्वन् स्वदारान्यादिरर्थानर्थादिषु न प्रवर्तते, स चाप्रवर्तमानमन्वयो मलिनार्थी प्रवर्तते, विदधीत तु काले परिणामसुन्दरं कार्यमवेक्षमाणो

यदा माध्यस्थ्यमालम्वते तदा तस्यानुवन्धसारोपेक्षा। (षोडश. वृ. १३-१०)।

कार्यविषयक प्रवाहपरिणामरूप अनुवन्ध से युक्त उपेक्षा अनुवन्धसारा उपेक्षा कहलाती है। जैसे—कोई आलस्यादि के कारण धनार्जन आदि में प्रवृत्त नहीं हो रहा था। तव किसी समय उसके हितैषी ने उसे उसमें प्रवृत्त कराया। योग्य अवसर पर जव वह परिणाम में सुन्दर कार्य को देखता हुआ मध्यस्थता का आलम्बन लेता है तव उसके अनुवन्धसारा उपेक्षा कही जाती है।

अनुभय भाषा—अनक्षरात्मिका द्वीन्द्रियाद्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तानां जीवानां स्वसंकेतप्रदर्शिका भाषा अनुभयभाषा। (गो. जी. जी. प्र. २२६)।

दो-इन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवों की अपने संकेत को सूचित करने वाली जो अनक्षरात्मक भाषा है, वह अनुभय भाषा कही जाती है।

अनुभव (वेदनस्वरूप)—अनुभवलक्षणं च योगदृष्टिसमुच्चयानुसारेण लिख्यते — यथार्थवस्तुस्वरूपोपलब्धि-परभावारमण-स्वरूपरमण-तदाऽऽस्वादनैकत्वमनुभवः। (ज्ञानसार वृ. २६, पृ. ८७; अभिधा. रा. १, पृ. ३९२)।

वस्तु के यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि, पर पदार्थों में विरक्ति, आत्मस्वरूप में रमण और हेय-उपादेय के विवेक को अनुभव कहते हैं।

अनुभव—देखो अनुभाग। १. विपाकोऽनुभवः। (त. सू. ८-२१)। २. तद्रसविशेषोऽनुभवः। यथा अजा-गो-महिष्यादिक्षीराणां तीव्र-मन्दादिभावेन रसविशेषः तथा कर्म-पुद्गलानां स्वगतसामर्थ्यविशेषोऽनुभवः। (स. सि. ८-३; त. वा. ८, ३, ६; मूला. वृ. १२-१८४; त. सुखबोध वृ. ८-३)। ३. ज्ञानावरणादीनां कर्मप्रकृतीनामनुग्रहोपघातात्मिकानां पूर्वास्रवतीव्र-मन्दभाव-निमित्तो विशिष्टः पाको विपाकः, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भावलक्षण-निमित्तभेदजनितवैश्वरूप्यो नानाविधो वा पाको विपाकः, असावनुभव इत्याख्यायते। (त. वा. ८, २१, १)। ४. विशिष्टः पाको नानाविधो वा विपाकः, पूर्वास्रवतीव्रादिभावनिमित्तविशेषाश्रयत्वात् द्रव्यादिनिमित्तभेदेन विश्वरूपत्वाच्च, सोऽनुभवः। (त. श्लो. ८-२१)। ५. कर्मपुद्गलसामर्थ्यविशेषोऽनुभवो मतः। (ह. पु. ५८-२१२); कषायतीव्रमन्दादिभावास्रवविशेषतः। विशिष्टपाक इष्टस्तु विपाकोऽनुभवोऽथवा॥ स द्रव्य-क्षेत्र-कालोक्तभव-भावविभेदतः। विविधो हि विपाको यः सोऽनुभवः समुच्यते॥ (ह. पु. ५८, २८८-२८९)। ६. विपाकः प्रागुपात्तानां यः शुभाशुभकर्मणाम्। असावनुभवो ज्ञेयः × × ×। (त. सा. ५-४६)। ७. कर्मणां यो विपाकस्तु भव-क्षेत्राद्यपेक्षया। सोऽनुभाव × × ×॥ (चन्द्र. च. १८-१०३)। ८. यथाजागोमहिष्यादिक्षीराणां तीव्र-मन्दादिभावेन स्वकार्यकरणे शक्तिविशेषोऽनुभवस्तथा कर्मपुद्गलानां स्वकार्यकरणे सामर्थ्यविशेषोऽनुभवः। (अन. ध. स्वो. टी. २-३९)। ९. विशिष्टो विविधो वा पाक उदयः विपाकः। यो विपाकः स अनुभव इत्युच्यते अनुभागसंज्ञकश्च। तत्र विशिष्टः पाकस्तीव्र-मन्द-मध्यमभावास्रवविशेषाद्वेदितव्यः। द्रव्य-क्षेत्र-काल-भव-भावलक्षणकारणभेदोत्पादितनानात्वो विविधोऽनुभवो ज्ञातव्यः। अनुभव इति कोऽर्थः? आत्मनि फलस्य दानम्, कर्मदत्तफलानामात्मना स्वीकरणमित्यर्थः। यदा शुभपरिणामानां प्रकर्षो भवति तदा शुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभवो भवति, अशुभप्रकृतीनां तु निकृष्टोऽनुभवो भवति, यदा अशुभपरिणामानां प्रकर्षो भवति तदा अशुभप्रकृतीनां प्रकृष्टोऽनुभवो भवति, शुभप्रकृतीनां तु निकृष्टोऽनुभवो भवति। (त. वृ. श्रुत. ८-२१)।

२ जिस प्रकार वकरी, गाय और भैंस आदि के दूध के रस में अपेक्षाकृत हीनाधिक मधुरता हुआ करती है उसी प्रकार कर्मपुद्गलों में अपनी फलदान-शक्ति में जो अपेक्षाकृत हीनाधिकता होती है उसका नाम अनुभव या अनुभाग है।

अनुभवावीचिमरण—कर्मपुद्गलानां रसोऽनुभवः। स च परमाणुषु षोढा वृद्धि-हानिरूपेण आवीचय इव क्रमेणावस्थित[तस्त]स्य प्रलयोऽनुभवावीचिमरणम्। (भ. आ. विजयो. २५)।

आयु कर्म सम्वन्धी परमाणुओं में छह प्रकार की वृद्धि व हानि के क्रम से जल-तरंगों के समान अवस्थित उक्त कर्मपुद्गलों के रस (अनुभाग) का प्रतिक्षण प्रलय होना, इसका नाम अनुभवावीचिमरण है।

अनुभाग—देखो अनुभव। १. कम्माणं जो दु रसो अज्झवसाणजणिद सुह असुहो वा। वंधो सो अणु-

भागो × × ×।। (मूला. १२–२०३) । २. को अणुभागो ? कम्माणं सगकज्जकरणसत्ती अणुभागो णाम। (जयध. ५, पृ. २) । ३. × × × इतरस्तत्फलोदयः ।। (ज्ञानार्णव ६-४८)। ४. तेषां कार्मणवर्गणागतपुद्गलानां जीवप्रदेशानुश्लिष्टानां जीवस्वरूपान्यथाकरणरसोऽनुभागबन्धः । (मूला. वृ. ५–४७); अनुभागः कर्मणां रसविशेषः । (मूला. वृ. १२–३); कर्मणां ज्ञानावरणादीनां यस्तु रसः सोऽनुभवः, अध्यवसानैः परिणामैर्जनितः क्रोध-मान-माया-लोभतीव्रादिपरिणामभावतः शुभः सुखदः अशुभः असुखदः, वा विकल्पार्थः, सोऽनुभागबन्धः । (मूला. वृ. १२–२०३) । ५. शुभाशुभकर्मणां निर्जरासमये सुख-दुःखफलप्रदानशक्तियुक्तो ह्यनुभागबन्धः । (नि. सा. वृ. ३–४०)। ६. × × × अणुभागो होइ तस्स सत्तीए । अणुभवणं जं तीव्वे तिव्वं मंदे मंदाणुरूवेण ।। (भावसं. दे. ३४०) । ७. भावक्षेत्रादिसापेक्षो विपाकः कोऽपि कर्मणाम् । अनुभागो जिनैरुक्तः केवलज्ञानभानुभिः ।। (धर्मश. २१–११४) । ८. अनुभागो रसो ज्ञेयः × × ×।। (पञ्चाध्यायी २–९३३) ।

१ कषायजनित परिणामों के अनुसार कर्मों में जो शुभ या अशुभ रस प्रादुर्भूत होता है उसका नाम अनुभाग है।

अनुभागकाण्डकघात—पारद्धपढमसमयादो अंतोमुहुत्तेण कालेण जो घादो णिप्पज्जदि सो अणुभागखंडयधादो णाम । (धव. पु. १२, पृ. ३२ ।

जो अनुभाग का घात प्रारम्भ होने के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहुर्त काल में निष्पन्न होता है उसका नाम अनुभागकाण्डकघात है ।

अनुभागदीर्घ—अप्पप्पणो उक्कस्साणुभागट्ठाणाणि बंधमाणस्स अणुभागदीहं । (धव. पु. १६, पृ. ५०९) ।

अपने अपने उत्कृष्ट अनुभागस्थानों को बांधने का नाम अनुभागदीर्घ है ।

अनुभागबन्ध — देखो अनुभव व अनुभाग । १. तस्यैव मोदकस्य यथा स्निग्ध-मधुरादिरेकगुण-द्विगुणादिभावेन रसो भवति एवं कर्मणोऽपि देशघाति-शुभाशुभ-तीव्रमन्दादिरनुभागबन्धः । (स्थाना. अभय. वृ. ४, २, २९६) । २. तस्यैव कर्मपुद्गलराशेः शुभोऽशुभो वा घातिकोऽघाती वा यो रसः सोऽनुभागबन्धो रसबन्ध इत्यर्थः। (शतक. दे. स्वो. टी.२१) । ३. अनुभागो विपाकस्तीव्रादिभेदो रस इत्यर्थः। तस्य बन्धोऽनुभागबन्धः । (अभिधा. रा. १, पृ. ३९९) ।

जिस प्रकार लड्डू में स्निग्ध व मधुर आदि रस एकगुणे, दुगुणे व तिगुणे आदि रूप से रहता है उसी प्रकार कर्म में भी जो देशघाती व सर्वघाती, शुभ व अशुभ तथा तीव्र व मन्द आदि रस (अनुभाग) होता है उसका नाम अनुभागबन्ध है ।

अनुभागबन्धस्थान—तिष्ठत्यस्मिन् जीव इति स्थानम्, अनुभागबन्धस्य स्थानमनुभागबन्धस्थानम्; एकेन कापायिकेणाध्यवसायेन गृहीतानां कर्मपुद्गलानां विवक्षितैकसमयबद्धरससमुदायपरिणामगित्यर्थः। (प्रव. सारो. वृ. १०५१) ।

'तिष्ठति अस्मिन् जीवः इति स्थानम्' इस निरुक्ति के अनुसार जीव जहां रहता है उसका नाम स्थान है। अनुभागबन्ध का जो स्थान है वह अनुभागबन्धस्थान कहलाता है। अभिप्राय यह है कि किसी कषायरूप एक परिणाम के द्वारा गृहीत कर्मपुद्गलों के विवक्षित एक समय में बांधे गये रससमुदाय को अनुभागबन्धस्थान जानना चाहिए ।

अनुभागमोक्ष—ओकड्डिदो उक्कड्डिदो अण्णपयडिं संकामिदो अधट्ठिदिगलणाए णिज्जिण्णो वा अणुभागो अणुभागमोक्खो। (धव. पु. १६, पृ. ३३८) ।

अपकर्षित, उत्कर्षित, संक्रामित या अधःस्थितिगलन के द्वारा निर्जीर्ण अनुभाग को अनुभाग-मोक्ष कहते हैं ।

अनुभागविपरिणामना—१. ओकड्डिदो वि उक्कड्डिदो वि अण्णपयडिं णीदो वि अणुभागो विपरिणामिदो होदि । एदेण अट्ठपदेण जहा अणुभागसंकमो तहा णिरवयवं अणुभागविपरिणामणा कायव्वा । (धव. पु. १५, पृ. २८४) । २. तथा विविधैः प्रकारैः कर्मणां सत्तोदय-क्षय-क्षयोपशमोद्वर्तनापवर्तनादिभिरेवाकूतलक्षणः, गिरिनदीपुष्पन्यायेन द्रव्य-क्षेत्रादिभिर्वा कारणविशेषेण [illegible] विपरिणामना । [illegible] । × × × [illegible] । (स्थाना. अभय. वृ. ४, २, २९६) ।

१ अपवर्तित, उद्वर्तित अथवा अन्य प्रकृति को प्राप्त

कराया गया भी अनुभाग विपरिणामित (विपरिणामना युक्त) होता है। अतः अनुभागविपरिणामना को अनुभागसंक्रम जैसा ही समझना चाहिए।

अनुभागविभक्ति—तस्स अणुभागस्स विहत्ती भेदो पवंचो जम्हि अहियारे परूविज्जदि सा अणुभागविहत्ती णाम। (जयध. ५, पृ. २)।

जिस अधिकार में कर्मों के अनुभागगत भेद या उसके विस्तार का वर्णन किया जाय उसे अनुभागविभक्ति नामका अधिकार कहते हैं।

अनुभागसत्कर्मस्थान—जमणुभागट्ठाणं घादिज्जमाणं बन्धाणुभागट्ठाणेण सरिसं ण होदि, बन्धअट्ठंक-उव्वंकाणं विच्चाले हेट्ठिमउव्वंकादो अणंतगुणं उवरिमअट्ठंकादो अणंतगुणहीणं होदूण चेट्ठदि तमणुभागसंतकम्मट्ठाणं णाम। (धव. पु. १२, पृ. ११२)।

जो घाता जाने वाला अनुभागस्थान बन्धानुभाग-स्थान के सदृश नहीं होता, किन्तु बन्ध सम्बन्धी अष्टांक और ऊर्वंक के मध्य में अर्थात् अनन्तगुण वृद्धि और अनन्तभाग वृद्धि के अन्तराल में अधस्तन ऊर्वंक से अनन्तगुणित और उपरिम अष्टांक से अनन्तगुणहीन होकर अवस्थित होता है उसे अनुभागसत्कर्मस्थान कहते हैं।

अनुभागसंक्रम—१. अणुभागो ओकड्डिदो वि संकमो, उक्कड्डिदो वि संकमो, अण्णपयडिं णीदो वि संकमो। (क. पा. चू. पृ. ३४५; जयध. भा. ५, पृ. २; धव. पु. १६, पृ. ३७५)। २. अणुभागो णाम कम्माणं सगकज्जुप्पायणसत्ती, तस्स संकमो सहावंतरसंकंती। सो अणुभागसंकमो त्ति वुच्चइ। (जयध. ६, पृ. २)। ३. तत्थट्ठपयं उव्वट्टिया व ओवट्टिया व अणुभागा। अणुभागसंकमो एस अन्नपगइं णिया वावि। (कर्मप्र. संक्रमक. ४६)। ४. उद्वर्तिताः प्रभूतीभूता यद्वाऽपवर्तिता ह्रस्वीकृता अथवा अन्यां प्रकृतिं नीता अन्यप्रकृतिस्वभावेन परिणमिता अविभागा अनुभागाः, एष सर्वोऽप्यनुभागसंक्रमः। (कर्मप्र. मलय. वृ. सं. क. ४६)। ५. पतद्ग्रहप्रकृत्यनुयायिरसापादनं त्वनुभागसंक्रमः। (पंचसं. मलय. वृ. संक्रम. गा. ३३)।

१ अनुभाग का जो अपकर्षण, उत्कर्षण अथवा अन्य प्रकृति रूप परिणमन होता है उसे अनुभागसंक्रम कहते हैं।

अनुभागह्रस्व—सव्वासिं पयडीणं अप्पप्पणो जहण्णाणुभागट्ठाणं बंधमाणस्स अणुभागरहस्सं। (धव. पु. १६, पृ. ५११)।

जीव के द्वारा बांधा गया जो सब प्रकृतियों का अपना जघन्य अनुभागस्थान है उसे अनुभागह्रस्व कहते हैं।

अनुभागोदीरणा—तथैव (वीर्यविशेषादेव) प्राप्तोदयेन रसेन सहाप्राप्तोदयो रसो यो वेद्यते साऽनुभागोदीरणेति। (स्थाना. अभय. वृ. ४, २, २९६ पृ. २१०)।

वीर्यविशेष से उदय को प्राप्त हुए रस के साथ जो अनुदयप्राप्त रस का वेदन होता है उसे अनुभागोदीरणा कहते हैं।

अनुभाव—देखो अनुभव। १. विपाकोऽनुभावः। (श्वे. त. सू. ८–२२)। २. सर्वासां प्रकृतीनां फलं विपाकोदयोऽनुभावः। (त. भा. ८–२२)। ३. अनुभावो यो यस्य कर्मणः शुभोऽशुभो वा विपाकः। (उत्तरा. चू. ३३, पृ. २७७)। ४. विपचनं विपाकः —उदयावलिकाप्रवेशः, कर्मणां विशिष्टो नानाप्रकारो वा पाको विपाकः, अप्रशस्तपरिणामानां तीव्रः शुभपरिणामानां मन्दः। यथोक्तकर्मविशेषानुभवनम् अनुभावः। ××× अथवाऽऽत्मनाऽनुभूयते येन करणभूतेन बन्धेन सोऽनुभावबन्धः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–२२)। ५. अनुभावो विपाकस्तीव्रादिभेदो रसः। (समवा. अभय. वृ. सू. ४)।

देखो अनुभव।

अनुभावबन्ध—देखो अनुभागबन्ध। १. अध्यवसायनिर्वर्तितः कालविभागः कालान्तरावस्थाने सति विपाकवत्ता अनुभावबन्धः समासादितपरिपाकावस्थस्य बदरादेरिवोपभोग्यत्वात् सर्व-देशघात्येक-द्वि-त्रि-चतुःस्थानशुभाशुभतीव्र-मन्दादिभेदेन वक्ष्यमाणः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–४)। २. अनुभावबन्धो यस्य यथाऽऽयत्यां विपाकानुभवनमिति। (श्रावकप्र. टी. गा. ८)। ३. तस्यैव च स्निग्ध-मधुराद्येक-द्विगुणादिभावोऽनुभावः। यथाह—तासामेव विपाकनिबन्धो यो नामनिर्वचनभिन्नः। स रसोऽनुभावसंज्ञस्तीव्रो मन्दोऽथ मध्यो वा॥ (त. भा. हरि. वृ. ८–४)। ४. अनुभावबन्धस्तु—कृतस्थितिकस्य स्वस्मिन् काले परिपाकमितस्य वा या ऽनुभूयमानावस्था शुभाशुभाकारेण घृत-क्षीर-कोशातकीरसोदाहृतिसाम्यात् सोऽनु-

भाववन्ध: । (त. भा. सिद्ध. वृ. १–३); अनुभूयते येन करणभूतेन वन्धेन सोऽनुभाववन्ध: । (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–२२) । ५. अनुभावो विपाकस्तीव्रादिभेदो रसस्तस्य वन्धोऽनुभाववन्ध: । (समवा. अभय. वृ. ४; स्थाना. अभय. वृ. ४, २, २९६); कर्मणो देश-सर्वघातिशुभाशुभतीव्रमन्दादिरनुभाववन्ध: । (स्थाना. अभय. वृ. ४, २, २९६)। ६. अनुभाववन्धस्तूच्यते—तत्र शुभाशुभानां कर्मप्रकृतीनां प्रयोगकर्मणोपात्तानां प्रकृति-स्थिति-प्रदेशरूपाणां तीव्र-मन्दानुभावतयाऽनुभवनमनुभाव: । स चैक-द्वि-त्रि-चतु:स्थानभेदेनानुगन्तव्य: । (आचारांग शी. वृ. २, १, गा. १९२-९३, पृ. ८७) ।

देखो अनुभागवन्ध ।

अनुभाषणाशुद्ध प्रत्याख्यान—१. अणुभासदि गुरुवयणं अक्खर-पद-वंजणं कमविसुद्धं । घोसविसुद्धीसुद्धं एदं अणुभासणासुद्धं ॥ (मूला. ७–१४४) । अणुभासइ गुरुवयणं अक्खर-पद-वंजणेहिं परिसुद्धं । पंजलिमउडो ऽभिमुहो तं जाण अणुभासणासुद्धम् ॥ (आव. भा. २५३) ।

जो गुरु के द्वारा उच्चारित प्रत्याख्यान सम्बन्धी अक्षर (एक स्वर युक्त व्यंजन), पद और व्यंजन (खण्डाक्षर, अनुस्वार व विसर्जनीय आदि); ये जिस क्रम से अवस्थित हैं उसी क्रम से उनका अनुवाद रूप से घोषशुद्ध उच्चारण करना; इसका नाम अनुभाषणाशुद्ध प्रत्याख्यान है ।

अनुभूतत्व—अशेषविशेषत: पुन: पुनश्चेतसि तत्स्वरूपाभिभावनमनुभूतत्वम् । (त. वृ. श्रुत. १–६) ।

विवक्षित वस्तुस्वरूप का तदन्तर्गत समस्त विशेषों के साथ चित्त में बार बार अनुभव करने को अनुभूतत्व कहते हैं ।

अनुभ्रष्ट—दर्शनाद् भ्रष्ट एवानुभ्रष्ट इत्यभिधीयते । न हि चारित्रविभ्रष्टो भ्रष्ट इत्युच्यते बुधै: ॥ (वराङ्ग २६–९६) ।

सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हुआ जीव ही वास्तव में अनुभ्रष्ट कहलाता है ।

अनुमत—१. स्वयं न करोति, न च कारयति; किन्त्वनुपैति यत्तदनुमननम् । (भ. आ. विजयो. ८१) । २. प्रयोजकस्य मनसाऽभ्युपगमनमनुमतम् । (चा. सा. पृ. ३६); अनुमतमनुज्ञातं × × × । (आचा. सा. ५–१५) ।

कार्य को न स्वयं करता है, न कराता, किन्तु करते हुए को मन से अनुमोदना या प्रशंसा करता है; इसे अनुमत कहते हैं ।

अनुमतिविरत—१. जो अणुमणणं ण कुणदि गिहत्थकज्जेसु पावमूलेसु । भवियव्वं भावंतो अणुमणविरओ हवे सो दु ॥ (कार्तिके. ३८८) । २. अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसु वा । नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरत: स मन्तव्य: ॥ (रत्नक. ५–२५) । ३. अनुमतिविनिवृत्त आहारादीनामारम्भाणामननुमननाद् विनिवृत्तो भवति । (चा. सा. पृ. १९) । ४. सर्वदा पापकार्येषु कुरुतेऽनुमतिं न य: । तेनानुमननं युक्तं भण्यते बुद्धिशालिना ॥ (सुभा. रत्न. ८४२) । ५. त्यजति योऽनुमतिं सकले विधौ विविधजन्तुनिकायवितायिनि । हुतभुजीव विबोधपरायणो विगलितानुमतिं निगदन्ति तम् ॥ (धर्मप. २०–६१) । ६. आरम्भसन्दर्भविहीनचेता: कार्येषु मारीमिव हिंस्ररूपाम् । यो धर्मसक्तोऽनुमतिं न धत्ते निगद्यते सोऽननुमन्तृमुख्य: ॥ (अमित. श्रा. ७–७६) । ७. पुट्ठो वाऽपुट्ठो वा णियगेहिं परेहिं च सगिहकज्जम्मि । अणुमणणं जो ण कुणइ वियाण सो सावओ दसमो ॥ (वसु. श्रा. ३००) । ८. नवनिष्ठापर: सोऽनुमतिव्युपरत: सदा । यो नानुमोदेत ग्रन्थमारम्भं कर्म चैहिकम् ॥ (सा. ध. ७–३०) । ९. स एव यदि पृष्टो ऽपृष्टो वा निजै: परैर्वा गृहकार्येऽनुमतिं न कुर्यात्तदाऽनुमतिविरत इति दशम: श्रावको निगद्यते । (त. सुखबो. वृ. ७–३९)। १०. दद्यात्यनुमतिं नैव सर्वेष्वैहिककर्मसु । भवत्यनुमतत्यागी देशसंयमिनां वर: ॥ (भावसं. वाम. ५४२) । ११. यो नानुमन्यते ग्रन्थं सावद्यं कर्म चैहिकम् । नववृत्तपर: सोऽनुमतिमुक्तस्त्रिधा भवेत् ॥ (धर्मसं. श्रा. ८–५०) । १२. व्रतं दशमस्थानस्थमननुमननाह्वयम् । यत्राहारादिनिष्पत्तौ देया नानुमति: क्वचित् ॥ (लाटीसं. ७–४४) ।

१ जो समबुद्धि श्रावक आरम्भ, परिग्रह और ऐहिक कार्यों में पूछे जाने पर अनुमति नहीं देता है उसे अनुमतिविरत कहते हैं ।

अनुमान—१. साध्याविनाभुनो लिङ्गात्साध्यनिश्चायकं स्मृतम् । अनुमानं तदभ्रान्तम् × × × ॥ (न्यायाव. ५) । २. लिङ्गात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात् । लिङ्गिधीरनुमानम् × × × ।

(लघीय. १२)। ३. साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं तदत्यये। विरोधात् क्वचिदेकस्य विधान-प्रतिषेधयोः॥ (न्यायवि. १७०-७१)। ४. इह लिङ्गज्ञानमनुमानम्। ××× अथवा ज्ञापकमनुमानम्। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ६२)। ५. अनुमीयतेऽनेनेत्यनुमानम्। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ६६)। ६. साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं विदुर्बुधाः। प्राधान्य-गुणभावेन विधान-प्रतिषेधयोः॥ (त. श्लो. १, १२, १२०)। ७. साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्। (परीक्षा. ३-१४; प्र. मी. १, २, ७; न्या. दी. पृ. ६५; जैनत. पृ. १२१)। ८. साधनं साध्याविनाभावनियमलक्षणम्, तस्मान्निश्चयपथप्राप्तात् साध्यस्य साधयितुं शक्यस्याप्रसिद्धस्य यद्विज्ञानं तदनुमानम्। (प्रमाणनि. पृ. ३६)। ९. साध्याभावासम्भवनियमनिश्चयलक्षणात्साधनादेव हि शक्याभिप्रेताप्रसिद्धत्वलक्षणस्य साध्यस्यैव यद्विज्ञानं तदनुमानम्। (प्र. क. मा. ३-१४, पृ. ३५४)। १०. अन्तर्व्याप्त्याऽर्थप्रसाधनमनुमानम्। (बृहत्स. पृ. १७५)। ११. अन्विति लिङ्गदर्शन-सम्बन्धानुस्मरणयोः पश्चात्, मानं ज्ञानमनुमानम्। एतल्लक्षणमिदम्— साध्याविनाभुवो लिङ्गात् साध्यनिश्चायकं स्मृतम्। अनुमानमभ्रान्तम् ×××॥ (स्थाना. अभय. वृ. ४, ३, ३३८, पृ. २४९)। १२. अविनाभावनिश्चयाल्लिंगाल्लिंगिज्ञानमनुमानम्। (आ. चू. १ अ.)। १३. दृष्टादुपदिष्टाद्वा साधनाद्यत्साध्यस्य विज्ञानं सम्यगर्थनिर्णयात्मकं तदनुमीयतेऽनेनेत्यनुमानं लिङ्गग्रहण-सम्बन्धस्मरणयोः पश्चात्परिच्छेदनम्। (प्र. मी. १, २, ७)। १४. लिङ्गिज्ञानमनुमानम्, स्वार्थमित्यर्थः। ××× अथवा ज्ञापकमनुमानम्। (उप. प. वृ. ४८)। १५. अनु पश्चात् लिङ्गसम्बन्धग्रहण-स्मरणानन्तरम्, मीयते परिच्छिद्यते देश-काल-स्वभावविप्रकृष्टोऽर्थोऽनेन ज्ञानविशेषेण इत्यनुमानम्। (स्या. मं. २०)। १६. लिङ्ग-लिङ्गिसम्बन्धस्मरणपूर्वकं ह्यनुमानम्। (प. द. स. टीका पृ. ४१)। १७. साध्यार्थान्यथानुपपन्नहेतुदर्शन-तत्सम्बन्धस्मरणजनितत्वं अनुमानम्। (धर्मसं. मलय. वृ. १२९)।

१ साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाले साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।

अनुमानाभास—१. इदमनुमानाभासम् ॥ तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः ॥ अनिष्टो मीमांसकस्यानित्यः शब्दः ॥ सिद्धः श्रावणः शब्द इति ॥ बाधितः प्रत्यक्षानुमानागम-लोक-स्ववचनैः ॥ (परीक्षा. ६, ११ से १५)। २. पक्षाभासादिसमुत्थं ज्ञानमनुमानाभासमवसेयम्। (प्र. न. त. ६-३७)।

पक्ष न होकर पक्ष के समान प्रतीत होने वाले पक्षाभास (अनिष्ट, सिद्ध व प्रत्यक्षादिबाधित साध्य युक्त धर्मी) आदि से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनुमानाभास कहते हैं।

अनुमानित दोष—१. प्रकृत्या दुर्बलो ग्लानोऽहं उपवासादि न कर्तुमलम्, यदि लघु दीयेत ततो दोषनिवेदनं करिष्यते इति वचनं द्वितीयो (अनुमानितो) दोषः। (त. वा. ९, २२, १)। २. यदि लघु मे शक्त्यपेक्षं किंचित् प्रायश्चित्तं दीयते तदाहं दोषं निवेदयामीति दीनवचनम्। (त. श्लो. ९-२२)। ३. अणुमाणिय—गुरोरभिप्रायमुपायेन ज्ञात्वालोचना। (भ. आ. विजयो. ५६२)। ४. अनुमानितं शरीराहारतुच्छबलदर्शनेन दीनवचनेनाचार्यमनुमान्यात्मनि करुणापरमाचार्यं कृत्वा यो दोषमात्मीयं निवेदयति तस्य द्वितीयो ऽनुमानितदोषः। (मूला. वृ. ११-१५)। ५. प्रकृत्या पित्ताधिकोऽस्मि, दुर्बलोऽस्मि, ग्लानोऽस्मि, नालमहमुपवासादिकं कर्तुम्। यदि लघु दीयेत तद्दोषनिवेदनं करिष्य इति वचनं द्वितीयोऽनुमापितदोषः। (चा. सा. पृ. ६१)। ६. तपःशूर-स्तवात् तत्र स्वाशक्त्याख्यानुमापितम्॥ (अन. ध. ७-४०); तथा भवत्यनुमापितं नामालोचनादोषः, गुरुः प्रार्थितः स्वल्पप्रायश्चित्तदानेन ममानुग्रहं करिष्यतीत्यनुमानेन ज्ञात्वा स्वापराधप्रकाशनात्। ××× (अन. ध. स्वो. टी. ७, ४०)। ७. ग्लानः क्लेशासहोऽस्म्यल्पं प्रायश्चित्तं ममाप्यते। चेद्दोषाख्यां करिष्यामीत्यादिः स्यादनुमापितम्॥ (आचा. सा. ६-३०)। ८. अनुमान्य अनुमानं कृत्वा लघुतरापराधनिवेदनादिना लघुदण्डप्रदायकत्वादिस्वरूपमाचार्यस्याकलय्य आलोचयत्येषोऽनुमानित आलोचनादोषः। (व्यव. सू. भा. मलय. वृ. १, ३४२)। ९. अनुमानितं वचनेनानुमान्य आलोचनम्। (त. वृत्ति श्रुत. ९-२२)।

छोटे से अपराध को प्रगट करके गुरु के दण्ड देने की उग्रता-अनुग्रता का अनुमान करके बड़े दोषों की आलोचना करने को अनुमानित दोष कहते हैं।

अनुमापित—देखो अनुमानित।

अनुमेय—अनुमेयाः अनुमानगम्याः। अथवा अनुगतं मेयं मानं येषां तेऽनुमेयाः प्रमेयाः। (आ.मी. वसु.५)।

अनुमान से जानने योग्य अथवा प्रमेय (प्रमाण की विषयभूत) वस्तु को अनुमेय कहते हैं।

अनुमोदना—१. ××× अणुमोयण कम्मभोयणपसंसा। (पिण्डनि. गा. ११७)। २. अनुमोदना त्वाधाकर्मभोजकप्रशंसा—कृतपुण्याः सुलब्धिका एते, ये इत्थं सदैव लभन्ते भुञ्जन्ते वेत्येवंस्वरूपा। (पिण्डनि. मलय. वृ. ११७)।

आधाकर्मदूषित भोजन के करने वाले साधु की प्रशंसा करना; इसका नाम अनुमोदना है।

अनुयोग—१. अणुणा जोगो अणुजोगो अणु पच्छाभावओ य थेवे य। जम्हा पच्छाऽभिहियं सुत्तं थोवं च तेणाणु॥ (वृहत्क. १, गा. १६०)। २. अणुजोयणमणुजोगो सुयस्स नियएण जमभिधेयेणं। वावारो वा जोगो जो अणुरूवो ऽणुकूलो वा॥ (विशेषा. १३८३)। ३. सूत्रस्यार्थेन अनुयोजनमनुयोगः। अथवा अभिधेयो व्यापारः सूत्रस्य योगः, अनुकूलो-अनुरूपो वा योगोऽनुयोगः। (आव. हरि. वृ. नि. १३०; समवा. अभय. वृ. १४७)। ४. अणुओगो य नियोगो भास विभासा य वत्तियं चेव। एदे अणुओगस्स उ नामा एयट्ठिया पंच॥ (आव. नि. १२८; वृहत्क. १-१८७)। ५. अनुयोगो नियोगो भाषा विभाषा वार्त्तिकेत्यर्थः। (धव. पु. १, पृ. १५३-५४)। ६. किं कस्य केन कस्मिन् कियच्चिरं कतिविधमिति प्रश्नरूपोऽनुयोगः। (न्यायकु. ७-७६, पृ. ८०२)। ७. अनुयोजनमनुयोगः सूत्रस्यार्थेन सह सम्बन्धनम्। अथवा अनुरूपो अनुकूलो वा यो योगो व्यापारः सूत्रस्यार्थप्रतिपादनरूपः सोऽनुयोग इति। (स्थानांग अभय. वृ. पृ. ३); अनुरूपोऽनुकूलो वा सूत्रस्य निजाभिधेयेन सह योग इत्यनुयोगः। (स्थानांग अभय. वृ. ४, १, २६२, पृ. २००)। ८. यद्वा अर्थापेक्षया अणोः लघोः पश्चाज्जाततया वा अनु-शब्दवाच्यस्य यो ऽभिधे यो योगो व्यापारस्तत्सम्बन्धो वा अणुयोगो ऽनुयोगो वेति। आह च—अहवा जमत्थओ थोव-पच्छभावेहिं सुअमणुं तस्स। अभिधेये वावारो जोगो तेणं व संबंधो॥ (जम्बूद्वी. शान्ति. वृ. पृ. ५)। ९. तत्रानुकूलः सूत्रस्यार्थेन योगोऽनुयोगः। (वृहत्क. वृ. १८७)। १०. सूत्रस्यार्थेन सहानुकूलं योजनमनुयोगः। अथवा अभिधेये व्यापारः सूत्रस्य योगः, अनुकूलोऽनुरूपो वा योगोऽनुयोगः। यथा घटशब्देन घटस्य प्रतिपादनमिति। (आव. मलय. वृ. नि. १२७)। ११. सूत्रपाठानन्तरमनु पश्चात् सूत्रस्यार्थेन सह योगो घटना अनुयोगः, सूत्राध्ययनात्पश्चादर्थकथनमिति भावना। यद्वाऽनुकूलः अविरोधी सूत्रस्यार्थेन सह योगो ऽनुयोगः। (जीवाजी. मलय. वृ. पृ. २)। १२. तत्र चानुगतमनुरूपं वा श्रुतस्य स्वेनाभिधेयेन योजनं सम्बन्धनं तस्मिन् वानुरूपोऽनुकूलो वा योगः श्रुतस्यैवाभिधानव्यापारो ऽनुयोगः। (उत्तरा. शा. वृ. पृ. ४)। १३. अनुयोजनमनुयोगः सूत्रस्यार्थेन सह सम्बन्धनम्, अथवा ऽनुरूपो ऽनुकूलो वा योगो व्यापारः सूत्रस्यार्थप्रतिपादनरूपोऽनुयोगः। (जम्बूद्वी. शान्ति. वृ. पृ. ४)।

१ अनु का अर्थ पश्चाद्भाव या स्तोक होता है। तदनुसार अर्थ के पश्चात् जायमान या स्तोक सूत्र के साथ जो योग होता है उसे अनुयोग कहते हैं। १० अर्थ के साथ सूत्र की जो अनुकूल योजना की जाती है उसका नाम अनुयोग है। अथवा सूत्र का अपने अभिधेय में जो योग (व्यापार) होता है उसे अनुयोग जानना चाहिए।

अनुयोगद्वार श्रुतज्ञान—१. जत्तिएहि पदेहि चोद्दसमग्गणाणं पडिवद्धेहि जो अत्थो जाणिज्जदि, तेसिं पदाणं तत्थुप्पण्णणाणस्स य अणियोगो त्ति सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. २४); पुणो एत्थ (पडिवत्तिसमासे) एगक्खरे वड्ढिदे अणियोगद्दारसुदणाणं होदि। (धव. पु. १३, पृ. २६६); पाहुडपाहुडस्स जे अहियारा तत्थ एक्केक्कस्स अणियोगद्दारमिदि सण्णा। (धव. पु. १३, पृ. २६९)। २. चउगइसरूवरूवयपडिवत्तीदो दु उवरि पुव्वं वा। वण्णे संखेज्जे पडिवत्तीउड्ढम्हि अणियोगं॥ चोद्दसमग्गणसंजुद अणियोगं ××× । (गो. जी. ३३९-४०)। ३. चतुर्गतिस्वरूपप्ररूपकप्रतिपत्तिकात्परं तस्योपरि प्रत्येकमेकैकवर्णवृद्धिक्रमेण संख्यातसहस्रेषु पद-संघात-प्रतिपत्तिकेषु वृद्धेषु रूपोनतावन्मात्रेषु प्रतिपत्तिकसमासज्ञानविकल्पेषु गतेषु तच्चरमस्य प्रतिपत्तिकसमासोत्कृष्टविकल्पस्योपरि एकस्मिन्नक्षरे वृद्धे सति अनुयोगाख्यं श्रुतज्ञानम्। (गो. जी. म. प्र. टी. ३३९)। ४. द्रव्याद्यनुयोगद्वाराणामन्यतरदेकमनुयोगद्वारम्। (कर्मवि. दे. स्वो. टी. गा. ७)।

१ चौदह मार्गणाओं से सम्बद्ध जितने पदों के द्वारा जो अर्थ जाना जाता है उन पदों की और उनसे उत्पन्न ज्ञान की 'अनुयोगद्वार' यह संज्ञा है। प्रतिपत्तिसमास श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि के होने पर अनुयोगद्वार श्रुतज्ञान होता है। प्राभृत-प्राभृत श्रुतज्ञान के जितने अधिकार होते हैं उनमें प्रत्येक का नाम अनुयोगद्वार है।

अनुयोगद्वारसमास श्रुतज्ञान—१, तस्स(अणियोगस्स) उवरि एगक्खरसुदणाणे वड्ढिदे अणियोगसमासो होदि। (धव. पु. ६. पृ. २४); अणियोगद्दारसुदणाणस्सुवरि एगक्खरे वड्ढिदे अणियोगद्दारसमासो णाम सुदणाणं होदि। एवमेगेगुत्तरक्खरवड्ढीए अणियोगद्दारसमाससुदणाणं वड्ढमाणं गच्छदि जाव एगक्खरेणूणपाहुडपाहुडे त्ति। (धव. पु. १३, पृ. २७०)। २. तद्द्व्यादिसमुदायः पुनरनुयोगद्वारसमासाः। (कर्मवि. दे. स्वो. टी. गा. ७)।
अनुयोगद्वार श्रुतज्ञान के ऊपर एक अक्षर की वृद्धि होने पर अनुयोगद्वारसमास श्रुतज्ञान होता है। इसी प्रकार से आगे उत्तरोत्तर एक-एक अक्षर की वृद्धि होने पर एक अक्षर से हीन प्राभृतप्राभृत श्रुतज्ञान तक सब विकल्प अनुयोगद्वारसमास के होते हैं।

अनुयोगसमासावरणीय कर्म—अणियोगसमाससुदणाणस्स संखेज्जवियप्पस्स जादिदुवारेण एयत्तमावण्णस्स जमावरणं तमणियोगसमासावरणीयं। (धव. पु. १३, पृ. २७८)।
संख्यात विकल्पस्वरूप अनुयोगद्वारसमास श्रुतज्ञान के आच्छादित करने वाले कर्म को अनुयोगद्वारसमासावरणीय कहते हैं।

अनुयोगावरणीय कर्म — अणियोगसुदणाणस्स जमावारयं कम्मं तमणियोगावरणीयकम्मं। (धव. पु. १३, पृ. २७८)।
अनुयोग श्रुतज्ञान को रोकने वाला कर्म अनुयोगावरणीय कहलाता है।

अनुलोम—१. ××× अणुलोमोऽभिप्पेओ × ××॥ सव्वा ओसहजुत्ती गंवजुत्ती य भोयणविही य। रागविहि गीय-वाइयविही अभिप्पेयमणुलोमो॥ (उत्तरा. नि. १, ४३–४४)। २. अनुलोमं मनोहारि। (दशवै. हरि. वृ. ७–५७)। ३. 'अनुलोम' इन्द्रियाणां प्रमोदहेतुतया अनुकूलश्रव्यकाकलीगीतादिरभिप्रेतः। (उत्तरा. नि. वृ. १–४३)।
इन्द्रियों को आनन्द उत्पन्न करने वाले अनुकूल सुनने योग्य काकलि गीत आदि विषयोंको अनुलोम कहते हैं।

अनुवाद—प्रसिद्धस्याऽऽचार्यपरम्परागतस्यार्थस्य अनु पश्चाद्वादोऽनुवादः। (धव. पु. १, पृ. २०१)।
आचार्यपरम्परागत प्रसिद्ध अर्थ का पीछे उसी प्रकार से कथन करना, इसका नाम अनुवाद है।

अनुवीचिभाषण—१. अनुवीचिभाषणं निरवद्यानुभाषणम्। (स. सि. ७–५)। २. अनुवीचिभाषणमनुलोमभाषणमित्यर्थः। ××× विचार्य भाषणमनुवीचिभाषणमिति वा। (त. वा. ७–५; सुखबो. ७–५)। ३. अनुकूलवचनं विचार्य भणनं वा निरवद्यवचनमनवीचिभाषणमित्युच्यते। (त. सुखबो. वृत्ति ७–५)। ४. वीची वाग्लहरी, तमनुकृत्य या भाषा वर्तते साऽनुवीचीभाषा, जिनसूत्रानुसारिणी भाषा अनुवीचीभाषा। (चा. प्रा. टी. ३२)। ५. अनुवीचिभाषणं विचार्य भाषणमनवद्यभाषणं वा पञ्चमम्। (त. वृत्ति श्रुत. ७–५)।
१ जिनागम के अनुसार निरवद्य वचन बोलने को अनुवीचिभाषण कहते हैं।

अनुशिष्टि—१. अणुसिट्ठी सूत्रानुसारेण शासनम्। (भ. आ. विजयो. ६८)। २. अनुशासनं शिक्षणं निर्यापकाचार्यस्य। (भ. आ. विजयो. ७०); अणुसिट्ठी सूत्रानुसारेण शिक्षादानम्। (भ. आ. मूला. टी. २–६८)। ३. अणुसिट्ठी निर्यापकाचार्येणाराधकस्य शिक्षणम्। (भ. आ. मूला. ७०; अन. ध. स्वो. टी. ७–८६)।
३ निर्यापकाचार्य के द्वारा आराधक को जो सूत्रानुसार शिक्षा दी जाती है उसे अनुशिष्टि कहते हैं।

अनुश्रेणि—१. लोकमध्यादारभ्य ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च आकाशप्रदेशानां क्रमसन्निविष्टानां पंक्तिः श्रेणिरित्युच्यते। *अनुशब्दस्य आनुपूर्व्येण* वृत्तिः श्रेणेरानुपूर्व्येणानुश्रेणीति। (स. सि. २–२६; त. वा. २, २६, १–२)। २. आकाशप्रदेशपंक्ति. श्रेणिः ॥१॥ ××× अनोरानुपूर्व्ये वृत्तिः ॥२॥ (त. वा. २–२६; त. श्लो. २–२६)।
लोक के मध्य भाग से लेकर ऊपर, नीचे और तिरछे रूप में जो आकाशप्रदेशों की पंक्ति अनुक्रम से अवस्थित है उसे अनुश्रेणि कहते हैं।

अनुश्रोतःपदानुसारिबुद्धि—तत्रादिपदस्यार्थं ग्रन्थं च परत उपश्रुत्य आ अन्त्यपदादर्थ-ग्रन्थविचारणा-

समर्थपटुतरमतयोऽनुश्रोतःपदानुसारिबुद्धयः। (योगशा. स्वो. विव. १–८, पृ. ३८)।

दूसरे से प्रथम पद के अर्थ और ग्रन्थ को सुनकर अन्तिम पद तक अर्थ और ग्रन्थ के विचार में समर्थ अतिशय निपुण बुद्धि वाले अनुश्रोतःपदानुसारि-बुद्धि ऋद्धि के धारक कहे जाते हैं।

अनुसन्धना—तस्सेव पएसंतरणट्ठस्सऽणुसंघणा घडणा ॥ (आव. नि. ७०१)।

प्रदेशान्तर में नष्ट हुए सूत्र, अर्थ और उभय को संघटित करना—मिलाना, इसका नाम अनुसन्धना है।

अनुसमयापवर्तना (अणुसमओवट्टणा)—जो (घादो) पुण उक्कीरणकालेण विणा एगसमएणेव पददि सा अणुसमओवट्टणा। (धव. पु. १२, पृ. ३२)।

जो अनुभाग का घात उत्कीर्णकाल के बिना एक ही समय में होता है उसका नाम अनुसमयापवर्तना है।

अनुसारी (पदानुसारी) ऋद्धि—१. आदि-अवसाण-मज्झे गुरूवदेसेण एक्कबीजपदं। गेण्हिय उवरिमगंथं जा गेण्हदि सा मदी हु अणुसारी ॥ (ति. प. ४–९८१)। २. उवरिमाणि चेव जाणंती अणुसारी णाम। (धव. पु. ६, पृ. ६०)।

गुरु के उपदेश से किसी भी ग्रन्थ के आदि, मध्य या अन्त के एक बीजपद को सुनकर उसके उपरिवर्ती समस्त ग्रन्थ के जान लेने को अनुसारी ऋद्धि कहते हैं।

अनुसूरिगमन—१. अणुसूरीपूर्वस्या दिशः पश्चिमाशागमनं क्रूरातपे दिने। (भ. आ. विजयो. २२२)। २. अनुसूरिम् अनुसूर्यम्—सूर्य पश्चात्कृत्य—गमनम्। (भ. आ. मूल. २२२)।

तीक्ष्ण आतप युक्त दिन में पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा की ओर गमन करना, यह अनुसूरिगमन (अनुसूर्य) कायक्लेश कहलाता है।

अनुस्मरण—पूर्वानुभूतानुसारेण विकल्पनमनुस्मरणम्। (त. वा. १, १२, ११)।

पूर्व अनुभव के अनुसार विचार करना, इसका नाम अनुस्मरण है।

अनूचान—१. श्रुते व्रते प्रसंख्याने संयमे नियमे यमे। यस्योच्चैः सर्वदा चेतः सोऽनूचानः प्रकीर्तितः ॥ (उपासका. ८६८)। २. अनूचानः प्रवचने साङ्गेऽधीती ××× । (अमरकोश २, ७, १०)।

जिसका उन्नत चित्त सदा श्रुत, व्रत, त्याग, संयम, नियम और यम में लगा रहता है; उसे अनूचान कहते हैं।

अनूढा—१. अनुरक्ते सुरक्तेन स्वीकृते स्वयमेव ये। अनूढा-परकीये ते भाषिते शिथिलव्रते ॥ (अलं. चि. म. ५–९२)। २. अनुरक्तानुरक्तेन स्वयं या स्वीकृता भवेत्। सानूढेति यथा राज्ञो दुष्यन्तस्य शकुन्तला ॥ (वाग्भटा. ५–७२)।

जो अविवाहित अनुरक्त स्त्री अनुरक्त पुरुष के द्वारा [बिना माता-पिता की स्वीकृति के] स्वयं स्वीकार की जाती है वह अनूढा कही जाती है। जैसे—राजा दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला।

अनूपक्षेत्र—१. अनूपक्षेत्रं नाम मगध-मलय-वानवास-कौंकण-सिन्धुविषय-पूर्वदेशादि, यत्र पानीयं प्रचुरमस्ति। (प्राय. स. टी. ६)। २. नद्यादिपानीयबहुलोऽनूपः । ××× यद्वा अनूपोऽजङ्गलः। बृहत्क. वृत्ति १०६१)। ३. अनूपदेशे सजले देशे। (व्य. सू. मलय. वृ. ४–९०)। ४. जलप्रायमनूपं स्यात्। (अमरकोश २, १, १०)।

१ जहां पानी प्रचुरता से हो ऐसे मगध, मलय, वानवास, कौंकण और सिन्धु आदि देशों को अनूप क्षेत्र कहते हैं।

अनृत—१. असदभिधानमनृतम्। (त. सू. ७–१४)। २. सच्छब्दः प्रशंसावाची। न सदसत्, अप्रशस्तमिति यावत्। असतोऽर्थस्याभिधानमसदभिधानमनृतम्। ऋतं सत्यम्, न ऋतमनृतम्। (स. सि. ७–१४)। ३. असदिति सद्भावप्रतिषेधोऽर्थान्तरं गर्हा च। तत्र सद्भावप्रतिषेधो नाम भूतनिह्नवः अभूतोद्भावनं च। तद्यथा—नास्त्यात्मा, नास्ति परलोक इत्यादि भूतनिह्नवः। श्यामाकतन्दुलमात्रोऽयमात्मा, आदित्यवर्णः, निष्क्रिय इत्येवमाद्यभूतोद्भावनम्। अर्थान्तरं यो गां ब्रवीत्यश्वम् अश्वं च गौरिति। गर्हेति हिंसा-पारुष्य-पैशून्यादियुक्तं वचः सत्यमपि गर्हितमेव भवतीति। (त. भा. ७–९)। ४. ऋतं सत्यार्थे। ऋतमित्येतत् पदं सत्यार्थे द्रष्टव्यम्। सत्सु साधु सत्यम्, प्रत्यवायकारणानिष्पादकत्वात्। न ऋतमनृतम्। (त. वा. ७, १४, ४)।

अप्रशस्त वचन अथवा असत् अर्थके वचन का नाम अनृत (असत्य) है।

अनृतानन्द (रौद्रध्यान)—१. अनृतवचनार्थं स्मृतिसमन्वाहारो रौद्रध्यानम्। (त. भा. ९–३६)। २. प्रवलराग-द्वेष-मोहस्यानृतानन्दं द्वितीयम्। अनृतप्रयोजनं कन्या-क्षिति-निक्षेपव्यपलाप-शिश्नाभ्यासासद्भूतघातातिसन्धानप्रवणमसदभिधानमनृतम्, तत्परोपघातार्थमनुपरततीव्ररौद्राशयस्य स्मृतेः समन्वाहारः तत्रैवं दृढं प्रणिधानमनृतानन्दम्। (त. भा. हरि. वृ. ९–३६)। ३. प्रवलराग-द्वेष-मोहस्य अनृतप्रयोजनवत् कन्या-क्षिति-निक्षेपापलाप-पिशुनासत्यासद्भूतघाताभिसन्धानप्रवणमसदभिधानमनृतम्। (अग्रे हरि. वृत्तिवत्)। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–३७)।

२ प्रवल राग, द्वेष व मोह से आक्रान्त व्यक्ति असत्य प्रयोजन के साधनभूत कन्या, भूमि व धरोहर का अपलपन और परनिन्दा आदि रूप जो असमीचीन भाषण करता है, तथा दूसरों के घात का निरन्तर दुष्ट अभिप्राय रखता है और उसी का वार-वार चिन्तन करता है; इसे अनृतानन्द रौद्रध्यान कहते हैं।

अनेक (**नाना**)—एकात्मतामप्रजहच्च नाना। (युक्त्यनु. ४९)।

जो वस्तु एकरूपता को नहीं छोड़ती है, वही वस्तु वस्तुतः नाना या अनेक कही जाती है—एकरूपता से निरपेक्ष वस्तु का वास्तव में वस्तुत्व ही असम्भव है, क्योंकि एकत्व और नानात्व ये दोनों धर्म परस्पर सापेक्ष रह कर ही वस्तु का वोध कराते हैं।

अनेकक्षेत्रावधिज्ञान—१. तदनेकोपकरणोपयोगोऽनेकक्षेत्रः। (त. वा. १, २२, ४, पृ. ८३, पं. २६)। २. जमोहिणाणं पडिणियदखेत्तं वज्जिय सरीरसव्वावयवेसु वट्टदि तमणेयखेत्तं णाम। तित्थयर-देव-णेरइयाणं ओहिणाणमणेयक्खेत्तं चेव, सरीरसव्वावयवेहि सगविसयभूदत्थग्गहणादो। (धव. पु. १३, पृ. २९५)।

२ जो अवधिज्ञान शरीर के शंख-चक्रादि रूप किसी नियत अवयव में न प्रवृत्त होकर उसके सभी अवयवों में रहता है, उसे अनेकक्षेत्रावधि कहते हैं। तीर्थंकर, देव और नारकियों का अवधिज्ञान शरीर के सभी अवयवों द्वारा अपने विषयभूत अर्थ को ग्रहण करने के कारण अनेकक्षेत्र कहा जाता है।

अनेकद्रव्यस्कन्ध—१. से किं तं अणेगदवियखंधे? तस्स चेव देसे अवचिए, तस्स चेव देसे उवचिए, से तं अणेगदविअखंधे। (अनुयो. सू. ५३)। २. अनेकद्रव्यश्चासौ स्कन्धश्चेति समासः, तस्यैवेत्यत्रानुवर्तमानं स्कन्धमात्रं सम्बध्यते, ततश्च 'तस्यैव' यस्य कस्यचित् स्कन्धस्य यो देशो नख-दन्त-केशादिलक्षणः अपचितो जीवप्रदेशैर्विरहितो यश्च तस्यैव देशः पृष्ठोदर-चरणादिलक्षण उपचितो जीवप्रदेशैर्व्याप्त इत्यर्थः। तयोर्यथोक्तदेशयोर्विशिष्टैकपरिणामपरिणतयोर्यो देहाख्यः समुदायः सोऽनेकद्रव्यस्कन्धः, सचेतनाचेतनानेकद्रव्यात्मकत्वादिति भावः। (अनुयो. मल. हेम. वृत्ति ५३, पृ. ४२)।

२ विशिष्ट परिणाम से परिणत अपचित (जीवप्रदेश विरहित नख व दांत आदि) और उपचित (जीवप्रदेशों से व्याप्त पीठ व पेट आदि) स्कन्ध देशों का जो शरीर नामक समुदाय है वह अनेकद्रव्यकन्ध कहलाता है।

अनेकसिद्ध—१. इगसमए वि अणेगा सिद्धा: तेऽणेगसिद्धा य। (नवतत्त्व. गा. ५९)। २. अनेकसिद्धा इति एकस्मिन् समये यावत् अष्टशतं सिद्धम्। (नन्दी. हरि. वृत्ति पृ. ५१; श्रा. प्र. टी. ७७)। ३. एकस्मिन् समये अनेके सिद्धाः अनेकसिद्धाः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १–७)। ४. एकस्मिन् समये *अष्टोत्तरं शतं यावत् सिद्धा अनेकसिद्धाः।* (योगशा. स्वो. विव. ३–१२४)। ५. एकस्मिन् समये अनेकैः सह सिद्धाः अनेकसिद्धाः। (शास्त्रवा. वृ. ११–५४)।

४ एक समय में अनेक (१०८ तक) जीवों के एक साथ सिद्ध होने को अनेकसिद्ध कहते हैं।

अनेकसिद्धकेवलज्ञान—एकस्मिन् समयेऽनेकेषां सिद्धानां केवलज्ञानमनेकसिद्धकेवलज्ञानम्, एकस्मिश्च समयेऽनेके सिद्ध्यन्त उत्कर्षतोऽष्टोत्तरशतसंख्या वेदितव्याः। (आव. मलय. वृ. ७८)।

एक समय में सिद्ध होने वाले अनेक जीवों के केवलज्ञान को अनेकसिद्धकेवलज्ञान कहते हैं।

अनेकाङ्गिक (अपरिशाटिरूप संस्तारक)—अनेकाङ्गिकः कन्थिकाप्रस्तारात्मकः। (व्यव. सू. भा. मलय. वृ. ८–८)।

अनेक पुराने वस्त्रों के जोड़ से वनाई गई कथड़ी और तृण एवं पत्तों आदि से निर्मित प्रस्ताररूप

शय्या को अनेकाङ्गिक—अपरिशाटिरूप संस्तारक कहते हैं।

अनेकान्त—१. अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाण-नय-साधनः। अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥ (स्वयम्भू. १०३)। २. अनेकान्त इति कोऽर्थः इति चेत् एकवस्तुनि वस्तुत्वनिष्पादकं—अस्तित्व-नास्तित्वद्वयादिस्वरूपं परस्परविरुद्धसापेक्ष-शक्तिद्वयं यत्तस्य प्रतिपादने स्यादनेकान्तो भण्यते। (समयप्रा. जय. वृ. गा. ४४५)। ३. सर्वस्मिन्नपि जीवादिवस्तुनि भावाभावरूपत्वमेकानेकरूपत्वं नित्यानित्यरूपत्वमित्येवमादिकमनेकान्तात्मकत्वम् । (न्यायदी. पृ. ९८)।

२ एक वस्तु में मुख्यता और गौणता की अपेक्षा अस्तित्व-नास्तित्व आदि परस्पर विरोधी धर्मों के प्रतिपादन को अनेकान्त कहते हैं।

अनेकान्त-असात-कर्म—जं कम्मं असादत्ताए वद्धं असंछुद्धं अपडिच्छुद्धं असादत्ताए वेदिज्जदि तमेयंत-असादं। तव्वदिरित्तमणेयंतअसादं। (धव. पु. १६, पृ. ४९८)।

जो कर्म असातस्वरूप से वांधा गया है उसका संक्षेप और प्रतिक्षेप से सहित होकर अन्य (सात) स्वरूप से उदय में आना, इसका नाम अनेकान्त-असात कर्म है।

अनेकान्त-सात-कर्म—जं कम्मं सादत्ताए वद्धं असंछुद्धं अपडिच्छुद्धं सादत्ताए वेदिज्जदि तमेयंत-सादं। तव्वदिरित्तं अणेयंतसादं। (धव. पु. १६, पृ. ४९८)।

जो कर्म सातस्वरूप से वांधा गया है, उसका संक्षेप और प्रतिक्षेप से परिवर्तित होकर अन्य (असात) स्वरूप से उदय में आना, इसका नाम अनेकान्त-सातकर्म है।

अनेषण तप—देखो अनशन। चउत्थ-छट्ठट्ठम-दसम-दुवालस-पक्ख-मास-उडु-अयण-संवच्छरेसु एसणपरिच्चाओ अणेसणं णाम तवो। (धव. पु. १३, पृ. ५५)।

एक, दो, तीन, चार और पांच दिन तथा पक्ष, मास, ऋतु, अयन और संवत्सर के प्रमाण से भोजन का परित्याग करने को अनेषण या अनशन तप कहते हैं।

अनैकान्तिक हेत्वाभास—१. ××× योऽन्यथाप्यत्र युक्तोऽनैकान्तिकः स तु ॥ (न्यायाव. २३)। २. विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः। (परीक्षा. ६–३०)। ३. यस्यान्यथानुपपत्तिः सन्दिह्यते सोऽनैकान्तिकः। (प्र. न. त. ६–५४; जैनतर्कप. पृ. १२५)। ४. नियमस्यासिद्धौ सन्देहे वाऽन्यथानुपपद्यमानोऽनैकान्तिकः। (प्रमाणमी. २, १, २१)। ५. यः पुनरन्यथापि—साध्यविपर्ययेणापि युक्तो घटमानकः, आदिशब्दात् साध्येनापि, सोऽत्र व्यतिकरे अनैकान्तिकसंज्ञो ज्ञातव्य इति। (न्यायाव. सिद्धर्षि वृत्ति २३)। ६. सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः। (न्यायदी. पृ. ८६); पक्ष-सपक्ष-विपक्षवृत्तिरनैकान्तिकः। (न्यायदी. पृ. १०१); ७. तथा च अन्यथा चोपपत्त्या अनैकान्तिकः। (सिद्धिवि. वृ. ६-३२, पृ. ४३)।

१ जो हेतु साध्य से विपरीत के साथ भी रहता है वह अनैकान्तिक हेत्वाभास कहलाता है। ३ जिस हेतु की अन्यथानुपपत्ति सन्दिग्ध हो, वह भी अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है। ६ पक्ष और सपक्ष के समान विपक्ष में भी रहने वाले हेतु को अनैकान्तिक हेत्वाभास कहते हैं।

अनैकाग्र्य—अनैकाग्र्यमपि अन्यमनस्कत्वम्। (सा. ध. स्वो. टी. ५–४०)।

एकाग्रता के अभाव को या चित्त की चंचलता को अनैकाग्र्य कहते हैं।

अनोजीविका—देखो शकटजीविका। अनोजीविका शकटजीविका, शकट-रथ-तच्चक्रादीनां स्वयं परेण वा निष्पादनेन वाहनेन विक्रयणेन वृत्तिर्वहुभूतग्रामोपमर्दिका गवादीनां च वन्धादिहेतुः। (सा. ध. स्वो. टी. ५–२१)।

गाड़ी, रथ और उनके पहियों आदि को स्वयं वना कर या दूसरे से वनवा कर, उन्हें स्वयं चला कर या वेचकर आजीविका करने को अनोजीविका कहते हैं। यह आजीविका वहुतसे त्रस जीवों की हिंसा का और वैल-घोड़े आदि पशुओं के वन्धादि का कारण होने से हेय है।

अन्त—यस्मात्पूर्वमस्ति, न परम्, अन्तः सः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ३२)।

जिसका पूर्व है, किन्तु पर नहीं है, उसका नाम अन्त है।

अन्तकृत्—अष्टकर्मणामन्तं विनाशं कुर्वन्तीत्यन्तकृतः। अन्तकृतो भूत्वा सिज्झंति सिध्यन्ति, निष्ठि-

ष्ठन्ति निष्पद्यन्ते स्वरूपेणेत्यर्थ, बुज्झन्ति त्रिकालगोचरानन्तार्थव्यञ्जनपरिणामात्मकाशेषवस्तुतत्त्वं बुध्यन्त्यवगच्छन्तीत्यर्थः। (धव. पु. ६, पृ. ४६०)।
जो आठों कर्मों का अन्त करके—उन्हें आत्मा से सर्वथा पृथक् करके—अन्तकृत् होते हुए सिद्धि को प्राप्त होते हैं, निष्ठित होते हैं—स्वरूप से सम्पन्न होते हैं, तथा त्रिकालवर्ती वस्तुतत्त्व को प्रत्यक्ष जानने लगते हैं; वे अन्तकृत् कहलाते हैं।

अन्तकृद्दश, अन्तकृद्दशाङ्ग—१. अंतयडदसासु णं अंतगडाणं नगराइं उज्जाणाइं चेइयाइं वणसंडाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मा-पियरो धम्मायरिआ धम्मकहाओ इहलोइय-परलोइआ इड्ढिविसेसा भोगपरिच्चागा पव्वज्जाओ परिआगा सुअपरिग्गहा तवोवहाणाइं संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं अन्तकिरिआओ आघविज्जंति। (नन्दी. ५२, पृ. २३२)। २. अन्तो विनाशः, स च कर्मणस्तत्फलभूतस्य वा संसारस्य, कृतो यैस्तेऽन्तकृतस्ते च तीर्थंकरादयस्तेषां दशाः दशाध्ययनानीति तत्संख्यया अन्तकृद्दशा इति। (नन्दी. हरि. वृत्ति पृ. १०४)। ३. संसारस्यान्तः कृतो यैस्ते अन्तकृतः। नाभि-मतङ्ग-सोमिल-रामपुत्र-सुदर्शन-यमलीक-वलीक-किष्कम्वल-पालम्वाष्टपुत्रा इत्येते दश वर्धमानतीर्थंकरतीर्थे, एवमृषभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेष्वन्येऽन्ये दश-दशानगारा दारुणानुपसर्गान् निर्जित्य कृत्स्नकर्मक्षयादन्तकृतः दश अस्यां वर्ण्यन्ते इति अन्तकृद्दशा। अथवा अन्तकृतां दशा अन्तकृद्दशा, तस्याम् अर्हदाचार्यविधिः सिध्यतां च। (त. वा. १, २०, १२; धव. पु. ९, पृ, २०१)—तत्र 'अथवा…सिध्यतां च' नास्ति)। ४. अंतयडदसा णाम अगं चउव्विहोवसग्गे दारुणे सहियूण पाडिहेरं लद्धूण णिव्वाणं गदे सुदंसणादि-दस-दससाहू तित्थं पडि वण्णेदि। (जयध. १, पृ. १३०)। ५. अंतयडदसा णाम अंगं तेवीसलक्ख-अट्ठावीससहस्सपदेहि एक्केक्कम्हि य तित्थे दारुणे बहुविहोवसग्गे सहिऊण पाडिहेरं लद्धूण णिव्वाणं गदे दस दस वण्णेदि। उक्तं च तत्त्वार्थभाष्ये—"संसारस्यान्तः कृतो यैस्ते × × × वर्ण्यन्ते इति अन्तकृद्दशा।" (धव. पु. १, पृ. १०२–३)। ६. अन्तकृतः सिद्धास्ते यत्र ख्यायन्ते वर्धमानस्वामिनस्तीर्थ एतावन्तः इत्येवं सर्वकृतान्ताः अन्तकृद्दशाः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–२०)। ७. अष्टाविंशतिसहस्रत्रयोविंशतिलक्षपदपरिमाणं प्रतितीर्थं दश-दशानगाराणां निर्जितदारुणोपसर्गाणां निरूपकमन्तकृद्दशम्। (श्रुतभ. टी. ८)। ८. प्रतितीर्थं दश दश मुनीश्वरास्तीव्रं चतुर्विधोपसर्गं सोढ्वा इन्द्रादिभिर्विरचितां पूजादिप्रातिहार्यसम्भावनां लब्ध्वा कर्मक्षयानन्तरं संसारस्यान्तमवसानं कृतवन्तोऽन्तकृतः, × × × दश-दशान्तकृतो वर्ण्यन्ते यस्मिंस्तदन्तकृद्दशं नामाष्टममङ्गम्। (गो. जी. जी. प्र. ३५७)। ९. अंतयडं वरमंगं पयाणि तेवीसलक्ख सुसहस्सा। अट्ठावीसं जत्थ हि वण्णिज्जइ अंतकयणाहो॥ पडितित्थं वरमुणिणो दह दह सहिऊण तिव्वमुवसग्गं। इंदादिरइयपूयं लद्धा मुंचंति संसारं॥ माहप्पं वरचरणं तेसिं वण्णिज्जए सया रम्मं। जह वड्ढमाणतित्थे दहावि अंतयडकेवलिओ॥ मायंग रामपुत्तो सोमिल जमलीकणाम किकंवी। सुदंसणो वलीको य णमी अलंवद्ध [ट्ठ] पुत्तलया॥ (अंगप. १, ४८–५१)। १०. तीर्थकराणां प्रतितीर्थं दश दश मुनयो भवन्ति। ते उपसर्गान् सोढ्वा मोक्षं यान्ति। तत्कथानिरूपकमष्टाविंशतिसहस्राधिकत्रयोविंशतिलक्षप्रमाणमन्तकृद्दशम्। (त. वृत्ति श्रुत. १–२०)।

२ जिस अंग में प्रत्येक तीर्थंकर के तीर्थ में होने वाले दश दश अन्तकृत् केवलियों का वर्णन किया गया हो उसे अन्तकृद्दशांग कहते हैं। जैसे वर्धमान जिनेन्द्र के तीर्थ में १ नमि २ मतंग ३ सोमिल ४ रामपुत्र ५ सुदर्शन ६ यमलीक ७ वलीक ८ किष्कम्वल ९ पालम्व और १० अष्टपुत्र; इनका वर्णन इस अंग में किया गया है।

अन्तगत-अवधि—१. इहान्तः पर्यन्तो भण्यते, गतं स्थितमित्यनर्थान्तरम्, अन्ते गतमन्तगतम् अन्ते स्थितम्। तच्च फड्डुकावधित्वादात्मप्रदेशान्ते, सर्वात्मप्रदेशक्षयोपशमभावतो वा औदारिकशरीरान्ते, एकदिगुपलम्भाद्वा तदुद्योतितक्षेत्रान्ते गतमन्तगतम्, इह चात्मप्रदेशान्तगतमुच्यते। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ३१-३२)। २. इहान्तशब्दः पर्यन्तवाची—यथा वनान्ते इत्यत्र, ततश्च अन्ते पर्यन्ते गतं व्यवस्थितमन्तगतम्। × × × तत्र यदा अन्तर्वर्तिष्वात्मप्रदेशेष्ववधिज्ञानमुपजायते तदा आत्मनोऽन्ते पर्यन्ते स्थितमिति कृत्वा अन्तगतमित्युच्यते, तैरेव पर्यन्तवर्तिभिरात्मप्रदेशैः साक्षादवविरूपेण ज्ञानेन ज्ञानात्,

न शेषैरिति । अथवा औदारिकस्यान्ते गतं स्थितम् अन्तगतम्, कयाचिदेकदिशोपलम्भात् । इदमपि स्पर्द्धकरूपमवधिज्ञानम्। अथवा— सर्वेषामप्यात्मप्रदेशानां क्षयोपशमभावेऽपि औदारिकशरीरान्तेनैकया दिशा यद्वशादुपलभ्यते तदप्यन्तगतम् । (नन्दी. मलय. वृ. १०, पृ. ८३)। ३. इह पूर्वाचार्यप्रदर्शितमर्थत्रयम्—अन्ते आत्मप्रदेशानां पर्यन्ते गतः स्थितोऽन्तगतः । ××× इहावधिरुत्पद्यमानः कोऽपि स्पर्द्धकरूपतयोत्पद्यते, स्पर्द्धकं च नामावधिज्ञानप्रभाया गवाक्षजालादिद्वारविनिर्गतप्रदीपप्रभाया इव प्रतिनियतो विच्छेदविशेषः । ××× स आत्मनः पर्यन्ते स्थित इति कृत्वा अन्तगत इत्यभिधीयते, तैरेव पर्यन्तवर्तिभिरात्मप्रदेशैः साक्षादवबोधात् । अथवा औदारिकशरीरस्यान्ते गतः स्थितोऽन्तगतः, औदारिकशरीरमधिकृत्य कदाचिदेकया दिशोपलम्भात् । ××× अथवा सर्वेषामप्यात्मप्रदेशानां क्षयोपशमभावेऽपि औदारिकशरीरस्यान्ते कयाचिदेकया दिशा यद्वशादुपलभ्यते सोऽप्यन्तगतः। ×××एष द्वितीयः । तृतीयः पुनरयम्—एकदिग्भाविना तेनावधिना यदुद्योतितं क्षेत्रं तस्यान्ते वर्ततेऽवधिरवधिज्ञानवतस्तदन्ते वर्तमानत्वात् । ततोऽन्ते एकदिग्गतस्यावधिविषयस्य पर्यन्ते गतः स्थितोऽन्तगतः । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३३-३१७, पृ. ५३७) ।

३ अन्तगत बाह्य अवधि के स्वरूप का निर्देश तीन प्रकार से किया गया है—१ जिस प्रकार झरोखा आदि में प्रकाश के आने-जाने के छेद होते हैं, उसी प्रकार अवधिज्ञानप्रभा के प्रतिनियत विच्छेदविशेष का नाम स्पर्द्धक है। ये स्पर्द्धक कितने ही पर्यन्तवर्ती आत्मप्रदेशों में और कितने ही मध्यवर्ती आत्मप्रदेशों में उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार से जो अवधिज्ञान उत्पन्न होता है, वह आत्मा के अन्त में स्थित होने के कारण अन्तगत-अवधि कहा जाता है। २ यद्यपि अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम सभी आत्मप्रदेशों में होता है, फिर भी जिसके द्वारा औदारिक शरीर के अन्त में किसी एक दिशा में बोध होता है, वह भी अन्तगत-अवधि कहलाता है। ३ एक दिशा में होने वाले उस अवधिज्ञान के द्वारा प्रकाशित क्षेत्र के अन्त में अवधिज्ञानी के वर्तमान होने से वह अवधिज्ञान भी चूंकि उक्त क्षेत्र के अन्त में स्थित रहता है; अतएव अन्तगत अवधिज्ञान कहलाता है।

अन्तर—१. अन्तरं विरहकालः । (स. सि. १-८)। २. अनुपहतवीर्यस्य न्यग्भावे पुनरुद्भूतिदर्शनात् तद्वचनम् ॥८॥ अनुपहतवीर्यस्य द्रव्यस्य निमित्तवशात्कस्यचित्पर्यायस्य न्यग्भावे सति पुनर्निमित्तान्तरात्तस्यैवाविर्भावदर्शनात्तदन्तरमित्युच्यते । (त. वा. १, ८, ८) । ३. ××× अंतरं विरहो य सुण्णकालो य। (धव. पु. १, पृ. १५६ उद्धृत); अंतरमुच्छेदो विरहो परिणामंतरगमणं णत्थित्तगमणं अण्णभाववव्वहाणमिदि एयट्ठो। (धव. पु. ५, पृ. ३) । ४. अन्तरं स्वभावपरित्यागे सति पुनस्तद्भावप्राप्ति [प्तिः,]विरह इत्यर्थः । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ३४) । ५. कस्यचित् सन्तानेन वर्तमानस्य कुतश्चिदन्तरो विरहकालोऽन्तरम् । (न्यायकु. ७-७६, पृ. ८०३) । ६. कस्यचित् सम्यग्दर्शनादेर्गुणस्य सन्तानेन वर्तमानस्य कुतश्चित्कारणान्मध्ये विरहकालोऽन्तरम् । (त. सुखबो. वृ. १-८) । ७. विवक्षितस्य गुणस्थानस्य गुणस्थानान्तरसंक्रमे सति पुनरपि तद्गुणस्थानप्राप्तिः यावन्न भवति तावान् कालोऽन्तरमुच्यते । (त. वृत्ति श्रुत. १-८) ।

२ अक्षत वीर्यविशेष से संयुक्त द्रव्य की किसी पर्याय का तिरोभाव होकर अन्य निमित्त के अनुसार पुनः उसके आविर्भूत होने पर मध्य में जो काल लगता है उसका नाम अन्तर है।

अन्तरकरण—१. विवक्खियकम्माणं हेट्ठिमोवरिमट्ठिदीओ मोत्तूण मज्झे अंतोमुहुत्तमेत्ताणं ट्ठिदीणं परिणामविसेसेण णिसेगाणमभावीकरणमन्तरकरणमिदि भण्णदे। (जयध.—कसा. पा. पृ. ६२६, टिप्पण १) । अंतरं विरहो सुण्णभावो त्ति एयट्ठो। तस्स करणमंतरकरणं । हेट्ठा उवरिं च केत्तियाओ ट्ठिदीओ मोत्तूण मज्झिल्लाणं ट्ठिदीणं अंतोमुहुत्तपमाणाणं णिसेगे सुण्णत्तसंपादणमंतरकरणमिदि भणिदं होइ। (जयध.—कसा. पा. पृ. ७५२, टि. १)। ३. अन्तरकरणं नामोदयक्षणादुपरि मिथ्यात्वस्थितिमन्तर्मुहूर्तमानामतिक्रम्योपरितनीं च विष्कम्भयित्वा मध्येऽन्तर्मुहूर्तमानं तत्प्रदेशवेद्यदलिकाभावकरणम् । (कर्मप्र. यशो. टी. उपश. १७, पृ. २६०) ।

१ विवक्षित कर्मों की अधस्तन और उपरिम स्थितियों को छोड़ कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त प्रमाण

स्थितियों के निषेकों का परिणामविशेष से अभाव करने को अन्तरकरण कहते हैं।

अन्तरङ्गक्रिया—अन्तरङ्गक्रिया च स्वसमय-परसमयपरिज्ञानरूपा ज्ञानक्रिया। (द्रव्यानु. टी. १–५)। स्वसमय और परसमय के जानने रूप ज्ञानक्रिया को अन्तरङ्ग क्रिया कहते हैं।

अन्तरङ्गच्छेद—अशुद्धोपयोगो हि छेदः, शुद्धोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य छेदनात्—तस्य हिंसनात्। स एव च हिंसा। (प्रव. सा. अमृत. वृ. ३–१६)। अशुद्धोपयोगोऽन्तरङ्गच्छेदः। (प्रव. सा. अमृत. वृ. ३-१७)।

अशुद्ध उपयोग को अन्तरङ्गछेद कहते हैं, क्योंकि वह शुद्धोपयोगरूप मुनि धर्म का छेद (विघात) करता है। दूसरे शब्दों से उसे ही हिंसा कहा जाता है।

अन्तरङ्गज दुःख—न्यक्कारावज्ञेच्छाविघातादिसमुत्थमन्तरङ्गजम्। (नीतिवा. ६–२३)।

तिरस्कार, अवज्ञा और इच्छाविघात आदि से उत्पन्न होने वाले दुःख को अन्तरङ्गज दुःख कहते हैं।

अन्तरङ्गयोग—अन्तरङ्गक्रियापरः अन्तरङ्गयोगो ज्ञानक्रिया। (द्रव्यानु. टी. १–५)।

अन्तरङ्ग की क्रिया करने वाले योग को अन्तरङ्गयोग कहते हैं।

अन्तर-द्वितीय-समयकृत—तदणंतरसमए (पढमसमयकद-अंतरादो अणंतरसमए) अंतरं दुसमयकदं णाम भवदि। (जयध. अ. प. १०८०)।

प्रथम-समयकृत-अन्तर से अव्यवहित उत्तर समय में होने वाले अन्तर को द्वितीय समयकृत अन्तर कहा जाता है।

अन्तर-प्रथम-समयकृत—जम्हि समए अंतरचरिमफाली णिवदिदा तम्हि समए अंतरपढमसमयकदं भण्णदे। (जयध. अ. प. १०८०)।

जिस समय में अन्तर स्थिति की अन्तिम फाली का पतन होता है उस समय में अन्तर-प्रथम-समयकृत कहा जाता है।

अन्तरात्मा (अंतरप्पा)—१. ××× अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो। (मोक्षपा. ५)। २. जप्पेसु जो ण वट्टइ सो उच्चइ अंतरंगप्पा॥ (नि. सा. १५०)। ३. जे जिणवयणे कुसला भेदं जाणंति जीव-देहाणं। णिज्जियदुट्ठट्ठमया अंतरअप्पा य ते तिविहा॥ (कार्तिके. १९४)। ४. आन्तरः। चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः ××× ॥ (समाधि. ५)। ५. अट्ठकम्मब्भंतरो त्ति अंतरप्पा। (धव. पु. १, पृ. १२०)। ६. याचेतनस्यात्मविभ्रान्तिः सोऽन्तरात्माऽभिधीयते। (अमित. श्रा. १५–५६)। ७. वहिर्भावानतिक्रम्य यस्यात्मन्यात्मनिश्चयः। सोऽन्तरात्मा मतस्तज्ज्ञैर्विभ्रम-ध्वान्तभास्करैः॥ (ज्ञाना. ३२-७)। ८. धम्मज्झाणं झायदि दंसण-णाणेसु परिणदो णिच्चं। सो भणइ अंतरप्पा ×××॥ (ज्ञानसार ३१)। ९. स्वशुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नवास्तवसुखात् प्रतिपक्षभूतेनेन्द्रियसुखेनासक्तो वहिरात्मा, तद्विलक्षणोऽन्तरात्मा। अथवा देहरहितनिजशुद्धात्मद्रव्यभावनालक्षणभेदज्ञानरहितत्वेन देहादिपरद्रव्येष्वेकत्वभावनापरिणतो वहिरात्मा, तस्मात् प्रतिपक्षभूतोऽन्तरात्मा। अथवा हेयोपादेयविचारकचित्तनिर्दोषपरमात्मनो भिन्ना रागादयो दोषाः, शुद्धचैतन्यलक्षण आत्मन्युक्तलक्षणेषु चित्तदोषात्मसु त्रिषु वीतरागसर्वज्ञप्रणीतेषु अन्येषु वा पदार्थेषु यस्य परस्परसापेक्षनयविभागेन श्रद्धानं ज्ञानं च नास्ति स वहिरात्मा। तस्मात् विसदृशोऽन्तरात्मा। (वृ. द्रव्यसं. टी. १४)। १०. कायादेः समधिष्ठायको भवत्यन्तरात्मा तु॥ (योगशा. १२–७)। ११. पुनः सकर्मावस्थायामपि आत्मनि ज्ञानाद्युपयोगलक्षणे शुद्धचैतन्यलक्षणे महानन्दस्वरूपे निर्विकारामृताव्याबाधरूपे समस्तपरभावमुक्ते आत्मबुद्धिः अन्तरात्मा, सम्यग्दृष्टिगुणस्थानकतः क्षीणमोहं यावत् अन्तरात्मा। (ज्ञानसार वृ. (१५–२)। १२. अन्तः अभ्यन्तरे शरीरादेर्भिन्न [न्नः] प्रतिभासमानः आत्मा येषां ते अन्तरात्मानः, परमसमाधिस्थिताः सन्तः देहविभिन्नं ज्ञानमयं परमात्मानं ये जानन्ति ते अन्तरात्मानः। (कार्तिके. टी. १९२)। १३. ××× तदधिष्ठातान्तरात्मतामेति। (अध्यात्मसार २०–२१); तत्त्वश्रद्धा ज्ञानं महाव्रतान्यप्रमादपरता च। मोहजयश्च यदा स्यात् तदान्तरात्मा भवेद् व्यक्तः॥ (अध्यात्मसार २०, २३, पृ. २९)।

३ जो आठ मदों से रहित होकर देह और जीव के भेद को जानते हैं वे अन्तरात्मा कहलाते हैं। ५ आठ कर्मों के भीतर रहने से जीव को अन्तरात्मा कहा जाता है। ११ सकर्म अवस्था में भी ज्ञानादि उपयोगस्वरूप शुद्ध चैतन्यमय आत्मा में

जिन्हें आत्मबुद्धि प्रादुर्भूत हुई है वे अन्तरात्मा कहलाते हैं, जो सम्यग्दृष्टि (चौथे) गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय (बारहवें) गुणस्थान तक होते हैं।

अन्तराय—१. ज्ञानविच्छेदकरणमन्तरायः। (स. सि. ६–१०; त. इलो. वा. ६–१०; त. सुखबो. वृ. ६–१०)। २. विद्यमानस्य प्रबन्धेन प्रवर्तमानस्य मत्यादिज्ञानस्य विच्छेदविधानमन्तराय उच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ६–१०)।

किसी के ज्ञान में बाधा पहुँचाना, यह एक अन्तराय नामक ज्ञानावरण का आस्रव है।

अन्तराय कर्म—१. दातृ-देयादीनामन्तरं मध्यमेतीत्यन्तरायः। (स. सि. ८–४)। २. अन्तरं मध्यम्, दातृ-देयादीनामन्तरं मध्यमेति ईयते वा ऽनेनेत्यन्तरायः। (त. वा. ८, ४, २)। ३. दानादिविघ्नोऽन्तरायस्तत्कारणमन्तरायम्। (श्रा. प्र. टी. ११)। ४. अन्तरमेति गच्छति द्वयोरित्यन्तरायः। दाण-लाह-भोगोवभोगादिसु विग्घकरणक्खमो पोग्गलक्खंधो सकारणेहि जीवसमवेदो अंतरायमिदि भण्णदे। (धव. पु. ६, पृ. १३–१४); अन्तरमेति गच्छतीत्यन्तरायम्। (धव. पु. १३, पृ. २०९)। ५. विग्घकरणम्मि वावदमंतराइयं। (जयध. पु. २, पृ. २१)। ६. अन्तर्धीयते अनेनात्मनो वीर्य-लाभादीति अन्तरायः। अन्तर्धानं वा ऽऽत्मनो वीर्यादिपरिणामस्येत्यन्तरायः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–५)। ७. अन्तरं व्याघातम्, तस्यायः हेतुर्यत्तदन्तरायम्। दानाद्यनुभवतो विघातरूपतयोपतिष्ठते यत्तदन्तरायम्। (पञ्चसं. स्वो. वृ. ३–१)। ८. दानादिलब्धयो येन न फलन्ति विबाधिताः। तदन्तरायं कर्म स्याद् भाण्डागारिकसन्निभम्॥ (त्रि. श. पु. २, ३, ४७५)। ९. जीवं चार्थसाधनं चान्तराऽयते पततीत्यन्तरायं जीवस्य दानादिकमर्थं सिसाधयिषोर्विघ्नोभूयाऽन्तरा पतति। (शतक. मल. हेम. वृ. ३७, पृ. ५१)। १०. अन्तरा दातृ-प्रतिग्राहकयोरन्तर्विघ्नहेतुतया अयते गच्छतीत्यन्तरायम्। (धर्मसं. मलय. वृ. गा. ६०८; प्रव. सारो. वृ. १२५०)। ११. जीवं दानादिकं चान्तरा व्यवधानापादनाय एति गच्छतीत्यन्तरायम्। जीवस्य दानादिकं कर्तुमुद्यतस्य विघातकृद् भवतीत्यर्थः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३–२८८; कर्मप्र. यशो. टी. गा. १)। १२. जीवं चार्थसाधनं चान्तरा एति पततीत्यन्तरायम्। (कर्मस्त. गो. वृ. ९–१०)। १३. जीवं दानादिकं चान्तरा एति, न जीवस्य दानादिकं कर्तुं ददात्यन्तरायम्। (कर्मवि. परमा. व्याख्या गा. ५–६) १४. दातृ-देयादीनामन्तरं मध्यमेति ईयते वाऽनेनेत्यन्तरायः। (त. सुखबो. वृ. ८–४)। १५. दातृ-पात्रयोर्देयादेययोश्च अन्तरं मध्यम् एति गच्छतीत्यन्तरायः। (त. वृत्ति श्रुत. ८–४)। १६. अस्ति जीवस्य वीर्याख्यो गुणोऽस्त्येकस्तदादिवत्। तदन्तरयतीहेदमन्तरायं हि कर्म तत्। (पञ्चाध्यायी २–१००७)।

१ जो कर्म दाता और देय आदि के बीच में आता है—दान देने में रुकावट डालता है—उसे अन्तराय कर्म कहते हैं।

अन्तरायवर्ग—अन्तरायप्रकृतिसमुदायोऽन्तरायवर्गः। (पञ्चसं. मलय. वृ. ५–४८)।

अन्तराय कर्म की प्रकृतियों के समुदाय को अन्तरायवर्ग कहते हैं।

अन्तरिक्ष-महानिमित्त—१. रवि-ससि-गहपहुदीणं उदयत्थमणादियाइं दट्ठूणं। खीणत्तं दुक्ख-सुहं जं जाणइ तं हि णहणिमित्तं॥ (ति. प. ४–१००३)। २. रवि-शशि-ग्रह-नक्षत्र-तारा-भगणोदयास्तमयादिभिरतीतानागतफलप्रविभागप्रदर्शनमन्तरिक्षम्। (त. वा. ३, ३६, ३; चा. सा. पृ. ९४)। ३. चंदाइच्च-गहाणमुदयत्थवण-जयपराजय-गहघट्टण-विज्जुचडक - इंदाउह-चंदाइच्चपरिवेसुवरागविवभेयादि दट्ठूण सुहासुहावगमो अंतरिक्खं णाम महाणिमित्तं। (धव. पु. ९, पृ. ७४)। ४. अन्तरिक्षमादित्य-ग्रहाद्युदयास्तमनम्। ××× यदन्तरिक्षस्य व्यवस्थितं ग्रहयुद्धं ग्रहास्तमनं ग्रहनिर्घातादिकं समीक्ष्य प्रजायाः शुभाशुभं विबुध्यते तदन्तरिक्षं नाम। (मूला. वृ. ६–३०)। ५. गह-वेह-भूय-अट्टहासपमुहं जमन्तरिक्खं तं। (प्रव. सारो. २५७–१४०८)। ६. अन्तरिक्षं आकाशप्रभवग्रहयुद्धभेदादिभावफलनिवेदकम्। (समवा. अभय. वृ. सू. २९)।

२ आकाशगत सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा आदि के उदय-अस्त आदि अवस्थाविशेष को देख कर भूत-भविष्यत् काल सम्बन्धी फल के विभागको दिखलाना, इसे अन्तरिक्ष-महानिमित्त या नभनिमित्त कहते हैं।

अन्तरितार्थ—१. अन्तरिताः कालविप्रकृष्टाः अर्थाः। (आ. मी. वृ. ५)। २. अन्तरिताः कालविप्रकृष्टा

रामादयः। (न्या. दी. पृ. ४१)।
काल-विप्रकृष्ट अर्थात् काल की अपेक्षा दूरवर्ती पदार्थों को अन्तरितार्थ कहते हैं। (जैसे—राम-रावण आदि)।

अन्तर्गति—मनुष्यः तिर्यग्योनिवाच्यं यावदुत्पत्ति-स्थानं न प्राप्नोति तावदन्तर्गतिः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-१२)।
एक गति को छोड़कर दूसरी गति में जन्म लेने के पूर्व जो जीव की मध्यवर्ती गति होती है, उसे अन्त-र्गति कहते हैं। जैसे—मनुष्य मरकर जब तक तिर्यञ्चयोनिरूप अपने उत्पत्तिस्थान को नहीं प्राप्त कर लेता है, तब तक उसकी गति अन्तर्गति कहलाती है।

अन्तर्धान—१. जं हवदि अदिस्सत्तं अंतद्धाणाभि-धाणरिद्धी सा। (ति. प. ४-१०३२)। २. अन्त-र्धानमदृश्यो भवेत्। (त. भा. १०-७)। ३. अदृश्य-रूपशक्तिताऽन्तर्धानम्। (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०३)। ४. अन्तर्धानमदृश्यत्वम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. १०-७, पृ. ३१६; योगशा. स्वो. विव. १-८, पृ. ३७)। ५. अदृष्टरूपतोऽन्तर्धानमन्तर्धिः। (त. वृत्ति श्रुत. ३-३६)।
अदृश्य हो जाने का नाम अन्तर्धान ऋद्धि है।

अन्तर्धि—अरि-विजिगीषोर्मण्डलान्तर्विहितवृत्तिरुभ-यवेतनः पर्वताटवीकृताश्रयश्चान्तर्धिः। (नीतिवा. २९-२९)।
जो शत्रु और उसे जीतने की इच्छा करने वाले के देशों के मध्य में रहे, दोनों ओर से वेतन ले और किसी पर्वत या अटवी में आश्रय करके रहे, वह अन्तर्धि (चरट) कहलाता है।

अन्तर्मल—एकत्र (जीवे) अन्तर्मलः कर्म, अन्यत्र (सुवर्णादौ) अन्तर्मलः कालिमादिः। (आ. मी. वृत्ति. ४)।
आत्मा का अन्तर्मल कर्म कहलाता है, और सुवर्ण आदि के अन्तर्मल कालिमा आदि कहलाते हैं।

अन्तर्मुहूर्त—१. [भिण्णमुहुत्तादो] पुणो वि अव-रेगे एगसमए अवणिदे सेसकालपमाणमंतोमुहुत्तं होदि। एवं पुणो पुणो समया अवणेयव्वा जाव उस्सासो णिट्ठिदो त्ति। तो वि सेसकालपमाणमंतोमुहुत्तं चेव होइ। (धव. पु. ३, पृ. ६७); ××× सामीप्या-र्थे वर्तमानान्तःशब्दग्रहणात् मुहूर्तस्यान्तः अन्तर्मुहूर्तः। (धव. पु. ३, पृ. ६९-७०); मुहुत्तस्संतो अंतोमुहुत्तं; (धव. पु. ४, पृ. ३२४)। २. एगसमएण हीणं (मुहुत्तं) भिण्णमुहुत्तं तदो सेसं॥ गो. जी. ५७४)। ३. ससमयमावलि अवरं समऊणमुहुत्तयं तु उक्कस्सं। मज्झासंख्यवियप्पं वियाण अंतोमुहुत्तमिणं॥ (गो. जी. ५७४तमतः परं क्षेपकम्)। ४. अन्तर्मुहूर्तः समयाधिकामावलिकामादिं कृत्वा समयोनमुहूर्तम्। (त. वृ. टि., पृ. १८)। ५. त्रीणि सहस्राणि सप्त शतानि त्र्यधिकसप्ततिरुच्छ्वासाः मुहूर्तः कथ्यते (३७७३)। तस्यान्तः अन्तमुहूर्तः। समयाधिका-मावलिकामादिं कृत्वा समयोनमुहूर्तं यावत्। (त. वृत्ति श्रुत. १-८)।
३ एक समय अधिक आवली से लगाकर एक समय कम मुहूर्त तक के काल को अन्तर्मुहूर्त कहते हैं।

अन्तर्व्याप्ति—पक्षीकृत एव विषये साधनस्य साध्येन व्याप्तिरन्तर्व्याप्तिः। यथानेकान्तात्मकं वस्तु सत्त्वस्य तथैवोपपत्तेरिति ×××। (प्र. न. त. ३, ३८-३९)।
पक्ष के भीतर ही साध्य के साथ साधन की व्याप्ति होने को अन्तर्व्याप्ति कहते हैं। जैसे—वस्तु अने-कान्तात्मक है, क्योंकि, अनेकान्तात्मक होने पर ही उसकी सत्ता घटित होती है। यहां पक्ष के अन्तर्गत वस्तु को छोड़कर अन्य (अवस्तु) की सत्ता ही सम्भव नहीं हैं, जहां कि उक्त व्याप्ति ग्रहण की जा सके।

अन्तःकरण—१. गुण-दोषविचार-स्मरणादिव्यापा-रेषु इन्द्रियानपेक्षत्वाच्चक्षुरादिवत् वहिरनुपलब्धे-श्च अन्तर्गतं करणं अन्तःकरणम्। (स. सि. १-१४; त. वृत्ति श्रुत. १-१४)। २. नेन्द्रियमनिन्द्रियम्, नो-इन्द्रियं च प्रोच्यते। अत्रेषदर्थे प्रतिषेधो द्रष्टव्यो यथाऽनुदरा कन्येति। तेनेन्द्रियप्रतिषेधेनात्मनः करण-मेव मनो गृह्यते, तदन्तःकरणं चोच्यते, तस्य बाह्येन्द्रियैर्ग्रहणाभावादन्तर्गतं करणमन्तःकरणमिति व्युत्पत्तेः। (त. सुखबो. वृ. १-१४)।
१ गुण-दोष के विचार और स्मरण आदि व्यापारों में जो बाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रखता है तथा जो चक्षु आदि इन्द्रियों के समान बाह्य में दृष्टि-गोचर भी नहीं होता है, ऐसे अभ्यन्तर करण (मन) को अन्तःकरण कहते हैं।

अन्तःशल्य—अन्तः मध्ये मनसीत्यर्थः, शल्यमिव

शल्यमपराधपदं यस्य सोऽन्तःशल्यो लज्जाभिमानादिभिरनालोचितातीचारः। (समवा. अभय. वृ. सू. १७, पृ. ३२)।
जिसके अन्तःकरण में अपराधपद कांटे के समान चुभ रहा है, पर लज्जा व अभिमानादि के कारण जो दोष की आलोचना नहीं करता है, ऐसे साधु को अन्तःशल्य कहते हैं।

अन्तःशल्यमरण—तस्य(अन्तःशल्यस्य)मरणमन्तःशल्यमरणम्। (समवा. अभय. वृ. सू. १७, पृ. ३२)।
अन्तःशल्य—अपराध की आलोचना न करने वाले का जो मरण होता है उसे अन्तःशल्यमरण कहते हैं।

अन्तःशुद्धि—ममेदमहमस्येति संकल्पो जायते न चेत्। चेतनेतरभावेषु सान्तःशुद्धिर्जिनोदिता॥ (धर्मसं. श्रा. ७–४८)।
'यह मेरा है और मैं इसका हूं' इस प्रकारका संकल्प यदि चेतन या अचेतन पदार्थों में न हो तो इसे अन्तःशुद्धि कहा जाता है।

अन्तःस्थ वर्ण—अन्तः स्पर्शोष्मणोर्वर्णयोर्मध्ये तिष्ठन्तीति अन्तस्थाः य-र-ल-ववर्णाः। ते हि कादि-मावसानस्पर्शानां श-ष-स-हरूपोष्मणां च मध्यस्थाः। (अभि. रा. भा. १, पृ. ६३)।
क से लेकर म पर्यन्त स्पर्श नाम वाले तथा श, ष, स और ह इन ऊष्म नाम वाले वर्णों के मध्य में जो य, र, ल, व वर्ण अवस्थित हैं; वे अन्तःस्थ कहे जाते हैं।

अन्त्य सूक्ष्म—अन्त्यं परमाणूनाम्। (स. सि. ५, २४; त. वा. ५, २४, १०; त. वृ. श्रुत. ५–२४)।
परमाणुगत सूक्ष्मता को अन्त्य सूक्ष्म कहते हैं।

अन्त्य स्थूल—१. अन्त्यं जगद्व्यापिनि महास्कन्धे। (स. सि. ५–२४; त. वा. ५, २४, ११)। २. तत्र जगद्व्यापी महास्कन्धः अन्त्यस्थूलः। (त. वृ. श्रुत. ५–२४)।
जगद्व्यापी महास्कन्ध-गत स्थूलता को अन्त्य स्थूल कहते हैं।

अन्ध—१. अन्धः योऽकार्यरतः। (प्रश्नो. र. मा. १६)। २. एकं हि चक्षुरमलं सहजो विवेकस्तद्वद्भिरेव सह संवसति द्वितीयम्। एतद्द्वयं भुवि न यस्य स तत्त्वतोऽन्धस्तस्यापमार्गचलने खलु कोऽपराधः॥ (अभि. रा. १, पृ. १०५)।

१ अकार्यरत पुरुष को अन्ध कहते हैं।

अन्न-पाननिरोध—१. गवादीनां क्षुत्पिपासाबाधाकरणमन्न-पाननिरोधः। (स. सि. ७–२५; त. वा. ७, २५, ५; त. श्लो. ७–२५)। २. अन्न-पाननिरोधस्तु क्षुद्बाधादिकरोऽङ्गिनाम्। (ह. पु. ५८, १६५)। ३. तेषां गवादीनां कुतश्चित्कारणात् क्षुत्पिपासाबाधोत्पादनमन्न-पाननिरोधः। (चा. सा. पृ. ५)। ४. अन्न-पानयोः भोजनोदकयोर्निरोधः व्यवच्छेदः अन्न-पाननिरोधः। (धर्मवि.मु. वृ. ३-२३)। ५. अन्नं च पानं चान्नपाने, तयोर्निरोधः, गवादीनां कुतश्चित्कारणात् क्षुत्पिपासाबाधोत्पादनमित्यर्थः। (त. सुखबो. ७–२५)। ६. गो-महिषी-बलीवर्द-वाजि-गज-महिष-मानव-शकुन्तादीनां क्षुत्तृष्णादिपीडोत्पादनमन्न-पाननिरोधः। (त. वृ. श्रुत. ७–२५; कार्तिके. टी. ३३२)। ७. नराणां गो-महिष्यादितिरश्चां वा प्रमादतः। तृणाद्यन्नादिपानानां निरोधो व्रतदोषकृत्॥ (लाटीसं. ५–२७१)।
१ गाय-भैंस आदि प्राणियों के खाने-पीनेके समय पर उन्हें भोजन-पान न देना, यह अन्न-पाननिरोध नामक अहिंसाणुव्रत का अतीचार है।

अन्नप्राशन—१. गते मासपृथक्त्वे च जन्माद्यस्य यथाक्रमम्। अन्नप्राशनमाम्नातं पूजाविधिपुरस्सरम्॥ (म. पु. ३८–९५)। २. नवान्नप्राशनं श्रेष्ठं शिशूनामन्नभोजनम्। (आ. दि. पृ. १६—उद्धृत)।
जन्म के तीन मास से लेकर नौ मास के भीतर बालक को पूजाविधिपूर्वक अन्न खिलाना प्रारम्भ करने को अन्नप्राशन कहते हैं।

अन्नशुद्धि — अन्नशुद्धिश्चतुर्दशमलरहितस्याहारस्य यतनया शोधितस्य हस्तपुटेऽर्पणम्। (सा. ध. स्वो. टी. ५–४५)।
चौदह मलोंसे रहित और प्रयत्नपूर्वक शोधित आहार को हस्त-पुट में अर्पण करना अन्नशुद्धि कहलाती है।

अन्य(पर)गणानुपस्थापन प्रायश्चित्त—देखो अनुपस्थापन प्रायश्चित्त। दर्पादनन्तरोक्तान् (अन्यमुनि-छात्राद्यपहरण-तत्प्रहरणादीन्) दोषानाचरतः पर (अन्य) गणोप [गणानुप] स्थापनं प्रायश्चित्तं भवतीति। (चा. सा. पृ. ६४)।
देखो अनुपस्थापन प्रायश्चित्त।

अन्यता—अन्यता सर्वद्रव्याणां परस्परं भेदपरिणा-

मोऽनादिः। (त. भा. सिद्ध. वृत्ति ७-७)।
सर्व द्रव्यों की अनादिकालीन परस्पर विभिन्नता को अन्यता कहते हैं।

अन्यतीर्थिक-प्रवृत्तानुयोग—अन्यतीर्थिकेभ्यः कपिलादिभ्यः सकाशाद्यः प्रवृत्तः स्वकीयाचारवस्तुतत्त्वानामनुयोगो विचारः, तत्पुरस्करणार्थः शास्त्रसन्दर्भ इत्यर्थः, सोऽन्यतीर्थिकप्रवृत्तानुयोग इति। (समवा. अभय. वृ. सू. २९)।
अन्यतीर्थिक अर्थात् कपिल आदि अन्य मतावलम्बियों से प्रवृत्त हुआ जो अपने आचार-विषयक अनुयोग (विचार) है उसके पुरस्कृत करने वाले शास्त्रसन्दर्भ को अन्यतीर्थिक-प्रवृत्तानुयोग कहते हैं।

अन्यत्वभावना—जीवानां देहात् पृथक्त्वे सति पुत्र-कलत्र-धनादिपदार्थेभ्योऽत्यन्तभेदः, अतस्तत्त्ववृत्त्या लोके कस्यापि सम्बन्धो नास्तीत्यादिचिन्तनमन्यत्वभावना। (सम्बोधस. वृ. १६)।
जीव के शरीर से भिन्न होने पर उस शरीर से सम्बद्ध पुत्र-मित्र-कलत्र आदि तो उससे सर्वथा भिन्न रहने वाले ही हैं, वस्तुतः जीवका इन सब में से किसी के साथ भी सम्बन्ध नहीं है, ऐसा विचार करना; इसका नाम अन्यत्वभावना है।

अन्यत्वानुप्रेक्षा—देखो अन्यत्वभावना। १. शरीरादन्यत्वचिन्तनमन्यत्वानुप्रेक्षा। (स. सि. ९-७)। २. शरीराद् व्यतिरेको लक्षणभेदादन्यत्वम् ॥५॥ ××× तत्र वन्धं प्रत्येकत्वे सत्यपि लक्षणभेदादन्यत्वम्, ततः कुशलपुरुषप्रयोगसन्निधौ शरीरादत्यन्तव्यतिरेकेण आत्मनो ज्ञानादिभिरनन्तैरहेयैरवस्थानं मुक्तिरन्यत्वं शिवपदमिति चोच्यते। तदवाप्तये च ऐन्द्रियिकं शरीरम् अतीन्द्रियोऽहम्, अज्ञं शरीरं ज्ञोऽहम्, अनित्यं शरीरं नित्योऽहम्, आद्यन्तवच्छरीरम् अनाद्यन्तोऽहम्, बहूनि मे शरीरशतसहस्राणि अतीतानि संसारे परिभ्रमतः, स एवाहम् अन्यस्तेभ्यः इत्येवं शरीरादन्यत्वं मे, किमङ्ग पुनर्बाह्येभ्यः परिग्रहेभ्य इति चिन्तनम् अन्यत्वानुप्रेक्षा। (त. वा. ९, ७, ५)। ३. शरीरव्यतिरेको लक्षणभेदोऽन्यत्वम्। (त. श्लो. वा. ९-७)। ४. शरीरादपि जीवस्य व्यतिरेकोऽन्यत्वम्। (त. सुखबो. वृ. ९-७)। ५. जीवात् कायादिकस्य पृथक्त्वानुचिन्तनमन्यत्वानुप्रेक्षा भवति। तथाहि—जीवस्य वन्धं प्रति एकत्वे सत्यपि लक्षणभेदात् काय इन्द्रियमयः आत्माऽनिन्द्रियोऽन्यो वर्तते, कायोऽज्ञः आत्मा ज्ञानवान्, कायोऽनित्यः आत्मा नित्यः, कायः आद्यन्तवान् आत्मा अनाद्यनन्तवान्, कायानां बहूनि कोटिलक्षाणि अतिक्रान्तानि आत्मा संसारे निरन्तरं परिभ्रमन् स एव तेभ्योऽन्यो वर्तते। एवं यदि जीवस्य कायादपि पृथक्त्वं वर्तते, तर्हि कलत्र-पुत्र-गृह-वाहनादिभ्यः पृथक्त्वं कथं न बोभवीति? अपि तु बोभवीत्येव। एवं भव्यजीवस्य समाहितचेतसः कायादिषु निःस्पृहस्य तत्त्वज्ञानभावनापरस्य कायादेर्भिन्नत्वं चिन्तयतो वैराग्योत्कृष्टता भवति। तेन तु अनन्तस्य मुक्तिसौख्यस्य प्राप्तिर्भवतीत्यन्यत्वानुप्रेक्षा। ××× भवन्ति चात्र काव्यानि ××× नो नित्यं जडरूपमैन्द्रियकमाद्यन्ताश्रितं वर्ष्म यत् सोऽहं तानि बहूनि चाश्रयमयं खेदोऽस्ति सङ्गादतः। नीर क्षीरवदङ्गतोऽपि यदि मे ऽन्यत्वं ततोऽन्यद् भृशं साक्षात्पुत्र-कलत्र-मित्र-गृह-रै-रत्नादिकं मत्परम् ॥ (त. वृत्ति श्रुत. ९-७)। ६. अण्णं देहं गिण्हदि जणणी अण्णा य होदि कम्मादो। अण्णं होदि कलत्तं अण्णो वि य जायदे पुत्तो ॥ एवं वाहिरदव्वं जाणदि रूवादु अप्पणो भिण्णं। जाणंतो वि हु जीवो तत्थेव हि रच्चदे मूढो ॥ जो जाणिऊण देहं जीवसरूवादु तच्चदो भिण्णं। अप्पाणं पि य सेवदि कज्जकरं तस्स अण्णत्तं ॥ (कार्तिके. ८०-८२)।
१ शरीर से आत्मा की भिन्नता के बार-बार चिन्तवन करने को अन्यत्वानुप्रेक्षा कहते हैं।

अन्यथानुपपत्ति—१. अन्यथा अन्येन साध्याभावप्रकारेण, या अनुपपत्तिः लिंगस्य अघटना [सा अन्यथानुपपत्तिः]। (सिद्धिवि. टी. ५-१५, पृ. ३४६, पं. २०); अन्यथा साध्याभावप्रकारेण अनुपपत्तिः अन्यथानुपपत्तिः। (सिद्धिवि. टी. ५-२१, पृ. ३५८, पं. १७); तदभावे (व्यापकाभावे) अवश्यं तत् (व्याप्यं) न भवति इति अन्यथानुपपत्तिरेव समर्थिता। (सिद्धिवि. टी. ६-२, पृ. ३७९, पं. ५)। २. ××× असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिरेवान्यथानुपपत्तिः। (प्र. न. त. ३-३०)।
साध्य के अभाव में हेतु के घटित न होने को अन्यथानुपपत्ति कहते हैं।

अन्यथानुपपन्नत्व—अन्यथानुपपन्नत्वं साध्याभावे नियमेन साधनस्य अघटनम्। (सिद्धिवि. टी. ५, २३, पृ. ३६१, पं. १३)।

देखो—अन्यानुपपत्ति ।

अन्यदृष्टि—१. अन्यदृष्टिरित्यर्हच्छासनव्यतिरिक्तां दृष्टिमाह । (त. भा. ७–१८) । २. जिनवचनव्यतिरिक्ता दृष्टिरन्यदृष्टिरसर्वज्ञप्रणीतवचनाभिरतिः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–१८) ।

जिनशासन से भिन्न, असर्वज्ञप्रणीत अन्य मत-मतान्तरों से अनुराग रखने को अन्यदृष्टि कहते हैं।

अन्यदृष्टिप्रशंसा—१. मनसा मिथ्यादृष्टेर्ज्ञान-चारित्रगुणोद्भावनं प्रशंसा । (स. सि. ७–२३; त. वृ. श्रुत. ७–२३) । २. अन्यदृष्टियुक्तानां क्रियावादिनामक्रियावादिनामज्ञानिकानां वैनयिकानां च प्रशंसा । (त. भा. ७–१८) । ३. अन्यदृष्टीनां सर्वज्ञप्रणीतदर्शनव्यतिरिक्तानां × × × पाषण्डिनां प्रशंसा अन्यदृष्टिप्रशंसा । (धर्मवि. मु. वृ. ३-२१)।

१ मन से मिथ्यादृष्टि के ज्ञान-चारित्र गुणों के प्रगट करने को अन्यदृष्टिप्रशंसा कहते हैं।

अन्यदृष्टिसंस्तव—१. अन्यदृष्टियुक्तानां क्रियावादिनामक्रियावादिनामज्ञानिकानां वैनयिकानां च संस्तवोऽन्यदृष्टिसंस्तवः । (त. भा. ७–१८) । २. मिथ्यादृष्टेर्भूतगुणोद्भावनवचनं संस्तवः । (स. सि. ७–२३) ।

२ मिथ्यादृष्टि के सद्भूत और असद्भूत गुणों की वचन से स्तुति करने को अन्यदृष्टिसंस्तव कहते हैं।

अन्ययोगव्यवच्छेद–१. विशेषण-विशेष्याभ्यामुक्तो च क्रियया सह । अयोगं योगमपरैरत्यन्तायोगं न चान्यथा ।। व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य निपातो व्यतिरेचकः । सामर्थ्याच्चाप्रयोगेऽर्थो गम्यः स्यादेवकारयोः ।। (सिद्धिवि. ६, ३२–३३) । २. न वै पुरुषेच्छया चित्रो धनुर्धर एव, पार्थ एव धनुर्धरः, नीलं सरोजं भवत्येवेति अयोगव्यवच्छेदादिस्वभावस्थितवाक्येषु अन्यथात्वं सम्भाव्यते, तथाप्रतिपत्तिप्रसंगात् । (सिद्धिवि. स्वो. वृ. ६, ३२–३३) । ३. विशेष्यसंगतैवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदबोधकः । यथा पार्थ एव धनुर्धरः इति । अन्ययोगव्यवच्छेदो नाम विशेष्यभिन्नतादात्म्यादिव्यवच्छेदः । तत्रैवकारेण पार्थान्यतादात्म्याभावो धनुर्धरे बोध्यते । तथा च पार्थान्यतादात्म्याभाववद्धनुर्धराभिन्नः पार्थ इति बोधः । (सप्तभं. पृ. २६) ।

विशेष्य के साथ प्रयुक्त एवकार को अन्ययोगव्यवच्छेद कहते हैं। जैसे—पार्थ (अर्जुन) ही धनुर्धर है।

अन्यलिङ्ग—अन्यलिङ्गं भौत-परिव्राजकादिवेषः । (त. भा. सिद्ध. वृ. १०–७) ।

जैन लिङ्ग से भिन्न भौत (भौतिक) व परिव्राजक आदि के वेष को अन्यलिङ्ग कहते हैं।

अन्यलिङ्गसिद्ध—१. अन्यलिङ्गसिद्धाः परिव्राजकादिलिङ्गसिद्धाः । (श्रा. प्र. टी. ७६; नन्दी. हरि. वृ. पृ. ५१) । २. × × × वल्कलचीरी य अन्नलिंगम्मि । (नवतत्त्व. गा. ५७) । ३. अन्येषां परिव्राजकादीनां लिङ्गेन सिद्धा अन्यलिङ्गसिद्धाः । (योगशा. स्वो. विव. ३–१२४) । ४. अन्यलिङ्गे परिव्राजकादिसम्बन्धिनि वल्कल-काषायादिरूपे द्रव्यलिङ्गे व्यवस्थिताः सन्तो ये सिद्धास्तेऽन्यलिङ्गसिद्धाः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १-७) । ५. जन्मलिङ्गे परिव्राजकादिसम्बन्धिन्येव व्यवस्थिताः सिद्धाः अन्यलिङ्गसिद्धाः । (शास्त्रवा. टी. ११–५४) ।

१ परिव्राजक आदि अन्य लिङ्गों से सिद्ध होने वाले जीवों को अन्यलिङ्गसिद्ध कहते हैं।

अन्यलिङ्गसिद्धकेवलज्ञान—अन्यलिङ्गसिद्धकेवलज्ञानं नाम यदन्यस्मिन् लिङ्गे वर्तमानाः सम्यक्त्वं प्रतिपद्य भावनाविशेषात् केवलज्ञानमुत्पाद्य केवलोत्पत्तिसमकालमेव कालं कुर्वन्ति तदन्यलिङ्गसिद्धकेवलज्ञानम् । यदि पुनस्तेऽन्यलिङ्गस्थिताः केवलमुत्पाद्यात्मनोऽपरिक्षीणमायुः पश्यन्ति ततः साधुलिङ्गमेव परिगृह्णन्ति । (आव. मलय. वृ. ७८, पृ.८५) ।

जो अन्य लिङ्ग में रहते हुए ही सम्यक्त्व को प्राप्त कर और भावनाविशेष से केवलज्ञान को उत्पन्न कर केवलोत्पत्ति के साथ ही निर्वाण को प्राप्त करते हैं, उनके केवलज्ञान को अन्यलिङ्गसिद्धकेवलज्ञान कहते हैं।

अन्य(पर) विवाहकरण—१. परस्य (अन्यस्य) विवाहः परविवाहः, परविवाहस्य करणं पर (अन्य) विवाहकरणम् । (स. सि. ७–२८; त. वा. ७, २८, १) । २. अन्येषां स्व-स्वापत्यव्यतिरिक्तानां विवाहनं विवाहकरणं कन्याफललिप्सया स्नेहसम्बन्धादिना वा परिणयनविधानम् (योगशा. स्वो. विव. ३–६४) । ३. स्वपुत्र-पुत्र्यादीन् वर्जयित्वा अन्येषां गोत्रिणां मित्र-स्वजन-परजनानां विवाहकरणं अन्यविवाहकरणम् । (कार्तिके. टी. ३३८) ।

३ अपने पुत्र पुत्री आदि को छोड़कर अन्य गोत्र वालों के, तथा मित्र व स्वजन-परजनादिकों के पुत्र पुत्री आदि का विवाह करना, यह अन्य (पर) विवाह-करण नामक ब्रह्मचर्याणुव्रत का अतिचार है।

अन्यहितयुता करुणा—अन्यहितयुता सामान्येनैव प्रीतिमत्तासम्बन्धविकलेष्वपि सर्वेषु एवान्येषु सत्त्वेषु केवलिनामिव भगवतां महामुनीनां सर्वानुग्रहपरायणा हितबुद्धया चतुर्थी करुणा (षोडशक वृ. १३-९)। प्रीतिमत्ता (रागविषयता) का सम्बन्ध नहीं होने पर भी केवलियों के समान महामुनियों के जो सर्वप्राणियों के अनुग्रहविषयक बुद्धि होती है, उसे अन्यहितयुता करुणा कहते हैं।

अन्यापदेश—"अन्यस्य परस्य सम्बन्धीदं गुड-खण्डादि" इति व्यपदेशो व्याजोऽन्यापदेशः। (योगशा. स्वो. विव. ३–११९)।

'यह गुड़ अथवा खांड आदि अन्य गृहस्थ के हैं, मेरे नहीं हैं', इस प्रकार के कपटपूर्ण वचन को अन्यापदेश कहते हैं। यह अतिथिसंविभागव्रत का पांचवां अतिचार है।

अन्यापोह—स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिन्यापोहः। (अष्टशती ११)।

स्वभावान्तर से विवक्षित स्वभाव की भिन्नता को अन्यापोह कहते हैं।

अन्योन्यप्रगृहीतत्व—अन्योन्यप्रगृहीतत्वं परस्परेण पदानां वाक्यानां वा सापेक्षता। (समवा. अभय. वृ. सू. ३५; रायप. टी. पृ. १६)।

पदों या वाक्यों की परस्पर सापेक्षता को अन्योन्य-प्रगृहीतत्व कहते हैं।

अन्योन्याभाव—१. गवि योऽश्वाद्यभावश्च सोऽन्योन्याभाव उच्यते। (प्रमाल. ३८६)। २. गवि बलीवर्दे योऽयमश्वादीनामभावः सोऽन्योन्याभावः, अन्योऽपरो गोरश्वस्यस्यान्यस्याश्वादेर्गवि अभावस्तादात्म्यनिषेधो यः सोऽयमन्योन्याभाव उच्यते इति सम्बन्धः। ३. तादात्म्यावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावत्वमन्योन्याभावलक्षणम्। (अष्टस. यशो. वृ. ११, पृ. १९९)।

गाय आदि किसी एक वस्तु में अन्य अश्व आदि के अभाव को अन्योन्याभाव कहते हैं।

अन्वय—१. अवस्था-देश-कालानां भेदेऽभेदव्यवस्थितिः॥ या दृष्टा सोऽन्वयो लोके व्यवहाराय कल्पते। (न्यायवि. २, १७७–७८)। २. अनुरित्यव्युच्छिन्नप्रवाहरूपेण वर्तते यद्वा। अयतीत्ययगत्यर्थाद्धातोरन्वर्थतोऽन्वयं द्रव्यम्॥ (पञ्चाध्यायी १–१४२)।

अवस्था, देश और काल के भेद के होते हुए जो कथंचित् तादात्म्य की व्यवस्था देखी जाती है उसे व्यवहार के लिए अन्वय माना जाता है।

अन्वयदत्ति—१. आत्मान्वयप्रतिष्ठार्थं सूनवे यदशेषतः। समं समय-वित्ताभ्यां स्ववर्गस्यातिसर्जनम्॥ सैषा सकलदत्तिः स्यात् × । × × ॥ (सा. ध. १–१८, टि. १)। २. अयाहूय सुतं योग्यं गोत्रजं वा तथाविधम्। ब्रूयादिदं प्रशान् साक्षाज्जातिज्येष्ठसधर्मणाम्॥ ताताद्ययावदस्माभिः पालितोऽयं गृहाश्रमः। विरज्यैनं जिहासूनां त्वमद्यार्हसि नः पदम्॥ पुत्रः पुपूषोः स्वात्मानं सुविधेरिव केशवः। य उपस्कुरुते वप्तुरन्यः शत्रुः सुतच्छलात्॥ तदिदं मे धनं धर्म्यं पोष्यमप्यात्मसात्कुरु। सैषा सकलदत्तिर्हि परं पथ्या शिवार्थिनाम्॥ (सा. ध. ७, २४–२७)। ३. सकलदत्तिः आत्मीयस्वसन्ततिस्थापनार्थं पुत्राय गोत्रजाय वा धर्मं धनं च समर्प्य प्रदानमन्वयदत्तिश्च सैव। (कार्तिके. टीका ३९१)।

२ अपनी सन्तानपरम्परा को स्थिर रखने के लिये पुत्र को या सगोत्री को धर्म के साधनभूत चैत्यालय आदि एवं धनादि के प्रदान करने को अन्वयदत्ति कहते हैं। इसका दूसरा नाम सकलदत्ति भी है।

अन्वयदृष्टान्त—१. साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः। (परीक्षा. ३–४४)। २. साधनसत्तायां यत्रावश्यं साध्यसत्ता प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः। (षड्दर्शन. टीका ४–५५, पृ. २१०)। २. अन्वयव्याप्तिप्रदर्शनस्थानमन्वयदृष्टान्तः। (न्यायदी. पृ. ७८)।

१ जिस स्थान पर साध्य से व्याप्त साधन दिखाया जाय उसे अन्वयदृष्टान्त कहते हैं।

अन्वयद्रव्यार्थिक—णिस्सेससहावाणं अण्णयरूवेण दव्वदव्वेदि [दव्वदव्वमिदि]। दव्वठवणो हि जो सो अण्णयदव्वत्थिओ भणियो॥ (ल. नयच. २४); णिस्सेससहावाणं अण्णयरूवेण सव्वदव्वेहि। विवहावणाहि जो सो अण्णयदव्वत्थिओ भणिदो॥ (वृ. नयच. १९७, पृ. ७२); सामान्यगुणाद्यन्वयरूपेण द्रव्यं द्रव्यमिति द्रवति व्यवस्थापयतीत्यन्वय-

द्रव्यार्थिकः। (आलाप.—नयच. पृ. १४५)।
यह भी द्रव्य है, यह भी द्रव्य है; इस प्रकार समस्त स्वभावों के अन्वय रूप से जो द्रव्य को स्थापित करता है उसे अन्वयद्रव्यार्थिक कहते हैं।

अन्वयव्यतिरेकी — पञ्चरूपोपपन्नोऽन्वयव्यतिरेकी। (न्या. दी. पृ. ९०)।
जो हेतु पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व; इन पाँचों रूपों से युक्त होता है उसे अन्वयव्यतिरेकी हेतु कहते हैं।

अपकर्षण (ओक्कड्डुण)—१. पदेसाणं ठिदीणमोवट्टणा ओक्कड्डुणा णाम। (धव. पु. १०, पृ. ५३)। २. स्थित्यनुभागयोर्हानिरपकर्षणम्। (गो. क. जी. प्र. टी. ४३८)।
कर्मप्रदेशों की स्थितियों के हीन करने का नाम अपकर्षण है।

अपक्रमषट्क—१. चतसृषु दिक्षूर्ध्वमधश्चेति भवान्तरसंक्रमणषट्केनापक्रमेण युक्तत्वात् षट्कापक्रमयुक्तः। (पंचास्तिकाय अमृत. वृत्ति ७२)। २. छक्कापक्कमजुत्तो—अस्य वाक्यस्यार्थः कथ्यते—अपगतो विनष्टः विरुद्धक्रमः प्रांजलत्वं यत्र स भवत्यपक्रमो वक्र इति ऊर्ध्वाधोमहादिक्चतुष्टयगमनरूपेण षड्विधेनापक्रमेण मरणान्ते युक्तः इत्यर्थः। (पंचा. का. जय. वृ. ७२)। ३. पूर्व-दक्षिण-पश्चिमोत्तरोर्ध्वाधोगतिभेदेन संसारावस्थायां षट्कापक्रमयुक्तः। (गो. जी. म. प्र. व जी. त. प्र. टी. ३५६)।
मरण के समय विरुद्ध गति का न होना, इसका नाम अपक्रम है। यह ऊर्ध्व, अधः और पूर्वादि चार; इन छह दिशाओं के भेद से छह प्रकारका है। इसीसे उसे 'अपक्रमषट्क' के नाम से कहा जाता है।

अपक्व दोष—१. × × × अपक्वं पावकादिभिः। द्रव्यैरत्यक्तपूर्वस्ववर्ण-गन्ध-रसं विदु.॥ (आचा. सा. ८-५२; भावप्रा. टी. १००)। २. अपक्वं यदग्निनाऽन्येन वा इन्धनधूमादिना प्रकारेण न पक्वम्। (बृहत्क. वृ. १०८)।
अग्नि आदि द्रव्य के द्वारा जिसका रूप, रस व गन्ध अन्यथा न हुआ हो, उसका सेवन करने पर अपक्वदोष होता है।

अपगतवेद—१. करिस-तणेट्टावग्गीसरिसपरिणामवेदणुम्मुक्का। अवगयवेदा जीवा सगसंभवणंतवरसोक्खा॥ (प्रा. पंचसं. १-१०८; धव. पु. १, पृ. ३४२ उ.; गो. जी. २७५)। २. अपगतास्त्रयोऽपि वेदसन्तापा येषां तेऽपगतवेदाः, प्रक्षीणान्तर्दाहा इति यावत्। (धव. पु. १, पृ. ३४२); मोहणीयदव्वकम्मक्खंधो तज्जणिदजीवपरिणामो वा वेदो। वेदजणिदजीवपरिणामस्स परिणामेण सह कम्मक्खंधस्स वा अभावो अवगदवेदो। (धव. पु. ५, पृ. २२२)। ३. करीषजेन तार्णेन पावकेनेष्टकेन च। समतो वेदतोऽपेताः सन्त्यवेदा गतव्यथा.॥ (पंचसं. अमित. १-२०२)।
१ कारीष, तृण और इष्टिकापाक की अग्नि के समान जो क्रम से स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद रूप परिणामों के वेदन (उदय) से रहित जीवों को अपगतवेद या अपगतवेदी कहते हैं।

अपचयद्रव्यमन्द—अपचयद्रव्यमन्दस्तु यः कृशशरीरतया कमपि प्रयासं न कर्तुमीष्टे। (बृहत्क. वृ. ६९७)।
जो शरीर के कृश होने से कुछ भी प्रयास (परिश्रम) न कर सके उसे अपचयद्रव्यमन्द कहते हैं।

अपचयपद—१. अवयवापचयनिबन्धनानि—यथा छिन्नकर्णः छिन्ननासिक इत्यादीनि नामानि। धव. पु. १, पृ. ७७); छिण्णकरो छिण्णणासो काणो कुंटो इच्चादीणि अवचिदणिबंधणाणि। (धव. पु. ९, पृ. १३७)। २. छिण्णकण्णो छिण्णणासो काणो कुंठो (टो) खंजो बहिरो इच्चाईणि णामाणि अवचयपदाणि, सरीरावयवविगलत्तमवेक्खिय एदेसिं णामाणं पउत्तिदंसणादो। (जयध. पु. १, पृ. ३३)।
२ छिन्नकर्ण, छिन्ननासा, काना, कुंट (कुबड़ा, बौना अथवा हाथ से हीन), कुबड़ा, लंगड़ा और बहिरा आदि नामपद विशिष्ट शरीरावयव की हीनता के सूचक होने से अपचयपद कहलाते हैं।

अपचयभावमन्द—अपचयभावमन्दस्तु यो निजसहजबुद्धेरभावेनान्यदीयाया बुद्धेरनुपजीवनेन हिताहितप्रवृत्ति-निवृत्ती न कर्तुमीशः स बुद्धेरपचयेन भावतो मन्दत्वादपचयभावमन्दः। अथवा यस्तु परिस्फूरमतिः स बुद्धेः स्थूलसूक्ष्मतया अन्तर्निःसारतालक्षणमपचयमधिकृत्यापचयभावमन्दः। (बृहत्क. वृ. ६९७)
जो अपनी बुद्धि की हीनता से अपने हित-अहित में प्रवृत्ति और परिहार न कर सके और दूसरी बुद्धि से

कार्य करे उसे बुद्धिहीनता के कारण भावनिक्षेप के आश्रय से अपचयभावमन्द कहते हैं।

अपद दोष—१. अपदं पद्यविधौ पद्ये विधातव्येऽन्यच्छन्दोऽभिधानम्। यथा आर्यापादे वैतालीयपादाभिधानम्। (आव. हरि. वृ. ८८२, पृ. ३७५)। २. अपदं यत्र पद्ये विधातव्येऽन्यच्छन्दोभिधानम्। (आव. मलय. वृ. ८८२, पृ. ४८३)।

१ किसी पद्य की रचना में अन्य छन्द के कहने को अपददोष कहते है। जैसे—आर्या छन्द में वैतालीय छन्द के चरण की योजना। यह सूत्र के अलीक आदि ३२ दोषों में १८वां दोष है।

अपद-सचित्त-द्रव्यपरिक्षेप—यत्पुनर्वृक्षैः [परिवेष्टनं] सोऽपदपरिक्षेपः। (बृहत्क. वृ. ११२२)।

पादविहीन वृक्षों से ग्राम-नगरादि के वेष्टित करने को अपद-सचित्त-द्रव्यपरिक्षेप कहते हैं।

अपदोपक्रम—अपदानां वृक्षादीनां वृक्षायुर्वेदोपदेशाद् वार्धक्यादिगुणापादनमपदोपक्रमः। (आव. नि. मलय. वृ. गा. ७६, पृ. ६१)।

पादरहित सचित्त वृक्षादिकों के वृक्ष सम्बन्धी आयुर्वेद के उपदेश से वृद्धत्व आदि गुणों का कथन करना, इसे अपद-सचित्त-द्रव्योपक्रम कहते हैं।

अपध्यान—१. वध-बन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः। आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः॥ (रत्नक. ३-३२)। २. परेषां जय-पराजय-वध-बन्धनाङ्गच्छेद-परस्वहरणादि कथं स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यानम्। (स. सि. ७-२१; त. वा. ७, २१, २१; चा. सा. पृ. ६; त. सुखबो. वृ. ७-२१; त. वृत्ति श्रुत. ७-२१)। ३. अपध्यान इति अपध्यानाचरितोऽप्रशस्तध्यानेनासेवितः। अत्र देवदत्तश्रावककोङ्कणार्यकप्रभृतयो ज्ञापकम्। (श्रा. प्र. टी. २८६)। ४. अपध्यानं जयः स्वस्य यः परस्य पराजयः। वध-बन्धार्थहरणं कथं स्यादिति चिन्तनम्॥ (ह. पु. ५८-१४६)। ५. संकल्पो मानसी वृत्तिर्विषयेष्वनुतर्षिणी। सैव दुःप्रणिधानं स्यादपध्यानमतो विदुः॥ (म. पु. २१-२५)। ६. नरपतिजय-पराजयादिसंचिन्तनलक्षणादपध्यानात् ××× । (त. श्लो. ७-२१)। ७. पापर्द्धि-जय-पराजय-सङ्गर-परदारगमन-चौर्याद्याः। न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात्॥ (पु. सि. १४१)। ८. स्वयं विषयानुभवरहितोऽप्ययं जीवः परकीयविषयानुभवं दृष्टं श्रुतं च मनसि स्मृत्वा यद्विषयाभिलाषं करोति तदपध्यानं भण्यते। (बृ. द्रव्यसं. २२)। ९. अपकृष्टं ध्यानमपध्यानम्। तदनर्थदण्डस्य प्रथमो भेदः। ××× एवमार्त-रौद्रध्यानात्मकमपध्यानमनर्थदण्डस्य प्रथमो भेदः। (योगशा. स्वो. विव. ३-७३, पृ. ४६५ व ४६७)। १०. वैरिघातो नरेन्द्रत्वं पुरघाताग्निदीपने। खचरत्वाद्यपध्यानं मुहूर्तात् परतस्त्यजेत्॥ (योगशा. ३-७५)। ११. वैरिघात-पुरघाताग्निदीपनादिविषयं रौद्रध्यानम्, नरेन्द्रत्वं खचरत्वम्, आदिशब्दादप्सरोविद्याधरीपरिभोगादि, तेष्वार्तध्यानरूपमपध्यानम्। (योगशा. स्वो. विव. ३-७५)। ११. ××× अपध्यानं नार्तरौद्रात्म चान्वियात्। (सा. ध. ५-६)। १२. वधो बन्धोऽङ्गच्छेद-स्वहृती जय-पराजयौ। कथं स्यादस्य चिन्तेत्यपध्यानं तन्निगद्यते॥ (धर्मसं. श्रा. ७-६)।

१ राग-द्वेष के वशीभूत होकर दूसरों के वध, बन्धन, छेदन और परस्त्री आदि के हरने का विचार करना अपध्यान कहलाता है।

अपरत्व—१. ते (परत्वापरत्वे) च क्षेत्रनिमित्ते प्रशंसानिमित्ते कालनिमित्ते च सम्भवतः। तत्र क्षेत्रनिमित्ते तावदाकाशप्रदेशाल्पबहुत्वापेक्षे। एकस्यां दिशि बहूनाकाशप्रदेशानतीत्य स्थितः पदार्थः पर इत्युच्यते। ततोऽल्पानतीत्य स्थितोऽपर इति कथ्यते। प्रशंसाकृते अहिंसादिप्रशस्तगुणयोगात् परो धर्मः। तद्विपरीतलक्षणस्त्वधर्मोऽपर इत्युच्यते। कालहेतुके—शतवर्षः पुमान् परः, षोडशवर्षस्त्वपर इत्याख्यायते। (त. सुखबोध वृत्ति ५-२२)। २. दूरदेशवर्तिनि गर्भरूपे [अर्भकरूपे] व्रतादिगुणसहिते च अपरत्वव्यवहारो वर्तते। (त. वृत्ति श्रुत. ५-२२)।

१ परत्व और अपरत्व तीन प्रकारके हैं—क्षेत्रनिमित्त, प्रशंसानिमित्त और कालनिमित्त। उनमें वे क्षेत्रनिमित्त आकाशप्रदेशों के अल्प-बहुत्व की अपेक्षा माने जाते हैं। जैसे—जो पदार्थ एक दिशा में बहुत आकाशप्रदेशों को लांघकर स्थित है वह पर और जो अल्प आकाशप्रदेशों को लांघकर स्थित है वह अपर माना जाता है। प्रशंसानिमित्त—अहिंसा आदि प्रशस्त गुणों के सम्बन्ध से धर्म को पर तथा इसके विपरीत अधर्म को अपर कहा जाता है। कालहेतुक—सौ वर्ष का वृद्ध पुरुष पर और सोलह वर्ष का बालक अपर कहा जाता है।

अपरमर्मवेधित्व—अपरमर्मवेधित्वं परमर्मानुद्घट्टनस्वरूपत्वम् । (समवा. अभय. वृत्ति ३५, रायप. वृ. पृ. १६–१७) ।

दूसरे के मर्मस्थान के नहीं भेदने वाले वचन का बोलना, इसका नाम अपरमर्मवेधित्व है ।

अपरविदेह—मेरोः सकाशात् पश्चिमायां दिश्यपरविदेहः । (त. वृत्ति श्रुत. ३–१०) ।

मेरु पर्वत से पश्चिम की ओर जो विदेह क्षेत्र का आधा भाग अवस्थित है वह अपरविदेह कहलाता है ।

अपरसंग्रह—द्रव्यत्वादीन्यवान्तरसामान्यानि मन्वानस्तद्भेदेषु गजनिमीलिकामवलम्बमानः पुनरपरसंग्रहः ॥ धर्माधर्माकाश-काल-पुद्गल-जीवद्रव्याणामैक्यं द्रव्यादिभेदादित्यादिर्यथा ॥ (प्र. न. त. ७, १९–२०; स्याद्वादमं. टी. श्लो. २८; जैनतर्कप. पृ. १२७; नयप्र. पृ. १०१) ।

जो द्रव्यत्व आदि अवान्तर सामान्यों को स्वीकार करता हुआ उनके भेदों की उपेक्षा करता है उसे अपरसंग्रहनय कहते हैं ।

अपरसंग्रहाभास—द्रव्यत्वादिकं प्रतिजानानस्तद्विशेषान् निह्नुवानस्तदाभासः । (प्र. न. त. ७–२१) ।

द्रव्यत्व आदि अवान्तर सामान्यों के मानने वाले तथा उनके विशेष भेदों का परिहार करने वाले नय को अपरसंग्रहाभास कहते हैं ।

अपराजित—१. तैरेव विघ्नहेतुभिर्न पराजिताः अपराजिताः । (त. भा. ४–२०) । २. तैरेव चाभ्युदयविघातहेतुभिर्न पराजिता इत्यपराजिताः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ४–२०) ।

जो विघ्न के कारणों से पराजित न हों, उन्हें अपराजित विमान कहा जाता है ।

अपराध (अवराह)—१. संसिद्धिराधसिद्धी साधिदमाराधिदं च एयट्ठो । अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराहो ॥ (समयप्रा. ३३२) । २. परद्रव्यपरिहारेण शुद्धस्वात्मनः सिद्धिः साधनं वा राधः, अपगतो राधो यस्य भावस्य सोऽपराधः । (समयप्रा. अमृत. वृ. ३३२) ।

२ पर द्रव्यों का परिहार करके शुद्ध आत्मा को सिद्ध करना, इसका नाम राध है । इस प्रकारके राध से जो रहित है उसे अपराध कहते हैं ।

अपरावर्तमाना (प्रकृति)—१. या तु बन्धोदयोभयं प्रति नान्यस्या उपघातं करोति सा अपरावर्तमाना । (पंचसं. स्वो. वृ. ३–४४) । २. यास्त्वन्यस्याः प्रकृतेर्बन्धमुदयमुभयं वाऽनिवार्य स्वकीयं बन्धमुदयमुभयं वा दर्शयन्ति, ता न परावर्तन्त इति कृत्वाऽपरावर्तमाना उच्यन्ते । (शतक. दे. स्वो. टी. १) ।

२ जो प्रकृतियां अन्य प्रकृतियों के बन्ध, उदय या दोनों को ही नहीं रोक कर अपने बन्ध, उदय या दोनों को प्राप्त होती हैं, परिवर्तित नहीं होती हैं, उन्हें अपरावर्तमान प्रकृति कहते हैं ।

अपरिखेदित्व—अपरिखेदित्वं अनायाससम्भवः । (समवा. अभय. वृ. ३५; रायप. वृ. पृ. १७) ।

अनायास - बिना परिश्रम के—ही वचन के निर्गमन को अपरिखेदित्व कहा जाता है । यह सत्य वचन के पैंतीस अतिशयों में चौंतीसवां है ।

अपरिगृहीता—या गणिकात्वेन पुंश्चलीत्वेन वा परपुरुषगमनशीला अस्वामिका सा अपरिगृहीता । (स. सि. ७–२८; त. वा. ७, २८, २; त. सुखबो. वृ. ७–२८; त. वृ. श्रुत. ७–२८) ।

जो पतिविहीन स्त्री गणिका या पुंश्चली रूप से पर पुरुषों के पास आती जाती हो उसे अपरिगृहीता इत्वरिका कहते हैं ।

अपरिगृहीतागमन—१. अपरिगृहीता नाम वेश्या अन्यसक्ता गृहीतभाटी कुलाङ्गना वा अनाथेति, तद्गमनम् अपरिगृहीतागमनम् । (श्रा. प्र. टी. २७३; श्राव. हरि. वृ. ६, पृ. ८२५) । २. वेश्या स्वैरिणी प्रोषितभर्तृकादिरनाथा अपरिगृहीता, तदभिगममाचरतः स्वदारसन्तुष्टस्यातिचारः, न तु निवृत्तपरदारस्य । (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–२३) ।

वेश्या अथवा अन्य पुरुष में आसक्त होकर भाड़े को ग्रहण करने वाली अनाथ व कुलीन स्त्री अपरिगृहीता कहलाती है । इस प्रकारकी अपरिगृहीता स्त्री के साथ समागम करना, यह ब्रह्मचर्य-अणुव्रत का एक अतिचार है ।

अपरिग्रह—१. ममेदंभावो मोहोदयजः परिग्रहः, ततो निवृत्तिरपरिग्रहता । (भ. आ. विजयो. टी. ५७) । २. विज्ञाय जन्तुक्षपणप्रवीणं परिग्रहं यस्तृणवज्जहाति । विमर्दितोद्दामकषायशत्रुः प्रोक्तो मुनीन्द्रैरपरिग्रहोऽसौ ॥ (धर्मप. २०–६१) । ३. सर्वभावेषु मूर्च्छायास्त्यागः स्यादपरिग्रहः । (योगशा.

३–२४; त्रि. श. पु. च. १, ३, ६२६)।

१ मोह के उदय से होने वाले 'ममेदंभाव को— यह मेरा है, इस प्रकार की ममत्वबुद्धि को' परिग्रह कहा जाता है। उस परिग्रह से निवृत्त हो जाना, इसका नाम अपरिग्रहता है।

अपरिग्रहमहाव्रत—धण-धण्णाइवत्थूणं परिग्गह-विवज्जणं। तिविहेणावि जोगेणं पंचमं तं महव्वयं॥ (गु. गु. षट्. स्वो. टी. ३, पृ. १३)।

धन-धान्यादि सर्व प्रकारके परिग्रह का यावज्जीवन मन-वचन-काय से त्याग करने को अपरिग्रहमहाव्रत कहते हैं।

अपरिणत दोष—१. तिलतंडुलउसणोदय चणोदय तुसोदयं अविद्धत्थं। अण्णं तहाविहं वा अपरिणदं णेव गेण्हिज्जो॥ (मूला. ६–५४)। २. तथाऽपरिणतोऽविध्वस्तोऽग्न्यादिकेनापक्वः, तमाहारं पानादिकं वा यद्यादत्तेऽपरिणतनामाशनदोषः। (मूला. वृ. ६–४३)। ३. देयद्रव्यं मिश्रमचित्तत्वेनापरिणमनादपरिणतम्। (योगशा. स्वो. विव. वृ. १–३८, पृ. १३७)। ४. तुपचणतिलतण्डुलजलमुष्णजलं च स्ववर्णगन्धरसैः। अरहितमपरमपीदृशमपरिणतम् ××× ॥ (अन. ध. ५–३२)।

२ अग्नि आदि से जिन पदार्थों के रूप, रस, गन्ध आदि नहीं बदले हैं, ऐसे पदार्थों को आहार में ग्रहण करने पर अपरिणत दोष होता है।

अपरिणामक साधु—जो दव्व-खेत्तकयकाल-भाव-ओ जं जहा जिणक्खायं। तं तह असद्दहंतं जाण अपरिणामयं साहुं॥ (बृहत्क. ७९४)।

जिनदेव ने जिस वस्तु को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा जैसा कहा है उसका उसी प्रकार से श्रद्धान नहीं करने वाले साधु को अपरिणामक कहते हैं।

अपरिमितकाल सामायिक—ईर्यापथादौ (सामायिकग्रहणं) अपरिमितकालं वेदितव्यम्। (त. वृ. श्रुत. ६–१८)।

ईर्यापथ आदि में जिस सामायिक को ग्रहण किया जाता है वह अपरिमितकाल सामायिक कहलाती है।

अपरिवर्तमान परिणाम—अणुसमयं वड्ढमाणा हायमाणा च जे संकिलेस-विसोहिपरिणामा ते अपरियत्तमाणा णाम। (धव. पु. १२, पृ. २७)।

प्रतिसमय वर्धमान या हीयमान संक्लेश व विशुद्ध परिणामों को अपरिवर्तमान परिणाम कहते हैं।

अपरिश्राविन् (आचार्य)—जो अन्नस्स वि दोसे न कहेइ अ सो अपरिसावी। (गु. गु. षट्. स्वो. टी. ७, पृ. २८)।

जो पुरुष दूसरों के भी दोषों को न कहे, उसे अपरिश्रावी कहते हैं।

अपरिश्राविन् (स्नातक)—निष्क्रियत्वात् सकलयोगनिरोधे त्वपरिश्रावी। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–४९)।

योगों का निरोध हो जाने पर सर्व प्रकारके कर्मास्रव से रहित हुए अयोगिकेवली को अपरिश्रावी स्नातक कहते हैं।

अपरीक्षित प्रतिसेवना—१. अपरिच्छियत्ति कज्जाकज्जाइं अपरिक्खिउं सेवइ। (जीत. चू. पृ. ३, पं. १६)। २. आय-व्ययमपरीक्ष्य पडिसेवणा। (जीत. चू. वि. व्या. पृ. ३४, ७)।

अपने आय-व्यय का विचार न करके जो अपवाद—विशेष नियम—में प्रवृत्त होता है, इसे अपरीक्षित प्रतिसेवना कहते हैं।

अपरीक्षी—अपरीक्षी युक्तायुक्तपरीक्षाविकलः। (व्यव. भा. मलय. वृ. ६३४, पृ. ८४)।

योग्य-अयोग्य की परीक्षा से रहित व्यक्ति अपरीक्षी कहलाता है।

अपरीतसंसार—१. संसारअपरित्ते दु० प० त० अणादीए वा सपज्जवसिते अणादीए वा अपज्जवसिते। (प्रज्ञाप. १८–२४७)। २. अणादियमिच्छादिट्ठी अपरित्तसंसारो अधापवत्तकरणं अपुव्वकरणं अणियट्टिकरणमिदि एदाणि तिण्णि करणाणि कादूण सम्मत्तं गहिदपढमसमए चेव सम्मत्तगुणेण पुव्विल्लो अपरित्तो संसारो ओहट्टिदूण परित्तो पोग्गलपरियट्टस्स अद्धमेत्तो होदूण उक्कस्सेण चिट्ठदि। (धव. पु. ४, पृ. ३३५)। ३. संसारापरीतः सम्यक्त्वादिना अकृतपरिमितसंसारः। ××× संसारापरीतो द्विधा—अनाद्यपर्यवसितो यो न कदाचनापि संसारव्यवच्छेदं करिष्यति, यस्तु करिष्यति सो अनादि-सपर्यवसितः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १८–२४७, पृ. ३९४)।

२ अनादि मिथ्यादृष्टि जीव अपरीतसंसार—अनन्तसंसार की परमिततासे रहित—कहलाता है। ३ जिसने सम्यक्त्व आदि के द्वारा संसार को परि-

मित नहीं किया है वह अपरीतसंसार या संसारापरीत कहलाता है। वह अनादि-अपर्यवसित और सादि-सपर्यवसित के भेद से दो प्रकारका है। जिसका संसार अनादि होकर कभी अन्त को प्राप्त होने वाला नहीं है—जैसे अभव्य जीव का—वह अनादि-अपर्यवसित अपरीतसंसार कहलाता है। और जिसका संसार अनादि होकर भी अन्त को प्राप्त होने वाला है—जैसे भव्य जीव का—उसका नाम अनादि-सपर्यवसित अपरीतसंसार है।

अपर्याप्त—१. अपर्याप्ता आहार-शरीरेन्द्रिय-प्राणापान-भाषा-मनःपर्याप्तिभी रहिताः। (श्रा. प्र. टी. ७०)। २. अपर्याप्तकनामकर्मोदयादनिष्पन्न-पर्याप्तियोगादपर्याप्तास्त एवापर्याप्तका इति। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ४४)। ३. अपर्याप्तनामकर्मोदयजनितशक्त्याविर्भावितवृत्तयः अपर्याप्ताः। (धव. पु. १, पृ. २६७); अपज्जत्तणामकम्मोदयसहिद-पुढविकाइयादओ अपज्जत्ता त्ति घेत्तव्वा, णाणिप्पण्णसरीरा; पज्जत्तणामकम्मोदय [ये] अणिप्पण्णसरीराणं पि गहणप्पसंगादो।(धव. पु. ३, पृ. ३३१); अपज्जत्तणामकम्मोदएण अपज्जत्ता भण्णंति। (धव. पु. ६, पृ. ४१९)। ४. तद्विपक्षनामोदयादपर्याप्तकाः। (पंचसं. स्वो. वृ. ३–९)। ५. ये पुनः स्वयोग्यपर्याप्तिविकलास्ते अपर्याप्ताः। (पंचसं. मलय. वृ. १–५)। ६. ये पुनः स्वयोग्यपर्याप्ति-परिसमाप्तिविकलास्तेऽपर्याप्तकाः। (षडशी. दे. स्वो. वृ. २)। ७. अपर्याप्तनामकर्मोदयादपर्याप्तका ये स्वपर्याप्तीर्न पूरयन्तीति। (स्थाना. अभय. वृ. २, १, ७३)। ८. अपर्याप्तकजीवस्तु नाश्नुते वपुः-पूर्णताम्। अपर्याप्तकसंज्ञस्य तद्विपक्षस्य पाकतः॥ (लाटीसं. ५–७९)।

३ जो पृथिवीकायिक आदि जीव अपर्याप्त नामकर्म के उदय से सहित होते हैं उन्हें अपर्याप्त कहा जाता है। जिन जीवों का शरीर पूर्ण नहीं हुआ है, उन्हें अपर्याप्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अन्यथा पर्याप्त नामकर्म के उदय में भी जिनका शरीर पूर्ण नहीं हुआ है उनके भी अपर्याप्त होने का प्रसंग प्राप्त होता है।

अपर्याप्तनाम—१. जस्स कम्मस्स उदएण जीवो पज्जत्तीओ समाणेदुं ण सक्कदि तस्स कम्मस्स अपज्जत्तणामसण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ६२)। २. ता एव षड् यथास्वं शक्तयो विकला अपर्याप्तयस्ता यस्योदयाद् भवन्ति तदपर्याप्तकनाम। (कर्मस्त. गो. वृ. ९–१०; शतकप्र. मल. हे. वृ. ३८, पृ. ५०)। ३. यदुदयाच्च स्वयोग्यपर्याप्ति-परिसमाप्तिसमर्थो न भवति तदपर्याप्तकनाम। (प्रव. सारो टी. गा. १२६४; पृ. ३६५)। ४. यदुदयात् स्वयोग्यपर्याप्तिपरिसमाप्तिविकला जन्तवो भवन्ति तदपर्याप्तिनाम। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ५०)। ५. पर्याप्तकनामविपरीतमपर्याप्तकनाम यदुदयात् स्वयोग्यपर्याप्तिपरिसमाप्तिसमर्थो न भवति। (कर्मवि. मलय. वृ. ५)। ६. अपर्याप्तकनाम उक्तविपरीतम्—यदुदयात् सम्पूर्णपर्याप्त्यनिष्पत्तिर्भवति। (धर्मसं. मलय. वृ. गा. ६१९)। ७. षड्विधपर्याप्त्यभावहेतुरपर्याप्तनाम। (भ. आ. मूला. टी. २१२४)। ८. यस्योदये स्वपर्याप्तिभिरपरिपूर्णो भवति, न्यून एव कालं करोति, तदपर्याप्तनाम च ज्ञातव्यम्। (कर्मवि. पू. व्याख्या ७३, पृ. ३३)।

१ जिस कर्म के उदय से जीव अपनी यथायोग्य पर्याप्तियों को पूरा न कर सके, उसे अपर्याप्त नामकर्म कहते हैं।

अपर्याप्ति—एतासां (पर्याप्तीनां) अनिष्पत्तिरपर्याप्तिः। (धव. पु. १, पृ. २५६); पर्याप्तीनामर्धनिष्पन्नावस्था अपर्याप्तिः। (धव. पु. १, पृ. २५७)।

पर्याप्तियों की अपूर्णता अथवा उनकी अर्धपूर्णता का नाम अपर्याप्ति है।

अपर्याप्तिनाम— १. षड्विधपर्याप्त्यभावहेतुरपर्याप्तिनाम। (स. सि. ८–११; त. वा. ८, ११, ३३; त. श्लो. ८–११)। २. अपर्याप्तिनिर्वर्तकम-पर्याप्तिनाम, (अपर्याप्तिनाम) तत्परिणामयोग्य-दलिकद्रव्यमात्मनोपात्तमित्यर्थः। (त. भा. ८–१२)। ३. यदुदयेन अपरिपूर्णोऽपि जीवो म्रियते तदपर्याप्तिनाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८–११)।

१ छह प्रकारकी अपर्याप्तियों के अभाव का जो कारण है उसे अपर्याप्ति नामकर्म कहते हैं।

अपलाप—१. कस्यचित्सकाशे श्रुतमधीत्यान्यो गुरुरित्यभिधानमपलापः। (भ. आ. विजयो. टी. ११३)। किसी के पास में आगम को पढ़कर अन्य गुरु का

नाम बतलाना अपलाप कहलाता है।

अपवर्ग—१. तद्भावे(रागादिप्रक्षये)ऽपवर्गः। स आत्यन्तिको दुःखविगम इति। (धर्मवि. २, ७४–७५)। अपवर्गो फलं यस्य जन्म-मृत्यादिवर्जितः। परमानन्दरूपश्च × × ×)। (धर्मवि. श्लोक ५–२६, पृ. ६३)। २. अपवृज्यन्ते उच्छिद्यन्ते जाति-जरा-मरणादयो दोषा अस्मिन्नित्यपवर्गः मोक्षः। (धर्मवि. मु. च. वृ. १, श्लोक २)।

जहां जन्म, जरा और मरणादि दोषों का अत्यन्त विनाश हो जाता है ऐसे मोक्ष का नाम अपवर्ग है।

अपवर्त—बाह्यप्रत्ययवशादायुषो ह्रासोऽपवर्तः। बाह्यस्योपघातनिमित्तस्य विष-शस्त्रादेः सति सन्निधाने ह्रासोऽपवर्त इत्युच्यते। (त. वा. २, ५३, ५)।

आयुविघात के बाह्य निमित्तरूप जो विष व शस्त्र आदि हैं उनकी समीपता के होने पर जो उस (आयुस्थिति) में कमी होती है उसका नाम अपवर्त है।

अपवर्तन—देखो अपकर्षण व अपवर्तना। १. अपवर्तनं शीघ्रमन्तर्मुहूर्तात् कर्मफलोपभोगः। (त. भा. २-५२)। २. अपवर्तनं स्थिति-रसह्रापनम्। (षडशी. हरि. वृ. ११)। ३. अपवर्तनं स्वप्रकृतावेव स्थितेः ह्रस्वीकरणं प्रकृत्यन्तरे वा स्थितेर्नयनम्। (पंचसं. स्वो. वृ. संक्रम. गा. ३५)। ४. शीघ्रं यः सकलायुष्ककर्मफलोपभोगस्तदपवर्तनम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. २–५१)। ५. अपवर्तनं स्थितिह्रासः। विशेषा. वृ. गा. ३०१५)। ६. अपवर्तनं दीर्घकालवेद्यस्यायुषः स्वल्पकालवेद्यतापादनम्। (संग्रहणी. दे. वृ. २५६)। ७. अपवर्तनं तेषामेव कर्मपरमाणूनां दीर्घस्थितिकालतामपगमय्य ह्रस्वस्थितिकालतया व्यवस्थापनम्। (पंचसं. मलय. वृ. संक्रम. गा. ३५)।

३ अपनी प्रकृति में ही स्थिति के कम करने अथवा अन्य प्रकृति में उस स्थिति के ले जाने को अपवर्तन कहा जाता है।

अपवर्तना—१. आ बंधा उक्कड्डइ सव्वहितोकड्डणा ठिइ-रसाणं। किट्टीवज्जे उभयं किट्टीसु ओवट्टणा णवरं। (कर्मप्र. २२३) २. अपवर्तना नाम प्राक्तनजन्मविरचितस्थितेरल्पतापादनमध्यवसानादिविशेषात्। (त. भा. सिद्ध. वृ. २–५१)। ३. ह्रस्वीकरणमपवर्तनाकरणम्। (पंचसं. स्वो. वृ. बन्ध.क.गा.१)। ४. ह्रस्वीकरणमोवट्टणाकरणम्। (कर्मप्र. चू.बन्ध.क. गा. २)। ५. अपवर्त्यते ह्रस्वीक्रियते स्थित्यनुभागौ यया सा अपवर्तना। (पंचसं. मलय. वृ. गा. १–१)। ६. तयोरेव (स्थित्यनुभागयोः) ह्रस्वीकरणमपवर्तना। अपवर्त्यते ह्रस्वीक्रियते स्थित्यादि यया साऽपवर्तना। (कर्मप्र. मलय. वृ. गा. १–२)। ७. अपवर्त्येते ह्रस्वीक्रियेते तौ यया साऽप्रवर्तना। (कर्मप्र. यशो. टी. गा. १–२)।

१ सर्वत्र—बन्धावन्धकाल में—जो स्थिति और अनुभाग की अपवर्तना होती है—उन्हें कम किया जाता है, इसका नाम अपवर्तना या अपकर्षण है।

अपवर्तनासंक्रम—प्रभूतस्य सतः स्तोकीकरणमपवर्तनासंक्रमः। (पंचसं. मलय. वृ. संक्रम. गा. ५७)।

जिसके द्वारा कर्मों की प्रचुर स्थिति और अनुभाग को कम किया जाय उसे अपवर्तनासंक्रम कहते हैं।

अपवर्त्य— १. बाह्यस्योपघातनिमित्तस्य विषशस्त्रादेः सन्निधाने ह्रस्वं भवतीत्यपवर्त्यम्। (स. सि. २–५३)। २. विष-शस्त्र-वेदनादिबाह्यनिमित्तविशेषेणापवर्त्यते ह्रस्वीक्रियते इत्यपवर्त्यम्, अपवर्तनीयमित्यर्थः। (त. सुखबो. २–५३)।

१ जो आयु उपघात के कारणभूत विष-शस्त्रादिरूप बाह्य निमित्त के मिलने पर हानि को प्राप्त हो सकती है वह अपवर्त्य आयु कहलाती है।

अपवाद—१. × × × रहियस्स तमववाओ उचियं चियरस्स × × × ॥ (उप. पद ७८४)। २. बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लानेन शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसंयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो यथा न स्यात्तथा बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लानस्य स्वस्य योग्यं मृद्वेवाचरणमाचरणीयमित्यपवादः। (प्रव. सा. अमृत. वृ. ३–३०)। ३. रहितस्य द्रव्यादिभिरेव तदनुष्ठानमपवादो भण्यते। कीदृशमित्याह—उचितमेव पञ्चकादिपरिहाण्या तथाविधान्नपानाद्यासेवनारूपम्। कस्येत्याह—इतरस्य द्रव्यादियुक्तापेक्षया तद्रहितस्यैव। तद्रहितस्य पुनस्तदौचित्येनैव च यदनुष्ठानं सोऽपवादः। (उप. पद मु. टी. ७८४)। ४. विशेषोक्तौ विधिरवादः। (द. प्रा. टी. २४)।

२ सामान्य विधि का निर्देश कर देने पर पश्चात् आवश्यकता के अनुसार जो उसमें यथायोग्य विशेषता का विधान किया जाता है, इसका नाम अपवाद है। जैसे—शुद्ध आत्मतत्त्व का साधन संयम है और उस संयम का मूल कारण शरीर है। अतएव जो साधु बाल है, वृद्ध है, श्रान्त (थका

हुआ) है, अथवा रोगपीड़ित है; उसके द्वारा संयम के मूल साधनभूत उस शरीर का जिस प्रकार विनाश न हो, इस प्रकार से कुछ मृदु (शिथिल) संयम भी आचरण योग्य है; इस प्रकारका विशेष विधान।

अपवादसापेक्ष उत्सर्ग—वाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लानेन संयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमाचरणमाचरता शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसंयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा वाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लानस्य स्वस्य योग्यं मृद्वप्याचरणमाचरणीयमित्यपवादसापेक्ष उत्सर्गः ।। (प्रव. सा. अमृत. वृ. ३-३०, पृ. ३१४)।

वाल, वृद्ध, श्रान्त और रोगपीड़ित साधु के द्वारा शुद्ध आत्मतत्त्व का साधन होने से मूलभूत संयम का जिस प्रकार विनाश न हो, इस प्रकार संयत के अपने योग्य अतिशय कठोर आचरण के करते हुए भी उक्त संयम के मूल साधनभूत शरीर का जिस प्रकार से विनाश न हो; इस प्रकार उक्त वाल, वृद्ध, श्रान्त व रुग्ण साधु के द्वारा अपने योग्य मृदु भी आचरण आचरणीय होता है; इस प्रकारका विधान अपवादसापेक्ष-उत्सर्ग कहलाता है।

अपवादिक लिङ्ग — यतीनामपवादकारणत्वात् परिग्रहोऽपवादः। अपवादो यस्य विद्यत इत्यपवादिकं परिग्रहसहितं लिङ्गमस्येत्यपवादिकलिङ्गम्। (भ. आ. विजयो. व मूला. टी. ७७)।

साधु के लिए अपवाद का कारण होने से परिग्रह अपवाद है, अतः उस परिग्रह-सहित वेष को अपवादिक लिङ्ग कहा जाता है।

अपवृद्धि—संजमासंजम-संजमलद्धीहिंतो हेट्ठा परिवदमाणस्स संकिलेसवसेण पडिसमयमणंतगुणहाणिपरिणामो ओवड्ढित्ति भण्णदे। (जयध. पत्र ८१६)।

संयमासंयम और संयम लब्धियों से च्युत होते हुए जीव के जो संक्लेश के वश प्रतिसमय अनन्तगुणित हानिरूप परिणाम होते हैं, इसका नाम अपवृद्धि है।

अपहृत (त्य) संयम—१. अपहृतसंयमस्त्रिविधः—उत्कृष्टो मध्यमो जघन्यश्चेति। तत्र प्रासुकवसत्याहारमात्रवाह्यसाधनस्य स्वाधीनेतरज्ञानचरणकरणस्य वाह्यजन्तूपनिपाते आत्मानं ततोऽपहृत्य जीवान् परिपालयत उत्कृष्टः। मृदुना प्रमृज्य जन्तून् परिहरतो मध्यमः। उपकरणान्तरेच्छया जघन्यः। (त. वा. ९, ६, १५; त. श्लो. वा. ९–६; त. वृ. श्रुत. ९–६; कार्तिके. टी. ३९९)। २. प्राणीन्द्रियपरिहारोऽपहृतसंयमः। (चा. सा. पृ. ३२)। ३. अपहृत्यसंयम इति—प्रोज्झ्य परिवर्ज्य संयमं लभते, वस्त्र-पात्राद्यतिरिक्तमनुपकारकं चरणस्य वर्जयतः संयमलाभः। भक्त-पानादि वा संसक्तं विधिना परित्यज्यत इति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–६)। ४. अपहरणमपनयनं पञ्चेन्द्रिय - द्वीन्द्रियादीनामपनयनमुपकरणेभ्योऽन्यत्र संक्षेपणमु[म]पवर्तनम्, तस्य संयमः निराकरणम्, उदरकृम्यादिकस्य वा निराकरणमपहरणसंयमः। (मूला. वृ. ५–२२०)।

अपहृतसंयम उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से तीन प्रकारका है। उनमें प्रासुक वसति व आहार मात्र वाह्य साधनों से सहित होते हुए वाहिरी जीवों के आने पर उनसे अपने आपको दूर कर उनकी रक्षा करते हुए निर्दोष संयम के पालन करने को उत्कृष्ट अपहृतसंयम कहते हैं। मोरपिच्छी जैसे मृदु उपकरण से जीवों को दूर करना मध्यम अपहृतसंयम है। अन्य उपकरण से जीवों को दूर करना जघन्य अपहृतसंयम है।

अपात्र—१. गतकृपः प्रणिहन्ति शरीरिणो वदति यो वितथं परुषं वचः। हरति वित्तमदत्तमनेकधा मदनवाणहतो भजतेऽङ्गनाम् ।। विविधदोषविधायिपरिग्रहः पिवति मद्यमयंत्रितमानसः। कृमिकुलाकुलितं ग्रसते पलं कलिलकर्मविधानविशारदः ।। दृढकुटुम्बपरिग्रहपञ्जरः प्रशमशीलगुणव्रतवर्जितः। गुरुकषाय-भुजङ्गमसेवितो विषयलोलमपात्रमुशन्ति तम् ।। (अमित. श्रा. ३६–३८)। २. अपात्रः सम्यक्त्वरहितप्राणी। (सा. ध. स्वो. टी. २–६७)। ३. व्रतसम्यक्त्वनिर्मुक्तो रागद्वेषसमन्वितः। सोऽपात्रं भण्यते जैनैर्यो मिथ्यात्वपटावृतः ।। (पूज्य. उपा. ४८)।

२ जो सम्यक्त्व से रहित हो उसे अपात्र कहते हैं।

अपान—१. तेनैव (वीर्यान्तराय-ज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामोदयापेक्षिणा) आत्मना वाह्यो वायुरभ्यन्तरीक्रियमाणो निःश्वासलक्षणोऽपानः। (स. सि. ५–१९; त. वा. ५, १९, ३६; त. वृत्ति श्रुत. ५–१९; कार्तिके. टीका २०९)। २. अपा-

गतिसमीरणोऽपानः। (त. भा. हरि. वृ. ८–१२)। ३. अपानः कृष्णरुगमन्यापृष्ठपृष्ठान्तपार्ष्णिगः। (योगशा. ५–१६)। ५. मूत्र-पुरीषगर्भादीनपनयतीत्यपानः। (योगशा. स्वो. विव. ५–१३)।

वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम तथा अंगोपांग नामकर्म के उदय युक्त आत्मा के द्वारा जो बाहिरी वायु भीतर की जाती है, उसका नाम अपान है।

अपाय—देखो अवाय। १. अभ्युदय-निःश्रेयसार्थानां क्रियाणां विनाशकप्रयोगोऽपायः। (स. सि. ७–९)। २. **अभ्युदय-निःश्रेयसार्थानां नाशकोऽपायो भयं वा॥** अभ्युदय-निःश्रेयसार्थानां क्रियासाधनानां नाशकोऽनर्थोऽपाय इत्युच्यते, अथवा ऐहलौकिकादिसप्तविधं भयमपाय इति कथ्यते। (त. वा. ७, ९, १; त. सुखबो. वृ. ७–९)।

२ अभ्युदय और निःश्रेयस की साधक क्रियाओं के विनाशक प्रयोग को अथवा ऐहलौकिक आदि सात प्रकारके भय को अपाय कहते हैं।

अपायदर्शी—इह-परलोयावाए दंसेइ अवायदंसी हु। (गु. गु. ष. स्वो. वृ. ७, पृ. २८)।

इस लोक और पर लोक में पाप के फल रूप अपाय (विनाश) के देखने वाले पुरुष को अपायदर्शी कहते हैं।

अपायविचय—१. कल्लाणपावगाओ पाए विचणादि जिणमदमुविच्च। विचणादि वा अपाये जीवाण सुहे य असुहे य॥ (मूला. ५–२०३; भ. आ. १७१२)। २. जात्यन्धवन्मिथ्यादृष्टयः सर्वज्ञप्रणीतमार्गाद्विमुखा मोक्षार्थिनः सम्यङ्मार्गापरिज्ञानात्सुदूरमेवापयन्तीति सन्मार्गापायचिन्तनमपायविचयः। अथवा, मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रेभ्यः कथं नाम इमे प्राणिनोऽपेयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचयः। (स. सि. ९–३६; भ. आ. मूला. टी. १७०९)। ३. **सन्मार्गापायचिन्तनमपायविचयः।** मिथ्यादर्शनपिहितचक्षुषाम् आचार-विनयाप्रमादविषयः संसारविवृद्धये भवन्त्यविद्याबाहुल्यादन्धवत्। तद्यथा—जात्यन्धा बलवन्तोऽपि सत्पथात्प्रच्युताः कुशलमार्गादेशकेनाननुष्ठिताः नीचोन्नतशैलविषमोपलकठिनस्थाणुनिहितकण्टकाकुलाटवीदुर्गपतिताः परिस्पन्दवन्तोऽपि न तत्त्वमार्गमनुसर्तुमर्हन्ति, देशकाभावात्। तथा सर्वज्ञप्रणीतमार्गाद्विमुखा मोक्षार्थिनः सम्यङ्मार्गापरिज्ञानात्सुदूरमेवापयन्तीति सन्मार्गापायचिन्तनमपायविचयः। **असन्मार्गापायसमाधानं वा।** अथवा मिथ्यादर्शनाकुलितचेतोभिः प्रवादिभिः प्रणीतादुन्मार्गात् कथं नाम इमे प्राणिनोऽपेयुः, अनायतनसेवापायो वा कथं स्यात्, पापकरणवचनभावनाविनिवृत्तिर्वा कथमुपजायते इत्यपायार्पितचिन्तनमपायविचयः। (त. वा. ९, ३६, ६–७)। ४. अपाया विपदः शारीर-मानसानि दुःखानीति पर्यायाः, तेषां विचयः अन्वेषणम्। (त. भा. हरि. वृ. ९–३७; त. भा. सि. वृ. ९–३७)। ५. अपायविचयं नाम मिच्छादरिसणाविरइ-पमाद-कसाय-जोगा संसारबीजभूया दुक्खावहा अइभयाणय त्ति वा जाणिऊण वज्जेयव्व त्ति झायइ। (दशवै. चू. अ. १, पृ. ३२)। ६. आस्रव-विकथा-गौरव-परीषहाद्येष्वपायस्तु॥ (प्रशमर. श्लो. २४८)। ७. संसारहेतवः प्रायस्त्रियोगानां प्रवृत्तयः। अपायो वर्जनं तासां स मे स्यात् कथमित्यलम्॥ चिन्ताप्रबन्धसम्बन्धः शुभलेश्यानुरञ्जितः। अपायविचयाख्यं तत्प्रथमं धर्म्यमीप्सितम्॥ (ह. पु. ५६, ३९–४०)। ८. मिच्छत्तासंजम-कसाय-जोगजणिदकम्मसमुप्पण्णजाइ-जरा-मरण-वेयणाणुसरणं तेहिंतो अवायचिन्तणं च अवायविचयं णाम धम्मज्झाणं। एत्थ गाहाओ—रागद्दोसकसायासवादिकिरियासु वट्टमाणाणं। इह-परलोगावाए झाएज्जो वज्जपरिवज्जी। कल्लाणपावगा जे उवाए विचिणादि जिणमयमुवेच्च। विचिणादि वा अवाए जीवाणं जे सुहा असुहा॥ (धव. पु. १३, पृ. ७२ उ.)। ९. तापत्रयादिजन्माब्धिगतापायविचिन्तनम्। तदपायप्रतीकारचिन्तोपायानुचिन्तनम्॥ (म. पु. २१–४२)। १०. असन्मार्गादपायः स्यादनपायः स्वमार्गतः। स एवोपाय इत्येष ततो भेदेन नोदितः॥ (त. श्लो. ९, ३६, ३)। ११. अनादौ संसारे स्वैरं मनोवाक्कायवृत्तेर्ममाशुभमनोवाक्कायस्यापायः कथं स्यादित्यपाये विचयो मीमांसा अस्मिन्नस्तीत्यपायविचयं द्वितीयं धर्म्यध्यानम्। जात्यन्धसंस्थानीया मिथ्यादृष्टयः समीचीनमुक्तिमार्गापरिज्ञानाद् दूरमेवापयन्ति मार्गादिति सन्मार्गापाये प्राणिनां विचयो विचारो यस्मिंस्तदपायविचयम्। मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्रेभ्यः कथमिमे प्राणिनोऽपेयुरिति स्मृतिसमन्वाहारोऽपायविचयः। (भ. आ. विजयो. टी. १७०८)। १२. कथं मार्गं प्रपद्येरन्नमी

उन्मार्गतो जनाः। अपायमिति या चिन्ता तदपायविचारणम्। (त. सा. ७–४१)। १३. अपायविचयं ध्यानं तद्वदन्ति मनीषिणः। अपायः कर्मणो यत्र सोऽपायः स्मर्यते बुधैः। (ज्ञाना. ३४–१)। १४. तत्रापायविचयं नामानाद्याजवंजवे यथेष्टचारिणो जीवस्य मनोवाक्कायविशेषोपार्जितपापानां परिवर्जनं तत्कथं नाम मे स्यादिति संकल्पश्चिन्ताप्रबन्धः प्रथमं धर्म्यम्। (चा. सा. पृ. ७७)। १५. भेदाभेदरत्नत्रयभावनाबलेनास्माकं परेषां वा कदा कर्मणामपायो विनाशो भविष्यतीति चिन्तनमपायविचयं ज्ञातव्यम्। (बृ. द्रव्यसं. ४८; कार्तिके. टीका ४८२)। १६. एवं रागद्वेषमोहैर्जायमानान् विचिन्तयेत्। यत्रापायांस्तदपायविचयध्यानमिष्यते ॥ (त्रि. श. पु. च. २, ३, ४५६; योगशा. १०–१०; गु. गु. ष. स्वो. टी. २, पृ. १०)। १७. दुःकर्मात्मदुरीहितैरुपचितं मिथ्याविरत्यादिभिर्व्यापज्जन्म-जरा-मृतिप्रभृतयो वाऽपाय एनःकृताः। जीवेऽनादिभवे भवेत्कथमतोऽपायादपायः कदा कस्मिन् केन ममेत्यपायविचयः सत्कारणादीक्षणम् ॥ (आचा. सा. १०–३०)। १८. असुहकम्मस्स णासो सुहस्स वा होइ केणुवाएण। इय चिंततस्स हवे अवायविचयं परं झाणं ॥ (भावसं. दे. ३६८)। १९. शुभाशुभकर्मभ्यः कथमपायो जीवानां भवेदित्यपायविचयं ध्यायतीत्यर्थः। (भ.आ. मूला. टी. १७१२)। २०. कर्मात्मनोः सर्वथा विश्लेषोऽयमपायः, विचयस्तद्भावनी भावना। (आत्मप्र. ८८)। २१. एवं सन्मार्गापायः स्यादिति चिन्तनमपायविचयः, सन्मार्गापायो नैवमिति वा। (त. सुखबो. वृ. ९, ३६)। २२. अपायश्चिन्त्यते वाढं यः शुभाशुभकर्मणाम्। अपायविचयं × × × ॥ (भावसं. वाम. ६४०)। २३. मिथ्यादृष्टयो जन्मान्धसदृशाः सर्वज्ञवीतरागप्रणीतसन्मार्गपराङ्मुखाः मोक्षमाकाङ्क्षन्ति, तस्य तु मार्गं न सम्यक् परिजानते, तं मार्गमतिदूरं परिहरन्तीति सन्मार्गविनाशचिन्तनमपायविचयः उच्यते। अथवा मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्राणाम् अपायो विनाशः कथममीषां प्राणिनां भविष्यतीति स्मृतिसमन्वाहारो ऽपायविचयो भण्यते। (त. वृ. श्रुत. ९–३६)। २४. रागद्वेषकषायास्रवादिक्रियासु प्रवर्तमानानामिह-परलोकयोरपायान् ध्यायेदिति अपायविचयः। (धर्मसं. वृत्ति ३–२७, पृ. ८०)। २५. आस्रवविकथागौरवपरीषहाद्यैरपायस्तु। (लोकप्र. ३०–४५९)। २६. अपायविचयं नाम अनादिसंसारे यथेष्टचारिणो जीवस्य मनोवाक्कायप्रवृत्तिविशेषोपार्जितपापानां परिवर्जनम्, तत्कथं नाम मे स्यादिति। अथवा मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेभ्यः स्वजीवस्य अन्येषां वा कथम् अपायः विनाशः स्यादिति सङ्कल्पश्चिन्ताप्रबन्धः प्रथमं धर्म्यम्। (कार्तिके. टी. ४८२)।

१ जिनमत का आश्रय लेकर कल्याणप्रापक उपायों का—सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का—चिन्तन करना; इसका नाम अपायविचय है। अथवा अपायों का—कर्मापगम स्वरूप स्थितिखण्डन, अनुभागखण्डन, उत्कर्षण और अपकर्षण का—तथा जीवों के सुख व दुख का विचार करना, इसे अपायविचय धर्मध्यान कहा जाता है।

अपायानुप्रेक्षा—अपायानां प्राणातिपाताद्याश्रवद्वारजन्यानामनर्थानामनुप्रेक्षा अनुचिन्तनमपायानुप्रेक्षा। (औप. अभय. वृ. २०, पृ. ४५)।

अपायों का—हिंसादिरूप आश्रवद्वारों से उत्पन्न होने वाले अनर्थों का—वार वार विचार करना, इसका नाम अपायानुप्रेक्षा है।

अपार्थक — पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बन्धार्थमपार्थकम्। यथा दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाजिनं पललपिण्डः त्वर कीटिके दिशमुदीचीं स्पर्शनकस्य पिता प्रतिसीन इत्यादि। (आव. हरि. व मलय. वृ. ८८१)।

पूर्वापर सम्बन्ध से रहित होने के कारण असम्बद्ध अर्थ वाले शब्दसमूह को अपार्थक कहते हैं। जैसे—दस अनार छह पूआ कुण्ड बकरी का चमड़ा मांसपिण्ड हे कीडी शीघ्रता कर उत्तर दिशा को स्पर्शन का पिता प्रतिसीन, इत्यादि असम्बद्ध प्रलाप। यह सूत्र के ३२ दोषों में चौथा दोष है।

अपूर्वकरण—१. ततः परमपूर्वकरणम्, अप्राप्तपूर्वं तादृगध्यवसायान्तरं जीवेनेत्यपूर्वकरणमुच्यते ग्रन्थि विदारयताम्। (त. भा. हरि. वृ. १–३, पृ. २५)। २. करणाः परिणामाः, न पूर्वाः अपूर्वाः—नानाजीवापेक्षया प्रतिसमयमादितः क्रमप्रवृद्धासंख्येयलोकपरिणामस्यास्य गुणस्यान्तर्विवक्षितसमयवर्तिप्राणिनो व्यतिरिच्यान्यसमयवर्तिप्राणिभिरप्राप्या अपूर्वाः, अत्रतनपरिणामैरसमाना इति यावत्; अपूर्वाश्च ते करणाश्चापूर्वकरणाः। (धव. १, पृ. १८०); करणं

परिणामः; अपुव्वाणि च ताणि करणानि च अपुव्व-करणानि, असमानपरिणामा त्ति जं उत्तं होदि। (धव. पु. ६, पृ. २२१)। ३. अपूर्वाः समये समये अन्ये शुद्धतराः, करणाः यत्र तदपूर्वकरणम्। (पंचसं. अमित. १–२८८, पृ. ३८; अन. ध. स्वो. टी. २–४७)। ४. अप्राप्तपूर्वमपूर्वं स्थितिघात-रसघाताद्य-पूर्वार्थनिवर्तकं वा अपूर्वकम्, तच्च करणं च अपूर्व-करणम्। (आव. मलय. वृ. नि. १०६)। ५. अपूर्वम् अभिनवम्, अनन्यसदृशमिति यावत्, करणं स्थितिघात-रसघात-गुणश्रेणि-गुणसङ्क्रम-स्थितिबन्धानां पञ्चानामर्थानां निवर्तनं यस्यासावपूर्वकरणः। (पंचसं. मलय. वृ. १–१५; कर्मस्त. दे. स्वो. टी. २; धर्मवि. मु. वृ. ८–५। ६. अपूर्वात्मगुणाप्ति-त्वादपूर्वकरणं मतम्। (गुण. क्र. ३७)। ७. येना-प्राप्तपूर्वेण अध्यवसायविशेषेण तं ग्रन्थिं घनरागद्वेष-परिणतिरूपं भेत्तुमारभते तदपूर्वकरणम्। (गुण. क्र. टी. २२)। ८. अपूर्वाणि करणानि स्थितिं यावत् रसघात-गुणश्रेणि-स्थितिबन्धादीनां निर्वर्तनानि यस्मिन् तदपूर्वकरणम्। (ज्ञानसार वृ. ५–६)।

२ मोहकर्म के उपशम या क्षपणा को प्रारम्भ करते हुए जो अन्तर्मुहूर्त तक प्रतिसमय अपूर्व ही अपूर्व—इस गुणस्थान में विवक्षित समयवर्ती जीवों को छोड़ कर अन्य समयवर्ती जीवोंके न पाये जाने वाले—भाव होते हैं उन्हें अपूर्वकरण परिणाम कहते हैं।

अपूर्वकरण गुणस्थान—१. देखो अपूर्वकरण। भिण्णसमयट्ठिएहिं दु जीवेहिं ण होदि सव्वदा सरिसो। करणेहिं एक्कसमयट्ठिएहिं सरिसो विसरिसो वा॥ एदम्हि गुणट्ठाणे विसरिससमयट्ठिएहिं जीवेहिं। पुव्वमपत्ता जम्हा होंति अपुव्वा हु परिणामा॥ तारिसपरिणामट्ठियजीवा हु जिणेहिं गलियतिमिरेहिं। मोहस्स ऽपुव्वकरणा खवणुवसमणुज्जया भणिया॥ (प्रा. पंचसं. १, १७–१९; धव. पु. १, पृ. १८३ उ.; गो. जी. ५२–५४)। २. एवमपुव्वमपुव्वं जहुत्तरं जो करेइ ठीखंडं। रसखंडं तग्घायं सो होइ अपुव्वकरणो त्ति॥ (शतकप्र. ६, भा. गा. ८८, पृ. २१; गु. गु. प. स्वो. वृ. १८, पृ. ४५)। ३. समए समए भिण्णा भावा तम्हा अपुव्वकरणो हु॥ जम्हा उवरिमभावा हेट्ठिमभावेहिं णत्थि सरिसत्तं। तम्हा विदियं करणं अपुव्वकरणेत्ति णिद्दिट्ठं॥ (ल. सा. ३६, पू. व ५१)। ४. अपूर्वः करणो येषां भिन्नं क्षणमुपेयुषाम्। अभिन्नं सदृशोऽन्यो वा ते अपूर्व-करणाः स्मृताः॥ (पंचसं. अमित. १–३५)। ५. स एवातीतसंज्वलनकषायमन्दोदये सत्यपूर्वपरमाल्हादै-कसुखानुभूतिलक्षणापूर्वकरणोपशमक-क्षपकसंज्ञो ऽष्ट-मगुणस्थानवर्ती भवति। (वृ. द्रव्यसं. १३)। ६. अपूर्वाणि अपूर्वाणि करणानि स्थितिघात-रसघात-गुणश्रेणि-स्थितिबन्धादीनां निर्वर्तनानि यस्मिन् तद-पूर्वकरणम्। (कर्मप्र. मलय. वृ. उपश. गा. १२)। ७. खइएण उवसमेण य कम्माणं जं अउव्वपरि-णामो। तम्हा तं गुणठाणं अउव्वणामं तु तं भणियं॥ (भावसं. दे. ६४८)। ८. क्रियन्ते ऽपूर्वापूर्वाणि पञ्चामून्यत्र संस्थितैः। निवृत्तिबादरस्तेनापूर्वकरण उच्यते॥ स्थितिघातो रसघातो गुणश्रेण्यविरोहणम्। गुणसङ्क्रमणं चैव स्थितिबन्धश्च पञ्चमः॥ (सं. कर्मग्रन्थ १, १२–१३; लो. प्र. ३, ११६७–६८; योगशा. स्वो. विव. १–१६, पृ. १३२)।

१ जिस गुणस्थान में भिन्नसमयवर्ती जीवों के परिणाम कभी सदृश नहीं होते हैं तथा एक समय-वर्ती जीवों के परिणाम कदाचित् सदृश और कदा-चित् विसदृश भी होते हैं उसे भिन्नसमयवर्ती जीवों के द्वारा अप्राप्तपूर्व परिणामों के प्राप्त करने से अपूर्वकरण गुणस्थान कहते हैं। ६ जिस गुण-स्थान में स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणि और स्थितिबन्ध आदि के निवर्तक अपूर्व कार्य होते हैं उसे अपूर्वकरण गुणस्थान कहते हैं।

अपूर्वस्पर्धक—१. संसारावत्थाए पुव्वमलद्धप्पस-रूवाणि पुव्वफद्दएहिंतो अणंतगुणहाणीए ओवट्टिज्ज-माणसहावाणि जाणि फद्दयाणि ताणि अपुव्वफद्-याणि त्ति भण्णंते। (जयध. अ. ११०६)। २. वर्ध-मानं मतं पूर्वं हीयमानमपूर्वकम्। स्पर्धकं द्विविधं ज्ञेयं स्पर्द्धकक्रमकोविदैः॥ (पंचसं. अमित. १–४६)।

१. संसार-अवस्था में जिन्हें पहले कभी नहीं प्राप्त किया, किन्तु क्षपकश्रेणी में ही अश्वकर्णकरणकाल में जिन्हें प्राप्त किया है, और जो पूर्वस्पर्द्धकों से अनन्तगुणित हीन अनुभागशक्तिवाले हैं, ऐसे स्पर्धकों को अपूर्वस्पर्धक कहते हैं।

अपूर्वार्थ—१. अनिश्चितो ऽपूर्वार्थः। दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक्। (परीक्षा. १, ४–५)। २. स्व-रूपेणाकारविशेषरूपतया वानवगतोऽखिलोऽप्यपूर्वा-र्थः। (प्र. क. मा. १–४, पृ. ५६)। ३. यः प्रमा-

णान्तरेण संशयादिव्यवच्छेदेनानव्यवसितः सोऽपूर्वार्थः। (प्रमेयर. १–४)।

१ प्रमाणान्तर से अनिश्चित पदार्थको अपूर्वार्थ कहते हैं। तथा एक वार जान लेने के पश्चात् भी यदि उसमें संशय, विपर्यय या अनध्यवसाय हो जाय तो वह पदार्थ भी अपूर्वार्थ कहलाता है।

अपोद्धारव्यवहार—अपोद्धारव्यवहारो हि भेदव्यवहारः। (न्यायकु. २–७, पृ. २७७)।

भेद-व्यवहार को अपोद्धारव्यवहार कहते हैं।

अपोह(हा)—१. अपोहनम् अपोहः, निश्चय इत्यर्थः। (आव. मलय. वृ. १२; नन्दी. मलय. वृ. गा. ७८, पृ. १७६)। २. अपोह्यते संशयनिबन्धनविकल्पः अनया इति अपोहा। (धव. पु. १३, पृ. २४२)। ३. उक्ति-युक्तिभ्यां विरुद्धादर्थात् प्रत्यभावसम्भावनया व्यावर्तनमपोहः॥ अथवा ज्ञानसामान्यमूहो ज्ञानविशेषोऽपोहः। (नीतिवा. ५–५१, पृ. ५२)। ४. अपोह उक्ति-युक्तिभ्यां विरुद्धादर्थात् प्रत्यपायसम्भावनया व्यावर्तनम्। ××× अथवा अपोहो विशेषज्ञानम्। (योगशा. स्वो. विव. १-५१, पृ. १५२; ललितवि. पृ. ४३; धर्मवि. वृ. १–३३; धर्मसं. स्वो. वृ. १–१४, पृ. ६; श्राद्धगुणवि. पृ. ३७)। ५. ईहितविशेषनिर्णयरूपोऽपोहः। (जम्बूद्वी. वृ. ३–७०)।

२ जिसके द्वारा संशय के कारणभूत विकल्प को दूर किया जाय, ऐसे ज्ञानविशेष को अपोह या अपोहा कहते हैं।

अप्काय—१. पृथिवीकायिकजीवपरित्यक्तः पृथिवीकायो मृतमनुष्यादिकायवत्। ××× एवमबादिष्वपि योज्यम्। (स. सि. २–१३)। २. पृथिवीकायिकजीवपरित्यक्तः पृथिवीकायः, मृतमनुष्यादिकायवत्। ××× एवमापः, अप्कायः। (त. वा. २, १३, १)।

३ अप्कायिक जीव के द्वारा छोड़े हुए जल शरीर को अप्काय कहते हैं।

अप्कायिक जीव—१. पृथिवी कायो ऽस्यास्तीति पृथिवीकायिकः तत्कायसम्बन्धवशीकृत आत्मा। एवमबादिष्वपि योज्यम्। (स. सि. २–१३; त. वा. २, १३, १)। २. ओसा य हिमो धूमरि हरदणु सुद्धोदओ घणोदो य। एदे हु आउकाया जीवा जिणसासणुद्दिट्ठा॥ (पंचसं. १–७८; धव. पु. १, पृ. २७३ उद्धृत)। ३. अप्कायो विद्यते यस्य सः अप्कायिकः। (त. वृत्ति श्रुत. २–१३)।

अप् (जल) ही जिनका शरीर हो, उन्हें अप्कायिक कहते हैं। जैसे—ओस, वर्फ और शुद्ध जल आदि।

अप्जीव — १. समवाप्तपृथिवीकायनामकर्मोदयः कार्मणकाययोगस्थो यो न तावत् पृथिवीं कायत्वेन गृह्णाति स पृथिवीजीवः। एवमबादिष्वपि योज्यम्। (स. सि. २–१३; त. वा. २, १३, १)। २. अपः कायत्वेन यो गृहीष्यति विग्रहगतिप्राप्तो जीवः सोऽप्जीवः कथ्यते। (त. वृ. श्रुत. २–१३)।

अप्काय नामकर्म के उदय से युक्त जो जीव कार्मण काययोग (विग्रहगति) में स्थित होता हुआ जलको शरीररूप से ग्रहण नहीं करता है—आगे उसे ग्रहण करने वाला है—वह अप्जीव कहलाता है।

अप्रकीर्णप्रसृतत्व—१. अप्रकीर्णप्रसृतत्वं सुसम्बन्धस्य सतः प्रसरणम्। अथवा ऽसम्बन्धानधिकारित्वातिविस्तरयोरभावः। (समवा. अभय. वृ. ३५)। २. अप्रकीर्णप्रसृतत्वं सम्बन्धाधिकारपरिमितता। (रायप. टी. पृ. १६)।

१ उत्तम सम्बन्धयुक्त वचन के विस्तार का नाम अप्रकीर्णप्रसृतत्व है। अथवा वचन में सम्बन्धविहीन अनधिकारिता और अतिविस्तार का न होना, यह अप्रकीर्णप्रसृतत्व है। यह वक्तव्य वचन के ३२ भेदों में १६वां भेद है।

अप्रणतिवाक्—१. यां श्रुत्वा तपोविज्ञानाधिकेष्वपि न प्रणमति सा ऽप्रणतिवाक्। (त. वा. १, २०, १२; धव. पु. १, पृ. ११७)। २. वञ्चनाप्रवणं जीवं कर्ता निःकृतिवाक्यतः। न नमत्यधिकेष्वात्मा सा चाप्रणतिवागभूत्। (ह. पु. १०–९५)। ३. तवणाणादिसु अवणियवयणमवणदिवयणं। (अंगप. पृ. २९२)।

१ जिस वचन को सुनकर जीव तप और विज्ञान में अधिक महापुरुषों को भी प्रणाम नहीं करता है वह अप्रणतिवाक् (अप्रणतिवचन) कहलाता है।

अप्रतिघात ऋद्धि—१. सैल-सिला-तरुमुहाणब्भंतरं होइदूण गमणं व। जं वच्चदि सा रिद्धी अप्पडिघादेत्ति गुणणामं॥ (ति. प. ४–१०३१)। २. अद्रिमध्ये वियतीव गमनागमनमप्रतिघातः। (त. वा. ३–३६)। ३. पर्वतमध्येऽपि आकाश इव गमनम् अप्रतिघातः। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३६)।

१ आकाश के समान शैल, शिला, वृक्ष और भित्ति आदि पदार्थों के भीतर से विना किसी व्याघात के निकल जाने को अप्रतिघात ऋद्धि कहते हैं।

अप्रतिघातित्व—अद्रिमध्येऽपि निःसङ्गगमनम् अप्रतिघातित्वम्। (योगशा. स्वो. विव. १–८)।

देखो अप्रतिघात ऋद्धि।

अप्रतिपात—१. प्रतिपतनं प्रतिपातः, न प्रतिपातः अप्रतिपातः। उपशान्तकषायस्य चारित्रमोहोद्रेकात् प्रच्युतसंयमशिखरस्य प्रतिपातो भवति, क्षीणकषायस्य प्रतिपातकारणाभावादप्रतिपातः। (स. सि. १–२४)। २. ××× निजरूपतः। प्रच्युत्य सम्भवश्चास्याप्रतिपातः प्रतीयते॥ (त. श्लो. १, २४, २)।

१ चारित्ररूप पर्वत के शिखर से नहीं गिरने को अप्रतिपात कहते हैं। प्रतिपात उपशान्तकषाय जीव का तो होता है, किन्तु क्षीणकषाय का नहीं होता।

अप्रतिपाति (ती)—देखो अप्रतिपात। १. प्रतिपातीति विनाशी, विद्युत्प्रकाशवत्। तद्विपरीतो ऽप्रतिपाती। (त. वा. १, २२, ४, पृ. ८२)। २. जमोहिणाणमुप्पण्णं संतं केवलणाणे समुप्पण्णे चेव विणस्सदि, अण्णहा ण विणस्सदि; तमप्पडिवादी णाम। (धव. पु. १३, पृ. २९५)। ३. न प्रतिपाति अप्रतिपाति, यत् किलाऽलोकस्य प्रदेशमेकमपि पश्यति, तदप्रतिपातीति भावः। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. गा. ८)। ४. न प्रतिपाती अप्रतिपाती। यत्केवलज्ञानाद्वा मरणादारतो वा न भ्रंशमुपयातीत्यर्थः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३३–३१७, पृ. ५३९)। ५. यत्प्रदेशमलोकस्य दृष्टुमेकमपि क्षमम्। तत्स्यादप्रतिपात्येव केवलं तदनन्तरम्। (लोकप्र. ३–८४७)। ६. आ केवलप्राप्तेरामरणाद्वाऽवतिष्ठमानमप्रतिपाति। (जैनत. पृ. ११८)।

१ जो अवधिज्ञान बिजली के प्रकाश के समान विनश्वर नहीं है, किन्तु केवलज्ञान की प्राप्ति तक स्थिर रहने वाला है, उसे अप्रतिपाती अवधि कहते हैं। ३ जो अलोक के एक प्रदेश को भी देखता है उसे अप्रतिपाती अवधिज्ञान कहा जाता है।

अप्रतिबद्ध—१. अन्तरालग्राम-नगरादिसन्निवेशस्य-यति-गृहिसत्कार-सम्मान-प्राघूर्णकभक्तादौ सर्वत्राप्रतिबद्धत्वात् 'अप्पडिबद्धो य सव्वत्थ' इत्युच्यते। (भ. आ. विजयो. टी. ४०३)। २. अप्पडिबद्धो आसक्तिरहितः। (भ. आ. मूला. टी. ४०३)।

जो ग्राम, नगर व अरण्यादि में रहने वाले मुनि या गृहस्थ के द्वारा किये जाने वाले आदर-सत्कार से मोहित न होकर सर्वत्र अनासक्त रहता है; ऐसे निर्मोही साधु को अप्रतिबद्ध कहते हैं।

अप्रतिबुद्ध—१. कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं। जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव॥ (समयप्रा. २२)। २. अप्रतिबुद्धः स्वसंवित्तिशून्यो बहिरात्मा। (समयप्रा. जय. वृ. २२)।

कर्म-नोकर्म को आत्मा और आत्मा को कर्म-नोकर्म समझने वाला जीव अप्रतिबुद्ध (बहिरात्मा) कहलाता है।

अप्रतिलेख—अप्रतिलेखश्चक्षुषा पिच्छिकया वा द्रव्यस्थानस्याप्रतिलेखनमदर्शनम्। (मूला. वृ. ५–२२०)।

विवक्षित द्रव्य या उसके स्थान को आंख से न देखने और पिच्छी से प्रमार्जित न करने को अप्रतिलेख कहते हैं।

अप्रतिश्रावी—अप्रतिश्रावी निश्छिद्रशैलभाजनवत् परकथितात्मगुह्यजलाप्रतिश्रवणशीलः। (सम्बोधस. वृ. श्लो. १६)।

निश्छिद्र पत्थर का वर्तन जिस प्रकार जल को धारण करता है—उसे नहीं निकलने देता—उसी प्रकार जो दूसरे की गुप्त वात को स्थिरता से धारण करता है—उसे प्रगट नहीं होने देता उसे अप्रतिश्रावी कहते हैं। यह आचार्य के ३६ गुणों में से एक (८वां) है।

अप्रत्यवेक्षणदोष—आलोकितं प्रमृष्टं च, न पुनः शुद्धमशुद्धं चेति निरूपितमित्यादान-निक्षेपकरणाच्चतुर्थोऽप्रत्यवेक्षणाख्यो दोषः। (भ. आ. मूला. टी. ११९८)।

वस्तु को देखकर और पिच्छी से स्वच्छ करके भी उसकी शुद्धि-अशुद्धि को न देखते हुए उसे ग्रहण करना या रखना, यह आदान निक्षेपणसमिति का अप्रत्यवेक्षण नामका चौथा दोष है।

अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण — १. प्रमार्जनोत्तरकाले जीवाः सन्ति न सन्तीति वाऽप्रत्यवेक्षितं यन्निक्षिप्यते तदप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरणम्। (भ. आ. विजयो. ८१४)। २. प्रमार्जनोत्तरकालं जीवाः

सन्त्यत्र, न सन्तीति वा ऽप्रत्यवेक्षितं निक्षिप्यमाणमप्रत्यवेक्षितनिक्षेपः। (अन. ध. स्वो. टी. ४–२८)।

भूमि आदि के प्रमार्जन के पश्चात् 'यहां पर जीव हैं या नहीं' इस प्रकार देखे विना ही वस्तु को रख देना अप्रत्यवेक्षितनिक्षेपाधिकरण कहलाता है।

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित-संस्तरोपक्रमण— अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितस्य प्रावरणादेः संस्तरस्योपक्रमणं अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमणम्। (स सि. ७–३४; त. वा. ७, ३४, ३; चा. सा. पृ. १२; त. वृत्ति श्रुत. ७-३४)।

बिना देखे और बिना शोधे बिस्तर आदिके बिछाने, लोटने व घड़ी करने आदि को अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण कहते हैं।

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान—अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितस्यार्हदाचार्यपूजोपकरणस्य गन्धमाल्यधूपादेरात्मपरिधानाद्यर्थस्य च वस्त्रादेरादानमप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादानम्। (स. सि. ७–३४; त. वा. ७, ३४, ३; चा. सा. पृ. १२; त. वृ. श्रुत ७–३४)।

बिना देखे व बिना शोधे पूजा के उपकरणों को, गन्ध, माल्य व धूपादि को तथा वस्त्रादि को ग्रहण करना; अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान कहलाता है।

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग—१. अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितायां भूमौ मूत्र-पुरीषोत्सर्गोऽप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गः। (स. सि. ७–३४; त. वा. ७, ३४, ३)। २. तत्र जन्तवः सन्ति न सन्ति वेति प्रत्यवेक्षणं चक्षुषोर्व्यापारः, मृदुनोपकरणेन यत्क्रियते प्रयोजनं [प्रमार्जनं] तत्प्रमार्जनम्, अप्रत्यवेक्षितायां भुवि मूत्र-पुरीषोत्सर्गोऽप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गः। (चा. सा. पृ. १२)। ३. प्रत्यवेक्षन्ते स्म प्रत्यवेक्षितानि, न प्रत्यवेक्षितानि अप्रत्यवेक्षितानि; अप्रत्यवेक्षितानि च तानि अप्रमार्जितानि अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितानि। मूत्र-पुरीषादीनामुत्सर्जनं त्यजनम् उत्सर्गः×××। अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितभूमौ मूत्र-पुरीषादेरुत्सर्गः अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गः। (त. वृ. श्रुत. ७–३४)।

बिना देखे और बिना शोधे भूमि पर मल-मूत्रादि के छोड़ने को अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग कहते हैं।

अप्रत्याख्यान—ईषत्प्रत्याख्यानमप्रत्याख्यानं देशसंयमं×××। (भ. आ. मूला. टी. २०६६; त. सुखबो. वृ. ८–६)।

थोड़ेसे प्रत्याख्यान (व्रत) का नाम अप्रत्याख्यान (देशसंयम) है।

अप्रत्याख्यानक्रिया—१. संयमघातिकर्मोदयवशादनिवृत्तिरप्रत्याख्यानक्रिया। (स. सि. ६–५; त. वा. ६. ५, ११; त. सुखबो. वृ. ६–५)। २. संयमविघातिनः कषायाद्यरीन् प्रत्याख्येयान् न प्रत्याचष्ट इत्यप्रत्याख्यानक्रिया। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–६)। ३. कर्मोदयवशात् पापादनिवृत्तिरपि क्रिया। अप्रत्याख्यानसंज्ञा सा×××॥ (ह. पु. ५८–८२)। ४. वृत्तमोहोदयात् पुंसामनिवृत्तिः कुकर्मणः। अप्रत्याख्या क्रियेत्येताः पंच पंच क्रियाः स्मृताः॥ (त. श्लो. ६, ५, २६)। ५. संयमघातककर्मविपाकपारतन्त्र्यान्निर्वृत्तावर्तनमप्रत्याख्यानक्रिया। (त. वृ. श्रुत. ६–५)।

१ संयम का घात करने वाले कर्म के उदय से विषय-कषायों से विरक्ति न होना अप्रत्याख्यानक्रिया है।

अप्रत्याख्यानक्रोधादि—१. अप्रत्याख्यानकषायोदयाद् विरतिर्न भवति। (त. भा. ८–१०)। २. अविद्यमानप्रत्याख्याना अप्रत्याख्यानाः, देशप्रत्याख्यानं सर्वप्रत्याख्यानं च नैषामुदये लभ्यते। (श्रा. प्र. टी. १७, धर्मसंग्रहणि मलय. वृ. ६१४)। ३. न विद्यते देशविरति-सर्वविरतिरूपं प्रत्याख्यानं येषु उदयप्राप्तेषु सत्सु ते ऽप्रत्याख्यानाः। (आव. नि. हरि. वृ. १०६; कर्मवि. पू. व्या. ४१)। ४. सर्वं प्रत्याख्यानं देशप्रत्याख्यानं च येषामुदये न लभ्यते ते भवन्त्यप्रत्याख्यानाः। सर्वनिषेधवचनोऽयं नञ्। (प्रज्ञापना. मलय. वृ. २३–२९३, पृ. ४६८)। ५. न विद्यते प्रत्याख्यानं यदुदये तेऽप्रत्याख्यानकषायाः। (पंचसं. स्वो. वृ. १२३)। ६. अविद्यमानं प्रत्याख्यानं येषामुदयात् तेऽप्रत्याख्यानाः क्रोधादयः। अपरे पुनरावरणशब्दमत्रापि सम्बध्नन्ति 'अप्रत्याख्यानावरणाः' इति। अप्रत्याख्यानं देशविरतिः, तदप्यावृण्वन्ति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–१०, पृ. १३६)। ७. न विद्यते (कर्म. वि.—वेद्यते) स्वल्पमपि प्रत्याख्यानं येषामुदयात्तेऽप्रत्याख्यानाः। (पंचसं. मलय. वृ. ३-५; कर्मप्र. मलय. वृ. १–१, पृ. ४; कर्मवि. दे. स्वो. वृ. १७; षडशी. मलय. वृ. ७६, पृ. ७६)। ८. देशविरतिगुणविघाती

अप्रत्याख्यान:। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १४–१८८)। ६. नाल्पमप्युत्सहेद्येषां प्रत्याख्यानमिहोदयात्। अप्रत्याख्यानसंज्ञाऽतो द्वितीयेषु निवेशिता॥ (कर्मवि. दे. स्वो. वृत्ति गा. १७ उद्धृत)। १०. अप्रत्याख्यानरूपाश्च देशव्रतविघातिन:। (उपासका. ९२५)। ११. न विद्यते प्रत्याख्यानं अणुव्रतादिरूपं यस्मिन् सो ऽप्रत्याख्यानो देशविरत्यावारक:। (स्थाना. सू. २४९, पृ. १८३)।

१ जिनके उदय से व्रत का अभाव होता है, उन्हें अप्रत्याख्यानक्रोधादि कहा जाता है।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि—१. यदुदयाद्देशविरतिं संयमासंयमाख्यामल्पामपि कर्तुं न शक्नोति ते देशप्रत्याख्यानमावृण्वन्तोऽप्रत्याख्यानावरणा: क्रोध-मान-माया-लोभा:। (स. सि. ८–९; त. वा. ८, ९, ५; त. वृ. श्रुत. ८–९)। २. अप्रत्याख्यानं संयमासंयम:, तमावृणोतीति अप्रत्याख्यानावरणीयम्। (धव. पु. ६, पृ. ४४)। ३. ईषत्प्रत्याख्यानमप्रत्याख्यानं देशसंयममावृण्वन्ति निरुन्धन्तीत्यप्रत्याख्यानावरणा: क्रोधमानमायालोभा:। (भ. आ. मूला. टी. २०९६; गो. जी. जी. प्र. टी. २८३; त. सुखबो. वृ. ८–९)। ४. त एव च क्रोधादयो यथाक्रमं पृथिवीरेखाऽस्थि-मेषशृङ्ग-कर्दमरागसमाना: (कर्मस्तव गो. वृत्ति में आगे 'संवत्सरानुबन्धिन.' विशेषण अधिक है) अप्रत्याख्यानावरणा उच्यन्ते। नभो [नञो]ऽल्पार्थत्वादल्पं प्रत्याख्यानमप्रत्याख्यानं देशविरतिरूपम्, तदप्यावृण्वन्तीत्यप्रत्याख्यानावरणा:। (शतक. मल. हेम. वृ. ३८, पृ. ४६; कर्मस्तव गो. वृत्ति ९–१०, पृ. १६)। ५. त एव च क्रोधादयो यथाक्रमं पृथिवीरेखाऽस्थिमेषशृङ्गकर्दमरागसमाना: सम्वत्सरानुबन्धिनोऽप्रत्याख्यानावरणा:। (कर्मस्तव गो. वृ. ९–१०, पृ. १६)।

१ जिनके उदय से लेश मात्र भी संयमासंयम न धारण किया जा सके उन्हें अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ कहते हैं।

अप्रत्युपेक्षण—अप्रत्युपेक्षणं गोचरापन्नस्य शय्यादेश्चक्षुषाऽनिरीक्षणम्। (श्रा. प्र. टी. ३२३)।

इन्द्रियविषयता को प्राप्त शय्या आदि का आंख से निरीक्षण नहीं करने को अप्रत्युपेक्षण कहते हैं।

अप्रत्युपेक्षित—अप्रत्युपेक्षितं सर्वथा चक्षुषाऽनिरीक्षितम्। (जीतक. चू. वि. व्या. पृ. ५१)।

अप्रत्युपेक्षित—देखो अप्रत्युपेक्षण।

अप्रथमसमय - सयोगिभवस्थ - केवलज्ञान—यस्मिन् समये केवलज्ञानम् उत्पन्नं तस्मिन् समये तत्प्रथमसमय-सयोगिभवस्थकेवलज्ञानम्, शेषेषु तु समयेषु शैलेशीप्रतिपत्तेरर्वाक् वर्तमानमप्रथमसमय-सयोगिभवस्थ-केवलज्ञानम्। (आव. मलय. वृ. ७८, पृ. ८३)।

जिस समय में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है उस समय में वह प्रथमसमय-सयोगिभवस्थ-केवलज्ञान कहलाता है। तत्पश्चात् शैलेशी अवस्था प्राप्त होने के पहले तक उक्त प्रथम समय के सिवाय शेष समयों में वर्तमान सयोगिकेवली के केवलज्ञान को अप्रथमसमय-सयोगिभवस्थ-केवलज्ञान कहते हैं।

अप्रदेशत्व—[कालद्रव्यस्य] एकप्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वमिष्यते। (त. सा. ३–२१)।

एक प्रदेश मात्र के पाये जाने से पुद्गल परमाणु और कालाणुके अप्रदेशत्व माना गया है।

अप्रदेशानन्त—एकप्रदेशे परमाणौ तद्व्यतिरिक्तापरो द्वितीय: प्रदेशोऽन्तव्यपदेशभाक् नास्तीति परमाणुरप्रदेशानन्त:। (धव. पु. ३, पृ. १५–१६)।

एकप्रदेशी पुद्गल परमाणु में चूंकि अन्त नामवाला दूसरा प्रदेश नहीं सम्भव है, अतएव वह अप्रदेशानन्त कहलाता है।

अप्रदेशासंख्यात—जं तं अपदेसासंखेज्जयं तं जोगविभागे पलिच्छेदे पडुच्च एगो जीवपदेसो। (धव. पु. ३, पृ. १२४)।

योग के अविभागी प्रतिच्छेदों की अपेक्षा एक जीवप्रदेश अप्रदेशासंख्यात कहा जाता है।

अप्रदेशिक अनन्त—जं तं अपदेसियाणंतं तं परमाणू। (धव. पु. ३, पृ. १५)।

परमाणु को अप्रदेशिक-अनन्त कहा जाता है।

अप्रभावना—कुदर्शनस्य माहात्म्यं दूरीकृत्य वलादित:। द्योतते न यदार्हन्त्यमसौ स्यादप्रभावना॥ (धर्मसं. श्रा. ४–५२)।

मिथ्यादर्शन के माहात्म्य को दूर करके जैनदर्शन के माहात्म्यके नहीं फैलाने को अप्रभावना कहते हैं।

अप्रमत्तसंयत—१. णट्ठासेसपमाओ वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी। अणुवसमओ अखवओ ज्भाणणिलीणो हु अपमत्तो सो॥ (प्रा. पंचसं. १–१६; धव. पु. १, पृ. १७९ उ.; गो. जी. ४६; भावसं. दे.

६१४)। २. न प्रमत्तसंयता अप्रमत्तसंयताः, पञ्चदशप्रमादरहिता इति यावत्। (धव. पु. १, पृ. १७८)। ३. पमादहेदुकसायस्स उदयाभावेण अपमत्तो होदूण (पमादहेदुकसाओदओ जस्स णत्थि सो अप्पमत्तो)। (धव. पु. ७, पृ. १२)। ४. प्रमादरहितोऽप्रमत्तसंयतः। (त. वा. ६, १, १८)। ५. पंचसमिओ तिगुत्तो अपमत्तजई मुणेयव्वो। (बन्धश. भा. गा. ८७, पृ. २१; गु. गु. षट्. स्वो. वृत्ति १८, पृ. ४५)। ६. संयतो ह्यप्रमत्तः स्यात्पूर्ववत्प्राप्तसंयमः। प्रमादविरहाद् वृत्तेर्वृत्तिमस्खलितां दधत्॥ (त. सा. २-२४)। ७. संजलणणोकसायाणुदओ मंदो जदा तदा होदि। अपमत्तगुणो तेण य अपमत्तो संजदो होदि॥ (गो. जी. ४५)। ८. स एव (सद्दृष्टिः) जलरेखादिसदृशसंज्वलनकषायमन्दोदये सति निष्प्रमादशुद्धाऽऽत्मसंवित्तिमलजनकव्यक्ताव्यक्तप्रमादरहितः सन् सप्तमगुणस्थानवर्ती अप्रमत्तसंयतो भवति। (बृ. द्रव्यसं. टी. १३)। ९. सोऽप्रमत्तसंयतो यः संयमी न प्रमाद्यति। (योगशा. स्वो. विव. १-१६)। १०. नास्ति प्रमत्तमस्येति अप्रमत्तो विकथादिप्रमादरहितः, अप्रमत्तश्चासौ संयतश्चेत्यप्रमत्तसंयतः। (कर्मस्त. गो. वृ. २, पृ. ७२)। ११. न प्रमत्तोऽप्रमत्तः, यद्वा नास्ति प्रमत्तमस्येत्यप्रमत्तः, अप्रमत्तश्चासौ संयतश्चाप्रमत्तसयतः। (पंचसं. मलय. वृ. १-१५, पृ. २१)। १२. चतुर्थानां कषायाणां जाते मन्दोदये सति। भवेत् प्रमादहीनत्वादप्रमत्तो महाव्रती। (गु. क्रमा. ३२, पृ. २५)। १३. यश्च निद्राकषायादिप्रमादरहितो व्रती। गुणस्थानं भवेत्तस्याप्रमत्तसंयताभिधम्॥ (लोकप्र. ३, ११६६)।

१ सर्व प्रकारके प्रमादों से रहित और व्रत, गुण एवं शील से मण्डित तथा सद्ध्यान में लीन ऐसे सम्यग्ज्ञानवान् साधु को अप्रमत्तसंयत कहते हैं।

अप्रमाद — पंचमहव्वयाणि पंचसमिदीओ तिण्णि गुत्तीओ णिस्सेसकसायाभावो च अप्पमादो णाम। (धव. पु. १४, पृ. ८९)।

पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्तियों को धारण करना तथा समस्त कषायों का अभाव होना; इसका नाम अप्रमाद है।

अप्रमार्जनासंयम—अप्रमार्जनासंयमः पात्रादेरप्रमार्जनया ऽविधिप्रमार्जनया वेति। (समवा. अभय. वृ. १७, पृ. ३२)।

पात्र आदि को या तो मांजना ही नहीं—स्वच्छ नहीं करना—या उन्हें विधिपूर्वक नहीं मांजना—उनके मांजने में आगमोक्त विधि की उपेक्षा करना; इसका नाम अप्रमार्जनासंयम है।

अप्रवीचार—१.प्रवीचारो हि वेदनाप्रतीकारस्तदभावे तेषां (ग्रैवेयकादिवासिनां) परमसुखमनवरतमित्येतस्य प्रतिपत्त्यर्थमप्रवीचारा इत्युच्यते। (त. वा. ४, ९, २)। २. प्रवीचारो मैथुनसेवनम् × × ×प्रवीचारो वेदनाप्रतीकारः। वेदनाभावाच्छेषाः देवाः अप्रवीचाराः, अनवरतसुखा इति यावत्। (धव. पु. १, पृ. ३३८-३९)।

१ कामवेदना के प्रतीकार का नाम प्रवीचार है। उससे रहित ग्रैवेयकादिवासी देवों को अप्रवीचार कहा जाता है।

अप्रशस्त ध्यान—अप्रशस्तं (ध्यान) अपुण्यास्रवकारणत्वात्। (त. वा. ९,२८, ४)।

पापास्रव के कारणभूत आर्त-रौद्रस्वरूप ध्यान को अप्रशस्त ध्यान कहते हैं।

अप्रशस्त निदान—१. माणेण जाइ-कुल-रूवमादि आइरिय-गणधर-जिणत्तं। सोभग्गाणादेयं पत्थंतो अप्पसत्थं तु॥ (भ. आ. १२१७)। २. भोगाय मानाय निदानमीशैर्यदप्रशस्तं द्विविधं तदिष्टम्। विमुक्तिलाभप्रतिबन्धहेतोः संसार-कान्तारनिपातकारि॥ (अमित. श्रा. ७-२५)।

१ मान कषाय से प्रेरित होकर परभव में उत्तम कुल, जाति, एवं रूपादिके पाने की इच्छा करना; तथा आचार्य, गणधर और तीर्थंकरादि पदों के पाने की कामना करना अप्रशस्त निदान कहलाता है।

अप्रशस्त निःसरणात्मक तैजस—तत्थ अप्पसत्थं बारहजोयणायामं णवजोयणवित्थारं सूचिअंगुलस्स संखेज्जदिभागबाहल्लं जासवणकुसुमसंकासं भूमि-पव्वदादिदहणक्खमं पडिवक्खरहियं रोसिंधणं वामंसप्पभवं इच्छियखेत्तमेत्तविसप्पणं। (धव. पु. ४. पृ. २८)।

बारह योजन लम्बे, नौ योजन चौड़े, सूच्यंगुल के संख्यातवें भाग मोटे, जपापुष्प के समान रक्तवर्णवाले, पृथिवी व पर्वतादि के जलाने में समर्थ, प्रतिपक्षसे रहित तथा बायें कन्धेसे प्रगट होकर अभीष्ट स्थान तक फैलने वाले तैजस शरीर को अप्रशस्त

निःसरणात्मक तैजस कहते हैं। यह तैजस शरीर क्रोध के वशीभूत हुए साधु के वायें कन्धे से निकलता है।

अप्रशस्त-नोआगम-भावोपक्रम—अप्रशस्तो गणिकादीनाम्, गणिकाद्यप्रशस्तेन संसाराभिवर्धिना व्यवसायेन परभावमुपक्रामन्ति। (व्यव. सू. भा. मलय. वृ. १, पृ. २)।

संसार बढ़ाने वाले गणिकादि के अप्रशस्त व्यवसाय से जो पर भाव का उपक्रम होता है उसे अप्रशस्त-नोआगम-भावोपक्रम कहते हैं।

अप्रशस्त-प्रतिसेवना—१. अप्पसत्थेति अप्रशस्तेन भावेन सेवइ। (जीतक. चू. पृ. ३, पं. १८–१९)। २. वल-वर्णाद्यर्थं प्रासुकभोज्यपि जं पडिसेवइ सा अप्रशस्तप्रतिसेवना। किं पुण अविसुद्धं आहाकम्माइं? (जीतक. चू. वि. व्या. ५, पृ. ३४)। ३. अप्रशस्तो वल-वर्णादिनिमित्तं प्रतिसेवी। (व्यव. भा. मलय. वृ. गा. ६३४)।

१ वल व वर्णादि की प्राप्तिके लिए प्रासुक भी भोजन के सेवन करने को अप्रशस्त प्रतिसेवना कहते हैं।

अप्रशस्त प्रभावना—मिच्छत्त-अण्णाणाईणं अप्पसत्था[पहावणा]। (जीतक. चू. पृ. १३)।

मिथ्यात्व और अज्ञान आदि भावों की प्रभावना करने को अप्रशस्त प्रभावना कहते हैं।

अप्रशस्त भावशीति—यैर्हेतुभिस्तेषामेव संयमस्थानानां संयमकण्डकानां लेश्यापरिणामविशेषाणां वाऽधस्तात् संयमस्थानेष्वपि गच्छति सा अप्रशस्ता भावशीतिः। (व्यव. भा. मलय. वृ. गा. ४०९)।

जिन हेतुओं के द्वारा उन्हीं विवक्षित संयमस्थानों, संयमकाण्डकों एवं लेश्यापरिणामविशेषों के नीचे संयमस्थानों में भी जावे उसे अप्रशस्त भावशीति कहते हैं।

अप्रशस्त भावसंयोग—से किं तं अपसत्थे? कोहेणं कोही, माणेणं माणी, मायाए मायी, लोहेणं लोही, से तं अपसत्थे। (अनुयो. सू. १३०, पृ. १४४)

जीव क्रोध के संयोग से क्रोधी, मान के संयोग से मानी, माया के संयोग से मायी और लोभ के संयोग से लोभी कहा जाता है। इस प्रकारके अप्रशस्त भाव के संयोग से प्रसिद्ध ऐसे (क्रोधी आदि) नाम अप्रशस्त भाव संयोग जनित माने गये हैं।

अप्रशस्त राग—स्त्री-राज-चौर-भक्तविकथाऽऽलापाकर्णन-कौतूहलपरिणामो हि अप्रशस्तरागः। (नि. सा. वृ. १–६)।

स्त्री, राजा, चोर और भोजनादि विषयक विकथाओं के कहने-सुनने का कौतूहल होना; यह अप्रशस्त राग है।

अप्रशस्त वात्सल्य—ओसन्नाइगिहत्थाणं अप्पसत्थं [वच्छलं]। (जीतक. चूर्णि पृ. १३, पं. १८-१९)।

अवसन्न—अवसाद या खेद को प्राप्त—गृहस्थों के साथ वात्सल्य भाव रखने को अप्रशस्त वात्सल्य कहते हैं।

अप्रशस्त विहायोगति—१. जस्स कम्मस्स उदएण खरोट्ट-सियालाणं व अप्पसत्था गई होज्ज सा अप्पसत्थविहायोगदीणाम। (धव. पु. ६, पृ. ७७)। २. उष्ट्र-खराद्यप्रशस्तगतिनिमित्तमप्रशस्तविहायोगतिनाम। (त. वा. ८, ११, १८; त. सुखबो. वृ. ८, ११)। ३. जस्सुदएणं जीवो अमणिट्ठाए उ गच्छइ गईए। सा असुहा विहगगई उट्टाईणं हवे सा उ। (कर्मवि. गर्ग. १२९, पृ. ५३)। ४. यस्य कर्मण उदयेनोष्ट्र-शृगाल-श्वादीनामिवाप्रशस्ता गतिर्भवति, तदप्रशस्तविहायोगतिनाम। (मूला. वृ. १२-१९५)। ५. यदुदयात् पुनरप्रशस्ता विहायोगतिर्भवति, यथा खरोष्ट्र-महिषादीनाम्, तदप्रशस्तविहायोगतिनाम। (षष्ठ कर्म. मलय. वृ. ६, पृ. १२५; सप्ततिका दे. स्वो. वृ. ५, पृ. ५३)।

१ जिस कर्म के उदय से ऊँट, गर्दभ और शृगाल आदि के समान निन्द्य चाल उत्पन्न हो उसे अप्रशस्त विहायोगति नामकर्म कहते हैं।

अप्रशस्तोपबृंहण—अप्पसत्था (उववूहा) मिच्छत्ताइसु (अब्भुज्जयस्स उच्छाहवड्ढणं उववूहणं)। (जीतक. चू. पृ. १३, पं. १५–१६)।

मिथ्यात्व आदि में उद्यत प्राणियों के उत्साह के बढ़ाने को अप्रशस्त उपबृंहा (उपबृंहण) कहते हैं।

अप्रशस्तोपशामना—१. जा सा देशकरणुवसामणा तिस्से अण्णाणि दुवे णामाणि—अगुणोवसामणा त्ति च अप्पसत्थुवसामणा त्ति च। (धव. पु. १५, पृ. २७५, २७६)। २. कम्मपरमाणूणं वज्झंतरंगकारणवसेण केत्तियाणं पि उदीरणावसेण उदयाणागमणपइण्णा अप्पसत्थ-उवसामणा त्ति भण्णदे। (जयध. अ. प. ९७०—धव. पु. ६, पृ. २५४ का टिप्पण १)। ३. संसारपाओग्ग-अप्पसत्थपरिणामणिबंधणत्तादो

एसा अप्पसत्थोवसामणा त्ति भण्णदे। (जयध.—क. पा. पृ. ७०८ का टिप्पण २)।

किन्हीं कर्म-परमाणुओंका बाह्य और अन्तरंग कारणों के वश तथा किन्हीं का उदीरणा के वश उदय में न आना, इसका नाम अप्रशस्तोपशामना है। इसी को दूसरे नाम से अगुणोपशामना भी कहा जाता है।

अप्रसेनिकाकुशील — कश्चिदप्रसेनिकाकुशील: विद्याभिर्मंत्रौषधप्रयोगैर्वा ऽसंयतचिकित्सां करोति, सोऽप्रसेनिकाकुशील:। (भ. आ. विजयो. टी. १९५०)।

जो साधु विद्या, मंत्र और औषधि के द्वारा असंयमी जनों की चिकित्सा करता है उसे अप्रसेनिका-कुशील कहते हैं।

अप्रामाण्य— ××× अर्थान्यथात्वपरिच्छेदसामर्थ्यलक्षणाप्रामाण्यस्य (अप्रामाण्यस्य लक्षणं ह्यर्थान्यथात्वपरिच्छेदसामर्थ्यम्)×××। (प्र. क. मा. पृ. १६३ पं. १३)।

अर्थ के अन्यथापन के—जैसा कि वह है नहीं वैसा—जानने के सामर्थ्य का नाम अप्रामाण्य है। तात्पर्य यह कि पदार्थ के जानने में जो यथार्थता का अभाव होता है उसे अप्रामाण्य समझना चाहिए।

अप्रिय वचन—१. अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैर-शोक-कलहकरम्। यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम्॥ (पु. सि. ९८)। २. कर्कश-निष्ठुर-भेदन-विरोधनादिबहुभेदसंयुक्तम्। अप्रियवचनं प्रोक्तं प्रियवाक्यप्रवणवाणीकैः॥ (अमित. श्रा. ६-५४)।

२ कर्कश, निष्ठुर, दूसरे प्राणियों का छेदन-भेदन करने वाले और विरोध को उत्पन्न करने वाले वचनों को अप्रिय वचन कहते हैं।

अबद्धश्रुत—बद्धमबद्धं तु सुअं बद्धं तु दुवालसंग निद्दिट्ठं। तव्विवरीयमबद्धं×××॥ (आव. नि. १०२०)।

द्वादशांग रूप बद्ध श्रुत से भिन्न श्रुत को अबद्धश्रुत कहते हैं।

अबन्ध (अबन्धक)—१. सिद्धा अबंधा॥७॥ बंधकारणवदिरित्तमोक्खकारणेहि संजुत्तत्तादो। (षट्खं. २, १, ७—धव. पु. ७, पृ. ८-९)। २. मिच्छत्तासंजम-कसाय-जोगाणं बंधकारणाणं सव्वेसिमजोगिम्हि अभावा अजोगिणो अबंधया। (धव. पु. ७, पृ. ८)।

जो सिद्ध जीव बन्ध के कारणों से रहित होकर मोक्ष के कारणों से संयुक्त हैं वे, तथा मिथ्यात्वादि सभी बन्धकारणों से रहित अयोगी जिन भी अबन्धक हैं।

अबला—अबल त्ति होदि जं से ण दढं हिदयम्मि धिदिबलं अत्थि। (भ. आ. ९८०)।

जिसके हृदय में दृढ़ धैर्यबल न हो उसे अबला कहते हैं।

अबहुश्रुत—अबहुश्रुतो नाम येनाऽऽचारप्रकल्पाध्ययनं नाधीतम्, अधीतं वा विस्मारितम्। (बृहत्क. वृत्ति ७०३)।

जिसने आचारकल्प का अध्ययन नहीं किया, अथवा पढ़ करके भी उसे भुला दिया है, ऐसे व्यक्ति को अबहुश्रुत कहते हैं।

अबाधा, अबाधाकाल—देखो आबाधा। १. होई अबाहकालो जो किर कम्मस्स अणउदयकालो। शतक. भा. ४२, पृ. ६७)। २. ततश्च सप्ततिः सागरोपमानां कोटीकोट्यो मोहनीयस्योत्कृष्टा स्थितिर्भवति। अत्र च सप्तवर्षसहस्राणि कर्मणोऽनुदयलक्षणाऽबाधा द्रष्टव्या। बद्धमपीत्यमेतत् कर्म सप्तवर्षसहस्राणि यावद्विपाकोदयलक्षणां बाधां न करोतीत्यर्थः। (शतक. मल. हेम. वृ. ५१, पृ. ६५)।

बंधने के पश्चात् भी कर्म जितने समय तक बाधा नहीं पहुंचाता—उदय में नहीं आता है—उतना समय उसका अबाधाकाल कहलाता है।

अबाधितविषयत्व— साध्यविपरीतनिश्चायकप्रबलप्रमाणरहितत्वमबाधितविषयत्वम्। (न्या. दी. पृ. ८५)।

साध्य से विपरीत के निश्चायक प्रबल प्रमाण के अभाव को अबाधितविषयत्व कहते हैं।

अबुद्धजागरिका—जे इमे अणगारा भगवंतो इरियासमिया भासासमिया जाव गुत्तबंभयारी, एए णं अबुद्धा अबुद्धजागरियं जागरंति। (भगवती सू. १२, १, ११ पृ. २५५)।

ईर्यासमिति और भाषासमिति से युक्त गुप्त ब्रह्मचारी—नौ ब्रह्मगुप्तियों (शीलबाड़ों) से संरक्षित ब्रह्मचर्य के परिपालक—तक साधु अबुद्धजागरिका जागृत होते हैं।

अबुद्धि — आत्मस्थदुःखबीजापायोपायचिन्ताशून्यत्वादनिवार्यपरदुःखशोचनानुचरणाच्चाबुद्धिः। (भ. आ. मूला. टी. १७५४)।

जिसे अपने दुःख के दूर करने की चिन्ता न हो, पर दूसरे के दुःख में दुःखी होकर जो उसे दूर करने का प्रयत्न करता है वह अबुद्धि है—अज्ञानतावश ऐसा करता है।

अबुद्धिपूर्वा निर्जरा—नरकादिषु गतिषु कर्मफलविपाकजाऽबुद्धिपूर्वा, सा अकुशलानुबन्धा। (स. सि. ६–७; त. वा. ६, ७, ७)।

नरकादिक गतियों में कर्मों के उदय से फल को देते हुए जो कर्म झड़ते हैं उसे अबुद्धिपूर्व-निर्जरा कहते हैं।

अबुद्धिपूर्व विपाक—देखो अबुद्धिपूर्वा निर्जरा। १. नरकादिषु कर्मफलविपाकोदयोऽबुद्धिपूर्वकः। (त. भा. ६–७)। २. बुद्धिः पूर्वा यस्य—कर्म शाटयामि इत्येवंलक्षणा बुद्धिः प्रथमं यस्य विपाकस्य—स बुद्धिपूर्वः, न बुद्धिपूर्वोऽबुद्धिपूर्वः। (त. भा. सिद्ध. वृत्ति ६–७)।

२ नरकादि में 'मैं कर्म को दूर करता हूं' इस प्रकारके विचार से रहित जो कर्मफल का विपाकोदय होता है उसे अबुद्धिपूर्व विपाक कहा जाता है।

अब्रह्म—१. मैथुनमब्रह्म। (त. सू. ७–१६)। २. अहिंसादयो गुणा यस्मिन् परिपाल्यमाने बृंहन्ति वृद्धिमुपयान्ति तद् ब्रह्म। न ब्रह्म अब्रह्म इति। (स. सि. ७–१६; त. सुखबो. वृत्ति ७–१६; त. वृत्ति श्रुत. ७–१६)। ३. अहिंसादिगुणबृंहणाद् ब्रह्म। अहिंसादयो गुणा यस्मिन् परिपाल्यमाने बृंहन्ति वृद्धिमुपयन्ति तद् ब्रह्म। न ब्रह्म अब्रह्म। किं तत्? मैथुनम्। (त. वा. ७, १६, १०)। ४. स्त्री-पुंसयोर्मिथुनभावो मिथुनकर्म वा मैथुनम्, तदब्रह्म। (त. भा. ७–११)। ५. कषायादिप्रमादपरिणतस्यात्मनः कर्तुः कायादिकरणव्यापारात् × × × मोहोदये सति चेतनाचेतनयोरा- (सिद्ध.वृत्ति—चेतनस्रोतसोरा) सेवनमब्रह्म। (त.भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ७–१)। ६. अब्रह्मान्यत्तु रत्यर्थं स्त्री-पुंसमिथुनेहितम्। (ह. पु. ५८–१३२)। ७. अहिंसादिगुणबृंहणाद् ब्रह्म, तद्विपरीतमब्रह्म। (त. श्लो. ७–१६)। ८. यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म। (पु. सि. १०७)। ९. मैथुनं मदनोद्रेकादब्रह्म परिकीर्तितम्॥ (त. सा. ४–७७)। १०. वेदतीव्रोदयात् कर्म मैथुनं मिथुनस्य यत्। तदब्रह्मापदामेकं पदं सद्गुणलोपनम्॥ (आ. सा. ५–४७)। ११. स्त्री-पुंसव्यतिकरलक्षणमब्रह्म। (शास्त्रवा. टी. १–४)।

२ अहिंसादि गुणों के बढ़ाने वाले ब्रह्म के अभाव को—उसके न पालन करने को—अब्रह्म कहते हैं। ४ स्त्री-पुरुषों की रागपूर्ण चेष्टा (मैथुन क्रिया) को अब्रह्म कहा जाता है।

अब्रह्मचर्या—ततो (ब्रह्मतः आत्मनः) ऽन्यो वामलोचनाशरीरगतो रूपादिपर्यायोऽब्रह्म, तत्र चर्या नामाभिलापपरिणतिः। (भ. आ. विजयो. टी. ८७९)।

ब्रह्म से भिन्न जो स्त्री के शरीरगत लावण्य आदि हैं उसका नाम अब्रह्म है, इस अब्रह्म की अभिलाषा करना या उसमें परिणत होना, इसे अब्रह्मचर्या कहते हैं।

अब्रह्मवर्जन—१. पुव्वोइयगुणजुत्तो विसेसओ विजियमोहणिज्जो य। वज्जइ अबंभमेगं तओ उ राइं पि थिरचित्तो॥ सिंगारकहाविरओ इत्थीए समं रहम्मि णो ठाइ। चयइ य अतिप्पसंगं तहा विहूसं च उक्कोसं॥ एवं जा छम्मासा एसोऽहिगतो इहरहा दिट्ठं। जावज्जीवं पि इमं वज्जइ एयम्मि लोगम्मि॥ (पञ्चाशक १०, ४६४–६६)। २. परस्त्रीस्मरणं यत्र न कुर्यान्न च कारयेत्। अब्रह्मवर्जनं नाम स्थूलं तुर्यं च तद् व्रतम्॥ (धर्मसं. श्रा. ६–६३)।

१ पूर्व पांच प्रतिमाओं का परिपालन करते हुए स्थिरतापूर्वक रात में भी अब्रह्म का सर्वथा त्याग कर देना और शृंगारकथा को छोड़कर स्त्री के साथ एकान्त में न रहते हुए शरीर के शृंगार को त्याग देना; यह अब्रह्मवर्जन नामकी छठी प्रतिमा है। इसका परिपालन छह मास अथवा जीवन पर्यन्त भी किया जाता है। २ जिस व्रत में परस्त्री का स्मरण न स्वयं करता है और न दूसरों को कराता है उसे स्थूल अब्रह्मवर्जन (चतुर्थ अणुव्रत) कहते हैं।

अभद्र—अभद्रं हि संसारदुःखम् अनन्तम्, तत्कारणत्वान्मिथ्यादर्शनमभद्रम्। तद्योगान्मिथ्यादृष्टिरभद्रः। (युक्त्यनु. टी. ६३)।

संसार सम्बन्धी अनन्त दुःख का नाम अभद्र है। उस अभद्र का कारण होने से मिथ्यादर्शन को और उस मिथ्यादर्शन के योग से मिथ्यादृष्टि जीव को

भी अभद्र कहा जाता है।

अभयदान—१. दानान्तरायस्यात्यन्तसंक्षयात् अनन्त-प्राणि-गणाऽनुग्रहकरं क्षायिकं अभयदानम्। (स. सि. २–४; त. वा. २, ४, २)। २. दानान्तरायाक्षयादभयदानम्। (त. श्लो. २-४)। ३. भवत्यभयदाने तु जीवानां वधवर्जनम्। मनोवाक्कायैः करण-कारणाऽनुमतैरपि ।।(त्रि. श. पु. १,१, १५७); तत्पर्यायक्षयाद् दुःखोत्पादात् संक्लेशतस्त्रिधा। वधस्य वर्जनं तेष्वभयदानं तदुच्यते ।। (त्रि. श. पु. १, १, १६६)। ४. जं सुहुम-वायराणं जीवाण ससत्तिओ सयाकालं। कीरइ रक्खणजयणा तं जाणह अभयदाणं ति ।। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २, पृ. ६)। ५. धर्मार्थ-काम-मोक्षाणां जीवितव्ये यतः स्थितिः। तद्दानतस्ततो दत्तास्ते सर्वे सन्ति देहिनाम् ।। (अमित. श्रा. ६–८४)। ६. जं कीरइ परिरक्खा णिच्चं मरण-भयभीरुजीवाणं। तं जाण अभयदाणं सिहामणिं सव्वदाणाणं ।। (वसु. श्रा. २३८)। ७. सर्वेषां देहिनां दुःखाद्बिभ्यतामभयप्रदः। (सा. ध. २–७५)। ८. सव्वेसिं जीवाणं अभयं जो देइ मरणभीरूणं। (भावसं. दे. ४६)। ६. अभयं प्राणसंरक्षा। (भावसं. वाम. ५–६६)। १०. सर्वेभ्यो जीवराशिभ्यः स्वशक्त्या करणैस्त्रिभिः। दीयतेऽभयदानं यद्दयादानं तदुच्यते ।। (धर्मसं. श्रा. ६–१६१)।

१ अनन्त प्राणियों के अनुग्रह करने वाले दान को—दिव्य उपदेश को—अभयदान कहते हैं। यह अभयदान दानान्तराय के सर्वथा निर्मूल हो जाने पर सयोगकेवली अवस्था में होता है। ४ सूक्ष्म और बादर जीवों की अपनी शक्ति प्रमाण रक्षा करने और उन्हें दुःख नहीं पहुंचाने को भी अभयदान कहते हैं। (यह अभयदान उक्त दानान्तराय के क्षयोपशम से होता है)।

अभयमुद्रा—दक्षिणहस्तेन ऊर्ध्वाङ्गुलिना पताकाकारेण अभयमुद्रा। (निर्वाणकलिका १–३३)।

दाहिने हाथ की अंगुलियों को ऊंचा करके पताका (ध्वज) के आकार करने को अभयमुद्रा कहते हैं।

अभव्य— १. सम्यग्दर्शनादिभावेन भविष्यतीति भव्यः, तद्विपरीतोऽभव्यः। (स. सि. २–७); सम्यग्दर्शनादिभिर्व्यक्तिर्यस्य भविष्यति स भव्यः, यस्य तु न भविष्यति सोऽभव्यः। (स. सि. ८–६)। २. भव्वा जिणेहि भणिया इह खलु जे सिद्धिगमणजोग्गा हु। ते पुण अणाइपरिणामभावओ हुंति णायव्वा ।। विवरीया उ अभव्वा न कयाइ भवन्नवस्स ते पारं। गच्छिसु जंति व तहा तत्तु च्चिय भावओ नवरं ।। (श्रा. प्र. गा. ६६–६७)। ३. तद्विपरीतोऽभव्यः। यो न तथा (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रपरिणामेन) भविष्यत्यसावभव्य इत्युच्यते। (त. वा. २, ७, ८); सम्यक्त्वादिव्यक्तिभावाभावाभ्यां भव्याभव्यत्वमिति विकल्पः कनकेतरपाषाणवत् ।। (त. वा. ८, ६, ६)। ४. अश्रद्दधाना ये धर्मं जिनप्रोक्तं कदाचन। अलब्धतत्त्वविज्ञाना मिथ्याज्ञानपरायणाः ।। अनाद्यनिधना सर्वे मग्नाः संसारसागरे। अभव्यास्ते विनिर्दिष्टा अन्धपाषाणसन्निभाः ।। (वराङ्ग. २६, ८–६)। ५. निर्वाणपुरस्कृतो भव्यः, × × × तद्विपरीतोऽभव्यः। (धव. पु. १, पृ. १५०–५१); भविया सिद्धी जेसिं जीवाणं ते भवंति भवसिद्धा। तव्विवरीदाऽभव्वा संसारादो ण सिज्झंति ।। (धव. पु. १, पृ. ३६४ उद्धृत; गो. जी. ५५६); सिद्धिपुरक्कदा भविया णाम, तव्विवरीया अभविया णाम। (धव. पु. ७, पृ. २४२)। ६. अभव्यस्तद्विपक्षः स्यादन्धपाषाणसन्निभः। मुक्तिकारणसामग्री न तस्यास्ति कदाचन ।। (म. पु. २४–२६)। ७. अभव्यः सिद्धिगमनायोग्यः कदाचिदपि यो न सेत्स्यति। (त. भा. सिद्ध. वृत्ति २–७)। ८. भव्याः सिद्धत्वयोग्याः स्युः विपरीतास्तथाऽपरे। (त. सा. २–६०)। ६. रयणत्तयसिद्धीए ऽणंतचउट्ठयसरुवगो भविदुं। जुग्गो जीवो भव्वो तव्विवरीओ अभव्वो दु ।। (भा. त्रि. १४)। १०. सम्यग्दर्शनादि-पर्यायाविर्भावशक्तिर्यस्यास्ति स भव्यः, तद्विपरीतलक्षणः पुनरभव्यः। (त. सुखबो. वृ. २–७ व ८–६)। ११. अभव्याः अनादिपारिणामिकाभव्यभावयुक्ताः। (नन्दी हरि. वृ. पृ. ११४)। १२. भविष्यत्सिद्धिको भव्यः सुवर्णोपलसन्निभः ।। अभव्यस्तु विपक्षः स्यादन्धपाषाणसन्निभः। (जम्बू. च. ३, २६–३०)।

१ भविष्य में जो सम्यग्दर्शनादि पर्याय से कभी भी परिणत नहीं हो सकते हैं वे अभव्य कहलाते हैं।

अभव्यसिद्धिकप्रायोग्य — भवसिद्धियाणमभवसिद्धियाणं च जत्थ ट्ठिदि-अणुभागबंधादिपरिणामा सरिसा होदूण पयट्टंति, सो अभवसिद्धियपाओग्गविसओ त्ति भण्णदे। (जयध.—क. पा. पृ. ८३८ का टि. १)।

जिस स्थान पर भव्य और अभव्य जीवों के स्थिति और अनुभाग बन्ध आदि कराने वाले परिणाम समान होकर प्रवृत्त होते हैं, उन्हें अभव्यसिद्धिक-प्रायोग्य परिणाम कहते हैं।

अभावप्रमाणता—प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते। साऽऽत्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानं वाऽन्य-वस्तुनि ॥ प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते। वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥ (प्रमाल. ३८१-८२; प्र. क. मा. पृ. १८६ व १६५ उ.)।

प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अनुत्पत्ति को, अथवा उक्त प्रत्यक्षादि प्रमाणरूप आत्मा के परिणत न होने को, अथवा अन्य वस्तु-विषयक विज्ञान को अभाव प्रमाण कहते हैं।

अभिगत—१. सम्मत्तम्मि अभिगओ विजाणओ वा वि अब्भुवगओ वा। (बृहत्क. भा. ७३४)। २. सम्यक्त्वे य आभिमुख्येन गतः प्रविष्टः सोऽभिगत उच्यते, यो वा जीवादिपदार्थानां 'विज्ञायकः' विशेषेण ज्ञाता सोऽभिगतः, यद्वा यः अभ्युपगतः—'यावज्जीवं मया गुरुपादमूलं न मोक्त-व्यम्' इति कृताभ्युपगमः सोऽभिगतः। (बृहत्क. वृ. ७३४)।

जो सम्यक्त्व के अभिमुख हो चुका है, अथवा जीवादि पदार्थों का विशेषरूप से ज्ञाता है, अथवा जो यह प्रतिज्ञा कर चुका है कि मैं जीवन पर्यन्त गुरु के पादमूल को नहीं छोड़ूंगा, उसे अभिगत कहते हैं। यह उत्सारकल्पयोग्य के कुछ गुणों में से एक है।

अभिगतचारित्रार्य—देखो अधिगतचारित्रार्य।

अभिगमन—अभिगमनं सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तर-प्रवेशनम्। (जीवाजी. मलय. वृ. ३-२, पृ. १७६; सूर्यप्र. वृ. १३-८१)।

बाहिरी मण्डल से भीतरी मण्डल में प्रवेश करने को अभिगमन कहते हैं।

अभिगमरुचि—१. सो होइ अभिगमरुई सुअणाणं जेण अत्थओ दिट्ठं। एक्कारसमंगाइं पइन्नगं दिट्ठि-वाओ य। (उत्तरा. २८-२३, पृ. ३२०)। २. अर्थ-तः सकलसूत्रविषयिणी रुचिरभिगमरुचिः। (धर्मसं. स्वो. वृ. २, २२, पृ. ३८)।

जिसने अर्थस्वरूप से ग्यारह अंग, प्रकीर्णक और दृष्टिवाद रूप सकल श्रुतज्ञान का अभ्यास किया है उसे अभिगमरुचि कहते हैं।

अभिगृहीत—१. अभिग्गहिदं यद्देशाभिमुख्येन गृ-हीतं स्वीकृतं अश्रद्धानम् अभिगृहीतमुच्यते। (भ. आ. विजयो. टी. ५६)। २. अभिग्गहिदं परोपदे-शादाभिमुख्येन स्वीकृतम्, परोपदेशजम् इत्यर्थः। (भ. आ. मूला. टी. ५६)। ३. अभि आभिमुख्येन तत्त्वबुद्ध्या, गृहीतं यथा भौत-भागवत-बौद्धादिभिः। (पंचसं. स्वो. वृ. ४-२)।

२ दूसरे के उपदेश से ग्रहण किये गये मिथ्यात्व को अभिगृहीत मिथ्यात्व कहते हैं।

अभिगृहीत दृष्टि—अभिमुखं गृहीता दृष्टिः, इद-मेव तत्त्वमिति बुद्धवचनं सांख्य-कणादादिवचनं वा। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७-१८, पृ. १००)।

तत्त्व—यथार्थ वस्तुस्वरूप—यही है, इस प्रकार बुद्ध, सांख्य व कणाद आदि के वचनों पर श्रद्धा करने को अभिगृहीत दृष्टि कहते हैं।

अभिगृहीता (मिथ्यात्व) क्रिया—तत्राभिगृहीता त्रयाणां त्रिषष्टयधिकानां प्रवादिशतानाम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-६)।

तीन सौ तिरेसठ प्रवादियों के तत्त्व पर श्रद्धा रखने को अभिगृहीता क्रिया कहते हैं।

अभिगृहीता भाषा—१. जा पुण भासा अत्थं अभिगिज्झ भासिया सा अभिग्गहिया। (दशवै. चू. २८०, पृ. २३६)। २. अर्थमभिगृह्य योच्यते घटादि-वत्। (दशवै. नि. हरि. वृ. २७७, पृ. २१०)। ३. भाषा चाभिगृहे बोद्धव्या—अर्थमभिगृह्य या प्रोच्यते घटादिवदिति। (आव. ह. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ८०)। ४. अभिगृहीता प्रतिनियतार्थावधारणम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ११-१६६)। ५. अभिगृहीता प्रतिनियतार्थावधारणरूपा यथेदमिदानीं कर्तव्यमिदं नेति। यद्वा ××× अभिगृहीता तु अर्थमभिगृह्य योच्यते घटादिवत्। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३-४१, पृ. १२३)। ६. अनेकेषु कार्येषु पृष्टेषु यदेकतरस्या-ववारणमिदमिदानीं कर्तव्यमिति सा अभिगृहीता ऽथवा घट इत्यादिप्रसिद्धप्रवृत्तिनिमित्तकपदाभि-धानं सेति द्रष्टव्यम्। (भाषार. टी. ७८)।

१ अर्थ को ग्रहण करके जो भाषा बोली जाती है—जैसे 'घट' आदि—वह अभिगृहीता भाषा कही जाती है। ६ अनेक कार्यों के पूछे जाने पर 'इस समय इसे करो' इस प्रकार किसी एक का निश्चय

करने वाली भाषा को अभिगृहीता भाषा कहते हैं। अथवा प्रवृत्तिनिमित्तक प्रसिद्ध पदों के कथन को अभिगृहीता भाषा कहते हैं।

अभिग्रहमतिक—अभिग्रहा द्रव्यादिषु नानारूपा नियमाः, तेषु स्व-परविषये मतिः तद्ग्रहण-ग्राहण-परिणामो यस्यासौ अभिग्रहमतिकः। (सम्बोधस. वृ. गा. १६, पृ. १७)।

द्रव्यादिकों के विषय में जो अनेक प्रकार के नियम हैं उन्हें अभिग्रह कहते हैं। उक्त नियमरूप अभिग्रहों में स्व और पर के विषय में ग्रहण करने कराने रूप जिसकी मति (परिणाम) हुआ करती है, उसे अभिग्रहमतिक कहते हैं।

अभिघातगति (क्रियाभेद)—जतुगोलक-कन्दु-दारुपिण्डादीनामभिघातगतिः। (त. वा. ५,२४,२१)।

लाख का गोला, गेंद और काष्ठपिण्ड आदि की अन्य से ताड़ित होने पर जो गति होती है उसे अभिघातगति कहते हैं।

अभिजातत्व—१. अभिजातत्वं वक्तुः प्रतिपाद्यस्य वा भूमिकानुसारिता। (समवा. अभय. वृ. सू. ३५, पृ. ६)। २. अभिजातत्वं यथाविवक्षितार्थाभिधान-शीलता। (रायप. टी. पृ. १६)।

२ विवक्षित अर्थ के अनुसार कथन की शैली का नाम अभिजातत्व है। यह पैंतीस सत्यवचनातिशयों में अठारहवां है।

अभिज्ञा (प्रत्यभिज्ञा)—'तदेवेदम्' इति ज्ञानमभिज्ञा। (सिद्धिवि. टी. ४–१, पृ. २२६, पं. ५)।

'यह वही है' इस प्रकारका जो ज्ञान (प्रत्यभिज्ञान) होता है उसे अभिज्ञा कहते हैं।

अभिधान-नामनिबन्धन—जो णामसद्दो पवुत्तो संतो अप्पाणं चेव जाणावेदि तमभिहाणणिबंधणं णाम। (धवला पु. १५, पृ. २)।

जो नामशब्द प्रवृत्त होकर केवल अपना ही बोध कराता है, उसे अभिधान-नाम-निबन्धन कहते हैं। यह नामनिबन्धन के तीन भेदों में से दूसरा है।

अभिधानमल—अभिधानमलं तद्वाचकः शब्दः। (धव. पु. १, पृ. ३३)।

मल-वाचक शब्द को अभिधानमल कहते हैं।

अभिधायकविधि—तद्-(अभिधेयविधि-) ज्ञापकस्त्वाभिधायकविधिः। (अष्टस. यशो. वृ. ३, ५०)।

विवक्षित अर्थ (अभिधेय) का ज्ञापन कराने वाली विधि को अभिधायक विधि कहते हैं।

अभिधेयविधि—यस्य बुद्धिः प्रवृत्तिजननीमिच्छां सूते सोऽभिधेयविधिः। (अष्टस. यशो. वृ. ३, ५०)।

जिसकी बुद्धि प्रवृत्ति की जनक इच्छा को उत्पन्न करे उसे अभिधेयविधि कहते हैं।

अभिध्या—सदा सत्त्वेष्वभिद्रोहानुध्यानम् अभिध्या। यथा—अस्मिन् मृते सुखं वसामः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–१)।

प्राणियों के विषय में सदा अभिद्रोह के चिन्तवन करने को अभिध्या कहते हैं। जैसे—इसके मर जाने पर हम सुख से रह सकते हैं।

अभिनय—अभिनयः चतुर्भिराङ्गिक-वाचिक-सात्त्विकाहार्यभेदैः समुदितैरसमुदितैर्वाऽभिनेतव्यवस्तु-भावप्रकटनम्। (जम्बूद्वी. वृ. ५-१२१, पृ. ४१४)।

कायिक, वाचनिक, सात्त्विक और आहार्य इन चार भेदों के द्वारा, चाहे वे समुदाय रूप में हों या पृथक् पृथक्, अभिनेतव्य (जिस वृत्तान्त की नकल करके प्रगट किया जाय) वस्तु के भाव को प्रगट करना, इसका नाम अभिनय है।

अभिनवानुज्ञा—अभिनवानुज्ञा नाम यदा किलान्यो देवेन्द्रः समुत्पद्यते तदा तत्कालवर्तिभिः साधुभिर्यदसावभिनवोत्पन्नतयाऽवग्रहमनुज्ञाप्यते सा तेषां साधूनामभिनवानुज्ञा। (बृहत्क. वृ. ६७०)।

जब कोई नया देवेन्द्र उत्पन्न होता है तब वह तत्कालवर्ती साधुओं के द्वारा अवग्रह (उपाश्रय) के लिये अनुज्ञापित किया जाता है, यह उन साधुओं की अनुज्ञा अभिनवानुज्ञा कही जाती है।

अभिनिबोध—१. अभिनिबोधनमभिनिबोधः। (स. सि. १–१३)। २. आभिमुख्येन नियतं बोधनमभिनिबोधः। (त. वा. १, १३, ५)। ३. अत्थाभिमुहो णियतो बोधः (अभिनिबोधः), स एव स्वार्थिकप्रत्ययोपादानादभिनिबोधकम्। (नन्दी. चू. पृ. १०)। ४. अत्थाभिमुहो नियओ बोहो जो सो मओ अभिनिबोहो। (विशेषा. भा. ८०, पृ. ३७)। ५. अर्थाऽभिमुखो नियतो बोधोऽभिनिबोधः। (आव. हरि. वृ. १, पृ. ७)। ६. अहिमुह-णियमिदट्ठे बु जो बोधो सो अहिणिबोधो। (धव. पु. ६, पृ. १५-१६)। ७. यत्तदावरणक्षयोपशमादिन्द्रियानिन्द्रियावलम्बाच्च

मूर्तामूर्तद्रव्यं विकलं विशेषेणावबुध्यते तदभिनिवोधिकज्ञानम् । (पंचा. का. अमृत. वृ. ४१)। ८. अहिमुहणियमियबोहणमाभिणिबोहियमणिदिइंदियजं । (गो. जी. ३०६)। ९. स्थूलवाग्गोचरानन्तरार्थस्य स्थायिनश्चिरम् । प्रत्यक्षं नियतस्यैतद् वोधादभिनिवोधनम् ॥ आ. सा. ४–३२) । १०. अभिनिवोधो हेतोरन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयः । (लघी. अभय. वृत्ति ४-४, पृ. ४५) । ११. अभिमुखेषु नियमितेष्वर्थेषु यो बोधः स अभिनिवोधः, अभिनिवोध एवाभिनिवोधिकम् । (मूला. वृ. १२–१८७) । १२. अर्थाभिमुखोऽविपर्ययरूपत्वान्नियतो ऽसंशयरूपत्वाद् बोधः संवेदनमभिनिवोधः । स एव स्वार्थिकप्रत्ययोपादानादाभिनिवोधिकम् । (स्थानांग सू. ४६३, पृ. ३३०) । १३. अर्थाभिमुखो नियतः प्रतिनियतस्वरूपो बोधो बोधविशेषो ऽभिनिवोधः × × × । अथवा अभिनिबुध्यतेऽनेनाऽस्मात् अस्मिन् वेति अभिनिबोधः तदावरणकर्मक्षयोपशमः । (आव. मलय. वृ. १, पृ. १२; नन्दी. मलय. वृ. सू. १, पृ. ६५)। १४. अभिमुखो वस्तुयोग्यदेशावस्थानापेक्षी, नियत इन्द्रियाण्याश्रित्य स्व-स्वविषयापेक्षी बोधः अभिनिवोधः । (अनुयो. मल. हेम. वृ. १, पृ. २)। १५. अर्थाभिमुखो नियतो वोधोऽभिनिवोधः, × × × अभिनिबुध्यते वा अनेनास्मात् अस्मिन् वा अभिनिवोधः तदावरणकर्मक्षयोपशमः । (धर्मसं. मलय. वृ. ८१६, पृ. २९१) । १६. तत्र चायमाभिनिवोधिकज्ञानशब्दार्थः—अभि इत्याभिमुख्ये, नि इति नैयत्ये, ततश्च अभिमुखः वस्तुयोग्यदेशावस्थानापेक्षी, नियत इन्द्रियमनः समाश्रित्य स्व-स्वविषयापेक्षी बोधनं बोधो ऽभिनिवोधः । (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. गा. ४, पृ. ६)। १७. लिङ्गाभिमुखस्य नियतस्य लिङ्गिनो बोधनं परिज्ञानमभिनिवोधः स्वार्थानुमानं भण्यते । (त. सुखबो. १–१३) । १८. धूमादिदर्शनादग्न्यादिप्रतीतिरनुमानमभिनिवोधः । (अन. ध. स्वो. टी. ३–४; त. वृ. श्रुत. १–१३) ।

२ अर्थाभिमुख होकर जो नियत विषय का ज्ञान होता है वह अभिनिवोध कहलाता है । १६ वस्तु के योग्य देश में अवस्थान की अपेक्षा रख कर जो इन्द्रिय और मन के आश्रय से अपने नियत विषय का—जैसे चक्षु से रूप का—बोध होता है, उसे अभिनिबोध कहते हैं ।

अभिनिवेश—अभिनिवेशश्च नीतिपथमनागतस्यापि पराभिभवपरिणामेन कार्यस्यारम्भः । स च नीचानां भवति । यदाह—दर्पः श्रमयति नीचान् निष्फल-नयविगुणदुष्करारम्भैः । श्रोतोविलोमतरणव्यसनिभिरायास्यते मत्स्यैः ॥ (योगशा. स्वो. वि. १–५३, पृ. १५६) ।

नीतिमार्ग पर न चलते हुए भी दूसरे के अभिभव (तिरस्कार) के विचार से कार्य के प्रारम्भ करने को अभिनिवेश कहते हैं । यह नीच जनों के ही होता है । सो ही कहा है—नीच जन जो अभिमान के वशीभूत होकर निरर्थक व अनैतिक दुष्कर कार्यों को किया करते हैं उनका वह परिश्रम उन मछलियों के समान है जिनकी प्रवाह के विरुद्ध तैरने की आदत है ।

अभिन्नदशपूर्वी—१. रोहिणिपहुदीण महाविज्जाणं देवदाओ पंचसया । अंगुट्ठपसेणाइं खुद्दयविज्जाण सत्तसया ॥ एत्तूण पेसणाइं मग्गंते दसमपुव्वपढणम्मि । णेच्छंति संजमत्ता ताओ जे ते अभिण्णदसपुव्वी । (ति. प. ४, ९९८–९९) । २. एत्थ दसपुव्विणो भिण्णाभिण्णभेएण दुविहा होंति । तत्थ एक्कारसंगाणि पढिदूण पुणो × × × रोहिणिआदिपंचसयमहाविज्जाओ सत्तसयदहरविज्जाहिं अणुगयाओ किं भयवं आणवेदि त्ति ढुक्कंति । एवं ढुक्कमाणाणं सव्वविज्जाणं जो लोभं गच्छदि सो भिण्णदसपुव्वी, जो पुण ण तासु लोभं करेदि कम्मक्खयत्थी सो अभिण्णदसपुव्वी णाम । (धव. पु. ९, पृ. ६८) । ३. दशपूर्वाण्यधीयमानस्य विद्यानुप्रवादस्था क्षुल्लकविद्या महाविद्याश्चाङ्गुष्ठप्रसेनाद्याः प्रज्ञप्त्यादयश्च तैः[ताभि] रागत्य रूपं प्रदर्श्य, सामर्थ्यं स्वकर्माऽऽभाष्य पुरः स्थित्वा आज्ञाप्यतां किमस्माभिः कर्तव्यमिति तिष्ठन्ति । तद्वचः श्रुत्वा न भवन्तीभिरस्माकं साध्यमस्तीति ये वदन्त्यविचलितचित्तास्ते अभिन्नदशपूर्विणः । (भ. आ. विजयो. टी. ३४) । ४. दशपूर्वाण्युत्पादपूर्वादिविद्यानुवादान्तान्येषां सन्तीति दशपूर्विणः । अभिन्ना विद्याभिरप्रच्यावितचारित्रास्ते च ते दशपूर्विणश्च, विद्यानुवादपाठे स्वयमागतद्वादशशतविद्याभिरचलितचारित्राः । (भ. आ. मूला. टीका ३४) ।

१. रोहिणी आदि महाविद्याओं के पांच सौ तथा अंगुष्ठप्रसेनादि क्षुद्र विद्याओं के सात सौ देवता

आकर विद्यानुवाद नामक दसवें पूर्व के पढ़ते समय आज्ञा देने के लिए प्रार्थना करते हैं, फिर भी जो उन्हें स्वीकार नहीं करते ऐसे साधुओं को अभिन्न-दशपूर्वी कहते हैं।

अभिन्नाक्षरदशपूर्व — पुलाक-बकुश-प्रतिसेवनाकुशीलेषु उत्कर्षेणाभिन्नाक्षरदशपूर्वाणि श्रुतं भवति। कोऽर्थः ? अभिन्नाक्षराणि एकेनाप्यक्षरेण अन्यूनानि दशपूर्वाणि भवन्तीत्यर्थः। (त. वृत्ति श्रुत. ९-४७)।

जो उत्पादपूर्वादि दस पूर्व एक अक्षर से भी कम न हों, ऐसे परिपूर्ण दस पूर्वों को अभिन्नाक्षरदशपूर्व कहा जाता है।

अभिन्नाचार—१. जात्योपजीवनादि परिहरत अभिन्नाचारः। (व्यव. भा. मलय. वृ. ३-१६४, पृ. ३५)। २. न भिन्नो न केनचिदप्यतिचारविशेषेण खण्डित आचारो ज्ञान-चारित्रादिको यस्यासावभिन्नाचारः। (अभि. रा १, पृ. ७२५)।

२ जिसका आचार किसी अतिचारविशेष के द्वारा खण्डित नहीं होता है उसे अभिन्नाचार कहा जाता है।

अभिमान— १. मानकषायादुत्पन्नोऽहङ्कारोऽभिमानः। (स. सि. ४-२१)। २. मानकषायोदयापादितोऽभिमानः। (त. वा. ४, २१, ४; त. सुखबो. वृ. ४-२१; त. वृत्ति श्रुत. ४-२१)।

१ मान कषाय के उदय से जो अन्तःकरण में अहंकारभाव उदित होता है उसका नाम अभिमान है।

अभिमुखार्थ—को अभिमुहत्थो ? इंदिय-णोइंदियाणं गहणपाओग्गो। (धव. पु. १३, पृ. २०९)।

अभिमुख और नियमित अर्थ के ग्राहक ज्ञान का नाम आभिनिबोधिक है। इस लक्षण में प्रविष्ट 'अभिमुख अर्थ' का स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट किया गया है—जो पदार्थ इन्द्रिय और मन के द्वारा ग्रहण के योग्य होता है उसे प्रकृत में अभिमुखार्थ जानना चाहिए।

अभिरूढ—१. अभिरूढस्तु पर्यायैः × × ×॥ (लघी. ५-४४)। २. × × × अभिरूढोऽस्तु नयोऽभिरूढिविषयः पर्यायशब्दार्थभित्। (सिद्धिवि. ११-३१, पृ. ७३६)।

जो पर्यायवाची शब्दों की अपेक्षा अर्थ में भेद करे उसे अभिरूढ (समभिरूढ) कहते हैं। जैसे—एक ही इन्द्र व्यक्ति को इन्दन क्रिया की अपेक्षा इन्द्र व शकन क्रिया से शक्र भी कहा जाता है।

अभिलाप—अभिलप्यते येन यो वा असौ अभिलापः शब्दसामान्यम् अर्थसामान्यम् च। (सिद्धिवि. टी. १-८, पृ. ३८, पं. ५-६)।

जिस (शब्द) के द्वारा कहा जाता है वह शब्द तथा जो कुछ (अर्थ) कहा जाता है वह भी अभिलाप कहलाता है (बौद्धमतानुसार)।

अभिवर्द्धितमास—१. अभिवड्ढि इक्कतीसा चउवीसं भागसयं च तिगहीणं। भावे मूलाहजुओ पगयं पुण कम्ममासेणं॥ (बृहत्क. ११३०)। २. अभिवड्ढिओ य मासो एकत्तीसं भवे अहोरत्ता। भागसयमेगवीसं चउवीस-सएण छेएणं॥ (ज्योतिष्क. २-३९)। ३. एकत्रिंशद् दिनानि एकविंशत्युत्तरशतं चतुर्विंशत्युत्तरशतभागानाम् (३१$\frac{१२१}{१२४}$) अभिवर्द्धितमासः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४-१५)। ४. अभिवर्द्धितो नाम मुख्यतः त्रयोदश-चन्द्रमासप्रमाणः संवत्सरः, परं तद्द्वादशभागप्रमाणो मासोऽप्यवयवे समुदयोपचाराद् अभिवर्द्धितः। स चैकत्रिंशदहोरात्राणि चतुर्विंशत्युत्तरशतभागीकृतस्य चाहोरात्रस्य त्रिकहीन चतुर्विंशं शतं भागानां भवति। (बृहत्क. वृ. गा. ११३०)। ५. तथा हि—अभिवर्धितमासस्य दिनपरिमाणमेकत्रिंशदहोरात्रा एकविंशत्युत्तरं शतं भागानाम् अहोरात्रस्य × × ×। (व्यव. भा. मलय. वृ. २-१८, पृ. ७)।

२ इकतीस दिन-रात और एक दिन के एक सौ चौबीस भागों में से एक सौ इक्कीस भाग प्रमाण (३१$\frac{१२१}{१२४}$) कालको अभिवर्धित मास कहते हैं।

अभिवर्द्धित संवत्सर—१. अभिवर्धितो नाम मुख्यतः त्रयोदश-चन्द्रमासप्रमाणः संवत्सरः। (बृहत्क. वृ. ११३०)। २. तेरस य चंदमासा एसो अभिवड्ढिओ उ नायव्वो। (ज्योतिष्क. २-३६)। ३. आइच्च-तेय-तविया खण-लव-दिवसा 'उऊ' परिणमंति। पूरेइ णिण्णथलए तमाहु अभिवड्ढियं जाण (जाण)। (सूर्यप्र. ५८)। ४. अभिवर्धितसंवत्सरे च एकैकस्मिन् अहोरात्राणां त्रीणि शतानि त्र्यशीत्यधिकानि चतुश्चत्वारिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य। (सूर्यप्र. वृ. १०, २०, ५६); तिण्णि अहोरत्तसया तेसीई चेव होइ अभिवड्ढो। चोयालीसं भागा बावट्ठिकएण छेएण॥ (सूर्यप्र. वृ. १०, २०, ५७ उ.); [illegible]

चतुश्चत्वारिंशच्च द्वाषष्ठिभागा अहोरात्रस्य एतावदहोरात्रप्रमाणोऽभिवर्द्धितसंवत्सरः। ××× तथा यस्मिन् संवत्सरेऽधिकमाससम्भवेन त्रयोदश चन्द्रमासा भवन्ति सोऽभिवर्धितसंवत्सरः। (सूर्यप्र. वृ. सू. ५–७; पृ. १५४); यस्मिन् संवत्सरे क्षण-लव-दिवसा ऋतवः आदित्यतेजसा कृत्वाऽतीव तप्ता परिणमन्ति, यश्च सर्वाण्यपि निम्नस्थानानि स्थलानि च जलेन पूरयति तं संवत्सरं जानीहि, यथा तं संवत्सरमभिवर्धितमाहुः पूर्वर्षयः इति। (सूर्यप्र. वृ. ५८, पृ. १७३)। ५. एवंविधेन (अभिवर्द्धितेन) मासेन द्वादशमासप्रमाणोऽभिवर्धितसंवत्सरः। स चायं त्रीणि शतान्यह्नां त्र्यशीत्यधिकानि चतुश्चत्वारिंशच्च द्विषष्टिभागाः (३८३४४/६२)। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४–१५)।

२ तेरह चान्द्रमास प्रमाण अभिवर्धित संवत्सर होता है।

अभिषव—१. द्रवो वृष्यो वाऽभिषवः। (स. सि. ७–३५)। २ द्रवो वृष्यं वाऽभिषवः द्रवः। सौवीरादिकः वृष्यं वा द्रव्यमभिषवः इत्यभिधीयते। (त. वा. ७, ३५, ५)। ३. द्रवो वृष्यं चाभिषवः। (त. श्लो. ७–३५)। ४. अभिषवाहार इति—सुरा-सौवीरक - मांसप्रकार - पर्णक्याद्यनेकद्रव्यसंघातनिष्पन्नः सुरा-सीधु-मधुवारादिरभिवृष्यवृक्षद्रव्योपयोगो वा। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–३०)। ५. सौवीरादिद्रवो वा वृष्यं वाऽभिषवाहारः। (चा. सा. पृ. १३)। ६. अभिषवोऽनेकद्रव्यसन्धाननिष्पन्नः। सुरा-सौवीरकादिः मांसप्रकारखण्डादिर्वा सुरामध्वाद्यभिष्यन्दिद्रव्योपयोगो वा। (योगशा. स्वो. विव. ३–६८, पृ. ५६५)। ७. अभिषवः सुरा-सौवीरकादिर्मांसप्रकारखण्डादिर्वा। सुरामध्वाद्यभिष्यन्दिवृष्यद्रव्योपयोगो वा। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. २–५०, पृ. १०६)। ८. द्रवो वृष्यश्चोभयोऽभिषवः। (त. वृत्ति श्रुत. ७–३५)।

२ द्रव (कांजी) अथवा वृष्य (गरिष्ठ) द्रव्य को अभिषव कहा जाता है। ४ मद्य, सौवीरक (कांजी), विशिष्ट अवस्थागत मांस और पर्णकी आदि अनेक द्रव्यों के समुदाय से निर्मित गरिष्ठ खाद्य को अभिषव कहते हैं।

अभिष्वङ्ग—१. अभिष्वङ्गो बाह्याभ्यन्तरोपकरणविषयसुखे राग आसक्तिः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–१०)। २. 'पेज्जे' त्ति प्रियस्य भावः कर्म वा प्रेम, तच्चानभिव्यक्तमाया-लोभलक्षणभेदस्वभावमभिष्वङ्गमात्रमिति। (स्थानांग अभय. वृ. १–४८, पृ. २४)। ३. भावो नाम जीवस्य परिणामः, सोऽभिष्वङ्गोऽभिधीयते। ××× येन धन-धान्य-कलत्रादिगार्द्ध्यपरिणामेनास्य जन्तोरन्ते—आयत्यां नारकादिभवदुःखलक्षणं भयमुत्पद्यते स तथाभूतः परिणामोऽभिष्वङ्गः, न सर्वोऽपीति भावार्थः। (आव. हरि. वृ. मल. हेम. टि. पृ. १०६–७)।

१ बाह्य और अभ्यन्तर उपकरण युक्त विषय-सुख में जो राग या आसक्ति होती है उसे अभिष्वंग कहते हैं। यह लोभ का पर्याय नाम है।

अभिष्वष्करण—१. अभिष्वष्कणं तस्यैव विवक्षितकालस्य संवर्द्धनम्, परतः करणमित्यर्थः। (बृहत्क. वृ. १६७५)। २. अभिष्वष्कणं पश्चादपसरणम्। (आव. हरि. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ८७)।

१ वसतिके विवक्षित विध्वंसादि काल को बढ़ाना—आगे करना, इसका नाम अभिष्वष्कण बादर प्राभृतिका है।

अभिहृत—१. एकदेशात् सर्वस्माद्वाऽऽगतमोदनादिकं अभिघटम् [अभिहृतम्]। (मूला. वृ. ६–१६)। २. स्यादायातमभिहृतं ग्रामवारगृहान्तरात्। (आचा. सा. ८–३२)। ३. त्रीन् सप्त वा गृहान् पङ्क्त्या स्थितान् मुक्त्वाऽन्यतोऽखिलात्। देशादयोग्यमायातमन्नाद्यभिहृतं यतेः। (अन. ध. ५-१६)। ४. ग्रामात् पाटकात् गृहान्तराद्यदायातं तदभिहृतम्। (भा. प्रा. टी. ६६)।

३ एक पंक्ति में स्थित तीन या सात घरों को छोड़ कर उससे बाहिर के प्रदेश से आये हुए अयोग्य आहारके लेने पर अभिहृत (अभिघट) नामका उद्गम-दोष होता है।

अभीक्ष्णज्ञानोपयोग—१. जीवादिपदार्थस्वतत्त्व-विषये सम्यग्ज्ञाने नित्यं युक्तताऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगः। (स. सि. ६–२४)। २. ज्ञानभावनायां नित्ययुक्तता ज्ञानोपयोगः। मत्यादिविकल्पं ज्ञानं जीवादिपदार्थ-स्वतत्त्वविषयं प्रत्यक्ष-परोक्षलक्षणम् अज्ञाननिवृत्त्य-व्यवहितफलं हिताहितानुभयप्राप्तिपरिहारोपेक्षाव्यव-हितफलं यत्तस्य भावनायां नित्ययुक्तता ज्ञानोपयोगः। (त. वा. ६, २४, ४; चा. सा. पृ. २५; त. वृत्ति श्रुत. ६–२४; त. सुखबो. ६–२४)। ३. अभिक्ष्ण-

णाणोवजोगजुत्तदाए—अभिक्खणं णाम बहुवारमिदि भणिदं होदि। णाणोवजोगो त्ति भावसुदं दव्वसुदं वावेक्खदे। तेसु मुहुम्मुहुजुत्तदाए तित्थयरणामकम्मं बज्झइ, दंसणविसुज्झदादीहि विणा एदिस्से अपुव्वत्तीदो। (धव. पु. ८, पृ. ९१)। ४. संज्ञानभावनायां तु या नित्यमुपयुक्तता। ज्ञानोपयोग एवासौ तत्राभीक्ष्ण्यं प्रसंज्ञितः॥ (त. श्लो. वा. ६, २४, ६)। ५. अज्ञाननिवृत्तिफले प्रत्यक्ष-परोक्षलक्षणज्ञाने। नित्यमभियुक्ततोक्तस्तज्ज्ञैर्ज्ञानोपयोगस्तु॥ (ह. पु. ३४–१३५)। ६. अभीक्ष्णं ज्ञानोपयोग इति—अभीक्ष्णं मुहुर्मुहुः प्रतिक्षणं ज्ञानं द्वादशाङ्गं प्रवचनं प्रदीपाङ्कुरप्रासादप्लवस्थानीयं, तत्रोपयोगः प्रणिधानम्। सूत्रार्थोभयविषयं आत्मनो व्यापारः, तत्परिणामितेति यावत्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-२३)।

१ जीवादि पदार्थों के स्वकीय स्वरूप के जानने रूप सम्यग्ज्ञान में नित्य उपयुक्त रहने को अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग कहते हैं।

अभेदप्राधान्य—अभेदप्राधान्यं द्रव्यार्थिकनयगृहीत-सत्ताद्यभिन्नानन्तधर्मात्मकवस्तुशक्तिकस्य सदादिपदस्य कालाद्यभेदविशेषप्रतिसन्धानेन पर्यायार्थिकनयपर्यालोचनप्रादुर्भवच्छक्यार्थबाधप्रतिरोधः। (शास्त्रवा. यशो. टी. ७–२३, पृ. २५४)।

द्रव्यार्थिक नयके द्वारा ग्रहण की गई सत्ता आदि से अभिन्न अनन्त धर्मस्वरूप वस्तु के ग्रहण करने की शक्तिवाले सत्-असत् आदि पदों की, काल आदि के अभेद को लक्ष्य करके पर्यायार्थिक नयसे उत्पन्न होनेवाली शक्ति से अनन्तधर्मात्मक वस्तु के ग्रहण-रूप अर्थ में, बाधाको दूर करना; इसका नाम अभेद-प्राधान्य है।

अभेदोपचार—अभेदोपचारस्तु पर्यायार्थिकनयगृहीतान्यापोहपर्यवसितसत्तादिमात्रशक्तिकस्य तात्पर्यानुपपत्त्या सदादिपदस्योक्तार्थे लक्षणा। (शास्त्रवा. यशो. टी. ७–२३, पृ. २५४)।

पर्यायार्थिक नयसे ग्रहण किये गये तथा अन्यापोह में जिनका पर्यवसान है ऐसे, केवल सत्-असत् आदि धर्मों के ग्रहण करने की शक्तिवाले 'सत्' आदि पदों की तात्पर्य के घटित न हो सकने से अनन्त-धर्मात्मक वस्तु के ग्रहण में जो लक्षणा की जाती है, इसका नाम अभेदोपचार है।

अभोज्यगृहप्रवेशन— × × × चाण्डालादिनिकेतने। प्रवेशो भ्रमतो भिक्षोरभोज्यगृहवेशनम्॥ (अन. ध. ५–५३)।

भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए भिक्षुका चाण्डालादि अस्पृश्य शूद्र के घर में प्रवेश करने पर अभोज्य-गृहप्रवेशन नामक अन्तराय होता है।

अभ्यन्तर अवधि—यः पुनरवधिः सर्वासु दिक्षु स्वद्योत्यं क्षेत्रं प्रकाशयति अवधिमता च सह सातत्येन ततः स्वद्योत्यं क्षेत्रं सम्बद्ध सोऽभ्यन्तरावधिः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३१७, पृ ५३६)।

जो अवधिज्ञान सर्व दिशाओं में अपने विषयभूत क्षेत्र को प्रकाशित करे और अपने स्वामी के साथ सदा अपने विषयभूत क्षेत्र में सम्बद्ध रहे उसे अभ्यन्तर-अवधि कहते हैं।

अभ्यन्तर निर्वृत्ति—देखो आभ्यन्तरनिर्वृत्ति। १. उत्सेधाङ्गुलासंख्येयभागप्रमितानां विशुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनावस्थितानां वृत्तिरभ्यन्तरा निर्वृत्तिः। (स. सि. २–१७; त. वा. २, १७, ३; मूला. १–१६)। २. विशुद्धात्मप्रदेशवृत्तिराभ्यन्तरा। (त. श्लो. २–१७)। ३. नेत्रादीन्द्रियसंस्थानावस्थितानां हि वर्तनम्। विशुद्धात्मप्रदेशानां तत्र निर्वृत्तिरान्तरा॥ (त. सा. २–४१)। ४. अभ्यन्तरा चक्षुरादीन्द्रियज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविशिष्टोत्सेधाङ्गुलासंख्येयभागप्रमितात्मप्रदेशसंश्लिष्टसूक्ष्मपुद्गलसंस्थानरूपा। (त. सुखबो. वृ. २–१७)। ५. तत्रोत्सेधासंख्येयभागप्रमितानां शुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनावस्थिता या वृत्तिरभ्यन्तरा निर्वृत्तिः। (आचारा. वृत्ति २, १, ६४ पृ. ८४)। ६. बाह्यनिर्वृत्तीन्द्रियस्य खड्गोपमितस्य या। धारोपमान्तर्निर्वृत्तिरत्यच्छपुद्गलात्मिका॥ (लोकप्र. ३–७५, पृ. ३९)। ७. × × × खड्गस्थानीया या बाह्यनिर्वृत्तिः खड्गधारासमाना स्वच्छतरपुद्गलसमूहात्मिका अभ्यन्तरा निर्वृत्तिः × × ×। (नन्दी. मलय. वृ. सू. ३, पृ. ७५)। ८. उत्सेधाङ्गुलासंख्येयभागप्रमितानां शुद्धात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनेन्द्रियसंस्थानेनावस्थितानां वृत्तिरभ्यन्तरा निर्वृत्तिः। (मूला. वृ. १–१६)। ९. [illegible]

चक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनाऽवस्थितानामात्मप्रदेशानां वृत्तिरभ्यन्तरनिवृत्तिः । (त. वृत्ति श्रुत. २–१७)।
१ उत्सेधाङ्गुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण शुद्ध आत्मप्रदेशों की प्रतिनियत चक्षु आदि इन्द्रियों के आकाररूप से रचना होने को अभ्यन्तर निर्वृत्ति कहते हैं।

अभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्ग—१. ××× अभ्यन्तरोपधित्यागश्चेति । ××× क्रोधादिरात्मभावोऽभ्यन्तरोपधिः, कायत्यागश्च नियतकालो यावज्जीवं वाऽभ्यन्तरोपधित्याग इत्युच्यते । (स. सि. ९–२६)। २. अभ्यन्तरः शरीरस्य कषायाणां चेति । (त. भा. ९–२६)। ३. क्रोधादिभावनिवृत्तिरभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्गः । क्रोध-मान-माया-लोभ-मिथ्यात्व-हास्य-रत्य-रति- शोक - भयादिदोषनिवृत्तिरभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्ग इति निश्चीयते । कायत्यागश्च नियतकालो यावज्जीवं वा । कायत्यागश्चाभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्ग इत्युच्यते । स पुनर्द्विविधः—नियतकालो यावज्जीवं चेति । (त. वा. ९, २६, ४–५)। ४. अभ्यन्तरः शरीरस्य कषायाणां चेति· शरीरस्य पर्यन्तकाले विज्ञायाकिंचित्करत्वं शरीरकं परित्यजति—उज्झति । यथोक्तम्—'जं पि य इमं सरीरं इट्ठं कंतं' इत्यादि । क्रोधादयः कषायाः संसारपरिभ्रमणहेतवः, तेषां व्युत्सर्गः परित्यागो मनोवाक्कायैः कृत-कारितानुमतिभिश्चेति । (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–२६)।
३ क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, शोक व भय आदि दोषों के त्याग को तथा नियत काल तक या यावज्जीवन शरीर के त्याग को भी अभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्ग कहते हैं।

अभ्याख्यान—१. हिंसादेः कर्मणः कर्तुर्विरतस्य विरताविरतस्य वा ऽयमस्य कर्तेत्यभिधानमभ्याख्यानम् । (त. वा. १, २०, १२, पृ. ७५)। २. अभ्याख्यानं तद्गुणशून्यत्वे ऽपि तद्गुणाभ्युपगमलक्षणम् । (श्रा. प्र. टी. १२३)। ३. अयमस्य कर्तेति अनिष्टकथनमभ्याख्यानम् । (धव. पु. ५, पृ. ११६)। ४. क्रोधमानमायालोभादिभिः परेष्वविद्यमानदोषोद्भावनमभ्याख्यानम् । (धव. पु. १२, पृ. २८५)। ५. हिंसाद्यकर्तुः कर्तुर्वा कर्तव्यमिति भाषणम् । अभ्याख्यानम् ×××॥ (ह. पु. १०–९२)। ६. अभ्याख्यान प्रकटमसद्दोषारोपणम् । (स्थानांग अभय. वृ. १–४६, पृ. २४)। ७. अभ्याख्यानमसद्दोषारोपणम् । (प्रज्ञापना मलय. वृ. २२–२८०, पृ. ४३८)। ८. इणमणेण कियमिदि अणट्ठकहणमब्भक्खाणं णाम। (अङ्गपण्णत्ती पृ. २९२)। ९. अभ्याख्यानं मिथ्याकलङ्कदानम् । (कल्पसू. वृ. ११८)।
१ हिंसादि कार्य का करने वाला, चाहे वह विरत हो चाहे विरताविरत हो, 'यह उसका कर्ता है' इस प्रकार उसके सम्बन्ध में कहना; इसे अभ्याख्यान कहते हैं। २ अथवा जिसमें जो गुण नहीं है, उसमें उस गुणका सद्भाव बतलाने को अभ्याख्यान कहते हैं।

अभ्यास—यावत्प्रमाणो यो राशिर्भवेत् स्वरूपसंख्यया । स न्यस्य तावतो वारान् गुणितोऽभ्यास उच्यते ॥ (लोकप्र. १–१६५)।
विवक्षित राशि स्वरूप व संख्या से जितनी हो, उस स्थापित कर उतने बार गुणा करने को अभ्यास कहते हैं। जैसे—५×५×५×५×५=३१२५।

अभ्यासवर्ती—१. गुरुणो य लाभकंखी अब्भासे वट्टते सया । साहू आगार-इंगिएहिं संदिट्ठो वत्ति काऊणं ॥ (व्यव. भा. १–७९, पृ. ३१)। २. गुरोरभ्यासे समीपे वर्तते इति शीलोऽभ्यासवर्ती गुरुपादपीठिकाप्रत्यासन्नवर्तीति भावः । (व्यव. भा. मलय. वृ. १–७८, पृ. ३१)।
जो साधु ज्ञान, दर्शन और संयम के लाभ की इच्छा से सदा गुरु के समीप रहता है तथा नेत्र व मुखादि के आकार और शरीर की चेष्टा से यदि कुछ संदेश दिया जाता है तो उसके करने में उद्यत रहता है, ऐसे साधु को अभ्यासवर्ती कहा जाता है। यह औपचारिक विनय के ७ भेदों में प्रथम है।

अभ्यासासन—देखो अभ्यासवर्ती । अभ्यासासनम् उपचरणीयस्यान्तिकेऽवस्थानम् । (समवा. अभय. वृ. ९१, पृ. ८९)।
उपचरणीय—आदर-सत्कार करने के योग्य गुरु आदि के—समीप में स्थित रहने को अभ्यासासन कहते हैं।

अभ्याहृत (आहारदोषभेद)—१. स्वग्रामादेः साधुनिमित्तमभिमुखमानीतमभ्याहृतम् । (दशवै. हरि. वृ. ३–२, पृ. ११६; धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३-२२, पृ. ४०)। २. गृह-ग्रामादेः साध्वर्थं यदानीतं तदभ्याहृतम् । (योगशा. स्वो. विव. १–३८, पृ. १३४)। ३. स्व-परग्रामात् साधुनिमित्तं य आनीयते सोऽभ्या-

हृतपिण्डः। (आव. हृ. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ८१)। १ स्वकीय ग्राम आदि से साधु के निमित्त लाये हुये आहार को अभ्याहृत कहते हैं।

अभ्याहृत (वसतिकादोषभेद)—कुड्याद्यर्थं कुटीरक-कटादिकं स्वार्थं निष्पन्नमेव यत्संयतार्थमानीतं तदब्भाहिडम्। (भ. आ. विजयो. व मूला. टी. २३०; कार्तिके. टी. ४४९, पृ. ३३७-३८)।
अपनी कुटी (झोंपड़ी) के वनाने के लिए लाए गये कुटीरक और चटाई आदि यदि साधु के लिये दी जाती है तो यह उसके लिये अभ्याहृत नामका वसतिकादोष होता है।

अभ्युत्थान—१. अभ्युत्थानं गुर्वादीनां प्रवेश-निष्क्रमणयोः। (भ. आ. विजयो. टी. ११९)। २. गुर्वादीनां प्रवेश-निष्क्रमणयोः सम्मुखमुत्थानं अभ्युत्थानम्। (भ. आ. मूला. टी. ११९)। ३. अभ्युत्थानमासनत्यागः। (समवा. अभय. वृ. ९१, पृ. ९५)।
१ गुरु आदि के आने-जाने पर उनके सम्मान प्रदर्शनार्थ अपना आसन छोड़कर खड़े हो जाने को अभ्युत्थान कहते हैं।

अभ्युदय—१. पूजार्थाज्ञैश्वर्यैर्बल-परिजन-कामभोग-भूयिष्ठैः। अतिशयितभुवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्मः॥ (रत्नक. श्रा. १३५)। २. इन्द्रपदं तीर्थकरगर्भावतार-जन्माभिषेक-साम्राज्य - चक्रवर्तिपद-निःक्रमणकल्याण - महामण्डलेश्वरादिराज्यादिकं सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तमहमिन्द्रपदं सर्वं सांसारिकं विशिष्टमविशिष्टं सुखमभ्युदयमित्युच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७–२९)।
१ पूजा-प्रतिष्ठा, धन-सम्पत्ति, आज्ञा, ऐश्वर्य, बल, परिजन और कामभोग; इत्यादि की प्रचुरता से प्राप्ति होना, इसका नाम अभ्युदय है।

अभ्र—एवं वंधं पाविदूण से अब्भाणं वा अवारिन्नु वा मेहा अब्भा णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३५)।
वर्षा-विहीन मेघ अभ्र कहलाते हैं।

अभ्रावकाशशयन—अब्भावगाससयणं बहिर्निरावरणदेशे शयनम्। (भ. आ. विजयो. व मूला. टी. २२५)।
गृह आदि के बाहर निरावरण स्थान में सोने को अभ्रावकाशशयन कहते हैं।

अभ्रावकाशाऽतिचार—१. सचित्तायां भूमौ त्रससहितहरितसमुत्थितायां विवरवत्यां शयनम्, अकृतभूमि-शरीरप्रमार्जनस्य हस्त-पादसंकोच-प्रसारणम्, पार्श्वान्तरसंचरणम्, कण्डूयनं वा, हिम-समीरणाभ्यां हतस्य कदैतदुपशमो भवतीति चिन्ता, वंशदलादिभिरुपरि निपतितहिमापकर्षणम्. अवश्यायघट्टना वा, प्रचुरवातातपदेशो ऽयमिति संक्लेशः अग्नि-प्रावरणादीनां स्मरणम्; अभ्रावकाशातिचारः। (भ. आ. विजयो. टी. ४८७)। २. अभ्रावकाशस्य हिमवाताभ्यामुपहतस्य कदैतदुपशमः स्यादिति चिन्ता, वंशदलादिभिरुपरि निपतितहिमस्यापकर्षणमवश्यायघट्टना वा, प्रभूतवातातपदेशोऽयमिति संक्लेशोऽग्नि-प्रावरणादीनां स्मरणमित्यादिकोऽभ्रावकाशातिचारः। (भ. आ. मूला. टी. ४८७)।
१ सचित्त, त्रसजीव-बहुल एवं सछिद्र भूमिपर सोना: भूमि व शरीर के प्रमार्जन के विना ही हाथ-पैर आदि को सकोड़ना व फैलाना, करवट वदलना, शरीर को खुजलाना तथा वर्फ व वायु से पीड़ित होने पर 'कब यह शान्त होता है' ऐसा चिन्तन करना, वांस के पत्तों आदि से ऊपर पड़ी ओसविन्दुओं को हटाना; इत्यादि अभ्रावकाशशयन के अतिचार हैं।

अभ्रावकाशी—अभ्रेऽवकाशोऽस्ति येषां तेऽभ्रावकाशिनः, शीतकाले बहिःशायिनः। (योगिभ.टी.१२)।
शीतकाल में निरावरण प्रदेश में सोनेवाले साधु को अभ्रावकाशी कहते हैं।

अमध्यस्थ (अमज्झत्थ)—जे णवि वट्टइ रागे णवि दोसे दोण्ह मज्झयारम्मि। सो होइ उ मज्झत्थो सेसा सव्वे अमज्झत्था॥ (आव. नि. गा. ८०३)।
जो न तो राग में वर्तमान रहता है और न द्वेष में भी, किन्तु उनके मध्य में अवस्थित रहता है; वह मध्यस्थ होता है। शेष सबको अमध्यस्थ जानना चाहिये।

अमनस्क—१. न विद्यते मनो येषां तेऽमनस्काः। (स. सि. २–११; त. वा. २, ११, १; त. सुखबो. २–११)। २. मनसो द्रव्य-भावभेदस्य सन्निधानात् समनस्काः, तदसन्निधानादमनस्काः। × × × केचित् पुनरमनस्काः, [illegible] निर्दे-[illegible]: । (त. श्लो. २–११)। ३. द्वे पुनर्भावमनसैवोपयोगमात्रेण मनःपर्याप्तिनिर्वर्तितविशेष-निरपेक्षेण युक्तास्तेऽमनस्काः। (त. भा. सि. वृ. २–११)। ४. न विद्यते पूर्वोक्तं (द्रव्य-भावभेदं)

द्विप्रकारं मनो येषां तेऽमनस्काः। (त. वृत्ति श्रुत. २–११)।

२ द्रव्य-भाव स्वरूप मनसे रहित जीवों को अमनस्क कहते हैं।

अमनोज्ञ—१. अमनोज्ञं अप्रियं विष-कण्टक-शत्रु-शस्त्रादि, तद् बाधाकारणत्वादमनोज्ञम् इत्युच्यते। (स. सि. ९–३०)। २. अप्रियममनोज्ञं बाधाकारणत्वात्। यदप्रियं वस्तु विष-कण्टक-शत्रु-शस्त्रादि तद् बाधाकारणत्वादमनोज्ञमित्युच्यते। (त. वा. ९, ३०, १)। ३. अप्रियममनोज्ञम्, बाधाकारणत्वात्। (त. श्लो. ९–३०)।

१ विष, कण्टक और शत्रु आदि जो बाधा के कारण हैं, उन अप्रिय पदार्थों को अमनोज्ञ कहते हैं।

अमनोज्ञ-सम्प्रयोग-सम्प्रयुक्त आर्तध्यान (अमणुण्ण-संपओग-संपउत्त अट्टज्झाण)–१. अमणुण्णं णाम अप्पियं, समंतओ जोगो संपओगो तेण अप्पिएण समंतनो संपउत्तो तस्स विप्पयोगाभिकंखी सतिसमण्णागते यावि भवइ, सतिसमण्णागते णाम चित्तणिरोहो काउं झायइ जहा कहं णाम मम एतेसु अणिट्ठेसु विसएसु सह संजोगो न होज्जत्ति, तेसु अणिट्ठेसु विसयादिसु पओसं समावण्णो अप्पत्तेसु इट्ठेसु परमगिद्धिमावण्णो रागद्दोसवसगओ नियमा उदयकिलिन्न व्व पावकम्मरयं उवचिणाइ त्ति अट्टस्स पढमो भेदो मतो। (दशवै. चू.पृ २९-३०)। २. कदा ममाऽनेन ज्वर-शूल-शत्रु-रोगादिना वियोगो भविष्यतीत्येवं चिन्तनम् आर्तध्यानं प्रथमम्। (मूला. वृ. ५–१९८)। ३. अमनोज्ञानां शब्दादिविषयाणां तदाधारवस्तूनां च रासभादीनां संप्रयोगे तद्विप्रयोगचिन्तनमसंप्रयोग प्रार्थना च प्रथमम्। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३, २७, पृ. ८०)। ४. अमणुन्नाणं सद्दाइविसयवत्थूण दोसमइलेस्सं। धणिअं विओगचिंतणमसपओगाणुसरणं च ॥६॥ (आव. ४ अ.—अभि. रा. १. पृ. २३५)।

१ अमनोज्ञ (अनिष्ट) वस्तुओं का संयोग होने पर उनके वियोग का अभिलाषी होकर जो यह विचार किया जाता है कि इन अनिष्ट विषयों के साथ मेरा संयोग कैसे नष्ट होगा, यह अमनोज्ञसम्प्रयोग नामका प्रथम आर्तध्यान है। इसके आश्रय से अनिष्ट विषयों में द्वेषभाव को प्राप्त होकर और अप्राप्त इष्ट पदार्थों में लोलुपता को प्राप्त होकर जीव राग-द्वेष के वशीभूत होता हुआ पाप कर्म का संचय करता है।

अमात्य (अमच्च)—१. सजणवयं पुरवरं चिंतंतो अत्थ (च्छ) इ नरवतिं च। ववहार-नीतिकुसलो अमच्च एयारिसो ××× ॥ (व्यव. भा. ३, पृ. १२९)। २. अमात्यः देशाधिकारीत्यर्थः। (त्रि. सा. टी. ६८३)। ३. यो व्यवहारकुशलो नीतिकुशलश्च सन् सजनपदं पुरवरं नरपतिं च चिन्तयन्नवतिष्ठते स एतादृशो भवति अमात्यः। अथवा यो राज्ञोऽपि शिक्षां प्रयच्छति। (व्यव. भा. मलय. वृ. ३, पृ. १२९); अमात्यो राजकार्यचिन्ताकृत्। (व्यव. भा. मलय. वृ. २–३३)। ४. अमात्याः सहजन्मानो मंत्रिणः। (कल्पसूत्र वृ. ३–६२)।

१ जो व्यवहारचतुर व नीतिकुशल होता हुआ जनपदों सहित श्रेष्ठ नगर और राजा की भी चिन्ता करता है वह अमात्य कहलाता है। २ देश का जो अधिकारी होता है उसे अमात्य कहा जाता है।

अमार्गदर्शन—चौरमार्गप्रयच्छकानां मार्गान्तरकथनेन तदज्ञापनम्। (श्रा. गु. वि. पृ. १०; प्रश्नव्या. वृ. पृ. १९३)।

चोरों का मार्ग पूछने वालों को दूसरा मार्ग बताकर उससे अनभिज्ञ रखना, इसे अमार्गदर्शन कहते हैं।

अमित्रक्रिया—१. अमित्रक्रियां द्वेषलक्षणा। (गु. गु. ष. वृ. १५, पृ. ४१)। २. अमित्रक्रिया पित्रादिषु स्वल्पेऽप्यपराधे तीव्रतरदण्डकरणम्। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३, २७, पृ. ८२)।

२ पिता आदि के द्वारा अल्प भी अपराध के हो जाने पर तीव्र दण्ड देने को अमित्रक्रिया कहते हैं।

अमूढदृक्—अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धानं मूढदृष्टिः स्वलक्षणात्। नास्ति सा यस्य जीवस्य विख्यातः सोऽस्त्यमूढदृक्॥ (लाटीसं. ४–१११; पंचाध्या. २–५८९)

जिस जीव की अतत्त्व में तत्त्वश्रद्धारूप मूढ दृष्टि नहीं रहती है वह अमूढदृक् कहलाता है।

अमूढदृष्टि—१. जो हवदि असंमूढो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु। सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥ (समयप्रा. २५०)। २. कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेऽप्यसम्मतिः। असंपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते ॥ (रत्नक. १४)। ३. बहुविधेषु दुर्नयदर्शनवर्त्मसु तत्त्ववदाभासमानेषु युक्त्यभावं

परीक्षा-चक्षुषा व्यवसाय्य अध्यवस्य विरहितमोहता अमूढदृष्टिता । (त. वा. ६, २४, १; चा. सा. पृ. ३; त. सुखबो. ६–२४; कार्तिके. टी. ३२६) । ४. अमूढदृष्टिश्च बालतपस्वितपोविद्यातिशयदर्शनैर्न मूढा स्वरूपान्न चलिता दृष्टिः सम्यग्दर्शनादिरूपा यस्याऽसावमूढदृष्टिः । (दशवै. हरि. वृ. पृ. १०२; व्यव. भा. मलय. वृ. १–६४, पृ. २७; धर्मवि. मु. वृ. २-११; धर्मसं. मान. स्वो. वृ. पृ. १६)। ५. भय-लज्जा-लाहादो हिंसाऽऽरंभो ण मण्णदे धम्मो । जो जिणवयणे लीणो अमूढदिट्ठी हवे सो दु ॥ (कार्तिके. वृ. ४१८) । ६. यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्ण-ज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि भावेषु मोहाभावादमूढ-दृष्टिः । (समयप्रा. अमृत.वृ.२५०)। ७. लोके शास्त्रा-भासे समयाभासे च देवताऽऽभासे । नित्यमपि तत्त्व-रुचिना कर्तव्यमममूढदृष्टित्वम् ॥ (पु. सि. २६) । ८. देव-धर्म-समयेषु मूढता यस्य नास्ति हृदये कदा-चन । चित्तदोषकलितेषु सन्मतेः सोऽर्च्यते स्फुटम-मूढदृष्टिकः ॥ (अमित. श्रा. ३–७६) । ९. वीत-रागसर्वज्ञप्रणीतागमार्थाद् वहिर्भूतैः कुदृष्टिभिर्यत् प्रणीतं धातुवाद-खन्यवाद-हरमेखल-क्षुद्रविद्या-व्यन्तर-विकुर्वणादिकमज्ञानिजनचित्तचमत्कारोत्पादकं दृष्ट्वा श्रुत्वा च योऽसौ मूढभावेन धर्मबुद्ध्या तत्र रुचि भक्ति न कुरुते स एव व्यवहारोऽमूढदृष्टिरुच्यते । (वृ. द्रव्यसं. टी. ४१) । १०. मनो-वाक्-कायैर्मिथ्या-दर्शनादीनां तद्वतां चाप्रशंसाकरणम् अमूढं सम्यग्-दर्शनम् । (रत्नक. टी. १–१४) । ११. तदन्यज्ञान-विज्ञानप्रशंसाविस्मयोज्झिता । युक्तियुक्तजिनोक्तेर्या रुचिः सा ऽमूढदृष्टिता । (आचा. सा. ३–६०) । १२. न मूढा अमूढा, अमूढा दृष्टिः रुचिर्यस्यासाव-मूढदृष्टिस्तस्य भावो ऽमूढदृष्टिता, लौकिक-साम-यिक-वैदिकमिथ्याव्यवहाराऽपरिणामो ऽमूढदृष्टिता । (मूला. वृ. ५–४) । १३. णेगविहा इड्ढीओ पूयं परवादिणं च दट्ठूण । जस्स ण मुज्झइ दिट्ठी अमूढदिट्ठि तयं विंति ॥ (व्यव. भा. मलय. वृ. १-६४, पृ. २७ उद्धृत)। १४. यो देव-लिङ्गि-समयेषु तमोमयेषु लोके गतानुगतिके ऽप्यपथैकपान्थे । न द्वेष्टि रज्यति न च प्रचरद्विचारः सोऽमूढदृष्टिरिह राजति रेवतीवत् ॥ (अन. ध. २–१०३); अमूढा पडनायतनत्यागादनभिभूता, दृष्टिः सम्यक्त्वं यस्या-सावमूढदृष्टिः । (अन. ध. स्वो. टी. २–१०३) । १५. अमूढा ऋद्धिमत्कुतीर्थिकदर्शने ऽप्यविगीतमस्मद्-दर्शनम् इति मोहरहितता, सा चाऽसौ दृष्टिश्च बुद्धि-रूपा अमूढदृष्टिः । (उत्तरा. ने. वृ. २८–३१) । १६. परवाइडंवरेहिं अमूढदिट्ठी उ सुलसाई । (गु. गु. ष. स्वो. वृ. ७, पृ. २७) । १७. दोषदुष्टेषु शास्त्रेषु तपस्वि-देवतादिषु । चित्तं न मुह्यते क्वापि तदमूढं निगद्यते । (भावसं. वाम. ४१३) । १८. परतत्त्वेषु मोहोज्झि-तत्वं अमूढदृष्टित्वम् । (भा. प्रा. टी. ७७) । १९. अनार्हतदृष्टतत्त्वेषु मोहरहितत्वममूढदृष्टिता । (त. वृत्ति श्रुत. ६-२४) । २०. देवे गुरौ तथा धर्मे दृष्टि-स्तत्त्वार्थदर्शिनी । ख्याता ऽप्यमूढदृष्टिः स्यादन्यथा मूढदृटिता ॥ (लाटीसं. ४–२७७; पंचाध्यायी २–७७३) ।

१ दुःखोंके कारणभूत कुमार्ग—मिथ्यादर्शनादि—और उसमें स्थित मिथ्यादृष्टि जीवों की भी मन-वचन-कायसे प्रशंसा न करना, इस का नाम अमूढदृष्टि है। ३ जो सन्मार्ग के समान प्रतीत होने वाले मिथ्या-मार्गों में परीक्षारूप नेत्र के द्वारा युक्ति के अभाव को देखकर—उन्हें युक्तिहीन जानकर—उनमें मुग्ध नहीं होता है उसे अमूढदृष्टि जानना चाहिए ।

अमूर्त—१. जे खलु इंदियगेज्झा विसया जीवेहिं हुंति ते मुत्ता । सेसं हवदि अमुत्तं × × × ॥ (पंचा. का. ९९) । २. स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णाभावस्वभावम-मूर्तम् । (पंचा. का. अमृत. वृ. ९९) । ३. अमूर्ताः नाम-गोत्रकर्मक्षयाद् रूपादिसंनिवेशमयमूर्तिरहिताः । (शास्त्रवा. टी. ११–५४) ।

१ जीव जिन विषयों को इन्द्रियों से ग्रहण कर सकते हैं वे मूर्त होते हैं । उनसे भिन्न शेष सबको अमूर्त जानना चाहिए । ३ नाम व गोत्र कर्मों का क्षय हो जाने पर रूपादिमय मूर्ति—शरीर—से रहित मुक्त जीवों को भी अमूर्त जानना चाहिए ।

अमूर्तत्व—१. × × × अमूर्तत्वं विपर्ययात् । (द्रव्यानु. ११–५) । २. × × × अमूर्तत्वं गुणो मूर्तत्वाभावसमनि(न्वि)तः स्मितः । (द्रव्यानु. टी. ११–५) । ३. अमूर्तत्वं रूपादिरहितत्वम् । (सप्तभंगित. पं. पृ. २५) ।

२ मूर्तता के अभावरूप गुण का नाम अमूर्तत्व है ।

अमूर्तद्रव्यभाव—अवगाहनादिको अमूर्तद्रव्यभावो ।

(धव. पु. १२, पृ. २)।

अवगाहन आदि को अमूर्त अचित्त द्रव्यभाव कहा जाता है।

अमृतस्रावी (अमडसवी)—१. येषां पाणिपुटप्राप्तं भोजनं यत् किंचिदमृततामास्कन्दति, येषां वा व्याहृतानि प्राणिनाममृतवदनुग्राहकाणि भवन्ति ते ऽमृतस्राविणः। (त. वा. ३–३६, पृ. २०४)। २. जेसिं हत्थपत्ताहारो अमडसादसरूवेण परिणमइ ते अमडसविणो जिणा। (धव. पु. ६, पृ. १०१)। ३. अमृतस्राविणो येषां पात्रपतितं कदन्नमप्यमृतरसवीर्यविपाकं जायते, वचनं वा शारीर-मानसदुःखप्राप्तानां देहिनां अमृतवत्सन्तर्पकं भवति ते ऽमृतस्राविणः। (योगशा. स्वो. विव. १–८)। ४. येषां पाणिपात्रगतमन्नं वचनं चामृतवद् भवति ते ऽमृतास्राविणः। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३६)।

१ जिनके हाथ में रखा हुआ नीरस भी आहार अमृत के समान सरस बन जाय, तथा जिनके वचन अमृत के समान प्राणियों का अनुग्रह करने वाले हों, उन्हें अमृतस्रावी कहते हैं।

अमृतास्रवी ऋद्धि (अमियासवी रिद्धी)—मुणिपाणि-संठियाणि रुक्खाहाराऽऽदियाणि जीय खणे। पावंति अमियभावं एसा अमियासवी रिद्धी॥ अहवा दुःखादीणं महेसिवयणस्स सवणकालम्मि। णासंति जीए सिग्घं सा रिद्धी अमियआसवी णाम॥ (ति. प. ४, १०८४–८५)।

जिसके प्रभाव से साधु के हाथ में दिया गया रूक्ष भी आहार अमृत के समान स्वादिष्ट हो जाय; अथवा जिसके प्रभाव से मुख से निकले हुए वचन प्राणियों को अमृत के समान हितकारी होते हैं, वह अमृतास्रवी ऋद्धि कही जाती है।

अमेचक—परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः। सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः॥ (नाटक स. क. १–१८)।

आत्मा चूंकि ज्ञातृत्वरूप ज्योति से एक होता हुआ अन्य सब भावों से रहित स्वभाव वाला है, अतएव उसे अमेचक—एक ज्ञायकस्वभाव—कहा जाता है।

अमेध्य—लेपोऽमेध्येन पादादेरमेध्यं × × × (अन. ध. ५–४४); अमेध्यं नामान्तरायो भोजनत्यागकरणं स्यात्। यः किम्? यो लेपः उपदेहः। कस्य? पादादेश्चरण-जङ्घा-जान्वादेः। कस्य? साधोः स्थानान्तरं गच्छतः स्थितस्य वा। केन? अमेध्येनाशुभेन पुरीषादिद्रव्येण। (अन. ध. स्वो. टी. ५–४४)।

अपवित्र मल-मूत्रादि से साधु के पैर आदि के लिप्त हो जाने पर अमेध्य नामका भोजन-अन्तराय होता है।

अम्बधात्री दोष—स्वयं स्वापयति स्वापननिमित्तं विधानं चोपदिशति यस्मै दात्रे स दाता दानाय प्रवर्तते, तद्दानं यदि गृह्णाति तदा तस्याम्बधात्री नामोत्पादनदोषः। (मूला. वृ. ६–२८)।

यदि साधु दाता के बच्चों को स्वयं सुलाता है और उनके सुलाने का उपदेश भी देता है तो चूंकि इससे दाता दान में प्रवृत्त होता है; अतएव उस दाता के द्वारा दिये जाने वाले दान को यदि साधु ग्रहण करता है तो वह अम्बधात्री नामक उत्पादनदोष का भागी होता है।

अम्ल—१. आश्रवणक्लेदनकृदम्लः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ६०; त. भा. सिद्ध. वृ. ५–२३)। २. जस्स कम्मस्स उदएण सरीरपोग्गला अंविलरसेण परिणमंति तं अंविलं णामकम्मं। (धव. पु. ६, पृ. ७५)। ३. अग्निदीपनादिकृद् अम्लीकाद्याश्रितो अम्लः। यदभ्यदायि—अम्लोऽग्निदीप्तिकृतस्निग्धः शोफपित्तकफापहः। क्लेदनः पाचनो रुच्यो मूढवातानुलोमकः॥ यदुदयाज्जीवशरीरमम्लीकादिवद् अम्लं भवति तदम्लनाम। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ४०, पृ. ५१)।

१ आश्रवण और क्लेदन को करने वाला रस अम्ल कहलाता है। २ जिस कर्म के उदय से शरीर के पुद्गल अम्ल रस से परिणत होते हैं, उसे अम्ल नामकर्म कहते हैं।

अयन—१. × × × उडुत्तिदयं। अयणं × × ×॥ (ति. प. ४–२८६)। २. तिण्णि उऊ अयणं। (अनुयो. १३७; जम्बूद्वी. सू. १८)। ३. तिन्नि य रियवो अयणमेगं॥ (जीवस. ११०)। ४. ते (ऋतवः) त्रयोऽयनम्। (त. भा. ४–१५)। ५. ऋतवस्त्रयोऽयनम्। (त. वा. ३-३८, पृ. २०६)। ६. × × × येषां त्रयं स्यादयनं तदेकम्। (वरांग. २७–६)। ७. तीहि उडूहि अयणं। (धव. पु. १३, पृ. ३००); दिणयरस्स दक्खिणुत्तरगमणमयणं। (धव. पु. १४, पृ. ३६)। ८. ऋतुत्रयमयनम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४-१५; पंचा. का. जय. वृ. २५)।

९. ऋतूनां त्रितयं अयनम्। (ह. पु. ७–२२; त. सुखबो. ३–३८; नि. सा. टी. ३१; म. पु. २–२५)। १०. तिण्णि उडू अयणमेक्को दु॥ (जं. दी. प. १३-७)। ११. रिउतियभूयं अयणं। (भावसं. दे. ३१५)।

१ तीन ऋतुओं (२×३=६ मास) को अयन कहते हैं। ७ सूर्य के दक्षिण गमन और उत्तर गमन का नाम अयन है, जिसे क्रम से दक्षिणायन और उत्तरायण कहा जाता है।

अयशःकीर्ति—१. तत् (पुण्यगुणख्यापनकारणं यशस्कीर्तिनाम) प्रत्यनीकफलमयशःकीर्तिनाम। (स. सि. ८–११; त. श्लो. ८–११)। २. तद्- (यशोनिवर्तकयशोनाम-) विपरीतमयशोनाम। (त. भा. ८–१२)। ३. तत्प्रत्यनीकफलमयशस्कीर्तिनाम। पापगुणख्यापनकारणम् अयशःकीर्तिनाम वेदितव्यम्। (त. वा. ८, ११, ३९; भ. आ. मूला. टी. २१२४)। ४. अयशःकीर्तिनामोदयादुदास्यजनैर्निन्दितस्वभावो भवति। (पंचसं. स्वो. वृ. ३–१२७)। ५. जस्स कम्मस्सुदएण संताणमसंताणं वा अवगुणाणमुब्भावणं जणेण कीरदि तस्स कम्मस्स अजसकित्तिसण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ६६); जस्स कम्मस्सुदएण अजसो कित्तिज्जइ लोएण तं अजसकित्तिणाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६६)। ६. तद्विपरीतमयशोनाम—दोषविषया प्रख्यातिरयशोनामेति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–१३, पृ. १६३)। ७. तत्प्रत्यनीकमपरमयशस्कीर्तिनाम, यदुदयात् सद्भूतानामसद्भूतानां चाप्यगुणानां स्थापनं तदयशस्कीर्तिनाम। (मूला. वृ. १२–१९६)। ८. पापगुणख्यापनकारणमयशस्कीर्तिनाम। (त. सुखबो. ८, ११)। ९. यदुदयवशान्मध्यस्थस्यापि जनस्य अप्रशस्यो भवति, तदयशःकीर्तिनाम। (षष्ठ कर्म. मलय. वृ. ५; प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९३, पृ. ४७५; पंचसं. वृ. ३–९; कर्मप्र. वृ. १–६)। १०. अयशःप्रधाना कीर्तिरयशःकीर्तिः यदुदयाज्जीवस्य लोका अवर्णवादादीन् गृह्णन्ति तदयशःकीर्तिनाम। (कर्मवि. परमा. ७५, पृ. ३३)। ११. यदुदयात् पूर्वप्रदर्शिते यशःकीर्तिः न भवति तदयशःकीर्तिनाम। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ५०)। १२. पुण्यगुणतः प्रत्यनीकफलमयशस्कीर्तिनाम। (गो. क. जी. प्र. टी. ३३)। १३. पापदोषप्रकटनकारणम् अयशःकीर्तिनाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८–११)।

५ जिस कर्म के उदय से जनों के द्वारा सत् और असत् अवगुणों का उद्भावन किया जाता है उसे अयशस्कीर्ति नामकर्म कहते हैं।

अयुत—××× दशाहतं तद्धयुतं वदन्ति॥ (वरांग २७–७)।

दश से गुणित हजार (१०००×१०=१००००) को अयुत कहा जाता है।

अयोग—१. प्रदह्याघातिकर्माणि शुक्लध्यान-कृशानुना। अयोगो याति शीलेशो मोक्ष-लक्ष्मीं निरास्रवः॥ (पंचसं. अमित. १–५०)। २. अयोगो मनोवाक्कायव्यापारविकलः। (धर्मवि. वृ. ८-४८, पृ. १०१)।

जो शुक्लध्यानरूप अग्नि से घातिया कर्मों को नष्ट करके योगों से रहित हो जाता है उसे अयोग या अयोगकेवली कहते हैं।

अयोगकेवली—१. न विद्यते योगो यस्य स भवत्ययोगः, केवलमस्यास्तीति केवली, अयोगश्चासौ केवली च अयोगकेवली। (धव. पु. १, पृ. १९२)। २. योगानां तु क्षये जाते स एवायोगकेवली। (योगशा. १–१६)।

देखो अयोग।

अयोगव्यवच्छेद—१. विशेषणसंगतैवकारोऽयोगव्यवच्छेदबोधकः, उद्देश्यतावच्छेदकसमानाधिकरणाभावाप्रतियोगित्वम्॥ (सप्तभं. पृ. २५)। २. विशेषणेन सह उक्तः (एवकारः) अयोगं व्यवच्छिनत्ति। (सिद्धिवि. ३२–३३, पृ. ६४७)।

विशेषण के साथ प्रयुक्त एवकार (अवधारणार्थक अव्यय) को अयोगव्यवच्छेद कहते हैं। जैसे—शंख पाण्डुर ही होता है।

अयोगिकेवलिगुणस्थान—योगः पूर्वोक्तो विद्यते यस्यासौ योगी, न योगी अयोगी, अयोगी चासौ केवली च अयोगिकेवली, तस्य गुणस्थानमयोगिकेवलिगुणस्थानम्। (पंचसं मलय. वृ. १–१५, पृ. ३२)।

योग से रहित हुए अयोगिकेवली के गुणस्थान (१४) को अयोगिकेवलिगुणस्थान कहते हैं।

अयोगिकेवली—तदो कमेण णिरुंभिय जोगणिरोहं काऊण अयोगिकेवली होदि। (धव. पु. १, पृ. २२३)

जो योगों का निरोध कर चुके हैं, ऐसे चौदहवें गुण

स्थानवर्ती जिन अयोगिकेवली कहलाते हैं।

अयोगिजिन—१. जेसिं ण संति जोगा सुहासुहा पुण्णपावसंजणया। ते होंति अजोइजिणा अणोवमाणंतवलकलिया ॥ (प्रा. पंचसं. १–१००; धव. पु. १, पृ. २८० उद्धृत; गो. जी. गा. २४२)। २. मनोवाक्कायवर्गणालम्बनकर्मादाननिमित्तात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणयोगरहिताश्चतुर्दशगुणस्थानवर्तिनो ऽयोगिजिना भवन्ति। (वृ. द्रव्यसं. टी. १३)।

१ जिनके पुण्य-पाप के जनक शुभ-अशुभ योग नहीं पाये जाते ऐसे अनुपम अनन्त वल से युक्त जिनेन्द्रों को अयोगिजिन कहते हैं।

अयोगिजिनगुणस्थानकाल—पञ्चलघ्वक्षरकालस्थितिकमयोगिजिनसंज्ञं चतुर्दशं गुणस्थानं वेदितव्यम्। (त. वृत्ति श्रुत. ९–१)।

जिस गुणस्थान की स्थिति अ, इ, उ, ऋ और लृ इन पांच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारणकाल के बराबर है उसे (१४) अयोगिजिनगुणस्थान कहते हैं।

अयोगिभवस्थकेवलज्ञान—शैलेश्यवस्थायामयोगिभवस्थकेवलज्ञानम् (आव. नि. मलय. वृ. ७८, पृ. ८३) शैलेशी अवस्था में होने वाले अयोगिकेवली के केवलज्ञान को अयोगिभवस्थकेवलज्ञान कहते हैं।

अयोगी—न योगी अयोगी। (धव. पु. १, पृ. २८०)।

जो योगी—योगयुक्त—नहीं है, उसे अयोगी कहते हैं।

अरण्य—मनुष्यसंचारशून्यं वनस्पतिजातवल्लीगुल्मप्रभृतिभिः परिपूर्णमरण्यम्। (नि. सा. वृ. ५८)। मनुष्यों के आवागमन से शून्य और वृक्ष, वेलि, लता एवं गुल्मादि से परिपूर्ण स्थान को अरण्य कहते हैं।

अरति—१. यदुदयाद्देशादिषु औत्सुक्यं सा रतिः। अरतिस्तद्विपरीता। (स. सि. ८–९; त. वा. ८, ९, ४; त. सुखबो. ८–९)। २. एतेष्वेव (वाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु) अप्रीतिररतिः। (श्रा. प्र. टी. १८) ३. दव्व-खेत्त-कालभावेसु जेसिमुदएण जीवस्स अरई समुप्पज्जइ तेसिमरदि त्ति सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ४७); नप्तृ-पुत्र-कलत्रादिषु रमणं रतिः। तत्प्रतिपक्षा अरतिः। (धव. पु. १२, पृ. २८५); जस्स कम्मस्स उदएण दव्व-खेत्त-काल-भावेसु अरई समुप्पज्जदि तं कम्मं अरई णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६१)। ४. रमणं रतिः संयमविषया धृतिः, तद्विपरीता त्वरतिः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ८६, पृ. ८२)। ५. अरतिश्च तन्मोहनीयोदयजनितश्चित्तविकारः उद्वेगलक्षणः। (स्थानांग अभय. वृ. १–४८, पृ. २४)। ६. अरतिमोहनीयोदयाच्चित्तोद्वेगः। (औपपा. अभय. वृ. ३४, पृ. ७९)। ७. अरतिर्मानसो विकारः। (समवा. अभय. वृ. २२, पृ. ३९)। ८. सच्चित्ताचित्तेसु य वाहिरदव्वेसु जस्स उदएणं। अरई होइ हु जीये सो उ विवागो अरइमोहे। (कर्मवि. गर्ग म. ५७, पृ. २७)। ९. यदुदयवशात् पुनर्वाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु अप्रीतिं करोति तदरतिमोहनीयम्। (धर्मसं. मलय. वृ. ६१५, पृ. २३१; प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३-२९३, पृ. ४६९; पंचसं. वृ. ३-५)। १०. अरतिरुद्वेगः अशुभपरिणामः। (मूला. वृ. ११, १०); न रमते न रम्यते वा यया साऽरतिर्यस्य पुद्गलस्कन्धस्योदयेन द्रव्यादिष्वरतिर्जायते तस्यारतिरिति संज्ञा। (मूला. वृ. १२–१९२)। ११. यदुदयात् संनिमित्तमनिमित्तं वा जीवस्य वाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुष्वरतिः अप्रीतिर्भवति तत् अरतिमोहनीयम्। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. २१, पृ. ३७–३८)। १२. तथा यदमनोज्ञेषु शब्दादिविषयेषु संयमे वा जीवस्य चित्तोद्वेगः सा अरतिः। (वृहत्क. क्षे. वृ. २२, पृ. ४१)। १३. यदुदयाद् देश-पुर-ग्राम-मन्दिरादिषु तिष्ठन् जीवः रतिं लभते, परदेशादिगमने चौत्सुक्यं करोति सा रतिः। रतेर्विपरीताऽरतिः। (त. वृत्ति श्रुत. ८–९)।

१ जिसके उदय से देशादि के विषय में अनुत्सुकता होती है उसे अरति (नोकषाय) कहते हैं। ३ पुत्र-पौत्रादिकों में जो प्रीति का अभाव होता है उसका नाम अरति है।

अरतिपरीषहजय — १. संयतस्येन्द्रियेष्टविषयसम्बन्धं प्रति निरुत्सुकस्य गीत-नृत्य-वादित्रादिविरहितेषु शून्यागार-देवकुल-तरुकोटर-शिला-गुहादिषु स्वाध्याय-ध्यान-भावनारतिमास्कन्दतो दृष्ट-श्रुतानुभूतरति-स्मरण-तत्कथाश्रवण - कामशरप्रवेशनिर्विवरहृदयस्य प्राणिषु सदा सदयस्यारतिपरीषहजयोऽवसेयः। (स. सि. ९–९)। २. संयमे रतिभावादरतिपरीषहजयः। संयतस्य × × × अरतिं प्रादुष्यतीं धृतिविशेषान्निवारयतः संयमरतिभावनात् विषयसुखरतिर्विषाहारसेवेव विपाककटुकेति चिन्तयतः रतिपरिबाधाभावादरतिपरीषहजय इति

निश्चीयते । (त. वा. ९, ९, ११; चा. सा. पृ. ५१) । ३. दुर्वारेन्द्रियवृन्दरोगनिकरक्रूरादिवाधोत्करैः प्रोद्भूतामरतिं व्रतोत्करपरित्राणे गुणोत्पोषणे । मंक्षु क्षीणतरां करोत्यरतिजिद् वीरः स वन्द्यः सतां यो दण्डत्रयदण्डनाहितमतिः सत्यप्रतिज्ञो व्रती ॥ (आचा. सा. ७–१५) । ४. लोकापवादभय-सद्व्रतरक्षणाक्षरोषक्षुदादिभिरसह्यमुदीर्यमाणाम् । स्वात्मोन्मुखो धृतिविशेषहृतेन्द्रियार्थतृष्णः श्रृणात्वरतिमाश्रितसंयमश्रीः ॥ (अन. ध. ६–९५) ।

१ महाव्रतों का परिपालन करने वाले संयत के अभीष्ट विषयों के प्रति उत्सुकता न रहने से जो वह गीत, नृत्य और वादित्रादि से विहीन शून्य (निर्जन) गृहादि में रहता हुआ स्वाध्याय व ध्यान में अनुरक्त रह कर कामकथादि के श्रवण आदि से विरहित होता है, यह उसका अरतिपरीषहजय है ।

अरतिरति–अरतिः अरतिमोहनीयोदयाच्चित्तोद्वेगः, तत्फला रतिः विषयेषु मोहनीयाच्चित्ताभिरतिः अरतिरतिः । (औपपा. अभय. वृ. ३४, पृ. ७९) ।

अरतिमोहनीय के उदय से होने वाली चित्तोद्वेगरूप रति के फलस्वरूप जो विषयों में मन को अनुराग होता है उसे अरतिरति कहा जाता है ।

अरतिवाक्—१. तेषु (शब्दादिविषय-देशादिषु) एवारत्युत्पादिका अरतिवाक् । (त. वा. १, २०, १२, पृ. ७५; धव. पु. १, पृ. ११७) । २. तेसु (इंदियविसयेसु) अरइउप्पाइया अरदिवाया । (अंगपण्णत्ती पृ. २९२) ।

इन्द्रियविषयों में अरति उत्पन्न करने वाले वचनों को अरतिवाक् कहते हैं ।

अरहस्–अरह त्ति अर्हन् अशोकादिमहापूजार्हत्वात्, अविद्यमानं वा रहः एकान्तं प्रच्छन्नं सर्वज्ञत्वाद् यस्य सोऽरहाः । (औपपा. अभय. वृ. १०, पृ. १५) ।

अशोकादि पूजा के जो योग्य हैं वे अर्हन् कहलाते हैं । अथवा रहस् शब्द का अर्थ एकान्त या गुप्त होता है, सर्वज्ञ हो जाने से जिनके लिए कोई भी पदार्थ रहस् (गुप्त) नहीं रहा है, अर्थात् जिनके सर्वगत ज्ञान से कुछ भी बचा नहीं है, वे अरहस् (अरहंत जिन या केवली) कहलाते हैं ।

अरहस्कर्म—रहः अन्तरम्, अरहः अनन्तरम्, अरहः कर्म अरहस्कर्म । (धव. पु. १३, पृ. ३५०) ।

रहस् शब्द का अर्थ अन्तर और अरहस् शब्द का अर्थ अनन्तर—अन्तर से रहित (अनादि)—होता है, अरहस् अर्थात् अन्तर से रहित जो अनादि कर्म है, वह अरहस्कर्म कहलाता है ।

अरिष्ट—न विद्यते ऽरिष्टम् अकल्याणं येषां ते अरिष्टाः । (त. वृत्ति श्रुत. ४–२५) ।

जिनके अकल्याण-जनक कोई वस्तु न पाई जावे उन लौकान्तिक देवों को अरिष्ट कहते हैं । यह लौकान्तिक देवों का एक भेद है ।

अरुण—अरुणः उद्यद्भास्करः, तद्वत्तेजोविराजमानाः अरुणाः । (त. वृत्ति श्रुत. ४–२५) ।

जो उदित होते हुए सूर्य के समान तेज से सुशोभित होते हैं, वे अरुण नामक लौकान्तिक देव कहलाते हैं ।

अरुहा—न रोहन्ति न भवाङ्कुरोदयमासयन्ति, कर्मबीजाभावादिति अरुहाः । (पंचसूत्र व्याख्या २)।

कर्मरूपी बीज के विनष्ट हो जाने से जो संसाररूपी अंकुर की उत्पत्ति का आश्रय नहीं लेते, अर्थात् जिनका संसार सदा के लिए नष्ट हो चुका है, उन्हें अरुह (अरहंत) कहा जाता है ।

अरूप ध्यान—१. अरूपं ध्यायति ध्यानं परं संवेदनात्मकम् । सिद्धरूपस्य लाभाय नीरूपस्य निरेनसः । (अमित. श्रा. १५–५६) । २. व्योमाकारमनाकारं निष्पन्नं शान्तमच्युतम् । चरमाङ्गात् कियन्न्यूनं स्वप्रदेशैर्घनैः स्थितम् ॥ लोकाग्रशिखरासीनं शिवीभूतमनामयम् । पुरुषाकारमापन्नमप्यमूर्तं च चिन्तयेत् ॥ निष्कलस्य विशुद्धस्य निष्पन्नस्य जगद्गुरोः । चिदानन्दमयस्योच्चैः कथं स्यात् पुरुषाकृतिः ॥ विनिर्गतमधूच्छिष्टप्रतिमे मूषिकोदरे । यादृग्गगनसंस्थानं तदाकारं स्मरेद् विभुम् ॥ (ज्ञानार्णव ४०, २२–२५) ।

१ रूपरहित (अमूर्तिक) निर्मल सिद्धस्वरूप की प्राप्ति के लिए रूपादि से रहित और पाप-पंक से वियुक्त हुए सिद्ध के स्वरूप का जो संवेदनात्मक ध्यान किया जाता है, उसे अरूप (रूपातीत) धर्म ध्यान कहते हैं ।

अरूपी—१. न विद्यते रूपमेषामित्यरूपाणि । रूपप्रतिषेधे तत्सहचारिणां रसादीनामपि प्रतिषेधः । तेन अरूपाण्यमूर्तानीत्यर्थः । (स. सि. ५–४) । २. गुणाविभागपडिच्छेदेहि समाणा जे [illegible] ते अविभागी णाम, [illegible] णाम । (धव. पु. १४, पृ. ३१–३२) । ३. [illegible]

रूप-रस-स्पर्श-गन्धात्यन्तव्युदासतः। पञ्च द्रव्याण्यरूपाणि ××× ॥ (त. सा. ३-१६)।

२ जो स्निग्ध-रूक्ष पुद्गल गुणाविभागप्रतिच्छेदों से समान होते हैं वे रूपी और उनसे भिन्न अरूपी कहलाते हैं। ३ जो पांच द्रव्य शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से रहित हैं उन्हें अरूपी कहते हैं।

अरूप्यालम्बनी—सः (स्वरूपानन्दपिपासितः) एव अर्हत्सिद्धस्वरूपं ज्ञान-दर्शन-चारित्राद्यनन्तपर्यायविशुद्धशुद्धाध्यात्मधर्मम् अवलम्बते इति अरूप्यालम्बनी। (ज्ञा. सा. वृ. २७-६)।

आत्मस्वरूप आनन्दामृत-पान के इच्छुक पुरुष के द्वारा अर्हन्त व सिद्ध परमेष्ठी के स्वरूप का तथा ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि अनन्त पर्यायों से विशुद्ध शुद्ध आत्मा का आलम्बन करके जो ध्यान किया जाता है, उसे अरूप्यालम्बनी वृत्ति कहते हैं।

अर्चना (अच्चणा)— चरु-वलि-पुप्फ-फल-गन्ध-धूव-दीवादीहिं सगभत्तिपगासो अच्चणा। (धव. पु. ८, पृ. ९२)।

चरु, बलि (नैवेद्य), पुष्प, फल, गन्ध, धूप और दीप आदि के द्वारा अपनी भक्ति के प्रकाशित करने को अर्चना कहते हैं।

अर्चा—अर्चा—तथा क्षालिताङ्घ्रेः संयतस्य गन्धाक्षतादिभिः पादपूजनम्। (सा. ध. टी. ५-४५)।

साधु का पादप्रक्षालन करके जो उसकी गन्ध व अक्षत आदि से पादपूजा की जाती है, इसका नाम अर्चा है।

अर्चि (अच्ची)—१. अच्ची णाम आगासाणुगआ परिच्छिण्णा अग्गिसिहा। (दशवै. चू. पृ. १५६)। २. दाह्यप्रतिबद्धो ज्वालाविशेषोऽर्चिः। (आचारांग शी. वृ. १, १, ३, गा. ११८, पृ. ४४)।

अग्नि की ऊपर उठती हुई ज्वाला या शिखा को अर्चि कहते हैं।

अर्थ (ज्ञेय)—१. अर्यते इत्यर्थः, निश्चीयते इति यावत् (स. सि. १-२)। २. तत्र अर्यन्ते इत्यर्थाः, अर्यन्ते गम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते इति यावत्। ते च रूपादयः। (आव. नि. हरि. व मलय. वृ. ३)। ३. अर्यते परिच्छिद्यते गम्यते इत्यर्थो द्वादशांगविषयः। (धव. पु. ६, पृ. २५६)। ४. अर्यते गम्यते ज्ञायते निश्चीयते इत्यर्थः। (त. वृत्ति श्रुत. १-२)। ५. ××× अर्थः स्व-परगोचरः। (लाटीसं. ३-४६)।

१ जिसका निश्चय किया जाता है अर्थात् जो ज्ञान के द्वारा जाना जाता है उसे अर्थ कहते हैं।

अर्थ (द्रव्य)—१. दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णिया भणिया। (प्रव. सा. १-८७)। २. प्रतिक्षणं स्थित्युदय-व्ययात्मतत्त्वव्यवस्थं सदिहार्थरूपम्। (युक्त्यनु. ४६)। ३. परापरपर्यायावाप्ति-परिहार-स्थितिलक्षणोऽर्थः। (प्रमाणसं. स्वो. वृ. ७-६६, पृ. १२१, पं. २२-२३)। ४. तद्द्रव्यपर्यायात्मार्थो वहिरन्तश्च तत्त्वतः। (लघीय. ७)। ५. अनेकपर्यायकलापभाजोऽर्थाः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-६); अर्थः परमाण्वादिः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-४६)। ६. अर्थः अर्थक्रियासमर्थः प्रमाणगोचरो भावः द्रव्य-पर्यायात्मकः। (न्यायकु. २-७, पृ. २१३, पं. २२-२३)। ७. मानेनार्य्यते इत्यर्थस्तत्त्वं चार्थः स्वरूपतः॥ स्थित्युपत्तिव्ययात्मा द्रवति द्रोष्यत्यदुद्रुवत्। स्वपर्यायानिति द्रव्यमर्थास्तान् विवक्षितान्॥ (आचा. सा. ३, ६-७)। ८. द्रव्याणि च गुणाश्च पर्यायाश्च अभिधेयभेदेऽप्यभिधानभेदेन अर्थाः। तत्र गुण-पर्यायान् प्रति गुण-पर्यायैरर्यन्त इति वा अर्थाः द्रव्याणि, द्रव्याण्याश्रयत्वेन प्रतिद्रव्यैराश्रयभूतैरर्यन्त इति वा अर्था गुणाः, द्रव्याणि क्रमपरिणामेनेति द्रव्यैः क्रमपरिणामेनार्यते इति वा अर्थाः पर्यायाः। (प्रव. सा. अमृत. वृ. १-८७)। ९. अनन्तज्ञान-सुखादिगुणान् तथैवामूर्तत्वातीन्द्रियत्वसिद्धत्वादिपर्यायांश्च इयर्ति गच्छति परिणमति आश्रयति येन कारणेन तस्मादर्थो भण्यते। (प्रव. सा. जय. वृ. १-८७)। १०. अर्थो ध्येयो ध्यानीयो ध्यातव्यः परार्थः द्रव्यं पर्यायो वा। (कार्तिके. टी. ४८७)।

३ जो एक (नवीन) पर्याय की प्राप्ति (उत्पाद), पूर्व पर्याय का विनाश (व्यय) और स्थिति (ध्रौव्य) से सहित होता है वह अर्थ (द्रव्य) कहलाता है।

अर्थ (अभिधेय)—१. अर्थो वाक्यस्य भावार्थः। (ज्ञा. सा. वृ. २७-५)। २. अर्थः शब्दस्याभिधेयम्। (षोडशक वृ. १३-४)।

शब्द या वाक्य के वाच्य को अर्थ कहा जाता है।

अर्थ (पुरुषार्थ)—१. यतः सर्वप्रयोजनसिद्धिः सोऽर्थः। (नीतिवा. २-१; योगशा. वृ. १-५२, पृ. १५४; श्रा. गु. वि. पृ. ४; धर्मसं. मान. स्वो. वृ. १, १४, पृ. ९)। २. अर्थो वेश्यादिव्यसनव्यावर्तनेन

निष्प्रत्यूहमर्थस्योपार्जनादुपार्जितस्य च रक्षणाद्रक्षितस्य च वर्द्धनाद् यथाभाग्यं ग्रामसुवर्णादिसम्पत्तिः । (सा. ध. स्वो. टी. २-५६) ।

१ समस्त प्रयोजन के साधनभूत धन का नाम अर्थ है ।

अर्थ (अभिलपनीय)—१. अर्थ्यतेऽभिलष्यते प्रयोजनार्थिभिरित्यर्थो हेय उपादेयश्च । (प्र. क. मा. पृ. ४, पं. २२-२३) । २. अर्थः व्यवहारिणा हेयत्वेन उपादेयत्वेन वा प्रार्थ्यमानो भावः । (न्यायकु. १-५, पृ. ११६) ।

१ प्रयोजनार्थी के लिए जो वस्तु अभीष्ट होती है उसे अर्थ कहा जाता है ।

अर्थ (सम्यक्त्वभेद)—१. संजातार्थात् कुतश्चित् प्रवचनवचनान्यन्तरेणार्थदृष्टिः । (आत्मानु. १४) । २. प्रवचनविषये स्वप्रत्ययसमर्थोऽर्थः (उपासका. पृ. ११४; अन. ध. स्वो. टी. २-६२) ।

१ आगमवचनों के विना किसी अर्थविशेष के आश्रय से जो तत्त्वश्रद्धान होता है उसे अर्थ सम्यक्त्व कहते हैं ।

अर्थकथा—१. विज्जा-सिप्पमुवाओ अणिवेओ संचओ य दक्खत्तं । सामं दण्डो भेओ उवप्पयाणं च अत्थकहा ॥ (दशवै. नि. १८६, पृ. १०६) । २. अत्थकहा नाम जा अत्थनिमित्तं कहा कहिज्जइ सा अत्थकहा । (दशवै. चू. पृ. १०२)। ३. विद्यादिरर्थस्तत्प्रधाना कथाऽर्थकथा । (दशवै. हरि. वृ. पृ. १०७) । ४. अर्थस्य कथा अर्थार्जनोपायकथनप्रबन्धाः सेवया वाणिज्येन लेखवृत्त्या कृषिकर्मणा समुद्रप्रवेशेन धातुवादेन मंत्रतंत्रप्रयोगेण वा इत्येवमाद्यर्थार्जननिमित्तवचनान्यर्थकथाः । (मूला. वृ. ९-८६) । ५. सामादि-धातुवादादि-कृष्यादिप्रतिपादिका । अर्थोपादानपरमा कथार्थस्य प्रकीर्तिता ॥ (गु. गु. ष. स्वो. वृ. २, पृ. ५) ।

४ सेवा, कृषि व वाणिज्य आदि के द्वारा धन के उपार्जन करने के कारणभूत वचनप्रबन्ध को अर्थकथा कहते हैं ।

अर्थकरण — अर्थाभिनिर्वर्तकमधिकरणमादि येन द्रम्मादि निष्पाद्यते, अर्थार्थं वा करणमर्थकरणं यत्र यत्र राजोऽर्थाश्चिन्त्यन्ते, अर्थ एव वा तैस्तैरुपायैः क्रियत इत्यर्थकरणम् । (उत्तरा. नि. शा. वृ. ४, १८४, पृ. १९५) ।

जिसके द्वारा द्रम्मों—सोना व चांदी आदि के सिक्कों—आदि का उत्पादन होता है, अथवा धनार्जन के लिए जो कुछ किया जाता है उसे अर्थकरण कहते हैं । अथवा विविध उपायों से अर्थ-उपार्जन करने को अर्थकरण कहते हैं ।

अर्थकर्त्ता—तेसिमणेयाणं वीजपदाणं दुवालसंगप्पयाणमट्ठारस-सत्तसय-भास-कुभासरूवाणं परूवओ अत्थकत्तारो णाम । (धव. पु. ९, पृ. १२७) ।

अठारह भाषा व सात सौ कुभाषा रूप द्वादशांग-स्वरूप अनेक वीजपदों की प्ररूपणा करने वाला अर्थकर्त्ता कहलाता है ।

अर्थकल्पिक—अत्थस्स कप्पितो खलु आवासगमादि जाव सूयगडं । मोत्तूणं छेयसुयं जं जेणऽहियं तदट्ठस्स । (बृहत्क. ४०८) ।

जिसने आवश्यक सूत्र से लगाकर सूत्रकृतांग तक के सूत्रों के अर्थ का अध्ययन किया है, तथा सूत्रकृतांग सूत्र से ऊपर भी छेदसूत्र को छोड़ कर समस्त सूत्रों के अर्थों को पढ़ा है, ऐसे साधु को अर्थकल्पिक कहते हैं ।

अर्थक्रिया—१. तत्र त्रिलक्षणाभावतः अवस्तुनि परिच्छेदलक्षणार्थक्रियाभावात् । (धव. पु. ९, पृ. १४२)। २. अर्थक्रिया—अर्थस्य ज्ञानस्य अन्यस्य वा क्रिया करणम् । (न्यायकु. २-८, पृ. ३७२) । ३. अर्थक्रिया—अर्थस्य कार्यस्य क्रिया करणं निष्पत्तिः । (लघीय. अभय. वृ. २-१, पृ. २२)। ४. तत्रार्थक्रिया ऽर्थदण्डरूपा । (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. १५, पृ. ४१)।

१ वस्तु का ज्ञान का विषय होना, यही उसकी अर्थक्रिया है । ३ अथवा अर्थ शब्द का अर्थ कार्य है, उस कार्य का करना, यह वस्तु की अर्थक्रिया है । ४ प्रयोजनसिद्धि के लिए जो प्राणिपीडनात्मक क्रिया की जाती है वह अर्थक्रिया कही जाती है ।

अर्थक्रियाकारिता—पूर्वाकारपरिहारोत्तराकारस्वीकारावस्थानस्वरूपलक्षणपरिणामेन वस्तूनामर्थक्रियाकारिता । (स्या. र. पृ. ६) ।

पूर्व आकार के परित्याग (व्यय), उत्तर आकार के ग्रहण (उत्पाद) और अवस्थान (ध्रौव्य) स्वरूप परिणाम से वस्तुओं के अर्थक्रियाकारिता हुआ करती है ।

अर्थचर—अर्थेषु कार्येषु चरन्ति अर्थचराः स्वार्थ-

नियुक्ताः कनकाध्यक्षादिसदृशाः। (त. वृत्ति श्रुत. ४–४)।

जो अर्थ के विषय में पर्यटनशील रहते हैं, ऐसे कार्य में नियुक्त सुवर्णाध्यक्ष आदि के सदृश अर्थचर कहलाते हैं।

अर्थज—देखो अर्थ (सम्यक्त्व)। १. वाग्विस्तरपरित्यागादुपदेष्टुर्महायतेः। अर्थमात्रसमादानसमुत्था रुचिरर्थजा॥ (म. पु. ७४–४४७)। २. अङ्गबाह्यश्रुतोक्तात् कुतश्चिदर्थादङ्गबाह्यश्रुतं विनापि यत्प्रभवति तत्सम्यक्त्वं अर्थसम्यक्त्वं निगद्यते। (दर्शनप्रा. टी. १२)।

१ उपदेष्टा के वचनविस्तार के विना ही अर्थ मात्र के ग्रहण से उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन को अर्थज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

अर्थदण्ड—१. अर्थः प्रयोजनं गृहस्थस्य क्षेत्र-वास्तु-धन-शरीर-परिजनादिविषयम्, तदर्थम् आरम्भो भूतोपमर्दोऽर्थदण्डः, दण्डो निग्रहो यातना विनाश इति पर्यायाः। अर्थेन प्रयोजनेन दण्डोऽर्थदण्डः, स चैव भूतविषयः उपमर्दनलक्षणो दण्डः क्षेत्रादिप्रयोजनमपेक्षमाणोऽर्थदण्ड उच्यते। (आव. हरि. वृ. ६, पृ. ८३०)। २. दण्डः प्राणातिपातादिः, स चार्थाय इन्द्रियादिप्रयोजनाय यः सोऽर्थदण्डः। (स्थानांग अभय. वृ. सू. ६६, पृ. ४४)। ३. यः स्व-स्वीय-स्वजनादिनिमित्तं विधीयमानो भूतोपमर्दः सोऽर्थदण्डः, सप्रयोजन इति यावत्। प्रयोजनं च येन विना गार्हस्थ्यं प्रतिपालयितुं न शक्यते, सोऽर्थदण्डः। ××× यदाह—जं इंदिय-सयणाई पडुच्च पावं करेज्ज सो होई। अत्थो दण्डो इत्तो अन्नो उ अणत्थदंडो त्ति॥ (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. २–३५, पृ. ८१)।

१ क्षेत्र, वास्तु, धन, शरीर व परिजन आदि विषयक जो गृहस्थ का प्रयोजन है उसको सिद्ध करने के लिए जो प्राणिपीडाजनक आरम्भ किया जाता है उसका नाम अर्थदण्ड है।

अर्थदूषण (व्यसनभेद)—१. अतिव्ययोऽपात्रव्ययश्चार्थस्य दूषणं। (नीतिवा. १६–१६, पृ. १७८)। २. अर्थोत्पत्तिहेतवो ये सामाद्युपायचतुष्टयप्रभृतयः प्रकारास्तेषां यद् दूषणं तदर्थदूषणव्यसनम्। (बृहत्क. वृ. ६४०)।

१ अत्यधिक व्यय और अयोग्य पात्र के लिए किये गये अनर्थक व्यय का नाम अर्थदूषण है। यह एक राजा को नष्ट करने वाला व्यसन है। २ धन कमाने के जो साम आदि चार उपाय हैं उनमें दूषण लगाने को अर्थदूषण व्यसन कहते हैं।

अर्थनय—१. अर्थ-व्यञ्जनपर्यायैर्विभिन्नलिङ्ग-संख्या-काल-कारक-पुरुषोपग्रहभेदैरभिन्नं वर्तमानमात्रं वस्तव्यवस्यन्तोऽर्थनयाः, न शब्दभेदेनार्थभेद इत्यर्थः। (धव. पु. १, पृ. ८६); क्रिया-गुणाद्यर्थगतभेदेनार्थभेदनात् संग्रह-व्यवहारर्जुसूत्राः अर्थनयाः। (धव. पु. ६, पृ. १८१)। २. वस्तुनः स्वरूपं स्वधर्मभेदेन भिन्दानोऽर्थनयः, अभेदको वा! अभेदरूपेण सर्वं वस्तु इयर्ति एति गच्छति इत्यर्थनयः। (जयध. १, पृ. २२३); सद्दत्थणिरवेक्खा अत्थणया। (जयध. १, पृ. २२३)। ३. अर्थनयाः अर्थमेव प्राधान्येन शब्दोपसर्जनमिच्छन्ति। (सूत्रकृ. शी. वृ. २, ७, ८१, पृ. १८७)। ४. अर्थप्रधानो नयः अर्थनयः। (अष्टस. वृ.१६, पृ. २१२)।

१ जो नय अर्थ और व्यञ्जन पर्यायों के साथ विविध लिंग, संख्या, काल, कारक, पुरुष और उपग्रह के भेद से अभिन्न वर्तमान मात्र वस्तु को विषय किया करते हैं उन्हें अर्थनय कहते हैं।

अर्थनिर्यापणा—अर्थः सूत्राभिधेयं वस्तु, तस्य निरिति भृशं यापना निर्वाहणा पूर्वापरसाङ्गत्येन स्वयं ज्ञानतोऽन्येषां च कथनतो निर्गमना निर्यापणा। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १–५८, पृ. ३६)।

सूत्रार्थ का पूर्वापर संगति के साथ अपने लिये ज्ञान से तथा अन्यों के लिए वचनों से निर्वाह करना, इसका नाम अर्थनिर्यापणा है। यह वाचनासम्पत् का चतुर्थ भेद है।

अर्थपद—१. जेत्तिएहि अक्खरेहि अत्थोवलद्धी होदि, तं अत्थपदं। (धव. पु. ६, पृ. १९६; पु. १३, पृ. २६६)। २. जत्तिएहि अक्खरेहि अत्थोवलद्धी होदि, तेसिं अक्खराणं कलावो अत्थपदं णाम। (जयध. १, पृ. ६१); तत्थ जेहिं अक्खरेहिं अत्थोवलद्धी होदि तमत्थपदं। वाक्यमर्थपदमित्यनर्थान्तरम्। (जयध. २, पृ. १७); जत्तो सोदाराणं पयदत्थविसए सम्ममवगमो समुप्पज्जइ तमट्ठस्स वाचयं पदमट्ठपदमिदि भण्णदे। (जयध. पत्र ६८४)।

२ जितने अक्षरों के द्वारा अर्थका परिज्ञान हो जाता है उनके समुदायरूप पद का नाम अर्थपद है।

अर्थपर्याय—१. अगुरुलघुकगुणषड्वृद्धि-हानिरूपेण प्रतिक्षणं प्रवर्तमाना अर्थपर्यायाः। (प्रव. सा. जय. वृ. १–८०); प्रतिसमयपरिणतिरूपा अर्थपर्याया भण्यन्ते। (प्रव. सा. जय. वृ. २–३७)। २. सूक्ष्मोऽवाग्गोचरो वेद्यः केवलज्ञानिनां स्वयम्। प्रतिक्षणं विनाशी स्यात्पर्यायो ह्यर्थसंज्ञकः। (भावसं. वाम. ३७६)। ३. अर्थपर्यायो भूतत्व-भविष्यत्वसंस्पर्श-रहितशुद्धवर्तमानकालावच्छिन्नं वस्तुस्वरूपम्। (न्या. दी. पृ. १२०)। ४. प्रतिव्यक्त्यनुगतं सत्त्वं चार्थ-पर्यायः। (स्या. रह. पत्र १०)।

१ अगुरुलघु गुण के निमित्त से छह प्रकारकी वृद्धि एवं हानिरूप से जो प्रतिक्षण पर्यायें उत्पन्न होती हैं, उन्हें अर्थपर्याय कहते हैं।

अर्थपर्यायनैगम—अर्थपर्याययोस्तावद् गुण-मुख्यस्व-भावतः। क्वचिद्वस्तुन्यभिप्रायः प्रतिपत्तुः प्रजायते ॥ यथा प्रतिक्षणध्वंसि सुखसंविच्छरीरिणः। (त. श्लो. १, ३३, २८–२९, पृ. २७०)।

दो अर्थपर्यायों में एक की गौणता और दूसरे की मुख्यता करके विवक्षित वस्तु के विषय में जो ज्ञाता का अभिप्राय होता है उसे अर्थपर्याय-नैगम कहते हैं। जैसे—शरीरधारी आत्मा का सुख-संवेदन प्रतिक्षण विनाश को प्राप्त हो रहा है। यहां पर उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत्तारूप अर्थपर्याय तो विशेषण होने से गौण है और संवेदनरूप अर्थपर्याय विशेष्य होने के कारण मुख्य है।

अर्थपर्यायाशुद्धद्रव्यनैगम—क्षणमेकं सुखी जीवो विषयीति विनिश्चयः। विनिर्दिष्टोऽर्थपर्यायाशुद्ध-द्रव्यगनैगमः ॥ (त. श्लो. १, ३३, ४२ पृ. २७०)।

अर्थपर्यायको गौणरूपसे और अशुद्ध द्रव्य को प्रधान रूप से विषय करने वाले नय को अर्थपर्यायाशुद्ध-द्रव्यनैगमनय कहते है। जैसे—विषयी जीव एक क्षण मात्र सुखी है। यहां पर सुखरूप अर्थपर्याय तो गौण है और संसारी जीवरूप अशुद्ध द्रव्य मुख्य है।

अर्थरुचि—देखो अर्थ (सम्यक्त्व)। वचनविस्तार-विरहितार्थग्रहणजनितप्रसादा अर्थरुचयः। (त. वा. ३, ३६, २)।

वचनविस्तार से रहित अर्थ के ग्रहण से ही जिनके प्रसन्नता—तत्त्वरुचि—प्रादुर्भूत हुई है वे अर्थरुचि दर्शन-आर्य कहलाते हैं।

अर्थविज्ञान—अर्थविज्ञानमूहापोहयोगान्मोह-सन्देह-विपर्यासव्युदासेन ज्ञानम्। (योगशा. स्वो. विव. १, ५१; श्रा. गु. वि. पृ. ३७)।

ऊहापोहपूर्वक वस्तु-गत संशय, विपर्यास और मोह (अनध्यवसाय) को दूर करके यथार्थ जानने को अर्थविज्ञान कहते हैं।

अर्थविनय—१. अब्भासवित्ति-छंदाणुवत्तणं देस-कालदाणं च। अब्भुट्ठाणं अंजलि-आसणदाणं च अत्थ-कए ॥ (दशवै. नि. ९–३१२; उत्तरा. नि. शा. वृ. १–२९, पृ. १६ उद्धृत)। २. अर्थप्राप्तिहेतोरीश्वरा-द्यनुवर्तनमर्थविनयः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १–२९, पृ. १७)।

१ राजा आदि के समीप में स्थित रहना, उनके अभि-प्राय के अनुसार कार्य करना, देश-काल के अनुसार प्रस्ताव उपस्थित करना तथा उठकर खड़े हो जाना व उन्हें आसन देना इत्यादि जो अर्थ की प्राप्ति के लिये विनय की जाती है वह सब अर्थविनय कह-लाता है।

अर्थ-व्यञ्जनपर्यायार्थनैगम— १. अर्थ-व्यञ्जन-पर्यायौ गोचरीकुरुते परः। धार्मिके सुखजीवित्व-मित्येवमनुरोधतः ॥ (त. श्लो. १, ३३, ३५ पृ. २७०)। २. तत्र सूक्ष्मः क्षणक्षयोऽवाग्गोचरोऽर्थप-र्यायार्थो वस्तुनो धर्मः। स्थूलः कालान्तरस्थायी वाग्गोचरो व्यञ्जनपर्यायोऽर्थधर्मः। एतद्धर्मद्वयास्ति-त्वावलम्बी अर्थव्यञ्जनपर्यायार्थनैगमो भवति। (त. सुखबो. १–३३)।

१ जो अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्याय इन दोनों को एक साथ विषय करे, उसे अर्थ-व्यञ्जनपर्यायार्थ नैगमनय कहते हैं। जैसे—धर्मात्मा सुखजीवी होता है।

अर्थशुद्धि—१. व्यञ्जनशब्दस्य सान्निध्यादर्थशब्दः शब्दाभिधेये वर्तते। तेन सूत्रार्थोऽर्थ इति गृह्यते। तस्य का शुद्धिः? विपरीतरूपेण सूत्रार्थनिरूपणा-भावात् यथार्थाख्यानिरूपणाया अर्थपरीक्षस्य अर्थ-शुद्धिरित्युच्यते। (भ. आ. विजयो. टी. ११३)। २. अर्थशुद्धिः सम्यक्सूत्रार्थनिरूपणा। (भ. आ. मूला. टी. ११३)।

२ सूत्र के अर्थ के सम्यक् प्रतिपादन को अर्थशुद्धि कहते हैं।

अर्थश्रावणविनय—प्रयत्नेन शिष्यमर्थं श्रावयति एषोऽर्थश्रावणविनयः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १०, ३१३)।

शिष्य के लिए प्रयत्नपूर्वक सूत्र का अर्थ सुनाने को अर्थश्रावणविनय कहते हैं।

अर्थसम—अर्यते परिच्छिद्यते गम्यते इत्यर्थो द्वादशांगविषयः, तेण अत्थेण समं सह वट्टदि त्ति अत्थसमं। दव्वसुदाइरिये अप्पवेक्खिय संजमजणिदसुदणाणावरणक्खओवसमसमुप्पणवहिरंगसुदं सयंबुद्धाधारमत्थसमं इदि वुत्तं होदि। (धव. पु. ६, पृ. २५६); कारकभेदेन (पठनं) अर्थसमम्। (धव. पु. ६, पृ. २६१); गंथ-बीजपदेहिं विणा संजमवलेण केवलणाणं व सयंबुद्धेसुप्पण्ण-कदि-अणियोगो अत्थेण सह वुत्तीदो अत्थसमं णाम। (धव. पु. ६, पृ. २६८); अत्थो गणहरदेवो, आगमसुत्तेण विणा सयलसुदणाणपज्जाएणं परिणदत्तादो। तेण समं सुदणाणं अत्थसमं। अथवा अत्थो बीजपदं, तत्तो उप्पण्णं सयलसुदणाणं अत्थसमं। (धव. पु. १४, पृ. ८)।

जो द्वादशांग के विषयभूत अर्थ के साथ रहता है, वह आगम का अर्थसम नामक अधिकार कहलाता है। तात्पर्य यह कि द्रव्यश्रुत के धारक आचार्यों की अपेक्षा न कर संयम से प्रादुर्भूत श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से जो श्रुत स्वयंबुद्धों के आश्रित होता है, वह अर्थसम कहलाता है।

अर्थसमय—१. तेषाम् (पञ्चास्तिकायानाम्) एवाभिधान-प्रत्ययपरिच्छिन्नानां वस्तुरूपेण समवायः संघातोऽर्थसमयः, सर्वपदार्थसार्थ इति यावत्। (पंचा. का. अमृत. वृ. ३)। २. तेन द्रव्यागमरूपशब्दसमयेन वाच्यो भावश्रुतरूपज्ञानसमयेन परिच्छेद्यः पञ्चानामस्तिकायानां समूहोऽर्थसमय इति भण्यते। (पंचा. का. जय. वृ. ३)।

२ द्रव्यागमरूप शब्दसमय के द्वारा कहे गये और भावश्रुतरूप ज्ञानसमय के द्वारा जाने गये पांच अस्तिकायरूप पदार्थों के समुदाय को अर्थसमय कहते हैं।

अर्थसंक्रान्ति—१. द्रव्यं विहाय पर्यायमुपैति, पर्यायं त्यक्त्वा द्रव्यमित्यर्थसंक्रान्तिः। (स. सि. ९-४४; त. वा. ९-४४, पं. ११)। २. द्रव्यं हित्वा पर्याये, तं त्यक्त्वा द्रव्ये संक्रमणं अर्थसंक्रान्तिः। (त. श्लो. ९, ४४, १)। ३. प्राक् शब्दस्ततस्तत्त्वालम्बनमिदमस्य स्वरूपम्, अयमस्य पर्यायः, ततस्तदर्थचिन्तनं साकल्येन, ततः शब्दार्थयोः स्वरूपविशेषचिन्ताप्रतिबन्धः प्रणिधानमर्थसंक्रान्तिः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-४६)। ४. अर्थादर्थान्तरापत्तिरर्थसंक्रान्तिरिष्यते। (ज्ञानार्णव ४२-१६)। ५. द्रव्यात् पर्यायार्थे पर्यायाच्च द्रव्यार्थे संक्रमणमर्थसंक्रान्तिः। (त. सुखबो. ९-४४)। ६. द्रव्यं विमुच्य पर्यायं गच्छति, पर्यायं विहाय द्रव्यमुपैति इति अर्थसंक्रान्तिः। (भावप्रा. टी. ७८)। ७. द्रव्यं ध्यायति, द्रव्यं त्यक्त्वा पर्यायं ध्यायति, पर्यायं च परिहाय पुनर्द्रव्यं ध्यायति इत्येवं पुनः पुनः संक्रमणमर्थसंक्रान्तिः। (कार्तिके. टी. ४८७; त. वृत्ति श्रुत. ९-४४)।

१ ध्यानावस्था में द्रव्य का चिन्तवन करते हुए पर्याय का और पर्याय का चिन्तवन करते हुए द्रव्य का चिन्तवन करने लगना, यह अर्थसंक्रान्ति है।

अर्थसिद्ध—× × × पउरत्थो अत्थपरो व मम्मणो अत्थसिद्धत्ति॥ (आव. नि. ९३५)।

राजगृहनिवासी मम्मण के समान जो प्रचुर अर्थ (धन) के संग्रह में तत्पर रहता है वह अर्थसिद्ध कहलाता है।

अर्थाचार — अर्थोऽभिधेयोऽनेकान्तात्मकस्तेन सह पाठादिः अर्थाचारः। (मूला. वृ. ५-७२)।

अनेकान्तात्मक अर्थ के साथ—नयाश्रित अभिप्रायपूर्वक—शास्त्र का पाठ आदि करने को अर्थाचार कहते हैं।

अर्थापत्ति—१. अर्थापत्तिरियं चिन्ता मेयान्यापोहनोहनम्। (सिद्धिवि. ३-६, पृ. १८२)। २. प्रमाणषट्कविज्ञातो यच्चालुः (योऽर्थः) साध्याभावे नियमेनाभवन् यत्रादृष्टमर्थं कल्पयेत् सा अर्थापत्तिः। (सिद्धिवि. टी. ३-६, पृ. १८२)। ३. अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यदृष्टार्थकल्पना। × × × प्रत्यक्षादिभिः षड्भिः प्रमाणैः प्रसिद्धो योऽर्थः स येन विना नोपपद्यते तस्यार्थस्य कल्पनमर्थापत्तिः। (प्र. क. मा. पृ. १८७)। ४. याऽसौ "प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थोऽन्यथाभवन्। अदृष्टं कल्पयेदन्यं सार्थापत्तिरुदाहृता॥" इत्येतल्लक्षणलक्षिता मीमांसकैः परिकल्पितार्थापत्तिः सा × × ×। (न्यायकु. ६-२१, पृ. ५०५)।

३ प्रत्यक्षादि छह प्रमाणों के द्वारा जाना गया अर्थ

जिस अदृष्ट पदार्थ के विना सम्भव नहीं है, उसकी कल्पना जिस प्रमाण में की जाती है, उसका नाम अर्थापत्ति है। जैसे—नीचे जलप्रवाह को देखकर ऊपर संजात अदृष्ट वृष्टि की कल्पना।

अर्थापत्तिदोष—अर्थापत्तिदोषो यत्रार्थादनिष्टापत्तिः। यथा—'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' इत्यर्थादब्राह्मणघातापत्तिः। (आव. हरि. व मलय. वृ. नि. ८८३)।

जहां पर अभीष्ट अर्थ से अनिष्ट की आपत्ति आवे उसे अर्थापत्तिदोष कहते हैं। जैसे—'ब्राह्मण की हत्या नहीं करना चाहिए' इस अभीष्ट अर्थसे अब्राह्मणघात की आपत्ति। यह ३२ सूत्रदोषों में से एक है।

अर्थाय क्रिया—अत्रानिर्वाहे ग्लानादौ वाऽनेषणीयग्रहणमर्थाय क्रिया। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३-२७, पृ. ८२)।

निर्वाह न होने पर या रोगादि से पीड़ित होने पर अनेषणीय (नहीं लेने योग्य) भी आहार के ग्रहण करने को अर्थाय क्रिया कहते हैं। यह पाप के हेतुभूत १३ क्रियास्थानों में प्रथम है।

अर्थावग्रह—१. व्यक्तग्रहणमर्थावग्रहः। (स. सि. १-१८; त. वा. १, १८,२; त. सुखबो. १-१८)। २. व्यञ्जनाऽवग्रहचरमसमयोपात्तशब्दाद्यर्थविग्रहणलक्षणोऽर्थावग्रहः। (आव. नि. हरि. वृ.३, पृ. १०)। ३. अत्थस्स ओग्गहो अत्थोग्गहो, सो य वंजणावग्गहातो चरमसमयाणंतरं एकसमयं अविसव्विदिय-[अविसिट्ठिदिय-] गेण्हतो अत्थावग्गहो भवति, चक्खिदियस्स मणसो य वंजणाभावे पढमं चेव जं अविसिट्ठमत्थग्गहणकाले यो एगसमयं सो अत्योग्गहो भाणियव्वो। (नन्दी. चू. पृ. २६)। ४. अप्राप्तार्थग्रहणमर्थावग्रहः। (धव. पु. १, पृ. ३५४); अपत्तत्थग्गहणमत्थावग्गहो। (धव. पु. ६, पृ. १६; पु. ६, पृ. १५६; पु. १३, पृ. २२०)। ५. दूरेण य जं गहणं इंदिय-णोइंदिएहिं अत्थिपक्कं। अत्थावग्गहणाणं णायव्वं तं समासेण ॥ मण-चक्खूविसयाणं णिद्दिट्ठा सव्वभावदरसीहिं। अत्थावग्गहबुद्धी णायव्वा होदि एक्का दु। (जं. दी. प. १३-६६ व ६८)। ६. प्राप्ताप्राप्तार्थबोधावग्रहो व्यंजनार्थयोः (अप्राप्तार्थबोधोऽर्थस्यावग्रहः)। (आचा. सा. ४-११)। ७. अर्यंत इत्यर्थः, अर्थस्यावग्रहणम् अर्थावग्रहः, सकलरूपादिविशेषनिरपेक्षाऽनिर्देश्यसामान्यमात्ररूपार्थग्रहणम् एकसामयिकम् इत्यर्थः। (नन्दी. मलय. वृ. २७, पृ. १६८)। ८. तत्र अत्रग्रहणमवग्रहः, अर्थस्यावग्रहोऽर्थावग्रहः, अनिर्देश्यसामान्यरूपाद्यर्थग्रहणमिति भावः। आह च नन्द्यध्ययनचूर्णिकृत्—सामन्नस्स रूवाइविसेसणरहियस्स अनिद्देस्सस्स अवग्गहणं अवग्गह इति। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १५-२००, पृ. ३१०)। ९. व्यंजनावग्रहचरमसमयोपात्तशब्दाद्यर्थावग्रहलक्षणोऽर्थावग्रहः सामान्यमात्रानिर्देश्यग्रहणमेकसामयिकमर्थावग्रह इति भावः। (आव. मलय. वृ. ३, पृ. २५)। १०. अर्थावग्रहस्तु किमपीदमित्येतावन्मात्रो मनःषष्ठैः पञ्चभिरिन्द्रियैर्वस्त्ववबोधः। (कर्मस्तव गो. वृ. ९-१०, पृ. ८१)। ११. अर्थस्यावग्रहणमवग्रहोऽर्थपरिच्छेदः। (कर्मवि. व्या. गा. १३)। १२. अर्यत इत्यर्थः, तस्य शब्द-रूपादिभेदानामन्यतरेणापि भेदेनानिर्धारितस्य सामान्यरूपस्यावग्रहणमर्थावग्रहः, किमपीदमित्यव्यक्तज्ञानमित्यर्थः। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ५, पृ. १२; प्रव. सारो. वृ. १२५३)। १३. शब्दादेर्थः परिच्छेदो मनाक् स्पष्टतरो भवेत्। किंचिदित्यात्मकः सोऽयमर्थावग्रह उच्यते ॥ (लोकप्र. ३-७०९)।

१ व्यक्त पदार्थ के अवग्रह को अर्थावग्रह कहते हैं। २ व्यंजनावग्रह के अन्तिम समय में गृहीत शब्दादि अर्थ के अवग्रहण का नाम अर्थावग्रह है। ४. अप्राप्त पदार्थ के ग्रहण को अर्थावग्रह कहते हैं।

अर्धमागधी भाषा—१. मगहद्धविसयभासाणिबद्धं अद्धमागहं अट्ठारसदेसीभासाणियदं वा अद्धमागहं। (निशीथचूर्णि—पाइयसद्दमहण्णवो प्रस्ता. पृ. २१, सन् १९२८)। २. प्राकृतादीनां षण्णां भाषाविशेषाणां मध्ये या मागधी नाम भाषा 'रसोर्लशौ मागध्याम्' इत्यादिलक्षणवती सा असमाश्रितस्वकीयसमग्रलक्षणाऽर्धमागधीत्युच्यते। (समवा. अभय. वृ. ३४, पृ. ५९)।

१ जो भाषा आधे मगध देश में बोली जाती थी, अथवा जो अट्ठारह देशी भाषाओं में नियत थी, उसका नाम अर्धमागधी है।

अर्पित—१. अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनः प्रयोजनवशाद्यस्य कस्यचिद्धर्मस्य विवक्षया प्रापितं प्राधान्यमर्पितमुपनीतमिति यावत्। (स. सि. ५-३२; त. सुखबो. ५-३२)। २. धर्मान्तरविवक्षाप्रापितप्राधा-

न्यमर्पितम् । अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनः प्रयोजनवशात् यस्य कस्यचिद् धर्मस्य विनक्षया प्रापितप्राधान्यम् अर्थरूपमर्पितमुपनीतमिति यावत् । (त. वा. ५, ३२, १) । ३. अर्पितं निर्दशितमुपात्तं विवक्षितमित्यनर्थान्तरम् । (त. भा. हरि. वृ. ५–३१) । ४. अर्पितं निर्दशितमुपात्तम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. ५–३१) । ५. वस्तु तावदनेकान्तात्मकं वर्तते । तस्य वस्तुनः कार्यवशात् यस्य कस्यचित् स्वभावस्य प्रापितमर्पितं प्राधान्यम् उपनीतं विवक्षितामिति यावत् । (त. वृत्ति श्रुत. ५–३२) ।

१ प्रयोजन के वश अनेकान्तात्मक वस्तु के जिस किसी धर्म को विवक्षावश जो मुख्यता प्राप्त होती है उसे अर्पित कहते हैं ।

अर्हद्भाव—सम्मद्दंसणि पस्सइ जाणइ णाणेण दव्व-पज्जाया । सम्मत्तगुणविशुद्धो भावो अरुहस्स णायव्वो ॥ बोधप्रा. ४१) ।

सम्यक्त्व गुण से विशुद्ध होकर जो दर्शन से द्रव्यों और उनकी पर्यायों को देखता है, तथा ज्ञान से उन्हें जानता है, यह अर्हन्त का स्वरूप है ।

अर्हद्वर्णजनन— १. अर्हदादीनां यशोजननं विदुषां परिषदि अन्येषामविश्ववेदिनां दृष्टेष्टविरुद्धवचनताप्रदर्शनेन निवेद्य तत्संवादिवचनतया महत्ताप्रख्यापनं भगवतां वर्णजननम् ॥ (भ. आ. विजयो. ४७) । २. सुगतादीनां दृष्टेष्टविरुद्धवचनताप्रकाशनेनासर्वज्ञत्वं प्रज्ञाप्य तत्संवादिवचनतया महत्त्वप्रख्यापनमर्हतां वर्णजननम् । (भ. आ. मूला. ४७) ।

सर्वज्ञता से रहित अन्य— बुद्ध, कपिल व कणाद आदि के— वचनों में प्रत्यक्ष व अनुमान से विरोध दिखला कर भगवान् अर्हन्त के वचनों में विसंवाद रहित होने से महत्त्व को प्रकट करना, इसका नाम अर्हद्-वर्ण जनन है ।

अर्हन्—१. अरिहंति णमोक्कारं अरिहा पूजा सुरुत्तमा लोए । रजहंता अरिहंति य अरहंता तेण उच्चंते ॥ हंता अरिं च जम्मं अरहंता तेण वुच्चंति ॥ अरिहंति वंदण-णमंसणाणि अरिहंति पूय-सक्कारं । अरिहंति सिद्धिगमणं अरहंता तेण उच्चंति ॥ (मूला. ७–४ व ७,६४–६५) । २. घणघाइकम्मरहिया केवलणाणाइपरमगुणसहिया । चोत्तीसातिसयजुदा अरिहंता एरिसा होंति ॥ (नि. सा. ७१) । ३. तेरहमे गुणठाणे सजोइकेवलिय होइ अरिहंतो । चउतीसअइसयगुणा होंति हु तस्सट्ठपडिहारा ॥ (बोधप्रा. ३२) ४. देवासुर-मणुएसुं अरिहा पूआ सुरुत्तमा जम्हा । अरिणो हंता रयं हंता अरिहंता तेण वुच्चंति ॥ (आव. नि. ९२२) । ५. वंदणा-णमंसणा-पूयणादि अरहंतीति अरहंता, अरिणो वा हंता अरिहंता । (नन्दी. चू. पृ. ३८) । ६. अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः, तीर्थंकरा इत्यर्थः । (श्रा. प्र. टी. १, नन्दी. मलय. वृ. सू. ४०, पृ. १९२; पंचसूत्र व्या. ४; ललितवि. पृ. ७६ व ८६; आव. हरि. वृ. नि. ७०, पृ. ४८; नि. १७९, पृ. ११९; नि. ४१७, पृ. १६६) । ७. अरिहन्ति, अर्हन् अशोकादिमहापूजार्हत्वात्, अविद्यमानं वा रहः एकान्तं प्रच्छन्नं सर्वज्ञत्वाद् यस्य सोऽरहाः। (औपपा. अभय. वृ. १०, पृ. १५; दशवै. नि. हरि. वृ. १–९०, पृ. ६२; आव. नि. मलय. वृ. ७० व १७६, पृ. ७९ व १९१) । ८. अतिशयपूजार्हत्वाद्वार्हन्तः । स्वर्गावतरण-जन्माभिषेक - परिनिष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्तिपरिनिर्वाणेषु देवकृतानां पूजानां देवासुर-मानवप्राप्तपूजाभ्योऽधिकत्वादतिशयानामर्हत्वात् योग्यत्वात् अर्हन्तः । (धव. पु. १, पृ. ४४) ।

१ भगवान् अरहंत चूंकि नमस्कार व पूजा के योग्य होते हुए देवों में सर्वश्रेष्ठ हैं, तथा ज्ञानावरण और दर्शनावरण रूप रज एवं मोह और अन्तराय रूप अरि के विघातक हैं; अतएव वे 'अर्हन्' इस सार्थक नाम से प्रसिद्ध हैं ।

अलङ्कृत—१. अन्यान्यस्वरविशेषकरणेन यदलंकृतमिव गीयते तदलङ्कृतम् । (रायप. पृ. १३१) । २. अलङ्कृतमुपमाद्यलङ्कारोपेतम् । (व्यव. भा. मलय. वृ. ७–१९०) । ३. अन्योऽन्यस्फुटशुभस्वरविशेषाणां करणादलङ्कृतम् । (जम्बूद्वी. वृ. १–६) ।

१ विविध स्वरविशेषोंके करनेसे जो अलंकृतके समान गाया जाता है उसे अलंकृत कहा जाता है । २ उपमा आदि अलंकारों से युक्त होने के कारण जिनवचन को अलंकृत—अलंकार गुण युक्त—माना जाता है ।

अलात—अलायं नाम उम्मुआहियं पंजर-(पज्ज.)-लियं । (दशवै. चू. पृ. १५६) ।

उल्मुक—अर्धदग्ध—जलते हुए काष्ठका नाम अलात है ।

अलाभ—इच्छिदट्ठोवलद्धी लाहो णाम, तव्विवरीयो अलाहो। (धव. पु. १३, पृ. ३३४)।

इच्छित पदार्थ की प्राप्तिरूप लाभ से विपरीत अलाभ कहलाता है।

अलाभविजय—१. वायुवदसंगादनेकदेशचारिणोऽभ्युपगतैककालसम्भोजनस्य वाचंयमस्य तत्समितस्य वा सकृत्स्वतनुदर्शनमात्रतंत्रस्य पाणिपुटमात्रपात्रस्य बहुषु दिवसेषु बहुषु च गृहेषु भिक्षामनवाप्याऽप्यसंक्लिष्टचेतसो दातृविशेषपरीक्षानिरुत्सुकस्य लाभादप्यलाभो मे परमं तप इति सन्तुष्टस्यालाभविजयोऽवसेयः। (स. सि. ९–९; त. वृत्ति श्रुत. ९–९)। २. अलाभेऽपि लाभवत्सन्तुष्टस्यालाभविजयः। वायुवदनेकदेशचारिणः, अप्रकाशितवीर्यस्याभ्युपगतैककालभोजनस्य, सकृन्मूर्तिसंदर्शनव्रतकालस्य 'देहि' इति असभ्यवाक्प्रयोगादुपरतस्य अनुपात्तविग्रहप्रतिक्रियस्य, अद्येदं श्वश्चेदम् इति व्यपेतसङ्कल्पस्य, एकस्मिन् ग्रामे अलब्ध्वा ग्रामान्तरान्वेषणनिरुत्सुकस्य, पाणिपुटमात्रपात्रस्य, बहुषु दिवसेषु बहुषु च गृहेषु भिक्षामनवाप्याऽप्यसंक्लिष्टचेतसः, नायं दाता तत्रान्यो वदान्योऽस्तीति व्यपगतपरीक्षस्य, लाभादप्यलाभो मे परमं तपः इति सन्तुष्टस्य अलाभविजयोऽवसेयः। (त. वा. ९, ९, २०। ३. अलाभेऽपि लाभादलाभो मे परं तपोवृद्धिरिति संकल्पेनालाभपरीषहसहनम्। (भ. आ. विजयो. टी. ११६)।

१ जो वायु के समान परिग्रह से रहित होकर अनेक देशों में गमन करता है, जिसने दिन में एक ही बार भोजन लेने का नियम स्वीकार किया है, जो मौन के साथ समितियों का पालन करता है, वचन से किसी प्रकारकी याचना न करके जो केवल शरीर को दिखलाता है, हाथ ही जिसके पात्र हैं, तथा बहुत दिन व बहुत घरों में घूमकर भी भिक्षा के न प्राप्त होने पर संक्लेश से रहित होता हुआ लाभ से अलाभ को ही श्रेष्ठ समझ कर सन्तुष्ट रहता है, ऐसा साधु अलाभविजयी होता है

अलाभपरीषहजय—देखो अलाभविजय। १. अलाभः अन्तरायकर्मोदयादाहाराद्यलाभकृतपीडा, [तस्य परिषहनम् अलाभपरीषहजयो भवति]। (मूला. वृ. ५–५८)। २. अलाभस्तु याचिते सति प्रत्याख्यानं विद्यमानमविद्यमानं वा न ददाति, यस्य स्वं तत्कदाचिद् वा दत्ते यदाकिञ्च, अन्तरायतिरोधो न यच्छति सति ? ××× अलाभेऽपि समचेतसैव अविकृतस्वान्तेनैव भवितव्यमित्यलाभपरीषहजयः। (त. भा. सिद्ध वृ. ९–९)। ३. हं हो देह सहायतां नव समुद्दिश्यैव पोष्यो मया पूर्तो मत्तपसो गृहावविमतो भ्रान्त्वाऽप्यनाप्तेऽशने। दोषः कोऽपि न विद्यते मम पुनर्लाभादलाभक्षमा तां पूर्ति प्रतनोत्यतः प्रियतमैवेत्यलाभक्षमा॥ (आचा. सा. ७–१४)। नानादेशविहारिणो विभवमपेक्ष्य बहूच्चनीचैर्गृहेषु भिक्षामनवाप्याऽप्यसंक्लिष्टचेतसो दातृविशेषपरीक्षानिरुत्सुकस्य 'अलाभो मे परमं तपः' इत्येवमधिकगुणमलाभं मन्यमानस्य यदलाभपीडासहनं सोऽलाभपरीषहजयः। (पंचसं. मलय. वृ. ४-२२)। ५. निःसंगो बहुदेशचार्यनिलवन्मौनी विकायप्रतीकारोऽद्येदमिदं श्व इत्यविमृशन् ग्रामेऽस्तभिक्षः परे। बह्वोकस्वपि बह्वहं मम परं लाभादलाभस्तपः स्यादित्यात्तधृतिः पुरो स्मरयति स्मार्तानलाभं सहन्॥ (अन. ध. ६–१०३)। ६. यो मुनिरङ्गीकृतैकवारनिर्दोषभोजनः चरण्युरिवानेकदेशचारी मौनवान् वाचंयमः समो वा सकृत् निजशरीरदर्शनमात्रतंत्रः करयुगलमात्राऽमत्रः बहुभिर्दिवसैरप्यनेकमन्दिरेषु भोजनमलब्ध्वापि अनार्त-रौद्रचेताः दाश्यदातृपरीक्षणपराङ्मुखो लाभादलाभो वरं तपोवृद्धिहेतुः परमं तप इति सन्तुष्टचेताः भवति स मुनिरलाभविजयी वेदितव्यः। (त. वृत्ति श्रुत. ९–९)।

देखो अलाभविजय।

अलीक—तत्रालीकं साधुमसाधुं ब्रवीति, असाधु साधुमित्यादि। (बृहत्क. वृ. ७५३)।

जो यथार्थ साधु को असाधु और असाधु को साधु कहता है वह अलीकरूप असत् वचन का भाषी होता है। यह भाषाचपल के चार भेदों में अलतप्रलापी नामक प्रथम भेद है।

अलेवड—१. अलेवडं यन्न हस्ते न सज्जति। (भ. आ. विजयो. २२०)। २. अलेवडं हस्तालेपकारि मथितादिकम् (भ. आ. मूला. टी. २२०)।

जो हाथ में लिप्त न हो ऐसे छांछ आदि को अलेवड आहार कहते हैं।

अलेश्य (अलेस्सिय) — १. किण्हादिलेस्सरहिया संसारविणिग्गया अणंतसुहा। सिद्धिपुरीसंपत्ता अलेस्सिया ते मुणेयव्वा॥ (प्रा. पंचसं. १-१५३; धव. पु. १, पृ. ३६० उ.)। २. षड्लेश्यातीता अलेश्याः (पंच.

पु. १, पृ. ३६०); लेस्साए कारणकम्माणं खए-णुप्पण्णजीवपरिणामो खइया लद्धी, तीए अलेस्सिओ होदि। (धव. पु. ७, पृ. १०६)।

१ कृष्णादि छहों लेश्याओं से रहित जीवों को—अयोगिकेवली और सिद्धों को—अलेश्य कहते हैं।

अलोक, अलोकाकाश—१. × × × आगास-मदो परमणंतं॥ (मूला. ८–२३)। २. लोयाया-सट्ठाणं सयंपहाणं सदव्वछक्कं हु। सव्वमलोयायासं तं सव्वासं [तस्सव्वासं] हवे णियमा। (ति. प. १, १३५)। २. ततो (लोकाद्) बहिः सर्वतोऽनन्त-मलोकाकाशम्। (स. सि. ५–१२)। ३. वहिः सम-न्तादनन्तमलोकाकाशम्। (त. वा. ५, १२, १८)। ४. लोक्यन्ते उपलभ्यन्ते यस्मिन् जीवादिद्रव्याणि स लोकः, तद्विपरीतोऽलोकः। (धव. पु. ४, पृ. ६; पु ११, पृ. २)। ५. सर्वतोऽनन्तविस्तारमनन्तं स्वप्रदेशकम्। द्रव्यान्तरविनिर्मुक्तमलोकाकाशमिष्यते। (ह. पु. ४, १)। ६. यावति पुनराकाशे जीव-पुद्गलयोर्गति-स्थिती न सम्भवतो धर्माधर्मौ नावस्थितौ, न कालो दुर्ललितस्तावत्केवलमाकाशमात्मत्वेन स्वलक्षणं यस्य सोऽलोकः। (प्रव. सा. अमृत. वृ. २-३६। ७. शुद्धै-काकाशवृत्तिरूपोऽलोकः। (पंचा. का. अमृत. वृ. ८७) ८. अलोकः केवलाकाशरूपः। (औपपा. अभय. वृ. ३४, पृ. ७६)। ९. अलोकस्तु धर्मास्तिकायादिवियुक्तः। (कर्मवि. ग. पू. व्या. १७, पृ. ११)। १०. × × × तत्तो परदो अलोगुत्तो॥ (द्रव्यसं. २०)। ११. तस्माल्लोकाकाशात्परतो वहिर्भागेऽनन्तमाकाशमलो-कः। (वृ. द्रव्यसं. टी. २०)। १२. तस्माद् बहि-र्भूतं शुद्धमाकाशमलोकः। (पंचा. का. जय. वृ. ८७; प्रव. सा. जय. वृ. २–३६)। १३. लोक्यन्ते जीवा-दयः पदार्थाः यत्रासौ लोकः, × × × तद्विपरीतो-ऽलोकोऽनन्तमानावच्छिन्नशुद्धाकाशरूपः (रत्नक. टी. २–३)। १४. × × × सेसमलोयं हवेऽणंतं (बृ. न. च. ९९)। १५. × × × स्यादलोकस्ततो (लोकाद्) ऽन्यथा॥ सोऽप्यलोको न शून्योऽस्ति षड्भिर्द्रव्यैर-शेषतः। व्योममात्रावशेषत्वात् व्योमात्मा केवलं भवेत्॥ (पंचाध्या. २, २२–२३)। १६. × × × ऽलोकस्तेषां (धर्मादीनां) वियोगतः। निरवधिः स्वयं तस्याऽवधित्वं तु निरर्थकम्॥ (द्रव्यानु. त. १०–९)।

१ लोक से बाहिर सब ओर जितना भी अनन्त आकाश है वह सब अलोकाकाश कहलाता है।

अलोलुप—त्रिधाऽपि याचते किंचिद्यो न सांसारिकं फलम्। ददानो योगिनां दानं भाषन्ते तमलोलुपम्॥ (अमित. श्रा. ९–८)।

जो किसी भी सांसारिक फल की मन, वचन और काय से याचना नहीं करता हुआ निष्काम भाव से योगी जनों को दान देता है वह दाता अलोलुप कह-लाता है। उसके इस गुण को अलौल्य गुण कहा जाता है।

अलौल्य—अलौल्यं सांसारिकफलानपेक्षा। (सा. ध. स्वो. टी. ५-४७)।

देखो—अलोलुप।

अल्पतर-उदय—जमेण्हि पदेसग्गमुदिदं अणंतर-उवरिमसमए तत्तो थोवदरे पदेसग्गे उदयमागदे एसो अप्पदरउदओ णाम। (धव. पु. १५, पृ. ३२५)।

वर्तमान समय में जो प्रदेशाग्र उदय को प्राप्त है उससे अव्यवहित आगे के समय में उसकी अपेक्षा अल्पतर प्रदेशाग्र के उदय को प्राप्त होने पर वह अल्पतर उदय कहलाता है।

अल्पतर-उदीरणा—जाओ एण्हि पयडीओ उदी-रेदि तत्तो अणंतरविदिक्कंतसमए बहुदरियाओ उदी-रेदि त्ति, एसा अप्पदर-उदीरणा। (धव. पु. १५, पृ. ५०)।

वर्तमान समय में जितनी प्रकृतियों की उदीरणा कर रहा है, अनन्तर अतिक्रान्त समय में उनसे जो बहुतर प्रकृतियों की उदीरणा की जाती है, इसका नाम अल्पतर उदीरणा है।

अल्पतर बन्ध—१. × × × एगाईऊणगम्मि वि-इओ उ। (कर्मप्र. सत्ता. गा. ५२, पृ. ८४)। २. यदा तु प्रभूताः प्रकृतीर्बध्नन् परिणामविशेषतः स्तोका बद्धुमारभते, यथाऽष्टौ बद्ध्वा सप्त बध्नाति, सप्त वा बद्ध्वा षट्, षड् वा बद्ध्वा एकाम्, तदानीं स बन्धोऽल्पतरः। (कर्मप्र. मलय. वृ. सत्ता. ५२)। ३. यत्र त्वष्टविधादिबहुबन्धको भूत्वा पुनरपि सप्तविधाद्यल्पतरबन्धको भवति स प्रथम-समय एवाल्पतरबन्धः। (शतक. दे. स्वो. वृ. २२)।

१ अधिक कर्मप्रकृतियों को बांध करके जो फिर परिणामविशेष से एक आदि से हीन कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है, इसे अल्पतर बन्ध कहते हैं।

अल्पतरविभक्तिक — ओसक्काविदे बहुदराओ

विहत्तीओ एसो अप्पदरविहत्तिओ। बहुदराओ विहत्तीओ अनन्तरव्यतिक्रान्ते समये बहुस्थितिविकल्पेषु व्यवस्थितेषु, ओसक्काविदे—वर्तमानसमये स्थितिकाण्डघातेन अधःस्थितिगलनेन वा अपकर्षितेषु, एषः अल्पतरविभक्तिकः। (जयध. पु. ४, पृ. २)।

अव्यवहित अतीत समय में बहुत स्थितिविकल्पों के रहने पर फिर वर्तमान समय में स्थितिकाण्डकघात के द्वारा अथवा अधःस्थितिगलन के द्वारा उनका अपकर्षण होने पर वह अल्पतरविभक्तिक कहलाता है।

अल्पतरसंक्रम—१. **ओसक्काविदे बहुदरादो एण्हिमप्पदराणि संकामेदि त्ति एस अप्पदरो।** एत्थ ओसक्काविद-सद्दो अणंतरविदिक्कंतसमयवाचओ त्ति घेत्तव्वो। अथवा बहुदरादो पुव्विल्लसमयसंकमादो एण्हिमोसक्काविदे इदानीमपकर्षिते न्यूनीकृते अल्पतराणि स्पर्द्धकानि संक्रमयतोऽल्पतरसंक्रम इति सूत्रार्थसम्बन्धः। (जयध. ९, पृ. ९५-९६)। २. जे एण्हि अणुभागस्स फद्दया संकामिज्जंति ते जइ अणंतरविदिक्कंते समए संकामिदफद्दएहिंतो बहुआ होंति तो एसो भुजगारसंकमो। अह जइ तत्तो थोवा होंति तो एसो अप्पदरसंकमो। (धव. पु. १६, पृ. ३९८)।

वर्तमान समय में जो अनुभाग के स्पर्धक संक्रमण को प्राप्त हो रहे हैं, वे यदि अनन्तर अतीत समय में संक्रामित स्पर्धकों की अपेक्षा अल्प होते हैं तो वह अल्पतरसंक्रम कहलाता है।

अल्पबहुत्व—१. अल्पबहुत्वम् अन्योन्यापेक्षया विशेषप्रतिपत्तिः। (स. सि. १-८)। २. **संख्याताद्यन्यतमनिश्चयेऽपि अन्योन्यविशेषप्रतिपत्त्यर्थम् अल्पबहुत्ववचनम्।** संख्यातादिष्वन्यतमेन परिमाणेन निश्चितानामन्योन्यविशेषप्रतिपत्त्यर्थमल्पबहुत्ववचनं क्रियते—इमे एभ्योऽल्पा इमे बह्व इति। (त. वा. १, ८, १०)। ३. एतेऽल्पे बहवश्चैतेऽमीभ्योऽर्था इतिविविच्यते। कथ्यतेऽल्पबहुत्वं तत्संख्यातो भिन्नसंख्यया। (त. श्लो. १, ८, ५७)। ४. संख्याताद्यन्यतमनिश्चयेऽपि परस्परं विशेषप्रतिपत्तिनिमित्तमल्पबहुत्वम्। (न्यायकु. ७-७६, पृ. ८०३; त. सुखबो. १-८)। ५. अल्पबहुत्वं गत्यादिषु मार्गणास्थानादिषु जीवानां परस्परं स्तोक-भूयस्त्वम्। (षडशीति मलय. वृ. २, पृ. १२२-२३)।

१ परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा हीनाधिकता के बोध को अल्पबहुत्व कहते हैं।

अल्पसावद्यकर्मार्य—अल्पसावद्यकर्मार्याः श्रावकाः श्राविकाश्च, विरत्यविरतिपरिणतत्वात्। (त. वा. ३, ३६, २)।

विरति और अविरति रूप से परिणत—देशव्रतों का पालन करने वाले—श्रावक व श्राविकायें अल्पसावद्यकर्मार्य कहलाते हैं।

अल्पावग्रह — अल्पश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमपरिणाम आत्मा तत-शब्दादीनामन्यतममल्पं शब्दमवगृह्णाति। (त. वा. १, १६, १६)।

श्रोत्रेन्द्रियावरण के अल्प क्षयोपशम से परिणत आत्मा जो तत-वितत आदि शब्दों में किसी एक अल्प शब्द का अवग्रह करता है, वह श्रोत्रज अल्प-अवग्रह कहलाता है।

अल्पाहारावमौदर्य—तत्राहारः पुंसो द्वात्रिंशत्कवलप्रमाणः। कवलाष्टकाभ्यवहारोऽल्पाहारावमौदर्यम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-१९)।

पुरुष के ३२ ग्रास प्रमाण आहार में से आठ ग्रास मात्र आहार के ग्रहण करने को अल्पाहार-अवमौदर्य तप कहते हैं।

अल्पाहारौनोदर्य — देखो अल्पाहारावमौदर्य। कवलाष्टकाभ्यवहारोऽल्पाहारौनोदर्यम्। (योगशा. स्वो. विव. ४-८९)।

आठ ग्रास आहार के ग्रहण करने को अल्पाहारौनोदर्य तप कहते हैं।

अल्लीवणबन्ध—देखो आलेपनबन्ध। १. जो सो अल्लीवणबंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो—से कडयाणं वा कुड्डाणं वा गोवरपीडाणं वा पागाराणं वा साडियाणं वा जे चामण्णे एवमादिया अण्णदव्वाणमण्णदव्वेहि अल्लीविदाणं बंधो होदि सो सव्वो अल्लीवणबंधो णाम। (षट्खं. ५, ६, ४२—पु. १४, पृ. ३९)। २. लेवणविसेसेण ढोइदाणं दव्वाणं जो बंधो सो अल्लीवणबंधो। (धव. पु. १४, पृ. ३७)।

कटक, भित्ति, गोवरपीठ, कोट, साटिका (साड़ी आदि वस्त्र) तथा अन्य भी इसी प्रकार के पदार्थों का जो इतर पदार्थों से सम्बन्ध—एकरूपता—होती है, उसका नाम अल्लीवण या आलापनबन्ध है।

अवक्तव्य उदय—अणंतरादिक्कंतसमए उदएण विणा

एण्हिमुदयमागदे एसो अवत्तव्वउदओ णाम। (धव. पु. १५, पृ. ३२५)।
अनन्तर अतीत समय में उदय के न होते हुए इस समय—वर्तमान समय—में उदय को प्राप्त होना, इसका नाम अवक्तव्य उदय है।

अवक्तव्य उदीरणा—अणुदीरणाओ उदीरेंतस्य अवक्तव्य-उदीरणा। (धव. पु. १५, पृ. ५१)।
अनन्तर अतीत समय में उदीरणा से रहित होकर वर्तमान समय में उदीरणा करने वाले की इस उदीरणा को अवक्तव्य-उदीरणा कहा जाता है।

अवक्तव्य द्रव्य—१. अत्थंतरभूएहिं य णियएहिं य दोहि समयमाईहिं। वयणविसेसाईयं दव्वमवत्तव्वयं पडइ॥ (सन्मतिप्र. १–३६, पृ. ४४१–४२)। २. स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैः परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैश्च युगपदादिष्टमवक्तव्यं द्रव्यम्। (पञ्चा. का. अमृत. वृ. १४)।
२ स्वकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और परकीय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव; दोनों के द्वारा एक साथ द्रव्य का कथन करने पर अवक्तव्य (स्यादवक्तव्यं द्रव्यम्) भङ्ग होता है।

अवक्तव्य बन्ध—यत्र तु सर्वथा अवन्धको भूत्वा पुनः प्रतिपत्य बन्धको भवति स आद्यसमयेऽवक्तव्य-बन्धः। (शतक. दे. स्वो. वृ. २२)।
जहां जीव सर्वथा अवन्धक होकर परिणाम के वश नीचे गिरता हुआ फिर से बन्धक होता है वहां प्रथम समय में अवक्तव्य बन्ध होता है।

अवक्तव्यविभक्तिक—१.अविहत्तियादो विहत्तियाओ एसो अवत्तव्वविहत्तिओ। (कसायपा. चू. २३५, पृ. १२३)। २. णिस्संतकम्मिओ होदूण जदि स संतकम्मिओ होदि तो अवत्तव्वविहत्तिओ होदि, वड्ढि-हाणि-अवट्ठाणाणमभावादो। (जयध. पु. ४, पृ. ३)।
२ यदि सत्कर्म से रहित होकर जीव फिर से सत्कर्म वाला होता है तो वह अवक्तव्य-विभक्तिक होता है।

अवक्तव्य संक्रम—ओसक्काविदे असंकमादो एण्हि संकामेदि त्ति एस अवत्तव्वसंकमो। (कसायपा. चू. २९७, पृ. ३७४)।
अनन्तर अधस्तन समय में संक्रमण से रहित होकर इस समय—वर्तमान समय में—यदि संक्रमण अवस्था से परिणत होता है तो उसका यह संक्रमण अवक्तव्य संक्रमण कहलाता है।

अवगाढरुचि— आचारादिद्वादशाङ्गाभिनिविष्ट-श्रद्धानोऽवगाढरुचिः (त. वा. ३, ३६, २)।
आचारादि द्वादशाङ्ग के अध्ययन द्वारा जो दृढ़ श्रद्धान होता है उसे अवगाढरुचि या अवगाढसम्यक्त्व कहते हैं।

अवगाढसम्यक्त्व—१. अङ्गाङ्गबाह्यसद्भावभावनातः समुद्गता। क्षीणमोहस्य या श्रद्धा सावगाढेति कथ्यते। (म. पु. ७४–४४८)। २, दृष्टिः साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा। (आत्मानु. १४)। ३. त्रिविधस्यागमस्य निःशेषतोऽन्यतमदेशावगाहालीढमवगाढम्। (उपासका. पृ. ११४)। ४. अवगाढा त्रिविधस्यागमस्य निःशेषतोऽन्यतमादेशावगाहालीढा। (अन. ध. स्वो. टी. २–६२)। ५. अङ्गान्यङ्गबाह्यानि च शास्त्राण्यधीत्य यदुत्पद्यते सम्यक्त्वं तदवगाढम्। (द. प्रा. टी. १२)।
देखो—अवगाढरुचि।

अवग्रह—१. विषय-विषयिसन्निपातसमयानन्तरमाद्यं ग्रहणम् अवग्रहः। (स. सि. १–१५; धव. पु. १, पृ. ३५४ व ३७९; धव. पु. ६, पृ. १६; धव. पु. ९, पृ. १४४)। २. तत्राव्यक्तं यथास्वमिन्द्रियैर्विषयाणामालोचनावधारणमवग्रहः। अवग्रहो ग्रहो ग्रहणमालोचनमवधारणं इत्यनर्थान्तिरम्। (त. भा. १–१५; अने. ज. प. १८)। ३. विषय-विषयिसन्निपातसमनन्तरमाद्यं ग्रहणमवग्रहः। विषय-विषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति, तदनन्तरमर्थस्य ग्रहणमवग्रहः। (त. वा. १, १५, १)। ४. अक्षार्थयोगे सत्तालोकोऽर्थाकारविकल्पधीः। अवग्रहो××× ॥ (लघीय. १–५)। ५. विषय-विषयिसन्निपातानन्तरमाद्यं ग्रहणं अवग्रहः××× तदनन्तरभूतं सन्मात्रदर्शनं स्वविषयव्यवस्थापनविकल्पमुत्तरपरिणामं प्रतिपद्यतेऽवग्रहः। (लघीय. स्वो. वृ. १–५, पृ. ११५–१६)। ६. मर्यादया सामान्यस्यानिर्देश्यस्य स्वरूप-नामादिकल्पनारहितस्य दर्शनमालोचनम्। तदेवाऽवधारणमालोचनावधारणम्। एतदवग्रहोऽभिधीयते, अवग्रहणमवग्रह इत्यन्वर्थयोगादिति। (त. हरि. वृ. १–१५)। ७. इह सामण्णस्स रूवादिअत्थस्स य विसेसनिरवेक्खस्स अणिद्देसस्स अवग्गहणमवग्रहः। (नन्दी. चू. पृ. २५)। ८. विषय-विषयिसंपातानन्तरमाद्यं ग्रहणमवग्रहः। विसओ बाहिरो अट्ठो, विसई इंदियाणि, तेसिं दोण्हं पि संपादो णाम णाण-

जणणजोग्गावत्था, तदणंतरमुप्पण्णं णाणमवग्गहो। (धव. पु. ६, पृ. १६); अवग्गहो णाम विषय-विसइ-सण्णिवायाणंतरभावी पढमो बोधविसेसो। (धव. पु. ६, पृ. १८); विषय-विषयिसन्निपातानन्तरमाद्यं ग्रहणमवग्रहः। (धव. पु. ९, पृ. १४४ व पु. १३, पृ. २१६); अवगृह्यते अनेन घटाद्यर्था इत्यवग्रहः। (धव. पु. १३, पृ. २४२)। ९. अक्षार्थयोगजात-वस्तुमात्रग्रहणलक्षणात्। जातं यद् वस्तुभेदस्य ग्रहणं तदवग्रहः। (त. श्लो. १, १५, २)।

३ पदार्थ और उसे विषय करने वाली इन्द्रियों का योग्य देश में संयोग होने के अनन्तर उसका सामान्य प्रतिभासरूप दर्शन होता है, उसके अनन्तर वस्तु का जो प्रथम बोध होता है उसे अवग्रह कहते हैं।

अवग्रहावरणीय—अवग्रहस्य यदावरकं कर्म तद-वग्रहावरणीयम्। (धव. पु. १३, पृ. २१७)।

जो कर्म अवग्रहज्ञान को आच्छादित करता है उसे अवग्रहावरणीय कहते हैं।

अवदान—अवदीयते खण्डयते परिच्छिद्यते अन्येभ्यः अर्थः अनेनेति अवदानम्। (धव. पु. १३, पृ. २४२)।

जिसके द्वारा विवक्षित पदार्थ अन्य पदार्थों से पृथक् रूप में जाना जाता है उसका नाम अवदान है। यह अवग्रहज्ञान का नामान्तर है।

अवद्य— १. अवद्यं गर्ह्यम्। (स. सि. ७–९)। २. अवद्यं गर्ह्यम्, निन्द्यमिति यावत्। (त. सुखबो. ७–९)।

निन्दित या गर्हित वस्तु को अवद्य कहते हैं।

अवधारण—अवधारणं दत्तावधानतया ग्रहणम्। (धर्मवि. मु. वृ. ३–६०)।

सावधानता से पदार्थ या सूत्रार्थ के ग्रहण करने को अवधारण कहते हैं।

अवधारणी भाषा — अवधार्यतेऽवगम्यतेऽर्थोऽनये-त्यवधारणी, अवबोधबीजभूता इत्यर्थः। भाष्यते इति भाषा, तद्योग्यतया परिणामितनिसृज्यमान-द्रव्यसंहतिः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ११–१६१)।

पदार्थ का निश्चय करने वाली—ज्ञान की बीजभूत—भाषा को अवधारणी भाषा कहते हैं।

अवधारवान्—अवधारवमवहारे आलोचंतस्स तं सव्वं॥ (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. ७, पृ. २८)।

अवधारण में जो उस सबको देखता है उसे अव-धारवान् या अवधारणावान् कहते हैं।

अवधिमरण—१. अवधिर्मर्यादायाम्, अवधिनामि यानि द्रव्याणि साम्प्रतं आयुष्कत्वेन गृहीतानि पुनः-रायुष्कत्वेन गृहीत्वा मरिष्यति, इत्यतोऽवधिमरणम्। (उत्तरा. चूर्णि ५, पृ. १२७–२८)। २. यो यादृशं मरणं साम्प्रतमुपैति तादृगेव मरणं यदि भविष्यति तदवधिमरणम्। (भ. आ. विजयो. टी. २५; भा. प्रा. टी. ३२)। ३. अवधिर्मर्यादा, तेन मरणमवधिमरणं, यानि हि नारकादिभवनिबन्धन-तयाऽऽयुःकर्मदलिकान्यनुभूय म्रियते यदि पुनस्ता-न्येवानुभूय मरिष्यति तदा तदवधिमरणमुच्यते। (समवा. अभय. वृ. १७, पृ. ३३)। ४. यादृशेन मरणेन पूर्वं मृतस्तादृशेनैव मरणमवधिमरणम्। (भ. आ. मूला. टी. २५)। ५. एतदुक्तं भवति—देशतः सर्वतो वा सादृश्येनावधीकृतेन विशेषितं मरणमव-धिमरणम्। (भा. प्रा. टी. ३२)।

२ जैसा मरण वर्तमान काल में प्राप्त होता है वैसा ही मरण यदि भविष्य काल में होने वाला है तो उसे अवधिमरण कहते हैं। ३ अवधि का अर्थ मर्यादा है, उस अवधि से होने वाला मरण अवधि-मरण कहलाता है, अर्थात् नारक आदि भव के कारणभूत जिन आयुकर्मप्रदेशों का अनुभव करके मरता है उनका ही अनुभव करके यदि भविष्य में मरेगा तो उसे अवधिमरण कहा जायगा।

अवनमन (ओणद)—ओणदं अवनमनं भूमा-वासनमित्यर्थः। (धव. पु. १३, पृ. ८९)।

भूमि स्थित होना—भूमि का स्पर्श कर अवनति (नमस्कार) करना, यह अवनमन है।

अवबद्ध—अवबद्धः परेभ्यो द्रव्यं गृहीत्वा मास-वर्षादिपर्यन्तं सेवां गतः। (आ. दि. पृ. ७४)।

दूसरों से धन लेकर मास या वर्ष आदि नियत काल तक सेवा के बन्धन में बंध जाने को अवबद्ध कहते हैं। ऐसा व्यक्ति दीक्षा के अयोग्य होता है।

अवमस्तकशायन— [illegible]। (भ. आ. मूला. टी. २२५)।

नीचे मुख करके सोने को अवमस्तकशायन कहते हैं।

अवमान— [illegible]।

[illegible]

वा नालिआए वा अक्खेण वा मुसलेण वा × × × एएणं अवमाणपमाणेणं किं पओअणं एएणं ? अवमाण-पमाणेणं खाय-चिअ-रइअ-करकचिय-कड-पड-भित्ति-परिक्खेवसंसियाणं दव्वाणं अवमाणपमाणणिव्वित्ति-लक्खणं भवइ से तं अवमाणे। (अनुयो. १३२, पृ. १५४)। २. निर्वर्तनादिविभागेन क्षेत्रं येनावगाह्य मीयते तदवमानं दण्डादि। (त. वा. ३, ३८, ३)। ४. अवमीयते तथा अवस्थितमेव परिच्छिद्यतेऽनेनाव-मीयत इति वाऽवमानं। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ७६)। ४. निर्वर्तनादिविभागेन क्षेत्रं येनावगाह्य मीयते तदवमानं दण्डादि। (त. सुखबो. ३-३८)।

१ जिसके द्वारा अवमित किया जाता है—कुएं आदि का प्रमाण जाना जाता है—उसको अथवा जो कुछ (कुवां आदि) जाना जाता है उसको भी अवमान प्रमाण कहा जाता है। इसके द्वारा खात (खाई या कुवां आदि), चित (ईंट आदि), रचित (प्रासाद-पीठ आदि), ककचित (करोत से चीरी गई लकड़ी आदि), चटाई, वस्त्र और भित्ति आदि की परिधि का प्रमाण जाना जाता है।

अवमौदर्य—१. बत्तीसा किर कवला पुरिसस्स दु होदि पयदिआहारो। एगकवलादिहिं तत्तो ऊणिय-गहणं उमोदरियं। (मूला. ५-१५३)। २. संयम-प्रजागर-दोषप्रशम-सन्तोष-स्वाध्यायादिसुखसिद्ध्यर्थ-मवमौदर्यम्। (स. सि. ९-१९; त. वा. ९, १९, ३)। अवममित्यूननाम, अवममुदरमस्य (इति) अवमोदरः, अवमोदरस्य भावः अवमौदर्यम्—न्यूनोद-रता। (त. भा. ९-१९)।

१ पुरुष का जो बत्तीस ग्रास प्रमाण स्वाभाविक आहार है, उसमें क्रमशः एक-दो ग्रासादि कम करके एक ग्रास तक आहार के ग्रहण करने को अवमौदर्य तप कहते हैं।

अवमौदर्यातिचार—मनसा बहुभोजनादरः, परं बहु भोजयामीति चिन्ता, भुङ्क्ष्व यावद् भवतस्तृप्ति-रिति वचनम्, भुक्तं मया बह्वित्युक्ते सम्यक् कृतमिति वा वचनं, कण्ठदेशमुपस्पृश्य हस्तसंज्ञया प्रदर्शनं अवमौदर्यातिचारः। (भ. आ. विजयो. व मूला. टी. ४८७)।

मन से अधिक भोजन में रुचि रखना, दूसरे को अधिक खिलाने की चिन्ता करना, 'जब तक तृप्ति न हो तब तक खाते रहो' इस प्रकार के वचन कहना, 'मैंने बहुत खाया' इस प्रकार कहने पर 'बहुत अच्छा किया' इस प्रकार के अनुमोदनात्मक वचन कहना, गले का स्पर्श करके हाथ के संकेत से यह कहना कि आज तो कण्ठ पर्यन्त भोजन किया है; ये सब अवमौदर्यव्रत के अतिचार हैं—उसे मलिन करने वाले हैं।

अवर्णवाद—१. गुणवत्सु महत्सु असद्भूतदोषोद्-भावनमवर्णवादः। (स. सि. ६-१३)। २. अन्तः-कलुषदोषादसद्भूतमलोद्भावनमवर्णवादः। गुण-वत्सु महत्सु स्वमतिकलुषदोषात् असद्भूतमलोद्-भावनमवर्णवाद इति वर्ण्यते। (त. वा. ६, १३, ७; त. श्लो. ६-१३)। ३. गुणवत्सु महत्सु चान्तः-कालुष्यसद्भावादसद्भूतदोषोद्भावनमवर्णवदनमव-र्णवादः। (त. सुखबो. ६-१३)। ४. गुण-वतां महतां असद्भूतदोषोद्भावनमवर्णवादः। (त. वृत्ति श्रुत. ६-१३)।

१ गुणी महा पुरुषों में जो दोष नहीं हैं, उनको अन्त-रंग की कलुषता से प्रगट करने को अवर्णवाद कहते हैं।

अवलम्बना—अवलम्बते इन्द्रियादीनि स्वोत्पत्तये इत्यवग्रहः अवलम्बना। (धव. पु. १३, पृ. २४२)।

चूंकि अवग्रह मतिज्ञान अपनी उत्पत्ति में इन्द्रियादि का अवलम्बन लेता है, अतः उसका अवलम्बना यह दूसरा सार्थक नाम है।

अवलम्बनाकरण — परभविआउअउवरिमट्ठिदि-दव्वस्स ओक्कड्डणाए हेट्ठा णिवदणमवलंबणाकरणं णाम (धव पु. १०, पृ. ३३०)।

परभविक आयु कर्म की उवरिम स्थिति के द्रव्य का अपकर्षण के वश नीचे गिरने का नाम अवलम्बना-करण है।

अवलम्ब ब्रह्मचारी—१. अवलम्बब्रह्मचारिणः क्षुल्लकरूपेणागममभ्यस्य परिगृहीतगृहावासा भवन्ति। (चा. सा. पृ. २०; सा. ध. स्वो. टी. ७-१९)। २. पूर्वं क्षुल्लकरूपेण समभ्यस्यागमं पुनः। गृहीत-गृहवासास्तेऽवलम्बब्रह्मचारिणः॥ (धर्मसं. श्रा. ९-२१)।

गुरु के समीप क्षुल्लक वेष धारण करके परमागम का अभ्यास कर जो पीछे गृहवास को स्वीकार करते हैं उन्हें अवलम्ब ब्रह्मचारी कहते हैं।

अवलोकन—अवलोकनं हरतां चौराणामपेक्षाबुद्ध्या

दर्शनम् । (प्रश्नव्या. वृ. पृ. १९३; श्राद्धगु. पृ. १०) ।

परधन हरण करने वाले चोरों को अपेक्षाबुद्धि से देखने का नाम अवलोकन है।

अवश्यायचारण—अवश्यायमाश्रित्य तदाश्रयजीवानुपरोधेन यान्तोऽवश्यायचारणाः । (योगशा. स्वो. विव. १–९, पृ. ४१) ।

हिमकणों (ओसबिन्दुओं) का आश्रय लेकर चलते हुए भी तदाश्रित जीवों की विराधना नहीं करने वाले साधुओं को अवश्यायचारण कहते हैं।

अवष्वष्करण—अवष्वष्कणं नाम विवक्षितविध्वंसनादिकालस्य ह्रासकरणम्, अर्वाक्करणमित्यर्थः । (बृहत्क. वृ. १६७५) ।

विवक्षित वस्तु के विध्वंसन आदि कालके ह्रास करने अर्थात् पहले करने या कम करने को अवष्वष्कण कहते हैं।

अवसन्न—१. जिनवचनानभिज्ञो मुक्तचारित्रभारो ज्ञानाचरणभ्रष्टः करणालसोऽवसन्नः । (चा. सा. पृ. ६३) । २. ज्ञान-चारित्रहीनोऽवसन्नः स्यात् करणालसः ।। (आचा. सा. ६–६१) । ३. अवसीदति सामाचार्यामित्यवसन्नः । (आव. ह. वृ. म. हे. टि. पृ. ८१) । ४. सामाचारीविषयेऽवसीदति प्रमाद्यति यः सोऽवसन्नः । (प्रव. सारो. वृ. १०६) । ५. अवसन्न आवश्यकादिष्वनुद्यमः, क्षताचारः । (व्यव. भा. मलय. वृ. ३–१६५, पृ. ३५) ।

१ जिनवचन से अनभिज्ञ होकर जो साधु ज्ञान और आचरण से भ्रष्ट होता हुआ इन्द्रियों के अधीन होता है उसे अवसन्न श्रमण कहा जाता है। ४ सामाचारी के विषय में प्रमादयुक्त साधु अवसन्न कहलाता है।

अवसन्नमरण (ओसण्णमरण)—देखो आसन्नमरण । निर्वाणमार्गप्रस्थितात् संयतसार्थाद्यो हीनः प्रच्युतः सोऽभिधीयत ओसण्ण इति, तस्य मरणं ओसण्णमरणमिति । ओसण्णग्रहणेन पार्श्वस्थाः स्वच्छन्दाः कुशीलाः संसक्ताश्च गृह्यन्ते । तथा चोक्तम्—पासत्थो सच्छंदो कुसीलसंसत्त होंति ओसण्णा । जं सिद्धिपुरिपदादो ओहीणा साधुसत्थादो ॥ (भ. आ. विजयो. २५) ।

मोक्षमार्ग में गमन करते हुए साधुसमूहों से जो हीन है उसे अवसन्न तथा उसके मरण को अवसन्नमरण कहा जाता है।

अवसन्नासन्निका— × × × अणंताणंतपरमाणुसमुदयसमागमेण विणा एक्किस्से ओसण्णासण्णियाए वि संभवाभावा । (धव. पु. ४, पृ. २३) ।

अनन्तानन्त परमाणुओं के समुदाय से जो स्कन्ध निर्मित होता है, उसका नाम अवसन्नासन्निका है। अन्यत्र इसके उवसन्नासन्न और उत्संज्ञासंज्ञ आदि नामान्तर भी पाये जाते हैं।

अवसर्पिणी—१. तैरेव (अनुभवादिभिरेव) अवसर्पणशीला अवसर्पिणी । (स. सि. ३–२७; त. श्लो. ३–२७) । २. अनुभवादिभिरवसर्पणशीला अवसर्पिणी । अनुभवादिभिः पूर्वोक्तैरवसर्पणशीला हानिस्वाभाविका अवसर्पिणी समा । (त. वा. ३, २७,४) । ३. जत्थ [बलाउ-उस्सेहाणं] हाणी होदि सो ओसप्पिणी । (धव. पु. ९, पृ. ११९; जयध. १, पृ. ७४) । ४. अवसर्पति वस्तूनां शक्तिर्यत्र क्रमेण सा । प्रोक्ताऽवसर्पिणी सार्था × × × ।। (ह. पु. ७–५७) । ५. भूयबल-विहवसरीर-सरीरिहिं, धम्मणाणगंभीरिमधीरहिं । ओहट्टंतएहिं अवसप्पिणी (म. पु. पुष्प. २, पृ. २५) । ६. (ओसप्पिणीए) उस्सेधाऽऽउ-बलाणं हाणी-वड्ढी य होंति त्ति । (त्रि. सा. ७७९) । ७. अवसर्पति हीयमानाऽऽरकतया अवसर्पयति वा ऽऽयुष्क-शरीरादिभावान् ह्रापयतीति अवसर्पिणी । (स्थानांग अभय. वृ. १–५०; प्रव. सारो. वृ. १०३३; जम्बूद्वी. वृ. २–१८) । ८. अवसर्पन्ति क्रमेण हानिमुपपद्यन्ते शुभा भावा यस्यामित्यवसर्पिणी । (ज्योतिष्क. मलय. वृ. २–८३) । ९. उपभोगादिभिरवसर्पणशीला अवसर्पिणी । (त. सुखबो. ३–२७) । १०. अवसर्पयति हानिं नयति भोगादीन् इत्येवंशीलाऽवसर्पिणी । (त. वृत्ति श्रुत. ३–२७) । ११. यस्यां सर्वे शुभा भावाः क्षीयन्तेऽनुक्षणं क्रमात् । अशुभाश्च प्रवर्द्धन्ते सा भवत्यवसर्पिणी ।। (लोकप्र. २९–४४) ।

१ जिस काल में जीवों के अनुभव, आयुप्रमाण और शरीरादि क्रम से घटते जाते हैं उसे अवसर्पिणी कहते हैं।

अवसंज्ञासंज्ञा—देखो अवसन्नासन्निका । अनन्तानन्तसंख्यानपरमाणुसमुच्चयः । अवसंज्ञासंज्ञाख्यः स्कन्धजातिस्तु जायते ।। (ह. पु. ७–३७) ।

अनन्तानन्तसंख्या वाले परमाणुओं के समुदाय को

अवसंज्ञासंज्ञा कहते हैं।

अवस्तोभन—अवस्तोभनम् अनिष्टोपशान्तये निष्ठीवनेन थुथुकरणम्। (बृहत्क. वृ. १३०९)।

अनिष्ट की उपशान्ति के लिये थूक करके थू-थू करने को अवस्तोभन कहते हैं।

अवस्थान—पुव्विल्लट्ठिदिसंतसमाणट्ठिदीणं बंधणमवट्ठाणं णाम। (जयध. ४, पृ. १४१)।

पूर्व के स्थितिसत्त्व के समान स्थितियों के बंधने का नाम अवस्थान है।

अवस्थित—१. इतरोऽवधिः सम्यग्दर्शनादिगुणावस्थानाद्यत्परिमाण उत्पन्नस्तत्परिमाण एवाऽवतिष्ठते, न हीयते नापि वर्धते लिङ्गवत् आ भवक्षयादा केवलज्ञानोत्पत्तेर्वा। (स. सि. १–२२; त. वा. १, २२, ४; त. सुखबो. १–२२; त. वृत्ति श्रुत. १–२२)। २. अवस्थितं यावति क्षेत्रे उत्पन्नं भवति ततो न प्रतिपतत्या केवलप्राप्तेः, अवतिष्ठते आ भवक्षयाद्वा जात्यन्तरस्थायि भवति लिङ्गवत्। (त. भा. १-२३)। ३. जं ओहिणाणं उप्पज्जिय वड्ढि-हाणीहि विणा दिणयरमंडलं व अवट्ठिदं होदूण अच्छदि जाव केवलणाणमुप्पण्णं ति तं अवट्ठिदं णाम। (धव. पु. १३, पृ. २९४)। ४. अवस्थितोऽवधिः शुद्धेरवस्थानान्नियम्यते। सर्वोऽङ्गिनां विरोधस्याप्यभावन्नानवस्थितेः॥ (त. श्लो. १, २२, १५)। ५. अवस्थितमिति—अवतिष्ठते स्म अवस्थितम्, यया मात्रया उत्पन्नं तां मात्रां न जहातीति यावत्। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–२३)। ६. अवस्थितं यन्न प्रतिपतति आदित्यमण्डलवत्। (कर्मस्तव गो. वृ. ९–१०)। ७. यद्धानि-वृद्धिभ्यां विना सूर्यमण्डलवदेकप्रकारमेव अवतिष्ठते तदवस्थितम्। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. ३७२)।

१ जो अवधिज्ञान सम्यग्दर्शनादि गुणों के अवस्थान से जिस परिमाण में उत्पन्न हुआ है उससे भव के अन्त तक या केवलज्ञान की प्राप्ति होने तक न घटता है और न बढ़ता है, किन्तु उतने ही प्रमाण रहता है उसे अवस्थित अवधि कहते हैं।

अवस्थित उग्रतप (अवट्ठिदुग्गतव)—१. तत्थ दिक्खट्ठमेगोववासं काऊण पारिय पुणो एक्कहंतरेण गच्छंतस्स किंचिणिमित्तेण छट्ठोववासो जादो, पुणो तेण छट्ठोववासेण विहरंतस्स अट्ठमोववासो जादो। एवं दसम-दुवालसादिक्कमेण हेट्ठा ण पदंतो जाव जीविदंतं जो विहरदि अवट्ठिदुग्गतवो णाम। (धव. पु. ९, पृ. ८९)। २. दीक्षोपवासं कृत्वा पारणानन्तरमेकान्तरेण चरतां केनापि निमित्तेन षष्ठोपवासे जाते तेन विहरतामष्टमोपवासंभवे तेनाचरतामेवं दश-द्वादशादिक्रमेणाधो न निवर्तमानानां यावज्जीवं येषां विहरणं तेऽवस्थितोग्रतपसः। (चा. सा. पृ. ९८)।

१ दीक्षा के लिये एक उपवास करके पश्चात् पारणा करता है, तत्पश्चात् एक दिन के अन्तर से उपवास करता हुआ किसी निमित्त से एक उपवास के स्थान पर षष्ठोपवास (दो उपवास) करने लगता है। फिर दो उपवासों से विहार करता हुआ षष्ठोपवास के स्थान में अष्टमोपवास करने लगता है। इस प्रकार दशम और द्वादशम आदि के क्रम से जो जीवन पर्यन्त इन उपवासों को बढ़ाता ही जाता है, पीछे नहीं हटता है, वह अवस्थित-उग्रतप का धारक होता है।

अवस्थित-उदय—तत्तिये तत्तिये चेव पदेसग्गे उदयमागदे अवट्ठिद-उदओ णाम। (धव. पु. १५, पृ. ३२५)।

अनन्तर अतीत और वर्तमान दोनों ही समयों में यदि उतने ही प्रदेशाग्र का उदय होता है तो वह अवस्थित-उदय कहलाता है।

अवस्थित-उदीरणा—दोसु वि समएसु तत्तिया चेव पयडीओ उदीरेंतस्स अवट्ठिद-उदीरणा। (धव. पु. १५, पृ. ५०)।

अनन्तर अतीत और वर्तमान दोनों ही समयों में यदि उतनी ही प्रकृतियों की उदीरणा की जाती है तो वह अवस्थित-उदीरणा कहलाती है।

अवस्थित गुणकार—× × × जं खेत्तोवमअगणिजीवपमाणं होदि एसो परमोहीए दव्व-खेत्त-काल-भावाणं सलागरासि त्ति पुध ट्ठवेदव्वो। पुणो दो आवलियाए असंखेज्जदिभागा समसंखा, ते वि पुध ट्ठवेदव्वा। तत्थ दाहिणपासट्ठियस्स पडिगुणगारो अवट्ठिद-गुणगारो त्ति दोण्णि णामाणि। (धव. पु. ९, पृ. ४५)।

क्षेत्रोपम अग्नि जीवों के प्रमाण को परमावधि के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शलाका राशि मानकर उसे अलग रखना चाहिये। पश्चात् समान संख्या वाले आवली के दो असंख्यात भागों को भी अलग रखना चाहिये। इनमें दाहिने पार्श्व भाग में स्थित

राशि को अवथित गुणकार या प्रतिगुणकार कहा जाता है।

अवस्थित (ज्योतिष्क)—अवस्थिता इत्यविचारिणोऽवस्थितविमानप्रदेशा अवस्थितलेश्या-प्रकाशा इत्यर्थः। सुखशीतोष्णरश्मयश्चेति। (त. भा. ४, १६)।

अढाई द्वीप के वाहिर स्थित सूर्य-चन्द्रादि ज्योतिषी देव चूंकि संचारसे रहित हैं, अतएव वे अवस्थित कहे जाते हैं। उनके विमानों के प्रदेश, वर्ण और प्रकाश भी स्थिर हैं। उक्त विमान सुखकर शीत व उष्ण किरणों से संयुक्त हैं।

अवस्थित (द्रव्य)—१. इयत्ताव्यभिचारादवस्थितानि। धर्मादीनि षडपि द्रव्याणि कदाचिदपि षडिति इयत्त्वं नातिवर्तन्ते, ततोऽवस्थितानीत्युच्यन्ते। (स. सि. ५-४)। २. इयत्तानतिवृत्तेरवस्थितानि। धर्मादीनि षडपि द्रव्याणि कदाचिदपि षडिति इयत्त्वं नातिवर्तन्ते, ततोऽवस्थितानीत्युच्यन्ते। अथवा, धर्माधर्म-लोकाकाशैकजीवानां तुल्यासंख्येयप्रदेशत्वम्, अलोकाकाशस्य पुद्गलानां चानन्तप्रदेशत्वमित्येतदियत्त्वम्, तस्यानतिवृत्तेः अवस्थितानीति व्यपदिश्यन्ते। (त. वा. ५, ४, ३)। ३. इयत्तां नातिवर्त्तन्ते यतः षडिति जातुचित्। अवस्थितत्वमेतेषां कथयन्ति ततो जिनाः॥ (त. सा. ३-१५)।

२ धर्मादिक छहों द्रव्य चूंकि कभी भी 'छह' इतनी संख्या का अतिक्रमण नहीं करते—सदा छह ही रहते हैं, हीनाधिक नहीं; इसलिये वे अवस्थित कहे जाते हैं। अथवा—धर्म, अधर्म, लोकाकाश और एक जीव; ये समानरूप से असंख्यातप्रदेशी हैं तथा अलोकाकाश और पुद्गल अनन्तप्रदेशी हैं, यह जो उनके प्रदेशों का नियत प्रमाण है उसका चूंकि ये द्रव्य कभी अतिक्रमण नहीं करते हैं; इसलिये वे अवस्थित कहे जाते हैं।

अवस्थितबन्ध—यत्र तु प्रथमसमये एकविधादिबन्धको भूत्वा द्वितीयसमयादिष्वपि तावन्मात्रमेव बध्नाति सोऽवस्थितबन्धः। (शतक. दे. स्वो. वृ. २२)।

प्रथम समय में एकविध आदि जैसा बन्ध हो रहा था, द्वितीयादि समयों में भी यदि उतना ही बन्ध होता है तो वह अवस्थित-बन्ध कहलाता है।

अवस्थितविभक्तिक—१. ओसक्काविदे [उस्सक्काविदे वा] तत्तियाओ चेव विहत्तीओ एसो अवट्ठिदविहत्तिओ। (कसायपा. चू. २३४, पृ. १२३; जयध. पु. ४, पृ. २)। २. ओसक्काविदे उस्सक्काविदे वा जदि तत्तियाओ तत्तियाओ चेव ट्ठिदिववसेण ट्ठिदिविहत्तीओ होंति तो एसो अवट्ठिदविहत्तिओ णाम। (जयध. ४, पृ. २-३)।

अपकर्षण करने पर यदि उतनी ही स्थितिविभक्तियां रहती हैं तो यह जीव अवस्थितविभक्तिक कहलाता है।

अवस्थित संक्रम—जदि तत्तियो तत्तियो चेव दोसु वि समएसु फद्दयाणं संकमो होदि तो एसो अवट्ठिदसंकमो। (धव. पु. १६, पृ. ३९८)।

यदि अनन्तर अतीत और वर्तमान दोनों ही समयों में उतना-उतना मात्र ही स्पर्धकों का संक्रमण होता है तो इसे अवस्थित संक्रम जानना चाहिये।

अवात्सल्य—साधर्मिकस्य संघस्य पीडितस्य कुतश्चन। न कुर्याद् यत्समाधानं तदवात्सल्यमीरितम्। धर्मसं. श्रा. ४-५१)।

किसी भी कारण से पीड़ित साधर्मी जनके संघ का समाधान नहीं करना, इसे अवात्सल्य कहते हैं।

अवान्तरसत्ता—१. अन्या तु प्रतिनियतवस्तुवर्तिनी स्वरूपास्तित्वसूचिकाऽवान्तरसत्ता। (पञ्चा. का. अमृत. वृ. ८)। २. प्रतिनियतवस्तुव्यापिनी ह्यवान्तरसत्ता, प्रतिनियतैकपर्यायव्यापिनी ह्यवान्तरसत्ता। (नि. सा. वृ. ३४)। ३. अपि चावान्तरसत्ता सद्द्रव्यं सन् गुणश्च पर्यायः। सच्चोत्पादध्वंसौ सदिति ध्रौव्यं किलेति विस्तारः॥ (पञ्चाध्यायी १-२६६)।

१. जो प्रतिनियत वस्तु में व्याप्त रहकर अपने स्वरूप के अस्तित्व की सूचना देती है उसे अवान्तरसत्ता कहते हैं।

अवाय, अपाय—१. अवाओ, ववसाओ, बुद्धी, विण्णाणी [विण्णत्ती], आउंडी, पच्चाउंडी। (षट्खं. ५, ५, ३९—पु. १३, पृ. २४२)। २. विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः। (स. सि. १, १५)। ३. ववसायं च अवायं × × ×॥ (आव. नि. ३; विशेषा. १७८)। ४. तस्सावगमोऽवाओ। (विशेषा. १७९)। ५. अवगमनमवाओ त्ति य अत्थावगमो तयं इवइ सव्वं। (विशेषा. गा. ४०१)। ६. अवायो निश्चयः॥ (लघीय. १-५); ईहितविशेषनिर्णयोऽवायः। (लघीय. स्वो. वृ.

१–५; प्र. न. त. २–९; प्र. मी. १, १, २८)। ७. विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः। भाषादिविशेषनिर्ज्ञानात्तस्य याथात्म्येनावगमनमवायः दाक्षिणात्योऽयम्, युवा, गौर इति वा। (त. वा. १, १५, ३); ८. प्रक्रान्तार्थविशेषनिश्चयोऽवायः। (श्राव. हरि. वृ. २, पृ. ९)। ९. ईहितस्यार्थस्य निश्चयोऽवायः। (धव. पु. १, पृ. ३५४); ईहितस्यार्थस्य सन्देहापोहनमवायः। (धव. पु. ६, पृ. १७); ईहाणंतरकालभावी उप्पण्णसंदेहाभावरूवो अवाओ। (धव. पु. ६, पृ. १८); ईहितस्यार्थस्य विशेषनिर्ज्ञानाद् याथात्म्यावगमनमवायः। (धव. पु. ९, पृ. १४४); स्वगतलिङ्गविज्ञानात् संशयनिराकरणद्वारेणोत्पन्ननिर्णयोऽवायः। यथा उत्पतन-पक्षविक्षेपादिभिर्बलाकापंक्तिरेवेयं न पताकेति, वचनश्रवणतो दाक्षिणात्य एवायं नोदीच्य इति वा। (धव. पु. १३, पृ. २१८); अवेयते निश्चीयते मीमांस्यतेऽर्थोऽनेनेत्यवायः। (धव. पु. १३, पृ. २४३)। १०. ईहादो उवरिमं णाणं विचारफलप्पयं अवाओ। (जयध. पु. १, पृ. ३३६)। ११. तस्यैव (ईहागृहीतार्थस्यैव) निर्णयोऽवायः। (त. श्लो. १, १५, ४)। १२. भवितव्यताप्रत्ययरूपात् तदीहितविशेषनिश्चयोऽवायः। (प्रमाणप. पृ. ६८)। १३. ईहणकरणेण जदा सुणिण्णओ होदि सो अवाओ दु। (गो. जी. गा. ३०८)। १४. तत्त्वप्रतिपत्तिरवायः। (सिद्धिवि. वृ. २–९)। १५. तद्विषयस्य (ईहाविषयस्य) देवदत्त एवायमित्यवधारणावानध्यवसायोऽवायः। (प्रमाणनि. पृ. २८)। १६. सापि (ईहापि) अवायो भवति—आकांक्षितविशेषनिश्चयो भवति। (न्यायकु. १–५, पृ. ११६)। १७. प्रक्रान्तार्थविशेषनिश्चयोऽवायः। (स्थानांग अभय. वृ. ३६४, पृ. २६९)। १८. पुरुष एवायमिति वस्त्वध्यवसायात्मको निश्चयोऽपायः। (कर्मस्तव गो. वृ. ९–१०, पृ. ८१)। १९. ईहितस्यार्थस्य भवितव्यतारूपस्य सन्देहापोहनमवायः भव्य एवायं नाभव्यः, भव्यत्वाविनाभाविसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरणानामुपलम्भात्। (मूला. वृ १२–१८७)। २०. ईहितार्थस्य लिङ्गैः यस्तद्विशेषविनिश्चयः। अवायो लाट एवायमिति भाषादिभिर्यथा॥ (आचा. सा. ४–१४)। २१. ईहाक्रोडीकृते वस्तुनि विशेषस्य 'शाङ्ख एवायं शब्दो न शार्ङ्गः' इत्येवंरूपस्यावधारणम् अवायः। (प्रमाणमी. स्वो. वृ. १, १, २८)। २२. ईहियअत्थस्स पुणो थाणू पुरिसो त्ति बहुवियप्पस्स। जो णिच्छयाववोधो सो हु अवाओ वियाणाहि। (जं. दी. प. १३–५९)। २३. तदनन्तर-(ईहानन्तर-) मपायो निश्चयः। (कर्मवि. पू. व्या. १३, पृ. ८; व्यव. भा. वृ. १०, २७६; गु. गु. ष. स्वो. वृ. ३७, पृ. ८६)। २४. पुरुष एवायमिति वस्त्वध्यवसायात्मको निश्चयोऽपायः। (कर्मस्तव गो. वृ. गा. ९–१०, पृ. ८१)। २५. सद्भूतविशेषानुयायिलिङ्गदर्शनादसद्भूतविशेषप्रतिक्षेपेण सद्भूतविशेषावधारणमवायज्ञानम्। (धर्मसं. मलय. वृ. ४४); अवग्रहानन्तरमीहितस्यार्थस्यावगमो निश्चयो यथा शाङ्ख एवायं शब्दो न शार्ङ्ग इति अवायः। (धर्मसं. मलय. वृ. ८२३)। २६. ईहितस्यार्थस्य निर्णयरूपो योऽध्यवसायः सोऽपायः शाङ्ख एवायं शार्ङ्ग एवायमित्यादिरूपो अवधारणात्मको निर्णयोऽवायः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १५, २, २००)। २७. तस्यैव अवगृहीतस्य ईहितस्यार्थस्य निर्णयरूपोऽध्यवसायोऽवायः शाङ्ख एवायं शार्ङ्ग एवायमित्यादिरूपोऽवधारणात्मकः प्रत्ययोऽवाय इत्यर्थः। (नन्दी. मलय. वृ. २६, पृ. १६८; आव. नि. मलय. वृ. २, पृ. २३)। २८. ईहितस्यैव वस्तुनः स्थाणुरेवायं न पुरुष इति निश्चयात्मको बोधोऽपायः। (कर्मवि. परमा. व्या. १३, पृ. ९)। २९. कुतश्चित्तद्गतोत्पतन-पक्षविक्षेपादिविशेषविज्ञानाद् बलाकैवेयं न पताकेत्यवधारणं निश्चयोऽवायः। (त. सुखबो. १–१५)। ३०. ईहितस्यैव वस्तुनः स्थाणुरेवायमित्यादिनिश्चयात्मको बोधविशेषोऽवायः। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. गा. १३)। ३१. याथात्म्यावगमनं वस्तुस्वरूपनिर्धारणम् अवायः। (त. वृत्ति श्रुत. १–१५)। ३२. अथेहितस्य तस्येदमिदमेवेति निश्चयः। अवायो × × ×॥ (लोकप्र. ३, ७१२)। ३३. तत्तो सुणिण्णओ खलु होदि अवाओ दु वत्थुजादाणं। (अंगप. २–६२)।

७ भाषादिविशेष के ज्ञान से यथार्थरूप में जानना इसका नाम अवाय है। जैसे—यह दक्षिणी ही है, युवक है, अथवा गौर है इत्यादि। कहीं-कहीं इसका उल्लेख अपाय शब्द से भी हुआ है। (देखो नं. २६ आदि)।

अविग्रहगति—विग्रहो व्याघातः कौटिल्यमित्यर्थः। स यस्यां न विद्यतेऽसावविग्रहा गतिः। (स. सि.

२–२७; त. वा. २–२७; त. श्लो. २–२७; त. सुखबो. २–२७; त. वृत्ति श्रुत. २–२७)।
विग्रह का अर्थ रुकावट या कुटिलता होता है, तदनुसार जीव की जो गति वक्रता, कुटिलता या मोड़ से रहित होती है उसे अविग्रहगति कहते हैं। अर्थात् एक समय वाली ऋजुगति या इषुगति का नाम अविग्रहगति है।

अविघुष्ट—विक्रोशनमिव यद्विस्वरं न भवति तदविघुष्टम्। (जम्बूद्वी. वृ. १–६)।
जो स्वर विक्रोश (चिल्लाहट) के समान विस्वर (श्रवणकटु) न हो उसे अवघुष्ट कहते हैं।

अविचार—(देखो अवीचार) यद् व्यञ्जनार्थ-योगेषु परावर्तविवर्जितम्। चिन्तनं तदवीचारं स्मृतं सद्ध्यानकोविदैः॥ (गुण. क्रमा. ७६, पृ. ४७; भावसं. वाम. ७१८)।
जो ध्यान व्यञ्जन, अर्थ और योग के परिवर्तन से रहित होता है उसे अविचार या अवीचार कहते हैं।

अविचारभक्तप्रत्याख्यान—१. अविचारं वक्ष्यमाणार्हादिनानाप्रकाररहितम्॥ (भ. आ. विजयो. टी. ६५)। २. अविचारं परगणसंक्रमणलक्षणविचाररहितम्॥ (भ. आ. मूला. टी. ६५)।
पर गण या अन्य संघ में गमन का परित्याग कर आहार-पान के क्रमशः त्याग करने को अविचारभक्तप्रत्याख्यान कहते हैं।

अविच्युति (अवायज्ञानभेद)—१. अवायज्ञानानन्तरमन्तर्मुहुर्तं यावत्तदुपयोगादविच्यवनमविच्युतिः। ××× अविच्युति-वासना-स्मृतयश्च धरणलक्षणसामान्यान्वर्थयोगाद्धारणेति व्यपदिश्यते। (धर्मसं. मलय. वृ. ४४); अवग्रहादिक्रमेण निश्चितार्थविषये तदुपयोगादभ्रंशोऽविच्युतिः। (धर्मसं. मलय. वृ. ८२३)। २. तदैकार्थोपयोगसातत्यानिवृत्तिरविच्युतिः। (जैनतर्क. पृ. ११६)।
अवायज्ञान के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त तक निश्चय किये गये पदार्थ के उपयोग से च्युत नहीं होने को अर्थात् उसकी धारणा बनी रहने को अविच्युति कहते हैं। अविच्युति, वासना और स्मृति ये तीन धरण सामान्य स्वरूप अन्वर्थक सम्बन्ध से धारणा कहे जाते हैं।

अवितथ श्रुत—वितथमसत्यम्, न विद्यते वितथं यस्मिन् श्रुतज्ञाने तदवितथम्, तथ्यमित्यर्थः। (धव. पु. १३, पृ. २८६)।
जिस वचन में वितथ—असत्यता—नहीं होती, उसे अवितथ श्रुत कहते हैं।

अविद्या—१. अविद्या विपर्ययात्मिका सर्वभावेष्वनित्यानात्माशुचि-दुःखेषु नित्य-सात्मक-शुचि-सुखाभिमानरूपा। (त. वा. १, १, ४६)। २. नित्यशुच्यात्मताख्यातिरनित्याशुच्यनात्मसु। अविद्या-तत्त्वधीर्विद्या योगाचार्यैः प्रकीर्तिता॥ (ज्ञानसार १४–१)। ३. अविद्या विप्लवज्ञानम्। (सिद्धिवि. टी. पृ. ७४७)। ४. अविद्या कर्मकृतो बुद्धिविपर्यासः। (आव. हृ. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ५६)। ५. अनित्ये चेतनात् जातिभिन्नमूर्तपुद्गलग्रहणोत्पन्ने परसंयोगे या नित्यताख्यातिः सा अविद्या, अशुचिषु शरीरादिषु श्रवन्नवद्वाररन्ध्रेषु क्रुव्यस्वरूपावतरणनिमित्तेषु शुचिख्यातिः अनात्मसु पुद्गलादिषु आत्मताख्यातिः 'अहं मन्ये' इति बुद्धिः इदं शरीरं मम अहमेवैतत् तस्य पुष्टौ पुष्टः इति ख्यातिः कथनं ज्ञानं तत्र रमणम्, इयमविद्या। (ज्ञानसार वृ. १४–१)।
अनित्य, अनात्म, अशुचि और दुःख रूप सब पदार्थों में नित्य, सात्म, शुचि और सुख रूप जो अभिमान होता है; इस प्रकार की विपरीत बुद्धि को बौद्धमतानुसार अविद्या माना गया है।

अविनेय—१. तत्त्वार्थश्रवण-ग्रहणाभ्यामसम्पादितगुणा अविनेयाः। (स. सि. ७–११)। २. तत्त्वार्थश्रवणग्रहणाभ्यामसम्पादितगुणा अविनेयाः। तत्त्वार्थोपदेश-श्रवण-ग्रहणाभ्यां विनीयन्ते पात्रीक्रियन्ते इति विनेयाः, न विनेयाः अविनेयाः (त. वा. ७, ११, ८; त. श्लो. ७–११)। ३. अविनेया नाम मृत्पिण्ड-काष्ठ-कुड्यभूता ग्रहण-धारण-विज्ञानोहापोहविप्रमुक्ता महामोहाभिभूता दुष्टावग्राहिताश्च। (त. भा. ७-६)। ४. तत्त्वार्थोपदेश श्रवण-ग्रहणाभ्यां विनीयन्ते पात्रीक्रियन्ते इति विनेयाः, न विनेया अविनेयाः। (त. सुखबो. वृ. ७–११)। ५. तत्त्वार्थाकर्णन-स्वीकरणाभ्यामुत्पन्नसम्यक्त्वादिगुणा न विनेतुं शिक्षयितुं शक्यन्ते ये ते अविनेयाः। (त. वृत्ति श्रुत. ७–११)।
१ तत्त्वार्थ के श्रवण और ग्रहण के द्वारा विनीतता आदि सद्गुणों को न प्राप्त करने वाले अविनेय कहे जाते हैं।

अविपाकनिर्जरा—१. यत्कर्म अप्राप्तविपाककालं

औपक्रमिकक्रियाविशेषसामर्थ्यात् अनुदीर्ण बलादुदीर्य उदयावलिं प्रवेश्य वेद्यते आम्र-पनसादिपाकवत् सा अविपाकजा निर्जरा। (स. सि. ८–२३; त. भा. हरि. वृ. ८–२४; त. वा. ८, २३, २; त. भा. सिद्ध. वृ. ८–२४; त. सुखबो. वृ. ८–२३)। २. यत्तूपायविपाच्यं तदाऽऽम्रादिफलपाकवत्। अनुदीर्णमुदीर्याऽऽशुनिर्जरा त्वविपाकजा ॥ (ह. पु. ५८, २९५)। ३. अनुदीर्णं तपःशक्त्या यत्रोदीर्योदयावलीम्। प्रवेश्य वेद्यते कर्म सा भवत्यविपाकजा ॥ (त. सा. ७–४)। ४. ××× अविपक्क उवायखवणयादो ॥ (वृ. न. च. १५८)। ५. तपसा निर्जरा या तु सा चोपक्रमनिर्जरा। (चन्द्र. च. १८, ११०)। ६. विधीयते या (निर्जरा) तपसा महीयसा विशेषणी सा परकर्मचारिणी ॥ (अमित. श्रा. ३–६५)। ७. द्वितीया निर्जरा भवेत् अविपाकजाता ऽनुभवमन्तरेणैकहेलया कारणवशात् कर्मविनाशः। (मूला. वृ. ५–४८)। ८. परिणामविशेषोत्थाऽप्राप्तकालाऽविपाकजा। (आचा. सा. ३–३४)। ९. यत्कर्म बलादुदयावलीं प्रवेश्यानुभूयते आम्रादिवत् सेतरा। (अन. ध. स्वो. टी. २–४३)। १०. उपक्रमेण दत्तफलानां कर्मणां गलनमविपाकजा। (भ. आ. मूला. टी. १८४७)। ११. यच्च कर्म विपाककालमप्राप्तमनुदीर्णमुदयमनागतम् उपक्रमक्रियाविशेषबलादुदीर्य उदयमानीय आस्वाद्यते सहकारफल-कदलीफल-कण्टकिफलादिपाकवत् बलाद् विपाच्य भुज्यते सा अविपाकनिर्जरा कथ्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ८–२३)। १२. अविपाकनिर्जरा तपसा क्रियमाणाऽनशनादि-द्वादशप्रकारेण विधीयमाना। यथा अपक्वानां कदलीफलानां हठात् पाचनं विधीयते तथा अनुदयप्राप्तानां कर्मणां तपश्चरणादिना त्रिद्रव्यनिक्षेपेण कर्मनिषेकाणां गालनम्। (कार्तिके. टी. १०४)।

१ जिस कर्मका उदयकाल अभी प्राप्त नहीं हुआ है, उसे तपश्चरणादिरूप औपक्रमिक क्रियाविशेष के सामर्थ्य से बलपूर्वक उदयावली में प्रवेश कराके आम्रादि फलों के पाक के समान वेदन करने को अविपाकनिर्जरा कहते हैं।

अविभागप्रतिच्छेद—१. अविभागपलिच्छेदो णाम णत्थि विभागो जस्स सो अविभागपलिच्छेदो, सजोगिस्स करणवीरियं बुद्धीए छिज्जमाणं २ जाहे विभागं णो हव्वमागच्छति ताहे अविभागपलिच्छेदोत्ति वा वीरियपरमाणु त्ति वा भावपरमाणु त्ति वा एगट्ठा। (कर्मप्र. चू. १–५, पृ. २३); अविभागपलिच्छेदपरूवणा णाम सरीरपदेसाण गुणिग्गं चुण्णितं चुण्णितं विभज्जंतं जं विभागं ण देति सो अविभागपलिच्छेदो वुच्चति। कर्मप्र. चू. बं. क. गा. ५, पृ. २४)। २. एक्कम्हि परमाणुम्मि जो जहण्णेणऽवट्ठिदो अणुभागो तस्स अविभागपडिच्छेदो त्ति सण्णा। (धव. पु. १२, पृ. ९२); एगपरमाणुम्मि जा जहण्णिया वड्ढी सो अविभागपडिच्छेदो णाम। तेण पमाणेण परमाणूणं जहण्णगुणे उक्कस्सगुणे वा छिज्जमाणे अणंताविभागपलिच्छेदा सव्वजीवेहि अणंतगुणमेत्ता होंति। (धव. पु. १४, पृ. ४३१)। ३. यस्यांशस्य प्रज्ञाच्छेदनकेन विभागः कर्तुं न शक्यते सोंऽशोऽविभाग उच्यते। किमुक्तं भवति ? इह जीवस्य वीर्यं केवलिप्रज्ञाच्छेदनकेन छिद्यमानं छिद्यमानं यदा विभागं न प्रयच्छति तदा सोऽन्तिमोंऽशोऽविभाग इति। (कर्मप्र. मलय. वृ. १–५, पृ. २४)।

१ सयोगी जीव के वीर्यगुण के बुद्धि से तब तक छेद किये जावें, जब तक कि उससे आगे और कोई विभाग उत्पन्न न हो सके। ऐसे अन्तिम अविभागी अंश को अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं। इसी को वीर्यपरमाणु अथवा भावपरमाणु भी कहा जाता है। २ एक परमाणु में जो जघन्य अनुभाग की वृद्धि होती है उसका नाम अविभागप्रतिच्छेद है।

अविरतसम्यग्दृष्टि—१. णो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे चावि। जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥ (प्रा. पंचसं. १–११; धव. पु. १, पृ. १७३ उ; गो. जी. २९; भावसं. दे. २६१)। २. स्वाभाविकानन्तज्ञानाद्यनन्तगुणाधारभूतं निजपरमात्मद्रव्यमुपादेयम्। इन्द्रियसुखादिपरद्रव्यं हि हेयमित्यर्हत्सर्वज्ञप्रणीत-निश्चय-व्यवहारनयसाध्यसाधकभावेन मन्यते, परं किन्तु भूमिरेखादिसदृशक्रोधादिद्वितीयकषायोदयेन मारणनिमित्तं तलवरगृहीततस्करवदात्मनिन्दादिसहितः सन्निन्द्रियसुखमनुभवतीत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्लक्षणम्। (बृ. द्रव्यसं. १३, पृ. २८)। ३. विरमति स्म सावद्ययोगेभ्यो निवर्तते स्मेति विरतः, ××× न विरतोऽविरतः, यद्वा क्लीबभावे क्त-प्रत्यये विरमणं विरतम्, सावद्ययोगप्रत्याख्यानम्, नास्य विरतमस्तीत्यविरतः, स चासौ

सम्यग्दृष्टिश्चेति अविरतसम्यग्दृष्टिः । (पंचसं. मलय. वृ. १–१५, पृ. २०) । ४. तिविहे वि हु सम्मत्ते थेवा वि न जस्स विरइ कम्म-वसा । सो अविरओ त्ति भन्नइ ××× ॥ (शतक. भा ८६, पृ. २१; गु. गु. षट्. स्वो. वृ. १८) । ६. अविरतसम्यग्दृष्टिरप्रत्याख्यानकोदये । (योगशा. स्वो. विव. १–१६) । ७. सम्यक्त्वे सति विरतिर्यत्र स्तोकाऽपि नो भवेत् । सोऽत्राविरतिसम्य-क्त्वगुणस्तुर्यो निगद्यते । (सं. कर्मप्रकृतिवि. ६) । ८. द्वितीयानां कषायाणामुदयाद् व्रतवर्जितम् । सम्य-क्त्वं केवलं यत्र तच्चतुर्थं गुणास्पदम् ॥ (गुण. क्रमा. १६, पृ. १२) । ८. सावद्ययोगविरतो यः स्यात् सम्यक्त्ववानपि । गुणस्थानमविरतसम्यग्दृष्ट्याख्य-मस्य तत् ॥ (लोकप्र. ३–११५७) ।

१ जो इन्द्रियविषयों से विरत नहीं है, त्रस व स्था-वर जीवों का रक्षण भी नहीं करता है, किन्तु जिणवाणी पर श्रद्धा रखता है वह अविरतसम्यग्-दृष्टि—चतुर्थ गुणस्थानवर्ती—कहा जाता है।

अविरति—१. विरमणं विरतिः, न विद्यते विरति-रस्येत्यविरतिः, अथवा अविरमणमविरतिरसंयम इत्य-नर्थभेदः, तद्धेतुत्वादविरतिरस्येत्यविरतिर्लोभपरिणा-मः सर्वेषामेव हिंसानामविरमणभेदानां लोभः । (जयध. प. ७७७) । २. अविरतिस्तु सावद्ययोगा-निवृत्तिः । (आव. नि. हरि. वृ. ७४०, पृ. २७६; विशेषा. भा. वृ. गा. ७४०. पृ. ६३४; आव. मलय. वृ. ७४०, पृ. ३६५) । ३. अविरतिः सावद्य-योगेभ्यो निवृत्त्यभावः । (षडशीति मलय. वृ. ७४) । ४. अभ्यन्तरे निजपरमात्मस्वरूपभावनोत्पन्न-परमसुखामृतरतिविलक्षणा, बहिर्विषये पुनरव्रतरूपा चेत्यविरतिः । (बृ. द्रव्यसं. टी. ३०, पृ. ७६) । ५. निर्विकारस्वसंवित्तिविपरीतव्रतपरिणामविकारो-ऽविरतिः । (समयप्रा. जय. वृ. ६५) ।

१ हिंसादि पापों से विरत होने का नाम विरति है। ऐसी विरति के अभाव को अविरति कहते हैं। अविरति और असंयम ये समानार्थक शब्द हैं। इस अविरति का प्रमुख कारण लोभ है, अत. उस लोभ परिणाम को भी अविरति कहा जाता है।

अविराधना—विराधना अपराधासेवनम्, तन्नि-षेधादविराधना । (षोडशक वृ. १३–१४) ।

अपराध के सेवन का नाम विराधना है, उससे विप-रीत अविराधना जानना चाहिये। तात्पर्य यह कि धारण किये हुए सम्यक्त्व, व्रत या चारित्र की विराधना या आसादना नहीं करने को अविराधना कहते हैं।

अविरुद्धानुपलब्धि—१. अविरुद्धानुपलब्धिः प्रति-षेधे सप्तधा—स्वभाव-व्यापक-कार्य-कारण-पूर्वोत्तर-सहचरानुपलम्भभेदात् । (परीक्षा. ३–७८) । २. अविरुद्धस्य प्रतिषेध्येनार्थेन सह विरोधमप्राप्तस्य वस्तुनोऽनुपलब्धिरविरुद्धानुपलब्धिः । (स्याद्वा. र. २–८६) ।

२ प्रतिषेध्य पदार्थ के साथ विरोध को नहीं प्राप्त होने वाली वस्तु की अनुपलब्धि को अविरुद्धानुप-लब्धि कहते हैं।

अविसंवाद—१. श्रुतेः प्रमाणान्तराबाधनं पूर्वापरा-विरोधश्च अविसंवादः । (लघीय. स्वो. वृ. ५-४२) । २. अविसंवादो हि गृहीतेऽर्थे प्राप्तिः प्रमाणान्तर-वृत्तिर्वा स्यात् । (न्यायकु. ३–१०, पृ. ४१०) ।

किसी दूसरे प्रमाण से बाधा न पहुंचना और पूर्वापर विरोध की सम्भावना न रहना, यह आगमविषयक अविसंवाद है।

अवेक्षा—अवेक्षा जन्तवः सन्ति न सन्तीति वा चक्षुषा अवलोकनम् । (सा. ध. स्वो. टी. ५–४०) ।

यहां पर जीव हैं या नहीं हैं, इस प्रकार आंख से देखने को अवेक्षा या अवेक्षण कहते हैं।

अवैशद्य—१. अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभा-सनम् । तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमतः परम् ॥ (लघी-य. ४) । २. अस्मात् (वैशद्यात्) परम् अन्यथाभूतं यद् विशेषाऽप्रतिभासनं तद् बुद्धेः अवैशद्यम् ॥ (न्यायकु. १–४, पृ. ७४) ।

१. अनुमान आदि की अपेक्षा अधिक अर्थात् वर्ण व आकार आदि की विशेषता के साथ जो पदार्थ का ग्रहण होता है, यह वैशद्य का स्वरूप है। इससे विप-रीत का नाम अवैशद्य है।

***अव्यक्त दोष**—१. आलोचिदं असेसं सव्वं एदं मए त्ति जाणादि । बालस्सालोचेंतो णवमो आलो-चणादोसो ॥ (भ. आ. ५९९) । २. अस्यापराधेन ममातिचारः समानस्तमयमेव वेत्ति । अस्मै यद्दत्तं तदेव मे युक्तं लघूकर्तव्यमिति स्वदुश्चरितसंवरणं*

दशमो दोषः (त. वा. ९, २२, २)। ३. परगृहीतस्यैव प्रायश्चित्तस्याऽनुमतेन स्वदुश्चरितसंवरणं (दशमो दोषः)। (त. श्लो. ९–२२)। ४. यत्किंचित्प्रयोजनमुद्दिश्यात्मना समानायैव प्रमादाचरितमावेद्य महदपि गृहीतं प्रायश्चित्तं न फलकरमिति नवमोऽव्यक्तदोषः। (चा. सा. पृ. ६१-६२)। ५. स्वसमानज्ञान-तपोबालस्यालोचनं भवेत्। अव्यक्तं ह्री-भयप्रायश्चित्तभीत्यादिहेतुतः। (आचा. सा. ६–३६)। ६. अव्यक्तः प्रायश्चित्ताद्यकुशलो यस्तस्यात्मीयं दोषं कथयति यो लघुप्रायश्चित्तनिमित्तं तस्याव्यक्तनाम नवमम्। (मूला. वृ. ११–१५)। ७. अव्यक्तोऽगीतार्थः तस्याव्यक्तस्य गुरोः पुरतो यदपराधालोचनं तदव्यक्तमेव नवमः (अव्यक्तः) आलोचनादोषः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १–३४२, पृ. १६)। ८. अव्यक्तं प्रकाशयति दोषम्, स्फुटं न कथयतीत्यव्यक्तदोषः। (भावप्रा. टी. ११८)।

१ मैंने मन, वचन और काय से स्वयं किये गये, कराये गये व अनुमत इस सब दोष की आलोचना कर ली है; सो यह जानता है। इस प्रकार ज्ञानबाल या चारित्रबाल के पास आलोचना करना, यह आलोचना का अव्यक्त नामका दोष है। २ मेरा अपराध इसके अपराधके समान है, उसे यही जानता है। इसे जो प्रायश्चित्त दिया गया है वही मेरे लिये योग्य है, इस प्रकार अपने अपराध को प्रगट न करना, इसे आलोचना का अव्यक्त नामक दोष कहा जाता है। आलोचना के दस दोषों में इसका कहीं नौवें और कहीं दसवें भेद रूप में उल्लेख हुआ है।

अव्यक्तबालमरण—१. अव्यक्तः शिशुर्धर्मार्थकामकार्याणि यो न वेत्ति, न च तदाचरणसमर्थशरीरः सोऽव्यक्तबालः, तस्य मरणमव्यक्तबालमरणम्। (भ. आ. टी. २५)। २. धर्मार्थ-कामकार्याणि न वेत्ति न तदाचरणसमर्थशरीरोऽव्यक्तबालः। [तस्य मरणमव्यक्तबालमरणम्।] (भावप्रा. श्रुत. टी. ३२)।

जो धर्म, अर्थ और कामरूप कार्यों को न जानता है और न जिसका शरीर उसके आचरण करने में समर्थ है; उसे अव्यक्त बाल कहते हैं। ऐसे व्यक्ति के मरण को अव्यक्तबालमरण कहते हैं।

अव्यक्तमन—कार्ये कारणोपचाराच्चिन्ता मनः, व्यक्तं निष्पन्नं संशय-विपर्ययानध्यवसायविरहितं मनः येषां ते व्यक्तमनसः। [न व्यक्तमनसः अव्यक्तमनसः।] (धव. पु. १३, पृ. ३३७)।

कार्य में कारण का उपचार करके यहां मन शब्द से चिन्ता का अभिप्राय लिया गया है। जिनका मन व्यक्त नहीं है, अर्थात् संशय, विपर्यय व अनध्यवसाय से रहित नहीं है उन्हें अव्यक्तमन कहा जाता है। ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञान ऐसे अव्यक्तमन जीवों की संज्ञा आदि को नहीं जानता है।

अव्यक्तमिथ्यात्व—अव्यक्तं मोहलक्षणम्। (गुण. क्रमा. ६, पृ. ३)।

मोहस्वरूप मिथ्यात्व को अव्यक्तमिथ्यात्व कहते हैं।

अव्यक्तेश्वर दोष — यदाऽव्यक्तेश्वरेण वारितं गृह्णाति तदाऽव्यक्तेश्वरो नाम। (अन. ध. स्वो. टी. ५–१५)।

जिस दान का स्वामी कोई अव्यक्त—अप्रेक्षापूर्वकारी या बालक—हो, उसके द्वारा वर्जित आहारादि के ग्रहण करने पर अव्यक्तेश्वर नाम का निषिद्ध उद्गम दोष होता है।

अव्यय—अव्ययो लब्धानन्तचतुष्टयस्वरूपादप्रच्युतः। (समाधिशतक ६)।

अनन्तचतुष्टयरूप स्वरूप के प्राप्त करने पर जो फिर उससे च्युत नहीं होता है उसे अव्यय कहते हैं।

अव्याकृता (भाषा)—१. अव्याकृता चैव अस्पष्टाऽप्रकटार्था। (दशवै. हरि. वृ. नि. ७–२७७; श्राव. ह. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ८०)। २. अव्याकृता अतिगम्भीरशब्दार्था अव्यक्ताक्षरप्रयुक्ता वा। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ११–१६६)। ३. अइगंभीरमहत्था अवोअडा अहव अव्वत्ता। (भाषार. ७६); अतिगम्भीरो दुर्ज्ञान[त]तात्पर्यो महान् अर्थो यस्याः साऽव्याकृता भवति। अथवा बालादीनामव्यक्ता भाषाऽव्याकृता भवति। (भाषार. टी. ७६)।

३ जिसका अर्थ कठिनता से जाना जाता है ऐसी भाषा को अव्याकृता कहते हैं। अथवा बालक आदि की अव्यक्त भाषा को अव्याकृता जानना चाहिये।

अव्याघात—१. न विद्यते प्रत्ययान्तरेण व्याघातो बाधास्येत्यव्याघातम्। (भ. आ. विजयो. टी. २१०४)। २. नास्ति प्रत्ययान्तरेण व्याघातो निखिलद्रव्य पर्यायसाक्षात्कारप्रतिबन्धो यस्य तदव्याघातम्। (भ. आ. मूला. टी. २१०४)।

अन्य किसी भी कारण के द्वारा बाधा जिसके सम्भव नहीं है उसे अव्याघात कहते हैं।

अव्याप्त, अव्याप्ति—१. लक्ष्यैकदेशवर्तित्वमव्याप्तिः कीर्तिता बुधैः। यथा जीवस्य देहत्वमसिद्धं परमात्मनि॥ (मोक्षपं. १६)। २. लक्ष्यैकदेशवृत्त्याव्याप्तम्। यथा गोः शावलेयत्वम्। (न्यायदी. पृ. ७)।
२ जो लक्षण लक्ष्य के एक देश में रहे उसे अव्याप्त—अव्याप्ति दोष से दूषित—कहा जाता है।

अव्याबाध—न विद्यते विविधा कामादिजनिता आ समन्ताद् बाधा दुःखं येषां ते अव्याबाधाः। (त. वृत्ति श्रुत. ४-२५)।
जिनके काम-विकारादि जनित बाधाएँ नहीं होतीं ऐसे लौकान्तिक देव अव्याबाध नाम से कहे जाते हैं।

अव्याबाध सुख—१. अणुवममेयमक्खयममलमजरमरुजमभयमभवं च। एयंतियमच्चंतियमव्वाबाधं सुहमजेयं। (भ. आ. २१५३)। २. सहजशुद्धस्वरूपानुभवसमुत्पन्नरागादिविभावरहितसुखामृतस्य यदेकदेशसंवेदनं कृतं पूर्वं तस्यैव फलभूतमव्याबाधमनन्तसुखं भण्यते। (वृ. द्रव्यसं. १४)। ३. वेदनीयकर्मोदयजनितसमस्तबाधारहितत्वादव्याबाधगुणश्चेति। (परमात्मप्र. टी. ६१)।
१ अनुपम, अपरिमित (अनन्त), अविनश्वर, कर्ममल के सम्बन्ध से रहित, जरा से विहीन, रोग से उन्मुक्त, भय से विरहित, संसार से अतीत, ऐकान्तिक, आत्यन्तिक और अजेय ऐसे बाधारहित मुक्तिसुख को अव्याबाध सुख कहा जाता है।

अव्याहत—इह ऐकान्तिकमिह-परलोकाविरुद्धं फलान्तराबाधितं वाऽव्याहतमुच्यते। (आव. नि. हरि. व मलय. वृ. ९३९)।
जो इहलोक और परलोक के विरोधसे सर्वथा रहित हो उसे अव्याहत कहा जाता है।

अव्याहतपौर्वापर्य—अव्याहतपौर्वापर्यत्वं पूर्वापरवाक्याविरोधः। (समवा. अभय. वृ. ३५; रायप. वृ. पृ. १६)।
जो वचन पूर्वापर कथन से अविरुद्ध हो वह अव्याहतपौर्वापर्य वचन कहलाता है। यह वचन के ३५ अतिशयों में नौवां है।

अव्युच्छेदित्व — अव्युच्छेदित्वं विवक्षितार्थानां सम्यक्सिद्धिं यावत् अनवच्छिन्नवचनप्रमेयता। (समवा. अभय. वृ. ३५)।
विवक्षित अर्थ की सम्यक् सिद्धि होने तक निरन्तर स्वरूप से वचनों का प्रयोग करने को अव्युच्छेदित्व कहते हैं। यह ३५ सत्यवचनातिशयों में अन्तिम है।

अव्युत्पन्न—१. गृहीतोऽगृहीतोऽपि वार्थो यथावदनिश्चितस्वरूपोऽव्युत्पन्नः। (प्र. क. मा. ३-२१, पृ. ३६९)। २. अव्युत्पन्नं तु नाम-जाति-संख्यादिविशेषापरिज्ञानेनानिर्णीतविषयानध्यवसायग्राह्यम्। (प्र. र. मा. ३-२१)।
१ गृहीत अथवा अगृहीत पदार्थ का जब तक यथार्थ स्वरूप निश्चित नहीं हो जाता, तब तक उसे अव्युत्पन्न कहा जाता है।

अशबल—निरतिचारत्वादशबलः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-४९, पृ. २८६)।
अतिचार से रहित स्नातक मुनि को अशबल कहा जाता है। यह स्नातक के पांच भेदों में दूसरा है।

अशबलाचार— अभ्याहृतादिपरिहारी अशबलाचारः। (व्यव. भा. मलय. वृ. ३-१६४, पृ. ३५)।
अभ्याहृत आदि दोषों का परिहार करने वाले साधु के चारित्र को अशबलाचार कहते हैं।

अशब्दलिंगज श्रुत—धूमलिंगादो जलणावगमो असद्दलिंगजो। (धव. पु. १३, पृ. २४५)।
अन्यथानुपपत्ति रूप लिंग से होने वाले ज्ञान को अशब्दलिंगज श्रुत कहा जाता है। जैसे—धूम लिंग से होने वाला अग्नि का ज्ञान।

अशरणानुप्रेक्षा —१. मणि-मंतोसह-रक्खा हय-गय-रहओ य सयलविज्जाओ। जीवाणं ण हि सरणं तिसु लोए मरणसमयम्हि॥ सग्गो हवे हि दुग्गं भिच्चा देवा य पहरणं वज्जं। अइरावणो गइंदो इंदस्स ण विज्जदे सरणं॥ णवणिहि चउदहरयणं हय-मत्तगइंद-चाउरंगबलं। चक्केसस्स ण सरणं पेच्छंतो कद्दिये काले॥ जाइ-जर-मरण-रोग-भयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा। तम्हा आदा सरणं बंधोदय-सत्तकम्मवदिरित्तो॥ (द्वादशानु. ८-११)। २. हय-गय-रह-णर-बल-वाहणाणि मंतोसधाणि विज्जाओ। मच्चुभयस्स ण सरणं णिगडी णीदी य णीया य॥ जम्म-जरा-मरण-समाहिदम्हि सरणं ण विज्जदे लोए। जर-मरण-महारिउवारणं तु जिणसासणं मुक्का॥ मरणभयम्हि उवगदे देवा वि सइंदया ण तारेंति। धम्मो ताणं सरणं गदि त्ति चिंतेहि सरणत्तं॥ (मूला. ८, ५-७)। ३. यथा मृगशावस्यैकान्ते

वलवता क्षुधितेनामिषैषिणा व्याघ्रेणाभिभूतस्य न किञ्चिच्छरणमस्ति तथा जन्म-जरा-मृत्यु-व्याधि-प्रभृतिव्यसनमध्ये परिभ्रमतो जन्तोः शरणं न विद्यते। परिपुष्टमपि शरीरं भोजनं प्रति सहायी भवति न व्यसनोपनिपाते, यत्नेन संचिता अर्था अपि न भवान्तरमनुगच्छन्ति, संविभक्तसुख-दुःखाः सुहृदोऽपि न मरणकाले परित्रायन्ते, वान्धवाः समुदिताश्च रुजा परीतं न परिपालयन्ति, अस्ति चेत् सुचरितो धर्मो व्यसनमहार्णवे तारणोपायो भवति। मृत्युना नीयमानस्य सहस्रनयनादयोऽपि न शरणम्। तस्माद् भवव्यसनसङ्कटे धर्म एव सरणं सुहृदर्थोऽप्यनपायी, नान्यत्किञ्चिच्छरणमिति भावना अशरणानुप्रेक्षा। (स. सि. ९–७)। ४. यथा निराश्रये जनविरहिते वनस्थलीपृष्ठे वलवता क्षुत्परिगतेनामिषैषिणा सिंहेनाभ्याहतस्य मृगशिशोः शरणं न विद्यते, एवं जन्म-जरा-मरण-व्याधि-प्रियविप्रयोगाऽप्रियसंप्रयोगेप्सिता-लाभ-दारिद्रच-दौर्भाग्य-दौर्मनस्य - मरणादिसमुत्थेन दुःखेनाभ्याहतस्य जन्तोः संसारे शरणं न विद्यत इति चिन्तयेत्। एवं ह्यस्य चिन्तयतो नित्यमशरणोऽस्मीति नित्योद्विग्नस्य सांसारिकेषु भावेष्वनभिष्वङ्गो भवति। अर्हच्छासनोक्त एव विधौ घटते, तद्धि परं शरणमित्यशरणाणुप्रेक्षा। (त. भा. ९–७)। ५. **क्षुधितव्याघ्रादिद्रुतमृगशावबज्जन्तोर्जरा-मृत्युरुजान्तरे परित्राणाभावोऽशरणत्वम्।** शरणं द्विविधम्—लौकिकं लोकोत्तरं चेति। तत्प्रत्येकं त्रिधा—जीवा-जीव-मिश्रकभेदात्। तत्र राजा देवता वा लौकिकं जीवशरणम्, प्राकारादि अजीवशरणम्, ग्राम-नगरादि मिश्रकम्। पञ्च गुरवो लोकोत्तरं जीवशरणम्, तत्प्रतिविम्वाद्यजीवशरणम, सधर्मोपकरणसाधुवर्गो मिश्रकशरणम्। तत्र यथा मृगशावस्य एकान्ते वलवता क्षुधितेन आमिषैषिणा व्याघ्रेणाभिद्रुतस्य न किञ्चिच्छरणमस्ति तथा जन्म-जरा-मृत्यु-व्याधि-प्रियविप्रयोगाप्रियसंयोगेप्सितालाभ-दारिद्रच- दौर्मनस्यादिसमुत्थितेन दुःखेनाभिभूतस्य जन्तोः शरणं न विद्यते, परिपुष्टमपि शरीरं भोजनं प्रति सहायी भवति न व्यसनोपनिपाते, यत्नेन संचिता अर्था अपि न भवान्तरमनुगच्छन्ति, संविभक्तसुख-दुःखाः सुहृदोऽपि न मरणकाले परित्रायन्ते, वन्धवः समुदिताश्च रुजा परीतं न परियान्ति। अस्ति चेत् सुचरितो धर्मो व्यसन-महार्णवतरणोपायो भवति। मृत्युना नीयमानस्य सहस्रनयनादयोऽपि न शरणम्। तस्माद् भवव्यसनसंकटे धर्म एव शरणम्। सुहृदर्थोऽपि[न]अनपायी, नान्यत् किञ्चिच्छरणमिति भावनमशरणानुप्रेक्षा। (त. वा. ९, ७, २)। ६. व्यादारितास्ये सति यत्कृताङ्के [-तान्ते] न प्राणिनां प्रा[त्रा]णमिहास्ति किञ्चित्। मृगस्य सिंहोग्रनिशातदंष्ट्रा यत्र प्रविष्टात्मतनोरिवात्र ॥ (वरांग. ३१–८७)। ७. तत्थ भवे किं सरणं जत्थ सुरिंदाण दीसदे विलओ। हरि-हर-वंभादीया कालेण य कवलिया जत्थ ॥ सीहस्स कमे पडिदं सारंगं जह ण रक्खदे को वि। तह मिच्चुणा य गहिदं जीवं पि ण रक्खदे को वि ॥ जइ देवो वि य रक्खदि मंतो तंतो य खेत्तपालो य। मियमाणं पि मणुस्सं तो मणुया अक्खया होंति ॥×× ×दंसण-णाण-चरित्तं सरणं सेवेह परमसद्धाए। अण्णं किं पि ण सरणं संसारे संसरंताणं ॥ (कार्तिके. २३–२५ व ३०)। ८. न स कोऽप्यस्ति दुर्बुद्धे शरीरी भुवनत्रये। यस्य कण्ठे कृतान्तस्य न पाशः प्रसरिष्यति। समापतति दुर्वारे यम-कण्ठीरवक्रमे। त्रायते तु न हि प्राणी सोद्योगैस्त्रिदशैरपि ॥ आरब्धा मृगवालिकेव विपिने संहार-दन्तिद्विपा पुंसां जीवकला निरेति पवनव्याजेन भीता सती। त्रातुं न क्षमसे यदि क्रमपदप्राप्तां वराकीमिमां न त्वं निर्घृण लज्जसे ऽत्र जनने भोगेषु रन्तुं सदा ॥ (ज्ञानार्णव श्लो. १–२ व १७, पृ. २६ व २९)। ९. दत्तोदयेऽर्थनिचये हृदये स्वकार्ये सर्वः समाहितमतिः पुरतः समास्ते। जाते त्वपायसमयेऽम्बुपतौ पतत्रैः पोतादिव द्रुतवतः शरणं न तेऽस्ति ॥ वन्धुव्रजैः सुभटकोटिभिराप्तवर्गैर्मन्त्रास्त्र-तन्त्रविधिभिः परिरक्ष्यमाणः। जन्तुर्वलादधिवलोऽपि कृतान्तदूतैरानीयते यमवशाय वराक एकः ॥ संसीदतस्तव न जातु समस्ति शास्ता त्वत्तः परः परमवाप्तसमग्रवोधेः। तस्यां स्थिते त्वयि यतो दुरितोपतापसेनेयमेव सुविधे विधुरा श्रिया स्यात् ॥ (यशस्ति. २, ११२–१४)। १०. इन्द्रोपेन्द्रादयोऽप्येते यन्मृत्योर्यान्ति गोचरम्। अहो तदन्तकातङ्के कः शरण्यः शरीरिणाम् ॥ पितुर्मातुः स्वसुर्भ्रातुस्तनयानां च पश्यताम्। अत्राणो नीयते जन्तुः कर्मभिर्यमसद्मनि ॥ शोचते स्वजनानन्तं नीयमानान् स्वकर्मभिः। नेष्यमाणं तु शोचन्ति नात्मानं मूढबुद्धयः ॥ संसारे दुःख-दावाग्निज्वलज्ज्वालाकरालिते। वने मृगार्भकस्येव शरणं नास्ति देहिनः ॥

(योगशा. ४, ६१–६४)। ११. संसारदुःखोपद्रुतस्य शरणाभावोऽशरणत्वम्। (त. सुखबो. वृ. ६–७)। १२. तत्तत्कर्मग्लपितवपुषां लब्धवल्लिप्सितार्थं मन्वानानां प्रसभमसुवत्प्रोद्यतं भङ्क्तुमाशाम्। यद्वद्वार्यं त्रिजगति नृणां नैव केनापि दैवं तद्वन्मृत्युर्ग्रसनरसिकस्तद्वृथा त्राणदैन्यम्॥ सम्राजां पश्यतामप्यभिनयति न किं स्वं यमश्चण्डिमानं शक्राः सीदन्ति दीर्घे क्व न दयितवधूदीर्घनिद्रामनस्ये। आः काल-व्यालदंष्ट्रां प्रकटतरतपोविक्रमा योगिनोऽपि व्याक्रोष्टुं न क्रमन्ते तदिह बहिरहो यत् किमप्यस्तु किं मे॥ (अन. ध. ६, ६०–६१)। १३. यथा मृगबालकस्य निर्जने वने बलवता मांसाकांक्षिणा क्षुधितेन द्वीपिना गृहीतस्य किञ्चिच्छरणं न वर्तते, तथा जन्म-जरा-मरण-रोगादिदुःखमध्ये पर्यटतो जीवस्य किमपि शरणं न वर्तते, सम्पुष्टोऽपि कायः सहायो न भवति भोजनादन्यत्र दुःखागमने, प्रयत्नेन सञ्चिता अपि रायो भवान्तरं नानुगच्छन्ति, संविभक्तसुखा अपि सुहृदो मरणकाले न परिरक्षन्ति रोगग्रस्तं पुमांसं संगता अपि बान्धवा न प्रतिपालयन्ति, सुचरितो जिनधर्मो दुःख-महासमुद्रसन्तरणोपायो भवति, यमेन नीयमानमात्मानमिन्द्र-धरणेन्द्र-चक्रवर्त्यादयोऽपि शरणं न भवन्ति, तत्र जिनधर्म एव शरणम्। एवं भावना अशरणानुप्रेक्षा भवति। (त. वृत्ति श्रुत. ९–७)।

१ मणि, मंत्र, औषधि, रक्षक, घोड़ा, हाथी, रथ और विद्या; ये कोई भी मरण के समय में प्राणी का रक्षण नहीं कर सकते हैं। देखो जिस इन्द्र का स्वर्ग तो दुर्ग के समान है, देव जिसके किंकर हैं, वज्र जिसका शस्त्र है, और हाथी जिसका ऐरावत है; उसको भी मरण से बचाने वाला कोई नहीं है। जन्म और मरण आदि से यदि कोई रक्षा कर सकता है तो वह कर्मबन्धनादि से रहित अपना आत्मा ही कर सकता है। इत्यादि प्रकार बार-बार चिन्तन करना अशरणानुप्रेक्षा है।

अशरणभावना—देहिनां मरणादिभये संसारे शरणं किमपि नास्तीत्यादिचिन्तनमशरणभावना। (सम्बो-पत. वृ. १६, पृ. १८)।

मरणादि के भय से व्याप्त संसार में रक्षा करने वाला कोई भी नहीं है, इस प्रकार चिन्तन करने का नाम अशरणभावना है। (देखो अशरणानुप्रेक्षा)।

अशरीर—जेसिं सरीरं णत्थि ते असरीरा। जे ते परिणिव्वुआ। (धव. पु. १४, पृ. २३८); अट्ठ-कम्म-कवचादो णिग्गया असरीरा णाम। (धव. पु. १४, पृ. २३९)।

जिनके शरीर का सम्बन्ध सदा के लिए छूट चुका है, और जो आठ कर्म रूप कवच से निकल चुके हैं, ऐसे सिद्ध परमात्मा अशरीर कहे जाते हैं।

अशुचित्व-अनुप्रेक्षा—१. शरीरमिदमत्यन्ताशुचियोनि शुक्रशोणिताशुचिसंवर्धितमवस्करवदशुचिभाजनं त्वङ्मात्रप्रच्छादितमतिपूतिरसनिष्यन्दिस्रोतोबिलमङ्गारवदात्मभावमाश्रितमप्याश्वेवापादयति। स्नानानुलेपन-धूपप्रघर्ष-वास-माल्यादिभिरपि न शक्यमशुचित्वमपहर्तुमस्य। सम्यग्दर्शनादि पुनर्भाव्यमानं जीवस्यात्यन्तिकीं शुद्धिमाविर्भावयतीति तत्त्वतो भावनमशुचित्वानुप्रेक्षा। (स. सि. ९–७)। २. शरीरस्याद्युत्तराशुभकारणत्वादिभिरशुचित्वम्। (त. वा. ९, ७, ६)। ३. अशुभकारणत्वादिभिरशुचित्वम्। (त. श्लो. ९–७)। ४. शरीरस्याऽशुचिकारण-कार्यस्वभावत्वमशुचित्वम्। (त. सुखबो. ९–७)।

१ वीर्य व रुधिर से वृद्धिगत यह शरीर पुरीषालय (टट्टी) के समान अपवित्रता को उत्पन्न करने वाला है। चर्म से आच्छादित होकर निरन्तर मल-मूत्रादि को बहाने वाले इस शरीर की अपवित्रता स्नान और सुगन्धित उबटन आदि से भी दूर नहीं की जा सकती है। जीव की आत्यन्तिक शुद्धि को सम्यग्दर्शनादि ही प्रगट कर सकते हैं। इस प्रकार निरन्तर विचार करना, यह अशुचित्व-अनुप्रेक्षा है। इसे अशुचि-भावना भी कहते हैं।

अशुद्ध-उपयोग—उपयोगो हि जीवस्य परद्रव्यसंयोगकारणमशुद्धः। (प्रव. सा. अमृत. वृ. २–६४)।

पर-द्रव्य के संयोग के कारणभूत जीव के उपयोग को अशुद्धोपयोग कहते हैं।

अशुद्ध-ऋजुसूत्रनय—जो सो असुद्धो उजुसुदणओ सो चक्खुपासियवेंजणपज्जयविसओ। (धव. पु. ९, पृ. २४४)।

जो चक्षु इन्द्रिय से स्पृष्ट—उसके द्वारा देखी गई—व्यंजन पर्याय को विषय करता है उसे अशुद्ध ऋजुसूत्रनय कहते हैं।

अशुद्ध चेतना—१. कार्यानुभूतिलक्षणा कर्मफलानुभूतिलक्षणा अशुद्धचेतना। (पंचा. का. अमृत. वृ.

१६)। २. ××× अशुद्धाऽऽत्मकर्मजा ।। (पञ्चाध्यायी २–१९३)।

कार्यानुभूति और कर्मफलानुभूति को अशुद्ध चेतना कहते हैं।

अशुद्ध द्रव्यनैगम—यस्तु पर्यायवद् द्रव्यं गुणवद्वेति निर्णयः। व्यवहारनयाज्जातः सोऽशुद्धद्रव्यनैगमः ।। (त. श्लो. १, ३३, ३९)।

द्रव्य पर्याय वाला अथवा गुण वाला है, इस प्रकार जो व्यवहार नय के आश्रित निर्णय होता है उसे अशुद्ध-द्रव्यनैगम नय कहते हैं।

अशुद्ध द्रव्यलक्षण—सर्वद्रव्यविशेषेषु च द्रव्यं द्रव्यमित्यनुगतबुद्धि-व्यवहाराभिधाननिबन्धनद्रव्योपाधि तदेवाशुद्धद्रव्यलक्षणम्। (स्या. रह. वृ. पृ. १०)।

सर्व द्रव्यविशेषों में 'यह द्रव्य है, यह द्रव्य है' इस प्रकारकी अनुगत बुद्धि, व्यवहार और वचन की कारण जो द्रव्य-उपाधि है यही अशुद्ध द्रव्य का लक्षण है।

अशुद्धद्रव्य-व्यञ्जनपर्यायनैगम—विद्यते चापरोऽशुद्धद्रव्यव्यञ्जनपर्ययौ। अर्थीकरोति यः सोऽत्र ना गुणीति निगद्यते ।। (त. श्लो. १, ३३, ४६)।

जो नैगम नय अशुद्ध द्रव्य और व्यञ्जन पर्याय को विषय करता है उसे अशुद्ध द्रव्य-व्यञ्जनपर्याय नैगम-नय कहते हैं। जैसे मनुष्य गुणी है। यहां पर गुणवान् अशुद्ध द्रव्य है और मनुष्य व्यञ्जनपर्याय है। कथञ्चित् अभेदरूप से दोनों को यह नय जानता है।

अशुद्ध द्रव्यार्थिक या अशुद्ध द्रव्यास्तिक नय—१. अशुद्धद्रव्यार्थिकः पर्यायकलङ्काङ्कितद्रव्यविषयः व्यवहारः। (जयध. पु. १, पृ. २१९)। २. अशुद्धस्तु द्रव्यार्थिको व्यवहारनयमतार्थावलम्वी एकान्तनित्यचेतनाऽचेतनवस्तुद्वयप्रतिपादकसांख्यदर्शनाश्रितः। सम्मतित. वृ. गा. ३, पृ. २८०)। ३. व्यवहारनयमतार्थावलम्वी अशुद्धद्रव्यास्तिको नयश्च द्वैतप्रतिपादनपरः, भेदकल्पनासापेक्षो ह्यशुद्धद्रव्यास्तिक इति बोध्यम्। (स्या. रह. वृ. पृ. १०)। ४. कर्मोपाधिसापेक्षोऽसावशुद्धद्रव्यार्थिकः, यथा क्रोधादिकर्मजभाव आत्मा। उत्पाद-व्ययसापेक्षोऽसावशुद्धद्रव्यार्थिकः, यथैकस्मिन् समये द्रव्यमुत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तम्। भेदकल्पनासापेक्षोऽसावशुद्धद्रव्यार्थिकः, यथात्मनोदर्शनज्ञानादयो गुणाः। (नयप्रदीप २, पृ. ९९।१)।

१ पर्यायरूप कलंक से मलिनता को प्राप्त हुए द्रव्य को विषय करने वाला जो व्यवहार है उसे अशुद्ध-द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। २ व्यवहारनय के विषयभूत पदार्थ का आश्रय लेकर जो सांख्यमत में चेतन पुरुष और अचेतन प्रकृति इन दो तत्त्वों का एकान्त रूप से कथन किया गया है, यह अशुद्ध द्रव्यार्थिक-नय के आश्रित है।

अशुद्ध पर्यायार्थिकनय—अशुद्धपज्जवट्ठिए वंजणपज्जायपरतंते सुहुमपज्जायभेदेहि णाणत्तमुवगए ×××। (धव. पु. १३, पृ. १९९–२००)।

जो व्यञ्जनपर्याय के वशीभूत हो—उसे विषय करता है—वह अशुद्ध पर्यायार्थिकनय कहलाता है।

अशुद्ध भाव–१. अन्यश्चोपाधिकः स्मृतः। (द्रव्यानु. १२–८)। २. अन्योऽशुद्धभाव औपाधिकः, उपाधिजनितवहिर्भावपरिणमनयोग्यता ह्यशुद्धस्वभावता। (द्रव्यानु. टी. १२–९)।

उपाधि (अस्वाभाविक धर्म) से उत्पन्न होने वाले बाहिरी भावों को अशुद्ध भाव कहते हैं।

अशुद्ध संग्रह—१. होइ तमेव असुद्धो इगजाइविसेसगहणेण ।। (ल. न. च. ३६)। २. तथा द्रव्यमिति घट इति च द्रव्यत्व-घटत्वावान्तरसामान्येन सकलजीवादिद्रव्य-सौवर्णादिघटव्यक्तीनां संग्रहणादशुद्धसंग्रहो विज्ञेयः। (त. सुखबो. १–३३)।

१ जो किसी एक जातिविशेष को ग्रहण करे उसे अशुद्ध संग्रहनय कहते हैं। २ द्रव्यत्व या घटत्वरूप अवान्तर सामान्य के द्वारा जो सकल जीवादि द्रव्यों को और सुवर्णादिमय घट व्यक्तियों को ग्रहण करता है वह अशुद्ध संग्रहनय कहलाता है।

अशुद्ध सद्भूतव्यवहार—अशुद्धगुण-गुणिनोरशुद्धद्रव्य-पर्याययोर्भेदकथनमशुद्धसद्भूतव्यवहारः। (नयप्रदीप पृ. १०२; द्रव्यानु. टी. ७–४)।

अशुद्ध गुण-गुणी के और अशुद्ध द्रव्य-पर्याय के भेदकथन को अशुद्ध सद्भूतव्यवहार कहते हैं।

अशुभ काययोग—१. प्राणातिपाताऽदत्तादानमैथुनप्रयोगादिरशुभः काययोगः। (स. सि. ६–३; त. वा. ६, ३, १; त. सुखबो. ६–३; त. वृत्ति श्रुत. ६–३)। २. हिंसनाऽब्रह्मचौर्यादि काये कर्माशुभं विदुः। (उपासका. ३५४)।

हिंसा, चोरी और मैथुनसेवन आदि काय सम्बन्धी अशुभ क्रियाओं को अशुभ काययोग कहते हैं।

अशुभ क्रिया—ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपसामतीचारा

अशुभक्रियाः। (भ. आ. विजयो. टी. ६)।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप में अतीचार या दोष लगाने वाली क्रियाओं को अशुभ क्रिया कहते हैं।

अशुभ तैजसशरीरसमुद्घात—१. तत्थ अप्पसत्थं (तेजासरीरसमुग्घादं) बारहजोयणायामं णवजोयणवित्थारं सूचि-अंगुलस्स संखेज्जदिभागबाहल्लं जासवणकुसुमसंकासं भूमिपव्वदादिदहणक्खमं पडिवक्खरहियं रोसिंघणं वामंसप्पभवं इच्छियखेत्तमेत्तविसप्पणं। (धव. पु. ४, पृ. २८); कोधं गदस्स संजदस्स वामंसादो बारहजोयणायामेण णवजोयणविक्खंभेण सूचि-अंगुलस्स संखेज्जदिभागमेत्तबाहल्लेण जासवणकुसुमवण्णेण णिस्सरिदूण सगक्खेत्तब्भंतरट्ठियसत्तविणासं काऊण पुणो पविसमाणं तं चेव संजदं मारेदि तं असुहं (णिस्सरणप्पयं तेजइयरीरं) णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३२८)। २. स्वस्य मनोऽनिष्टजनकं किञ्चित्कारणान्तरमवलोक्य समुत्पन्नक्रोधस्य संयमनिधानस्य महामुनेर्मूलशरीरमत्यज्य सिन्दूरपुञ्जप्रभो दीर्घत्वेन द्वादशयोजनप्रमाणः सूच्यङ्गुलसंख्येयभागमूलविस्तारो नवयोजनाग्रविस्तारः काहलाकृतिपुरुषो वामस्कन्धान्निर्गत्य वामप्रदक्षिणेन हृदये निहितं विरुद्धं वस्तु भस्मसात्कृत्य तेनैव संयमिना सह स च भस्म व्रजति द्वीपायनवत्, असावशुभतेजःसमुद्घातः। (बृ. द्रव्यसं. १०, पृ. २१; कार्तिके. टी. १७६)।

१ महातपस्वी मुनि के किसी कारण से क्रोध उत्पन्न होने पर जो उसके बायें कन्धे से जपापुष्प के समान लाल वर्ण वाला पुतला निकलकर बारह योजन लम्बे, नौ योजन चौड़े और सूच्यङ्गुल के संख्यातवें भाग बाहल्य वाले अपने क्षेत्र के भीतर स्थित जीवों का विनाश करके शरीर में प्रविष्ट होता हुआ उस साधु को भी मार डालता है; उसे अशुभ-तैजस-शरीर कहते हैं। यह समुद्घात क्रोधरूपा में निकलता है और पृथिवी-पर्वतादि के भी जलाने में समर्थ होता है।

अशुभ मनोयोग—१. वधचिन्तनेर्ष्याऽसूयादिरशुभो मनोयोगः। (स. सि. ६-३; त. वा. ६, ३, १; त. सुखबो. ६-३; त. वृत्ति श्रुत. ६-३)। २. मदेर्ष्यासूयनादि स्यान्मनोव्यापारसंश्रयम्। (उपासका. ३५५)।

दूसरे के वध-बन्धनादि का विचार करने तथा ईर्ष्या और डाह करने आदि को अशुभ मनोयोग कहते हैं।

अशुभ योग—१. अशुभपरिणामनिर्वृत्तश्चाशुभः। (स. सि. ६-३)। २. प्राणातिपाताऽनृतभाषणवधचिन्तनादिरशुभः। (त. वा. ६, ३, १)। ३. मिथ्यादर्शनाद्यनुरञ्जितोऽशुभः (त. श्लो. ६-३)। ४. प्राणातिपातादिलक्षणस्त्रिविधोऽप्यशुभः [योगः]। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-४)। ५. संक्लेशपरिणामहेतुकस्त्रिविधोऽपि कायादियोगोऽशुभः। (त. सुखबो. ६-३)। ६. अशुभपरिणामनिर्वृत्तो निष्पन्नो योगः अशुभः। (त. वृत्ति श्रुत. ६-३)।

१ कुत्सित परिणाम से प्रादुर्भूत मन-वचन-काय की क्रिया को अशुभ योग कहते हैं।

अशुभ वाग्योग—१. अनृतभाषण-परुषाऽसभ्यवचनादिरशुभो वाग्योगः। (स. सि. ६-३; त. वा. ६, ३, १; त. सुखबो. ६-३)। २. असत्याऽसभ्यपारुष्यप्रायं वचनगोचरम्। (उपासका. ३५४)। ३. असत्याऽहिताऽमित-कर्कश-कर्णशूलप्रायभाषणादिरशुभः वाग्योगः। (त. वृत्ति श्रुत. ६-३)।

१ असत्य, परुष (कठोर) और असभ्य भाषण को अशुभ वाग्योग कहते हैं।

अशुभ श्रुति—देखो दुःश्रुति। १. हिंसा-रागादिप्रवर्धनदुष्टकथाश्रवणशिक्षणव्यापृतिरशुभश्रुतिः। (स. सि. ७-२१; त. वा. ७, २१, २१)। २. हिंसादिकथाश्रवणाभीक्ष्णव्यापृत्ति [व्यापृति]लक्षणाच्चाशुभश्रुतेः × × ×। (त. श्लो. ७-२१)। ३. रागादिप्रवृद्धितो दुष्टकथाश्रवण श्रावण-शिक्षणव्यापृतिरशुभश्रुतिः। (चा. सा. पृ. १०; त. सुखबो. ७-२१)। ४. यत्रापीते श्रुते कामोन्मादन-क्लेश-मूर्च्छनैः। अशुभं जायते पुंसामशुभश्रुतिरिष्यते॥ (धर्मसं. श्रा. ७-१३)।

१ हिंसा, राग और द्वेष आदि बढ़ाने वाली खोटी कथाओं को सुनने-सुनाने और पढ़ने-पढ़ाने को अशुभ श्रुति कहते हैं। यह एक अनर्थदण्ड का भेद है, जिसे दुःश्रुति भी कहते हैं।

अशुभोपयोग—१. विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो। उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो॥ (प्रव. सा. २-६६)। २. हिंसा-
[illegible] आदि [illegible] —
[illegible]
[illegible]
[illegible]

नोग्रताचरणे च प्रवृत्तो ऽशुभोपयोगः। प्रव. सा. अमृत. वृ. २-६६)। ३. उपयोगोऽशुभो राग-द्वेष-मोहैः क्रियाऽऽत्मनः। (अध्या. रह. ५६)।

१ विषय-कषाय से आविष्ट जो तीव्र उपयोग राग-द्वेषोत्पादक मिथ्या शास्त्रों के सुनने, दुर्ध्यान करने और दूषित आचरण करने वाले मिथ्यादृष्टियों के सहवास में रहने रूप उन्मार्ग में प्रवृत्त होता है उसे अशुभोपयोग कहते हैं। उस उपयोगस्वरूप जीव को भी अभेद विवक्षा में अशुभोपयोग कहा जाता है।

अशोभन—अशोभनं गर्वादिदूषितं वचनम्। (बृहत्क. वृ. ७५३)।

अहंकार आदि दोषों से दूषित वचन को अशोभन वचन कहते हैं। ऐसे अशोभन वचन का बोलने वाला असत्प्रलापी भाषाचपल कहलाता है।

अश्रुतनिश्रित—१. यत्पुनः पूर्वं तदपरिकर्मितमतेः क्षयोपशमपटीयस्त्वात् औत्पत्तिक्यादिलक्षणमुपजायते तदश्रुतनिश्रितमिति। (आव. नि. हरि. वृ. १, पृ. ६)। २. यत् प्रायः श्रुताभ्यासमन्तरेणापि सहजविशिष्ट-क्षयोपशमवशादुत्पद्यते तदश्रुतनिश्रितमौत्पत्तिक्यादि-बुद्धिचतुष्टयम्। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ४, पृ. १०)। ३. प्रायः श्रुताभ्यासमन्तरेणापि यत्सहजविशिष्टक्ष-योपशमवशादुत्पद्यते तदश्रुतनिश्रितम्। (प्रव. सारो. वृ. १२५३)।

२ शास्त्राभ्यास के विना ही स्वाभाविक विशिष्ट क्षयोपशम के वश जो औत्पत्तिकी आदि चार वुद्धि स्वरूप विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है उसे अश्रुत-निश्रित आभिनिवोधिक मतिज्ञान कहते हैं।

अश्रुपात अन्तराय— ××× अश्रुपातः शुचा-त्मनः॥ पातोऽश्रूणां मृतेऽन्यस्य क्वापि वाक्रन्दतः श्रुतिः। (अन. ध. ५, ४५-४६)।

शोक से स्वयं अश्रुपात होना तथा किसी के मर जाने पर अन्य व्यक्ति के आक्रन्दन को सुनकर या मर जाने पर शोकाकुल मनुष्य के आँसुओं के गिरने को अश्रुपात कहते हैं। यह एक भोजन का अन्त-राय है।

अश्लाघाभय — अश्लाघाभयम् अकीर्तिभयम्। (ललितवि. पं. पृ. ३८)।

अकीर्ति या अपकीर्ति के भय को अश्लाघाभय कहते हैं।

अश्लोकभय—'श्लोक: श्लाघायाम्' श्लोकनं श्लोकः श्लाघा प्रशंसा, तद्विपर्ययोऽश्लोकः, तस्माद् भयम् अश्लोकभयम्। (आव. भा. हरि. वृ. १८४, पृ. ४७३)। १. 'श्लोकृङ् श्लाघायाम्' श्लोकः प्रशंसा श्लाघा, तद्विपर्ययोऽश्लोकः, तस्माद् भयम् अश्लोक-भयम्। (आव. भा. मलय. वृ. १८४, पृ. ५७३)। देखो अश्लाघाभय।

अश्वकर्णकरण (अस्सकण्णकरण)–देखो आदोल-करण। १. अस्सकण्णकरणेत्ति वा आदोलकरणेत्ति वा ओवट्टण-उव्वट्टणकरणेत्ति वा तिण्णि णामाणि अस्स-कण्णकरणस्स। (कसायपा. चू. ४७२, पृ. ७८७; धव. पु. ६, पृ. ३६४)। २. अश्वस्य कर्णः अश्वकर्णः, अश्वकर्णवत्करणमश्वकर्णकरणम्। यथाश्वकर्ण अग्रा-त्प्रभृत्या मूलात् क्रमेण हीयमानस्वरूपो दृश्यते, तथेद-मपि करणं क्रोधसंज्वलनात् प्रभृत्या लोभसंज्वलनाद्य-थाक्रममनन्तगुणहीनानुभागस्पर्धकसंस्थानव्यवस्थाकर-णमश्वकर्णकरणमिति लक्ष्यते। (धव. पु. ६, टि. ५)।

२ जिस प्रकार घोड़े का कान अग्र भाग से मूल भाग पर्यन्त उत्तरोत्तर हीन दिखायी देता है उसी प्रकार जिस करण (परिणामविशेष) के द्वारा संज्वलन क्रोध से संज्वलन लोभ तक अनुभागस्पर्धकों की व्यवस्था उत्तरोत्तर हीन होती हुई की जाती है उसे अश्वकर्णकरण कहते हैं। अश्वकर्णकरण, आदोलकरण और अपवर्तनोद्वर्तनाकरण ये तीनों एकार्थक नाम हैं। आदोल नाम हिंडोला का है। जिस प्रकार हिंडोले का स्तम्भ और रस्सी के अन्तराल में त्रिकोण आकार घोड़े के कान सदृश दिखता है, इसी प्रकार यहाँ पर भी क्रोधादि संज्वलन कषाय के अनुभाग का सन्निवेश भी क्रम से घटता हुआ दिखता है, इसलिए इसे आदोलकरण कहते हैं। क्रोधादि कषायों का अनुभाग हानि-वृद्धि रूप से दिखाई देने के कारण इसको अपवर्तनोद्वर्तनाकरण भी कहते हैं।

अश्वकर्णकरणाद्धा (अस्सकण्णकरणद्धा)—१. संताणि वज्झमाणगसरूवओ फड्डगाणि जं कुणइ। सा अस्सकण्णकरणद्ध ××× ॥ (पंचसं. उपश. ७५)। २. सन्ति विद्यमानानि मायाकर्मदलानि बध्यमानसंज्वलनलोभस्वरूपेण फड्डकानि यत्क-रोति साऽश्वकर्णकरणाद्धा प्रथमा भण्यते। (पंचसं. स्वो. वृ. उपश. ७५)। ३. विद्यमानानि यानि संक्रमि-

तानि मायाकर्मदलिकानि पूर्वबद्धसंज्वलनलोभदलिकानि वा तानि बध्यमानस्वरूपतस्तत्कालबध्यमानसंज्वलनलोभरूपतया। किमुक्तं भवति? तत्कालबध्यमानसंज्वलनलोभस्पर्द्धकानां चात्यन्तं नीरसानि यत्र करोति सा अश्वकर्णकरणाद्धा। (पंचसं. मलय. वृ. ७५)।

अश्वकर्णकरण के काल को अश्वकर्णकरणाद्धा कहते हैं। जिस काल में विद्यमान मायाकषाय के प्रदेशपिण्ड को संक्रान्त करते हुए बध्यमान संज्वलन लोभ के स्पर्धकों स्वरूप किया जाता है, वह अश्वकर्णकरणाद्धा कहलाता है।

अष्टम धरा— देखो ईषत्प्राग्भार। तिहुवणमुड्ढारूढा ईसिपभारा धरट्ठमी रुंदा। दिग्घा इगिसगरज्जू अडजोयणपमिदबाहल्ला॥ (त्रि. सा. ५५६)।

लोक के शिखर पर जो एक राजु चौड़ी, सात राजु लम्बी और आठ योजन ऊँची आठवीं पृथिवी है उसे अष्टम धरा कहते हैं।

असतीपोष—१. सारिका-शुक-मार्जार-श्व-कुर्कुट-कलापिनाम्। पोषो दास्याश्च वित्तार्थमसतीपोषणं विदुः॥ (त्रि. श. पु. च. ६, ३, ३४७; योगशा. ३–११२)। २. असतीपोषः प्राणिघ्नप्राणिपोषो भाटिग्रहणार्थं दासपोषश्च। (सा. ध. स्वो. टी. ५–२२)।

१ हिंसक प्राणियों—जैसे मैना, तोता, बिल्ली, कुत्ता, मुर्गा व मोर आदि—को पालना तथा भाड़ा प्राप्त करने के लिए दासी का भी पोषण करना असतीपोष कहलाता है।

असत्—अतो (सतो) ऽन्यदसत्। (त. भा. ५-२९)।

उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य स्वरूप सत् से विपरीत असत् कहलाता है।

असत्प्रतिपक्षत्व—तादृशसमबलप्रमाणशून्यत्वमसत्प्रतिपक्षत्वम्। (न्यायदी. पृ. ८५)।

साध्य के अभाव के निश्चय कराने वाले समान बलयुक्त अन्य प्रमाण के अभाव को असत्प्रतिपक्षत्व कहते हैं।

असत्य (प्रथम)—स्वक्षेत्र-काल-भावैः सदपि हि यस्मिन् निषिध्यते वस्तु। तत् प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र। (पु. सि. ९२)।

जिस वचन में स्वकीय द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से विद्यमान भी वस्तु का उसी स्वकीय द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से निषेध किया जाता है वह प्रथम असत्य है। जैसे देवदत्त के अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से रहते हुए भी यह कहना कि यहां देवदत्त नहीं है।

असत्य (द्वितीय)—असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्र-काल-भावैस्तैः। उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्ति घटः॥ (पु. सि. ९३)।

जो वस्तु परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से असत् है उसे उक्त परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत् कहना, यह असत्य वचन का दूसरा भेद है। जैसे घटस्वरूप से घट के न होने पर भी यह कहना कि 'यहां घट है'।

असत्य (तृतीय)—वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन्। अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाश्वः॥ (पु. सि. ९४)।

स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से विद्यमान पदार्थ को परद्रव्य-क्षेत्र-काल भाव से सत् कहना, यह असत्य का तीसरा भेद है। जैसे गाय को घोड़ा कहना।

असत्य (चतुर्थ) — गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत्। सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु॥ पैशून्यहासगर्भं कर्कशमसमंजसं प्रलपितं च। अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत् सर्वं गर्हितं गदितम्॥ छेदन-भेदन-मारण-कर्षण-वाणिज्य - चौर्यवचनादि। तत् सावद्यं यस्मात् प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते॥ अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैर-शोक-कलहकरम्। यदपरमपि तापकरं परस्य तत् सर्वमप्रियं ज्ञेयम्॥ (पु. सि. ९५–९८)।

गर्हित, सावद्य और अप्रिय वचनों को बोलना; यह असत्य का चौथा भेद है। आगम विरुद्ध जो भी पिशुनता व हास्य आदि से गर्भित, कठोर और असमंजस (अयोग्य) वचन हो वह गर्हित कहलाता है। जिन वचन के आश्रय से प्राणी के शरीर के छेदने-भेदने, वध करने तथा कृषि कार्य, व्यापार और चोरी आदि में प्रवृत्ति हो; उसे सावद्य कहते हैं। जो वचन अप्रीति, भय, खेद, वैमनस्य, शोक और लड़ाई-झगड़ा कराने वाला हो उसे तथा और भी जो सन्तापजनक वचन हो उसे अप्रिय कहा जाता है।

असत्य मनोयोग—१. [illegible]

मोसो × × × ॥ (प्रा. पंचसं. १-८९; धव. पु. १, पृ. २८१ उद्.; गो. जी. २१८)। २. तद्विपरीतो मोषमनोयोगः। [असत्यं वितथं मोघमित्यनर्थान्तिरम्। असत्ये मनः असत्यमनः, तेन योगः असत्यमनोयोगः।] (धव. पु. १, पृ. २८०)। ३. तद्विपरीतः असत्यार्थविषयज्ञानजननशक्तिरूपभावमनसा जनितः प्रयत्नविशेषः मृषा(असत्य)मनोयोगः। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. पृ. २१९)।

३ असत्य पदार्थ के विषय करने वाले ज्ञान को उत्पन्न करने वाली शक्तिरूप भावमन से जनित प्रयत्नविशेष को असत्य मनोयोग कहते हैं।

असत्यामृषा भाषा—१. जं नेव सच्चं नेव मोसं णेव सच्च-मोसं असच्चमोसं नाम। तं चउत्थं भासजायं। (आचारा. सू. २, १, १, ३५५ पृ. ३५४)। २. चतुर्थी भाषा योच्यमाना न सत्या नापि मृषा नापि सत्यामृषा आमन्त्रणाज्ञापनादिका साऽसत्याऽमृषेति। (आचारा. शी. वृ. २, १, १, ३५५ पृ. ३५५)। ३. × × × असच्चमोसा य पडिसेहा ॥ (दशवै. नि. २७२)। ४. यत्तु वस्तुसाधकबाधकत्वाविवक्षया व्यवहारपतितस्वरूपमात्राभिधित्सया प्रोच्यते तदसत्यामृषम्। (आव. हृ. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ७९)। ५. या पुनस्तिसृष्वपि भाषास्वनधिकृता तल्लक्षणायोगतस्तत्रानन्तर्भाविनी सा आमंत्रणाज्ञापनादिविषया असत्यामृषा। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ११-१६१)। ६. अणहिगया जा तीसु वि ण य आराहण-विराहणुवउत्ता। भासा असच्चमोसा एसा भणिया दुवालसहा ॥ (भाषार. ६९); या तिसृष्वपि सत्या-मृषा-सत्यामृषाभाषास्वनधिकता, एतेनोक्तभाषात्रयविलक्षणभाषात्वमेतल्लक्षणमुक्तम्, च पुनर्न आराधन-विराधनोपयुक्ता, एतेनापि परिभाषानियंत्रितमनाराधकविराधकत्वं लक्षणान्तरमाक्षिप्तम्, एषाऽसत्यामृषा भाषा। (भाषार. टी. ६९)।

१ जो भाषा सत्य, असत्य और उभय तीनों रूप से रहित अर्थात् अनुभयरूप हो वह चतुर्थी असत्यामृषा भाषा है जो आमंत्रणादिरूप है।

असत्य-मृषा मनोयोग—ण य सच्चमोसजुत्तो जो दु मणो सो असच्चमोसमणो। जो जोगो तेण हवे असच्चमोसो दु मणजोगो ॥ (प्रा. पंचसं. १-९०; धव. पु. १, पृ. २८२ उद्.; गो. जी. २१९)।

जो मन न सत्य है और न असत्य है, वह असत्य-मृषा (अनुभय) मन कहलाता है। उसके आश्रय से होने वाले योग को असत्य-मृषा मनोयोग कहते हैं।

असत्यमृषा वचनयोग—जो णेव सच्चमोसो तं जाण असच्चमोसवचिजोगो। अमणाणं जा भासा सण्णीणामंतणीयादी ॥ (प्रा. पंचसं. १-९२; धव. पु. १, पृ. २८६ उद्धृत; गो. जी. २२१)।

सत्यता और असत्यता से रहित (अनुभय) वचन के द्वारा जो योग होता है उसे असत्यमृषा वचनयोग कहते हैं।

असत्य वचनयोग—१. तव्विवरीयं मोसं। (भ. आ. ११९४)। २. तव्विवरीओ मोसो। (प्रा. पंचसं. १-९१; गो. जी. २२०)। ३. असत्यार्थविषयो वाग्व्यापारप्रयत्नः असत्यवचोयोगः। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. २२०)।

असत्य अर्थ को विषय करने वाले वचन के व्यापार रूप प्रयत्न को असत्यवचनयोग कहते हैं।

असदारम्भ—असन्—असुन्दरः—आरम्भोऽस्येत्यसदारम्भः, अविद्यमानं वा यदागमे व्यवच्छिन्नं तदारभत इत्यसदारम्भः, न सदा—न सर्वदा—स्वशक्तिकालाद्यपेक्ष आरम्भोऽस्येति वा। (पोडशक वृ. १-३)।

असत्—असमीचीन—कार्य के प्रारम्भ करने वाले को असदारम्भ (बाल) कहते हैं। अथवा असत् अर्थात आगम में जो व्यवच्छिन्न है उसके प्रारम्भ करने वाले को असदारम्भ (बाल) कहा जाता है। अथवा जो अपनी शक्ति और काल की अपेक्षा सदा आरम्भ नहीं करता है वह असदारम्भ (बाल) कहलाता है। यह असदारम्भ का निरुक्त लक्षण है (असत्-आरम्भ या अ-सदा-आरम्भ)।

असदृश अनुभाग—अध जे उदीरेदि अणेगासु वग्गणासु ते असरिसा णाम। (कसायपा. चू. पृ. ८८४)।

अनेक वर्गणाओं में जिन अनुभागों की उदीरणा की जाती है, उनका नाम असदृश अनुभाग है।

असदृशवेषग्रहण—असदृशवेषग्रहणं नाम स्वयमार्यः सन्ननार्यवेषं करोति, पुरुषो वा स्त्रं रूपमन्तर्हित्य स्त्रीवेषं विदधातीत्यादि। (बृहत्क. वृ. १३०९)।

स्वयं आर्य होते हुए अनार्य के वेष के धारण करने

को, अथवा पुरुष होते हुए स्त्री के वेष के धारण करने को असद्वृत्तवेषग्रहण कहते हैं।

असद्ध्यान— १. पापाशयवशान्मोहान्मिथ्यात्वाद्वस्तुविभ्रमात्। कषायाज्जायतेऽजस्रमसद्ध्यानं शरीरिणाम् ॥ (ज्ञानार्णव ३-३०, पृ. ६६); अज्ञातवस्तुतत्त्वस्य रागाद्युपहतात्मनः। स्वातन्त्र्यवृत्तिर्या जन्तोस्तदसद्ध्यानमुच्यते ॥ (ज्ञानार्णव २५-१९)।

वस्तुस्वरूप के न जानने और राग-द्वेषादि से आविष्ट होने के कारण जीव के जो स्वेच्छाचारिता होती है, उसे असद्ध्यान कहा जाता है। यह दुर्ध्यान दुष्ट अभिप्राय व मिथ्यात्वादि के निमित्त से हुआ करता है।

असद्भावस्थापना—आकृतिमति सद्भावस्थापना, अनाकृतिमति तद्विपरीता। (धव. पु. १४, पृ. ५)।

विवक्षित वस्तु के आकार से शून्य वस्तु में उस वस्तु की स्थापना को असद्भावस्थापना कहते हैं। दूसरे नाम से इसे अतदाकारस्थापना भी कहा जाता है।

असद्भावस्थापनाकाल — असब्भावट्ठवणकालो णाम मणिभेद-गेरुअ-मट्टी-ठिक्करादिसु वसंतो त्ति बुद्धिवलेण ठविदो। (धव. पु. ४, पृ. ३१४)।

मणिभेद, गेरू, मट्टी और ठीकरे आदि में जो बुद्धिवल से 'यह वसन्त है' इस प्रकार से जो वसन्त काल का आरोप किया जाता है उसे असद्भावस्थापनाकाल कहते हैं।

असद्भावस्थापनानिबन्धन—तव्विवरीयं (सब्भावट्ठवणणिबंधणविवरीयं) असब्भावट्ठवणणिबंधणं। (धव. पु. १५, पृ. २)।

जो निबन्धन विवक्षित द्रव्य का अनुकरण करता है उसकी उस रूप से कल्पना करने रूप सद्भावस्थापना से विपरीत स्वरूप वाला असद्भावस्थापनानिबन्धन होता है।

असद्भावस्थापनापूजा — वराटकादौ सङ्कल्प्य जिनोऽयमिति बुद्धितः। साऽर्च्या विधीयते प्राज्ञैरसद्भावमता त्वियम् ॥ (धर्मसं. श्रा. ९-८९)।

जिनेन्द्र के आकार से रहित कौड़ी आदि में 'यह जिन हैं' इस प्रकार बुद्धि से संकल्प करके जो पूजन की जाती है उसे प्राज्ञ जन असद्भावस्थापना पूजा कहते हैं।

असद्भावस्थापनाबन्ध—असब्भावट्ठवण (दुर्बंध-मुरवबंध-विज्जाहरबंध-णागपासबंध-संसरवासबंधादीणं) तेसु (सीवण्णी-खइरऽसोगकट्ठादिसु) ट्ठवणा असब्भावट्ठवणबंधो णाम। (धव. पु. १४, पृ. ५)।

श्रीपर्णी, खैर और अशोक वृक्ष की लकड़ी आदि में चक्रबन्ध व मुरजबन्ध आदि बन्धभेदों की अयथास्वरूप से—उन आकारों के न रहने पर भी—स्थापना करना; इसे असद्भावस्थापनाबन्ध कहते हैं।

असद्भावस्थापनाभाव—तव्विवरीदो (सब्भावट्ठवणभावादो विवरीदो) असब्भावट्ठवणभावो। (धव. पु. ५, पृ. १८३)।

विराग और सरागी भावों का अनुकरण नहीं करने वाली स्थापना को असद्भावस्थापनाभावनिक्षेप कहते हैं।

असद्भावस्थापनामङ्गल— १. बुद्धीए समारोविदमंगलपज्जयपरिणदजीवगुणसरूवक्ख-वराडयादयो असब्भावट्ठवणमङ्गलं। (धव. पु. १, पृ. २०)। २. मुख्याकारशून्या वस्तुमात्रा पुनरसद्भावस्थापना, परोपदेशादेव तत्र सोऽयमिति संप्रत्ययात्। (त. श्लो. १, ५, ५४, पृ. १११)।

१ अक्ष (चौपड़ खेलने के पासे) और वराटक (कौड़ी) आदि में मंगल पर्याय से परिणत जीव के गुण स्वरूप की बुद्धि से कल्पना करना असद्भावस्थापनामंगल है।

असद्भावस्थापनावेदना—वेयणा (वेयण-अणुहरंतदव्वभेएण [illegible] सब्भावट्ठवणवेदणाविवरीदा) असब्भावट्ठवणवेयणा। (धव. पु. १०, पृ. ७)।

वेदना के आकार से रहित द्रव्य में वेदना की स्थापना करने को असद्भावस्थापनावेदना कहते हैं।

असद्भूतव्यवहार—१. अण्णेसिं अण्णगुणो भणइ असब्भूद × × ×। (बृ. न. च. २२३)। २. असद्भूतव्यवहारो द्रव्याद्युपचारतः। [illegible] × × × ॥ ([illegible]) [illegible] ६-४, पृ. १००)। ३. [illegible]

न्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः । (नयप्रदीप पृ. १०३) ।

३ अन्य अर्थ में प्रसिद्ध धर्म के अन्य अर्थ में समारोप करने को असद्भूतव्यवहारनय कहते हैं ।

असद्वेद्य—१. यत्फलं दु.खमनेकविधं तदसद्वेद्यम् । अप्रशस्तं वेद्यमसद्वेद्यम् । (स. सि. ८-८; त. श्लो. ८, ८) । २. यत्फलं दुःखमनेकविधं तदसद्वेद्यम् । नारकादिगतिषु नानाप्रकारजातिविशेषावकीर्णासु कायिकं बहुविधं मानसं वाऽतिदुःसहं जन्म-जरा-मरण-प्रियविप्रयोगाऽप्रियसंयोग-व्याधि-वध-बन्धादिजनितं दुःखं यस्य फलं प्राणिनां तदसद्वेद्यम् । अप्रशस्तं वेद्यम् असद्वेद्यम् । (त. वा. ८, ८, २) । ३. यत्फलं दुःखमनेकविधं कायिकं मानसं चातिदुःसहं नरकादिषु गतिषु जन्म-जरा-मरण-वध-बन्धादिनिमित्तं भवति तदसद्वेद्यम् । अप्रशस्तं वेद्यमसद्वेद्यम् । (त. सुखबो. वृ. ८-८) । ४. यदुदयान्नरकादिगतिषु शारीर-मानसादिदुःखं नानाप्रकारं प्राप्नोति तदसद्वेद्यम् । (त. वृत्ति श्रुत. ८-८) ।

२ जिसके उदय से नरकादि गतियों में शारीरिक व मानसिक आदि नाना प्रकार के दुःखों का वेदन हो उसे असद्वेद्य कहते हैं ।

असमीक्ष्याधिकरण—१. असमीक्ष्य प्रयोजनमाधिक्येन करणं असमीक्ष्याधिकरणम् । (स. सि. ७, ३२; त. श्लो. ७-३२; सा. ध. स्वो. टी. ५-१२)। २. असमीक्ष्य प्रयोजनमाधिक्येन करणं असमीक्ष्याधिकरणम् । अधिरुपरिभावे वर्तते, करोतिश्चापूर्वप्रादुर्भावे, प्रयोजनमसमीक्ष्य आधिक्येन प्रवर्तनमधिकरणम् । तत् त्रेधा काय-वाङ्मनोविषयभेदात् । तदधिकरणं त्रेधा व्यवतिष्ठते । कुतः ? काय-वाङ्मनोविषयभेदात् । तत्र मानसं परानर्थककाव्यादिचिन्तनम्, वाग्गतं निष्प्रयोजनकथाख्यानं परपीडाप्रधानं यत्किञ्चन वक्तृत्वम्, कायिकं च प्रयोजनमन्तरेण गच्छंस्तिष्ठन्नासीनो वा सचित्तेतरपत्र-पुष्प-फलच्छेदन-भेदन-कुट्टन-क्षेपणादीनि कुर्यात् । अग्नि-विषक्षारादिप्रदानं चारभेत इत्येवमादि, तत्सर्वमसमीक्ष्याधिकरणम् । (त. वा. ७, ३२, ४-५; त. सुखबो. वृ. ७-३२; चा. सा. पृ. १०) । ३. असमीक्ष्य अनालोच्य प्रयोजनमात्मनोऽर्थमधिकरणं उचितादुपभोगादतिरेककरणमसमीक्ष्याधिकरणम्, मुसल-दात्र-शिलापुत्रक शस्त्र-गोधूमयन्त्रकशिलाग्न्यादिदानलक्षणम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. ७-२७) । ४. असमीक्ष्याधिकरणं पञ्चमम्—असमीक्ष्य प्रयोजनमपर्यालोच्य आधिक्येन कार्यस्य करणमसमीक्ष्याधिकरणम् । (रत्नक. टी. ३-३५) । ५. असमीक्ष्य अविचार्य अधिकस्य करणम् असमीक्ष्याधिकरणम् । तत् त्रिधा भवति—मनोगतं वाग्गतं कायगतं चेति । तत्र मनोगतं मिथ्यादृष्टीनामनर्थककाव्यादिचिन्तनं मनोगतम् । निष्प्रयोजनकथा-परपीडावचनं यत्किञ्चिद् वक्तृत्वादिकं वाग्गतम् । निःप्रयोजनं सचित्ताचित्तदल-फल-पुष्पादिछेदनादिकम् अग्नि-विष-क्षारादिप्रदानादिकं कायगतम् । एवं त्रिविधं असमीक्ष्याधिकरणम् । (त. वृत्ति श्रुत. ७-३२) । ६. असमीक्ष्याधिकरणमनल्पीकरणं हि यत् । अर्थात् स्वार्थमसमीक्ष्य वस्तुनोऽनवधानतः । (लाटीसं. ६-१४४) । ७. असमीक्ष्यैव तथाविधकार्यमपर्यालोच्यैव प्रवणतया यद् व्यवस्थापितमधिकरणं वास्युदूखल-शिलापुत्रक-गोधूमयंत्रकादि तदसमीक्ष्याधिकरणम् । (धर्मवि. वृ. ३-३०) ।

२ प्रयोजन का विचार न करके अधिकता से प्रवृत्ति करने को असमीक्ष्याधिकरण कहते हैं । इसके तीन भेद हैं—मनोगत, वाग्गत और कायगत असमीक्ष्याधिकरण । मिथ्यादृष्टियों के द्वारा रचे गये अनर्थक काव्य आदि का चिन्तन करना मनोगत असमीक्ष्याधिकरण है । विना प्रयोजन दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाली कथाओं का कहना व स्वेच्छाचरिता से जो कुछ भी बोलना, यह वाग्गत असमीक्ष्याधिकरण है । विना प्रयोजन सचित्त-अचित्त पत्र व फल-फूल आदि का छेदन-भेदन आदि करना, तथा अग्नि-विष आदि का देना; यह कायगत असमीक्ष्याधिकरण है ।

असम्यक्त्व (अदर्शन) परीषह—असम्यक्त्वपरीषहः—सर्वपापस्थानेभ्यो विरतः प्रकृष्टतपोऽनुष्ठायी निःसंगश्चाहं तथापि धर्माधर्मात्मदेवनारकादिभावान्नेक्षे, अतो मृषा समस्तमेतदिति असम्यक्त्वपरीषहः । (आव. सू. हरि. वृ. ४, पृ. ६५८) ।

देखो अदर्शनपरीषह ।

असंकुट—सव्वं लोगागासं विआपदि त्ति असंकुडो । (धव. पु. १, पृ. १२०) ।

जीव केवलिसमुद्घात अवस्था में चूंकि सर्वलोकाकाश को व्याप्त करता है, अतः उसे असंकुट कहा जाता है ।

असंक्लिष्ट—दोषपरिहारी असंक्लिष्टः । (व्यव.

भा. मलय. वृ. ३–१६४, पृ. ३५)।
संक्लेश आदि दोष रहित व्यक्ति को असंक्लिष्ट कहते हैं।

असंक्षेपाद्धा—१. जहण्णओ आउअबंधकालो जहण्णविस्समणकालपुरस्सरो असंखेपाद्धा णाम। (धव. पु. ६, पृ. १६७ टि. १)। २. न विद्यते अस्मादन्यः संक्षेपः, स चासौ अद्धा च असंक्षेपाद्धा, आवल्यसंख्येयभागमात्रत्वात्। (गो. क. जी. प्र. टी. १५८)।
जिससे संक्षिप्त आयुबन्धकाल और न हो ऐसे आवलीके असंख्यातवें भाग मात्र काल को असंक्षेपाद्धा कहते हैं।

असंख्येय—१. संख्यामतीतोऽसंख्येयः। (स. सि. ५–८)। २. स (असंख्येयः कालः) च गणितविषयातीतत्वादुपमया कयाचिन्नियम्यते। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४–१५)। ३. संख्याविशेषातीतत्वादसंख्येयः। (त. वा. ५, ८, १)। ४. जो रासी एगेगरूवे अवणिज्जमाणे णिट्ठादि सो असंखेज्जो, जो पुण ण समप्पइ सो रासी अणंतो। (धव. पु. ३, पृ. २६७); ××× तदो (संखेज्जादो) उवरि जमोहिणाणविसओ तमसंखेज्जं णाम। (धव. पु. ३, पृ. २६८)।
१ जो राशि संख्या से रहित—गणनातीत—हो, वह असंख्येय या असंख्यात कही जाती है।

असंगानुष्ठान— यत्वभ्यासातिशयात् सात्मीभूतमिव चेष्टयते सद्भिः। तदसङ्गानुष्ठानं भवति त्वेतत् तदावेधात्॥ (षोडशक १०–७)।
जो अनुष्ठान पुनः पुनः सेवन रूप अभ्यास की अधिकता से किया जाता है उसे असंगानुष्ठान कहते हैं। यह अनुष्ठान के प्रीत्यनुष्ठान आदि चार भेदों में अन्तिम है।

असंघातित—असंपातितः एकफलकात्मकः। (व्यव. सू. भा. मलय. वृ. ८–८)।
जो संस्तारक (बिछाने का साधन) एक पटिये रूप होता है उसे असंपातित एकांगिक अपरिशाटिसंस्तारक कहते हैं।

असंज्ञित्व—××× भवदेवं यदि मनोऽन्तरेण ज्ञानोत्पत्तिमात्रमाश्रित्यासंज्ञित्वस्य निबन्धनमिति। (धव. १, पृ. ४०९); णोइंदियावरणस्स सव्वघादिफद्दयाणमुदएण असण्णित्तस्स दंसणादो। (धव. पु. ७, पृ. ११२)।
नोइन्द्रियावरण के सर्वघाति स्पर्धकों के उदय से जो जीव की अवस्था—मन के बिना शिक्षा उपदेशादि के न ग्रहण कर सकने योग्य—प्राप्त होती है उसे असंज्ञित्व कहते हैं।

असंज्ञिश्रुत—जस्स णं नत्थि ईहा अवोहो मग्गणा गवेसणा चिंता वीमंसा से णं असन्नीति लब्भइ। से तं कालिओवएसेणं। ××× जस्स णं नत्थि अभिसंधारणपुव्विआ करणसत्ती से णं असण्णीत्ति लब्भइ। से तं हेऊवएसेणं। ××× असण्णिसुअस्स खओवसमेणं असण्णी लब्भइ। से तं दिट्ठिवाओवएसेणं।×××से तं असण्णिसुअं। (नन्दी. सू. ३९)।
कालिक्युपदेश से, हेतूपदेश से और दृष्टिवादोपदेश से असंज्ञी तीन प्रकार का है। जिसके ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिन्ता और विमर्श नहीं होते वह कालिक्युपदेश से असंज्ञी कहा जाता है। विद्यमान अर्थ के पर्यालोचन का नाम ईहा और निश्चय का नाम अपोह है। अन्वय धर्म के अन्वेषण को मार्गणा और व्यतिरेक धर्म के स्वरूप के पर्यालोचन को गवेषणा कहा जाता है। यह कैसे हुआ, इस समय क्या करना चाहिए तथा भविष्य में यह कैसे होगा; इत्यादि विचार को चिन्ता और यथावस्थित वस्तु के स्वरूप के निर्णय को विमर्श कहते हैं। जो बुद्धिपूर्वक अपने शरीर के संरक्षणार्थ अभीष्ट आहारादि में प्रवृत्त नहीं हो सकता है तथा अनिष्ट से निवृत्त भी नहीं हो सकता है वह हेतु के उपदेश की अपेक्षा असंज्ञी कहा जाता है। दृष्टिवाद के उपदेशानुसार मिथ्यादृष्टि को असंज्ञी कहा जाता है। इन तीन प्रकार के असंज्ञियों के श्रुत को असंज्ञिश्रुत कहते हैं।

असंज्ञी—देखो असंज्ञिश्रुत। १. सम्यक् जानातीति संज्ञं मनः, तदस्यास्तीति संज्ञी। ××× [illegible] असण्णी दु॥ (धव. पु. १, पृ. १५२); शिक्षा-क्रियोपदेशालापग्राही संज्ञी, तद्विपरीतोऽसंज्ञी। (धव. पु. ७, पृ. ७)। २. तद्विपरीतो यः सोऽसंज्ञी कथितो जिनैः। ([illegible])। ३. ××× [illegible] (म. पु. पर्व १२, पृ. १५५–५६) [illegible]

असंज्ञी हेयादेयविवेचकः ॥ (पंचसं. अमित. ३१६, पृ. ४४)। ५. शिक्षोपदेशनालापग्राहिणः संज्ञिनो मताः। प्रवृत्तमानसप्राणा विपरीतस्त्वसंज्ञिनः ॥ (अमित. श्रा. ३–११)। ६. शिक्षा-क्रियोपदेशालापग्राहिकः संज्ञी, तद्विपरीतोऽसंज्ञी। (मूला. वृ. १२–१५६)। ७. यथोक्त- (विशिष्टस्मरणादिरूप-) मनोविज्ञान-विकला असंज्ञिनः। (जीवाजी. मलय. वृ. १-१३, पृ. १७); ये तु सम्मूर्च्छनजेभ्य उत्पन्नास्तेऽसंज्ञिनः। (जीवाजी. मलय. वृ. १-३२. पृ. ३५)। ८. संज्ञानं संज्ञा भूत-भवद्भाविभावस्वभावपर्यालोचनम्, सा विद्यते येषां ते संज्ञिनः, विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानभाजः इत्यर्थः। यथोक्तमनोविज्ञानविकलाः असंज्ञिनः। (पंचसं. मलय. वृ. १–५)।

१ जो जीव मन के न होने से शिक्षा, उपदेश और आलाप आदि को ग्रहण न कर सकें उन्हें असंज्ञी जीव कहते हैं।

असंतोष— तत्रासन्तोषास्तृप्त्यभावः। (योगशा. स्वो. विव. २–१०६)।

तृप्ति के अभाव को असन्तोष कहते हैं।

असंदिग्धत्व—१. असन्दिग्धत्वम् अशंशयकारिता। (समवा. अभय. वृ. ३५)। २. असन्दिग्धत्वं परिस्फुटार्थप्रतिपादनात्। (रायप. मलय. वृ. ४, पृ. २७)।

सन्देह या संशय से रहित वचन के प्रतिपादन को असन्दिग्धत्व कहते हैं। यह ३५ सत्यवचनातिशयों में ११वां है।

असंदिग्धवचनता—असन्दिग्धवचनता परिस्फुट-वचनता। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १–५८, पृ. ३९)।

सन्देह रहित स्पष्ट वचनों के बोलने को असन्दिग्ध-वचनता कहते हैं। यह चार प्रकार की वचन-सम्पत् में चौथा है।

असंप्राप्त उदय—१. असंपत्तउदओ णाम अपत्त-कालियं पओगेण कालपत्तेण समं वेदिज्जति। स च्चेव ठिइउदीरणा वुच्चइ। (कर्मप्र. चू. उदी. गा. २९, पृ. ४३)। २. यत्पुनरकालप्राप्तं कर्मदलिक-मुदीरणाप्रयोगेण वीर्यविशेषसंज्ञितेन समाकृष्य काल-प्राप्तेन दलिकेन सहानुभूयते सोऽसम्प्राप्त्युदयः। (कर्मप्र. मलय. वृ. २९, पृ. ४३; कर्मप्र. यशो. वृ. २९, पृ. ४४)।

२ जो कर्मदलिक उदय को प्राप्त नहीं हुआ है उसका वीर्यविशेषरूप उदीरणा के प्रयोग से अपकर्षण करके उदयप्राप्त दलिकके साथ वेदन करना, इसका नाम असंप्राप्त उदय है।

असंबद्धप्रलाप — १. धर्मार्थ-काम-मोक्षाऽसम्बद्धा वाग् असंबद्धप्रलापः। (त. वा. १, २०, १२, पृ. ७५)। २. धम्मत्थ-काम-मोक्खाऽसम्बद्धवयमसंबद्धा-लाओ। (अंगपण्णत्ती पृ. २९२)।

१ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से असम्बद्ध वचनों को असम्बद्धप्रलाप कहते हैं।

असंभव—१. बाधितलक्ष्यवृत्त्यसम्भवि। (न्यायदी. पृ. ६)। २. लक्ष्ये त्वनुपपन्नत्वमसंभव इतीरितः। (मोक्षपं. १७)।

जो लक्षण लक्ष्य में ही न रहता हो उसे असम्भवी कहते हैं। असम्भव नाम भी इसी लक्षणदोष का है।

असंयत—१. असंजदो णाम कथं भवदि? संजम-घादीणं कम्माणमुदएण। (षट्खं. २, १, ५४–५५ पु. ७, पृ. ९५)। २. चारित्रमोहस्य सर्वघातिस्पर्ध-कस्योदयात् असंयत औदयिकः। (स. सि. २–६; त. सुखबो. २–६; त. वृत्ति श्रुत. २–६)। ३. जीवा चउदसभेया इंदियविसया य अट्ठवीसं तु। जे तेसु णेव विरया असंजया ते मुणेयव्वा॥ (प्रा. पंचसं. १–१३७; धव. पु. १, पृ. ३७३ उ.)। ४. चारित्र-मोहोदयादनिवृत्तिपरिणामोऽसंयतः। चारित्रमोहस्य सर्वघातिस्पर्धकोदयात् प्राण्युपघातेन्द्रियविषये द्वेपा-भिलापनिवृत्तिपरिणामरहितोऽसंयत औदयिकः। (त. वा. २, ६, ६)। ५. संज्वलनवर्जकपायद्वादशको-दयादसंयतत्वमेकरूपम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. २–६)। ६. वृत्तिमोहोदयात् पुंसोऽसंयतत्वं प्रचक्ष्यते। (त. श्लो. २, ६, १०)। ७. महता तपसा युक्तो मिथ्या-दृष्टिरसंयतः। (वरांग. २६–९७)।

४ चारित्रमोहनीय कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय से प्राणिहिंसा और इन्द्रियविषयों में क्रम से द्वेष और अभिलाषा की निवृत्तिरूप परिणाम का न होना, इसका नाम असंयत है।

असंयतसम्यग्दृष्टि—१. सम्यक्त्वोपेतश्चारित्रमो-दयादि(दा)पादिताविरतिरसंयतसम्यग्दृष्टिः। औप-शमिकेन क्षायोपशमिकेन क्षायिकेण वा सम्यक्त्वेन समन्वितचारित्रमोहोदयादत्यन्तमविरतिपरिणामप्रव-णोऽसंयतसम्यग्दृष्टिरिति व्यपदिश्यते। (त. वा. ९, १, १५)। २. वृत्तमोहस्य पाकेन जनिताविरति-र्भवेत्। जीवः सम्यक्त्वसंयुक्तः सम्यग्दृष्टिरसंयतः॥

(त. सा. २–२१)। ३. पाकाच्चारित्रमोहस्य व्यस्तप्राण्यक्षसंयमः। त्रिष्वेकतमसम्यक्त्वः सम्यग्दृष्टिरसंयतः॥ (पंचसं. अमित. ६–२३)।

१ सम्यग्दर्शन से युक्त होकर जो चारित्रमोहनीय के उदय से संयमभाव से विहीन है, उसे असंयतसम्यग्दृष्टि कहते हैं।

असंयम—१. असंयमो ह्यविरतिलक्षणः। (आव. नि. हरि. व मलय. वृ. ७४०)। २. प्राणातिपातादिलक्षणोऽसंयमः। (आव. हरि. वृ. ११०६, पृ. ५१६))। ३. छक्कायवहो मण-इंदियाण अजमो असंजमो भणिओ। इति बारसहा × × ×॥ (पंचसं. च. ४–३)। ४. षट्कायवधो मनइन्द्रियाणामयमोऽसंयमो भणित इति द्वदशधा। (पंचसं. स्वो. वृ. ४–३)। ५. प्राणिघाताक्षविषयभावेन स्यादसंयमः। (त. सा. २–८५)। ६. षण्णां कायानां पृथिव्यप्तेजोवायु-वनस्पति-त्रसलक्षणानां वधो हिंसा, तथा मनसोऽन्तःकरणस्येन्द्रियाणां च श्रोत्रादीनां पञ्चानां स्व-स्वविषये यथेच्छं प्रवर्तमानानामयमोऽनियंत्रणमिति, एवममुना प्रकारेण द्वादशधा द्वादशप्रकारोऽसंयमोऽविरतिरूपो भणितः। (पंचसं. मलय. वृ. ४–३)। ७. व्रताभावात्मको भावो जीवस्यासंयमो मतः। (पंचाध्यायी २–११३३)।

३ षट्काय जीवों का घात करने तथा इन्द्रिय और मन के नियन्त्रित न रखने का नाम असंयम है।

असंविग्न—असंविग्नाः शिथिलाः पार्श्वस्थादयः। (बृहत्क. वृ. ४२१)।

पार्श्वस्थ आदि शिथिलाचारी साधुओं को असंविग्न कहते हैं।

असंवृतबकुश—प्रकटकारी तु असंवृतबकुशः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–४९; प्रव. सारो. वृ. ७२४; धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३–५६, पृ. १२५)।

जो शरीर व उपकरणों की विभूषा आदि को प्रगट में किया करते हैं, ऐसे साधुओं को असंवृतबकुश कहते हैं।

असंसार—अनागतिरसंसारः शिवपदपरमामृतसुखप्रतिष्ठा। (त. वा. ९, ७, ३)।

आगति—संसार परिभ्रमण—से रहित होकर मुक्ति के सर्वोत्कृष्ट सुख में प्रतिष्ठित होना, यह आत्मा की असंसार (सिद्ध) अवस्था है।

असंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना — न संसारोऽसंसारी मोक्षस्तं समापन्ना मुक्तास्ते च ते जीवाश्च तेषां प्रज्ञापना। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १–५)।

मोक्ष को प्राप्त हुए सिद्ध जीवों की प्रज्ञापना अर्थात् प्ररूपणा करने को असंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना कहते हैं।

असंस्कृत (असंखय)—उत्तरकरणेण कयं जं किंची संखयं तु नायव्वं। सेसं असंखयं खलु असंखयस्सेस निज्जुत्ती॥ (उत्तरा. नि. १८२)।

अपने कारणों से उत्पन्न घटादि के उत्तरकाल में विशेषाधानस्वरूप उत्तरकरण के द्वारा जो निर्मित होता है उसे संस्कृत कहते हैं। इसको छोड़कर शेष सब असंस्कृत कहे जाते हैं।

असंहार्यमति—संहार्या क्षेप्या परकीयागमप्रक्रियाभिरसमञ्जसाभिर्बुद्धिर्यस्यासौ संहार्यमतिः, न संहार्यमतिरसंहार्यमतिर्भगवदर्हत्प्रणीततत्त्वश्रद्धा। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–१८)।

जिसकी अर्हदुपदिष्ट तत्त्वों पर श्रद्धा हो तथा जिसकी बुद्धि असमीचीन मिथ्यादृष्टियों की आगम-प्रक्रियाओं से अपहृत नहीं की जा सकती है उसे असंहार्यमति कहते हैं।

असात—१. असादं दुक्खं। (धव. पु. ६, पृ. ३५)। २. अनारोग्यादिजनितं दुःखमसातम्। (शतक. मल. हेम. वृ. ३७, पृ. ४५)।

२ रोग आदि के होने से जो पीड़ा होती है उसका नाम असात है।

असातवेदनीय—१. परितापरूपेण यद्वेद्यते तदसातवेदनीयम्। (श्रा. प्र. टी. १४; धर्मसंग्रहणी मलय. वृ. ६११)। २. यदुदयान्नरकादिगतिषु शारीर-मानसदुःखानुभवनं तदसातवेदनीयम्। (मूला. वृ. १२-१८९)। ३. असादं दुक्खम्, तं वेदावेदि भुंजावेदि त्ति असादवेदणीयं। (धव. पु. ६, पृ. ३५)। ४. अनारोग्यादिजनितं दुःखमसातम्, तद्रूपेण विपाकेन वेद्यते तदसातवेदनीयम्। (शतक. मल. हेम. वृ. ३७, पृ. ४५)। ५. यदुदयात् पुनः शरीरे मनसि च दुःखमनुभवति तदसातवेदनीयम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३–२९३, पृ. ४६७)। ६. [illegible] तदसातवेदनीयम्। (गो. क. जी. प्र. टी. २५)।

१ जिस कर्म का वेदन—अनुभवन—परिताप के साथ किया जाता है उसे असातवेदनीय कहते हैं।

असातसमयप्रवद्ध—अकम्मसरूवेण ट्ठिदा पोग्गला असादकम्मसरूवेण परिणदा जदि होंति, ते असाद-समयपवद्धा णाम। (धव. पु. १२, पृ. ४८६)।

अकर्मस्वरूप से स्थित पुद्गल जब असातावेदनीय कर्म के स्वरूप से परिणत होते हैं तब उनका नाम असातसमयप्रवद्ध होता है।

असातावेदनीय— असादं दुक्खं, तं वेदावेदि भुंजावेदि त्ति असादावेदणीयं। (धव. पु. ६, पृ ३५); जीवस्स सुहसहावस्स दुक्खुप्पाययं दुक्खपसमण-हेदुदव्वाणमवसारयं च कम्ममसादावेदणीयं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३५७)।

असाताका अर्थ दुःख होता है, उस दुःख का जो वेदन कराता है उसे असातावेदनीय कर्म कहते हैं।

असामान्य स्थिति—एक्कम्हि ट्ठिदिविसेसे जम्हि समयपवद्धसेसयमत्थि सा ट्ठिदी सामण्णा त्ति णाद-व्वा। जम्हि णत्थि सा ट्ठिदी असामण्णा त्ति णाद-व्वा। (कसायपा. चू. पृ. ८३५)।

जिस स्थितिविशेष में समयप्रवद्ध शेष नहीं पाये जाते हैं उसे असामान्य स्थिति कहते हैं।

असावद्य कर्मार्य — असावद्यकर्मार्याः संयताः, कर्मक्षयार्थोद्यतविरतिपरिणतत्वात्। (त. वा. ३, ३६, २)। २. असावद्यकर्मार्यास्तु यतयः। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३६)।

असि-मषी आदि सावद्य कर्मों से रहित होकर कर्म-क्षयजनक विरति में परिणत हुए मुनियों को असा-वद्यकर्मार्य कहते हैं।

असिकर्मार्थ — १. असिधनुरादिप्रहरणप्रयोग—कुशलाः असिकर्मार्याः। (त. वा. ३, ३६, २)। २. असि-तरवारि-वसुनन्दक-धनुर्बाण-छुरिका-कट्टा-रक-कुन्त-पट्टिश-हल-मुशल-गदा-भिंडिमाल- लोहघन-शक्ति-चक्रायुधचञ्चवः असिकर्मार्याः उच्यन्ते। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३६, पृ. ३६६)।

१ खड्ग व धनुष आदि शस्त्रों के प्रयोग करने में कुशल आर्यों को असिकर्मार्य कहते हैं।

असिद्ध—संशयादिव्यवच्छेदेन हि प्रतिपन्नमर्थस्वरूपं सिद्धम्, तद्विपरीतमसिद्धम्। (प्र. क. मा. ३–२०, पृ. ३६६)।

जिसका स्वरूप प्रमाण से सिद्ध न हो, ऐसे पदार्थ (साध्य) को असिद्ध कहते हैं।

असिद्धत्व—१. कर्मोदयसामान्यापेक्षोऽसिद्धः। अना-दिकर्मबन्धसन्तानपरतंत्रस्यात्मनः कर्मोदयसामान्ये सति असिद्धत्वपर्यायो भवतीत्यौदयिकः। (त. वा. २, ६, ७; त. सुखबो. २–६)। २. असिद्धत्तं अट्ठ-कम्मोदयसामण्णं। (धव. पु. ५, पृ. १८६); अघाइकम्मचउक्कोदयजणिदमसिद्धत्तं णाम। (धव. पु. १४, पृ. १३)। ३. कर्ममात्रोदयादेवासिद्धत्वम्। (त. श्लो. २, ६, १०)।

१ कर्मसामान्य का उदय होने पर जो जीव की अवस्थाविशेष होती है उसका नाम असिद्धत्व है।

असिद्धहेत्वाभास — १. असिद्धस्त्वप्रतीतो यः ×××। (न्यायावतार, २३)। २. अन्यथा च संभूष्णुरसिद्धः। (सिद्धिवि. स्वो. वृ. ६–३२, पृ. ४३०, पं. ३)। ३. असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः। (परीक्षा. ६-२२)। ४. यस्यान्यथानुपपत्तिः प्रमाणेन न प्रतीयते सोऽसिद्धः। (प्र. न. त. ६–४८)। ५. नासन्ननिश्चितसत्त्वो वान्यथानुपपन्न इति सत्त्वस्या-सिद्धौ सन्देहे वाऽसिद्धः। (प्रमाणमी. २, १, १७)। ६. अनिश्चितपक्षवृत्तिरसिद्धः। (न्यायदी. ३, पृ. ८६); अनिश्चियपथप्राप्तोऽसिद्धः। (न्यायदी. पृ. १००)।

६ पक्ष में जिस हेतु के रहने का निश्चय न हो उसे असिद्धहेत्वाभास कहते हैं।

असुखकरुणा—असुखं सुखाभावः, यस्मिन् प्राणिनि दुःखिते सुखं नास्ति तस्मिन् याऽनुकम्पा लोकप्रसिद्धा आहार-वस्त्र-शयनासनादिप्रदानलक्षणा सा द्वितीया। (षोडशक वृ. १३–६)।

जिनके सुख नहीं, ऐसे दुखी प्राणियों पर अनुकम्पा या दया के करने को असुखकरुणा कहते हैं।

असुर —१. देवगतिनामकर्मविकल्पस्यासुरत्वसंवर्त-नस्य उदयादस्यन्ति परानित्यसुराः। (स. सि. ३–५; त. वा. ३, ५, २; त. वृत्ति श्रुत. ३-५; त. सुखबो. ३–५)। २. तत्र अहिंसाद्यनुष्ठानरतयः सुरा नाम। तद्विपरीताः (हिंसाद्यनुष्ठानरतयः) असुराः। (धव. पु. १३, पृ. ३९१)।

२ जिनका स्वभाव अहिंसा आदि के अनुष्ठान में अनुराग रखने वाले सुरों से विपरीत होता है उनका नाम असुर है।

असुरकुमार—१. गम्भीराः श्रीमन्तः काला महा-काया रत्नोत्कटमुकुटभास्वराश्चूडामणिचिह्ना असुर-कुमाराः। (त. भा. ४–११)। २. असुरकुमारास्त-

थाविधनामकर्मोदयान्निचितशरीरावयवाः सर्वांगोपांगेषु परमलावण्याः कृष्णरुचयो रत्नोत्कटमुकुटभास्वरा महाकायाः। (संग्रहणी देवभद्र वृ. १७)। ३. असुरकुमारा भवनवासिनश्चूडामणिमुकुटरत्नाः। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, १, ११७)। ४. अस्यन्ति क्षिपन्ति देवान् सुरान् ते असुराः कुमाराकाराः, कुमारवत् क्रीडाप्रियत्वाच्च कुमाराः, ते च ते कुमाराश्च असुरकुमाराः। (दण्डकप्र. वृ. २)।

१ जो भवनवासी देव गम्भीर, शोभासम्पन्न, वर्ण से कृष्ण, महाकाय और अपने मुकुट में चूड़ामणि रत्न को धारण करते हैं उन्हें असुरकुमार कहते हैं।

असूया—१. असूया क्रोधपरिणाम एव। यथाऽयं ते पिता गतासुकस्तनुः। (त. भा. हरि. वृ. ६–१)। २. असूया क्रोधविशेष एव। यथा—राजपत्न्यभिरतोऽयम्, तथापि शुद्धवृत्तमात्मनं मन्यते इति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–१)। ३. गुणेषु दोषाविष्करणं ह्यसूया। (स्या. मं. टी. ३)।

२ विशेष प्रकार के क्रोध का नाम असूया है। जैसे—राजपत्नी में रत होता हुआ भी यह अपने को सदाचारी मानता है। ३ दूसरे के गुणों में दोषों के निकालने को असूया कहते हैं।

असृज्—असृग् रक्तं रससम्भवो धातुः। (योगशा. स्वो. विव. ४–७२)।

रस से उत्पन्न होने वाली रक्तरूप धातु का नाम असृज् है।

अस्ति-अवक्तव्यद्रव्य—१. सब्भावे आइट्ठो देसो देसो य उभयहा जस्स। तं अत्थि अवत्तव्वं च होइ दवियं वियप्पवसा। (सम्मति. ३, १, ३८ पृ. ४४६)। २. स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैर्युगपत्स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैश्चादिष्टमस्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम्। (पंचा. का. अमृत. वृ. १४)।

२ स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के साथ ही युगपत् स्व-परद्रव्यादिचतुष्टय से विवक्षित द्रव्य को अस्ति-अवक्तव्य कहते हैं।

अस्तिकाय—१. जेसिं अत्थि सहाओ गुणेहिं सह पज्जएहिं विविहेहिं। ते होंति अत्थिकाया णिप्पण्णं जेहिं तइलुक्कं॥ (पंचा. का. ५)। २. प्रदेशप्रचयो हि कायः, स एषामस्ति ते अस्तिकायाः जीवादयः पञ्चैवोपदिष्टाः। (त. वा. ५, १४, ५)। ३. जेसिं जदो तेणेदे अत्थि त्ति भणंति जिणवरा जम्हा। काया इव बहुदेसा तम्हा काया य अत्थिकाया य। (द्रव्यसं. २४)। ४. अस्तयः प्रदेशास्तेषां कायः संघातः अस्तिकायः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ४१; प्रज्ञाप. मलय. वृ. १–३; जीवाजी. मलय. वृ. ४)।

१ जिनका गुणों और अनेक प्रकार की पर्यायों के साथ अस्ति स्वभाव है—अभेद या तद्रूपता है—वे अस्तिकाय कहलाते हैं।

अस्तित्व—१. अस्तित्वं भावानां मौलो धर्मः सत्तारूपत्वम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. २–७)। २. तत्रास्तित्वं परिज्ञेयं सद्भूतत्वगुणं पुनः। (द्रव्यानु. ११–२)।

१ पदार्थों के सत्तारूप मौलिक धर्म का नाम अस्तित्व है। यह जीवादि पदार्थों का साधारण अनादि पारिणामिक भाव है।

अस्तिद्रव्य— स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैरादिष्टमस्तिद्रव्यम्। (पंचा. का. अमृत. वृ. १४)।

स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से विवक्षित द्रव्य को अस्तिद्रव्य (कथंचित् द्रव्य है) कहते हैं।

अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यद्रव्य—१. सब्भावासब्भावे देसो देसो य उभयहा जस्स। तं अत्थि णत्थि अवत्तव्वयं च दवियं वियप्पवसा॥ (सम्मति. ३, १, ४० पृ. ४४७)। २. स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैः परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैश्च युगपत्स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैश्चादिष्टमस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम्॥ (पंचा. का. अमृत. वृ. १४)।

२ स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से क्रमशः तथा स्व और पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से युगपत् विवक्षित द्रव्य को अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यद्रव्य कहते हैं।

अस्ति-नास्तिद्रव्य—१. अह देसो सब्भावे देसोऽसब्भावपज्जवे णियओ। तं दवियमत्थि णत्थि य आएसविसेसियं जम्हा॥ (सम्मति. ३, १, ३७ पृ. ४४६)। २. स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैः परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावैश्च क्रमेणादिष्टमस्ति च नास्ति च द्रव्यम्। (पंचा. का. अमृत. वृ. १४)।

२ स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा क्रम से विवक्षित द्रव्य को अस्ति-नास्तिद्रव्य कहते हैं।

अस्ति-नास्तिप्रवादपूर्व—१. पञ्चानामस्तिकायानामर्थो नयानां चानेकपर्यायैरिदमस्तीदं नास्तीति च कात्स्न्येन यत्रावभासितं तदस्ति-नास्तिप्रवादम्। अथवा पण्णामपि द्रव्याणां भावाभावपर्यायविधिना स्व-परपर्यायाभ्यामुभयनयवशीकृताभ्यामर्पितानर्पित-सिद्धाभ्यां यत्र निरूपणं तदस्ति-नास्तिप्रवादम्। (त. वा. १, २०, १२)। २. अत्थिणत्थिपवादं णाम पुव्वं अट्ठारसण्हं वत्थूणं १८ सट्ठितिसदपाहुडाणं ३६० सट्ठिलक्खपदेहि ६०००००० जीवाजीवाणं अत्थि-णत्थित्तं वण्णेदि। (धव. पु. १, पृ. ११५); पण्णामपि द्रव्यणां भावाभावपर्यायविधिना स्व-पर-पर्यायाभ्यामुभयनयवशीकृताभ्यामर्पितानर्पितसिद्धाभ्यां यत्र निरूपणं षष्ठिपदशतसहस्रैः ६०००००० क्रियते तदस्तिनास्तिप्रवादम्। (धव. पु. ९, पृ. २१३)। ३. अत्थि-णत्थिपवादो सव्वदव्वाणं सरूवादिच-उक्केण अत्थित्तं पररूवादिचउक्केण णत्थित्तं च परूवेदि। विहि-पडिसेहधम्मे णयगहणलीणे णाणादुण्णयणिराकरणदुवारेण परूवेदि त्ति भणिदं होदि। (जयध. १, पृ. १४०)। ४. यद्यथा लोके अस्ति नास्ति च तद्यत्र तथोच्यते तदस्ति-नास्तिप्रवादम्। (समवा. अभय. वृ. १४); यल्लोके यथास्ति यथा वा नास्ति, अथवा स्याद्वादाभिप्रायतः तदेवास्ति नास्ति वेत्येवं प्रवदतीत्यस्ति-नास्तिप्रवादम्। (समवा. अभय. वृ. १८)। ५. षष्टिलक्षपदं षट्पदार्थानामनेकप्रकारैरस्तित्व-नास्तित्वधर्मसूचकमस्ति-नास्तिप्रवा—दम्। (श्रुतभ. टी. ११)। ६. जीवादिवस्तु अस्ति नास्ति चेति प्रकथकं षष्ठिलक्षपदप्रमाणं अस्ति-नास्तिप्रवादपूर्वम्। (त. वृत्ति श्रुत. १–२०)। ७. सिय अत्थि-णत्थिपमुहा तेसिं इह रूवणं पवादो त्ति। अत्थि यदो तो वम्मा (?) अत्थि-णत्थिपवादपुव्वं च॥ (अंगप. २–५२, पृ. २८६)।

२ भाव पर्याय व अभाव पर्याय विधि से जिस पूर्व-श्रुत में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन उभय नयों के आश्रित स्व पर्याय और पर पर्याय—स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव—से विवक्षा के अनुसार छहों द्रव्यों की प्ररूपणा की जाती है उसे अस्ति-नास्तिप्रवादपूर्व कहते हैं। उसके पदों की संख्या साठ लाख है।

अस्तिस्वभाव—अस्तिस्वभाव आम्नातः स्वद्रव्यादिग्रहे नये। (दव्यानु. १३–१)।

स्वदव्य-क्षेत्रादि के द्वारा वस्तु के अस्तित्व के ग्रहण करने वाले नयका विषय अस्तिस्वभाव है।

अस्तेयमहाव्रत—१. क्षेत्रे पथि कले वापि स्थितं नष्टं च विस्मृतम्। हार्यं न हि परद्रव्यमस्तेयव्रत-मुच्यते। (वरांग. १५–११४)। २. अनादानमदत्तस्याऽस्तेयव्रतमुदीरितम्। (त्रि. श. पु. च. १, ३, ६२४)। ३. सकलस्याप्यदत्तस्य ग्रहणाद् विनिवर्तनम्। सर्वथा जीवनं यावत् तदस्तेयव्रतं मतम्। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३, ४२, पृ. १२४)।

१ खेत, मार्ग और कल (कीचड़) आदि में स्थित, नष्ट और विस्मृत दूसरे की वस्तु के ग्रहण न करने को अस्तेयव्रत कहते हैं।

अस्त्रमुद्रा—दक्षिणकरेण मुष्टिं बद्ध्वा तर्जनी-मध्यमे प्रसारयेत् इति अस्त्रमुद्रा। (निर्वाणक. पृ. ३१)।

दाहिने हाथ से मुट्ठी बांधकर तर्जनी और मध्यमा अंगुलियों के फैलाने को अस्त्रमुद्रा कहा जाता है।

अस्थि—××× अस्थि कीकसं मेद्रसम्भवम्। (योगशा. स्वो. विव. ४–७२)।

मेदा से उत्पन्न होने वाली कीकस (हड्डी) धातु को अस्थि कहते हैं।

अस्थितिकरण— परीषहोपसर्गाभ्यां सन्मार्गाद् भ्रश्यतां नृणाम्। स्वशक्तौ न स्थितिं कुर्यादस्थितीकरणं मतम्॥ (धर्मसं. श्रा. ४–५०)।

परीषह और उपसर्ग आदि से पीड़ित होकर सन्मार्ग से भ्रष्ट होने वाले मनुष्यों को अपनी शक्ति के होने पर भी उसमें स्थिर नहीं करना अस्थितिकरण दोष कहलाता है।

अस्थिरनाम—१. तद्विपरीतं (अस्थिरभावस्य निवर्तकम्) अस्थिरनाम। (स. सि. ८–११; त. भा. ८–१२; त. वा. ८, ११, ३५; त. श्लो. ८, ११)। २. तद्विपरीतमस्थिरनाम। यदुदयादीपदुपवासादिकरणात् स्वल्पशीतोष्णादिसम्बन्धाच्च अङ्गोपाङ्गानि कृशीभवन्ति तदस्थिरनाम। (त. वा. ८, ११, ३५)। ३. यदुदयात्तदवयवानामेव (शरीरावयवानामेव) चलता भवति कर्ण-जिह्वादीनाम्। (श्रा. प्र. टी. २३)। ४. जस्स कम्मस्स उदएण रस-रुहिर-मांस-मेद-मज्जट्ठि-सुक्काणं परिणामो होदि तमथिरं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ६३); जस्स कम्मस्सुदएण रसादीणमुवरिमधादुसरूवेण परिणामो होदि तमथिरं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६५)। ५. अस्थिरना-

मोदयादस्थिराणि जीवानामङ्गोपाङ्गानि भवन्ति। (पंचसं. स्वो. वृ. ३–६)। ६. अस्थिरनामापि शरीरावयवानामेव, यदुदयादस्थिरता चलता मृदुता भवति कर्ण-त्वगादीनां तदस्थिरनामेति। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८–१२)। ७. चलभावनिवर्तकमस्थिरनाम। (भ. आ. विजयो. टी. २१२४)। ८. जीहा-भमुहाईणं अंगावयवाण जस्स उदएणं। निप्फत्ती उ सरीरे जायइ तं अथिरनामं तु। (कर्मवि. गर्ग. १४१, पृ. ५७)। ९. यदुदयाद् [अस्थ्यादयः शरीरावयवाः] जिह्वादिवदस्थिरा भवन्ति तदस्थिरनाम। (कर्मस्तव गो. वृ. ६–१०, पृ. ८७)। १०. यतश्च भ्रू-जिह्वादीनामस्थिराणां निष्पत्तिर्भवति तदस्थिरनाम। (समवा. अभय. वृ. ४२)। ११. यदुदयात् एतेषां रसादिसप्तधातूनामस्थिरत्वमुत्तरोत्तरपरिणामो भवति तदस्थिरनाम। (मूला. वृ. १२–१९६)। १२. यदुदये जीवस्यास्थिरा ग्रीवादयो भवन्ति तदस्थिरनाम। (कर्मवि. पू. व्या. ७५, पृ. ३३)। १३. यस्योदयादीषदुपवासादिकरणे स्वल्पशीतोष्णादिसम्बन्धाद्वाऽङ्गोपाङ्गानि कृशीभवन्ति तदस्थिरनाम। (त. सुखबो. वृ. ८–११)। १४. यदुदयवशाज्जिह्वादीनामवयवानामस्थिरता भवति तदस्थिरनाम। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३–१९३, पृ. ४७४; धर्मसंग्रहणी मलय. वृ. ६२०; षष्ठ कर्म. मलय. वृ. ६; पंचसं. मलय. वृ. ३–८, पृ. ११७; प्रव. सारो. वृ. १२६५)। १५. यदुदयेन भ्रू-जिह्वाद्यवयवा अस्थिरा भवन्ति तदस्थिरनाम। (शतक. मल. हेम. वृ. ३७–३८, पृ. ५०; कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ५०, पृ. ५८)। १६. जिह्वा-भ्रूप्रभृतीनामंगावयवानां यस्य कर्मण उदयान्निष्पत्तिः (पुनः) शरीरे जायते तत् अस्थिरनाम। (कर्मवि. परमा. व्या. वृ. १४१, पृ. ५८)। १७. धातूपधातूनां स्थिरभावेनानिवर्तनं यतस्तदस्थिरनाम। (गो. क. जी. प्र. टी. ३३)। १८. अस्थिरभावकारणमस्थिरनाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८–११)। १९. तद्विपरीतमस्थिरनाम, यदुदयाज्जिह्वादीनां शरीरावयवानामस्थिरता। (कर्मप्र. यशो. वृ. १, पृ. ७–८)।

२. जिसके उदय से कुछ उपवास आदि के करने से तथा थोड़े शीत या उष्णता के सम्बन्ध से अंग-उपांग कृशता को प्राप्त होते हैं उसे अस्थिर नामकर्म कहते हैं। ३ जिस कर्म के उदय से शरीर के कान व जीभ आदि अवयवों में अस्थिरता या चंचलता हो उसे अस्थिर नामकर्म कहते हैं।

अस्नानव्रत (अण्हाण)—१. ण्हाणादिवज्जणेण य विलित्तजल्ल-मल-सेदसव्वंगं। अण्हाणं घोरगुणं संजमदुगपालयं मुणिणो॥ (मूला. १–३१)। २. संयमद्वयरक्षार्थं स्नानादेर्वर्जनं मुनेः। जल्ल-स्वेदमलालिप्तगात्रस्यास्नानता स्मृता॥ (आचा. सा. १–४३)।

१ शरीर के जल्ल (सूखा मैल), मल और पसीना से लिप्त होने पर भी इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम की रक्षा के लिए स्नान के सर्वथा परित्याग को अस्नानव्रत कहते हैं। यह मुनि के २८ मूलगुणों में से एक है।

अहंकार—१. अहंकृतिरहंकारोऽहमस्य स्वामीति जीवपरिणामः। (युक्त्यनु. टी. ५२, पृ. १३२)। २. ये कर्मकृता भावाः परमार्थनयेन चात्मनो भिन्नाः। तत्रात्माभिनिवेशोऽहंकारोऽहं यथा नृपतिः॥ (तत्त्वानु. १५)। ३. अहंकारोऽहमेव रूपसौभाग्यसम्पन्न इति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–१०)। ४. कर्मजनितदेह-पुत्र-कलत्रादौ ममेदमिति ममकारस्तत्रैवाभेदेन गौर-स्थूलादिदेहोऽहं राजाहमित्यहंकारलक्षणमिति। (वृ. द्रव्यसं. टी. ४१)।

२ जो कर्मजनित भाव वस्तुतः आत्मा से भिन्न हैं उनमें अपनेपन का जो दुराग्रह होता है उसका नाम अहंकार है।

अहर्निश — अहोरात्रमष्टप्रहरात्मकमहर्निशम्। (आव. नि. हरि. वृ. ६६३)।

आठ पहरों के समुदायरूप दिन-रात को अहर्निश कहते हैं।

अहिंसा—अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति। (पु. सि. ४४)।

रागादि भावों की अनुद्भूति या अनुत्पत्ति को अहिंसा कहते हैं।

अहिंसाणुव्रत—१. संकल्पात् कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्त्वान्। न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद् विरमणं निपुणाः॥ (रत्नक. श्लो. ५३)। २. त्रसप्राणिव्यपरोपणान्निवृत्तोऽगारीत्याद्यमणुव्रतम्। (स. सि. ७–२०)। ३. [illegible] स्थूलादिरतिः। (पद्म. १४–१८४)। ४. [illegible] [illegible] [illegible]

मणुव्रतम् । (त. वा. ७, २०, १) । ५. देवतातिथिप्रीत्यर्थं मंत्रौषधिभयाय च । न हिंस्याः प्राणिनः सर्वे अहिंसा नाम तद्व्रतम् ।। (वराङ्ग. १५-११२)। ६. त्रसस्थावरकायेषु त्रसकायाऽपरोपणात् । विरतिः प्रथमं प्रोक्तमहिंसाख्यमणुव्रतम् ।। (ह. पु. ५८-१३८)। ७. वावरेइ सदओ अप्पाण समं परं पि मण्णंतो । णिंदण-गरहणजुत्तो परिहरमाणो महारंभे ।। तसघादं जो ण करदि मणवयकाएहिं णेव कारयदि । कुव्वंतं पि ण इच्छदि पढमवयं जायदे तस्स ।। (कार्तिके. ३३१-३२)। ८. अणुव्रतं द्वीन्द्रियादीनां जङ्गमप्राणिनां प्रमत्तयोगेन प्राणव्यपरोपणान्मनोवाक्कायैश्च निवृत्तः । (चा. सा. पृ. ४) । ९. शुद्धीन्द्रियाणि भेदेषु चतुर्धा त्रसकायिकाः । विज्ञाय रक्षणं तेषामहिंसाणुव्रतं मतम् ।। (सुभा. सं. ७६४) । १०. शान्ताद्यष्टकषायस्य सङ्कल्पैर्नवभिस्त्रसान् । अहिंसतो दयार्द्रस्य स्यादहिंसेत्यणुव्रतम् ।। (सा. ध. ४–७) । ११. देवयपियर-णिमित्तं मंतोसहिजंतभयणिमित्तेण । जीवा ण मारियव्वा पढमं तु अणुव्वयं होइ ।। (ध. र. १४३)। १२. योगत्रयस्य सम्बन्धात् कृतानुमतकारितैः । न हिनस्ति त्रसान् स्थूलमहिंसाव्रतमादिमम् ।। (भावसं. वाम. ४५२) । १३. देवता-मंत्रसिद्धयर्थं पर्वण्यौषधिकारणात् । न भवन्त्यङ्गिनो हिंस्याः प्रथमं तदणुव्रतम् ।। (पूज्य. उपा. २३) । १४. त्रसानां रक्षणं स्थूलदृष्टसंकल्पनागसाम् (?) । निःस्वार्थं स्थावराणां च तदहिंसाव्रतं मतम् ।। (धर्मसं. श्रा. ६–८) । १५. त्रसहिंसापरित्यागलक्षणोऽणुव्रताऽऽह्वये । (लाटीसं. ५–२६१) । १६. निरागो द्वीन्द्रियादीनां संकल्पाच्चानपेक्षया । (धर्मसं. मान. २–२५, पृ. ५७) ।

१ मन, वचन और काय से तथा कृत, कारित और अनुमोदना से त्रस जीवों की सांकल्पिक हिंसाका परित्याग करने को अहिंसाणुव्रत कहते हैं।

अहिंसामहाव्रत—१. कुल-जोणि-जीव-मग्गण-ठाणाइसु जाणिऊण जीवाणं । तस्सारंभणियत्तणपरिणामो होइ पढमवदम् ।। (नि. सा. ५६) । २. कायेंदियगुण-मग्गण-कुलाउ-जोणीसु सव्वजीवाणं । णाऊण य ठाणाइसु हिंसाविवज्जणमहिंसा ।। (मूला. १–५); एइंदियादिपाणा पंचविधाऽवज्जभीरुणा सम्मं । ते खलु ण हिंसिदव्वा मण-वचि-कायेण सव्वत्थ ।। (मूला. ५–९२) । ३. हिंसानृत-स्तेयाब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ।। देश-सर्वतोऽणुमहती ।। (त. सू. ७, १-२) । ४. पढमे भंते महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं सव्वं भंते × × × पढमे भंते महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं । (दशवै. सूत्र ४-३, पृ. १४४) । ५. पढमे भंते महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं । (पाक्षिकसूत्र पृ. १८) । ६. अहिंसा नाम पाणातिवायविरती । (दशवै. चू. पृ. १५); सा य अहिंसाइ वा अज्जीवाइवांतो त्ति वा पाणातिपातविरइ त्ति वा एगट्ठा । (दशवै. चू. पृ. २०) । ७. क्रियासु स्थानपूर्वासु वधादिपरिवर्जनम् । षण्णां जीवनिकायानामहिंसाऽऽद्यं महाव्रतम् ।। (ह. पु. २–११७) । ८. प्राणिवियोगकरणं प्राणिनः प्रमत्तयोगात् प्राणवधः, ततो विरतिरहिंसाव्रतम् (भ. आ. विजयो. टी. ४२१, पृ. ६१४) । ९. अप्रतिपीड्याः सूक्ष्मजीवाः, बादरजीवानां गत्यादिमार्गणा-गुणस्थान-कुल-योन्याऽऽयुष्यादिकं ज्ञात्वा गमनस्थान-शयनासनादिषु स्वयं न हननम्, परैर्वा न घातनम्, अन्येषामपि हिंसतां नानुमोदनं हिंसाविरतिः (अहिंसामहाव्रतम्) । (चा. सा. पृ. ४०) । १०. सत्याद्युत्तरनिःशेषयमजातनिबन्धनम् । शीलैश्चर्यादिघिष्ठानमहिंसाख्यं महाव्रतम् ।। वाक्-चित्ततनुभिर्यत्र न स्वप्नेऽपि प्रवर्तते । चर-स्थिराङ्गिनां घातस्तदाद्यं व्रतमीरितम् ।। (ज्ञानार्णव ८, ७–८) । ११. प्रमादोऽज्ञान-संशय-विपर्यय-राग-द्वेष-स्मृतिभ्रंश-योगदुष्प्रणिधान-धर्मानादरभेदादष्टविधः । तद्योगात् त्रसानां स्थावराणां च जीवानां प्राणव्यपरोणं हिंसा, तन्निषेधादहिंसा प्रथमं व्रतम् । (योगशा. स्वो. विव. १–२०) । १२. जन्म-काल-कुलाक्षाद्यैर्ज्ञात्वा सत्त्वतति श्रुतेः । त्यागस्त्रिशुद्धया हिंसादेः स्थानादौ स्यादहिंसनम् ।। (आचा. सा. १–१६) । १३. न यत् प्रमादयोगेन जीवितव्यपरोपणम् । त्रसानां स्थावराणां च तदहिंसाव्रतं मतम् ।। (योगशा. १-२०; त्रि. श. पु. च. १, ३, ६२२) । १४. सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं । (समवा. ५) । १५. पाणातिपातं तिविहं तिविहेण णेव कुज्जा ण कारवे पढमं सो व्वयलक्खणं । (नारदाध्ययन १–३) । १६. तसाणं थावराणं च जं जीवाणमहिंसणं । तिविहेणावि जोगेण पढमं तं महव्वयं ।। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. पृ. १३) । १७. प्रमादयोगतोऽशेषजीवाऽसुव्यपरोपणात् । निवृत्तिः सर्वथा यावज्जीवं सा प्रथमं व्रतम् ।। (धर्मसं.

मान. ३–४०, पृ. १२१)। १८. प्रमादयोगाद्यत्सर्वजीवास्वव्यपरोपणम्। सर्वथा यावज्जीवं च प्रोचे तत् प्रथमं व्रतम् ॥४॥ (अभि. रा. भा. १, पृ. ८७२)।

२ काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणा, कुल, आयु और योनि; इनके आश्रय से सब जीवों को जानकर स्थान-शयनादि क्रियाओं में हिंसा का परित्याग करना; इसका नाम अहिंसामहाव्रत है।

अहोरात्र—१. एएणं मुहुत्तपमाणेणं तीसं मुहुत्ता अहोरत्तं। (अनुयो. १३७, पृ. १७९)। २. तीसमुहुत्ता अहोरत्तो। (जीवसमास १०८; भगवती. श. ६; जम्बूद्वी. सू. १८)। ३. ते (मुहुर्ताः) त्रिंशदहोरात्रम्। (त. भा. ४–१५)। ४. त्रिंशन्मुहूर्ता अहोरात्रः। (त. वा. ३, ३८, ७, पृ. २०९; त. सुखबो. ३-३८)। ५. अहोरात्रमष्टप्रहरात्मकम्, अहर्निशमित्यर्थः। (आव. नि. हरि. वृ. ६६३, पृ. २५७)। ६. कलाया दशमभागश्च त्रिंशन्मुहूर्तं च भवत्यहोरात्रः। (धव. पु. ६, पृ. ६३)। ७. त्रिंशन्मुहूर्तमहोरात्रम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४–१५)। ८. गगनमणिगमनायत्तो दिवारात्रः (अहोरात्रः)। (पंचा. का. अमृत. वृ. २५)। ९. त्रिंशन्मुहूर्तैरहोरात्रः। (पंचा. का. जय. वृ. २५)। १०. आदित्यस्य हि परिवर्तनं मेरुप्रादक्षिण्येन परिभ्रमणं अहोरात्रमभिधीयते। (न्यायकु. २–७, पृ. २५५)। ११. षष्टिनालिकमहोरात्रम्। (नि. सा. वृ. ३१)।

१ तीस मुहूर्त प्रमाण काल को अहोरात्र कहते हैं।

आकम्पित—१. भत्तेण व पाणेण व उवकरणेण किरियकम्मकरणेण। अणुकंपेऊण गणि करेइ आलोयणं कोई ॥ आलोइदं असेसं होहिदि काहिदि अणुग्गहमिमो त्ति। इय आलोचंतस्स हु पढमो आलोयणादोसो ॥ (भ. आ. ५६३–६४)। २. उपकरणेषु दत्तेषु प्रायश्चित्तं मे लघु कुर्वन्तीति विचिन्त्य दानं प्रथममालोचनादोषः। (त. वा. ९, २२, २)। ३. प्रायश्चित्तलघुकरणार्थमुपकरणदानम्। (त. श्लो. ९–२२)। ४. तथोपकरणेषु दत्तेषु प्रायश्चित्तं मे लघु कुर्वीतेति विचिन्त्य भयदादानं[भयाद्दानं]प्रथम आकम्पितदोषः। (चा. सा. पृ. ६१)। ५. भक्त-पानोपकरणादिनाचार्यमाकम्प्यात्मीयं कृत्वा यो दोषमालोचयति तस्याकम्पितदोषो भवति। (मूला. वृ. ११. १५)। ६. ददाल्लघ्वं मम प्रायश्चित्तं भीत्येति गुरवे। परोपकरणानां यद् दानमाकम्पितं मतम् ॥ (आचा. सा. ६–२९)। ७. आकम्पितं गुरुच्छेदभयादावर्जनं गुरोः। (अन. ध. ७–४०)। ८. आवर्जितः सन्नाचार्यः स्तोकं मे प्रायश्चित्तं दास्यतीति बुद्धया वैयावृत्त्यकरणादिभिरालोचनाचार्यमाकम्प्य आरभ्य यदालोचयति एष (आकम्पित) आलोचनादोषः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १–३४२, पृ. १६)। ९. आलोचनां कुर्वन् शरीरे कम्प उत्पद्यते भयं करोतीत्याकम्पितदोषः। (भावप्रा. टी. ११८)। १०. आकम्पितम् उपकरणादिदानेन गुरोरनुकम्पामुत्पाद्य आलोचयति। (त. वृत्ति श्रुत. ९–२२)।

१ भोजन, पान, उपकरण और कृतिकर्म के द्वारा आचार्य को अपने प्रति दयार्द्र करते हुए कोई आलोचना करता है। वह सोचता है कि इस प्रकार से सब आलोचना हो जावेगी व आचार्य यह अनुग्रह—अल्प प्रायश्चित्त देने रूप—करेंगे ही। उक्त क्रिया से आलोचना करने पर आकम्पित दोष होता है।

आकर—१. आकरो लवणाद्युत्पत्तिभूमिः। (औपपा. अभय. वृ. ३२, पृ. ७४; प्रश्नव्या. वृ. पृ. ७५)। २. आकरो लोहाद्युत्पत्तिभूमिः। (कल्पसू. पृ. ४–८८)।

नमक आदि (लोहा व गेरू आदि) के उत्पन्न होने के स्थान को—खनिको—आकर कहते हैं।

आकर्ष—आकर्षणम् आकर्षः, प्रथमतया मुक्तस्य वा ग्रहणम्। (आव. नि. हरि. व मलय. वृ. ८५७)।

सम्यक्त्व, श्रुत, देशविरति और सर्वविरति; इन सामायिकों को प्रथम बार छोड़कर जो फिर से ग्रहण करना है, उसका नाम आकर्ष है।

आकस्मिक भय—देखो अकस्माद्भय। १. भयनिमित्ताभावा जं भयमाकम्हियं तं ति। (विशेषा. ३४५१)। २. यत्तु बाह्यनिमित्तमन्तरेणाहेतुकं भयम् अकस्माद् भवति तदाकस्मिकम्। (आव. भा. हरि. वृ. १८४, पृ. ४७२)। ३. यद् बाह्यनिमित्तमन्तरेणाहेतुकं भयमुत्पद्यते तदकस्माद् भवतीत्याकस्मिकम्। (आव. भा. मलय. वृ. १८४, पृ. ५७१)। ४. विद्युत्पाताद्याकस्मिकभयम्। (त. वृत्ति श्रुत. ६–२४)। ५. [illegible]

मे। इत्येवं मानसी चिन्ता पर्याकुलितचेतसा॥ अर्थादाकस्मिकभ्रान्तिरस्ति मिथ्यात्वशालिनः। कुतो मोक्षोऽस्य तद्भीतेनिर्भीकैकपदच्युतेः॥ (पंचाध्यायी २, ५४३–४५; लाटीसं. ४, ६६–६८)। ४. निर्हेतुकं केवलस्वमनोभ्रान्तिजनितं यद् भयं तदाकस्मिकभयम्। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. ६, पृ. २५)।

१ वाह्य निमित्त के विना जो अकस्मात् भय होता है वह आकस्मिक भय कहलाता है।

आकस्मिकी क्रिया—सहसाकारेण आकस्मिकी क्रिया। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. १५, पृ. ४१)।

सहसा किसी कार्य के हो जाने को आकस्मिकी क्रिया कहते हैं।

आकाङ्क्षा—१. अभिधानापर्यवसानमाकाङ्क्षा। (अष्टस. यशो. वृ. १०३, पृ. ३५३)। २. × × × यत्पदं विना यत्पदस्यानन्वयस्तत्पदे तत्पदवत्त्वरूपे सम्वन्धे पदान्तरव्यतिरेकेणान्वयाभावे च। (अभिधा. २, पृ. ५७)।

शव्दसमाप्ति के न होने का नाम आकाङ्क्षा है। अभिप्राय यह कि जब तक शव्दों से श्रोता को विवक्षित अर्थ का वोध नहीं होता है, तव तक उसकी आकाङ्क्षा वनी रहती है।

आकार—१. आक्रियतेऽनेनाभिप्रेतं ज्ञायते इत्याकारो वाह्यचेष्टारूपः। स एवान्तराकूतगमकरूपत्वात्वाल्लक्षणमिति। (आव. नि. हरि. वृ. ७५१, पृ. २८१)। २. आकारोऽङ्गुलि-हस्त-भ्रू-नेत्रक्रिया-शिरःकम्पादिरनेकरूपः परशरीरवर्ती। × × × आकारः शरीरावयवसमवायिनी क्रियाऽन्तर्गतक्रियासूचिका। अनविकृतसन्निवो चेष्टाविशेषैः स्वाकूतप्रकाशनमाकारः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ७–२१)। ३. कम्म-कत्तारभावो आगारो। (धव. पु. १३, पृ. २०७)। ४. पमाणदो पुधभूदं कम्ममायारो। (जयध. १, पृ. ३३१); आयारो कम्मकारयं सयलत्थसत्थादो पुध काऊण वुद्धिगोयरमुवणीयं। (जयध. १, पृ. ३३८)। ५. भेदग्रहणमाकारः प्रतिकर्मव्यवस्थया। (म. पु. २४–२)। ६. कोप-प्रसादजनिता शारीरी वृत्तिराकारः। (नीतिवा. १०–३७)। ७. आकारः सत्त्वसामान्यादवान्तरजातिविशेषो मनुष्यत्वादिः। (न्यायकु. १-५, पृ. ११६)। ८. आकारः स्थूलधीसंवेद्यः प्रस्थानादिभावसूचको दिगवलोकनादिः। (जीतक. चू. वि. व्याख्या पृ. ३८)। ९. आकारः प्रतिवस्तुनियतो ग्रहणपरिणामः। (पंचसं. मलय. वृ. गा. ५, पृ. ७)। १०. आकारोऽर्थविकल्पः स्यात् × × ×। (लाटीसं. ३–१६; पञ्चाध्यायी २, ३९१)।

१ अन्तरङ्ग अभिप्राय को सूचित करने वाली शरीर की वाह्य चेष्टा को आकार कहते हैं। ३ कर्म-कर्तापन को आकार कहा जाता है। ७ सत्तासामान्य की अपेक्षा अवान्तर जातिविशेषरूप मनुष्यत्वादि को आकार कहते हैं। इस प्रकार के आकार को अवग्रह ग्रहण किया करता है।

आकारशुद्धि—आकारशुद्धिस्तु राजाद्यभियोगादिप्रत्याख्यानापवादमुक्तीकरणात्मिकेति। (धर्मबिन्दु मु. वृ. ३–१४)।

राजादि के द्वारा लगाये गये अभियोग से व व्रतादिसम्वन्धी अपवाद से मुक्त करने को आकारशुद्धि कहते हैं। यह आकारशुद्धि अणुव्रतादि ग्रहण की विधि में गर्भित है।

आकाश—१. सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाणं च। जं देदि विवरमखिलं तं लोए हवदि आयासं॥ (पंचा. का. गा. ९०)। २. अवगहणं आयासं जीवादीसव्वदव्वाणं॥ (नि. सा. ३०)। ३. आकाशस्यावगाहः। (त. सू. ५–१८)। ४. जीवपुद्गलादीनामवगाहिनामवकाशदानमवगाहः आकाशस्योपकारो वेदितव्यः। (स. सि. ५-१८)। ५. आकाशं व्यापि सर्वस्मिन्नवगाहनलक्षणम्। (वरांग. २६–३१)। ६. आकाशन्तेऽस्मिन् द्रव्याणि स्वयं चाकाशते इत्याकाशम्। (त. वा. ५, १, २१; त. श्लो. ५–१); जीवादीनि द्रव्याणि स्वैः स्वैः पर्यायैः अव्यतिरेकेण यस्मिन्नाकाशन्ते प्रकाशन्ते तदाकाशम्, स्वयं चात्मीयपर्यायमर्यादया आकाशते इत्याकाशम्। अवकाशदानाद्वा। अथवा इतरेषां द्रव्याणाम् अवकाशदानादाकाशम्। (त. वा. ५, १, २१–२२)। ७. सव्वदव्वाण अवकासदाणत्तणतो आगासं। (अनुयो. चू. पृ. २६)। ८. आगासत्थिकाओ अवगाहलक्खणो। (दशवै. चू. ४, पृ. १४२)। ९. सर्वद्रव्यस्वभावाऽऽदीपनादाकाशम्, स्वभावेनावस्थानादित्यर्थः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ४१)। १०. आकाशन्ते दीप्यन्ते स्वधर्मोपेता आत्मादयो यत्र तदाकाशम्। (दशवै. हरि. वृ. १–११८)। ११. एवमागासदव्वं पि (ववगदपंचवण्णं, ववगदपंचरसं, ववगदटुगंधं, ववगदअट्ठफासं)।

णवरि आगासदव्वमणंतपदेसियं सव्वगयं ओगाहणलक्खणं। (धव. पु. ३, पृ. ३); ओगाहणलक्खणं आयासदव्वं। (धव. पु. १५, पृ. ३३)। १२. जीवादीनां पदार्थानामवगाहनलक्षणम्। यत् तदाकाशमस्पर्शममूर्तं व्यापि निष्क्रियम्। (म. पु. २४–३८; जम्बूस्वा. ३–३८)। १३. आकाशमनन्तप्रदेशाध्यासितं सर्वेषामवकाशदानसामर्थ्यपितम्। (भ. आ. विजयो. टी. ३६)। १४. सयलाणं दव्वाणं जं दादुं सक्कदे हि अवगासं। तं आयासं ××× ॥ (कार्तिके. २१३)। १५. तच्च (क्षेत्रं) अवगाहलक्षणमाकाशम्। (सूत्रकृ. शी. वृ. १, नि. ६, पृ. ५)। १६. जीवादीनि द्रव्याणि स्वैः स्वैः पर्यायैरव्यतिरेकेण यस्मिन्नाकाशन्ते प्रकाशन्ते तदाकाशम्। स्वयं चात्मीयपर्यायमर्यादया आकाशते इत्याकाशम्। (त. सुखबो. ५–१)। १७. द्रव्याणामवकाशं वा करोत्याकाशमस्त्यतः॥ जीवानां पुद्गलानां च कालस्याधर्म-धर्मयोः। अवगाहनहेतुत्वं तदिदं प्रतिपद्यते॥ (त. सा. ३, ३७-३८)। १८. सव्वेसि दव्वाणं अवयासं देइ तं तु आयासं। (भावसं. दे. ३०८)। १९. चेयणरहियममुत्तं अवगाहणलक्खणं च सव्वगयं। लोयालोयविभेयं तं णहदव्वं जिणुद्दिट्ठं॥ (वृ. न. च. ९८)। २०. अवकाशप्रदं व्योम सर्वगं स्वप्रतिष्ठितम्। (ज्ञानार्णव ६–३५, पृ. ६०)। २१. नित्यं व्यापकमाकाशमवगाहैकलक्षणम्। चराचराणि भूतानि यत्रासम्बाधमासते॥ (चन्द्र. च. १८–७२)। २२. अवगाहनलक्षणमाकाशम्। (पंचा. का. जय. वृ. ३)। २३. पञ्चानामवकाशदानलक्षणमाकाशम्। (नि. सा. वृ. १–९); आकाशस्य अवकाशदानलक्षणमेव विशेषगुणः। (नि. सा. वृ. १–३०)। २४. सर्वगं स्वप्रतिष्ठं स्यादाकाशमवकाशदम्। लोकालोकौ स्थितं व्याप्य तदनन्तप्रदेशभाक्॥ (योगशा. स्वो. विव. १–१६, पृ. ११२)। २५. सर्वेषां द्रव्याणामवकाशदायकमाकाशम्। (भ. आ. मूला. टी. ३६; आरा. सा. टी. ४)। २६. आ समन्तात् सर्वाण्यपि द्रव्याणि काशन्ते दीप्यन्तेऽत्र व्यवस्थितानि इत्याकाशम्। (जीवाजी. मलय. वृ. ४)। २७. आङिति मर्यादया स्व-स्वभावापरित्यागरूपया काशन्ते स्वरूपेण प्रतिभासन्ते यस्मिन् व्यवस्थिताः पदार्था इत्याकाशम्। यद्वा अभिविधावाङ् तदा आङिति सर्वभावाभिव्याप्त्या काशते इत्याकाशम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १–३)। २८. अवगाहो आगास ×××। (नवतत्त्वप्र. गा. १०)। २९. अवगाहनक्रियावतां जीव-पुद्गलादीनां तत्क्रियासाधनभूतमाकाशद्रव्यम्। (गो. जी. जी. प्र. टी. ६०५)। ३०. सकलतत्त्वमनन्तमनादिमत्सकलतत्त्वनिवासदमात्मगम्। द्विविधमाह कथंचिदनर्पितं किल तदेकमपीह समन्वयात्॥ (अध्यात्मक. ३–३३)। ३१. यो दत्ते सर्वद्रव्याणां साधारणावगाहनम्। लोकालोकप्रकारेण द्रव्याकाशः स उच्यते। (द्रव्यानु. १०–६)।

१ जो सब जीवों को तथा शेष—धर्म, अधर्म और काल—एवं पुद्गलों को भी स्थान देता है उसे आकाश कहते हैं।

आकाशगता चूलिका—१. आयासगया णाम तेत्तिएहि चेव पदेहि (२०९८९२००) आगासगमणणिमित्तमंत-तंत-तवच्छरणाणि वण्णेदि। (धव. पु. १, पृ. ११३; जयध. १, पृ. १३९); आकाशगतायाम् द्विकोटि-नवलक्षाष्टाशीतिसहस्र-द्विशतपदायां (२०९८९२००) आकाशगमनहेतुभूतविद्या-मंत्र-तंत्र-तपोविशेषाः निरूप्यन्ते। (धव. पु. ९, पृ. २१०; श्रुतभक्ति टी. ९; गो. जी. जी. प्र. ३६२)। २. गुण्णहुगं णाणवदी अडणवदी गुण्ण दो वि कोडिपयं। आयासे गमणाणं मंत-तवादिणयणगया। (श्रुतस्कन्ध ३९)। ३. आयासगया गमणे गमणस्स मुमंत-तंत-जंताइं। हेदूणि वण्णि तत्तियपयमेत्तगंथदा॥ (अंगप. ३–९)।

१ आकाश में गमन करने के कारणभूत विद्या, मंत्र, तंत्र एवं तप का वर्णन करने वाली चूलिका को आकाशगता चूलिका कहते हैं।

आकाशगामित्व—१. उड्ढीए चारणाणं [illegible] ॥ [illegible] आकाशगामिणी णाम। (ति. प. ४, १०३३–३४)। २. पर्यङ्कावस्थानिषण्णा वा कायोत्सर्गशरीरा वा पादोद्धारनिक्षेपणविधिमन्तरेण आकाशगामिनः। (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०२; चा. सा. पृ. ९७)। ३. [illegible] आकाशगामिनो। (धव. पु. ९, पृ. ८०); [illegible] (धव. पु. ९,

पृ. ८४)। ५. पर्यंकासनेनोपविष्टः सन् आकाशे गच्छति, ऊर्ध्वस्थितो वा आकाशे गच्छति, सामान्यतयोपविष्टो वा आकाशे गच्छति, पादनिक्षेपणोत्क्षेपणं विना आकाशे गच्छति आकाशगामित्वम्। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३६)

२ जिस ऋद्धि के प्रभाव से पर्यंकासन से बैठे हुए अथवा कायोत्सर्ग से स्थित साधु पैरों को उठाने व रखने की विधि के विना ही आकाशगमन में कुशल होते हैं उसे आकाशगामित्व या आकाशगामिनी ऋद्धि कहते हैं।

आकाशचारण—चउहि अंगुलेहिंतो अहियपमाणेण भूमीदो उवरि आयासे गच्छंतो आगासचारणा णाम। ××× जीवपीडाए विणा पादुक्खेवेण आगासचारणा णाम। (धव. पु. ६, पृ. ८०); चरणं चारित्तं संजमो पावकिरियाणिरोहो त्ति एयट्ठो, तम्हि कुसलो णिउणो चारणो, तवविसेसेण जणिदआगासट्ठियजीव[वध]परिहरणकुसलत्तणेण सहिदो आगासचारणो। आगासगमणमेत्तजुत्तो आगासगामी। आगासगामित्तादो जीववधपरिहरणकुसलत्तणेण सहिदो आगासचारणो। आगासगमणमेत्त जुत्तो आगासगामी। आगासगामित्तादो जीववधपरिहरणकुसलत्तणेण विसेसिदआगासगामित्तस्स विसेसुवलंभादो अत्थि विसेसो। (धव. पु. ६, ८४–८५)।

भूमि से चार अंगुल ऊपर आकाश में चलने की शक्ति वाले साधुओं को आकाशचारण कहते हैं। ये आकाशचारण ऋषि पादक्षेप करते हुए भी प्राणियों को पीड़ा न पहुँचा कर आकाश में गमन किया करते हैं।

आकाशातिपाती—आकाशं व्योम, अतिपतन्ति अतिक्रामन्ति, आकाशगामिविद्याप्रभावात् पादलेपादिप्रभावाद्वा आकाशाद्वा हिरण्यवृष्ट्यादिकमिष्टमनिष्टं वाऽतिशयेन पातयन्तीत्येवंशीलाआकाशातिपातिनः। आकाशवादिनो वा—अमूर्तानामपि पदार्थानां साधने समर्थवादिन इति भावः। (औपपा. अभय. वृ. १५, पृ. २६)।

जो आकाशगामी विद्या के प्रभाव से अथवा पादलेपादि के प्रभाव से आकाश में आ जा सकते हैं, अथवा आकाश से इष्ट व अनिष्ट सोने आदि की वर्षा कर सकते हैं वे आकाशातिपाती कहे जाते हैं। अथवा जो अमूर्त आकाशादि की सिद्धि में समर्थ होते हैं उन्हें आकाशादिवादी कहते हैं।

आकाशादिवादी—देखो आकाशातिपाती।

आकाशास्तिकायानुभाग—जीवादिदव्वाणमाहारत्तमागासत्थियाणुभागो। (धव. पु. १३, पृ. ३४९)।
जीवादि द्रव्यों को आश्रय देना, यह आकाशास्तिकायानुभाग है।

आकिञ्चन्य—१. होऊण य णिस्संगो णियभावं णिग्गहित्तु सुह-दुहदं। णिद्दंदेण दु वट्टदि अणयारो तस्सऽकिंचण्हं॥ (द्वादशानु. ७९)। २. उपात्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहाय ममेदमित्यभिसन्धिनिवृत्तिः आकिञ्चन्यम्। नास्य किञ्चनास्तीत्यकिञ्चनः, तस्य भावः कर्म वाकिञ्चन्यम्। (स. सि. ९–६; अन. ध. स्वो. टी. ६–५४)। ३. शरीर-धर्मोपकरणादिषु निर्ममत्वमाकिञ्चन्यम्। (त. भा. ९–६)। ४. **ममेदमित्यभिसन्धिनिवृत्तिराकिञ्चन्यम्**। उपात्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहाय ममेदमित्यभिसन्धिनिवृत्तिराकिञ्चन्यमित्याख्यायते। नास्य किञ्चनास्तीत्यकिञ्चनः, तस्य भावः कर्म वाकिञ्चन्यम्॥ (त. वा. ९, ६, २१)। ५. पक्खी उवमाए जं धम्मुवगरणाइलोभरेगेण (?)। वत्थुस्स अगहणं खलु तं आकिंचणमिह भणियं॥ (यतिधर्मवि. ११, १३)। ६. अकिञ्चनता सकलग्रन्थत्यागः। (भ. आ. विजयो. टी. ४६)। ७. तिविहेण जो विवज्जदि चेयणमियरं च सव्वहा संगं। लोयववहारविरदो णिग्गंथत्तं हवे तस्स॥ (कार्तिके. ४०२)। ८. ममेदमित्युपात्तेषु शरीरादिषु केषुचित्। अभिसन्धिनिवृत्तिर्या तदाकिञ्चन्यमुच्यते॥ (त. सा. ६–२०)। ९. ××× वपुरादिनिर्ममतया नो किञ्चनाऽऽस्ते यतेराकिञ्चन्यमिदं च संसृतिहरो धर्मः सतां सम्मतः॥ (पद्मनं. पं. १–१०१)। १०. अकिञ्चनोऽहमित्यस्मिन् पथ्यक्षुण्णचरे चरन्। तदद्दृष्टतरं ज्योतिः पश्यत्यानन्दनिर्भरम्॥ (अन. ध. ६–५४)। ११. उपात्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहनं नैर्मल्यं वा आकिञ्चन्यम्। (त. सुखबो. ९–६)। १२. नास्ति अस्य किञ्चन किमपि अकिञ्चनो निष्परिग्रहः, तस्य भावः कर्म वा आकिञ्चन्यम्। निजशरीरादिषु संस्कारपरिहाराय ममेदमित्यभिसन्धिनिषेधनमित्यर्थः। (त. वृत्ति. श्रुत. ९–६)।

१ जो अनगार (साधु) बाह्य-आभ्यन्तर समस्त

परिग्रह से रहित होकर सुख-दुख देने वाले निज भाव—राग-द्वेष—का निग्रह करता हुआ निर्द्वन्द्व-भाव से—सर्व संक्लेश से रहित होकर निराकुल भाव से—रहता है उसके आकिंचन्य धर्म होता है।

आकीर्ण (आइण्ण)—१. आकीर्यते व्याप्यते विनयादिभिर्गुणैरिति आकीर्णः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. गा. १–६४, पृ. ४६)। २. आइण्णं णाम जं साहूहिं आयरियं विणा वि ओमादिकारणेहिं गेण्हइ। (अभिधा. २, पृ. ५)।

१ जो विनयादि गुणों के द्वारा व्याप्त किया जाता है—उनसे परिपूर्ण होता है—उसे आकीर्ण कहते हैं।

आकुञ्चन (आउंटण)—१. आउंटणं गात्रसंखेवो। (आव. चू. ६, गा. ११४)। २. आकुञ्चनं जंघादेः सङ्कोचनम्। (प्रव. सारो. वृ. २०६, पृ. ४८)।

२ जांघ आदि के संकोचने को आकुञ्चन कहते हैं।

आकुट्टी—'कुट्ट छेदने' आकुट्टनमाकुट्टः, स विद्यते यस्यासावाकुट्टी। (सूत्रकृ. शी. वृ. १, १, २, २५)। प्राणी के अवयवों के छेदन-भेदनादिरूप व्यापार का नाम आकुट्ट है। उससे जो सहित होता है उसे आकुट्टी कहा जाता है।

आक्रन्दन—१. परितापजाताश्रुपातप्रचुरविप्रलापादिभिर्व्यक्तक्रन्दनमाक्रन्दनम्। (स. सि. ६–११; त. वा. ६, ११, ४; त. श्लो. ६–११)। २. परितापनिमित्तेन अश्रुपातेन प्रचुरविलापेन अंगविकारादिना चभिव्यक्तं क्रन्दनम् आक्रन्दनं प्रत्येतव्यम्। (त. वा. ६, ११, ४)। ३. आक्रन्दनमुच्चैरार्तविलपनम्। (त. भा. हरि. वृ. ६–१२)। ४. परितापसंभूताश्रुनिपाताङ्गविकारप्रचुरविलापादिव्यक्तम् आक्रन्दनम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–१२)। ५. आक्रन्द्यते आक्रन्दनम्। परितापसंजातबाष्पपतनबहुविलापादिभिर्व्यक्तं प्रकटं अंगविकारादिभिर्युक्तं क्रन्दनमित्यर्थः। (त. वृत्ति श्रुत. ६–११)।

१ परिताप के कारण अश्रुपातपूर्वक विलाप करते हुए चिल्ला-चिल्ला कर रोने को आक्रन्दन कहते हैं।

आक्रोशपरीषहजय—१. मिथ्यादर्शनोद्रिक्तामर्षपरुषावज्ञानिन्दासभ्यवचनानि क्रोधाग्निशिखाप्रवर्धनानि शृण्वतोऽपि तदर्थेष्वसमाहितचेतसः सहसा तत्प्रतीकारं कर्तुमपि शक्नुवतः पापकर्मविपाकमभिचिन्तयतस्तान्याकर्ण्य तपश्चरणभावनापरस्य कषाय-विषलवमात्रस्याप्यनवकाशमात्महृदयं कुर्वत आक्रोशपरीषहसहनमवधार्यते। (स. सि. ९–९; पंचसं. मलय. वृ. ४–२३)। २. अक्कोसेज्ज परो भिक्खुं न तेसिं पडिसंजले। सरिसो होइ बालाणं तम्हा भिक्खू न संजले॥ (उत्तरा. २–२४)। ३. अनिष्टवचनसहनमाक्रोशपरीषहजयः। तीव्रमोहाविष्टमिथ्यादृष्ट्यार्य-म्लेच्छ-खलपापाचार - मत्तोद्दृप्तशंकितप्रयुक्तं 'मा'-शब्द-धिक्कार-परुषावज्ञानाक्रोशादीन् कर्णविरेचनान् हृदयशूलोद्भावकान् क्रोधज्वलननिर्वापणप्रवर्धनैककारणप्रियान् शृण्वतोऽपि दृढमनसः भस्मसात् कर्तुमपि समर्थस्य परमार्थावगाहितचेतसः शब्दमात्रश्राविणस्तदर्थान्वीक्षणविनिवृत्तव्यापारस्य स्वकृताशुभकर्मोदयो ममैष यतोऽमीषां मां प्रति द्वेष इत्येवमादिभिरुपायैरनिष्टवचनसहनमाक्रोशपरीषहजय इति निर्णीयते। (त. वा. ९, ९, १७; चा. सा. पृ. ५३)। ४. आक्रोशः अनिष्टवचनम्, तद् यदि सत्यं कः कोपः? शिक्षयति हि मामयमुपकारी, न पुनरेवं करिष्यामीति। असत्यं चेत् सुतरां कोपो न कर्तव्य इत्याक्रोशपरीषहजयः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-९)। ५. आक्रोशस्तीर्थयात्रायां पर्यटतः मिथ्यादृष्टिविमुक्तावज्ञा-संघनिन्दावचनकृता बाधा, ××× क्षमणं सहनम्, ××× ततः परीषहजयो भवति। (मूला. वृ. ५–५७)। ६. मिथ्यादर्शनोद्रिक्तामर्षान्यमर्षावज्ञा-निन्दावचनानि क्रोधहुतवहोद्दीपनदक्षाणि शृण्वतोऽपि तत्प्रतीकारं कर्तुमपि शक्नुवतो दुरन्तः क्रोधादिकषायोदयनिमित्तपापकर्मविपाक इति चिन्तयतो [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] आक्रोशपरीषहविजयः। (पंचसं. मलय. वृ. ४–२३)। ७. दर्पी गर्व-[illegible] [illegible] क्रूरामर्षः [illegible] [illegible] शृण्वन्नशृण्वन्निव। [illegible] [illegible] [illegible] यो [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] तं स्तुवे॥ (अन. ध. ६–२१)। ८. मिथ्यादृष्ट्यादिदुर्वचनैः [illegible] [illegible] निरोद्धुम्। [illegible] यः [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]॥ (अन. ध. ६–१००)। ९. पर आक्रोशार्द्र [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

तोऽनिष्टवचनसहनमाक्रोशजयः। (आरा. सा. टी. ४०)। १०. यो मुनिर्मिथ्यादर्शनोद्धततीव्रक्रोधसहितानामज्ञानिजनानामवज्ञानं निन्दामसभ्यवचनानि च लम्भितोऽपि शृण्वन्नपि क्रुधग्निज्वालां न प्रकटयति, आक्रोशेषु अकृतचेतास्तत्प्रतीकारं विधातुं शीघ्रं शक्नुवन्नपि निजपापकर्मोदयं परिचिन्तयन् तद्वाक्यान्यश्रुत्वा तपोभावनापरान्तरङ्गो निजहृदये कषायविषमविषकणिकामपि न करोति स मुनिराक्रोशपरीषहविजयी भवति। (त. वृत्ति श्रुत. ९–९)। ११. आक्रोशनमाक्रोशोऽसत्यभाषात्मकः, स एव परीषहः आक्रोशपरीषहः। (उत्तरा. शा. वृ. २, पृ. ८३)। १२. आक्रोशोऽनिष्टवचनम्, तच्छ्रुत्वा सत्येतरालोचनया न कुप्येत। (आव. ४, हरि. वृ. पृ. ६५७)। १३. आक्रुष्टोऽपि हि नाक्रोशेत् क्षमाश्रमणतां विदन्। प्रत्युताक्रोष्टरि यतिश्चिन्तयेदुपकारिताम्॥ (ध. ३ अधि.—अभिधा. १, पृ. १३१)। १४. नाक्रुष्टो मुनिराक्रोशेत्सम्यग्ज्ञानाद्यवर्जकः। अपेक्षेतोपकारित्वं न तु द्वेषो कदाचन। (आव. १, अ. म. द्वि.—अभिधा. १, पृ. १३१)। १५. चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथवा तापसः किं वा तत्त्वनिवेशपेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि वा। इत्यस्वल्पविकल्पजल्पमुखरैः संभाष्यमाणो जनैर्नो रुष्टो न हि चैव हृष्टहृदयो योगीश्वरो गच्छति॥ (उत्त. २ अ. १—अभिधा. १, पृ. १३१)।

१ क्रोध बढ़ाने वाले, अत्यन्त अपमान कारक, कर्कश, और निन्द्य वचनों को सुन करके प्रतीकार करने में समर्थ होते हुए भी उस ओर ध्यान न देकर पाप कर्म का फल मान उसके सहन करने को आक्रोशपरीषहजय कहते हैं।

आक्षेपणी कथा—१. आक्खेवणी कहा सा विज्जाचरणमुवदिस्सदे जत्थ। (भ. आ. ६५६)। २. आयारे ववहारे पण्णत्ती चेव दिट्ठिवाए य। एसा चउव्विहा खलु कहा उ अक्खेवणी होइ॥ (दशवै. नि. १९४, पृ. ११०)। ३. आक्षेपणी पराक्षेपकारिणीमकरोत् कथाम्। (पद्मच. १०६–९२)। ४. श्रोत्रपेक्षयाऽऽचारादिभेदानाश्रित्य अनेकप्रकारेतिकथा त्वाक्षेपणी भवति। ××× आक्षिप्यन्ते मोहात् तत्त्वं प्रति अनया भव्यप्राणिनः इति आक्षेपणी। (दशवै. हरि. वृ. नि. १९४, पृ. ११०)। ५. तत्थ अक्खेवणी णाम छद्दव्व-णवपयत्थाणं सरूवं दिगंतर-समयांतरणिराकरणं सुद्धिं करेंती परूवेदि। (धव. पु. १, पृ. १०५); आक्षेपणीं तत्त्वविधानभूतां ×× ×। (धव. पु. १. पृ. १०६ उ.)। ६. आक्षेपणीं स्वमतसंग्रहणीं ××× यथार्हम्। (अन. ध. ७–८८)। ७. प्रथमानुयोग-करणानुयोग-चरणानुयोग-द्रव्यानुयोग-रूपपरमागमपदार्थानां तीर्थंकरादिवृत्तान्त-लोकसंस्थान-देश-सकलयतिधर्म-पंचास्तिकायादीनां परमताशंकारहितं कथनं आक्षेपणी कथा। (गो. जी. मं. प्र. व जी. प्र. टी. ३५७)। ८. आयारं ववहारं हेऊ दिट्ठंत-दिट्ठिवायाई। देसिज्जइ जीए सा अक्खेवणिदेसणा पढमा॥ (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २, पृ. ५)। ९. आक्खेवणीकहाए कहिज्जए[कहिज्जमाणाए] पण्हदो सुभव्वस्स। परमदशंकारहिदं तित्थयरपुराणवित्तंतं॥ पढमाणुओग-करणाणुओग-वरचरण-दव्वअणुओगं। सठाणं लोयस्स य जदि-सावय-धम्मवित्थारं॥ (अंगपण्णत्ती १, ५९–६०)।

५ नाना प्रकार की एकान्त दृष्टियों और दूसरे समयों के निराकरणपूर्वक शुद्धि करके छह द्रव्यों और नौ पदार्थों के स्वरूप का निरूपण करने वाली कथा को आक्षेपणी कथा कहते हैं।

आक्षेपणीरस—विज्जा चरणं च तवो पुरिसक्कारो य समिइ-गुत्तीओ। उवइस्सइ खलु जहियं कहाइ अक्खेवणीइ रसो॥ (दशवै. नि. १९५, पृ. ११०)।

जहां ज्ञान, चारित्र, तप, पुरुषार्थ, समिति और गुप्ति का उपदेश दिया जाता है वह आक्षेपणी कथा का रस (सार) है।

आख्यायिकानिःसृता—जा कूडकहाकेली अक्खाइअणिस्सिया हवे एसा। जह भारह-रामायणसत्थेऽसंबद्धवयणाणि॥ (भाषार. ५०); या कूटकथाकेलिरेपाख्यायिकानिःसृता भवेत्। यथा—भारत-रामायणशास्त्रेऽसम्बद्धवचनानि। (भाषार. टी. ५०)।

असत्य कथा-केलिरूप भाषा को आख्यायिकानिःसृता कहते हैं। जैसे—भारत व रामायण आदि ग्रन्थों के असम्बद्ध वचन।

आगति—१. अण्णगदीदो इच्छिदगदीए आगमणमागदी णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३४६)। २. आगमनमागतिः, नारकत्वादेरेव प्रतिनिवृत्तिः। (स्थाना. अभय. वृ. १–२६ पृ. १८)।

१ अन्यगति से इच्छित गति में आने को आगति कहते हैं।

आगम—१. तस्स मुहग्गदवयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं। आगममिदि परिकहियं××× ॥ (नि. सा. ८)। २. सुधम्मातो आरब्भ आयरियपरंपरेणागतमिति आगमो, अत्तस्स वा वयणं आगमो। (अनुयो. चू. पृ. १६)। ३. आगमनमागमः—आङ् अभिविधि-मर्यादार्थत्वात् अभिविधिना मर्यादया वा, गमः परिच्छेद आगमः। (आव. नि. हरि. वृ. २१, पृ. १६)। ४. आगमतत्त्वं ज्ञेयं तद्दृष्टेष्टाविरुद्धवाक्यतया। उत्सर्गादिसमन्वितमलमैदम्पर्यशुद्धं च ॥ (षोडशक १–१०)। ५. आगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते अतीन्द्रिया पदार्थाः अनेनेत्यागमः। (जीतक. चू. वि. व्याख्या पृ. ३३)। ६. आचार्यपारम्पर्येणागच्छतीत्यागमः। (अनुयो. हरि. वृ. ४–३८, पृ. २२)। ७. आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद्विदुः। (ललितवि. पृ. ६६)। ८. आगमस्त्वागच्छति अव्यवच्छित्त्या वर्ण-पद-वाक्यराशिः आप्तप्रणीतः पूर्वापरविरोधशंकारहितस्तदालोचनात्तत्त्वरुचिः आगमः उच्यते, कारणे कार्योपचारात्। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–३, पृ. ४०)। ९. पूर्वापरविरुद्धादेर्व्यपेतो दोषसंहतेः। द्योतकः सर्वभावानामाप्तव्याहृतिरागमः ॥ (धव. पु. ३, पृ. १२ व १२३ उ.); आगमो हि णाम केवलणाणपुरस्सरो पाएण अणिंदियत्थविसओ अचिंतियसहाओ जुत्तिगोयरादीदो ॥ (धव. पु. ६, पृ. १५१)। १०. आगमः सर्वज्ञेन निरस्तराग-द्वेषेण प्रणीतः उपेयोपायतत्त्वस्य ख्यापकः। (भ. आ. विजयो. टी. २३)। ११. हेयोपादेयरूपेण चतुर्वर्गसमाश्रयात्। कालत्रयगतानर्थान् गमयन्नागमः स्मृतः ॥ (उपासका. १००)। १२. आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः। (परीक्षा. ३–९९; न्या. दी. पृ. ११२)। १३. यत्र निर्वाण-संसारौ निगद्येते सकारणौ। सर्वबाधकनिर्मुक्त आगमोऽसौ बुधस्तुतः ॥ (धर्मप. १८–७४)। १४. ××× पुव्वावरदोसवज्जियं वयणं (आगमो)। (ध. श्रा. ७)। १५. आप्तोदितत्वार्थविज्ञानमागमस्तत्प्रणोदना। पूर्वापराविरुद्धार्थं प्रत्यक्षाद्यैरबाधितम् ॥ (आचा. सा. ३-५)। १६. आगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते अर्था अनेनेत्यागमः, आप्तवचनसम्पादो विप्रकृष्टार्थप्रत्ययः। उक्तं च— दृष्टेष्टाव्याहताद् वाक्यात् परमार्थाभिधायिनः। तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम् ॥ आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्। तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥ (स्थानां. अभय. वृ. ३३८, पृ. २४९)। १७. आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसंवेदनमागमः, उपचारादाप्तवचनं चेति। (प्र. न. त. ४–१; जैनतर्क. १, पृ. १९)। १८. अबाधितार्थप्रतिपादकम् आप्तवचनं ह्यागमः। (रत्नक. टी. ४); भव्यजनानां हेयोपादेयतत्त्वप्रतिपत्तिहेतुभूतागम×××। (रत्नक. टी. ५)। १९. शब्दादेव पदार्थानां प्रतिपत्तिकृदागमः। (त्रि. श. पु. च. २, ३, ४४२)। २०. तद् (आप्त) वचनाज्जातमर्थज्ञानमागमः। आगम्यन्ते मर्यादयाऽवबुध्यन्तेऽर्था अनेनेत्यागमः। (रत्नाकरा. ४–१, पृ. २५); स च स्मर्यमाणः शब्द आगमः। (रत्नाकरा. ४–४, पृ. ३७)। २१. आ अभिविधिना सकलश्रुतविषयव्याप्तिरूपेण, मर्यादया वा यथावस्थितप्ररूपणया, गम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते अर्था येन स आगमः। (आव. नि. मलय. वृ. २१, पृ. ४९)। २२. आगमस्तन्मुखारविन्दविनिर्गतसमस्तवस्तुविस्तारसमर्थनदक्षश्चतुरवचनसन्दर्भः। (नि. सा. वृ. १–५)। २३. आगमो वीतरागवचनम्। (धर्मरत्नप्र. स्वो. वृ. पृ. ४७)। २४. पूर्वापरविरुद्धात्मदोषसंपातवर्जितः। यथावद्वस्तुनिर्णीतिर्यत्र स्यादागमो हि सः ॥ (भावसं. वाम. ३३०)। २५. तत्रागमो यथानूनादाप्तवाक्यं प्रकीर्तितम्। पूर्वापराविरुद्धं यत्प्रत्यक्षाद्यैरबाधितम् ॥ (लाटीसं. ५–१५७)।

१ पूर्वापरविरोधादि दोषों से रहित शुद्ध आप्त के वचन को आगम कहते हैं।

आगमद्रव्य—१. अनुपयुक्तः प्राभृतज्ञाय्यात्मा आगमः। अनुपयुक्तः प्राभृतज्ञायी आत्मा आगमद्रव्यमित्युच्यते। (त. वा. १, ५, ६)। २. आत्मा तत्प्राभृतज्ञायी यो नामानुपयुक्तधीः। सोऽत्रागमः समाम्नातः स्याद् द्रव्यं मतसंग्रहात् ॥ (त. श्लो. १, ५, ६१)। ३. तत्र आत्मा यो जीवादिप्राभृतं तज्ज्ञो जानाति, परन्तु चिन्तन-परावर्तनादिव्यापाररहितोऽनुपयुक्तः, स आगमद्रव्यम्। ([illegible] ७, पृ. ८०६, पं. ११–१२)। ४. तत्र जीवादिप्राभृतज्ञो [illegible] आगमद्रव्यम्। ([illegible] टी. ७–४, पृ. १८)।

१ जो जीव विवक्षित प्राभृत का ज्ञाता होकर वर्तमान में तद्विषयक उपयोग से रहित होता है उसे आगमद्रव्य कहते हैं।

आगमद्रव्य-अग्रायणीय—अग्गेणियपुव्वहरो अणुवजुत्तो आगमदव्वग्गेणियं। (धव. पु. ९, पृ. २२५)।

जो अग्रायणीय पूर्व का ज्ञाता होता हुआ तद्विषयक उपयोग से रहित होता है उसे आगमद्रव्य-अग्रायणीय पूर्व कहते हैं।

आगमद्रव्यकरण—द्रव्यस्य द्रव्येण द्रव्ये वा करणं द्रव्यकरणमिति। × × × आगमतः करणशब्दार्थज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः। (आव. भा. मलय. वृ. १५३, पृ. ५५८)।

करण शब्द के अर्थ के ज्ञाता, पर अनुपयुक्त—तद्विषयक उपयोग से रहित—पुरुष को आगमद्रव्यकरण कहते हैं।

आगमद्रव्यकर्म—१. × × × तप्पढमं। कम्मागमपरिजाणुगजीवो उवजोगपरिहीणो॥ (गो. क. ५४)। २. तत्र कर्मस्वरूपप्रतिपादकागमस्य वाच्य-वाचक-ज्ञातृ-ज्ञेयसम्बन्धपरिज्ञायकजीवो यः तदर्थविधारण-चिन्तनव्यापाररूपोपयोगरहितः स आगमद्रव्यकर्म भवति। (गो. क. जी. प्र. टी. ५४)।

१ जो जीव कर्मागम का ज्ञाता होकर वर्तमान में तद्विषयक उपयोग से रहित होता है, उसे आगमद्रव्यकर्म कहते हैं।

आगमद्रव्यकर्मप्रकृतिप्राभृत—कम्मपयडिपाहुड-जाणओ अणुवजुत्तो आगमदव्वकम्मपयडिपाहुडं। (धव. पु. ९, पृ. २३०)।

कर्मप्रकृतिप्राभृत का जानकार होकर जो वर्तमान में तद्विषयक उपयोग से रहित हो उसे आगमद्रव्यकर्मप्रकृतिप्राभृत कहते हैं।

आगमद्रव्यकाल—आगमदो दव्वकालो कालपाहुडजाणगो अणुवजुत्तो। (धव. पु. ४, पृ. ३१४)।

जो कालविषयक आगम का ज्ञाता होकर वर्तमान में अनुपयुक्त है उसे आगमद्रव्यकाल कहते हैं।

आगमद्रव्यक्षेत्र—आगमदो दव्वखेत्तं खेत्तपाहुडजाणओ अणुवजुत्तो। (धव. पु. ४, पृ. ५)।

जो क्षेत्रप्राभृत का ज्ञाता होकर वर्तमान में तद्विषयक उपयोग से रहित हो उसे आगमद्रव्यक्षेत्र कहते हैं।

आगमद्रव्यच्यवनलब्धि—तत्थ चयणलद्धिवत्थुपारओ अणुवजुत्तो आगमदव्वचयणलद्धी। (धव. पु. ९, पृ. २२८)।

जो 'च्यवनलब्धि वस्तु' का पारगामी होकर वर्तमान में तद्विषयक उपयोग से रहित हो उसे आगमद्रव्यच्यवनलब्धि कहते हैं।

आगमद्रव्यजिन—जिणपाहुडजाणओ अणुवजुत्तो अविणट्ठसंसकारो आगमदव्वजिणो। (धव. पु. ९, पृ. ६)।

जो जिनप्राभृत का ज्ञाता होकर तद्विषयक संस्कार से रहित होता हुआ वर्तमान में उसके उपयोग से रहित हो उसे आगमद्रव्यजिन कहते हैं।

आगमद्रव्यजीव—जीवप्राभृतज्ञायी मनुष्यजीवप्राभृतज्ञायी वा अनुपयुक्त आत्मा आगमद्रव्यजीवः। (स. सि. १-५; त. वृत्ति श्रुत. १-५)।

जीवविषयक अथवा मनुष्यजीवविषयक प्राभृत का ज्ञाता होकर जो वर्तमान में उसके उपयोग से रहित है उसे आगमद्रव्यजीव कहते हैं।

आगमद्रव्यत्याग—द्रव्येण बाह्यवृत्त्या इन्द्रियसुखाभिलाषेण उपयोगभूतेन वा यत् त्यागः द्रव्यत्यागः, द्रव्यस्य द्रव्याणां वा आहारोपधिप्रमुखस्य त्यागः, द्रव्यरूपः त्यागः द्रव्यत्यागः, स च आगमतः द्रव्यत्यागः [त्याग] स्वरूपज्ञानी अनुपयुक्तः। (ज्ञानसार वृ. ८, उत्थानिका, पृ. २९)।

जो जीव त्यागस्वरूप का ज्ञाता होकर तद्विषयक उपयोग से रहित होता है उसे आगमद्रव्यत्याग कहते हैं।

आगमद्रव्यदृष्टिवाद—तत्थ दिट्ठिवादजाणओ अणुवजुत्तो भट्टाभट्टसंसकारो पुरिसो आगमदव्वदिट्ठिवादो। (धव. पु. ९, पृ. २०४)।

जो दृष्टिवाद का ज्ञाता होकर वर्तमान में तद्विषयक उपयोग से रहित होता हुआ उसके विस्मृत या अविस्मृत संस्कार से युक्त हो उसे आगमद्रव्यदृष्टिवाद कहते हैं।

आगमद्रव्यनन्दी—तत्रागमतो नन्दिशब्दार्थज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः। (बृहत्क. वृ. २४)।

नन्दि-शब्द और उसके अर्थ का ज्ञाता होकर वर्तमान में अनुपयुक्त पुरुष को आगमद्रव्यनन्दी कहते हैं।

आगमद्रव्यनमस्कार—नमस्कारप्राभृतं नामास्ति ग्रन्थः यत्र नय-प्रमाणादि-निक्षेपादिमुखेन नमस्कारो

निरूप्यते, तं यो वेत्ति, न च साम्प्रतं तन्निरूप्येऽर्थ उपयुक्तोऽन्यगतचित्तत्वात् । स नमस्कारयाथात्म्यग्राहिश्रुतज्ञानस्य कारणत्वादागमद्रव्यनमस्कार इत्युच्यते । (भ. आ. विजयो. टी. ७५३) ।

नमस्कारविषयक प्राभृत का ज्ञाता होकर जो वर्तमान में तद्विषयक उपयोग से रहित होता हुआ उसके अर्थ का निरूपण नहीं कर रहा है उसे आगमद्रव्य-नमस्कार कहते हैं ।

आगमद्रव्यनारक — णेरइयपाहुडजाणओ अणुवजुत्तो आगमदव्वणेरइओ । (धव. पु. ७, पृ. ३०)।

नारकप्राभृत का ज्ञाता होकर वर्तमान में अनुपयुक्त जीव को आगमद्रव्यनारक कहते हैं ।

आगमद्रव्यपरिहार—तत्र आगमतः परिहारशब्दार्थज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः । (व्यव. भा. मलय. वृ. २–२७, पृ. १०) ।

परिहार शब्द के अर्थ के जानने वाले, किन्तु वर्तमान में तद्विषयक उपयोग से रहित पुरुष को आगमद्रव्यपरिहार कहते हैं ।

आगमद्रव्यपूर्ण—आगमतो द्रव्यं पूर्ण-पदस्यार्थज्ञाता अनुपयुक्तः । (ज्ञानसार वृ. १–८) ।

जो 'पूर्ण' पद के अर्थ का ज्ञाता होकर तद्विषयक उपयोग से रहित होता है उसे आगमद्रव्यपूर्ण कहते हैं ।

आगमद्रव्यपूर्वगत—पुव्वमणवपारओ अणुवजुत्तो आगमदव्वपुव्वगयं । (धव. पु. ९, पृ. २११) ।

पूर्वगत श्रुत के पारगामी, किन्तु वर्तमान में उसके उपयोग से रहित पुरुष को आगमद्रव्यपूर्वगत कहते हैं ।

आगमद्रव्यप्रकृति—आगमो गंथो सुदणाणं दुवालसंगमिदि एयट्ठो । आगमस्स दव्वं जीवो आगमदव्वं, सा चेव पयडी आगमदव्वपयडी । (धव. पु. १३, पृ. २०३) ।

आगमद्रव्य से अभिप्राय जीव का है । वही प्रकृति आगमद्रव्यप्रकृति कही जाती है । तात्पर्य यह कि जीवप्रकृतिविषयक आगम के ज्ञाता, किन्तु वर्तमान में अनुपयुक्त जीव को आगमद्रव्यप्रकृति कहते हैं ।

आगमद्रव्यप्रतिक्रमण—प्रमाण-नय-निक्षेपादिभिः प्रतिक्रमणावश्यकस्वरूपज्ञ-सूत्रानुपयुक्तः प्रत्ययप्रतिक्रमणकारणत्वादागमद्रव्यप्रतिक्रमणशब्देनोच्यते । (भ. आ. विजयो. टी. ११६) ।

प्रमाण, नय और निक्षेप आदि के द्वारा प्रतिक्रमण आवश्यक विषयक आगम का ज्ञाता होकर जो वर्तमान में उसके उपयोग से रहित है उसे आगमद्रव्यप्रतिक्रमण कहते हैं ।

आगमद्रव्यबन्ध—जो सो आगमदो दव्वबंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो—ठिदं जिदं परिजिदं वायणोवगदं सुत्तसमं अत्थसमं गंथसमं णामसमं घोससमं । जा तत्थ वायणा वा पुच्छणा वा पडिच्छणा वा परियट्टणा वा अणुपेहणा वा थय-थुदि-धम्मकहा वा जे चामण्णे एवमादिया अणुवजोगा दव्वे त्ति कट्टु जावदिया अणुवजुत्ता भावा सो सव्वो आगमदो दव्वबंधो णाम । (षट्ख.—धव. पु. १४, पृ. २७) ।

स्थित, जित एवं परिजित आदि जो बन्ध सम्बन्धी आगम के नौ अधिकार हैं; उनका ज्ञाता होकर तद्विषयक वाचना-पृच्छनादि उपयोगविशेषों से जो वर्तमान में रहित है उसे आगमद्रव्यबन्ध कहते हैं ।

आगमद्रव्यबन्धक — बंधयपाहुडजाणया अणुवजुत्ता आगमदव्वबंधया णाम । (धव. पु. ७, पृ. ४) ।

बन्धकविषयक प्राभृत का ज्ञाता होकर जो वर्तमान में उसके उपयोग से रहित होता है उसे आगमद्रव्यबन्धक कहते हैं ।

आगमद्रव्यभाव—भावपाहुडजाणओ अणुवजुत्तो आगमदव्वभावो । (धव. पु. ५, पृ. १८४) ।

भावविषयक प्राभृत का ज्ञायक, किन्तु वर्तमान में उसके उपयोग से रहित जीव को आगमद्रव्यभाव कहते हैं ।

आगमद्रव्यमंगल—१. आगमओऽणुवजुत्तो मंगलसद्दाणुवासिओ वत्ता । तन्नाणलद्धिसहिओऽवि नोवउत्तो त्ति तो दव्वं ॥ (विशेषा. २९) । २. तत्र आगमतः खल्वागममधिकृत्य, आगमापेक्षमित्यर्थः । × × × तत्रागमतो मंगलशब्दाध्येता अनुपयुक्तो द्रव्यमंगलम्, 'अनुपयोगो द्रव्यम्' इति वचनात् । (आव. नि. हरि. वृ. १, पृ. ५) । ३. तत्थ आगमदो दव्वमंगलं णाम मंगलपाहुडजाणओ अणुवजुत्तो, मंगलपाहुडसद्दरयणा वा, तस्सत्थट्ठवणक्खररयणा वा । (धव. पु. १, पृ. २१) ।

३ जो जीव मंगलप्राभृत का ज्ञाता होकर वर्तमान में तद्विषयक उपयोग से रहित होता है उसे, अथवा मंगलप्राभृत की शब्दरचना या उसके प्राभृतार्थ की

स्थापनारूप अक्षरों की रचना को भी आगमद्रव्य-मंगल कहते हैं।

आगमद्रव्यमास—आगमतो मास-शब्दार्थज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १-१४)।

'मास' शब्द के अर्थ के जानने वाले, पर वर्तमान में उसमें अनुपयुक्त पुरुष को आगमद्रव्यमास कहते हैं।

आगमद्रव्ययोग—तत्थ आगमदव्वजोगो णाम जोगपाहुडजाणओ अणुवजुत्तो। (धव. पु. १०, पृ. ४३३)।

योगविषयक प्राभृत के ज्ञायक, किन्तु वर्तमान में उसके उपयोग से रहित पुरुष को आगमद्रव्ययोग कहते हैं।

आगमद्रव्यवन्दना — वन्दनाव्यावर्णनप्राभृतज्ञोऽनुपयुक्त आगमद्रव्यवन्दना। (मूला. वृ. ७–७७)।

वन्दना के वर्णन करने वाले प्राभृत के ज्ञायक, किन्तु वर्तमान में अनुपयुक्त जीव को आगमद्रव्य-वन्दना कहते हैं।

आगमद्रव्यवर्गणा—वग्गणपाहुडजाणओ अणुवजुत्तो आगमदव्ववग्गणा णाम। (धव. पु. १४, पृ. ५२)।

वर्गणाप्राभृत का ज्ञाता होकर जो तद्विषयक उपयोग से रहित होता है उसे आगमद्रव्यवर्गणा कहते हैं।

आगमद्रव्यवेदना—वेयणपाहुडजाणओ अणुवजुत्तो आगमदव्ववेयणा। (धव. पु. १०, पृ. ७)।

वेदनाविषयक प्राभृत के ज्ञायक, किन्तु वर्तमान में उसके उपयोग से रहित जीव को आगमद्रव्यवेदना कहते हैं।

आगमद्रव्यव्यवहार—आगमतो व्यवहारपदज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः। (व्यव. भा. मलय. वृ. १–६)।

जो जीव व्यवहार पद का ज्ञाता होकर तद्विषयक उपयोग से रहित हो उसे आगमद्रव्यव्यवहार कहते हैं।

आगमद्रव्यव्रत— भाविव्रतत्वग्राहिज्ञानपरिणतिरात्मा आगमद्रव्यव्रतम्। (भ. आ. विजयो. टी. ११८५)।

आगामी काल में व्रत के ग्रहण करने वाले ज्ञान से परिणत होने वाले आत्मा को आगमद्रव्यव्रत कहते हैं।

आगमद्रव्यशम—द्रव्यशमः आगमतः शमस्वरूप-परिज्ञानी अनुपयुक्तः। (ज्ञानसार वृ. ६, पृ. २२)।

शमस्वरूप का जानकार होता हुआ जो वर्तमान में तद्विषयक उपयोग से रहित हो उसे आगमद्रव्यशम कहते हैं।

आगमद्रव्यश्रमण—द्रव्यश्रमणो द्विधा आगमतो नोआगमतश्च। आगमतो ज्ञाताऽनुपयुक्तः। (दशवै. नि. हरि. वृ. ३–१५३)।

जो श्रमणशास्त्र का ज्ञाता होकर तद्विषयक उपयोग से रहित होता है उसे आगमद्रव्यश्रमण कहते हैं।

आगमद्रव्यश्रुत—१. से किं तं आगमतो दव्वसुअं? जस्स णं सुए त्ति पयं सिक्खियं ठियं जियं जाव, णो अणुप्पेहाए। कम्हा? अणुवओगो दव्वमिति कट्टु। नेगमस्स णं एगो अणुवउत्तो आगमतो एगं दव्वसुअं जाव 'कम्हा'। जइ जाणइ अणुवउत्ते न भवइ। से तं आगमतो दव्वसुअं। (अनुयो. सू. ३३, पृ. ३२)। २. यस्य कस्यचित् श्रुतमिति पदं श्रुतपदाभिधेयमाचारादिशास्त्रं शिक्षितं स्थितं यावद्वाचनोपगतं भवति स जन्तुस्तत्र वाचना-पृच्छनादिभिर्वर्तमानोऽपि श्रुतोपयोगेऽवर्तमानत्वादागमतः—आगममाश्रित्य—द्रव्यश्रुतमिति समुदायार्थः। (अनुयो. मल. हेम. वृ. ३३)। ३. यस्य श्रुतमिति पदं शिक्षितादिगुणान्वितं ज्ञातम्, न च तत्रोपयोगः, तस्य आगमतो द्रव्यश्रुतम्। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १–१२, पृ. ८)।

२ जिसके 'श्रुत'पद और उसके वाच्यभूत आचारागादि आगम शिक्षित व स्थित आदि के क्रम से वाचनोपगत तक (अनुयोगद्वार सूत्र १३) गुणों से युक्त हों, वह वाचना-पृच्छना आदि से युक्त होता हुआ भी जब श्रुतोपयोग से रहित होता है तब उसे आगमद्रव्यश्रुत कहा जाता है।

आगमद्रव्यसामायिक—सामायिकवर्णनप्राभृतज्ञायी अनुपयुक्तः आगमद्रव्यसामायिकं नाम। (मूला. वृ. ७–१७; अन. ध. स्वो. टी. ८–१९)।

सामायिक के वर्णन करने वाले प्राभृत का ज्ञाता होकर जो वर्तमान में उसके उपयोग से रहित है उसे आगमद्रव्यसामायिक कहते हैं।

आगमद्रव्यसिद्ध — सिद्धस्वरूपप्रकाशनपरिज्ञानपरिणतिसामर्थ्याध्यासित आत्मा आगमद्रव्यसिद्धः। (भ. आ. विजयो. टी. १); आगमद्रव्यसिद्धः सिद्धप्राभृतज्ञः सिद्धशब्देनोच्यतेऽनुपयुक्तः। (भ. आ. विजयो. टी. ४६)।

सिद्धों के स्वरूप का निरूपण करने वाले आगम का

ज्ञाता होकर वर्तमान में जो उसके उपयोग से रहित है उसे आगमद्रव्यसिद्ध कहते हैं।

आगमद्रव्यस्कन्ध—से किं तं आगमतो दव्वक्खंधे? जस्स णं खंधे त्ति पयं सिक्खियं सेसं जहा दव्वावस्सए (सू. १३–१४) तहा भाणिदव्वं। नवरं खंधाभिलावो जाव। (अनुयो. सू. ४६)।

जिसे 'स्कन्ध' यह पद शिक्षितादि के क्रम से वाचनोपगत तक ज्ञात है, पर वर्तमान में जो तद्विषयक उपयोग से रहित है, उसे आगमद्रव्यस्कन्ध कहते हैं।

आगमद्रव्यस्तव— चतुर्विंशतिस्तवव्यावर्णनप्राभृतज्ञाय्यनुपयुक्त आगमद्रव्यस्तवः। (मूला. वृ. ७-४१)।

चौबीस तीर्थंकरों के स्तवनविषयक प्राभृत का ज्ञाता होकर भी जो वर्तमान में तद्विषयक उपयोग से रहित हो उसे आगमद्रव्यस्तव कहते हैं।

आगमद्रव्यस्पर्शन — तत्थ फोसणपाहुडजाणगो अणुवजुत्तो खओवसमसहिओ आगमदो दव्वफोसणं णाम। (धव. पु. ४, पृ. १४२)।

स्पर्शनविषयक प्राभृत के ज्ञाता, किन्तु वर्तमान में उसके उपयोग से रहित, क्षयोपशमयुक्त पुरुष को आगमद्रव्यस्पर्शन कहते हैं।

आगमद्रव्याङ्ग—अंगसुदपारओ अणुवजुत्तो भट्ठाभट्ठसंसकारो आगमदव्वंगं। (धव. पु. ९, पृ. १९२)।

जो अंगश्रुत का पारगामी होकर उसके विनष्ट अथवा अविनष्ट संस्कार से सहित होता हुआ वर्तमान में तद्विषयक उपयोग से रहित हो उसे आगमद्रव्यांग कहते हैं।

आगमद्रव्याध्ययन—से किं तं आगमओ दव्वज्झयणे? जस्स णं अज्झयणेत्ति पयं सिक्खियं ठियं जियं मियं परिजियं जाव एवं जावइया अणुवउत्ता आगमओ तावइआइं दव्वज्झयणाइं। एवमेव ववहारस्स वि। संगहस्स णं एगो वा अणेगो वा जाव, से तं आगमओ दव्वज्झयणे। (अनुयो. सू. १५०, पृ. २५०)।

जिस जीव के 'अध्ययन' यह पद शिक्षित, स्थित, जित, मित व परिजित आदि गुरुवाचनोपगत तक है, इस प्रकार नैगम नय की अपेक्षा जितने भी अध्ययन उपयोग से रहित हैं वे सब द्रव्य-अध्ययन हैं। अभिप्राय यह है कि जो जीव अध्ययन पद का शिक्षित-स्थित आदि के क्रम से ज्ञाता तो है; पर तद्विषयक उपयोग से रहित है, वह आगमद्रव्याध्ययन कहलाता है। नैगम नय की अपेक्षा एक दो आदि जितने भी अध्ययन उपयोग से रहित होते हैं उतने (एक-दो आदि) वे आगमद्रव्याध्ययन कहे जाते हैं।

आगमद्रव्यानन्त—तत्थ आगमदो दव्वाणंतं अणंतपाहुडजाणओ अणुवजुत्तो। (धव. पु. ३, पृ. १२)।

जो जीव अनन्तविषयक प्राभृत का ज्ञाता होकर वर्तमान में तद्विषयक उपयोग से रहित हो उसे आगमद्रव्यानन्त कहते हैं।

आगमद्रव्यानुपूर्वी—से किं तं आगमओ दव्वाणुपुव्वी? जस्स णं आणुपुव्वित्ति पयं सिक्खियं ठियं जियं मियं परिजियं जाव, नो अणुप्पेहाए। कम्हा? अणुवओगो दव्वमिति कट्टु। णेगमस्स णं एगो अणुवउत्तो आगमओ एगा दव्वाणुपुव्वी जाव 'कम्हा'। जइ जाणए अणुवउत्ते ण भवइ, से तं आगमओ दव्वाणुपुव्वी। (अनुयो. सू. ७२)।

जिसके आनुपूर्वी पद शिक्षित व स्थित आदि के क्रम से वाचनोपगत तक गुणों से सहित हैं, परन्तु जो तद्विषयक उपयोग से रहित है; उसे आगमद्रव्यानुपूर्वी कहते हैं।

आगमद्रव्यानुयोग — आगमतोऽनुयोगपदार्थज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः। (आव. नि. मलय. वृ. १२९)।

अनुयोग पद के अर्थ के जानने वाले, किन्तु वर्तमान में उसके उपयोग से रहित जीव को आगमद्रव्यानुयोग कहते हैं।

आगमद्रव्यान्तर—अंतरपाहुडजाणओ अणुवजुत्तो अंतरदव्वागमो वा आगमदव्वंतरं। (धव. पु. ५, पृ. २)।

अन्तरविषयक आगम के ज्ञायक, किन्तु वर्तमान में अनुपयुक्त जीव को आगमद्रव्यान्तर कहते हैं। अथवा अन्तरविषयक द्रव्य-आगम को आगमद्रव्यान्तर कहते हैं।

आगमद्रव्यार्हन् — आगमद्रव्यार्हन्नर्हत्स्वरूपव्यावर्णनपरप्राभृतज्ञोऽनुपयुक्तस्तदर्थेऽन्यत्र व्यापृतः। (भ. आ. विजयो. टी. ४६)।

अर्हन्त के स्वरूप का वर्णन करने वाले आगम के ज्ञाता, किन्तु वर्तमान में उसके उपयोग से रहित होकर अन्य विषय में उपयुक्त जीव को आगमद्रव्यार्हन् कहते हैं।

आगमद्रव्याल्पबहुत्व — अप्पाबहुअपाहुडजाणओ

अणुवजुत्तो आगमदव्वप्पाबहुअं। (धव. पु. ५, पृ. २४२)।

जो जीव अल्पबहुत्वप्राभृत का ज्ञाता होकर वर्तमान में उसके उपयोग से रहित हो उसे आगमद्रव्याल्प-बहुत्व कहते हैं।

आगमद्रव्यावश्यक—जस्सं णं आवस्सए त्ति पदं सिक्खितं ठितं जितं मितं परिजितं नामसमं घोससमं अहीणक्खरं अणच्चक्खरं अव्वाइद्धक्खरं अक्खलिअं अमिलिअं अवच्चामेलिअं पडिपुण्णं पडिपुण्णघोसं कंठोट्ठविप्पमुक्कं गुरुवायणोवगयं, से णं तत्थ वायणाए पुच्छणाए परिअट्टणाए धम्मकहाए, नो अणुप्पेहाए। कम्हा ? अणुवओगो दव्वमिति कट्टु। (अनुयो. सू. १३)।

जिसे आवश्यक यह पद शिक्षित, स्थित, जित व मित आदि के क्रम से गुरुवाचनोपगत तक है और जो वाचना, प्रच्छना, परिवर्तना एवं धर्मकथा में व्यापृत है; पर अनुप्रेक्षा (चिन्तन) में व्यापृत नहीं है, उसे आगमद्रव्यावश्यक कहते हैं।

आगमद्रव्योत्तर — द्रव्योत्तरमागमतो ज्ञाताऽनुपयुक्तः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १–१, पृ. ३)।

'उत्तर' पद के अर्थ के ज्ञाता, किन्तु वर्तमान में अनुपयुक्त जीव को आगमद्रव्योत्तर कहते हैं।

आगमद्रव्योपक्रम — आगमत उपक्रमशब्दार्थस्य ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः, अनुपयोगो द्रव्यमिति वचनात्। (व्यव. भा. मलय. वृ. १–१, पृ. १; जम्बूद्वी. शा. वृ. पृ. ५)।

जो उपक्रम पद का ज्ञाता होकर वर्तमान में तद्विषयक उपयोग से रहित हो उसे आगमद्रव्योपक्रम कहते हैं।

आगमभाव—१. आगमः प्राभृतज्ञायी पुमांस्तत्रोपयुक्तधीः। (त. श्लो. १, ५, ६७)। २. जीवादिप्राभृतविषयोपयोगाविष्ट आत्मा आगमभावः। (न्यायकु. ७–७६, पृ. ८०७)। ३. तत्र आगमभावो जीवादिप्राभृतज्ञायी तदुपयुक्तः श्रुतज्ञानी। (लघीय. अभय. वृ. ७–४, पृ. ६८)।

२ जीवादिप्राभृतविषयक उपयोग से युक्त जीव को आगमभाव निक्षेप कहते हैं।

आगमभाव-अध्ययन—से किं आगमओ भावज्झयणे ? जाणए उवउत्ते, से तं आगमओ भावज्झयणे। (अनुयो. सू. १५०, पृ. २५१।

अध्ययन का ज्ञाता होकर जो वर्तमान में तद्विषयक उपयोग से भी सहित हो, उसे आगमभाव-अध्ययन कहते हैं।

आगमभावकर्म—कम्मागमपरिजाणगजीवो कम्मागमम्हि उवजुत्तो। भावागमकम्मो त्ति य तस्स य सण्णा हवे णियमा॥ (गो. क. ६५)।

कर्मविषयक आगम को जानते हुए उसमें उपयुक्त जीव को आगमभावकर्म कहते हैं।

आगमभावकर्मप्रकृतिप्राभृत— कम्मपयडिपाहुडजाणओ उवजुत्तो आगमभावकम्मपयडिपाहुडं। (धव. पु. ६, पृ. १३०)।

कर्मप्रकृतिप्राभृत के ज्ञायक और उसमें उपयुक्त जीव को आगमभावकर्मप्रकृतिप्राभृत कहते हैं।

आगमभावकाल — कालपाहुडजाणओ उवजुत्तो जीवो आगमभावकालो। (धव. पु. ४, पृ. ३१६)।

कालविषयक आगम के ज्ञायक और उसमें उपयुक्त जीव को आगमभावकाल कहते हैं।

आगमभावकृति—जा सा भावकदी णाम सा उवजुत्तो पाहुडजाणगो॥ एत्थ पाहुडसद्दो कदीए विसेसिदव्वो, पाहुडसामण्णेण अहियाराभावादो। तदो कदिपाहुडजाणओ उवजुत्तो भावकदि त्ति सिद्धं। (षट्खं. ४, १, ७४—पु. ६, पृ. ४५१)।

जो जीव कृतिप्राभृत का ज्ञाता होकर तद्विषयक उपयोग से भी युक्त है उसे आगमभावकृति कहते हैं।

आगमभावक्षेत्र—आगमदो भावखेत्तं खेत्तपाहुडजाणगो उवजुत्तो। (धव. पु. ४, पृ. ७ व पु. ११, पृ. २)।

क्षेत्रविषयक आगम का ज्ञाता होकर जो जीव उसमें उपयुक्त है उसे आगमभावक्षेत्र कहते हैं।

आगमभावग्रन्थकृति—गंथकइपाहुडजाणओ उवजुत्तो आगमभावगंथकई णाम। (धव. पु. ६, पृ. ३२२)।

ग्रन्थकृतिविषयक प्राभृत का ज्ञाता होकर जो जीव उसमें उपयुक्त है उसे आगमभावग्रन्थकृति कहते हैं।

आगमभावचतुर्विंशतिस्तव—चतुर्विंशतिस्तवव्यावर्णनप्राभृतज्ञायी उपयुक्त आगमभावचतुर्विंशतिस्तवः। (मूला. वृ. ७–४१)।

चतुर्विंशतिस्तव के वर्णन करने वाले प्राभृत के

ज्ञाता होकर उसमें उपयुक्त जीव को आगमभाव-चतुर्विशतिस्तव कहते हैं।

आगमभावच्यवनलब्धि — चयणलद्धिवत्थुपारओ उवजुत्तो आगमभावचयणलद्धी। (धव. पु. ६, पृ. २२८)।

च्यवनलब्धि नामक वस्तु का पारंगत होकर उसमें उपयुक्त जीव को आगमभावच्यवनलब्धि कहते हैं।

आगमभावजिन — जिणपाहुडजाणओ उवजुत्तो आगमभावजिणो। (धव. पु. ६, पृ. ८)।

जिनविषयक प्राभृत का ज्ञाता होकर उसमें उपयुक्त जीव को आगमभावजिन कहते हैं।

आगमभावजीव — १. जीवप्राभृतविषयोपयोगाविष्टो मनुष्यजीवप्राभृतविषयोपयोगयुक्तो वात्मा आगमभावजीवः। (स. सि. १–५)। २. तत्प्राभृतविषयोपयोगाविष्ट आत्मा आगमः। जीवादिप्राभृतविषयेणोपयोगेनाविष्ट आत्मा आगमतो भावजीवो भावसम्यग्दर्शनमिति चोच्यते। (त. वा. १, ५, १०)। ३. तत्र जीवप्राभृतविषयोपयोगाविष्टः परिणत आत्मा आगमभावजीवः कथ्यते, मनुष्यजीवप्राभृतविषयोपयोगसंयुक्तो वाऽत्मा आगमभावजीवः कथ्यते। (त. वृत्ति श्रुत. १–५)।

१ जीवविषयक अथवा मनुष्यजीवविषयक प्राभृत का ज्ञाता होकर उसमें उपयुक्त जीव को आगमभावजीव कहते हैं।

आगमभावदृष्टिवाद—दिट्ठिवादजाणओ उवजुत्तो आगमभावदिट्ठिवादो। (धव. पु. ६, पृ. २०५)।

दृष्टिवाद का ज्ञायक होकर उसमें उपयुक्त जीव को आगमभावदृष्टिवाद कहते हैं।

आगमभावनन्दी—तथाऽऽगमतो नन्दि-शब्दार्थस्य ज्ञाता तत्र चोपयुक्तः। (बृहत्क. मलय. वृ. २४)।

नन्दी शब्द के अर्थ का ज्ञाता होकर जो तद्विषयक उपयोग से भी युक्त है उसे आगमभावनन्दी कहते हैं।

आगमभावनमस्कार — स्थापना(?) अर्हदादीनां आगमनमस्कारज्ञानं आगमभावनमस्कारः। (भ. आ. विजयो. टी. ७५३)।

अरिहन्त आदि के नमस्कारविषयक आगम के ज्ञाता और उसमें उपयुक्त जीव को आगमभावनमस्कार कहते हैं।

ल. २३

आगमभावनारक—णेरइयपाहुडजाणओ उवजुत्तो आगमभावणेरइओ णाम। (धव. पु. ७, पृ. ३०)।

नारकविषयक प्राभृत का ज्ञाता होकर जो जीव उसमें उपयुक्त है उसे आगमभावनारक कहते हैं।

आगमभावपूर्ण—भावपूर्णः आगमतः पूर्णपदार्थः [र्थज्ञः] समस्तोपयोगी। (ज्ञानसार वृ. १–८, पृ. ४)।

जो 'पूर्ण' पद के अर्थ का ज्ञाता होकर तद्विषयक उपयोग से सहित हो उसे आगमभावपूर्ण कहते हैं।

आगमभावपूर्वगत—चोद्दसविज्जाट्ठाणपारओ उवजुत्तो आगमभावपुव्वगयं। (धव. पु. ६, पृ. २११)।

चौदह विद्यास्थानरूप पूर्वो का पारंगत होकर जो जीव उसमें उपयुक्त है उसे आगमभावपूर्वगत कहते हैं।

आगमभावप्रकृति—जा सा आगमदो भावपयडी णाम तिस्से इमो णिद्देसो—ट्ठिदं जिदं परिजिदं वायणोवगदं सुत्तसमं अत्थसमं गंथसमं णामसमं घोससमं। जा तत्थ वायणा वा पुच्छणा वा पडिच्छणा वा परियट्टणा वा अणुपेहणा वा थय-थुदि-धम्मकहा वा जे चामण्णे एवमादिया उवजोगा भावे त्ति कट्टु जावदिया उवजुत्ता भावा सा सव्वा आगमदो भावपयडी णाम। (षट्खं. ५, ५, १३९—धव. पु. १३, पृ. ३९०)।

जो जीव प्रकृतिविषयक स्थित व जित आदि घोषसम पर्यन्त आगमाधिकारों से युक्त होकर तद्विषयक वाचना-प्रच्छनादि में व्यापृत भी हो उसे आगमभावप्रकृति कहते हैं।

आगमभावप्रतिक्रमण—प्रतिक्रमणप्रत्यय आगमभावप्रतिक्रमणम्। (भ. आ. विजयो. टी. ११६)।

प्रतिक्रमणविषयक आगम के ज्ञान से युक्त होकर जो जीव तद्विषयक उपयोग से भी सहित हो उसे आगमभावप्रतिक्रमण कहते हैं।

आगमभाववन्ध—जो सो आगमदो भावबंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो—ट्ठिदं जिदं परिजिदं वायणोवगदं सुत्तसमं अत्थसमं गंथसमं णामसमं घोससमं। जा तत्थ वायणा वा पुच्छणा वा पडिच्छणा वा परियट्टणा वा अणुपेहणा वा थय-थुदि-धम्मकहा वा जे चामण्णे एवमादिया उवजोगा भावे त्ति कट्टु

जावदिया उवजुत्ता भावा सो सव्वो आगमदो भावबंधो णाम। (षट्खं. ५, ६, १२—पु. १४, पृ. ७)।
जो जीव बन्धविषयक आगम के स्थित-जितादि नौ अर्थाधिकारों से सहित होकर तद्विषयक वाचना-प्रच्छनादिरूप उपयोग से भी युक्त हो उसे आगमभावबन्ध कहते हैं।

आगमभावभाव — भावपाहुडजाणओ उवजुत्तो आगमभावभावो णाम। (धव. पु. ५, पृ. १८४)।
भावविषयक प्राभृत का ज्ञायक होकर तद्विषयक उपयोगयुक्त पुरुष को आगमभावभाव कहते हैं।

आगमभाववर्गणा—वग्गणपाहुडजाणओ उवजुत्तो आगमभाववग्गणा। (धव. पु. १४, पृ. ५२)।
वर्गणाविषयक प्राभृत का ज्ञाता होकर तद्विषयक उपयोग से युक्त पुरुष को आगमभाववर्गणा कहते हैं।

आगमभाववेदना—तत्थ वेयणाणियोगद्दारजाणओ उवजुत्तो आगमभाववेयणा। (धव. पु. १०, पृ. ८)।
वेदना अनुयोगद्वार का ज्ञाता होकर तद्विषयक उपयोग से युक्त पुरुष को आगमभाववेदना कहते हैं।

आगमभावसामायिक — सामायिकवर्णनप्राभृतज्ञाय्युपयुक्तो जीव आगमभावसामायिकं नाम। (मूला. वृ. ८–१७)।
सामायिक का वर्णन करने वाले प्राभृत का ज्ञाता होकर उसमें उपयुक्त जीव को आगमभावसामायिक कहते हैं।

आगमभावाग्रायणीय—तत्थ अग्गेणियपुव्वहरो उवजुत्तो आगमभावग्गेणियं। (धव. पु. ६, पृ. २२५)।
आग्रायणीय पूर्व का ज्ञाता होकर तद्विषयक उपयोग से युक्त जीव को आगमभावाग्रायणीय कहते हैं।

आगमभावान्तर— अंतरपाहुडजाणओ उवजुत्तो भावागमो वा आगमभावंतरं। (धव. पु. ५, पृ. ३)।
अन्तरविषयक प्राभृत के ज्ञायक और उसमें उपयुक्त जीव को आगमभावान्तर कहते हैं। अथवा अन्तरविषयक भावागम को आगमभावान्तर कहते हैं।

आगमभावार्हन् — अर्हद्व्यावर्णनपरप्राभृतप्रत्ययोऽर्हन्निर्भासो बोध आगमभावार्हन्। (भ. आ. विजयो. टी. ४६)।
अरहन्त के स्वरूप का वर्णन करने वाले प्राभृत के ज्ञान से सहित जीव को अथवा उनके स्वरूप के प्रकाशक बोध को आगमभावार्हन् कहते हैं।

आगमभावाल्पबहुत्व — अप्पाबहुअपाहुडजाणओ उवजुत्तो आगमभावप्पाबहुअं। (धव. पु. ५, पृ. २४२)।
अल्पबहुत्वविषयक प्राभृत का ज्ञाता होकर तद्विषयक उपयोग से युक्त पुरुष को आगमभावाल्पबहुत्व कहते हैं।

आगमभावावश्यक—१. से किं तं आगमतो भावावस्सयं? जाणए उवउत्ते, से तं आगमतो भावावस्सयं। (अनुयो. सू. २३, पृ. २८)। २. संवेगजणितविसुज्झमाणभावस्स सुतमणुस्सरतो तदा भावयोगपरिणयस्स आगमतो भावावस्सगं भवति। (अनुयो. चू. पृ. १३)। ३. तत्र आगमतो भावावश्यकज्ञाता उपयुक्तः, तदुपयोगानन्यत्वात्। अथवाऽऽवश्यकार्थोपयोगपरिणाम एवेति। (आव. नि. हरि. वृ. ७६, पृ. ५२)। ४. ज्ञायक उपयुक्त आगमतो भावावश्यकम्। इदमुक्तं भवति—आवश्यकपदार्थज्ञस्तज्जनितसंवेगेन विशुद्धचमाणस्तत्र चोपयुक्तः साध्वादिरागमतो भावावश्यकम्। (अनुयो. मल. हेम. वृ. सू. २३, पृ. २८)।
१ आवश्यकविषयक शास्त्र के जानने वाले और उसमें उपयुक्त जीव को आगमभावावश्यक कहते हैं।

आगमभावोपक्रम—१. भावोपक्रमो द्विधा आगमतो नोआगमतश्च। आगमतो ज्ञाता उपयुक्तः। (आव. नि. हरि. वृ. ७६, पृ. ५५)। २. भावोपक्रमो द्विधा आगमतो नोआगमतश्च। तत्रागमत उपक्रमशब्दार्थस्य ज्ञाता तत्र चोपयुक्तः, उपयोगो भावनिक्षेप इति वचनात्। (व्यव. भा. मलय. वृ. १, पृ. २)। ३. आगमत उपक्रमशब्दार्थस्य ज्ञाता तत्र चोपयुक्तः। (जम्बूद्वी. शा. वृ. पृ. ६)।
२ उपक्रम शब्द के अर्थ के ज्ञाता और उसमें उपयुक्त जीव को आगमभावोपक्रम कहते हैं।

आगमसिद्ध—आगमसिद्धो सव्वंगपारओ गोयमो व्व गुणरासी। (आव. नि. ९३५)।
जो गौतम के समान गुणसमूह से अलंकृत होकर समस्त अंगश्रुत का पारगामी हो उसे आगमसिद्ध कहते हैं।

आगमाभास—१. राग-द्वेष-मोहाक्रान्तपुरुषवचनाज्जातमागमाभासम्। (परीक्षामुख ६–५१)।

२. अनाप्तवचनप्रभवं ज्ञानमागमाभासम्। (प्र. न. त. ६–८३)।

१ राग, द्वेष और मोह से व्याप्त पुरुष के वचनों से उत्पन्न हुए या रचे गये आगम को आगमाभास कहते हैं।

आगमोपलब्धि—१. अत्तागमप्पमाणेण अक्खर किंचि अविसयत्थे वि। भवियाऽभविया कुरवो नारग दियलोय मोक्खो य। (बृहत्क. भा. १-५३)। २. आप्ताः सर्वज्ञाः, तत्प्रणीत आगम आप्तागमः, × × × इयमत्र भावना—आप्तागमप्रामाण्यवशात् तस्मिंस्तस्मिन् वस्तुनि योऽक्षरलाभः, यथा—भव्य इति अभव्य इति देवकुरव इत्यादि, सा आगमोपलब्धिः। (बृहत्क. भा. मलय. वृ. १–५३)।

आप्तप्रणीत आगम के द्वारा विवक्षित वस्तु के विषय में जो अक्षरों का लाभ होता है—जैसे भव्य, अभव्य और देवकुरु आदि—उसे आगमोपलब्धि कहते हैं।

आगाल—१. × × × बीयाओ एइ आगलो॥ (पंचसं. उपश. २०, पृ. १६२)। २. द्वितीयस्थितेर्यत्पतति तदागालः। (पंचसं. स्वो. वृ. उपश. २०, पृ. १६२)। ३. आगालमागालो, विदियट्ठिदिपदेसाणं पढमट्ठिदीए ओकड्डणावसेणागमणमिदि वुत्तं होदि। (जयध. अ. प. ९५४)। ४. यत्पुनर्द्वितीयस्थितेः सकाशादुदीरणाप्रयोगेण समाकृष्योदये प्रक्षिपति स आगालः। (पंचसं. मलय. वृ. उपश. २०, पृ. १६३)। ५. यत्पुनर्द्वितीयस्थितेः सकाशादुदीरणाप्रयोगेणैव दलिकं समाकृष्योदये प्रक्षिपति सा उदीरणापि पूर्वसूरिभिर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थमागाल इत्युच्यते। (शतक. दे. स्वो. वृ. ९८, पृ. १२८)। ६. द्वितीयस्थितिद्रव्यस्यापकर्षणवशात् प्रथमस्थितावागमनमागालः। (ल. सा. टी. ८८)।

२ द्वितीय स्थिति का द्रव्य जो उदयस्थिति में आता है, इसका नाम आगाल है। ६ द्वितीय स्थिति के द्रव्य का अपकर्षण करके उसके प्रथम स्थिति में निक्षेपण करने को आगाल कहते हैं।

आचरण—१. माया प्रणिधिः उपधिः निकृतिः आचरणं वञ्चना दम्भः कूटम् अतिसन्धानम् अनार्जमित्यनर्थान्तरम्। (त. भा. ८–१०)। २. आचर्यते अभिगम्यते भक्ष्यते वा परस्तयोपायभूतयेत्याचरणम्। तथा च वृक-मार्जार-गृहकोलिकादयः प्रसिद्धाः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–१०, पृ. १४६)।

२ जिस उपायभूत माया व्यवहार के द्वारा दूसरे जीवों का घात किया जावे उसे आचरण कहते हैं। माया कषाय के प्रणिधि व उपधि आदि पर्याय शब्दों में से यह भी एक है।

आचरितदोष—तच्च (कुटी-कटकादिकं) दूरदेशादानीतमाचरितम्। (भ. आ. मूला. टी. २३०)।

दूर देश से लाई गई कुटी व चटाई आदि के ग्रहण करने को आचरित (वसतिका-उद्गम) दोष कहते हैं।

आचार—देखो आचारांग। १. से किं तमायारे? आयारे णं समणाणं णिग्गंथाणं आयार-गोयर-विणय-वेणइय-सिक्खा-भासा-अभासा-चरण-करण-जाया-माया-वित्तीओ आघविज्जं। × × × से तं आयारे। (णंदी. ४५, पृ. २०६)। २. आचरणमाचारः, आचर्यत इति वा आचारः, शिष्टाचरितो ज्ञानाद्यासेवनविधिरिति भावार्थः, तत्प्रतिपादको ग्रन्थोऽप्याचार एवोच्यते। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ७५)। ३. आचारो ज्ञानादिर्यत्र कथ्यते स आचारः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. १–२०)। ४. आचारे चर्याविधानं शुद्धचष्टक-पञ्चसमिति-त्रिगुप्तिविकल्पं कथ्यते। (त. वा. १, २०, १२; धव. पु. ९, पृ. १९७)। ५. णाणंमि दंसणंमि अ चरणंमि तवंमि तह य विरियम्मि। आयरणं आयारो इय एसो पंचहा भणिदो॥ (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. ३, पृ. १४)। ६. आचरणमाचारः आचर्यत इति वा आचारः, पूर्वपुरुषाचरितो ज्ञानाद्यासेवनविधिरित्यर्थः। तत्प्रतिपादकग्रन्थोऽप्याचार एवोच्यते। (नन्दी. मलय. वृ. ४५, पृ. २०९)। ७. आचरन्ति समन्ततोऽनुतिष्ठन्ति मोक्षमार्गमाराधयन्ति अस्मिन्ननेनेति वा आचारः। (गो. जी. जी. प्र. ३५६)।

१ जिस श्रुतस्कन्ध में निर्ग्रन्थ साधुओं के आचार (ज्ञानाचारादि), भिक्षाविधि, विनय, विनयफल, शिक्षा, भाषा, अभाषा, चरण (व्रतादि), करण (पिण्डशुद्धि आदि), संयमयात्रा, आहारयात्रा और वृत्ति (नियमविशेषों का परिपालन); इनका कथन किया गया है उसका नाम आचार है।

आचारवान्—१. आचारं पंचविहं चरदि चरावेदि जो णिरदिचारं। उवदिसदि य आचारं एसो आचारवं णाम॥ (भ. आ. ४१६)। २. आचार-

वमायारं पंचविहं मुणइ जो उ आयरइ। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. ७, पृ. २८)।

१ जो निरतिचार पांच प्रकार के आचार का स्वयं आचरण करता है, दूसरों को आचरण कराता है, तथा उसका उपदेश भी देता है; वह आचारवान् कहलाता है।

आचारविनय—तत्राचारविनयः स्वस्य परस्य वा संयमतपोगण[गुण-]प्रतिमाविहारादिसामाचारीसाधनलक्षणः। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. ३७, पृ. ८६)।

संयम, तपोगुण, प्रतिमा (श्रावक के स्थानभेद) एवं विहारादिरूप समाचारी के सिद्ध करने का नाम आचारविनय है।

आचाराङ्ग—देखो आचार। १. कथं चरे कथं चिट्ठे कथमासे कथं सए। कथं भुंजेज्ज भासेज्ज कथं पावं ण वज्झदि॥ जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये। जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण वज्झइ॥ (मूला. १०–१२१, १२२)। २. एत्थायारंगमट्ठारहपदसहस्सेहि १८००० "कधं चरे कधं चिट्ठे........" एवमादियं मुणीणमायारं वण्णेदि। (धव. पु. १, पृ. ९९; जयध. १, पृ. १२२)। ३. अष्टादशपदसहस्रपरिमाणं गुप्ति-समितियत्याचारसूचकमाचाराङ्गम् १८०००। (श्रुतभ. टी. ७, पृ. १७२)। ४. यत्याचारसूचकं अष्टादशसहस्रपदप्रमाणमाचाराङ्गम्। (त. वृत्ति श्रुत. १–२०)। ५. आयारं पढमंगं तत्थट्ठारससहस्सपयमेत्तं। यत्थायरंति भव्वा मोक्खपहं तेण तं णाम॥ कहं चरे कहं तिट्ठे कहमासे कहं सये। कहं भासे कहं भुंजे कहं पावं ण बंधइ। जदं चरे जदं तिट्ठे जदमासे जदं सये। जदं भासे जदं भुंजे एवं पावं ण बंधइ॥ महव्वयाणि पंचेव समिदीओऽक्खरोहणं। लोओ आवासयाछक्कमवच्छण्हभूसया॥ अदंतवणमेगभत्ती ठिदिभोयणमेव हि। यदीणं यं समायारं वित्थरेवं[णं]परूवए॥ (अंगपण्णत्ती १, १५–१९)।

१ जिसमें कैसे चला जाय, कैसे खड़ा हुआ जाय, और कैसे बैठा जाय, इत्यादि मुनियों के आचार का वर्णन किया जाता है उसे आचारांग कहते हैं।

आचार्य (आयरिय)–१. सदा आयारविद्दण्हू सदा आयरियं चरे। आयारमायारवंतो आयरिओ तेण उच्चदे॥ जम्हा पंचविहाचारं आचरंतो पभासदि। आयरियाणि देसंतो आयरिओ तेण वुच्चदे॥ (मूला. ७, ८–९)। २. पंचाचारसमग्गा पंचिंदिय-दंतिदप्पणिद्दलणा। धीरा गुणगंभीरा आयरिया एरिसा होंति॥ (नि. सा. ७३)। ३. पंचमहव्वयतुंगा तक्कालिय-स-परसमयसुदधारा। णाणागुणगणभरिया आइरिया मम पसीयंतु॥ (ति. प. १-३)। ४. मंदर-रवि-ससि-उवही वसुहाणिलधरणिकमलगयणसमा। णिययं आयारवरा आयरिया ×××॥ (पउमचरिय ८९–२०)। ५. आचरन्ति तस्माद् व्रतानीत्याचार्याः। (स. सि. ९–२४; त. श्लो. ९–२४; त. सुखबो. ९–२४; त. वृत्ति श्रुत. ९–२४)। ६. पंचविहं आयारं आयरमाणा तहा पगासंता। आयारं दंसंता आयरिया तेण वुच्चंति॥ (आव. नि. ९९४)। ७. आचरन्ति यस्माद् व्रतानीत्याचार्यः। यस्मात् सम्यग्ज्ञानादिगुणाधारादाहृत्य व्रतानि स्वर्गापवर्गसुखामृतबीजानि भव्या हितार्थमाचरन्ति स आचार्यः। (त. वा. ९, २४, ३)। ८. पंचविधमाचारं चरन्ति चारयन्तीत्याचार्याः चतुर्दशविद्यास्थानपारगाः एकादशाङ्गधराः। आचाराङ्गधरो वा तात्कालिकस्वसमय-परसमयपारगो वा मेरुरिव निश्चलः, क्षितिरिव सहिष्णुः, सागर इव बहिःक्षिप्तमलः, सप्तभयविप्रमुक्त आचार्यः। (धव. पु. १, पृ. ४८); पवयण-जलहि-जलोयर-ण्हायामल-बुद्धि-सुद्ध-छावासो। मेरु व्व णिप्पकंपो सूरो पंचाणणो वज्जो॥ देस-कुल-जाइसुद्धो सोमंगो संग-भंग-उम्मुक्को। गयण व्व णिरुवलेवो आइरियो एरिसो होई॥ संगह-णिग्गहकुसलो सुत्तत्थ-विसारओ पहियकित्ती। सारण-वारण-साहण-किरियुज्जत्तो हु आइरियो॥ (धव. पु. १, पृ. ४९ उद्धृत)। ९. पञ्चस्वचारेषु ये वर्तन्ते परांश्च वर्तयन्ति ते आचार्याः। (भ. आ. विजयो. तथा मूला. टी. ४४४)। १०. [आचारं] पञ्चप्रकारं स्वयमाचरन्ति तेभ्योऽन्ये चागत्याचरन्ति इत्याचार्याः। (प्रायश्चित्तवि. वृ. २५१)। ११. विचार्य सर्वमैतिह्यमाचार्यकमुपेयुषा। आचार्यवर्यानर्चामि संचार्य हृदयाम्बुजे॥ (उपासका. ४८७)। १२. यस्मात् सम्यग्ज्ञानादिपञ्चाचाराधारादाहृत्य व्रतानि स्वर्गापवर्गसुखकल्पकुजबीजानि भव्या आत्महितार्थमाचरन्ति स आचार्यः। (चा. सा. पृ. ६६)। १३. पंचाचारसमग्गे पंचिंदयणिज्जिदे विगयमोहे। पंचमहव्वयणिलये पंचमगइणायगायरिए॥ (जं. दी.

प. १–३)। १४. ये चारयन्त्याचरितं विचित्रं स्वयं चरन्तो जनमर्चनीयाः। आचार्यवर्या विचरन्तु ते मे प्रमोदमाने हृदयारविन्दे ॥ (अमित. श्रा. १–३)। १५. आचार्यः अनुयोगधरः। (आचा. शी. वृ. २, १, २७६, पृ. ३२२)। १६. सङ्ग्रहानुग्रहप्रौढो रूढः श्रुत-चरित्रयोः। यः पञ्चविधमाचारमाचारयति योगिनः ॥ वहिःक्षिप्तमलः सत्त्वगाम्भीर्यातिप्रसादवान्। गुणरत्नाकरः सोऽयमाचार्योऽवार्यवैर्यवान् ॥ (आचा. सा. २, ३२–३३)। १७. छत्तीसगुणसमग्गे पंचविहाचारकरणसंदरिसे। सिस्साणुग्गहकुसले धम्माइरिए सदा वंदे ॥ (लघु आ. भक्ति पृ. ३०५)। १८. पञ्चधाचारं स्वयमाचरन्ति शिष्यांश्चाचारयन्तीत्याचार्याः। (सा. दं.—क्रियाक. टी. पृ. १४२; कार्तिके. टी. ४५९); पञ्चधा चरन्त्याचारं शिष्यानाचारयन्ति च। सर्वशास्त्रविदो धीरास्ते आचार्याः प्रकीर्तिताः ॥ (क्रियाक. टी. पृ. १४३)। १९. दंसण-णाणपहाणे वीरिय-चारित्त-वरतवायारे। अप्पं परं च जुंजइ सो आइरियो मुणी झेओ ॥ (द्रव्यसं. ५२)। २०. आचाराराधनादि-चरणशास्त्रविस्तीर्णवहिरङ्गसहकारिकारणभूते व्यवहारपञ्चाचारे च स्वं परं च योजयत्यनुष्ठानेन सम्बन्धं करोति स आचार्यो भवति। (बृ. द्रव्यसं. ५२, पृ. १९२)। २१. आङित्यभिव्याप्त्या मर्यादया वा स्वयं पञ्चविधाचारं चरति आचारयति वा परान् आचार्यते वा मुक्त्यर्थिभिः आसेव्यते इति आचार्यः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १–५७, पृ. ३७; योगशा. स्वो. विव. ४–९०)। २२. आचार्योऽनुयोगाचार्यादिकः। (व्यव. भा. मलय. वृ. २–३४); आचार्यो गच्छाधिपतिः। (व्यव. भा. मलय. वृ. २–९४)। २३. पञ्चाचाररतो नित्यं मूलाचारविदग्रणीः। चातुर्वर्ण्यस्य सङ्घस्य यः स आचार्य इष्यते ॥ (नीतिसार १५)। २४. आचाराद्या गुणा अष्टौ तपो द्वादशधा दश। स्थितिकल्पः षडावश्यमाचार्योऽमीभिरन्वितः। (धर्मसं. श्रा. १०–११६)। २५. आचार्योऽनादितो रूढे योगादपि निरुच्यते। पञ्चाचारं परेभ्यः स आचारयति संयमी ॥ (लाटीसं. ४–१६७; पञ्चाध्यायी २-६४५)। २६. पडिरूवो तेयस्सी जुगप्पहाणागमो महुरवक्को। गंभीरो धीमंतो उवएसपरो अ आयरिओ ॥ (आ. दि. पृ. ११३ उ.)।

५ जिनसे भव्य जीव व्रतों का आचरण किया करते हैं वे आचार्य कहलाते हैं।

आचार्यपदायोग्य—हत्थे पाए कन्ने नासा उट्ठे विवज्जिया चेव। वामणग-वडभ-खुज्जा पंगुल-टुंटा य काणा य ॥ पच्छावि हुंति विगला आयरियत्तं न कप्पए तेसिं। सीसो ठावेअव्वो काणगमहिसो व नन्नम्मि ॥ (आ. दि. उद्धृत, पृ. ११३); पंचाचारविनिर्मुक्तः क्रूरः परुषभाषणः। कुरूपः खण्डिताङ्गश्च दुष्टदेशसमुद्भवः ॥ हीनजाति-कुलो मानी निर्विद्यश्चाविशेषवित्। विकत्थनश्च सासूयो वाह्यदृष्टिश्चलेन्द्रियः ॥ जनद्वेष्यः कातरश्च निर्गुणो निष्कलः खलः। इत्यादिदोषभाग् साधुर्नाचार्यपदमर्हति ॥ (आ. दि. पृ. ११३)।

जो दर्शनाचार आदि पांच प्रकार के आचार से रहित हो, क्रूर हो, कठोर भाषण करने वाला हो, कुरूप हो, विकृत अंग हो, दुष्ट देश में उत्पन्न हुआ हो, जाति-कुल से हीन हो, अभिमानी हो, विद्याविहीन हो, विशेषज्ञ न हो, आत्मप्रशंसक हो, ईर्ष्यालु हो, वाह्य शरीरादि में दृष्टि रखने वाला हो, इन्द्रियों की चंचलता से युक्त हो, जनों से द्वेष रखने वाला हो, कातर हो, गुणहीन हो, कलाओं से शून्य हो, और दुष्ट हो; ऐसा साधु आचार्य पदके अयोग्य होता है।

आचार्यभक्ति—१. अर्हदाचार्येषु वहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः (आचार्येषु भावविशुद्धियुक्तोऽनुराग आचार्यभक्तिः)। (स. सि. ६, २४; त. वा. ६, २४, १०)। २. आचार्येषु श्रुतज्ञान-दिव्यनयनेषु परहितकरप्रवृत्तिषु स्व-परसमयविस्तरनिश्चयज्ञेषु भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिस्त्रिधा कल्प्यते। (चा. सा. पृ. २६)। ३. आचार्येषु अनुरागो भक्तिः। (भा. प्रा. टी. ७७)। ४. आचार्याणाम् अपूर्वोपकरणदानं सन्मुखगमनं संभ्रमविधानं पादपूजनं दान-सन्मानादिविधानं मनःशुद्धियुक्तोऽनुराग आचार्यभक्तिरुच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ६–२४)।

१ आचार्यों में भावविशुद्धियुक्त अनुराग रखने को आचार्यभक्ति कहते हैं।

आचार्यवर्णजनन—१. मुक्ताहार-पयोधर-निशाकर-वासराधीश्वर-कल्पमहीरुहादय इव प्रत्युपकारानपेक्षानुग्रहव्यापृताः, निर्वाणपुरप्रापणक्षमे मार्गे निर्मले स्थिताः, परानपि विनतान् विनेयान् प्रवर्तयन्तः,

आयतातिधवलज्ञानपृथुलदर्शनपक्ष्मलेक्षणाः, कुलीना विनता विभया विमाना विरागा विशल्या विमोहा वर्चसि तपसि महसि वा ऽद्वितीया इव भूषणं सूरय इति सूरिवर्णजननम् ।। (भ. आ. विजयो. टी. ४७)। २. पञ्चधाचारं स्वयमाचरन्ति शिष्यानाचारयन्ति इति आचार्याः । प्रत्युपकारनिरपेक्षपरोपकाराः, सुरभूधरवद्धीराः सर्वशास्त्रपारदृश्वानः स्वयं श्रेयःपथे स्थिताः, विनीतविनेयांस्तत्र स्थापयन्तः शुद्धदेश-कुल-जातयो विनयसिद्धाः मानमर्माविधो विगतराग-द्वेष-मोहाः शल्यव्यपेतास्तपसि तेजसि यशसि तरसि वर्चसि च निरौपम्या इति गुणग्रहणं सूरीणां वर्णजननम् । (भ. आ. मूला. टी. ४७) ।

१ आचार्य मुक्ताहार, मेघ, चन्द्रमा, सूर्य और कल्पवृक्ष आदि के समान प्रत्युपकार से निरपेक्ष होते हैं; स्वयं मोक्षमार्ग पर चलते हुए वे अन्य विनम्र शिष्यों को भी उस पर चलाते हैं; सर्व शास्त्रों के पारगामी होते हैं; राग, द्वेष, व मोह से रहित होते हैं; तथा निःशल्य, निर्भय, एवं निरभिमानी होते हैं; इस प्रकार से आचार्यों की प्रशंसा करने को आचार्यवर्णजनन कहते हैं ।

आचीर्ण (आचिण्ण)—देखो अभिहृत दोष । १. उजु तिहिं सत्तहिं वा घरेहिं जदि आगदं दु आचिण्णं । (मूला. ६-२०) । २. ऋजुवृत्त्या पङ्क्तिस्वरूपेण यानि त्रीणि सप्त गृहाणि वा व्यवस्थितानि तेभ्यस्त्रिभ्यः सप्तभ्यो वा गृहेभ्यो यद्यागतमोदनादिकं वाचिन्नं ग्रहणयोग्यम्, दोषाभावात् । (मूला. वृ. ६–२०) ।

सीधी पंक्ति में स्थित तीन या सात घरों से लाये गये आहार को आचीर्ण कहते हैं। ऐसा आहार साधु के लिए ग्राह्य होता है।

आचेलक्य (अच्चेलक्क)—१. वत्थाजिण-वक्केण य अहवा पत्ताइणा असंवरणं । णिब्भूसण णिग्गंथं अच्चेलक्कं जगदि पूज्जं ।। (मूला. १–३०) । २. सकलपरिग्रहत्याग आचेलक्यम् । (भ. आ. विजयो. टी. ४२१) । ३. अविद्यमानं चेलं वस्त्रं यस्यासावचेलकस्तद्भावः आचेलक्यम् । (जीतक. चू. वि. व्या. पृ. ५३) । ४. चेलानां वस्त्राणां बहुधन-नवीनावदात-सुप्रमाणानां सर्वेषां वाऽभावः अचेलत्वमित्यर्थः । (समवा. अभय. वृ. २२, पृ. ३६) । ५. वल्कलाजिनवस्त्राद्यैरंगासंवरणं वरम् । आचेलक्यमलंकारानंगसंगविवर्जितम् ।। (आचा. सा. १–४२) । ६. नग्नता नाग्न्यमाचेलक्यमित्यर्थः, तदपि चाचेलक्यमिह श्रुतोपदेशेनान्यथा धारणं परिजीर्णाल्पमूल्यखण्डितासर्वतनुप्रावरणत्वं च, तत्रापि लोके नाग्न्यव्यपदेशप्रवृत्तिदर्शनात् । (पञ्चसं. मलय. वृ. ४-२३, पृ. १६०) । ७. आचेलक्कं वस्त्रादिपरिग्रहाभावो नग्नत्वमात्रं वा । (भ. आ. मूला. टी. ४२१) । ८. न विद्यते चेलं वस्त्रं यस्य सः अचेलकस्तस्य भावः आचेलक्यम्, विगतवस्त्रमित्यर्थः । (कल्पसूत्र वृ. १) ।

१ वस्त्र, चमड़ा, वक्कल अथवा पत्ता आदि में किसी से भी शरीर को आच्छादित नहीं करना; इस प्रकार समस्त परिग्रह के परित्याग का नाम आचेलक्य है । ६ जीर्ण, अल्प मूल्य वाले और खण्डित वस्त्र के धारण करने पर भी आचेक्य माना गया है ।

आच्छेद्य दोष—१. राया-चोरादीहिं य संजदभिक्खासमं तु दट्ठूण । वीहेदूण णिजुंज्जं अच्छिज्जं होदि णादव्वं ।। (मूला. ६–२४) । २. अच्छेज्जं चाछिदिय जं सामी भिच्चमाईणं ।। (पंचाशक ६०८) । ३. भृत्यादेराच्छिद्य यद्दीयते तदाच्छेद्यम् । (आचाराङ्ग शी. वृ. २, १, सू. २६६, पृ. ३१७) । ४. राजामात्यादिभिर्भयमुपदर्श्य परकीयं यद्दीयते तदुच्यते अच्छेज्जं । (भ. आ. विजयो. व मूला. २३०; कार्तिके. टी. ४४६) । ५. अच्छेज्जं तिविहं—पहुअच्छेज्जं सामिअच्छेज्जं तेणअच्छेज्जं । (जीतक. चू. पृ. १५, पं. २०) । ६. प्रभुर्गृहादिनायकः, अन्येषां दरिद्रकौटुम्बिकानां बलाद् दातुमनीप्सितामपि यद् देयं ददाति तत् प्रभु-आच्छेद्यम् । स्वामी ग्रामादिनायकः स यदा साधून् दृष्ट्वा कलहेनेतरथा वा कौटुम्बिकेभ्योऽशनाद्युदाल्य ददाति तदा स्वाम्याच्छेद्यम् । स्तेनाश्चौराः ते सार्थकेभ्यो बलादाच्छेद्य यत् पाथेयादि साधुभ्यो दद्युस्तत् स्तेनविषयाच्छेद्यम् । (जीतक. चू. वि. व्या. पृ. ४६) । ७. नृप-तस्करभीत्यादेर्दत्तमाच्छेद्यमुच्यते । (आचा. सा. ८–३४) । ८. यदाच्छिद्य परकीयं हठात् गृहीत्वा स्वामी प्रभुश्चौरो वा ददाति तदाच्छेद्यम् । (योगशा. स्वो. विव. १–३८, पृ. १३४) । ९. ××× आच्छेद्यं देयं राजादिभिर्भीषितैः । (अन. ध. ५, १७); यदा हि संयतानां भिक्षाश्रमं दृष्ट्वा राजा

तत्तुल्यो वा चौरादिर्वा कुटुम्बिकान् 'यदि संयतानामागतानां भिक्षादानं न करिष्यथ तदा युष्माकं द्रव्यमपहरिष्यामो ग्रामाद्वा निर्वासयिष्यामः' इति भीषयित्वा दापयति तदा दीयमानमाच्छेद्यनामा दोषः स्यात्। (अन. ध. टी. ५-१७)। १०. आच्छेद्यं यत् भृतकादिलभ्यमाच्छिद्य दीयते। (व्यव. भा. वृ. ३, पृ. ३५)। ११. यद्बलात् कस्मादपि उद्दाल्य गृही दत्ते तदाच्छेद्यम्। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २०, पृ. ४९)। १२. राजभयाच्चौरभयाद्यद्दीयते तदाच्छेद्यम्। (भा. प्रा. टी. ९९)।

१ संयतों के भिक्षाश्रम को देख कर राजा, अमात्य अथवा चोर आदि के द्वारा भयभीत करके जो दान की योजना की जाती है; यह आच्छेद्य नामका दोष है।

आजीव—१. जाई कुल गण कम्मे सिप्पे आजीवणा उ पंचविहा। सूयाए असूयाए व अप्पाण कहेहि एक्केक्के॥ (पिण्डनि. ४३७)। २. आजीवे जाइ-कुलादिभिन्ने॥ (जीतक. चू. पृ. १५, पं. २६)। ३. अतीताद्यर्थसूचकं निमित्तं जाति-कुल-गण-कर्म-शिल्पानां कथनादिना आजीवनम्। (जीतक. चू. वि. व्या. पृ. ४६, १५-२५)।

१ जाति, कुल, गण, कर्म और शिल्पके भेद से आजीव पांच प्रकार का है। अपनी उक्त जाति आदि को सूचा से—अप्रगट रूप में—अथवा असूचा से—प्रगट रूप में—कह कर भोजन प्राप्त करना, यह आजीव नामका उत्पादन दोष है।

आजीवकुशील—आत्मनो जातिं कुलं वा प्रकाश्य यो भिक्षादिकमुत्पादयति स आजीवकुशीलः। केनचिदुपद्रुतः परं शरणं प्रविशति, अनाथशालां वा प्रविश्यात्मनश्चिकित्सां करोति स वाऽऽजीवकुश[शी]लः। (भ. आ. विजयो. टी. १९५०)।

अपनी जाति या कुल को प्रकट करके भिक्षादिक के उत्पन्न करने वाले साधु को आजीवकुशील कहते हैं। तथा किसी के द्वारा उपद्रव किये जाने पर दूसरे की शरण में जाने वाले और अनाथशाला में जाकर अपनी चिकित्सा कराने वाले साधु को भी आजीवकुश[शी]ल कहते हैं।

आजीव दोष—देखो आजीव। १. जादी कुलं च सिप्पं तवकम्मं ईसरत्त आजीवं। तेहिं पुण उप्पादो आजीवदोसो हवदि एसो॥ (मूला. ६-३१)। २. आत्मनो जातिं कुलं च निर्दिश्य शिल्पकर्म तपःकर्मेश्वरत्वं च निर्दिश्याजीवनं करोति यतोऽतः आजीववचनान्येतानि, तेभ्यो जातिकथनादिभ्यः पुनरुत्पाद आहारस्य योऽयं स आजीवदोषो भवत्येषः, वीर्यगूहन-दीनत्वादिदोषदर्शनादिति। (मूला. वृ. ६-३१)।

जाति, कुल, शिल्प, तप और ऐश्वर्यादि को प्रगट करके भिक्षा एवं वसति आदि को उत्पन्न करना; यह आजीव दोष है।

आजीवदोषदुष्टा वसति—१. आत्मनो जातिं कुलं ऐश्वर्यं वाभिधाय स्वमाहात्म्यप्रकटनेनोत्पादिता वसतिराजीवशब्देनोच्यते। (भ. आ. विजयो. २३०)। २. स्वस्य जातिं कुलमैश्वर्यमभिधाय माहात्म्यप्रकाशनेनोत्पादिता (वसतिः) आजीवदोषदुष्टा। (भ. आ. मूला. टी. २३०; कार्तिके. टी. ४४९-५०)।

अपनी जाति, कुल अथवा ऐश्वर्य के कथन द्वारा अपना माहात्म्य प्रगट करके वसति को प्राप्त करना; यह आजीव नामका वसतिदोष है। ऐसी वसति आजीवदोष से दूषित कही जाती है।

आजीवन—देखो आजीव। आजीवनं यदाहारशय्यादिकं जात्याद्याजीवनेनोत्पादितम्। (व्यव. भा. मलय. वृ. ३-१६४, पृ. ३५)।

देखो आजीवदोष और आजीवदोषदुष्टा वसति।

आजीवना दोष—पिण्डार्थं दातुः मत्कजात्यादि स्वस्य प्रकाशयतः आजीवनादोषः। (गु. गु. ष. स्वो. वृ. २०, पृ. ४९)।

देखो आजीवदोष और आजीवदोषदुष्टा वसति।

आजीव (आजीविका) पिण्ड—१. जात्याद्याजीवनादवाप्त आजीविकापिण्ड.। (आचारा. शी. वृ. २, १, २७३, पृ. ३२०)। २. जाति-कुल-गण-कर्म-शिल्पादिप्रधानेभ्य आत्मनस्तद्गुणत्वारोपणं भिक्षार्थमाजीवपिण्डः। (योगशा. स्वो. विव. १-३८; धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३, २२, पृ. ४१)।

देखो आजीवदोष।

आजीवभय—आजीवो वर्त्तनोपायस्तस्मिन् धर्मेणोपार्ज्यमाने भयमाजीवभयम्। (ललितवि. मु. पंजिका पृ. ३८)।

देखो आजीविकाभय।

आजीविकाभय—१. आजीविकाभयं दुर्जीविकाभयम्। (आव. भा. हरि. वृ. १८४, पृ. ४७३)।

२. आजीविका आजीवनम्, तस्या उच्छेदेन भयमाजीविकाभयम्। (आव. भा. मलय. वृ. १८४, पृ. ५७३)। ३. आजीविका जीवनवृत्तिः, तदुपायचिन्ताजनितमाजीविकाभयम्। (गु. गु. ष. स्वो. वृ. ६, पृ. २५)।

२ आजीविका के नष्ट होने से जो भय उत्पन्न होता है उसे आजीविकाभय कहते हैं।

आज्ञा (आणा)—१. आणा णाम आगमो सिद्धंतो जिणवयणमिदि एयट्ठो। एत्थ गाहाओ—सुणिउणमणाइणिहणं भूदहिदं भूदभावणमणग्घं। अमिदमजिदं महत्थं महाणुभावं महाविसयं॥ ज्झाएज्जो णिरवज्जं जिणाणमाणं जगप्पईयाणं। अणिउणजणदुण्णेयं णयभंगपमाणमगहणं॥ एसा आणा। (धव. पु. १३, पृ. ७०–७१); आणा सिद्धंतो आगमो इदि एयट्ठो। (धव. पु. १४, पृ. ३२६)। २. आज्ञाप्यते इत्याज्ञा—हिताहितप्राप्ति-परिहाररूपतया सर्वज्ञोपदेशः। (आचारा. शी. वृ. २, २, ७४, पृ. १०२)। ३. आज्ञा स्यादाप्तवचनम्। (त्रि. श. पु. च. २, ३, ४४१)। ४. उल्लंघने क्रोधादिभयजनिकेच्छाऽऽज्ञा। (शास्त्रवा. टी. ३–३)।

१ आज्ञा से अभिप्राय आगम, सिद्धान्त अथवा जिनवाणी का है—ये सब शब्द समानार्थक हैं। २ वह महाप्रभावशालिनी जिन-आज्ञा जगत के जीवों को सन्मार्ग दिखलाने के लिए उत्तम दीपक के समान होकर उनके लिये हित की प्राप्ति और अहित के परिहार में समर्थ है।

आज्ञाकनिष्ठता (आणाकणिट्ठदा)—१. आणा सिद्धंतो आगमो इदि एयट्ठो। तिस्से कणिट्ठदा सगखेत्ते थोवत्तं आणाकणिट्ठदा णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३२६)।

आज्ञा से आगम अभिप्रेत है। उस आगम की कनिष्ठता—हीनता या श्रुत की अल्पता—का नाम आगमकनिष्ठता है। यह आहार शरीर की उत्पत्ति में कारण होती है।

आज्ञापनी (आणवणी)—१. आणवणी णाम जो जस्स आणत्तियं देइ सा आणवणी भवति। जहा गच्छ पच पठ कुरु भुङ्क्ष्व एवमादि। (दशवै. चू. ७, पृ. २३९)। २. स्वाध्यायं कुरुत, विरमतासंयमाद् इत्यादिकानुशासनवाणी आणवणी। (भ. आ. विजयो. टी. ११९५)। ३. आज्ञाप्यतेऽनयेत्याज्ञापना[नी], आज्ञां तवाहं ददामीत्येवमादिवचनमाज्ञापनी भाषा। (मूला. वृ. ५–११८)। ४. 'इदं कुरु' इत्यादिका आज्ञापनी। (भ. आ. मूला. टी. ११९५)। ५. आज्ञापनं प्रभुत्वेनाऽऽदेशो यः स्वोक्तकारिणा। तत्किंचिदाशु कर्तव्यं यन्मयादिश्यते तव॥ (आचा. सा. ५–८६)। ६. आज्ञापनी कार्यनियोजनभाषा। यथा इदं कुर्याः इत्यादिः। (गो. जी. म. प्र. टी. २२५)। ७. इदं कुरु इत्यादिकार्यनियोजनभाषा आज्ञापनी। (गो. जी. जी. प्र. २२५)। ८. आज्ञापनी कार्ये परस्य यथेदं कुर्विति। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३–४१, पृ. १२३)। ९. आणावयणेण जुआ आणवणी पुव्वभणिअ भासाओ। करणाकरणाणियमा दुट्ठविवक्खाइ सा भिण्णा॥ (भाषार. ७३)।

२ स्वाध्याय करो व असंयम से विरत होवो इत्यादि अनुशासनात्मक भाषा को आज्ञापनी भाषा कहते हैं।

आज्ञारुचि (आणारुई)—१. रागो दोसो मोहो अन्नाणं जस्स अवगयं होइ। आणाए रोयंतो सो खलु आणारुई नाम॥ (उत्तरा. २८–२०; प्रव. सारो. ९५३)। २. भगवदर्हत्प्रणीताज्ञामात्रनिमित्तश्रद्धाना आज्ञारुचयः। (त. वा. ३, ३६, २)। ३. सर्वज्ञाज्ञानिमित्तेन षड्द्रव्यादिषु या रुचिः। साऽऽज्ञा ××× ॥ (म. पु. ७४–४४१)। ४. राग-द्वेषरहितस्य पुंसः आज्ञयैव धर्मानुष्ठानगता रुचिराज्ञारुचिः। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. २, २२, पृ. ३७)। ५. आज्ञा सर्वज्ञवचनात्मिका, तया रुचिर्यस्य सः। (उत्तरा. नि. वृ. २८–१६)। ६. जिणआणं मन्नंतो जीवो आणारुई मुणेयव्वो। (गु. गु. ष. स्वो. वृ. १४, पृ. ३९)।

२ भगवत् अर्हत्सर्वज्ञप्रणीत आगम मात्र के निमित्त से होने वाले श्रद्धान और श्रद्धावान् जीवों को भी आज्ञारुचि कहा जाता है।

आज्ञाविचय — १. पंचत्थिकाय-छज्जीवणिकाये कालदव्वमण्णे य। आणागेज्झे भावे आणाविचयेण विचिणादि॥ (मूला. ५-२०२; भ. आ. १७११; धव. पु. १३, पृ. ७१ उद्.)। २. उपदेष्टुरभावान्मन्दबुद्धित्वात् कर्मोदयात् सूक्ष्मत्वाच्च पदार्थानां हेतुदृष्टान्तोपरमे सति सर्वज्ञप्रणीतमागमं प्रमाणीकृत्य 'इत्थमेवेदं नान्यथावादिनो जिनाः' इति गहनपदार्थश्रद्धानादर्थावधारणमाज्ञाविचयः। (स. सि. ९-३६; त. वा. ९, ३६, ४; भ. आ. मूला. टी. १७०८;

त. वृत्ति श्रुत. ९–३६); अथवा—स्वयं विदित-पदार्थतत्त्वस्य सतः परं प्रति पिपादयिषो· स्वसिद्धान्ताविरोधेन तत्त्वसमर्थनार्थं तर्क-नय-प्रमाणप्रयोजनपरः स्मृतिसमन्वाहारः सर्वज्ञाज्ञाप्रकाशनार्थत्वादाज्ञाविचयः इत्युच्यते। (स. सि. ९–३६; भ. आ. मूला. टी. १७०८; त. वृत्ति श्रुत. ९–३६)। ३. आज्ञाप्रकाशनार्थो वा। अथवा सम्यग्दर्शनविशुद्धपरिणामस्य विदितस्व-परसमयपदार्थनिर्णयस्य सर्वज्ञप्रणीतानाहितसौक्ष्म्यानस्तिकायादीनर्थानवधार्य 'एवमेते' इत्यन्यं पिपादयिषतः कथामार्गे श्रुतज्ञानसामर्थ्यात् स्वसिद्धान्ताविरोधेन हेतु-नय-प्रमाणविमर्दकर्मणा ग्रहणसहिष्णून् कृत्वा प्रभापयतः तत्समर्थनार्थस्तर्क-नय-प्रमाणयोजनपरः स्मृतिसमन्वाहारः सर्वज्ञाज्ञाप्रकाशनार्थत्वादाज्ञाविचय इत्युच्यते। (त. वा. ९, ३६, ५)। ४. आणाविजए णाम—तत्थ आणा णाम आणेति वा सुत्तं ति वा वीतरागादेसो वा एगट्ठा। विजओ णाम मग्गणा। कहं? जहा जे सुहुमा भावा अणिंदियगिज्झा अवज्झा चक्खुविसयातीया केवलनाणीपच्चक्खा ते वीयरागवयणं ति काऊण सद्दहइ। भणितं च—पंचत्थिकाए आणाए जीवे आणाए छव्विहे। सद्दहे जिणपण्णत्ते धम्मज्झाणं झियायइ॥ तहा—तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहि पवेदितं। भणितं च—वीयरागो हि सव्वण्णू मिच्छं णेव उ भासइ। जम्हा तम्हा वई तस्स तच्चा भूतत्थदरसिणी॥ एवं आणाविजयं। (दशवै. चू. १, पृ. ३२)। ५. आप्तवचनं प्रवचनं चाज्ञाविचयस्तदर्थनिर्णयनम्। (प्रशमर. २४८)। ६. एदीए आणाए पच्चक्खाणुमाणादिपमाणाणमगोयरत्थाणं जं झाणं सो आणाविचओ णाम ज्झाणं। (धव. पु. १३, पृ. ७१)। ७. तत्थ य मइदोव्वलेणं तव्विहाऽऽरियविरहओ वा वि। णेयगहणत्तणेण य णाणावरणोदएणं च॥ हेऊदाहरणासंभवे य सइ सुट्ठु जं न बुज्झेज्जा। सव्वण्णुमयमवितहं तहावि तं चितए मइमं॥ अणुवकयपराणुग्गहपरायणा जं जिणा जगप्पवरा। जियराग-दोस-मोहा य णण्णहावादिणो तेणं। (ध्यानश. ४७–४९ [आव. हरि. वृ. पृ. ५९७]; धव. पु. १३, पृ. ७१ पर कुछ पाठभेदों के साथ उद्धृत)। ८. जैनीं प्रमाणयन्नाज्ञां योगी योगविदां वरः। ध्यायेद् धर्मास्तिकायादीन् भावान् सूक्ष्मान् यथागमम्॥ आज्ञाविचय एष स्यात् × × ×॥ (म. पु. २१, १४४–१)। ९. अतीन्द्रियेषु भावेषु बन्ध-मोक्षादिषु स्फुटम्। जिनाज्ञानिश्चयध्यानमाज्ञाविचयमीरितम्॥ (ह. पु. ५६–४९)। १०. कर्माणि मूलोत्तरप्रकृतीनि, तेषां चतुर्विधो बन्धपर्यायः, उदयफलविकल्पो जीवद्रव्यं मुक्त्यवस्थेत्येवमादीनामतीन्द्रियत्वात् श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमप्रकर्षाभावाद् बुद्ध्यतिशयेऽसति दुरवबोधं यदि नाम वस्तुतत्त्वं तथापि सर्वज्ञज्ञानप्रामाण्यादागमविषयतत्त्वं तथैव, नान्यथेति निश्चयः सम्यग्दर्शनस्वभावत्वान्मोक्षहेतुरित्याज्ञाविचारनिश्चयज्ञानमाज्ञाविचयाख्यं धर्मध्यानम्। अन्ये तु वदन्ति स्वयमविगतपदार्थतत्त्वस्य परं प्रतिपादयितुं सिद्धान्तनिरूपिनार्थप्रतिपत्तिहेतुभूतयुक्तिगवेषणावहितचित्ता सर्वज्ञज्ञानप्रकाशनपरा अनया युक्त्या इयं सर्वविदामाज्ञावबोधयितुं शक्येति प्रवर्तमानत्वादाज्ञाविचय इत्युच्यत इति। (भ. आ. विजयो. टी. १७०८)। ११. तत्राज्ञा सर्वज्ञप्रणीतागमः। तामाज्ञामित्थं विचिनुयात् पर्यालोचयेत्। × × × तत्र प्रज्ञायाः परिदुर्बलत्वादुपयुक्तोऽपि सूक्ष्मया शेमुष्या यदि नावैति भूतमर्थं सावरणज्ञानत्वात्। × × × तथाऽप्येवं विचिन्वतोऽवितथवादिनः क्षीणरागद्वेषमोहाः सर्वज्ञाः नान्यथाव्यवस्थापितमन्यथावयन्ति भाषन्ते वा ऽनृतकारणाभावात्। अतः सत्यमिदं शासनमित्याज्ञायां स्मृतिसमन्वाहारः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–३७)। १२. प्रमाणीकृत्य सार्वज्ञीमाज्ञामर्थावधारणम्। गहनानां पदार्थानामाज्ञाविचय उच्यते॥ (त. सा. ७–४०)। १३. आ अभिविधिना ज्ञायन्तेऽर्था यया साज्ञा प्रवचनम्, सा विचीयते निर्णीयते पर्यालोच्यते वा यस्मिंस्तदाज्ञाविचयं धर्मध्यानमिति, प्राकृतत्वेन विजयमिति; आज्ञया विजीयते अधिगमद्वारेण परिचिता क्रियते यस्मिन्नित्याज्ञाविजयम्। (स्थाना. अभय. वृ. ४, १, २४७)। १४. आज्ञाविचयमतीन्द्रियज्ञानविषयं चिन्तनं चतुर्षु ज्ञानेषु बुद्धिशक्त्यभावात् परलोक-बन्ध-मोक्ष-लोकालोक-सदसद्विवेकधर्माधर्म-कालद्रव्यादिपदार्थेषु सर्वज्ञप्रामाण्यात्तत्प्रणीतागमकथितमवितथं नान्यथेति सम्यग्दर्शनस्वभावत्वान्निश्चयचिन्तनं तदाज्ञाधर्म्यम्। (चा. सा. पृ. ९०)। १५. वस्तुतत्त्वं स्वसिद्धान्तप्रसिद्धं यत्र चिन्तयेत्। सर्वज्ञाज्ञाभियोगेन

तदाज्ञाविचयो मतः ।। (ज्ञानार्णव ३३–६) । १६. स्वयं मन्दबुद्धित्वेऽपि विशिष्टोपाध्याया-भावेऽपि शुद्धजीवादिपदार्थानां सूक्ष्मत्वेऽपि सति 'सूक्ष्मं जिनोदितं वाक्यं हेतुभिर्यन्न गम्यते । आज्ञासिद्धं तु तद् ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ।।' इति श्लोककथितक्रमेण पदार्थनिश्चयकरणमाज्ञा-विचयध्यानं भण्यते । (बृ. द्रव्यसं. ४८, पृ. १७७; कार्तिके. टी. ४८२, पृ. ३६७) । १७. आज्ञा जिन-प्रवचनम्, तस्या विचयो निर्णयो यत्र तदाज्ञाविच-यम् । प्राकृतत्वादाणाविजयं आज्ञागुणानुचिन्तनमि-त्यर्थः । (औपपा. अभय. वृ. २०, पृ. ४४) । १८. विज्ञातुं न तु शक्यमावृतियुताऽध्यक्षानुमानादिना-त्यक्षानन्तविवर्तवर्तिसकलं वस्त्वस्तदोषार्हताम् । आज्ञावाग्विचयस्तयोक्तमनृतं नैवेति तद्वस्तुनश्चिन्ता-ऽऽज्ञाविचयो विदुर्नयचयः संज्ञानपुण्योदयः ।। (आचा. सा. १०–२६) । १६. एते पदार्थाः सर्वज्ञनाथेन वीतरागेण प्रत्यक्षेण दृष्टा न कदाचिद् व्यभिचरन्ती-त्यास्तिक्यबुद्धया तेषां पृथक् पृथग्विवेचनेनाऽऽज्ञा-विचयः । यद्यप्यात्मनः प्रत्यक्षबलेन हेतुबलेन वा न स्पृष्टा तथापि सर्वज्ञाज्ञानिर्देशेन गृह्णाति, 'नान्यथा-वादिनो जिनाः' यत इति । (मूला. वृ. ५–२०२) । २०. आज्ञां यत्र पुरस्कृत्य सर्वज्ञानामबाधिताम् । तत्त्वतश्चिन्तयेदर्थान् तदाज्ञाध्यानमुच्यते ।। (योगशा. १०–८; गु. गु. षट्. स्वो.वृ. २, पृ. १०; गुण. क्रमा. २८) । २१. इमामाज्ञां समालम्ब्य स्याद्वादन्याय-योगतः । द्रव्य-पर्यायरूपेण नित्यानित्येषु वस्तुषु ।। स्वरूप-पररूपाभ्यां सदसद्रूपशालिषु । यः स्थिरप्रत्ययो ध्यानं तदाज्ञाविचयाह्वयम् ।। (त्रि. श. पु. च. २, २, ४४८–४६) । २२. छद्दव्व णवपयत्था सत्त वि तच्चाइं जिणवराणाए । चिंतइ विसयविरत्तो आणा-विचयं तु तं भणियं ।। (भावसं. दे. ३६७) । २३. सर्वज्ञाज्ञयाऽत्यन्तपरोक्षार्थावधारणार्थमित्यमेव सर्व-ज्ञाज्ञासम्प्रदाय इति विचारणमाज्ञाविचयः । (त. सुखबो. ६–३६) । २४. आज्ञाया निर्द्धारः सम्यग्द-र्शनम्, आज्ञाया अनन्त[न्तत]त्वपूर्वापराविरोधि-त्वादिस्वरूपे चमत्कारपूर्वकचित्तविश्रामः आज्ञा-विचय धर्म्यध्यानम् । (ज्ञा. सा. दे. वृ. ६–४, पृ. २३) । २५. सत्तैका द्विविधो नयः शिवपथस्त्रेधा चतुर्धा गतिः, कायाः पञ्च षडङ्गिनां च निचयाः सा सप्तभङ्गीति च । अष्टौ सिद्धगुणा पदार्थनवकं धर्मं दशाङ्गं जिनः, प्राहैकादश देशसंयतदशाः सद्-द्वादशाङ्गं तपः ।। सम्यक्प्रेक्षा चक्षुषा वीक्षमाणः, यद् यादृक्षं सर्ववेद्याचचक्षे । तत्तादृक्षं चिन्तयन् वस्तु यायादाज्ञाधर्म्यध्यानमुद्रां मुनीन्द्रः ।। (आत्मप्र. ८६, ६०) । २६. धर्म्यमपि ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वैराग्य-भावनाभिः कृताभ्यासस्य नयादिभिरतिगहनं न बुध्यते तुच्छमतिना, परं सर्वज्ञमतं सत्यमेवेति चिन्तनं आज्ञा-विचयः । (धर्मसं. मान.स्वो. वृ. ३–२७, पृ. ८०) । २७. स्वसिद्धान्तोक्तमार्गेण तत्त्वानां चिन्तनं यथा । आज्ञया जिननाथस्य तदाज्ञाविचयं मतम् ।। (भावसं. वाम. ६३७) । २८. आज्ञाविचयसंज्ञं स्यात् श्रुतार्थ-श्चिन्तनात्मकम् । (लोकप्र. ३०–४५७) ।

१ जीवादि पांच अस्तिकाय, पृथिवीकायिक आदि छह जीवनिकाय और कालद्रव्य; ये जो जिनाज्ञा के अनुसार ग्रहण योग्य पदार्थ हैं उनका उसी प्रकार से—जिनागम के अनुसार—विचार करना, यह आज्ञाविचय धर्मध्यान है ।

आज्ञाव्यवहार— १. आणाववहारो—गीयायरिया आसेवियसत्थत्था खीणजंघावला दो वि जणा पगिट्ठ-देसंतरनिवासिणो अन्नोन्नसमीवमसमत्था गन्तुं जया, तया मइधारणाकुशलं अगीयत्थसीसं गूढत्थेहिं अइ-यारपयासेवणेहिं पेसेइ ति । (जीतक. चू. पृ. ३, पं. ३२) । २. देसंतरट्ठिआणं गूढपयालोअणा आणा । (गु. गु. षट्. स्वो.वृ.३, पृ. १३) । ३. तथा आज्ञायत आदिश्यत इत्याज्ञा । तद्रूपव्यवहारस्तु केनापि शिष्येण निजातिचारालोचकेन आलोचनाचार्यः सन्निहितोऽप्राप्तः, दूरे त्वसौ तिष्ठति । ततः केन-चित्कारणेन स्वयं तावत् तत्र गन्तुं न शक्नोति । अगीतार्थस्तु कश्चित्तत्र गन्ता विद्यते । तस्य हस्ते आगमभाषया गूढानि अपराधपदानि लिखित्वा यदा शिष्यं प्रस्थापयति; गुरुरपि तथैव गूढपदैः प्रायश्चित्तं लिखित्वा प्रेषयति तदासौ आज्ञालक्षणस्तृतीयो व्यव-हारः । (जीतक. चू. वि. व्या. पृ. ३३) ।

३ देशान्तर-स्थित गुरु को अपने दोषों की आलो-चना कर लेने के लिए किसी अगीतार्थ के द्वारा आगमभाषा में पत्र लिखकर भेजने तथा गुरु के द्वारा भी उसी प्रकार गूढ़ पदों में ही प्रायश्चित्त लिखकर भेजने को आज्ञाव्यवहार प्रायश्चित्त कहते हैं ।

आज्ञाव्यापादिकी क्रिया—१. यथोक्तामाज्ञामावश्य-

कादिषु चारित्रमोहोदयात् कर्तुमशक्नुवतोऽन्यथा प्ररूपणादाज्ञाव्यापादिकी क्रिया । (स. सि. ६–५; त. वा. ६, ५, १०) । २. यथोक्ताज्ञानसक्तस्य कर्तुमावश्यकादिषु । प्ररूपणाऽन्यथा मोहादाज्ञाव्यापादिकी क्रिया ॥ (ह. पु. ५८–७७) । ३. आवश्यकादिषु ख्यातामर्हदाज्ञामुपासितुम् । अशक्तस्यान्यथाख्यानादाज्ञाव्यादिकी क्रिया ॥ (त. श्लो. ६, ५, २०) । ४. जिनेन्द्राज्ञां स्वयमनुष्ठातुमसमर्थस्यान्यथार्थसमर्थनेन तद्व्यापादनमाज्ञाव्यापादनक्रिया । (त. सुखबो. ६–५) । ५. चारित्रमोहोदयात् जिनोक्तावश्यकादिविधानासमर्थस्य अन्यथाकथनमाज्ञाव्यापादनक्रिया । (त. वृत्ति श्रुत. ६–५) ।

१ चारित्रमोह के उदय से जिनोक्त आवश्यकादि क्रियाओं के पालन करने में स्वयं असमर्थ होने के कारण जिनाज्ञा से विपरीत कथन करने को आज्ञाव्यापादिकी क्रिया कहते हैं ।

आज्ञासम्यक्त्व — देखो आज्ञारुचि । १. आज्ञासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुचितं वीतरागाज्ञयैव त्यक्तग्रन्थप्रपञ्चं शिवममृतपथं श्रद्दधन्मोहशान्तेः । (आत्मानु. १२) । २. भगवदर्हत्सर्वज्ञप्रणीतागमानुज्ञासंज्ञा आज्ञा । (उपासका. पृ. ११४) । ४. देवोऽर्हन्नेव तस्यैव वचस्तथ्यं शिवप्रदः । धर्मस्तदुक्त एवेति निर्बन्धः साधयेद् दृशम् । (अन. ध. २-६३) । ५. आप्तागम-यतीशानां तत्त्वानामल्पबुद्धितः । जिनाज्ञयैव विश्वासो भवत्याज्ञा हि सा परा ॥ (भावसं. वाम. ३२७) । ६. तत्राज्ञा जिनोक्तागमानुज्ञा । (अन. ध. स्वो. टी. २–६२) । ७. जिनसर्वज्ञवीतरागवचनमेव प्रमाणं क्रियते तदाज्ञासम्यक्त्वं कथ्यते ॥ (द. प्रा. टी. १२) ।

देखो आज्ञारुचि ।

आढक—१. चतुःप्रस्थमाढकम् । (त. वा. ३, ३८, ३, पृ. २०६) । २. प्रस्थैश्चतुर्भिरेकः स्यादाढकः प्रथितो जने । (लोकप्र. २८–२७४) ।

१ चार प्रस्थ (एक प्राचीन मापविशेष) प्रमाण माप को आढक कहते हैं ।

आतङ्क—आतङ्कः सद्योघाती रोगः । (पञ्चसू. टी. पृ. १५) ।

शीघ्र प्राणघातक रोग को आतङ्क कहते हैं ।

आतङ्कसम्प्रयोगसम्प्रयुक्त — आयंकसंपयोगसंपउत्तो तस्स विप्पयोगाभिकंखी सतिसमन्नागते । तत्थ आतंको णाम आसुकारी, तं जरो अतिसारो सू(सा)स सज्जहूओ एवमादि । आतंकगहणेण रोगोवि सूइओ चेव । सो य दीहकालिओ भवइ । तं गंडी अदुवा कोढी एवमादि । तत्थ वेदणानिमित्तं आयंकरोगेसु पदोसमावण्णो आरुग्गभिकंखी राग-दोसवसगओ णेहाणुगओ निवसंतो असुभकम्मरयमलं उवचिणोति । अट्टज्झाणस्स तइओ भेदो गओ । (दशवै. चू. १, पृ. ३०) ।

आशुघाती रोग का नाम आतंक है । ऐसे ज्वर व अतिसार आदि रोग के उपस्थित होने पर उसके विनाश का बार-बार स्मरण करना, यह तृतीय (आतंकसंप्रयोगसंप्रयुक्त) आर्तध्यान है ।

आतप—१. आदित्यादिनिमित्त उष्णप्रकाशलक्षणः । स. सि. ५–२४; त. श्लो. ५–२४) । २. आतप उष्णप्रकाशलक्षणः । आतपः आदित्यनिमित्तः उष्णप्रकाशलक्षणः पुद्गलपरिणामः । (त. वा. ५, २४, १८) । ३. को आदवो णाम ? सोष्णः प्रकाशः आतपः । (धव. पु. ६, पृ. ६०) । ४. आतपोऽपि पुद्गलपरिणामः, तापकत्वात् स्वेदहेतुत्वात् उष्णत्वात् अग्निवत् । (त. भा. सिद्ध. वृ. ५–२४, पृ. ३६३) । ५. आ समन्तात् तपति सन्तापयति जगदिति आतपः । (उत्तरा. नि. शा. वृ. १–५७, पृ. ३८) । ६. उष्णप्रकाशलक्षणः सूर्यवह्निप्रभृतिनिमित्तमातपः । (त. वृत्ति श्रुत. ५–२४) ।

१ सूर्य आदि के निमित्त से जो उष्ण प्रकाश होता है उसे आतप कहते हैं ।

आतपनाम—१. यदुदयान्निर्वृत्तमातपनं तदातपनाम । तदादित्ये वर्तते । (स. सि. ८–११; त. वा. ८, ११, १५) । २. आतपति येन, आतपनम्, आतपतीति वातपः । तस्य निर्वर्तकं कर्म आतपनाम, तदादित्ये वर्तते । (त. वा. ८, ११, १५; त. श्लो. ८–११) । ३. आतपसामर्थ्यजनकमातपनाम । (त. भा. ८–१२) । ४. आतपनाम यदुदयादातपवान् भवति । (श्रा. प्र. टी. २२; श्राव. नि. हरि. वृ. १२२) । ५. सूर्यविमानरत्नपृथिवीजीवशरीरतापो [illegible] -पनाम । (पंचसं. स्वो. वृ. ३–१२७, पृ. ३८) । ६. [illegible] । जस्स कम्मस्स उदएण जीवसरीरे आदावो होज्ज तस्स कम्मस्स आदावो त्ति सण्णा । (धव. पु. ६, पृ. ६०) । ७. [illegible]-

तपः, आतप्यते वाऽनेनेति आतपः। तस्यातपस्य सामर्थ्यं शक्तिरतिशयो येन कर्मणोदितेन जन्यते तदापनाम। आङो मर्यादावचनत्वात्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–१२)। ८. जस्सुदएणं जीवे होइ सरीरं तु ताविलं इत्थ। सो आयवे विवागो जह रविबिंबे तहा जाण॥ (कर्मवि. गर्ग. गा. १२५, पृ. ५१)। ९. यदुदयाज्जीवस्तापवच्छरीरो भवति तदातपनाम। (समवा. अभय. वृ. ४२, पृ. ६७)। १०. यस्य कर्मण उदयाज्जीवस्य शरीरं तापवदुष्णप्रकाशकारि भवति स आतपस्य विपाकः। (कर्मवि. परमा. व्या. १२५, पृ. ५२)। ११. यदुदयाज्जन्तुशरीराणि स्वरूपेणानुष्णान्यपि उष्णप्रकाशलक्षणमातपं कुर्वन्ति तदातपनाम। (कर्मस्त. गो वृ. ९–१०, पृ. ८८; शतक. मल. हेम. वृ. ३७–३८, पृ. ५१; प्रव. सारो. वृ. १२६४; कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ४४; कर्मप्र. यशो. टी. १, पृ. ६)। १२. यदुदयवशाज्जन्तुशरीराणि भानुमण्डलगतपृथिवीकायिकरूपाणि स्वरूपेणानुष्णान्यपि उष्णप्रकाशलक्षणमातपं कुर्वन्ति तदातपनाम। (षष्ठ कर्म. मलय. वृ. ६, पृ. १२६; प्रज्ञाप. २३–२९३, पृ. ४७३; पंचसं. मलय. वृ. ३–७; कर्मप्र. टी. १, पृ. ६)। १३. आतपनाम यदुदयाज्जन्तुशरीरं स्वयमनुष्णं सत् आतपं करोति। (धर्मसं. मलय. वृ. ६१९)। १४. यदुदयादातपनं निष्पद्यते तदातपनाम। (भ. आ. मूला. टी. २०९५)। १५. यदुदयेन आदित्यवदातापो भवति तदातपनाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८–११)।

२ जिस कर्म के उदय से शरीर में आतप हो अथवा जो आतप का निर्वर्तक हो उसे आतपनामकर्म कहते हैं।

आताप—देखो आतप। १. मूलोष्णवती प्रभा तेजः, सर्वाङ्गव्याप्युष्णवती प्रभा आतापः, उष्णरहिता प्रभोद्योतः इति तिण्हं भेदोवलंभादो। (धव. पु. ८, पृ. २००)।

सर्वांगव्यापिनी उष्णतायुक्त प्रभा को आताप कहा जाता है।

आतापनाम—देखो आतपनाम। १. जस्स कम्मस्सुदएण सरीरे आदावो होदि तं आदावणाम। सोष्णप्रभा आतापः। (धव. पु. १३, पृ. ३६५)। २. यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन जीवशरीर आतपो भवति तदातापनाम। (मूला. वृ. १२–१९२)।

देखो आतपनाम।

आत्मकैवल्य—कर्मणोऽपि वैकल्यामात्मकैवल्यमस्त्येव। (अष्टशती ४)।

कर्म की भी विकलता को आत्मकैवल्य कहा जाता है।

आत्मज्ञप्ति—नन्वहंप्रत्ययोत्पत्तिरात्मज्ञप्तिर्निगद्यते। (त. श्लो. १–२०२, पृ. ४१)।

'मैं हूं' इस प्रकार की प्रतीति के उत्पन्न होने को आत्मज्ञप्ति कहते हैं।

आत्मज्ञान—आत्मज्ञानं वादादिव्यापारकाले किममुं प्रतिवादिनं जेतुं मम शक्तिरस्ति न वा इत्यालोचनम्। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १–५८, पृ. ३९)।

क्या इस प्रतिवादी को जीतने की मेरी शक्ति है या नहीं, इस प्रकार (शास्त्रार्थ) आदि व्यापार के समय विचार करना; इसका नाम आत्मज्ञान है। यह चार प्रकार की प्रयोगसम्पत्ति का प्रथम भेद है।

आत्मतत्त्व—१. अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः। (समाधि. ३६)। २. अविक्षिप्तं रागाद्यपरिणतं देहादिनाऽऽत्मनोऽभेदाध्यवसायपरिहारेण स्वस्वरूप एव निश्चलतां गतम्, इत्थंभूतं मनस्तत्त्वं वास्तवं रूपमात्मनः। (समाधि. टी. ३६)।

मन की विक्षेप-रहित अवस्था का नाम ही आत्मतत्त्व—आत्मा का स्वरूप है।

आत्मदमन—१. आत्मनो दमनम् आहारे सुखे च योऽनुरागस्तस्य प्रशमनात्। (भ. आ. विजयो. टी. २४०)। २. आत्मनो दमनमाहारे सुखे वानुरागप्रशमनाद्दर्पखण्डनम्। (भ. आ. मूला. टी. २४०)।

आहार और इन्द्रियसुख में अनुराग को शान्त करके जो अभिमान को नष्ट किया जाता है उसे आत्मदमन कहते हैं।

आत्मप्रभावना—मोहारातिक्षतेः शुद्धः शुद्धाच्छुद्धतरस्ततः। जीवः शुद्धतमः कश्चिदस्तीत्यात्मप्रभावना॥ (लाटीसं. ४–३.१८; पंचाध्यायी २-८१३)।

मोहकर्म का उत्तरोत्तर विनाश करते हुए आत्मा को शुद्ध से शुद्धतर और शुद्धतर से शुद्धतम बनाने को आत्मप्रभावना कहते हैं।

आत्मप्रवाद — १. यत्रात्मनोऽस्तित्व-नास्तित्व-नित्यत्वानित्यत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्वादयो धर्माः षड्जीवनिकायभेदाश्च युक्तितो निर्दिष्टाः तदात्मप्रवादम्। (त. वा. १, २०, १२, पृ. ७६)। २. आत्म-

प्रवादपूर्वं यत्रात्मनः संसारि-मुक्ताद्यनेकभेदभिन्नस्य प्रवदनम् । (दशवै. नि. हरि. वृ. १-१६) । ३. आद-पवादं सोलसण्हं वत्थूणं १६ वीसुत्तर-तिसयपाहुडाणं ३२० छव्वीसकोडिपदेहिं २६००००००० आदं वण्णेदि वेदो त्ति वा विण्हु त्ति वा भोत्ते त्ति वा इच्चा-दिसरूवेण । (धव. पु. १, पृ. ११८); यत्रात्मनो-ऽस्तित्व-नास्तित्वादयो धर्माः षड्जीवनिकायभेदाश्च युक्तितो निर्दिष्टास्तदात्मप्रवादम् । (धव. पु. ६, पृ. २१६) । ४. आदपवादो णाणाविहदुण्णए जीव-विसए णिराकरिय जीवसिद्धि कुणइ । अत्थि जीवो तिलक्खणो सरीरमेत्तो स-परप्पयासओ सुहुमो अमुत्तो भोत्ता कत्ता अणाइबंधणवद्धो णाण-दंसणलक्खणो उड्ढगमणसहावो एवमाइसरूवेण जीवं साहेदि त्ति वुत्तं होदि । सव्वदव्वाणमादं सरूवं वण्णेदि आदपवादो त्ति के वि आयरिया भणंति । (जयध. १, पृ. १४२) । ५. आत्मप्रवादं सप्तमम्—आय त्ति आत्मा, सोऽनेकधा यत्र नयदर्शनैर्वर्ण्यते तदात्मप्रवा-दम् । (समवा. अभय. वृ. १४७, पृ. १२१) । ६. षड्विंशतिकोटिपदं जीवस्य ज्ञान-सुखादिमयत्व-कर्तृत्वादिधर्मप्रतिपादकमात्मप्रवादम् । (श्रुतभक्ति टी. ११, पृ. १७५; त. वृत्ति श्रुत. १-२०) । ७. अप्पपवादं भणियं अप्पसरूवप्परूवयं पुव्वं । छव्वीसकोडिपयगयमेवं जाणंति सुपयत्था ॥ (अंग-पण्णत्ती २-८५, पृ. २६४) ।

१ आत्मा के अस्तित्व-नास्तित्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, और कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि धर्म एवं छह जीवनि-कायोंके प्रतिपादन करने वाले पूर्व को आत्मप्रवाद कहते हैं ।

आत्मप्रशंसा—स्वस्य भूताभूतगुणस्तुतिरात्मप्रशंसा । (नि. सा. वृ. ६२) ।

अपने विद्यमान या अविद्यमान गुणोंकी स्तुति करने को आत्मप्रशंसा कहते हैं ।

आत्मभूत (लक्षण)—१. तत्र आत्मभूतमग्नेरौ-ष्ण्यम् । (त. वा. २, ८, ३) । २. यद्वस्तुस्वरूपानु-प्रविष्टं तदात्मभूतम् । यथाग्नेरौष्ण्यम् । (न्या. दी. पृ. ६) ।

जो लक्षण अग्नि की उष्णता के समान वस्तु के स्वरूप में प्रविष्ट—तन्मय—हो उसे आत्मभूत लक्षण कहते हैं ।

आत्मभूत (हेतु)—तत्र आत्मना सम्बन्धमापन्न-विशिष्टनामकर्मोपात्तपरिच्छिन्नस्थान-परिमाणनिर्मा-णश्चक्षुरादिकरणग्राम आत्मभूतः [बाह्यो हेतुः] । ××× तन्निमित्तो (द्रव्ययोगनिमित्तो) भावयोगो वीर्यान्तराय-ज्ञान-दर्शनावरणक्षय-क्षयोपशमनिमित्त आत्मनः प्रसादश्चात्मभूतः [आभ्यन्तरः] इत्याख्या-मर्हति । (त. वा. २, ८, १) ।

आत्मा से सम्बद्ध विशिष्ट नामकर्म के निमित्त से स्थान व परिमाण निर्माण के अनुसार जो चक्षु आदि इन्द्रियों का समूह उत्पन्न होता है वह चैतन्या-नुविधायी उपयोग का बाह्य आत्मभूत हेतु होता है । तथा द्रव्ययोग के निमित्त से जो भावयोग और वीर्यान्तराय, ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण के क्षय व क्षयोपशम के अनुसार जो आत्मा को प्रसन्नता भी होती है, यह उक्त उपयोग का आभ्यन्तर आत्मभूत हेतु होता है ।

आत्मभ्रान्ति—१. ××× विक्षिप्तं भ्रान्तिरा-त्मनः । (समाधितं. ३६) । २. रागादिपरिणतं देहा-दिना आत्मनोऽभेदाध्यवसायेन स्वस्वरूप एव अस्थि-रतां गतं मनः आत्मनो भ्रान्तिः आत्मस्वरूपं न भवतीति । (समाधितं. टी. ३६) ।

शरीर को आत्मा मानकर रागादि से परिणत हुआ मन जो आत्मस्वरूप में अस्थिरता को प्राप्त होता है, इसका नाम आत्मभ्रान्ति है ।

आत्मयोगी—तथाऽऽत्मयोगी — आत्मनो योगः कुशलमनःप्रवृत्तिरूपः आत्मयोगः, स यस्यास्ति स तथा, सदा धर्मध्यानावस्थित इत्यर्थः । (सूत्रकृ. शी. वृ. २, २, ४२, पृ. ८६) ।

निर्मल मन की प्रवृत्तिरूप आत्मयोग से युक्त आत्म-ज्ञानी को आत्मयोगी कहते हैं ।

आत्मरक्ष—१. आत्मरक्षाः शिरोरक्षोपमाः । (स. सि. ४-४; त. वा. ४-४) । २. आत्मरक्षाः शिरो-रक्षस्थानीयाः । (त. भा. ४-४) । ३. आत्मरक्षाः शिरोरक्षोपमाः । आत्मानं रक्षन्तीति आत्मरक्षाः, ते शिरोरक्षोपमाः । आवृतावरणाः प्रहरणोद्यता रौद्राः पृष्ठतोऽवस्थायिनः । (त. वा. ४, ४, ५) । ४. आ-त्मानं रक्षन्तीत्यात्मरक्षास्ते शिरोरक्षोपमाः । (त. श्लो. ४-४) । ५. आत्मरक्षाः शिरोरक्षसमानाः प्रोद्यताऽसयः । विभवायैव पर्यन्तात् पर्यटन्त्यमरेशि-नाम् ॥ (म. पु. २२-२७) । ६. आत्मरक्षास्तु रक्षकाः । (त्रि. श. पु. च. २, ३, ७७३) । ७.

इन्द्राणामात्मानं रक्षन्तीत्यात्मरक्षाः, "कर्मणोऽण्"। ते ह्यपायाभावेऽपि स्थितिपरिपालनाय प्रीत्युत्पत्तये चेन्द्राणां परितो दृढनिबद्धसुभटोचितपरिकरा धनुरादिप्रहरणव्यग्रपाणयः स्व-स्वस्वामिन्यस्तनिश्चलदृष्टयः परेषां क्षोभमापादयन्तोऽङ्गरक्षका इव तिष्ठन्ति। (संग्रहणी दे. वृ. १)। ८. आत्मन इन्द्रस्य रक्षा येभ्यस्ते आत्मरक्षा अङ्गरक्षाः शिरोरक्षसदृशाः। (त. वृत्ति श्रुत. ४-४)।

१ शिरोरक्ष—अङ्गरक्षक के समान—इन्द्र की रक्षा करने वाले—उसके पास में अवस्थित रहने वाले—देवों को आत्मरक्ष कहते हैं।

आत्मरक्षी—विषयाभिलाषविगमान्निर्निदानः सन् आत्मानं रक्षत्यपायेभ्यः कुगतिगमनादिभ्यः इत्येवंशील आत्मरक्षी। यद्वाऽऽदीयते स्वीक्रियते आत्महितमनेनेत्यादानः संयमः, तद्रक्षी। (उत्तरा. सू. शा. वृ. ४-१०, पृ. २२५)।

जो इन्द्रियविषयों की अभिलाषा के नष्ट हो जाने से निदान से रहित होता हुआ कुगति में ले जाने वाले अपायों से अपने आत्मा की रक्षा करता है उसे आत्मरक्षी कहते हैं।

आत्मवाद—एक्को चेव महप्पा पुरिसो देवो य सव्ववावी य। सव्वंगणिगूढो वि य सचेयणो णिग्गुणो परमो॥ (गो. क. ८८१)।

संसार में सर्वत्र व्यापक एक ही महान् आत्मा है, वही पुरुष है, वही देव है, तथा वही सर्वांगों से प्रच्छन्न होकर चेतन, निर्गुण और सर्वोत्कृष्ट है; इस प्रकार के मन्तव्य को आत्मवाद कहते हैं।

आत्मसंकल्प—आत्मसंकल्पः शरीर-कर्म-राग-द्वेष-मोहादिदुःखपरिणामरहितोऽयं ममात्मा वर्तते, शरीरे तिष्ठन्नशुद्धनिश्चयनयेन शरीरं न स्पृशति, कर्मबन्धनबद्धो ऽपि सन् कर्मबन्धनैर्बद्धो न भवति नलिनीदलस्थितजलवदितीदृशं भेदज्ञानमात्मसंकल्प उच्यते। (मोक्षप्रा. टी. ५)।

मेरा आत्मा शरीर, कर्म, राग, द्वेष और मोहादि सर्व दुःख परिणामों से रहित है; वह शरीर में रहते हुए भी अशुद्ध निश्चयनय से शरीर से अस्पृष्ट है, और कर्म-बन्धनों से बद्ध होने पर भी अबद्ध है—जैसे कमलपत्र जल में रहते हुए भी जल से अलिप्त रहता है; इस प्रकार के भेदविज्ञान को आत्मसंकल्प (अन्तरात्मता) कहते हैं।

आत्मसंयोग—१. ओवसमिए य खइए खओवसमिए य पारिणामे अ। एसो चउव्विहो खलु नायव्वो अत्तसंजोगो॥ जो सन्निवाइओ खलु भावो उदएण वज्जिओ होइ। इक्कारससंजोगो एसो चि य अत्तसंजोगो॥ (उत्तरा. नि. १, ५०-५१)। २. आत्मसंयोगः प्राग्वदात्मार्पित (तत्रार्पितो नाम क्षायिकादिभविः स्वाधारे भाववति ज्ञाताऽयमित्यादिरूपेण ज्ञानमस्येत्यादिरूपेण वा वचनव्यापारेण वक्त्रा स्थापितः—शा. वृ. नि. ४६) सम्बन्धनसंयोगः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १, ५० व ५१)।

औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक भावों के साथ आत्मा का जो संयोग है उसे आत्मसंयोग कहते हैं। औदयिक को छोड़कर इन भावों के परस्पर संयोग से जो ग्यारह (द्वि. सं. ६+त्रि. सं. ४+च. सं. १ = ११) संयोगज भंग होते हैं इस सबको आत्मसंयोग कहा जाता है।

आत्मशरीरसंवेजनी — आयसरीरसंवेयणी जहा जमेयं अम्हच्चयं सरीरयं एवं सुक्क-सोणिय-मंस-वसा-मेद-मज्जट्ठि-ण्हारु-चम्म-केस-रोम-णह-दंत-अंतादिसंघायणिप्फण्णत्तणेण मुत्त-पुरीसभायणत्तणेण य असुइ त्ति कहेमाणो सोयारस्स संवेगं उप्पाएइ, एसा आयसरीरसंवेयणी। (दशवै. नि. हरि. वृ. ३, १९९ उ.)।

यह हमारा शरीर शुक्र, शोणित, मांस, वसा, मेदा, मज्जा, अस्थि, स्नायु, चर्म, केश, रोम, नख, दांत और आंतों आदि के समुदाय से बना है; इसलिए तथा मूत्र-पुरीष (मल) आदि से भरा होने के कारण अशुचि है। शरीरविषयक यह कथन चूंकि श्रोता के लिए संवेग को उत्पन्न करता है, अत एव उसे आत्मसंवेजनी कथा कहते हैं।

आत्मा (आदा, अप्पा)—१. एगो मे सासदो अप्पा णाण-दंसणलक्खणो। (नि. सा. १०२)। २. स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः। अनन्तसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः॥ (इष्टोप. २१)। ३. सोऽस्त्यात्मा सोपयोगोऽयं क्रमाद्धेतुफलावहः। यो ग्राह्योऽग्राह्यनाद्यन्तः स्थित्युत्पत्ति-व्ययात्मकः॥ प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः। ज्ञान-दर्शनतस्तस्माच्चेतनाचेतनात्मकः॥ ज्ञानाद् भिन्नो न चाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन। ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तितः॥ (स्वरूपसं. २-४)। ४. एवं

चैतन्यवानात्मा सिद्धः सततभावतः। (शास्त्रवा. १–७८)। ५. अजातोऽनश्वरो मूर्तः कर्ता भोक्ता सुखी बुधः। देहमात्रो मलैर्मुक्तो गत्वोर्ध्वमचलः प्रभुः। (आत्मानु. २६६)। ६. दंसण-णाणपहाणो असंखदेसो हु मुत्तिपरिहीणो। स-गहियदेहपमाणो णायव्वो एरिसो अप्पा॥ (तत्त्वसार १७)। ७. आत्मा हि स्व-परप्रकाशादिरूपः। (न्यायवि. १-४)। ८. आत्मा हि ज्ञान-दृक्सौख्यलक्षणो विमलः परः। सर्वाशुचिनिदानेभ्यो देहादिभ्य इतीरितः॥ (जी. चंपू ७–२२)। ९. अतति सन्ततं गच्छति शुद्धि-संक्लेशात्मकपरिणामान्तराणीत्यात्मा। (उत्तरा. सू. शा. वृ. १–१५)। १०. अतति सततमेव अपरापरपर्यायान् गच्छतीति आत्मा जीवः। (धर्मवि. मु. वृ. १–१, पृ. १)। ११. आत्मा ज्ञान-दर्शनोपयोगगुणद्वयलक्षणः। (ज्ञा. सा. वृ. १३–३, पृ. ४६)। १२. 'अत' धातुः सातत्यगमनेऽर्थे वर्तते। गमनशब्देनात्र ज्ञानं भण्यते। तेन कारणेन यथासम्भवं ज्ञान-सुखादिगुणेषु आ समन्तात् अतति वर्तते यः स आत्मा, ××× शुभाशुभमनोवचनकायव्यापारैर्यथासम्भवं तीव्र-मन्दादिरूपेण आ समन्तात् अतति वर्तते यः स आत्मा। ××× उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यैरा समन्तादतति वर्तते यः स आत्मा। (बृ. द्रव्यसं. टी. ५७)। १३. आत्मा तावदुपयोगलक्षणः। (स्या. मं. टी. १७)।

१ ज्ञान-दर्शनस्वरूप जीवको आत्मा कहा जाता है।

आत्माङ्गुल—१. जस्सि जस्सि काले भरहेरावदमहीसु जे मणुवा। तस्सि तस्सि ताणं अंगुलमादंगुलं णाम॥ (ति. प. १–१०९)। २. से किं तं आयंगुले? जे णं जया मणुस्सा भवंति तेसि णं तया अप्पणो अंगुलेणं ××× (अनुयो. सू. १३३)। ३. जे जम्मि जुगे पुरिसा अट्ठसयंगुलसमूसिया हुंति। तेसिं सयमंगुलं जं तयं तु आयंगुलं होइ॥ (जीवस. १०३)। ४. जम्हि य जम्हि य काले भरहेरावएसु होंति जे मणुया। तेसिं तु अंगुलाइं आदंगुल णामदो होइ॥ (जं. दी. प. १३–२७)। ५. यस्मिन् काले पुमांसो ये स्वकीयाङ्गुलमानतः। अष्टोत्तरशतोत्तुङ्गा आत्माङ्गुलं तदङ्गुलम्। (लोकप्र. १–४०)। ६. तत्र ये यस्मिन् काले भरत-सगरादयो मनुष्याः प्रमाणयुक्ता भवन्ति तेषां यदात्मीयमङ्गुलं तदात्माङ्गुलम्। (संग्रहणी दे. वृ. २४४)।

१ भरत-ऐरावत क्षेत्रों में उत्पन्न विभिन्न कालवर्ती मनुष्यों के अंगुल को उस-उस समय आत्मांगुल कहा जाता है।

आत्माङ्गुलाभास— एतत्प्रमाणतो (अष्टोत्तरशतोत्तुङ्गप्रमाणतो) न्यूनाधिकानां तु यदङ्गुलम्। तत्स्यादात्माङ्गलाभासं न पुनः पारमार्थिकम्॥ (लोकप्र. १–४१)।

एक सौ आठ अंगुल प्रमाण ऊँचाई से हीन या अधिक प्रमाण वाले मनुष्यों का अंगुल आत्मांगुल न होकर आत्मांगुलाभास है।

आत्माधीन क्रियाकर्म (आदाहीण) — तत्थ किरियाकम्मे कीरमाणे अप्पायत्तत्तं अपरवसत्तं आदाहीणं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ८८)।

क्रियाकर्म करते समय परवश न होकर स्वाधीन रहना, इसे आत्माधीन क्रियाकर्म कहते हैं।

आत्माराम—आत्मारामस्य—आत्मैवाराम उद्यानं रतिस्थानं यस्य, अन्यत्र गतिप्रतिबन्धकत्वात्। ×××अथवा आत्मनोऽपि सकाशादारामो निवृत्तिर्यस्येत्याराम इति ग्राह्यम्, वस्तुतः स्वात्मन्यपि रतेः रागरूपतया मोक्षप्रतिबन्धकत्वेन मुमुक्षुभिरनादरणीयत्वात्। (अन. ध. स्वो. टी. ८–२४)।

जो विवेकी जीव आत्मा को ही आराम—रति का स्थानभूत उद्यान—मान कर विषय-भोगादि से पराङ्मुख होता हुआ उसी में रमण करता है वह आत्माराम कहलाता है। अथवा आत्मा की ओर से भी जो आराम—निवृत्ति—को प्राप्त होकर निर्विकल्पक दशा को प्राप्त हो जाता है वह आत्माराम कहलाता है।

आत्मोत्कर्ष—आत्मन उत्कर्ष आत्मोकर्षः—अहमेव जात्यादिभिरुत्कृष्टो न मत्तः परतरोऽन्योऽस्तीत्यध्यवसायः। (जयध. प. ७७७)।

जाति-कुलादि में मेरे से बड़ा और कोई नहीं है, इस प्रकार से अपने उत्कर्ष के प्रगट करने को आत्मोत्कर्ष कहते हैं।

आत्यन्तिकमरण—१. आत्यन्तिकं अवधिमरणविपर्यासाद्धि आदियंतियमरणं भवति। तं जहा—यानि द्रव्याणि सांप्रतं मरति, मुंचतीत्यर्थः, न ह्यसौ पुनस्तानि मरिष्यति। (उत्तरा. चू. ५, पृ. १२८)। २. आत्यन्तिकमरणं यानि नारकाद्यायुष्कतया कर्मदलिकान्यनुभूय म्रियते मृतश्च, न पुनस्तान्यनुभूय

मरिष्यति; एवं यन्मरणं तद् द्रव्यापेक्षया अत्यन्तभावितत्वात् आत्यन्तिकमिति । (समवा. अभय. वृ. १७) ।

२ जीव नारक आदि आयुस्वरूप जिन कर्मप्रदेशों का अनुभव करके मरता है—उन्हें छोड़ता है, अथवा मर चुका है—उन्हें छोड़ चुका है—वह भविष्य में उनका अनुभव करके मरने वाला नहीं है—उन्हें पुनः छोड़ने वाला नहीं है—अतः इस प्रकार के द्रव्याश्रित मरण को आत्यन्तिकमरण कहा जाता है।

आदाननिक्षेपणसमिति— १. पोत्थइ-कमंडलाइं गहण-विसग्गेसु पयतपरिणामो । आदावण-णिक्खेवण-समिदी होदि त्ति णिद्दिट्ठा ॥ (नि. सा. ६४) । २. णाणुवहिं संजुमुवहिं सउचुवहिं अण्णमप्पमुवहिं वा । पयदं गह-णिक्खेवो समिदी आदाणणिक्खेवा ॥ (मूला. १–१४); आदाणे णिक्खेवे पडिलेहिय चक्खुणा पमज्जेज्जो । दव्वं च दव्वठाणं संजमलद्धीय सो भिक्खू ॥ (मूला. ५–१२२); सहसाणाभोइय-दुप्पमज्जिद-अप्पच्चुवेक्खणा दोसा । परिहरमाणस्स हवे समिदी आदाणणिक्खेवा ॥ (मूला. ५–१२३; भ. आ. ११९८) । ३. रजोहरण-पात्र-चीवरादीनां पीठफलकादीनां चावश्यकार्थं निरीक्ष्य प्रमृज्य चादान-निक्षेपौ आदान-निक्षेपणसमितिः । (त. भा. ९-५)। ४. आदानं ग्रहणम्, निक्षेपणं मोक्षणमौघिकोपग्रहिक-भेदस्योपधेरादान-निक्षेपणयोः समितिरागमानुसारेण प्रत्युवेक्षण-प्रमार्जना । (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ७–३) । ५. आदानं ग्रहणम्, निक्षेपो न्यासः स्थापनम्, तयोः समितिः प्रावचनेन विधिना अनुगता आदान-निक्षेपणा समितिः । ××× आदान-निक्षेपसमितिस्वरूपविवक्षया प्राह—'रजोहरणादि' रजोहरणादिपात्र-चीवरादीनामिति चतुर्दशविधोपधेर्ग्रहणं द्वादशविधोपधिग्रहणं च पंचविंशतिविधोपधिग्रहश्च, पीठफलकादीनामिति चाशेषौपग्राहिकोपकरणम् आवश्यकार्थमित्यवश्यंतया वर्षासु पीठफलकादिग्रहः, कदाचिद्धेमन्त-ग्रीष्मयोरपि, क्वचिदनूपविषये जलकणिकाकुलायां भूमौ, एवं द्विविधमप्युपधि स्थिरतरमभिसमीक्ष्य प्रमृज्य च रजोहृत्याऽऽदान-निक्षेपौ कर्त्तव्यावित्यादान-निक्षेपणा समितिः । (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ९-५) । ६. धर्मोपकरणानां ग्रहण-विसर्जनं प्रति यतनमादाननिक्षेपणसमितिः । (त. वा. ६, ५, ७; त. श्लो. ९–५) । ७. पुव्विं चक्खुपरिक्खिय पमज्जिउं जो ठवेइ गिण्हइ वा । आयाणभंडनिक्खेवणाइसमिओ मुणी होइ ॥ (उपदेशमाला २९९; गु. गु. षट्. स्वो. वृ. ३, पृ. १४)। ८. निक्षेपणं यदादानमीक्षित्वा योग्यवस्तुनः । समितिः सा तु विज्ञेया निक्षेपादाननामिका ॥ (ह. पु. २, १२५) । ९. सहसा दृष्ट-दुर्मृष्टप्रत्यवेक्षणदूषणम् । त्यजतः समितिर्ज्ञेयादान-निक्षेपगोचरा ॥ (त. सा. ६–१०) । १०. शय्यासनोपधानानि शास्त्रोपकरणानि च । पूर्वं सम्यक् समालोच्य प्रतिलिख्य पुनः पुनः ॥ गृह्णतोऽस्य प्रयत्नेन क्षिपतो वा धरातले । भवत्यविकला साधोरादानसमितिः स्फुटम् ॥ (ज्ञानार्णव १८, १२–१३) । ११. धर्माविरोधिनां परानुपरोधिनां द्रव्याणां ज्ञानादिसाधनानां ग्रहणे विसर्जने च निरीक्ष्य प्रमृज्य प्रवर्तनमादान-निक्षेपणसमितिः । (चा. सा. पृ. ३२) । १२. निक्षेपादानयोः समितिर्निक्षेपादानसमितिश्चक्षुःपिच्छकप्रतिलेखनपूर्वकसयत्नग्रहण-निक्षेपादिः । (मूला. वृ. १–१०)। १३. ज्ञानोपधि-संयमोपधि-शौचोपधीनामन्यस्य चोपधेर्यत्नेन यौ ग्रहण-निक्षेपौ प्रतिलेखनपूर्वकौ सा आदाननिक्षेपणा समितिर्भवति । (मूला. वृ. १–१४) । १४. ज्ञानोपकरणादीनामादानं स्थापनं च यत् । यत्नेनादान-निक्षेपसमितिः करुणापरा ॥ (आचा. सा. १–२५); विहायादान-निक्षेपौ सहसाऽनवलोक्य च । दुःप्रमार्जनमप्रत्यवेक्षणं चार्द्रमानसः ॥ विधायोपाधितद्देशवीक्षणं प्रतिलेखनैः । लब्धस्वेदरजःसूक्ष्मलतातिमृदुभिः पुनः ॥ तौ प्रमृज्योपधेर्यत्नान्निक्षेपादानयोः कृतिः । यतेरादाननिक्षेपसमितिः परिकीर्तिता ॥ (आचा. सा. ५, १३०–३२) । १५. आदानग्रहणेन निक्षेप उपलक्ष्यते । तेन पीठादेर्ग्रहणे स्थापने च या समितिः । (योगशा. स्वो. विव. १–२६) । १६. आसनादीनि संवीक्ष्य प्रतिलिख्य च यत्नतः । गृह्णीयान्निक्षिपेद्वा यत् सादानसमितिः स्मृता ॥ (योगशा. १–३९) । १७. सुदृष्टमृष्टं स्थिरमाददीत स्थाने त्यजेत्तादृशि पुस्तकादि । कालेन भूयः कियतापि पश्येदादाननिक्षेपसमित्यपेक्षः ॥ (अन. ध. ४-१६८)। १८. पुस्तकाद्युपधिं वीक्ष्य प्रतिलेख्य च गृह्णतः । मुञ्चतो दान-निक्षेपसमितिः स्याद्यतेरियम् ॥ (धर्मसं. श्रा. ९–७) । १९. यत्पुस्तक-कमण्डलुप्रभृतिकं गृह्यते तत्पूर्वं निरीक्ष्यते, पश्चान्मृदुना मयूरपिच्छेन प्रतिलिख्यते, पश्चाद् गृह्यते, चतुर्थी समितिर्भवति ।

(चा. प्रा. टी. ३६)। २०. धर्मोपकरणग्रहण-विसर्जने सम्यगालोक्य मयूरबर्हेण प्रतिलिख्य तदभावे वस्त्रादिना प्रतिलिख्य स्वीकरणं विसर्जनं च सम्यगादान निक्षेपणसमितिर्भवति। (त. वृत्ति श्रुत. ९-५)। २१. ग्राह्यं मोच्यं च धर्मोपकरणं प्रत्युवेक्ष्य यत्। प्रमार्ज्य चेयमादान-निक्षेपसमितिः स्मृता ॥ (लोकप्र. ३०-७४७)। २२. आसन-संस्तारक-पीठफलक-वस्त्र-पात्र-दण्डादिकं चक्षुषा निरीक्ष्य प्रतिलिख्य च सम्यगुपयोगपूर्वं रजोहरणादिना यद् गृह्णीयाद्यच्च निरीक्षित-प्रतिलेखितभूमौ निक्षिपेत् सा आदान-निक्षेपणसमितिः। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३-४७, पृ. १३१)। २३. धर्माविरोधिनां परानुपरोधिनां द्रव्याणां ज्ञानादिसाधनानां पुस्तकादीनां ग्रहणे विसर्जने च निरीक्ष्य मयूरपिच्छेन प्रमृज्य प्रवर्तनमादान-निक्षेपणसमितिः। (कार्तिके. टी. ३९९, पृ. ३००)। २४. अस्ति चादान-निक्षेपस्वरूपा समितिः स्फुटम्। वस्त्राभरण-पात्रादिनिखिलोपधिगोचरा ॥ यावन्त्युपकरणानि गृहकर्मोचितानि च। तेषामादान-निक्षेपौ कर्तव्यौ प्रतिलेख्य च ॥ (लाटीसं. ५, २५३-५४)।
२. ज्ञान, संयम और शौच के साधनभूत पुस्तक, पिच्छी व कमण्डलु तथा अन्य उपधि को भी सावधानीपूर्वक देख-शोध करके उठाने और रखने को आदान-निक्षेपणसमिति कहते हैं।

आदानपद—१. आवंती चाउरंगिज्जं असंखयं अहातत्थिज्जं अद्दइज्जं जण्णइज्जं पुरिसइज्जं (उसुकारिज्जं) एलइज्जं वीरीयं धम्मो मग्गो समोसरणं जंमइअं से तं आयाणपएणं। (अनुयो. १३०, पृ. १४१)। २. आदानपदं नाम आत्तद्रव्यनिबन्धनम्। ××× वधूरन्तर्वत्नीत्यादीनि आत्तभर्तृ-धृतापत्य-निबन्धनत्वात्। (धव. पु. १, पृ. ७५-७६); छत्ती मउली गब्भिणी अइहवा इच्चाईणि आदाणपदाणि, इदमेदस्स अत्थि त्ति विवक्खाए उप्पण्णत्तादो। (धव. पु. ९, पृ. १३५-३६)। ३. दंडी छत्ती मोली गब्भिणी अइहवा इच्चादिसण्णाओ आदाणपदाओ, इदमेदस्स अत्थि त्ति संबंधणिबंधणत्तादो। (जयध. १, पृ. ३१-३२)। ४. दव्व-खेत्त-काल-भावसंजोयपदाणि रायासि-धणुहर-सुरलोयणयर-भारहय-अइरावय-सारय-वासंतय-कोहि-माणिइच्चाईणि णामाणि वि आदाणपदे चेव णिवदंति। (जयध. १, पृ. ३४)।
१ आगम का विवक्षित अध्ययन व उद्देश्य आदि सर्वप्रथम जिस पद के उच्चारण से प्रारम्भ होता है उसे आदानपद कहते हैं। जैसे—आवंती (आचारांग का पांचवां अध्ययन), चाउरंगिज्जं (उत्तराध्ययनों में तीसरा) और असंखयं (उत्तराध्ययनों में चौथा अध्ययन) इत्यादि पद। २. 'यह इसके हैं' इस विवक्षा में जो पद निष्पन्न होते हैं उन्हें आदानपद समझना चाहिए। जैसे—छत्री, मौली, गर्भिणी और अविधवा आदि।

आदानभय—१. किञ्चन द्रव्यजातमादानम् तस्य नाशं हरणादिभ्यो भयमादानभयम्। (आव. भा. हरि. व मलय. वृ. १८४, पृ. ४७३ व ५७३)। २. घनादिग्रहणाद् भयमादानभयम्। (कल्पसूत्र वि. वृ. १-१५, पृ. ३०)। ३. आदीयत इत्यादानम्, तदर्थं चौरादिभ्यो यद्भयं तदादानभयम्। (ललितवि. मु. पंजि. पृ. ३८)।
३ जो 'आदीयते' अर्थात् ग्रहण किया जाता है, इस निरुक्ति के अनुसार ग्रहण की जाने वाली वस्तु आदान कहलाती है। उसके लिए जो चोर आदि से भय होता है उसे आदानभय कहते हैं।

आदित्य—१. आदौ भव आदित्यो बहुलवचनात् त्य-प्रत्ययः इति व्युत्पत्तेः। (सूर्यप्र. वृ. २०-१०५, १०६)। २. अदितेर्देवमातुरपत्यानि आदित्याः। (त. वृत्ति श्रुत. ४-२५)।
१ आदि में होने वाले का नाम आदित्य है। २ अदिति—देवमाता—की सन्तानों को आदित्य (लौकान्तिक देवविशेष) कहा जाता है।

आदित्यमास—१. आइच्चो खलु मासो तीसं अद्धं च होइ दिवसाणं। (ज्योतिष्क. ३७)। २. स चैकस्य दक्षिणायनस्योत्तरायणस्य वा त्र्यशीत्यधिक-दिनशतप्रमाणस्य षष्ठभागमानः। यदि वा आदित्य-चारनिष्पन्नत्वादुपचारतो मासोऽप्यादित्यः। (व्यव. भा. मलय. वृ. २-१५, पृ. ७)। ३. आदित्यमासस्त्रिंशदहोरात्राणि रात्रिन्दिवस्य चार्द्धम्, दक्षिणायनस्योत्तरायणस्य वा षष्ठभागमानः इत्यर्थः। (बृहत्क. वृ. ११३०)।
१ साढ़े तीस (३०½) दिन-रात प्रमाण काल को आदित्यमास कहते हैं। २ यह आदित्यमास उत्तरायण अथवा दक्षिणायन के छठें भाग प्रमाण होता

है (१८३÷६=३०½)। अथवा सूर्य के संचार से उत्पन्न होने के कारण इस मास को भी आदित्य कहा जाता है।

आदित्यसंवत्सर—१. छप्पि उऊपरियट्टा एसो संवच्छरो उ आइच्चो। (ज्योतिष्क. ३४)। २. तथा यावता कालेन षडपि प्रावृडादयः ऋतवः परिपूर्णाः प्रावृत्ता भवन्ति तावान् कालविशेष आदित्यसंवत्सरः। (सूर्यप्र. मलय. वृ. १०, २०, ५)।

१ जितने काल में परिपूर्ण छह ऋतुओं का परिवर्तन होता है उतने काल का नाम आदित्यसंवत्सर है (एक ऋतु ६१ दिन, ६१×६=३६६ दिन)।

आदिमान् वैस्रसिक बन्ध—तत्रादिमान् स्निग्ध-रूक्षगुणनिमित्तः विद्युदुल्काजलधाराग्नीन्द्रधनुरादि-विषयः। (त. वा. ५, २४, ७)।

स्निग्ध और रूक्ष गुण के निमित्त से विजली, उल्का, जलधारा, अग्नि और इन्द्रधनुष आदिरूप जो पुद्-गलों का वन्ध होता है वह आदिमान् वैस्रसिक वन्ध कहलाता है।

आदिमोक्ष—१. इत्थिओ जे ण सेवंति आइमोक्खा हि ते जणा इति। (सूत्रकृ. १–५)। २. आदिः संसारस्तस्मात् मोक्ष आदिमोक्षः (त) संसारविमुक्ति यावदिति। धर्मकारणानां वा ऽऽदिभूतं शरीरम्, तद्विमुक्ति यावत्, यावज्जीवमित्यर्थः। (सूत्रकृ. शी. वृ. १, ७, २२)।

१ जो स्त्रियों का सेवन नहीं करते हैं, ऐसे पुरुषों को आदिमोक्ष कहते हैं।

आदेयनाम—१. प्रभोपेतशरीरकारणमादेयनाम। (स. सि. ८–११; भ. आ. मूला. टी. २१२१)। २. आदेयभावनिर्वर्तकं आदेयनाम। (त. भा. ८, १२)। ३. प्रभोपेतशरीरताकरणमादेयनाम। यस्योदयात् प्रभोपेतशरीरं दृष्टेष्टमुपजायते तदादेयनाम। (त. वा. ८, ११, ३६; त. श्लो. ८–११)। ४. आदेयनाम यदुदयादादेयो भवति, यच्चेष्टते भाषते वा तत्सर्वं लोकः प्रमाणीकरोति। (श्रा. प्र. टी. २४; धर्मसं. मलय. वृ. ६२१, पृ. २३३)। ५. गृहीतवाक्यत्वादादरोपजननहेतुतां प्रतिपद्यते उदयावलिकं प्रविष्टं सत्। एतदुक्तं भवति—यस्यादेयनामकर्मोदयस्तेनोक्तं प्रमाणं क्रियते यत् किञ्चिदपि, दर्शन-समनन्तरमेव चाभ्युत्थानादि लोकः समाचरतीत्ये-वंविधविपाकमादेयनामेति ××× अथवा आदेयता श्रद्धेयता दर्शनादेव यस्य भवति, स च शरीरगुणो यस्य विपाकाद् भवति तदादेयनाम। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८–१२)। ६. आदेयता ग्रहणीयता वहुमान्यता इत्यर्थः। जस्स कम्मस्स उदएण जीवस्स आदेयत्तमुप्पज्जदि तं कम्ममादेयं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ६५); जस्स कम्मस्सुदएण जीवो आदेज्जो होदि तमादेज्जणामं। (धव. पु. १३, पृ. ३६६)। ७. यस्य कर्मण उदयेनादेयत्वं प्रभोपेतशरीरं भवति तदादेयनाम। अथवा यदुदयादादेयवाच्यं(क्यं) तदादेयम्। (मूला. वृ. १२–१६५)। ८. यदुदयाज्जीवः सर्वस्यादेयो भवति ग्राह्यवाक्यो भवति तदादेयनाम। (कर्मवि. गर्ग. पू. व्या. ७५, पृ. ३३)। ९. यदुदयेन यत्किञ्चिदपि ब्रुवाणः सर्वस्योपादेयवचनो भवति तदादेयनाम। (कर्मस्त. गो. ९–१०, पृ. ८७; प्रव. सारो. वृ. १२६६; शतक. मल. हेम. वृ. ३७–३८, पृ. ५१; धर्मसं. मलय. वृ. ६२१)। १०. तथा यदुदयवशात् यच्चेष्टते भाषते वा तत्सर्वं लोकः प्रमाणीकरोति, दर्शनसमनन्तरमेव जनोऽभ्युत्थानादि समाचरति तदादेयनाम। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३, २९३; पंचसं. मलय. वृ. ३–८; पृ. ११७; कर्मप्र. यशो. टी. १, पृ. ६)। ११. आदेयनामकर्मोदयात ग्राह्यवाक्यो भवति। (पंचसं. स्वो. वृ. ३–९, पृ. ११९)। १२. प्रभायुक्तशरीरकारकमादेयनाम। (त. वृत्ति श्रुत. ८–११)।

१ जिस कर्म के उदय से प्रभा (कान्ति) युक्त शरीर हो उसे आदेयनामकर्म कहते हैं। ४ जिसके उदय से प्राणी आदेय—ग्राह्य या वहुमान्य—होता है, वह जो भी व्यवहार करता है या वोलता है उसे लोग प्रमाण मानते हैं, उसे आदेय नामकर्म कहा जाता है।

आदेयवचनता—आदेयवचनता सकलजनग्राह्यवाक्यता। (उत्तरा. नि. शा. वृ. १–५८, पृ. ३९)।

सर्व लोगों के द्वारा वचनोंकी ग्राह्यता या उपादेयता को आदेयवचनता कहते हैं। यह आचार्य के ३६ गुणों के अन्तर्गत चार प्रकार की वचनसम्पत् में प्रथम है।

आदेश—अपरः (निर्देशः) आदेशेन भेदेन विशेषेण प्ररूपणमिति। (धव. पु. १, पृ. १६०)।

आदेश से अभिप्राय भेद या विशेष का है। अर्थात चौदह मार्गणारूप भेदों के आश्रय से जो विवक्षित वस्तुका कथन किया जाता है वह आदेश कहलाता है।

आदेशकषाय—१. आदेसकसाएण जहा चित्तकम्मे लिहिदो कोहो रूसिदो तिवलिदणिडालो भिउडिं काऊण। (कसायपा. चू. पृ. २४)। २. आदेशकषायः कैतवकृतभृकुटिभङ्गुराकारः, तस्य हि कषायमन्तरेणापि तथादेशदर्शनात्। (आव. नि. हरि. वृ. ६१८, पृ. ३६०)। ३. भिउडिं काऊण भृकुटिं कृत्वा, तिवलिदनिडालो त्रिवलितनिटलः, भृकुटिहेतोः त्रिवलितनिटलः इत्यर्थः। एवं चित्रकर्मणि लिखितः क्रोधः आदेशकषायः। ××× सब्भावट्ठवणा कसायपरूवणा कसायबुद्धी च आदेसकसाओ। (जयध. १, पृ. ३०१)।

१ जिसकी भौंहें चढ़ी हुई हैं तथा मस्तक पर त्रिवली—चर्मगत तीन रेखायें—पड़ी हुई हैं, इस प्रकार से चित्र में अंकित क्रोध कषाय को आदेशकषाय कहा जाता है।

आदेशभव—आदेशभवो णाम चत्तारि गइणामाणि, तेहि जणिदजीवपरिणामो वा। (धव. पु. १६, पृ. ५१२)।

चार गतिनामकर्मों को अथवा उनसे जनित जीवपरिणाम को आदेशभव कहते हैं।

आदोलकरण—देखो अश्वकर्णकरण। १. संपहि आदोलनकरणसण्णाए अत्थो वुच्चदे—आदोलं नाम हिंदोलम्, आदोलमिव करणमादोलकरणम्। यथा हिंदोलत्थंभस्स वरत्ताए च अंतराले तिकोणं होऊण कण्णायारेण दीसइ एवमेत्थ वि कोहादिसंजलणाणमणुभागसंणिवेसो कमेण हीयमाणो दीसइ त्ति एदेण कारणेण अस्सकण्णकरणस्स आदोलकरणसण्णा जादा। एवमोवट्टणमुव्वट्टणकरणे त्ति एसो वि पज्जायसद्दो अणुगयट्ठो दट्ठव्वो, कोहादिसंजलणाणमणुभागविण्णासस्स हाणि-वड्ढिसरूवेणावट्ठाणं पेक्खियूण तत्थ ओवट्टणमुव्वट्टणसण्णाए पुव्वाइरिएहि पयट्टाविदत्तादो। (जयध.—धव. पु. ६, पृ. ३६४, टि. ५)। २. से काले ओवट्टणि-उव्वट्टण अस्सकण्ण आदोलं। करणं तियसण्णगयं संजलणरसेसु वट्टिहिदि॥ (लब्धि. ४५६)।

१ आदोल नाम हिंडोले (झूले) का है। हिंडोले के समान जो करण—परिणाम—क्रम से उत्तरोत्तर हीयमान होते हुए चले जाते हैं, इसे आदोलकरण कहते हैं। अपवर्तन-उद्वर्त्तन और अश्वकर्ण करण इसी के नामान्तर हैं।

आद्यन्तमरण—१. साम्प्रतेन मरणेनासादृश्यभावि यदि मरणमाद्यन्तमरणमुच्यते, आदिशब्देन साम्प्रतिकं प्राथमिकं मरणमुच्यते, तस्य अन्तो विनाशभावो यस्मिन्नुत्तरमरणे तदेतदाद्यन्तमरणमभिधीयते। प्रकृति-स्थित्यनुभव-प्रदेशैर्यथाभूतैः साम्प्रतमुपैति मृतिं तथाभूतां यदि सर्वतो देशतो वा नोपैति तदाद्यन्तमरणम्। (भ. आ. विजयो. २५)। २. प्रकृति-स्थित्यनुभव-प्रदेशैर्देशतः सर्वतो वान्यादृशैर्मरणमाद्यन्तमरणम्, आदेः प्रथममरणस्यान्तो विनाशो यस्मिन्नुत्तरमरण इति व्युत्पत्तेः। (भ. आ. मूला. टी. २५)।

वर्तमान मरण से आगामी मरण के विलक्षण होने को आद्यन्तमरण कहते हैं। अर्थात् प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशों की अपेक्षा कर्मों की बन्ध-उदयादि अवस्था जैसी वर्तमान मरण के समय है वैसी वह अगले मरण के समय देशतः या सर्वतोभावेन न हो, इसका नाम आद्यन्तमरण है।

आधाकर्म—१. जं तमाधाकम्मं णाम। तं ओद्दावण विद्दावण-परिद्दावण-आरंभकदणिप्पण्णं तं सव्वं आधाकम्मं णाम। (षट्खं. ५, ४, २१-२२—पु. १३, ४६)। २. छज्जीवणिकायाणं विराहणोद्दावणादिणिप्पण्णं। आधाकम्मं णेयं सय-परकदमादसंपण्णं॥ (मूला. ६–५)। ३. आहा अहे य कम्मे आयाहम्मे य अत्तकम्मे य। पडिसेवण पडिसुणणा संवासऽणुमोयणा चेव॥ ओरालसरीराणं उद्दवण-तिवायणं च जस्सट्ठा। मणमाहित्ता कीरइ आहाकम्मं तयं बेंति॥ (पिण्डनि. ९५ व ९७)। ४. जीवस्य उपद्रवणं ओद्दावणं णाम। अङ्गच्छेदनादिव्यापारः विद्रावणं णाम। संतापजननं परिदावणं णाम। प्राणिप्राणवियोजनं आरम्भो णाम। ओद्दावण-विद्दावण-परिद्दावण-आरंभकज्जभावेण णिप्फण्णमोरालियशरीरं तं सव्वं आधाकम्मं णाम। जम्हि सरीरे ट्ठिदाणं जीवाणं ओद्दावण-विद्दावण-परिद्दावण-आरंभा अण्णेहिंतो होंति तं शरीरमाधाकम्मं ति भणिदं होदि। (धव. पु. १३, पृ. ४६)। ५. ओरालग्गहणेणं तिरिक्ख-मणुयाऽहवा सुहुमवज्जा। उद्दवणं पुण जाणसु अइवायविवज्जियं पीडं॥ काय-वइ-मणो तिण्णि उ अहवा देहाउ-इंदियप्पाणा। सामित्ताऽवादाणे होइ तिवाओ य करणेसु॥ हिययम्मि समाहेउं एगमणेगं च गाहगं जो उ। वहणं करेइ दाया काऊण

तमाह कम्मं ति ।। (पिण्डनि. भा. २५-२७, पृ. ३८)। ६. आहाकम्म-द्धाणकप्पाइयं वा वहु अइयारं करेज्जा। दीहगिलाणकप्पस्स वा अवसाणे आहाकम्मसन्निहिसेवणं वा कयं होज्जा। (जीतक. चू. पृ. २०, पं. ५-६)। ७. वृक्षच्छेदस्तदानयनं इष्टकापाकः भूमिखननं पाषाणसिकतादिभिः पूरणं धरायाः कुट्टनं कर्दमकरणं कीलानां करणं अग्निनायस्तापनं (कार्ति.—अग्निना लोहतापनं) कृत्वा प्रताड्य क्रकचैः काष्ठपाटनं वासीभिस्तक्षणं, (कार्ति.—'वासीभिस्तक्षणं' नास्ति) परशुभिश्छेदनं इत्येवमादिव्यापारेण षण्णां जीवनिकायानां बाधां कृत्वा स्वेन वा उत्पादिता अन्येन वा कारिता वसतिराधाकर्म-शब्देनोच्यते। (भ. आ. विजयो. टी. २३०; कार्तिके. टी. ४४६)। ८. साध्वर्थं यत्सचित्तमचित्ती क्रियते अचित्तं वा पच्यते तदाधाकर्म। (आचारांग शी. वृ. २, १, २६६, पृ. ३१६)। ६. आधाय विकल्प्य यतिं मनसि कृत्वा सचित्तस्याचित्तीकरणमचित्तस्य वा पाको निरुक्तादाधाकर्म। (योगशा. स्वो. विव. १-३८)। १०. आधाकर्म अध्वानकल्पादिकं वा शुष्ककदलीफलादिधरणतः। दीर्घग्लानेन वा सता यदाधाकर्मरसादिकारणतः। सन्निधिसेवनं वा चरितम्। (जीतक. चू. वि. व्या. पृ. ५१, २०-४)। ११: वृक्षच्छेदेष्टकापाक-कर्दमकरणादिव्यापारेण षण्णां जीवनिकायानां बाधां कृत्वा स्वेनोत्पादिता अन्येन वा कारिता क्रियमाणा वानुमोदिता वसतिराधाकर्म-शब्देनोच्यते। (भ. आ. मूला. टी. २३०)। १२. आधानम् आधा × × × साधुनिमित्तं चेतसः प्रणिधानम्, यथा अमुकस्य साधोः कारणेन मया भक्तादि पचनीयमिति, आधया कर्म पाकादिक्रिया आधाकर्म, तद्योगाद् भक्ताद्यपि आधाकर्म। × × × यद्वा आधाय —साधुं चेतसि प्रणिधाय—यत् क्रियते भक्तादि तदाधाकर्म। (पिण्डनि. मलय. वृ. ६२); अधःकर्मेति अधोगतिनिबन्धनं कर्म अधःकर्म। × × × आत्मानं दुर्गतिप्रपातकारणतया हन्ति विनाशयतीत्यात्मघ्नम्। तथा यत् पाचकादिसम्बन्धि कर्म पाकादिलक्षणं ज्ञानावरणीयादिलक्षणं वा तदात्मनः सम्बन्धि क्रियते अनेनेति आत्मकर्म। एतानि (आधाकर्म, अधःकर्म, आत्मघ्नकर्म, आत्मकर्म) च नामान्याधाकर्मणो मुख्यानि। (पिण्डनि. मलय. वृ. ६५)। १३. यत् षट्कायविराधनया यतिन आधाय संकल्पेनाशनादिकरणं तदाधाकर्म। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २०, पृ. ४८)। १४. साधुं चेतसि आधाय प्रणिधाय, साधुनिमित्तमित्यर्थः, कर्म—सचित्ताचित्तीकरणमचित्तस्य वा पाको निरुक्तादाधाकर्म। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३, २२, पृ. ३८)।

३. जिस एक या अनेक साधुओं के निमित्त मन को आहित—प्रवर्तित—करके औदारिकशरीरधारी तिर्यंच व मनुष्यों का अपद्रावण—अतिपात (मरण) रहित पीडन—और त्रिपात—मन-वचन-काय—अथवा देह, आयु और इन्द्रिय प्राण इन तीनों का विनाश किया जाता है उसे आधाकर्म या अधःकर्म कहते हैं। इसके आधाकर्म, अधःकर्म, आत्मघ्नकर्म और आत्मकर्म ये नामान्तर हैं। ४ उपद्रावण, विद्रावण, परिद्रावण और आरम्भकार्य के द्वारा निष्पन्न औदारिक शरीर को आधाकर्म कहते हैं। अभिप्राय यह कि जिस शरीर में स्थित प्राणियों के अन्य प्राणियों के निमित्त से उपद्रावण आदि होते हैं उस शरीर को आधाकर्म कहते हैं। ७ वृक्षों के छेदने, ईंटों के पकाने एवं भूमि के खोदने आदि रूप व्यापार से छह काय के प्राणियों को बाधा पहुँचा कर स्वयं या अन्य के द्वारा वसतिका के उत्पादन को भी आधाकर्म कहा जाता है।

आधार्कर्मिक—देखो आधाकर्म। आधाकर्मिकं यन्मूलत एव साधूनां कृते कृतम्। (व्यव. भा. मलय. वृ. ३-१६४, पृ. ३५)।

साधुओं के लिए बनाये गये आहार को आधाकर्मिक कहते हैं।

आधार्कर्मिका—देखो आधाकर्म। आधाकर्मिका साधूनामेवार्थाय कारिता। (बृहत्क. वृ. १७५३)। साधुओं के लिए बनवाई गई वसतिका को आधाकर्मिका कहते हैं।

आधिकरणिकी क्रिया—देखो अधिकरणक्रिया। हिंसोपकरणादानादधिकरणिकी क्रिया। (स. सि. ६-५; त. वा. ६, ५, ८)।

हिंसा के उपकरण—खड्ग व भाला आदि—के ग्रहण करने को आधिकरणिकी क्रिया कहते हैं।

आध्यात्मिक धर्म्यध्यान — स्वसंवेद्यमाध्यात्मिकम्। (चा. सा. पृ. ७६)।

स्वसंवेद्य—स्वसंवेदनगोचर—धर्म्यध्यान को आध्यात्मिक धर्म्यध्यान कहते हैं।

आध्यान—आध्यानं स्यादनुध्यानमनित्यत्वादिचिन्तनैः। (म. पु. २१–२८)।
संसार, देह व भोगादि की अनित्यतादि के बार-बार चिन्तन को आध्यान कहते हैं।

आन—सङ्ख्येया आवलिका आनः, एक उच्छ्वास इत्यर्थः। (षडशीति दे. स्वो. वृ. ६६, पृ. १६५)।
सङ्ख्यात आवली प्रमाण काल को आन (उच्छ्वास) कहते हैं।

आनति—तथा पूजितसंयतस्य पञ्चाङ्गप्रणामकरणम् आनतिः। (सा. ध. ५–४५)।
दो हाथ, दो जानु और मस्तक इन पांच अंगों से प्रणाम करने को आनति कहते हैं।

आन-पानपर्याप्ति—देखो उच्छ्वास-निःश्वासपर्याप्ति। उच्छ्वास-निःसरणशक्तेर्निष्पत्तिरानपानपर्याप्तिः। (मूला. वृ. १२–१६५)।
उच्छ्वास के निकलने की शक्ति की उत्पत्ति का नाम आन-पानपर्याप्ति है।

आन-पानप्राण—१. उच्छ्वासपरावर्तोत्पन्नखेदरहितविशुद्धचित्प्राणाद्विपरीतसदृश आन-पानप्राणः। (बृ. द्रव्यसं. टी. ३)। २. उच्छ्वास-निःश्वासनामकर्मोदयसहितदेहोदये सत्युच्छ्वास-निःश्वासप्रवृत्तिकारणशक्तिरूप आन-पानप्राणः। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. १३१)।
२ उच्छ्वास-निःश्वास नामकर्म के साथ शरीर नाम कर्म का उदय होने पर उच्छ्वास-निःश्वास प्रवृत्ति की कारणभूत शक्ति को आनपानप्राण कहते हैं।

आनप्राण—१. असंख्येया आवलिका एक आनप्राणः, द्विपञ्चाशदधिकत्रिचत्वारिंशच्छतसंख्यावलिकाप्रमाण एक आनप्राण इति वृद्धसम्प्रदायः। तथा चोक्तम्—एगो आणापाणू तेयालीसं सया उ बावन्ना। आवलियपमाणेणं अणंतनाणीहिं णिद्दिट्ठो॥ (सूर्यप्र. मलय. वृ. २०, १०५–१०६)। २. आनप्राणौ उच्छ्वास-निःश्वासकालः। (कल्पसूत्र विनय. वृ. ६–११८, पृ. १७३)।
असंख्यात आवलियों का एक आन-प्राण होता है। वृद्धसम्प्रदाय के अनुसार तेतालीस सौ बावन आवली प्रमाण आनप्राण होता है।

आनप्राणकाल—हृष्टस्य नीरोगस्य श्रम-बुभुक्षादिना निरुपक्रुष्टस्य यावता कालेनैतावुच्छ्वास-निःश्वासौ भवतः तावान् कालः आनप्राणः। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, १७८, पृ. ३४४)।
देखो आनप्राण।

आनप्राणद्रव्यवर्गणा—आणपाणुदव्वग्गणा णाम आणपाणुदव्वाणि घेत्तूण आणपाणुत्ताए परिणामेंति जीवा। (कर्मप्र. चू. बं. क. गा. १९, पृ. ४१)।
जिन पुद्गलवर्गणाओं को ग्रहण कर जीव उन्हें श्वासोच्छ्वास के रूप में परिणमित करता है उन्हें आनप्राणद्रव्यवर्गणा कहते हैं।

आनप्राणपर्याप्ति— देखो आनपानपर्याप्ति व उच्छ्वासपर्याप्ति। आनप्राणपर्याप्तिः उच्छ्वास-निःश्वासयोग्यान् पुद्गलान् गृहीत्वा तथा परिणमय्याऽऽनप्राणतया विसर्जनशक्तिः। (स्थाना. अभय. वृ. २, १७, ३, पृ. ५०)।
उच्छ्वास-निःश्वास के योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर और उनको उच्छ्वास-निःश्वास रूप से परिणमाकर आनप्राणरूप से विसर्जन की शक्ति का नाम आनप्राणपर्याप्ति है।

आनयन—१. आत्मना संकल्पिते देशे स्थितस्य प्रयोजनवशाद्यत्किञ्चिदानयेत्याज्ञापनमानयनम्। (स. सि. ७–३१; त. वा. ७, ३१, १; चा. सा. पृ. ९)। २. अन्यमानयेत्याज्ञापनमानयनम्। (त. श्लो. ७, ३१)। ३. आनयनं विवक्षितक्षेत्राद् बहिः स्थितस्य सचेतनादिद्रव्यस्य विवक्षितक्षेत्रे प्रापणम्, सामर्थ्यात् प्रेष्येण, स्वयं गमने हि व्रतभङ्गः स्यात्, परेण तु आनयने न व्रतभङ्गः स्यादिति बुद्धया प्रेष्येण यदाऽऽनाययति सचेतनादिद्रव्यं तदाऽतिचारः। (योगशा. स्वो. विव. ३–११७)। ४. तद्देशाद् बहिः प्रयोजनवशादिदमानयेत्याज्ञापनमानयनम्। (रत्नक. टी. ४–६)। ५. आनयनं सीमबहिर्देशादिष्टवस्तुनः प्रेष्येण विवक्षितक्षेत्रे प्रापणम्। च-शब्देन सीमबहिर्देशे स्थितं प्रेष्यं प्रति इदं कुर्वित्याज्ञापनं वा। (सा. ध. स्वो. टी. ५–२७)। ६. आनयनं विवक्षितक्षेत्राद् बहिः स्थितस्य सचेतनादिद्रव्यस्य विवक्षितक्षेत्रे प्रापणम्। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. २–५६, पृ. ११५)। ७. आत्मसंकल्पितदेशस्थितेऽपि प्रतिषिद्धदेशस्थितानि वस्तूनि कार्यवशात्तद्वस्तुस्वामिनं कथयित्वा निजदेशमध्ये आनाय्य क्रय-विक्रयादिकं यत्करोति तदानयनम्। (त. वृत्ति श्रुत. ७–३१)। ८. आत्मसंकल्पिताद्देशाद् बहिः स्थितस्य वस्तुनः।

आनयेतीङ्गितैः किञ्चिद् ज्ञापनानयनं मतम् ॥ (लाटीसं. ६–१२६)।

१ प्रतिज्ञात देश में स्थित रहते हुए प्रयोजन के वश मर्यादित क्षेत्र के बाहर से जिस किसी वस्तु के मंगाने को आनयन कहते हैं।

आनयनप्रयोग—देखो आनयन। १. विशिष्टावधिके भूप्रदेशाभिग्रहे परतो गमनासंभवात् सतो यदन्योऽवधिकृतदेशाद् बहिर्वर्तिनः सचित्तादिद्रव्यस्यानयनाय प्रयुज्यते 'त्वयेदमानेयम्' सन्देशकप्रदानादिना आनयनप्रयोगः। आनायनप्रयोग इत्यपरे पठन्ति। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ७–२६; श्राव. हरि. वृ. ६, पृ. ८३५; श्रा. प्र. टी. ३२०)। २. आनयने विवक्षितक्षेत्राद् बहिर्वर्तमानस्य सचेतनादिद्रव्यस्य विवक्षितक्षेत्रप्रापणे प्रयोगः, स्वयं गमने व्रतभङ्गभयादन्यस्य स्वयमेव वा गच्छतः सन्देशादिना व्यापारणमानयनप्रयोगः। (धर्मवि. वृ. ३–३२)।

देखो आनयन।

आनापानपर्याप्ति — देखो आनपानपर्याप्ति। उच्छ्वासनिस्सरणशक्तेर्निष्पत्तिनिमित्तपुद्गलप्रचयावाप्तिरानापानपर्याप्तिः। (धव. पु. १, पृ. २५५)।

देखो आनपानपर्याप्ति।

आनुगामिक अवधि—देखो अनुगामी। १. आनुगामिकं यत्रक्वचिदुत्पन्नं क्षेत्रान्तरगतस्यापि न प्रतिपतति भास्करवत् घटरक्तभाववच्च। (त. भा. १–२३)। २. अनुगमनशीलम् आनुगामिकम्, अवधिज्ञानिनं लोचनवद् गच्छन्तमनुगच्छतीति भावार्थः। (नन्दी. हरि. वृ. १५, पृ. २३)। ३. अनुगमनशील आनुगामिकः लोचनवत्। (श्राव. नि. हरि. वृ. ५६, पृ. ४२)। ४. तथा गच्छन्तं पुरुषमा समन्तादनुगच्छतीत्येवंशीलमानुगामि आनुगाम्येव वाऽऽनुगामिकः। स्वार्थे कः प्रत्ययः। अथवा अनुगमः प्रयोजनं यस्य स आनुगामिकः, लोचनवत् गच्छन्तमनुगच्छति सोऽवधिरानुगामिक इति भावः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३३–३१७, पृ. ५३६)। ५. उत्पत्तिक्षेत्रादन्यत्राप्यनुवर्तमानमानुगामिकम्। (जैनत. ११, पृ. ७)।

देखो अनुगामी अवधि।

आनुपूर्वी—१. गतावुत्पत्तुकामस्यान्तर्गतौ वर्तमानस्य तदभिमुखमानुपूर्व्या तत्प्रापणसमर्थमानुपूर्वी नामेति। निर्माणनिर्मितानां शरीराङ्गोपाङ्गानां विनिवेशक्रमनियामकमानुपूर्वी नामेत्यपरे। (त. भा. ८, १२)। २. आनुपूर्वी नाम यदुदयादपान्तरालगतौ नियतदेशमनुश्रेणिगमनम्। (श्रा. प्र. टी. २१)। ३. आनुपूर्वी—वृषभनासिकान्यस्तरज्जूसंस्थानीया, यया कर्मपुद्गलसंहत्या विशिष्टं स्थानं प्राप्यतेऽसौ, यया वोर्ध्वोत्तमाङ्गावश्चरणादिरूपो नियमतः शरीरविशेषो भवति साऽऽनुपूर्वीति। (श्राव. नि. हरि. वृ. १२२, पृ. ८४)। ४. भवाद् भवं नयत्यानुपूर्व्या यया साऽऽनुपूर्वी वृषभाकर्षणरज्जुकल्पा। (पंचसं. च. स्वो. वृ. ३–१२७, पृ. ३८)। ५. पुव्वुत्तरसरीराणमन्तरे-एग-दो-तिण्णिसमए वट्टमाणजीवस्स जस्स कम्मस्स उदएण जीवपदेसाण विसिट्ठो संठाणविसेसो होदि तस्स आणुपुव्वि त्ति सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ५६); मुक्कपुव्वसरीरस्स अगहिदुत्तरसरीरस्स जीवस्स अट्ठकम्मक्खंधेहि एयत्तमुवगयस्स हंसधवलविस्सासोवचएहि उवचियपंचवण्णकम्मक्खंधंतस्स विसिट्ठमुहागारेण जीवपदेसाणं अणु परिवाडीए परिणामो आणुपुव्वी णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३७१)। ६. आनुपूर्वी च क्षेत्रसन्निवेशक्रमः, यत्कर्मोदयादतिशयेन तद्गमनानुगुण्यं स्यात् तदप्यानुपूर्वीशब्दवाच्यम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–१२)। ७. यदुदयादन्तरालगतौ जीवो याति तदानुपूर्वी नाम। (समवा. अभय. वृ. ४२, पृ. ६७)। ८. द्विसमयादिना विग्रहेण भवान्तरोत्पत्तिस्थानं गच्छतो जीवस्यानुश्रेणिनियता गमनपरिपाटीहानुपूर्वीत्युच्यते, तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि आनुपूर्वी। (कर्मस्त. गो. वृ. ६–१०, पृ. ८६)। ९. नारय-तिरिय-नरामरभवेसु जंतस्स अंतरगईए। अणुपुव्वीए उदओ सा चउहा सुणसु जह होइ ॥ (कर्मवि. गर्ग. १२१, पृ. ५०)। १०. आनुपूर्वी नरकादिका, यदुदये जीवो नरकादौ गच्छति, नरकादिनयने कारणं रज्जुवद् वृषभस्य। (कर्मवि. पू. व्या. ७५, पृ. ३३)। ११. तथा कूर्पर-लांगल-गोमूत्रिकाकाररूपेण यथाक्रमं द्वि-त्रि-चतुःसमयप्रमाणेन विग्रहेण भवान्तरोत्पत्तिस्थानं गच्छतो जीवस्यानुश्रेणिगमनं आनुपूर्वी, तन्निबन्धनं नाम आनुपूर्वीनाम। (सप्ततिका मलय. वृ. ५, पृ. १५२)। १२. आनुपूर्वी नाम यदुदयादन्तरालगतौ नियतदेशमनुसृत्य अनुश्रेणिगमनं भवति। नियत एवाङ्गविन्यास इत्यन्ये। (धर्मसं. मलय. वृ. ६१८)। १३. कूर्पर-लाङ्गल-गोमूत्रिकाकाररूपेण यथाक्रमं द्वि

त्रि-चतुःसमयप्रमाणेन विग्रहेण भवान्तरोत्पत्तिस्थानं गच्छतो जीवस्यानुश्रेणिनियता गमनपरिपाटी आनुपूर्वी। तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरपि कारणे कार्योपचारात् आनुपूर्वी। (पंचसं. मलय. वृ. ३–६, पृ. ११५; प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३–२६०, पृ. ६८०; प्रव. सारो. वृ. १२६३)। १४. गत्यभिधानव्यपदेश्यमानुपूर्वीनाम। (कर्मवि. दे स्वो. वृ. ४२)। १५. विग्रहेण भवान्तरोत्पत्तिस्थानं गच्छतो जीवस्यानुश्रेणिनियता गमनपरिपाट्यानुपूर्वी। तद्विपाकवेद्या कर्मप्रकृतिरप्यानुपूर्वी। (कर्मप्र. यशो. टी. १, पृ. ५)।

१ जो जीव विवक्षित गति में उत्पन्न होने का इच्छुक होकर अन्तर्गति—विग्रहगति—में वर्तमान है वह जिस कर्म के उदय से श्रेणि के—आकाशप्रदेशपंक्ति के—अनुसार जाकर अभीष्ट स्थान को प्राप्त करता है उसका नाम आनुपूर्वी है। अन्य कितने ही आचार्य यह भी कहते हैं कि जो कर्म निर्माण नामकर्म के द्वारा निर्मित शरीर के अंग और उपांगों की रचनाविशेष के क्रम का नियामक होता है वह आनुपूर्वी नामकर्म कहलाता है।

आनपूर्वीसंक्रम — कोह-माण-माया-लोभा एसा परिवाडी आणुपुव्वीसंकमो णाम। (कसायपा. चू. पृ. ७६४)।

क्रोध, मान, माया और लोभ का क्रम से एक का दूसरे में संक्रमण होने को अर्थात् क्रोधसंज्वलन का मानसंज्वलन में, मानसंज्वलन का मायासंज्वलन में और मायासंज्वलन का लोभसंज्वलन में संक्रमण होने को आनुपूर्वीसंक्रम कहते हैं।

आनुपूर्व्यनाम—देखो आनुपूर्वी। १. पूर्वशरीराकाराविनाशो यस्योदयाद् भवति तदानुपूर्व्यं नाम। (स. सि. ८–११)। २. यदुदयात् पूर्वशरीराकाराविनाशस्तदानुपूर्व्यं नाम। यत्पूर्वशरीराकाराविनाशः यस्योदयात् भवति तदानुपूर्व्यं नाम॥ (त. वा. ८, ११, ११)। ३. यदुदयात् पूर्वशरीराकाराविनाशस्तदानुपूर्व्यं नाम। (त. श्लो. ८–११)। ४. पूर्वोत्तरशरीरयोरन्तराले एक-द्वि-त्रिसमयेषु वर्तमानस्य यस्य कर्मस्कन्धस्योदयेन जीवप्रदेशानां विशिष्टसंस्थानविशेषो भवति तदानुपूर्व्यं नाम। (मूला. वृ. १२, १६८)। ५. यदुदयेन पूर्वशरीराकार[रा]नाशो भवति तदानुपूर्व्यम्। (त. वृत्ति श्रुत. ८–११)।

१ जिस नामकर्म के उदय से विग्रहगति में जीव के पूर्वशरीर के आकार का विनाश नहीं होता है उसे आनुपूर्व्य नामकर्म कहते हैं।

आन्तर तप—देखो आभ्यन्तर तप। अन्तरव्यापारभूयस्त्वादन्यतीर्थविशेषतः। बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वादान्तरं तप उच्यते॥ (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-२० उद्.)। प्रायश्चित्तादिरूप छह प्रकार के तप को चूंकि लौकिक जन देख नहीं सकते हैं, विधर्मी जन भाव से उसका आराधन नहीं कर सकते, तथा मुक्तिप्राप्ति का अन्तरङ्ग कारण भी वह है; अतएव उसे आन्तर या आभ्यन्तर तप कहते हैं।

आपृच्छा—१. आदावणादिगहणे सण्णाउब्भामगादिगमणे वा। विणयेणायरियादिसु आपुच्छा होदि कायव्वा॥ (मूला. ४–१४)। २. आप्रच्छनमापृच्छा, स च कर्तुमभीष्टे कार्ये प्रवर्तमानेन गुरोः कार्या 'अहमिदं करोमीति'। (आव. नि. हरि. वृ. ६९७)। ३. आपुच्छा प्रतिप्रश्नः किमयमस्माभिरनुग्रहीतव्यो न वेति संघप्रश्नः। (भ. आ. विजयो. टी. ६९); आपृच्छा किमयमस्माभिरनुग्रहीतव्यो न वेति संघं प्रति प्रश्नः। (भ. आ. मूला. टी. ६९)। ४. आपृच्छनमापृच्छा, विहार-भूमिगमनादिषु प्रयोजनेषु गुरोः कार्या। च-शब्दः पूर्ववत्। इहोक्तम्—आपुच्छणा उ कज्जे गुरुणो तस्संमयस्स वा नियमा। एवं खु तयं सेयं जायइ सह निज्जराहेऊ॥ इति। (स्थाना. अभय. वृ. १०, १, ७५०, पृ. ४७५)। ५. आपुच्छा—आपृच्छा स्वकार्यं प्रति गुर्वाद्यभिप्रायग्रहणम्। (मूला. वृ. ४–४)।

१ वृक्ष के मूल में अथवा खुले आकाश में कायोत्सर्ग आदि के ग्रहणरूप आतापनयोगादि के विषय में तथा आहार या अन्य किसी निमित्त से दूसरे ग्राम के लिए जाने आदि कार्य के विषय में विनयपूर्वक आचार्य आदि से पूछना, इसका नाम आपृच्छा है।

आप्रच्छन—ग्रन्थारम्भ-कचोल्लोच-कायशुद्धिक्रियादिषु। प्रश्नः सूर्यादिपूज्यानां भवत्याप्रच्छनं मुनौ॥ (आचा. सा. २–१३)।

ग्रन्थ के आरम्भ में, केशलुंच करने के समय और कायशुद्धि आदि क्रियाओं को करते हुए आचार्य आदि पूज्य पुरुषों से पूछने को आप्रच्छन कहते हैं।

आप्रच्छना—देखो आपृच्छा। १. आपुच्छणा उ कज्जे ××× । (आव. नि. ६९७)। २. आउ-

च्छणा उ कज्जे गुरुणो गुरुसम्मयस्स वा णियमा। एवं खु तयं सेयं जायति सति णिज्जराहेऊ ।। (पंचाशक १२–५७०)। ३. इदं करोमीति प्रच्छनं आप्रच्छना। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ५८)।

देखो आपृच्छा।

आपृच्छनावच, आप्रच्छनी भाषा—१. कथ्यतां यन्मया पृष्टं तदित्याप्रच्छनावचः ।। (आचा. सा. ५, ८७)। २. किमेतदित्यादिप्रश्नभाषा आप्रच्छनी। (गो. जी. जी. प्र. टी. २२५)।

१ जो मैंने पूछा है उसे कहिए—मेरे प्रश्न का उत्तर कहें, इत्यादि प्रकार के वचनों को आप्रच्छनावचन या आप्रच्छनी भाषा कहते हैं।

आपेक्षिक सौक्ष्म्य—आपेक्षिकं (सौक्ष्म्यं) विल्वामलक-वदरादीनाम्। (स. सि. ५–२४; त. वा. ५, २४, १०; त. सुखवो. ५–२४)।

दो या दो से अधिक वस्तुओं में जो अपेक्षाकृत सूक्ष्मता (छोटापन) दिखती है उसे आपेक्षिक सौक्ष्म्य कहते हैं। जैसे—वेल की अपेक्षा आंवला छोटा है।

आपेक्षिक स्थौल्य—आपेक्षिकं (स्थौल्यं) वदरामलक-विल्व-तालादिपु। (स. सि. ५–२४; त. वा. ५, २४, ११; त. सुखवो. ५–२४)।

दो या दो से अधिक वस्तुओं में जो एक-दूसरे की अपेक्षा स्थूलता (वड़ापन) दिखती है उसे आपेक्षिक स्थौल्य कहते हैं। जैसे—आंवले की अपेक्षा वेल वड़ा है।

आप्त (अत्त)—१. ववगयअसेसदोसो सयलगुणप्पा हवे अत्तो। (नि. सा. १–५)। २. णाणमादीणि अत्ताणि जेण अत्तो उ सो भवे। रागद्दोसपहीणो वा जे व इट्ठा विसोधीए ।। (व्यव. भा. १०–२३५, पृ. ३५)। ३. आप्तेनोत्सन्नदोषेण सर्वज्ञेनाऽऽगमेशिना। भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्। (रत्नक. ५)। ४. ये दर्शन-ज्ञान-विशुद्धलेश्या जितेन्द्रियाः शान्तमदा दमेशाः। तपोभिरुद्भासितचारुदेहा आप्ता गुणैराप्ततमा भवन्ति ।। निद्रा-श्रम क्लेश-विपाद-चिन्ता-क्षुत्तृड्-जरा-व्याधि-भयैर्विहीनाः। अविस्मयाः स्वेदमलैरपेता आप्ता भवन्त्यप्रतिमस्वभावाः ।। द्वेपश्च रागश्च विमूढता च दोषाशयास्ते जगति प्ररूढाः। न सन्ति तेषां गतकल्मषाणां तानर्हतस्त्वाप्ततमान् वदन्ति ।। (वरांग. २५, ८६–८८)। ५. यो यत्राऽविसंवादकः स तत्राऽऽप्तः। (अष्टशती ७८)। ६. आप्तो रागादिरहितः। (दशवै. भा. हरि. वृ. ४–३५, पृ. १२८; सूत्रकृ. शी. वृ. सू. १, ६, ३३, पृ. १८५)। ७. आगमो ह्याप्तवचनमाप्तं दोषक्षयाद् विदुः। वीतरागोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसम्भवात् ।। (ललितवि. पृ. ६६; धव. पु. ३, पृ. १२ उ.)। ८. आप्तागमः प्रमाणं स्याद्यथावद्वस्तुसूचकः। यस्तु दोषैर्विनिर्मुक्तः सोऽयमाप्तो निरञ्जनः ।। (आप्तस्वरूप १)। ९. सर्वज्ञं सर्वलोकेशं सर्वदोषविवर्जितम्। सर्वसत्त्वहितं प्राहुराप्तमाप्तमतोचिताः ।। (उपासका. ४९)। १०. यथानुभूताऽनुमितश्रुतार्थाविसंवादिवचनः पुमानाप्तः। (नीतिवा. १५–१५)। ११. अत्तो दोसविमुक्को × × ×। छुह तण्हा भय दोसो रागो मोहो जरा रुजा चिन्ता। मच्चू खेओ सेओ अरइ मओ विभओ जम्मं ।। णिद्दा तहा विसाओ दोसा एदेहि वज्जियो अत्तो। (वसु. श्रा. ७–९)। १२. अभिधेयं वस्तु यथावस्थितं यो जानीते यथाज्ञातं चाभिधत्ते स आप्तः। (प्र. न. त. ४–४; षड्द. स. टी. पृ. २११)। १३. आप्तास्त एव ये दोषैरष्टादशभिरुज्झिताः। (धर्मश. २१, १२८)। १४. व्यपेताऽशेपदोषो यः शरीरी तत्त्वदेशकः। समस्तवस्तुतत्त्वज्ञः स स्यादाप्तः सतां पतिः ।। (आचा. सा. ३–४)। १५. यथार्थदर्शनः निर्मूलकोवापगमादिगुणयुक्तश्च पुरुष इहाऽऽप्तः। (धर्मसं. मलय. वृ. ३२)। १६. आप्तः शंकारहितः। (नि. सा. वृ. १–५)। १७. मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्युक्तः सार्वज्ञ्य-सम्पदा। शास्ति मुक्तिपथं भव्यान् योऽसावाप्तो जगत्पतिः ।। (अन. ध. २–१४)। १८. आप्यते प्रोक्तोऽर्थो यस्मादित्याप्तः; यद्वा आप्ती रागादिदोषक्षयः, सा विद्यते यस्येत्यर्शआदित्वादिति आप्तः। × × × अक्षरविलेखनद्वारेण अङ्कोपदर्शनमुखेन करपल्लव्यादिचेष्टाविशेषवशेन वा शब्दस्मरणाद् यः परोक्षार्थविषयं विज्ञानं परस्योत्पादयति सोऽप्याप्त इत्युक्तं भवति। (रत्नाकरा. ४–४, पृ. ३७)। १९. घातिकर्मक्षयोद्भूतकेवलज्ञानरश्मिभिः। प्रकाशकः पदार्थानां त्रैलोक्योदरवर्तिनाम् ।। सर्वज्ञः सर्वतो व्यापी त्यक्तदोषो ह्यवंचकः। देवदेवेन्द्रवन्द्यांघ्रिराप्तोऽसौ परिकीर्तितः ।। (भावसं. वाम. ३२८, ३२९)। २०. आप्तः प्रत्यक्षप्रमितसकलपदार्थत्वे सति परमहितोपदेशकः। (न्या. दी. पृ. ११३)।

२१. आप्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्निर्मुक्तः शान्तरूपवान् । (पू. उपासकाचार ३)। २२. क्षुत्पिपासे भय-द्वेषौ मोह-रागौ स्मृतिर्जरा। रुग्मृती स्वेद-खेदौ च मदः स्वापो रतिर्जनिः॥ विषादविस्मयावेतौ दोषा अष्टादशेरिताः। एभिर्मुक्तो भवेदाप्तो निरञ्जनपदाश्रितः॥ (धर्मसं. श्रा. ४, ७–८)। २३. यथास्थितार्थपरिज्ञानपूर्वकहितोपदेशप्रवण आप्तः। (जैन तर्क. पृ. १६)।

३ वीतराग, सर्वज्ञ और आगम के ईश (हितोपदेशी) पुरुष को आप्त कहते हैं।

आबाधा—देखो अबाधा। १. न बाधा अबाधा, अबाधा चेव आबाधा। (धव. पु. ६, पृ. १४८)। २. कम्मसरूवेणागयदव्वं ण य एदि उदयरूवेण। रूवेणुदीरणस्स व आबाहा जाव ताव हवे॥ (गो. क. १५५)।

२ कर्मरूप से बन्ध को प्राप्त हुआ द्रव्य जितने समय तक उदय या उदीरणा को प्राप्त नहीं होता, उतने काल का नाम अबाधा या आबाधाकाल है।

आबाधाकाण्डक—उक्कस्सावाधं विरलिय उक्कस्सट्ठिदिं समखंडं करिय दिण्णे रूवं पडि आबाधाकंडयपमाणं पावेदि। (धव. पु. ६, पृ. १४६)।

विवक्षित कर्म की उत्कृष्ट स्थिति में उसी के उत्कृष्ट आबाधाकाल का भाग देने पर जो लब्ध हो उतना आबाधाकाण्डक का प्रमाण होता है, अर्थात् उतने स्थितिविकल्पों का आबाधाकाण्डक होता है।

आभिग्रहिक—१. आभिग्रहिकं येन बोटिकादिकुदर्शनानामन्यतमदभिगृह्णाति। (कर्मस्त. गो. वृ. ६–१०, पृ. ८३)। २. तत्राभिग्रहिकं पाखण्डिनां स्व-स्वशास्त्रनियंत्रितविवेकालोकानां परपक्षप्रतिक्षेपदक्षाणां भवति। (योगशा. स्वो. विव. २–३)। ३. तत्राभिग्रहेण इदमेव दर्शनं शोभनं नान्यद् इत्येवं रूपेण कुदर्शनविषयेण निर्वृत्तमाभिग्रहिकम्, यद्वशाद् बोटिकादिकुदर्शनानामन्यतमं दर्शनं गृह्णाति। (षडशीति मलय. वृ. ७५–७६; षडशीति दे. स्वो. वृ. ५१; सम्बोधस. वृ. ४७, पृ. ३२; पंचसं. मलय. वृ. ४–२)। ४. अभिग्रहेण निर्वृत्तं तत्राभिग्रहिकं स्मृतम्। (लोकप्र. ३–६६०)।

३ यही दर्शन (सम्प्रदाय) ठीक है, अन्य कोई भी दर्शन ठीक नहीं है; इस प्रकार के कदाग्रह से निर्मित मिथ्यात्व का नाम आभिग्रहिक है।

आभिनिबोधिक—१. ईहा अपोह मीमंसा मग्गणा य गवेसणा। सण्णा सई मई पण्णा सव्वं आभिणिबोहियं॥ (नन्दी. गा. ७७; विशेषा. ३९६)। २. अत्थाभिमुहो णियतो बोधो अभिनिबोधः। स एव स्वार्थिकप्रत्ययोपादानादाभिनिबोधिकम्। अहवा अभिनिबोधे भवं, तेण निव्वत्तं, तम्मतं तप्पयोयणं वाऽऽभिणिबोधिकम्। अहवा आता तदभिनिबुज्झए, तेण वाऽभिणिबुज्झते, तम्हा वा [ऽभिणि]बुज्झते, तम्हि वाभिनिबुज्झए इत्ततो आभिनिबोधिकः। स एवाऽभिणिबोधिकोपयोगतो अनन्यत्वादाभिनिबोधिकम्। (नन्दीसुत्त चू. सू. ७, पृ. १३)। ३. पच्चक्ख परोक्खं वा जं अत्थं ऊहिऊण णिद्दिसइ। तं होइ अभिणिबोहं अभिमुहमत्थं न विवरीयं। (बृहत्क. १, ३६)। ४. होइ अपोहोऽवाओ सई धिई सव्वमेव मइपण्णा। ईसा सेसा सव्वं इदमाभिणिबोहियं जाण॥ (विशेषा. ३९७)। ५. आ अर्थाभिमुखो नियतो बोधः अभिनिबोधः। अभिनिबोध एव आभिनिबोधिकम् × × ×। अभिनिबोधे वा भवम्, तेन वा निर्वृत्तम्, तन्मयं तत्प्रयोजनं वा, अथवा अभिनिबुध्यते तद् इत्याभिनिबोधिकम्, अवग्रहादिरूपं मतिज्ञानमेव, तस्य स्वसंविदितरूपत्वात् भेदोपचारात् इत्यर्थः। अभिनिबुध्यते वाऽनेनेत्याभिनिबोधिकः, तदावरणकर्मक्षयोपशमः इति भावार्थः। अभिनिबुध्यतेऽस्मादिति वाभिनिबोधिकम्, तदावरणक्षयोपशम एव। अभिनिबुध्यतेऽस्मिन्निति वा क्षयोपशमे सत्याभिनिबोधिकम्। आत्मैव वा अभिनिबोधोपयोगपरिणामानन्यत्वात् अभिनिबुध्यते इति आभिनिबोधिकम्। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. २४–२५; आव. नि. हरि. वृ. १, पृ. ७)। ६. जमवग्गहादिरूवं पच्चुप्पन्नत्थगाहगं लोए। इंदिय-मणोणिमित्तं तं आभिणिबोहिगं बेंति॥ (धर्मसं. हरि. ८२३)। ७. अहिमुहणियमियबोहणमाभिणिबोहियमणिदिइंदियजं। बहुउग्गहाइणा खलु कयछत्तीसा तिसयभेयं। (प्रा. पंचसं. १–१२१; धव. पु. १, पृ. ३५९ उद्.; गो. जी. ३०६)। ८. तत्थ आभिणिबोहियणाणं णाम पंचिंदिय-णोइंदिएहि मदिणाणावरणखओवसमेण य जणिदोऽवग्गहेहावायधारणाओ सद्द-परिस-रूव-रस-गंध-दिट्ठ-सुदाणुभूदविसयाओ। बहु-बहुविह-

खिप्पाऽणिस्सिदाणुत्त-धुवेदरभेदेण तिसयछत्तीसाओ। (धव. पु. १, पृ. ९३); अहिमुह-णियमियअत्थाववोहो आभिणिवोहो, थूल-वट्टमाण-अणंतरिदअत्था अहिमुहा। चक्खिदिए रूवं णियमिदं, सोदिंदिए सद्दो, घाणिंदिए गंधो, जिब्भिंदिए रसो, फासिंदिए फासो, णोइंदिए दिट्ठ-सुदाणुभूदऽत्था णियमिदा। अहिमुह-णियमिदऽट्ठेसु जो वोहो सो अहिणिवोहो। अहिणिवोध एव आहिणिवोधियं णाणं। (धव. पु. ६, पृ. १५-१६); तत्थ अहिमुहणियमिदत्थस्स वोहणं आभिणिवोहियं णाम णाणं। को अहिमुहत्थो? इंदिय-णोइंदियाणं गहणपाओग्गो। कुदो तस्स णियमो? अण्णत्थ अप्पवुत्तीदो। अत्थिंदियालोगुवजोगेहिंतो चेव माणुसेसु रूवणाणुप्पत्ती। अत्थिंदिय-उवजोगेहिंतो चेव रस-गंध-सद्द-फासणाणुप्पत्ती। दिट्ठ-सुदाणुभूदट्ठ-मणेहिंतो णोइंदियणाणुप्पत्ती। एसो एत्थ णियमो। एदेण णियमेण अभिमुहत्थेसु जमुप्पज्जदि णाणं तमाभिणिवोहियणाणं णाम। (धव. पु. १३, पृ. २०९-१०)। ९. अभिमुखो निश्चितो यो विपयपरिच्छेदः सर्वैरेव एभिः प्रकारैः तदाभिनिवोधिकम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-१३)। १०. अभिमुखं योग्यदेशावस्थितं नियतमर्थमिन्द्रिय-मनोद्वारेणात्मा येन परिणामविशेषेणाववुध्यते स परिणामविशेषो ज्ञानापरपर्यायः आभिनिवोधिकम्। (आव. नि. मलय. वृ. १, पृ. २०)। ११. अर्थाभिमुखो नियतः प्रतिस्वरूपको वोधो वोधविशेषोऽभिनिवोधोऽभिनिवोध एव आभिनिवोधिकम्××× अथवा अभिनिवुध्यते अस्मादस्मिन् वेति अभिनिवोधस्तदावरणक्षयोपशमस्तेन निर्वृत्तमाभिनिवोधिकम्। तच्च तत् ज्ञानं चाभिनिवोधिकज्ञानम्। इन्द्रिय-मनोनिमित्तो योग्यप्रदेशावस्थितवस्तुविपयः स्फुटः प्रतिलाभो वोधविशेप इत्यर्थः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९-३१२, पृ. ५२६)। १२. स्थूल-वर्तमानयोग्यदेशावस्थितोऽर्थः अभिमुखः, अस्येन्द्रियस्यायमर्थ इत्यवधारितो नियमितः। अभिमुखश्चासौ नियमितश्चासौ अभिमुखनियमितः, तस्यार्थस्य वोधनं ज्ञानम्, आभिनिवोधिकं मतिज्ञानम्। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. ३०६)।

८ अभिमुख और नियमित पदार्थ के इन्द्रिय और मन के द्वारा जानने को आभिनिवोधिक ज्ञान कहते हैं। यह मतिज्ञान का नामान्तर है।

आभिनिवेशिक—१. अभिनिवेशे भवं आभिनिवेशिकम्। अर्हत्प्ररूपितप्रोद्दलनं गोष्ठामाहिलस्येव। (पंचसं. च. स्वो. वृ. ४-२, पृ. १५६)। २. आभिनिवेशिकं जानतोऽपि यथास्थितं वस्तु दुरभिनिवेशलेशविप्लावितधियो जमालेरिव भवति। (योगशा. स्वो. विव. २-३)। ३. आभिनिवेशिकं यदभिनिवेशेन निर्वृत्तम्, यथा गोष्ठामाहिलादीनाम्। (सम्बोधस. वृ ४७, पृ. ३२; पंचसं. मलय. वृ. ४-२, पृ. १५६)। ४. यतो गोष्ठामाहिलादिवदात्मीयकुदर्शने। भवत्यभिनिवेशस्तत्प्रोक्तमाभिनिवेशिकम्॥ (लोकप्र. ३-६९३)।

२ वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानते हुए भी दुराग्रह के वश से जमालि के समान जिनप्ररूपित तत्त्व के अन्यथा प्रतिपादन करने को आभिनिवेशिक मिथ्यात्व कहते हैं।

आभियोगिक—देखो आभियोग्य। अभियोगः पारवश्यम्, स प्रयोजनं येपां ते आभियोगिकाः। (विपाकसूत्र अभय. वृ. २-१४, पृ. २९)।

अभियोग का अर्थ पराधीनता है वह, पराधीनता ही जिनका प्रयोजन है, अर्थात् जो दूसरों के आधीन रहकर उनकी आज्ञानुसार सेवाकार्य किया करते हैं उन्हें आभियोगिक देव कहते हैं।

आभियोगिकभावना—१. कोउअ भूई पसिणे पसिणापसिणे निमित्तमाजीवी। इड्ढि-रस-सायगुरुतो अभिओगं भावणं कुणइ॥ (वृहत्क. भा. १३०८)। २. कोऊय-भूइकम्मे पसिणापसिणे निमित्तमाएसी। इड्ढि-रस-सायगुरुओ अभिओगं भावणं कुणइ॥ (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. ४, पृ. १८ उ.)।

१ कौतुक दिखाकर, भूतिकर्म वताकर, प्रश्नों के उत्तर देकर और शरीरगत चिह्नादिकों के शुभाशुभ फल वताकर आजीविका करने को तथा ऋद्धि, रस और सात गौरवमय प्रवृत्तियों के रखने को आभियोगिकभावना कहते हैं।

आभियोगिकी, आभियोगी—१. आ समन्तात् आभिमुख्येन[वा] युज्यन्ते प्रेष्यकर्मणि व्यापार्यन्त इत्याभियोग्याः किंकरस्थानीया देवविशेपास्तेपामियमाभियोगी। (वृहत्क. वृ. १२९३)। २. आभियोगाः किंकरस्थानीया देवविशेपास्तेपामियं आभियोगिकी। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३-८१, पृ. १७८)।

१ जो देव इन्द्रादि के सेवाकार्य में नियुक्त रहते हैं वे

आभियोग्य कहलाते हैं। उनसे सम्बन्धित भावना का नाम आभियोगिकी या आभियोगी है।

आभियोग्य—१. आभियोग्या दाससमाना वाहनादिकर्मणि प्रवृत्ताः। (स. सि. ४–४)। २. आभियोग्या दासस्थानीयाः। (त. भा. ४–४)। ३. आभियोग्या दाससमानाः। यथेह दासा वाहनादिव्यापारं कुर्वन्ति तथा तत्राभियोग्या वाहनादिभावेनोपकुर्वन्ति। आभिमुख्येन योगोऽभियोगः, अभियोगे भवा आभियोग्याः। ××× अथवा अभियोगे साधवः आभियोग्याः, अभियोगमर्हन्तीति वा। (त. वा. ४, ४, ६)। ४. वाहनादिभावेनाभिमुख्येन योगोऽभियोगस्तत्र भवा अभियोग्यास्त एव आभियोग्याः इति। ××× अथवा अभियोगे साधवः आभियोग्याः, अभियोगमर्हन्तीति वा आभियोग्यास्ते च दाससमानाः। (त. श्लो. ४–४)। ५. अभियुज्यन्त इत्याभियोग्याः वाहनादौ कुत्सिते कर्मणि नियुज्यमानाः, वाहनदेवा इत्यर्थः। (जयध. पत्र ७६४)। ६. भवेयुराभियोग्याख्या दासकर्मकरोपमाः॥ (म. पु. २२, २६)। ७. दासप्राया आभियोग्याः। (त्रि. श. पु. च. २, ३, ७७४)। ८. आ समन्तादभियुज्यन्ते प्रेष्यकर्मणि व्यापार्यन्त इत्याभियोग्या दासप्रायाः। (संग्रहणी दे. वृ. १; बृहत्सं. मलय. वृ. २)। ९. अभियोगे कर्मणि भवा आभियोग्या दासकर्मकरकल्पाः। (त. वृत्ति श्रुत. ४–४)।

१ सवारी आदि में काम आने वाले दास समान देवों को आभियोग्य कहते हैं।

आभियोग्यभावना—देखो आभियोगिकी। १. मंताभिओग-कोदुग-भूदीयम्मं पउंजदे जो हु। इड्ढि-रस-सादहेदुं अभिओगं भावणं कुणइ॥ (भ. आ. ३, २८२)। २. जे भूदिकम्म-मंताभियोग-कोदूहलाइ-संजुत्ता। जणवण्णे य पअट्टा वाहणदेवेसु ते होंति॥ (ति. प. ३–२०३)।

१ ऋद्धि, रस और सात गारव के हेतुभूत मंत्राभियोग (भूतावेशकरण), कुतूहलोपदर्शन (अकालवृष्टि आदि दर्शन) और भूतिकर्म का करने वाला अभियोग्य-भावना को करता है।

आभोग—१. आभोगो उवओगो। (प्रत्या. स्व. गा. ५५)। २. आभोगनमाभोगः, 'भुज-पालनाभ्यवहारयोः' मर्यादयाऽभिविधिना वा भोगनं पालनमाभोगः। (ओघनि. वृ. ४, पृ. २६)। ३. ज्ञात्वाप्यकार्यसेवनमाभोगः। (आव. ह. वृ. मल. हे. टि. पृ. ९०)।

३ जान करके भी अकार्य के सेवन करने को आभोग कहते हैं।

आभोगनिर्वर्तित कोप—यदा परस्यापराधं सम्यगवबुध्य कोपकारणं च व्यवहारतः पुष्टमवलम्ब्य नान्यथाऽस्य शिक्षोपजायते इत्याभोग्य कोपं विधत्ते तदा स कोप आभोगनिर्वर्तितः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १४–१९०, पृ. २९१)।

दूसरे के अपराध को भलीभांति जान करके तथा व्यवहार से पुष्ट कोप के कारण का आश्रय लेकर 'अन्य प्रकार से इसे शिक्षा नहीं मिल सकती है' यह देखकर जब क्रोध करता है तब उसके इस क्रोध को आभोगनिर्वर्तित कोप कहते हैं।

आभोगनिर्वर्तिताहार—आभोगनमाभोगः आलोचनम्, अभिसन्धिरित्यर्थः। आभोगेन निर्वर्तितः उत्पादित आभोगनिर्वर्तितः, आहारयामीतीच्छापूर्वं निर्मापितः इति यावत्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २८, ३०४, पृ. ५००)।

अभिप्रायपूर्वक बनवाया गया आहार आभोगनिर्वर्तिताहार है। यह नारकियों का आहार है।

आभोगबकुश—१. संचित्यकारी आभोगवकुशः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–४९)। २. द्विविध-(शरीरोपकरण-) भूषणमकृत्यमित्येवंभूतं ज्ञानम्, तत्प्रधानो वकुश आभोगबकुशः। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३–५६, पृ. १५२)। ३. आभोगः साधूनामकृत्यमेतच्छरीरोपकरणविभूषणमित्येवंभूतं ज्ञानम्। तत्प्रधानो बकुश आभोगबकुशः। (प्रव. सारो. वृ. ७२४)।

१ जो साधु विचारपूर्वक करता है—शरीर व उपकरणों को विभूषित रखता है—उसे आभोगबकुश कहते हैं।

आभ्यन्तर आत्मभूतहेतु—तन्निमित्तो (द्रव्ययोगनिमित्तो) भावयोगो वीर्यान्तराय-ज्ञान-दर्शनावरण-क्षय-क्षयोपशमनिमित्त आत्मनः प्रसादश्चात्मभूत इत्याख्यामर्हति। (त. वा. २, ८, १)।

द्रव्ययोगनिमित्तक भावयोग और वीर्यान्तराय तथा ज्ञानावरण व दर्शनावरण कर्म के क्षय-क्षयोपशम-निमित्तक आत्मा के प्रसाद को आभ्यन्तर आत्मभूत हेतु कहते हैं।

आभ्यन्तर तप—१. कथमस्याभ्यन्तरत्वम् ? मनोनियमनार्थत्वात् । (स. सि. ९–२०) । २. अन्तःकरणव्यापारात् । प्रायश्चित्तादितपः अन्तःकरणव्यापारालम्बनम्, ततोऽस्याभ्यन्तरत्वम् । बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वाच्च । न हि बाह्यद्रव्यमपेक्ष्य वर्तते प्रायश्चित्तादि ततश्चास्याभ्यन्तरत्वमवसेयम् । (त. वा. ९, २०, २–३; चा. सा. पृ. ६०) । ३. इदं प्रायश्चित्तादिव्युत्सर्गान्तमनुष्ठानं लौकिकैरनभिलक्ष्यत्वात् तंत्रान्तरीयैश्च भावतोऽनासेव्यत्वान्मोक्षप्राप्त्यन्तरङ्गत्वाच्चाभ्यन्तरं तपो भवति । (दशवै. नि. हरि. वृ. १–४८, पृ. ३२) । ४. इदं चाभ्यन्तरस्य कर्मणस्तापकत्वात्, अभ्यन्तरैरेवान्तमुखैर्भगवद्भिर्ज्ञायमानत्वाच्चाभ्यन्तरत्वम् । (योगशा. स्वो. विव. ४–९०)। ५. इच्छानिरोधनं यत्र तदाभ्यन्तरमीरितम् । (धर्मसं. श्रा. ९–१६६) ।

२ जो प्रायश्चित्तादि तप बाह्य द्रव्य की अपेक्षा न कर अन्तःकरण के व्यापार के आश्रित होते हैं वे आभ्यन्तर तप कहलाते हैं ।

आभ्यन्तर द्रव्यमल—१. पुणु दिढजीवपदेसे णिबद्धरूवाइं पयडि-ठिदिआइं ॥ अणुभागपदेसाइं चउहिं पत्तेक्कभेज्जमाणं तु । णाणावरणप्पहुदी अट्ठविहं कम्ममखिलपावरयं ॥ अब्भंतरदव्वमलं जीवपदेसे णिबद्धमिदि हेदो । (ति. प. १, ११–१३) । २. घनकठिनजीवप्रदेशनिबद्धप्रकृति-स्थित्यनुभागप्रदेशविभक्तज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्माभ्यन्तरद्रव्यमलम् । (धव. पु. १, पृ. ३२) ।

२ सघन व कठिन जीवप्रदेशों से जो प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्ध रूप से ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्मपुद्गल सम्बद्ध रहते हैं उन्हें आभ्यन्तर द्रव्यमल कहते हैं ।

आभ्यन्तरनिर्वृत्ति—१. उत्सेधाङ्गुलासंख्येयभागप्रमितानां शुद्धात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रीयसंस्थानेनावस्थितानां वृत्तिराभ्यन्तरा निर्वृत्तिः । (स. सि. २–१७) । २. विशुद्धात्मप्रदेशवृत्तिराभ्यन्तरा । उत्सेधाङ्गुलासंख्येयभागप्रमितानां विशुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानमानावमानावस्थितानां वृत्तिराभ्यन्तरा निर्वृत्तिः । (त. वा. २, १७, ३) । ३. लोकप्रमितानां विशुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनावस्थितानामुत्सेधाङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमितानां वा वृत्तिराभ्यन्तरा निर्वृत्तिः । (धव. पु. १, पृ. २३२) ।

१ प्रतिनियत चक्षु आदि इन्द्रियों के आकार से अवस्थित उत्सेधाङ्गुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण विशुद्ध आत्मप्रदेशों के अवस्थान को आभ्यन्तर निर्वृत्ति (द्रव्येन्द्रिय) कहते हैं ।

आभ्यन्तर प्रत्यय—तत्थ अब्भंतरो कोधादिदव्वकम्मक्खंधा अणंताणंतपरमाणुसमुदयसमागमसमुप्पण्णा जीवपदेसेहिं एयत्तमुवगया पयडि-ट्ठिदि-अणुभागभेयभिण्णा । (जयध. १, पृ. २८४) ।

अनन्तानन्त परमाणुओं के समुदाय के आगमन से उत्पन्न जो क्रोधादि कषायरूप द्रव्य कर्मस्कन्ध प्रकृति, स्थिति और अनुभाग में विभक्त होकर जीवप्रदेशों के साथ एकता को प्राप्त होते हैं उन्हें आभ्यन्तर प्रत्यय कहते हैं ।

आमन्त्रण—आमच्चणं कामचारानुज्ञा । (अष्टस. यशो. वृ. ३, पृ. ५८) ।

इच्छानुसार काम करने की अनुज्ञा देने को आमंत्रण कहते हैं ।

आमन्त्रणी भाषा—१. यया वाचा परोऽभिमुखीक्रियते सा आमंत्रणी । (भ. आ. विजयो. ११९५)। २. गृहीतवाच्य-वाचकसम्बन्धो व्यापारान्तरं प्रत्यभिमुखीक्रियते यया सामंत्रणी भाषा । (मूला. वृ. ५, ११८) । ३. तत्रामन्त्रणमन्यस्य परत्रासक्तचेतसः । आभिमुख्यकरो हंहो नरेन्द्रेत्यादिकं वचः ॥ (आचा. सा. ५–८५) । ४. 'आगच्छ भो देवदत्त' इत्याद्याह्वानभाषा आमन्त्रणी । (गो. जी. जी. प्र. २२५) । ५. संबोहणजुत्ता जा अवहाणं होइ जं च सोऊणं । आमंतणी य एसा पण्णत्ता तत्तदंसीहिं ॥ (भाषार. ७२) । ६. या सम्बोधनैः हे-अये-भोप्रभृतिपदैर्युक्ता सम्बद्धा, यां च श्रुत्वा अवधानं श्रोतॄणां श्रवणाभिमुख्यम्, सम्बोधनमात्रेणोपरमे किमामन्त्रयसीति प्रश्नहेतुजिज्ञासाफलकं भवति । एषा तत्त्वदर्शिभिरामन्त्रणी प्रज्ञप्ता । (भाषार. टी. ७२) ।

१ जिस भाषा के द्वारा दूसरे को अभिमुख किया जावे उसे आमन्त्रणी भाषा कहते हैं ।

आमरणान्त दोष—मरणमेवान्तो मरणान्तः, आ मरणान्तात् आमरणान्तम्, असञ्जातानुतापस्य कालसौकरिकादेरिव या हिंसादिषु प्रवृत्तिः सैव दोषः आमरणान्तदोषः । (औपपा. वृ. २०, पृ. ४४) ।

मरण होने तक बिना किसी प्रकार के पश्चात्ताप के कालसौकरिक (एक कषायी) आदि के समान जो हिंसादि पापों में प्रवृत्ति होती है उसे आमरणान्त दोष कहते हैं।

आमर्जन—आमर्जनं मृदुगोमयादिना लिम्पनम्। (व्यव. भा. मलय. वृ. ४–२७, पृ. ६)।

मृदु गोबर आदि से लीपने को आमर्जन कहते हैं।

आमर्शन—१. क्षपकस्य शरीरैकदेशस्य स्पर्शनम् आमर्शनम्। (भ. आ. विजयो. ६४६)। २. शरीरैकदेशस्पर्शनम्। (भ. आ. मूला. टी. ६४६)।

समाधिमरण करने वाले साधु के शरीर के एकदेश का स्पर्श करने को आमर्शन कहते हैं।

आमर्शलब्धि—देखो आमर्शौषधि ऋद्धि। तत्र आमर्शनमामर्शः, संस्पर्शनमित्यर्थः। स एव औषधिर्यस्यासावामर्शौषधिः साधुरेव, संस्पर्शनमात्रादेव व्याध्यपनयनसमर्थ इत्यर्थः, लब्धि-लब्धिमतोरभेदात्। स एवामर्शलब्धिरिति। (आव. नि. हरि. व मलय. वृ. ६६; प्रव. सारो. वृ. १४६६)।

जो साधु स्पर्श मात्र से ही रोग के दूर करने में समर्थ होता है उसे अभेद विवक्षा से आमर्शलब्धि—आमर्श ऋद्धि का धारक—कहा जाता है।

आमर्शौषधि ऋद्धि—देखो आमर्शलब्धि। रिसिकर-चरणादीणं अल्लियमेत्तम्मि जीए पासम्मि। जीवा होंति णिरोगा सा अम्मरिसोसही रिद्धी॥ (ति. प. १०६८)।

जिस ऋद्धि के प्रभाव से साधु के स्पर्श मात्र से रोगियों के रोग दूर हो जाते हैं उसे आमर्शौषधि ऋद्धि कहते हैं।

आमर्शौषधिप्राप्त—१. आमर्शः संस्पर्शः, यदीयहस्त-पादाद्यामर्श औषधिप्राप्तो यैस्ते आमर्शौषधिप्राप्ता। (त. वा. ३, ३६, ३, पृ. २०३)। २. आमर्षः-औषधत्वं प्राप्तो येषां ते आमर्षौषधप्राप्ताः। ××× तवोमाहप्पेण जेसि फासो सयलोसहसरूवत्तं पत्तो तेसिमामोसहिपत्ता त्ति सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ६५–६६)। ३. आमर्शः संस्पर्शो हस्त-पादाद्यामर्शः सकलौषधि प्राप्तो येषां त आमर्शौषधिप्राप्ताः। (चा. सा. पृ. ६६)।

आमर्श का अर्थ स्पर्श होता है, जिन महर्षियों के हाथ-पांव आदि का स्पर्श औषधि को प्राप्त हो गया है—रोगियों के दुःसाध्य रोगों के दूर करने में औषधि का काम करता है—वे महर्षि आमर्शौषधिप्राप्त—आमर्शौषधिऋद्धि के धारक—कहे जाते हैं।

आमुण्डा—आमुण्ड्यते संकोच्यते वितर्कितोऽर्थः अनया इति आमुण्डा। (धव. पु. १३, पृ. २४३)।

जिसके द्वारा विमर्शित पदार्थ का संकोच किया जाय उसे आमुण्डा बुद्धि (अवाय) कहते हैं।

आमर्षौषधप्राप्त—देखो आमर्शौषधिप्राप्त।

आम्नाय—१. घोषशुद्धं परिवर्तनमाम्नायः। (स. सि. ९–२५; त. श्लो. ९–२५)। २. आम्नायो घोषविशुद्धं परिवर्तनं गुणनम्, रूपादानमित्यर्थः। (त. भा. ९–२५; योगशा. स्वो. वि. ४–९०)। ३. घोषविशुद्धपरिवर्तनमाम्नायः। व्रतिनो वेदितसमाचारस्यैहलौकिकफलनिरपेक्षस्य द्रुत-विलम्बितादिघोषविशुद्धं परिवर्तनमाम्नाय इत्युपदिश्यते। (त. वा. ९, २५, ४)। ४. आम्नायोऽपि परिवर्तनम्, उदात्तादिपरिशुद्धमनुश्रावणीयमभ्यासविशेषः। गुणनं संख्यानं पदाक्षरद्वारेण, रूपादानमेकरूपम् एका परिपाटी द्वे रूपे त्रीणि रूपाणीत्यादि। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ९–२५)। ५. आम्नायो गुणना। (भ. आ. विजयो. १०४); घोषविशुद्ध-श्रुतपरावर्त्यमानमाम्नायः स्वाध्यायो भवत्येव। (भ. आ. विजयो. १३६)। ६. आम्नायः कथ्यते घोषो विशुद्धं परिवर्तनम्। (त. सा. ७–१६)। ७. व्रतिनो विदितसमाचारस्यैहलौकिकफलनिरपेक्षस्य द्रुत-विलम्बितपदाक्षरच्युतादिघोषदोषविशुद्धं परिवर्तनमाम्नायः। (चा. सा. पृ. ६७)। ८. परिवर्तनमाम्नायो घोषदोषविवर्जितम्। (आचा. सा. ४–९१)। ९. आम्नायो घोषशुद्धं यद् वृत्तस्य परिवर्तनम्। (अन. ध. ७, ८७)। १०. अष्टस्थानोच्चारविशेषेण यत् शुद्धं घोषणं पुनः पुनः परिवर्तनं स आम्नायः। (त. वृत्ति श्रुत. ९–२५); कार्तिके. टी. ४६६)।

३ आचारशास्त्र का ज्ञाता व्रती जो ऐहिक फल की अपेक्षा न कर द्रुत-विलम्बित आदि घोष से विशुद्ध—इन दोषों से रहित—पाठ का परिशीलन करता है, यह आम्नाय स्वाध्याय कहलाता है।

आम्नायार्थवाचक—१. आम्नायः आगमः, यस्योत्सर्गापवादलक्षणोऽर्थः, तं वक्तीत्याम्नायार्थवाचकः पारमर्षप्रवचनार्थकथनेनानुग्राहकोऽक्षनिषद्यानुज्ञायी पञ्चम आचार्यः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–६, पृ. २०८)। २. आम्नायमुत्सर्गापवादलक्षणमर्थं वक्ति

यः स प्रवचनार्थकथनेनानुग्राहकोऽक्षनिपद्याद्यनुज्ञायी आम्नायार्थवाचकः, आचारगोचरविषयं स्वाध्यायं वा। (योगशा. स्वो. विव. ४-९०)।

१ आम्नाय के अनुसार आगम के उत्सर्ग और अपवादरूप अर्थ के प्रतिपादन करने वाले आचार्य को आम्नायार्यवाचक कहते हैं। वह परमर्षिप्रोक्त परमागम के अर्थ का व्याख्यान करके शिष्यों का अनुग्रह किया करता है। यह प्रव्राजक आदि पांच आचार्यभेदों में अन्तिम है।

आय—आयः सम्यग्दर्शनाद्यवाप्तिलक्षणः × × ×। (समवा. अभय. वृ. ३३)।

सम्यग्दर्शनादि गुणों की प्राप्ति को आय कहते हैं।

आयतन—सम्यक्त्वादिगुणानामायतनं गृहमावास आश्रय आधारकरणं निमित्तमायतनं भण्यते। (वृ. द्रव्यसं. टी. ४१, पृ. १४८)।

सम्यग्दर्शनादि गुणों के आधार, आश्रय या निमित्त को आयतन कहते हैं।

आयास—आयासो दुःखहेतुश्चेष्टाविशेषः, प्रहरणसहायान्वेषणं संरम्भावेशारुणविलोचन-स्वेदद्रवप्रवाहप्रहारवेदनादिकः। (त. भा. सि. वृ. ९-६, पृ. १९२)।

दुःख के कारणभूत चेष्टाविशेष को आयास कहते हैं।

आयु कर्म—१. एति अनेन नारकादिभवमिति आयुः। (स. सि. ८-४; त. वृत्ति श्रुत. ८-४; त. सुखबो. ८-४)। २. चतुष्प्रकारमायुष्कं × × × स्थितिसत्कारणं स्मृतम्॥ (वरांग. ४-३३)। ३. यद्भावाभावयोर्जीवित-मरणं तदायुः। यस्य भावात् आत्मनः जीवितं भवति, यस्य चाभावात् मृत इत्युच्यते तद् भवधारणमायुरित्युच्यते। (त. वा. ८, १०, २)। ४. नारक-तिर्यग्योनी-सुर-मनुष्य-[योनि-मनुष्य-] देवानां भवनशरीरस्थितिकारणमायुष्कम्। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ६३)। ५. एति याति चेत्यायुः, अनुभूतमेति अननुभूतं च याति। (श्रा. प्र. टी. ११; धर्मसं. मलय. ६०८)। ६. आयुरिति अवस्थितिहेतवः कर्मपुद्गलाः। (आचारा. शी. वृ. २, १, पृ. ६२)। ७. यद्भावाभावयोर्जीवित-मरणं तदायुः। (त. श्लो. ८-१०)। ८. एति भवधारणं प्रति इत्यायुः। जे पोग्गला मिच्छत्तादिकारणेहि णिरयादिभवधारणसत्तिपरिणदा जीवणिविट्ठा ते आउअसण्णिदा होंति। (धव. पु. ६, पृ. १२); भवधारणमेदि कुणदि त्ति आउअं। (धव. पु. १३, पृ. २०९); एति भवधारणं प्रतीति आयुः। (धव. पु. १३, पृ. ३६२)। ९. भवधारणसहावं आउअं। (जयध. २, पृ. २१)। १०. चतुर्गतिसमापन्नः प्राणी स्थानात् स्थानान्तरमेति यद्वशात् तदायुः। (पंचसं. स्वो. वृ. ३-१, पृ. १०७)। ११. नृ-तिर्यङ्-नारकामर्त्यभेदादायुश्चतुर्विधम्। स्व-स्वजन्मनि जन्तूनां धारकं गुप्तिसन्निभम्॥ (त्रि. श. पु. च. २, ३, ४७२)। १२. आयुर्नरकादिगतिस्थितिकारणपुद्गलप्रचयः। (मूला. वृ. १२-२); नारक-तिर्यङ्-मनुष्य-देवभवधारणहेतुः कर्मपुद्गलपिण्ड आयुः, औदारिक-तन्मिश्र-वैक्रियिक-तन्मिश्रशरीरधारणलक्षणं वा आयुः। (मूला. वृ. १२-६४)। १३. आयुःकर्म पञ्चमं, जीवस्य चतुर्गतिष्ववस्थितिकारणम्। (कर्मवि. पू. व्या. ६, पृ. ५)। १४. एति गच्छति प्रतिबन्धकतां नारकादिकुगतेर्निष्क्रामितुमनसो जन्तोरित्यायुः। (कर्मवि. पर. व्या. ६, पृ. ६)। १५. एति आगच्छति प्रतिबन्धकतां स्वकृतकर्मबद्धनरकादिगतेर्निष्क्रमितुमनसो जन्तोः इत्यायुः। (प्रज्ञाव. मलय. वृ. २३-२८८, पृ. ४५४; पंचसं. मलय. वृ. ३-१, पृ. १०७; प्रव. सारो. वृ. १२५०; कर्मप्र. यशो. वृ. १, १, पृ. २)। १६. एति गच्छति अनेन गत्यन्तरमित्यायुः, यद्वा एति आगच्छति प्रतिबन्धकतां स्वकृतकर्मावाप्तनरकादिदुर्गतेर्निर्गन्तुमनसोऽपि जन्तोरित्यायुः, × × × यद्वा आयाति भवाद् भवान्तरं संक्रामतां जन्तूनां निश्चयेनोदयमागच्छति × × × इत्यायुःशब्दसिद्धिः। × × × अथवा आयान्त्युपभोगाय तस्मिन्नुदिते सति तद्भवप्रायोग्याणि सर्वाण्यपि शेषकर्माणीत्यायुः। (कर्मवि. दे. स्वो वृ. ३, पृ. ५)।

१ नारक आदि भव को प्राप्त कराने वाले कर्म को आयु कहते हैं।

आयुर्बन्धप्रायोग्य काल—सगजीविदतिभागस्स पढमसमयप्पहुडि जाव विस्समणकालअणंतरहेट्ठिमसमओ त्ति आउअबंधपाओग्गकालो। (धव. पु. १०, पृ. ४२२)।

अपने जीवित—भुज्यमान आयु—के त्रिभाग के प्रथम समय से लेकर विश्रामकाल के अनन्तर (अव्यवहित) अधस्तन समय तक का काल नवीन आयु के बन्ध के योग्य होता है।

आयोजिकाकरण—१. अपरे 'आउज्जियाकरणं'

पठन्ति । तत्रैवं शब्दसंस्कारमाचक्षते—आयोजिकाकरणमिति । अयं चात्रान्वयार्थः—आङ् मर्यादायाम्, आ मर्यादया केवलिदृष्टचा शुभानां योगानां व्यापारणमायोजिका, भावे वुल्, तस्याः करणमायोजिकाकरणम् । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३६, पृ. ६०४; पंचसं. मलय. वृ. १–१५, पृ. २८) । २. आयोजिकाकरणं नाम केवलिसमुद्घातादर्वाग्भवति, तत्राङ् मर्यादायाम्, आ मर्यादया केवलिदृष्टचा योजनं व्यापारणमायोजनम्, तच्चातिशुभयोगानामवसेयम्, आयोजनमायोजिका, तस्याः करणमायोजिकाकरणम् । (पंचसं. उदी. क. मलय. वृ. ७६, पृ. १४७) ।

केवलिसमुद्घात के पूर्व जो अतिशय शुभ योगों का आयोजन (व्यापार) किया जाता है उसे आयोजिकाकरण कहते हैं। इसे दूसरे नामों से आवर्जितकरण और आवर्जीकरण भी कहा जाता है।

आरभटा—१. वितहकरणम्मि तुरिअं अण्णं अण्णं व गिण्ह आरभडा । (पंचव. २४६); आरभडा प्रत्युपेक्षणेति अविधिक्रिया । (पंचव. हरि. वृ. २४५); वितथकरणे वा प्रस्फोटनाद्यन्यथासेवने वा आरभटा, त्वरितं वा द्रुतं वा सर्वमारभमाणस्य, अन्यदर्द्धप्रत्युपेक्षितमेव मुक्त्वा कल्पमन्यद्वा गृह्णतः आरभडेति । (पञ्चव. हरि. वृ. २४६)। २. वितहकरणेण तुरियं, अन्नन्नागिन्हणे व आरभडा । (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २८, पृ. ६१) ।

१ झाड़ने आदिके अन्यथा सेवन में, अथवा शीघ्रता से आरम्भ करते हुए, अथवा अर्ध प्रत्युपेक्षित को छोड़ कर अन्य कल्प को ग्रहण करते हुए आरभटा नामक दोष (प्रतिलेखनादोष) होता है।

आरम्भ—१. प्रक्रम आरम्भः । (स. सि. ६–८; आरम्भः प्राणिपीडाहेतुर्व्यापारः । (स. सि. ६–१५)। २. प्राणिवधस्त्वारम्भः । (त. भा. ६–६) । ३. आरम्भो हैंस्रं कर्म । हिंसनशीला हिंस्राः, तेषां कर्म हैंस्रमारम्भ इत्युच्यते । (त. वा. ६, १५, २) । ४. आरंभो उद्दवउ × × × । (व्यव. सू. भा. १, ४६, पृ. १८; प्रव. सारो. १०६०) । ५. प्राणातिपातादिक्रियावृत्तिरारम्भः । (त. भा. हरि. वृ. ६–६) । ६. कृष्यादिकस्त्वारम्भः । (श्रा. प्र. टी. १०७) । ७. प्राणातिपातादिक्रियानिवृत्तिरारम्भः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–६) । ८. प्राणि-प्राणवियोजनमारम्भो णाम । (धव. पु. १३, पृ. ४६) । ६. सचित्तहिंसाद्युपकरणस्याद्यः प्रक्रम आरम्भः । (भ. आ. विजयो. ८११; अन. ध. स्वो. टी. ४–२७); पृथिव्यादिविषयो व्यापार आरम्भः । (भ. आ. विजयो. ८२०) । १०. आदौ क्रमः प्रक्रम आरम्भः । (चा. सा. पृ. ३६) । ११. आरभ्यन्ते विनाश्यन्त इति आरम्भाः जीवाः, अथवा आरम्भः कृष्यादिव्यापारः, अथवा आरम्भो जीवानामुपद्रवणम् । (प्रश्नव्या. वृ. ११) । १२. × × × अंगि[अग्नि-] वातादिः स्यादारम्भो दयोज्झितः ॥ (आचा. सा. ५–१३) । १३. अपद्रावयतो जीवितात्परं व्यपरोपयतो व्यापार आरम्भः । (व्यव. भा. मलय. वृ. १–४६; प्रव. सारो. वृ. १०६०) । १४. प्राणिनः प्राणव्यपरोप आरम्भः । (भा. प्रा. टी. ६६) । १५. प्राणव्यपरोपणादीनां प्रथमारम्भ एव आरम्भः । (त. वृत्ति श्रुत. ६–८); आरभ्यत इत्यारम्भः प्राणिपीडाहेतुर्व्यापारः । (त. वृत्ति श्रुत. ६–१५) ।

१ कार्य के प्रारम्भ कर देने को आरम्भ कहा जाता है। जीवों को पीड़ा पहुँचाने वाला जो व्यापार (प्रवृत्ति) होता है वह भी आरम्भ कहलाता है।

आरम्भकथा — तित्तिरादीनामियतां तत्रोपयोग इत्यारम्भकथा । (स्थाना. अभय. वृ. ४, २, ४८२, पृ. १६६) ।

वहां इतने तीतर आदि का उपयोग होना चाहिये, इत्यादि प्रकार की प्राणिविघात से सम्बद्ध कथा का नाम आरम्भकथा है।

आरम्भकोपदेश—१. आरम्भकेभ्यः कृषीवलादिभ्यः क्षित्युदक-ज्वलन-पवन-वनस्पत्यारम्भोऽनेनोपायेन कर्तव्य इत्याख्यानमारम्भकोपदेशः । (त. वा. ७, २१, २१; चा. सा. पृ. ६) । २. पामरादीनामग्रे एवं कथयति—भूरेवं कृष्यते, उदकमेवं निष्काश्यते, वनदाह एवं क्रियते, क्षुपादय एवं चिकित्स्यन्ते, इत्याद्यारम्भ अनेनोपायेन क्रियते इत्यादिकथनं आरम्भोपदेशनामा चतुर्थः पापोपदेशो भवति । (त. वृत्ति श्रुत. ७–२१) ।

१ कृषि आदि आरम्भके करने वाले मनुष्योंको भूमि खोदने, जल सींचने और वनस्पति काटने आदिरूप हिंसामय आरम्भ का उपदेश देने को आरम्भकोपदेश (अनर्थदण्ड) कहते हैं।

आरम्भक्रिया—१. छेदन-भेदन-विशस-(विस्रंस—त. वा.) नादिक्रियापरत्वमन्येन वा आरम्भे क्रिय-

माणे प्रहर्षः प्रारम्भक्रिया। (स. सि. ६–५; त. वा. ६, ५, ११; त. वृत्ति श्रुत. ६–५)। २. आरम्भे क्रियमाणेऽन्यैः स्वयं हर्ष-प्रमादिनः। सा प्रारम्भक्रियात्यन्तं तात्पर्यं वाञ्छितादिषु॥ (ह. पु. ५८, ७९)। ३. छेदनादिक्रियासक्तचित्तत्वं स्वस्य यद् भवेत्। परेण तत्कृतौ हर्षः सेहारम्भक्रिया मता॥ (त. श्लो. ६, ५, २३)। ४. भूम्यादिकायोपघातलक्षणा शुष्कतृणादिच्छेदलेखनादिका वाऽप्यारम्भक्रिया। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–६)।

१ प्राणियों के छेदन-भेदन आदि क्रियाओं में स्वयं प्रवृत्त होने को, तथा अन्य को प्रवृत्त देखकर हर्षित होने को आरम्भक्रिया कहते हैं।

आरम्भभक्तकथा—ग्राम-नगराद्याश्रयाश्छाग-महिष्यादयः, आरण्यका आटविकास्तित्तिर-कुरङ्ग-लावकादयः एतावन्तोऽमुकस्य रसवत्यां हत्वा संस्क्रियन्त इत्येवंरूपा। (आव. ह. वृ. मल. हे. टि. पृ. ९२)। अमुक के यहां भोज में ग्राम-नगरादि के आश्रित रहने वाले बकरे वा भैंसा आदि इतनी संख्यामें तथा जंगल में रहने वाले तीतर व हिरण आदि इतनी संख्या में मार कर पकाए जाने वाले हैं, इत्यादि प्रकार की कथावार्ता को आरम्भभक्तकथा कहते हैं।

आरम्भिकी क्रिया—देखो आरम्भक्रिया। आरम्भः पृथिव्याद्युपमर्दः, उक्तं च—आरंभो उद्दवतो सुद्धनयाणं तु सव्वेसिं॥ आरम्भः प्रयोजनं कारणं यस्याः सा आरम्भिकी। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २२–२८४, पृ. ४४७)।

पृथिवीकायादि जीवों के संहाररूप आरम्भ ही जिस क्रिया का प्रयोजन हो उसे आरम्भिकी क्रिया कहते हैं।

आरम्भ-प्रेषोद्दिष्टवर्जक—१. वज्जे सावज्जमारंभं अट्ठमि पडिवण्णओ॥६॥ अवरेणावि आरंभं णवमी नो करावए। दसमी पुण उद्दिट्ठं फासुयं पि ण भुंजए॥७॥ (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. १५)। २. आरम्भश्च स्वयं कृष्यादिकरणम् प्रेषश्च प्रेषणं परेषां पापकर्मसु व्यापारणम्, उद्दिष्टं च तमेव श्रावकमुद्दिश्य सचेतनमचेतनीकृतं पक्वं वा यो वर्जयति परिहरति स आरम्भ-प्रेषोद्दिष्टवर्जकः। (सम्बोध. स. वृ. ६१, पृ. ४५)।

२ जो श्रावक कृषि आदि करने रूप आरम्भ को, दूसरों को पापकार्यों में प्रवृत्त कराने रूप प्रेषण को, तथा अपने उद्देश्य से अचित्त किये गये अथवा पकाए गए सचेतन उद्दिष्ट (भोज्य पदार्थ) को छोड़ देता है उसे आरम्भ-प्रेष-उद्दिष्टवर्जक (आठवीं, नौवीं और दसवीं इन तीन प्रतिमाओं का परिपालक) कहा जाता है।

आरम्भविरत—१. सेवा-कृषि-वाणिज्यप्रमुखादारम्भतो व्युपारमति। प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भविनिवृत्तः॥ (रत्नक. १४५)। २. जो आरंभं ण कुणदि अण्णं ण कारयदि णेव अणुमण्णे। हिंसासंतट्ठमणो चत्तारंभो हवे सो हु॥ (कार्तिके. ३८५)। ३. एवं चिय आरंभं वज्जइ सावज्जमट्ठमासं व। तप्पडिमा ××× ॥ (श्रा. प्र. वि. १०–१४)। ४. आरम्भविनिवृत्तो ऽसि-मसि-कृषि-वाणिज्यप्रमुखादारम्भात् प्राणातिपातहेतोर्विरतो भवति। (चा. सा. पृ. १९)। ५. सर्वप्राणिध्वंसहेतुं विदित्वा यो नाऽऽरम्भं धर्मवित् तत्करोति। मन्दीभूतद्वेषरागादिवृत्तिः सोऽनारम्भः कथ्यते तत्त्ववोधैः॥ (धर्मप. २०-६०)। ६. निरारम्भः स विज्ञेयो मुनीन्द्रैर्हतकल्मषैः। कृपालुः सर्वजीवानां नारम्भं विदधाति यः॥ (सुभा. सं. ८४०)। ७. विलोक्य षड्जीववधं विचित्रमुच्चैरारम्भमत्यस्यति यो विवेकी। आरम्भमुक्तः स मतो मुनीन्द्रैर्विरागिकः संयम-वृक्षसेकी॥ (अमित. श्रा. ७, ७४)। ८. जं किंचि गिहारंभं बहु थोगं वा सया विवज्जेइ। आरभणियत्तमई सो अट्ठमु सावओ भणिओ॥ (वसु. श्रा. २९८)। ९. अष्टौ मासान् (पूर्वप्रतिमानुष्ठानसहितः) स्वयमारम्भं न करोतीत्यष्टमी। ××× वज्जे सावज्जमारंभं अट्ठमि पडिवन्नओ॥५॥ (योगशा. स्वो. विव. ३–१८४, पृ. २७२)। १०. निरूढसप्तनिष्ठोऽङ्गिघाताङ्गत्वात्करोति न। न कारयति कृष्यादीनारम्भविरतस्त्रिधा॥ (सा. ध. ७–२१)। ११. यः सेवा-कृषि-वाणिज्यव्यापारत्यजनं भजेत्। प्राण्यभिघातसंत्यागादारम्भविरतो भवेत्॥ (भावसं. वाम. ५४०)। १२. निर्व्यूढसप्तधर्मोऽङ्गिवधहेतून् करोति न। न कारयति कृष्यादीनारम्भरहितस्त्रिधा॥ (धर्मसं. श्रा. ८–३६)। १३. सर्वतो देशतश्चापि यत्रारम्भस्य वर्जनम्। अष्टमी प्रतिमा सा ××× ॥ (लाटीसं. ७–३१)।

१ हिंसा के कारणभूत सेवा, कृषि व वाणिज्य आदि आरम्भों का परित्याग करने वाले श्रावक को

आरम्भविरत (अष्टम प्रतिमा धारक) कहते हैं। ६ पूर्व प्रतिमाओं के साथ आठ मास तक स्वयं आरम्भ न करने वाले श्रावक को आरम्भविरत कहा जाता है।

आरम्भ-समारम्भ—आरम्भसमारम्भो त्ति आरम्यन्ते विनाश्यन्त इति आरम्भा जीवास्तेषां समारम्भ उपमर्दः। अथवा आरम्भः कृष्यादिव्यापारस्तेन समारम्भो जीवोपमर्दः। अथवा आरम्भो जीवानामुपद्रवणम्, तेन सह समारम्भः परितापनमित्यारम्भ-समारम्भः, प्राणवधस्य पर्याय इति। अथवेहारम्भ-समारम्भशब्दयोरेकतर एव गणनीयो बहुसमरूपत्वादिति। (प्रश्नव्या. वृ. ११)।

'आरम्यन्ते विनाश्यन्ते इति आरम्भाः जीवाः' इस निरुक्ति के अनुसार आरम्भ शब्द का अर्थ जीव होता है, उनके समारम्भ—पीडन—का नाम आरम्भ-समारम्भ है। अथवा कृषि आदि व्यापार से जो प्राणिविघात होता है वह आरम्भसमारम्भ कहलाता है। अथवा जीवों को उपद्रव के द्वारा जो संतप्त किया जाता है उसे आरम्भसमारम्भ जानना चाहिए। अथवा आरम्भ और समारम्भ इन दो शब्दों में से किसी एक ही की गणना करना चाहिए।

आराधक—१. पंचिदिएहिं गुत्तो मणमाईतिविहकरणमाउत्तो। तव-नियम-संजमंमि अ जुत्तो आराधओ होइ॥ (ओघनि. २८१, पृ. २५०)। २. णिहयकसाओ भव्वो दंसणवंतो हु णाणसंपण्णो। दुविहपरिग्गहचत्तो मरणे आराहओ हवइ॥ संसारसुहविरत्तो वेरग्गं परमउवसमं पत्तो। विविहतवतवियदेहो मरणे आराहओ एसो॥अप्पसहावे णिरओ वज्जियपरदव्वसंगसुक्खरसो। णिम्महियराय-दोसो हवेइ आराहओ मरणे॥ (आरा. सा. १७-१६)। ३. ××× भव्यस्त्वाराधको विशुद्धात्मा। (भ. आ. मूला. १ उद्धृत)।

१ जो पांचों इन्द्रियों से गुप्त है अर्थात् उन्हें अपने अधीन रखता है, मन आदि (वचन व काय) तीन करणों की प्रवृत्ति में सावधान है; तथा तप, नियम व संयम में संलग्न है; वह आराधक कहलाता है।

आराधना—१. उज्जोवणमुज्जवणं णिव्वहणं साहणं च णिच्छ(त्थ)रणं। दंसण-णाण-चरित्तं तवाणमाराहणा भणिदा॥ (भ. आ. २)। २. आराध्यन्ते सेव्यन्ते स्वार्थप्रसाधकानि क्रियन्ते सम्यग्दर्शनादीनि मोक्षसुखार्थिभिरनयेत्याराधना आराध्यनिष्ठ आराधकव्यापारः उपजातसम्यग्दर्शनादिपरिणामस्यात्मनस्तद्गतातिशयवृत्तिः। (भ. आ. मूला. टी. १)। ३. आराधना परिशुद्धप्रव्रज्यालाभलक्षणा। (उप. प. वृ. ४६६)।

१ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के उद्योतन, उद्यापन, निर्वहन, साधन एवं निस्तरण—भावान्तरप्रापण—को आराधना कहते हैं।

आराधनी भाषा—१. आराहणी उ दव्वे सच्चा ×××। (दशवै. नि. २७२)। २. आराध्यते परलोकापीडया यथावदभिधीयते वस्त्वनयेत्याराधनी। (दशवै. नि. हरि. वृ. २७२)।

२ जिस भाषा के द्वारा दूसरे प्राणियों को पीड़ा न पहुँचा कर वस्तु का यथार्थ कथन किया जाता है उसे आराधनी भाषा कहते हैं।

आराम—१. विविधपुष्पजात्युपशोभित आरामः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १७)। २. आगत्य रमन्तेऽत्र माधवीलतागृहादिषु दम्पत्य इति स आरामः। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, १४२, पृ. २५८)।

१ नाना जाति के पुष्पों से शोभित उपवन को आराम कहते हैं।

आरोह—आरोहो नाम शरीरेण नातिदैर्घ्य नातिह्रस्वता, ××× अथवा आरोहः शरीरोच्छ्रायः। (बृहत्क. वृ. २०५१)।

शरीर से न तो अति लम्बा होना और न अति छोटा भी होना, इसका नाम आरोह है। अथवा शरीर की ऊंचाई को आरोह कहते हैं।

आर्जव धर्म—१. मोत्तूण कुडिलभावं णिम्मलहिदयेण चरदि जो समणो। अज्जवधम्मं तइयो तस्स दु संभवदि णियमेण। (द्वादशानु. ७३)। २. योगस्यावक्रता आर्जवम्। (त. सि. ६-६; त. श्लो. ६, ६; त. सुखबो. ६-६; त. वृत्ति श्रुत. ६-६)। ३. भावविशुद्धिरविसंवादनं चार्जवलक्षणम्। ऋजुभावः ऋजुकर्म वार्जवम्, भावदोषवर्जनमित्यर्थः। (त. भा. ६-६)। ४. योगस्यावक्रता आर्जवम्। योगस्य काय-वाङ्मनोलक्षणस्यावक्रता आर्जवमित्युच्यते। (त. वा. ६, ६, ४)। ५. अज्जवं नाम उज्जुगत्तणं ति वा अकुडिलत्तणं ति वा। एवं च कुव्वमाणस्स

कम्मणिज्जरा भवइ, अकुव्वमाणस्स य कम्मोवचयो भवइ। (दशवै. चू. पृ. १८; उज्जुताभावो अज्जवं। (दशवै. चू. पृ. २३३)। ६. परस्मिन्निकृतिपरेऽपि मायापरित्यागः आर्जवम्। (दशवै. नि. हरि. वृ. १०–३४६)। ७. जो चिंतेइ ण वंकं कुणदि ण वंकं ण जंपए वंकं। ण य गोवदि णियदोसं अज्जवधम्मो हवे तस्स ॥ (कार्तिके. ३९६)। ८. आकृष्टान्तद्वयसूत्रवद्वक्रताऽभाव आर्जवम्। (भ. आ. विजयो. टी. ४६)। ९. वाङ्मनःकाययोगानामवक्रत्वं तदार्जवम्। (त. सा. ६–१६)। १०. आर्जवं मायोदयनिग्रहः। (औपपा. अभय. वृ. १६, ३३)। ११. योगस्य कायवाङ्मनोलक्षणस्यावक्रताऽऽर्जवमित्युच्यते। (चा. सा. पृ २८)। १२. ऋजोर्भाव आर्जवं मनोवाक्कायानामवक्रता। (मूला. वृ. ११–५)। १३. चित्तमन्वेति वाग् येषां वाचमन्वेति च क्रिया। स्वपरानुग्रहपराः सन्तस्ते विरलाः कलौ॥ (अन. ध. ६–२०)। १४. अज्जवो य अमाइत्त × × ×। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. १३, पृ. ३८)। १५. मनोवचन-कायकर्मणामकौटिल्यमार्जवम्। (त. वृत्ति श्रुत. ९–६)। १६. ऋजुरवक्रमनोवाक्कायकर्मा, तस्य भावः कर्म वा आर्जवम्, मनोवाक्कायविक्रियाविरहो मायारहितत्वम्। (सम्बोधस. वृ. १६०, पृ. १७; धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३–४३, पृ. १२८)।

१ कुटिलता को छोड़कर निर्मल अन्तःकरण से प्रवृत्ति करना आर्जव धर्म कहलाता है, जो मुनि के सम्भव है।

आर्तध्यान—१. अमणुण्णसंपयोगे इट्ठविओए परिस्सहणिदाणे। अट्टं कसायसहियं झाणं भणियं समासेण ॥ (भ. आ. १७०२)। २. अमणुण्णजोग-इट्ठविओग-परीषह-णिदाणकरणेसु। अट्टं कसायसहियं झाणं भणिदं समासेण ॥ (मूला. ५–१९८)। ३. आर्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः॥ विपरीतं मनोज्ञस्य॥ वेदनायाश्च॥ निदानं च॥ (त. सू. ९, ३०–३३)। ४. ऋतं दुःखम्, अर्दनमर्तिर्वा, तत्र भवमार्तम्। (स. सि. ९–२८, त. सुखबो. ९–२८; त. वृत्ति श्रुत. ९–२८)। ५. तस्य संकिलिट्ठज्झवसाओ अट्टं। (दशवै. चू. पृ. २९)। ६. राज्योपभोगशयनासनवाहनेषु स्त्रीगन्धमाल्यमणिरत्नविभूषणेषु। इच्छाभिलाषमतिमात्रमुपैति मोहाद् ध्यानं तदार्तमिति तत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥ (दशवै. नि. हरि. वृ. १–४८)। ७. ऋतं दुःखं तन्निमित्तो दृढाध्यवसायः, ऋते भवमार्तम्, क्लिष्टमित्यर्थः। (ध्यानश. ५–आव. हरि. वृ. पृ. ५८४)। ८. इष्टेतरवियोगादिनिमित्तं प्रायशो हि तत्। यथाशक्त्यपि हेयादावप्रवृत्त्यादिवर्जितम्॥ उद्वेगकृद्विषादाढ्यमात्मघातादिकारणम्। आर्तध्यानं × × ×॥ (हरि. अष्टक. १०, २–३)। ९. ऋतमर्दनमार्तिर्वा, तत्र भवमार्तम्। ऋतं दुःखम्, अथवा अर्दनमार्तिर्वा, तत्र भवमार्तम्॥ (त. वा. ९, २८, १)। १०. तत्रार्तिरर्दनं वाधा ह्यार्तं तत्र भवं पुनः। सुकृष्णनील-कापोतलेश्यावलसमुद्भवम्॥ (ह. पु. ५६-४)। ११. आर्तं दुःखभवं दुःखानुबन्धि चेति। (त. भा. सिद्ध. वृ ९–२९); आर्तिश्च दुःखं शारीरं मानसं चानेकप्रकारम्, तस्यां भवमार्तं ध्यानम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–३१)। १२. ऋतमर्दनमार्तिर्वा, ऋते भवमार्तमर्तौ भवमार्तमिति वा दुःखभावं प्रार्थनाभावं वेत्यर्थः। (त. श्लो. ९–२८)। १३. अट्टं तिव्वकसायं × × ×॥ दुःखयरविसयजोए केम इमं चयदि इदि विचिंतंतो। चेट्ठदि जो विक्खित्तो अट्टज्झाणं हवे तस्स॥ मणहरविसयविओगे कह तं पावेमि इदि वियप्पो जो। संतावेण पयट्टो सो चिय अट्टं हवे ज्झाणं॥ (कार्तिके. ४७१, ४७३-७४)। १४. तंवोल-कुसुम-लेवण-भूसण-पियपुत्तचिंतणं अट्टं। (ज्ञा. सा. पद्म. ११)। १५. राग-द्वेपोदयप्रकर्षादिन्द्रियाधीनत्वराग-द्वेषोद्रेकात् प्रियसंयोगाऽप्रियवियोगवेदना-मोक्षण-निदानाकांक्षणरूपमार्तम्॥ (पंचा. का. अमृत, वृ. १४०)। १६. प्रियभ्रंशेऽप्रियप्राप्तौ निदाने वेदनोदये। आर्त्तं कषायसंयुक्तं ध्यानमुक्तं समासतः॥ (त. सा. ७–३६)। १७. ऋते भवमथार्तं स्यादसद्ध्यानं शरीरिणाम्। दिग्मोहान्मत्ततातुल्यमविद्यावासनावशात्॥ (ज्ञानार्णव २५–२३)। १८. ऋतं दुःखम्, तस्य निमित्तं तत्र वा भवम्, ऋते वा पीडिते भवमार्तं ध्यानम्। (स्थाना. अभय. वृ. ४, १, २४७)। १९. तत्रार्तं मनोज्ञामनोज्ञेषु वस्तुषु वियोग-संयोगादिनिवन्धनचित्तविक्लवलक्षणम्। (समवा. अभय. वृ. ४)। २०. तत्र ऋतं दुःखं तत्र भवमार्तम्, यद्वा अर्तिः पीडा यातनं च, तत्र भवमार्तम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–७३)। २१. स्वदेशत्यागात् द्रव्यनाशात् मित्रजनविदेशगमनात् कमनीय-

कामिनीवियोगादनिष्टसंयोगाद्वा समुपजातमार्तध्यानम् ॥ (नि. सा. वृ. ८९) । २२. अनिष्टयोग-प्रियविप्रयोगप्रभृत्यनेकार्तिसमुद्भवत्वात् । भवोद्भवार्तेरथ हेतुभावाद्यथार्थमेवार्तमिति प्रसिद्धम् । (आत्मप्र. ६१) । २३. आर्तं विषयानुरञ्जितम् । (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३–२७, पृ. ८०) । २४. आर्तभावं गत आर्तः, आर्तस्य वा ध्यानमार्तध्यानम् । (आ. चू. ४ अ.—अभिधा. १, पृ. २३५) । २५. अर्तिः शारीर-मानसी पीडा, तत्र भव आर्तः, मोहोदयादगणितकार्याकार्यविवेकः । (अभिधा. १, पृ. २३५) । २६. निंदइ निअयकयाइं पसंसई विम्हिओ विभूईओ । पत्थेइ तासु रज्जइ तयज्जणपरायणो होई ॥ सद्दाइविसयगिद्धो सद्धम्मपरम्मुहो पमायपरो । जिणमयमणविक्खंतो वट्टइ अट्टम्मि झाणम्मि ॥ (आव. ४ अ. १६-१७—अभिधा. १, पृ. २३७) । २७. शब्दादीनामनिष्टानां वियोगासंप्रयोगयोः । चिन्तनं वेदनायाश्च व्याकुलत्वमुपेयुषः ॥ इष्टानां प्रणिधानं च संप्रयोगावियोगयोः । निदानचिन्तनं पापमार्तमित्थं चतुर्विधम् ॥ (अध्यात्मसार १६, ४–५) ।

१ अनिष्ट का संयोग होने पर उसे दूर करने के लिए, इष्ट का वियोग होने पर उसकी प्राप्ति के लिए, पीड़ा के होने पर उसके परिहार के लिए, तथा निदान—आगामी काल में सुख की प्राप्ति की इच्छा—के लिए बार-बार चिन्तन करना; इसे आर्तध्यान कहते हैं ।

आर्य—१. गुणैर्गुणवद्भिर्वा अर्यन्त इत्यार्याः । (स. सि. ३–३६; त. वा. ३, ३६, २; रत्नक. टी. ३, २१; त. वृत्ति श्रुत. ३–३६) । २. इक्ष्वाकु-हर्युग्र-कुरुप्रधानाः सेनापतिश्चेति पुरोहिताद्याः । धर्मप्रियास्ते नृपते त एव आर्यास्त्वनार्या विपरीतवृत्ताः ॥ (वरांग. ८–४) । ३. सद्गुणैरर्यमाणत्वाद् गुणवद्भिश्च मानवैः । (त. श्लो. ३, ३७, २) । ४. अर्धषड्विंशतिजनपदजाताः भूयसा आर्याः । अन्यत्र जाता म्लेच्छाः । तत्र क्षेत्र-जाति-कुल-कर्म-शिल्प-भाषा-ज्ञान-दर्शन-चारित्रेषु शिष्टलोकन्यायधर्मानपेताचरणशीला आर्याः । (त. सिद्ध. वृ. ३–१५) । ५. आराद् हेयधर्मेभ्यो याताः प्राप्ता उपादेयधर्मैरित्यार्याः । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १–३७, पृ. ५५) ।

१ जो गुणों से युक्त हों, अथवा गुणी जन जिनकी सेवा-सुश्रूषा करते हैं उन्हें आर्य कहते हैं । ५ जो हेय धर्म वालों में से उपादेय धर्म वालों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं वे आर्य कहलाते हैं ।

आर्यिका—आर्यिका उपचरितमहाव्रतधराः स्त्रियः । (सा. ध. २–७३) ।

उपचरित महाव्रतों की धारक महिलाओं को आर्यिका कहा जाता है ।

आर्ष विवाह—१. गोमिथुनपुरःसरं कन्याप्रदानादार्षः । (धर्मवि. मु. वृ. १-१२) । २. गोमिथुनदानपूर्वकमार्षः । (श्राद्धगु. पृ. १; योगशा. स्वो. विव. १–४७; धर्मसं. मान. स्वो. वृ. १–५, पृ. ५) ।

गौयुगल के दानपूर्वक कन्या प्रदान करने को आर्ष विवाह कहते हैं ।

आर्हन्त्य क्रिया—आर्हन्त्यमर्हतो भावो कर्म वेति परा क्रिया । यत्र स्वर्गावतारादिमहाकल्याणसम्पदः ॥ यासौ दिवोऽवतीर्णस्य प्राप्तिः कल्याणसम्पदाम् । तदार्हन्त्यमिति ज्ञेयं त्रैलोक्यक्षोभकारणम् ॥ (म. पु. ३९, २०३–४) ।

अरहंत के भाव अथवा कर्मरूप क्रिया को आर्हन्त्य क्रिया कहते हैं, जिसमें स्वर्गावतरणादि रूप कल्याण-सम्पदायें प्राप्त होती हैं । स्वर्ग से अवतीर्ण हुये भगवान् अरहंत को जो कल्याण-सम्पदाओं की प्राप्ति होती है वह आर्हन्त्य क्रिया कहलाती है, जो तीनों लोकों को क्षोभ उत्पन्न करने वाली है ।

आलपनवन्ध—देखो आलापनवन्ध । रथ-शकटादीनां लोहरज्जु-वरत्रादिभिरालपनादाकर्षणात् वन्धः आलपनवन्धः । अनेकार्थत्वात् धातूनां लपिः आकर्षणक्रियो ज्ञेयः । (त. वा. ५, २४, ९) ।

रथ व शकट आदि के अंग-उपांगरूप काष्ठ आदि को लोहमय सांकल व रस्सी आदि के द्वारा खींच कर बांधना, यह आलपनवन्ध कहलाता है ।

आलब्ध दोष—१. उपकरणादिकं लब्ध्वा यो वन्दनां करोति तस्यालब्धदोषः । (मूला. वृ. ७, १०९) । २. उपध्याप्त्या क्रिया लब्धम् । (अन. ध. स्वो. टी. ८–१०९) ।

१ उपकरण आदि पाकर गुरु की वन्दना करने को आलब्ध दोष कहते हैं ।

आलम्बन—१. आलंवणेहि भरियो लोगो झाइदुमणस्स खवगस्स । जं जं मणसा पेच्छइ तं तं आलंवणं होई । (धव. पु. १३, पृ. ७०) । २. आलम्बनं वाच्ये पदार्थे अर्हत्स्वरूपे उपयोगस्यैकत्वम् । (ज्ञान-

सार दे. वृ. २७–५)। ३. आलम्बनं बाह्यो विषयः। (षोडशक वृ. १३–४)।

१ सारा लोक ध्यान के आलम्बनों से भरा हुआ है। ध्याता साधु जिस किसी भी वस्तु को आधार बना कर मन से चिन्तन करता है वही उसके लिए ध्यान का आलम्बन बन जाती है। ३ ध्यान के आधारभूत बाह्य पदार्थ को उसका आलम्बन कहा जाता है।

आलम्बन-ग्रहणसाधन—१. जेण वीरियेण आण-पाण-भास-मणाणं पाउग्गपोग्गले कायजोगेण घेत्तूण आणपाण-भास-मणत्ताए आलंबिता णिसिरति तं वीरियं आलंबणगहणसाहणं ति वुच्चति। (कर्मप्र. चू. बं. क. ४, पृ. २१)।

जिस शक्तिविशेष के द्वारा श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन के योग्य पुद्गलों को काययोग से ग्रहण कर श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनरूप से अवलम्बित कर निकालता है उसे आलम्बन-ग्रहण-साधन कहते हैं।

आलम्बनशुद्धि—आलम्बनशुद्धिर्गुरु-तीर्थ-चैत्य-यति-वन्दनादिकमपूर्वशास्त्रार्थग्रहणम्, संयतप्रायोग्यक्षेत्रमार्गणम्, वैयावृत्यकरणम्, अनियतावासस्वास्थ्यसम्पादने श्रमपराजयम् (मूला.—संपादनं श्रमजयो'), नानादेशभाषाशिक्षणम्, विनेयजनप्रतिबोधनं चेति प्रयोजनापेक्षया आलम्बनशुद्धिः। (भ. आ. विजयो. व मूला. टी. ११९१)।

गुरु, तीर्थ, चैत्य एवं यति आदि की वन्दनापूर्वक अपूर्व शास्त्र के अर्थ को ग्रहण करना; संयत के योग्य स्थान का अन्वेषण करना; साधुओं की वैयावृत्य करना, अनियत आवासों में रहकर स्वास्थ्य-लाभ करना, परिश्रमजयी होना, नाना देशों की भाषाओं का सीखना, तथा विनेय (शिष्य) जनों को प्रतिबोध देना; यह सब प्रयोजन की अपेक्षा आलम्बनशुद्धि है।

आलापनबन्ध—देखो आलपनबन्ध। १. जो सो आलावणबंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो—सगडाणं वा जाणाणं वा जुगाणं वा गड्डीणं वा गिल्लीणं वा रहाणं वा संदणाणं वा सिवियाणं वा गिहाणं वा पासादाणं वा गोवुराणं वा तोरणाणं वा से कट्ठेण वा लोहेण वा रज्जुणा वा वब्भेण वा दब्भेण वा जे चामण्णे एवमादिया अण्णदव्वाणमण्णदव्वेहि आलावियाणं बंधो होदि सो सव्वो आलावणबंधो णाम। (षट्खं. ५, ६, ४१—पु. १४, पृ. ३८)। २. से किं तं आलावणबंधे? आलावणबंधे जं णं तणभाराण वा, कट्ठभाराण वा, पत्तभाराण वा, पलालभाराण वा, वेल्लभाराण वा, वेत्तलता-वाग-वरत्त-रज्जु-वल्लि-कुस-दब्भमादीएहिं आलावणबंधे समुप्पज्जइ, जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं संखेज्जं कालं, सेत्तं आलावणबंधे। (भगवती ८, ९, ११—खण्ड ३, पृ. १०३)। ३. रज्जु-वरत्त-कट्ठदव्वादीहि जं पुधभूदाणं [दव्वाणं] बंधणं सो आलावणबंधो णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३४); कट्ठादीहि अण्णदव्वेहि अण्णदव्वाणं आलाविदाणं जोइदाणं जो बंधो होदि सो सव्वो आलावणबंधो णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३९)। ३. तृण-काष्ठादिभाराणां रज्जु-वेत्रलतादिभिः। संङ्ख्यकालान्तमुहूर्तौ बन्ध आलापनाभिधः॥ (लोकप्र. ११–३२)।

१ शकट (बड़े पहियों वाली गाड़ी), यान (समुद्र में गमन करने वाली नौकाविशेष), युग (घोड़ा व खच्चर से खींचा जाने वाला तांगा जैसा), छोटे पहियों वाली छोटी गाड़ी, गिल्ली (पालकी), रथ (युद्ध में काम आने वाला), स्यन्दन (चक्रवर्ती आदि महापुरुषों की सवारी), शिविका (पालकी); गृह, प्रासाद, गोपुर और तोरण; इन सबका जो लकड़ी, लोहा, रस्सी, चर्ममय रस्सी और दर्भ (काश) आदि से बन्धन होता है उसे आलापनबन्ध कहते हैं। अभिप्राय यह कि लकड़ी आदि अन्य द्रव्यों से जो पृथग्भूत दूसरे द्रव्यों का सम्बन्ध होता है उसे आलापनबन्ध कहते हैं।

आलीढ स्थान—१. तत्थ आलीढं नाम दाहिणं पायं अग्गतोहुत्तं काऊणं वामपायं पच्छतोहुत्तं उसारेउं अंतरा दोण्हवि पादाणं पंच पाए। (आव. नि. मलय. वृ. १०३६, पृ. ५६७)। २. तत्र दक्षिणमूरुमग्रतो मुखं कृत्वा वाममूरुं पश्चान्मुखमपसारयति, अन्तरा च द्वयोरपि पादयोः पञ्च पादाः, ततो वामहस्तेन धनुर्गृहीत्वा दक्षिणहस्तेन प्रत्यञ्चामाकर्षति, तत् आलीढस्थानम्। (व्यव. भा. मलय. वृ. २-३५, पृ. १३)।

२ दाहिने पैर को आगे करके और बायें पैर को पांच पादों के अन्तर से पीछे पसार कर बायें हाथ में धनुष लेकर दाहिने हाथ से उसकी प्रत्यञ्चा को

खींचते हुए खड़े होने को आलीढस्थान कहते हैं।

आलुंछन—कम्म-महीरुहमूलच्छेदसमत्थो सकीय-परिणामो। साहीणो समभावो आलुंछणमिदि समुद्दिट्ठं॥ (नि. सा. ११०)।

कर्मरूप वृक्ष के मूलोच्छेद करने में समर्थ ऐसे स्वकीय स्वाधीन समभावरूप परिणाम को आलुंछन कहते हैं।

आलेपनबन्ध—देखो अल्लीवणबन्ध। कुडयप्रासादादीनां मृत्पिण्डेष्टकादिभिः प्रलेपदानेनान्योन्यालेपनादर्पणादालेपनबन्धः। (त. वा. ५, २४, ९)।

भित्ति व भवन आदि के मिट्टी व ईंट आदि से लेप देने से जो परस्परमें एकरूपता होती है उसे आलेपनबन्ध कहते हैं।

आलोकितपान-भोजन—१. आलोकितपानभोजनमिति प्रतिगेहं पात्रमध्यपतितपिण्डश्चक्षुराद्युपयुक्तेन प्रत्यवेक्षणीयस्तत्समुत्थागन्तुकसत्त्वसंरक्षणार्थमागत्य च प्रतिश्रयं भूयः प्रकाशवति प्रदेशे स्थित्वा सुप्र [त्य] वेक्षितं पानभोजनं विधाय प्रकाशप्रदेशावस्थितेन वल्गनीयम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७-३)। २. आलोक्यते स्मालोकितम्। पानं च भोजनं च पानभोजनम्। आलोकितं च तत्पानभोजनं चालोकितपानभोजनम्॥ (त. सुखबो. ७-४)। ३. पानं च भोजनं च पान-भोजने, आलोकिते सूर्यप्रत्यक्षेण पुनः पुनर्निरीक्षिते ये पान-भोजने ते आलोकितपान-भोजने। अथवा पानं च भोजनं च पानभोजनं समाहारो द्वन्द्वः। आलोकितं च तत् पानभोजनं च आलोकितपानभोजनम्। (त. वृत्ति श्रुत. ७-४)।

२ प्रकाश में देख कर भोजन-पान करने को आलोकित-पान-भोजन कहते हैं।

आलोचन—देखो आलोचना। १. जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडिय अणेयवित्थरविसेसं। तं दोसं जो चेददि स खलु आलोयणं चेदा॥ (समयप्रा. ४०५)। २. जो पस्सदि अप्पाणं समभावे संठवित्तु परिणामं। आलोयणमिदि जाणह परमजिणंदस्स उवएसं॥ (नि. सा. १०९)। ३. तत्र गुरवे प्रमादनिवेदनं दशदोषविवर्जितमालोचनम्। (स. सि. ९-२२; त. श्लो. ९-२२)। ४. आलोचनं विवरणं प्रकाशनमाख्यानं प्रादुःकरणमित्यनर्थान्तरम्। (त. भा. ९-२२)। ५. तत्र गुरवे प्रमादनिवेदनं दशदोषवर्जितमालोचनम्। तेषु नवसु प्रायश्चित्तविकल्पेषु गुरवे एकान्ते निषण्णाय प्रसन्नमनसे विदितदेश-कालस्य शिष्यस्य सविनयेनात्मप्रमादनिवेदनं दशभिर्दोषैर्विवर्जितमालोचनमित्याख्यायते। (त. वा. ९, २२, २)। ६. आलोचनं मर्यादया गुरोर्निवेदनं पिण्डिताख्यानस्य। (त. भा. हरि. वृ. ९-२२)। ७. आलोचनं मर्यादनं मर्यादया गुरोर्निवेदनम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-२२)। ८. आलोचनं प्रमादस्य गुरवे विनिवेदनम्। (त. सा. ७-२२)। ९. एकान्तनिषण्णायापरिश्राविणे श्रुतरहस्याय गुरवे प्रसन्नमनसे विद्यायोग्योपकरणग्रहणादिषु प्रश्नविनयमन्तरेण प्रवृत्तस्य विदितदेश-कालस्य शिष्यस्य सविनयमात्मप्रमादनिवेदनमालोचनमित्युच्यते। (चा. सा. पृ. ६१)। १०. आलोचनं गुरुनिवेदनम्। (स्थाना. अभय. वृ. ३, ३, १६८)॥ ११. आलोचनं दशदोषविवर्जितं गुरवे प्रमादनिवेदनमालोचनम्। (मूला. वृ. ११-१६)। १२. तत्रालोचनं गुरोः पुरतः स्वापराधस्य प्रकटनम्। तच्चासेवनानुलोम्येन प्रायश्चित्तानुलोम्येन च। आसेवनानुलोम्यं येन क्रमेणातिचार आसेवितस्तेनैव क्रमेण गुरोः पुरतः प्रकटनम्। प्रायश्चित्तानुलोम्यं च गीतार्थस्य शिष्यस्य भवति। (योगशा. स्वो. विव. ४-९०, पृ. ३१२)। १३. तत्र गुरवे स्वयंकृतवर्तमानप्रमादनिवेदनं निर्दोषमालोचनम्। (त. सुखबो. वृ. ९-२२, पृ. २१६)। १४. आलोचनं सत्कर्मणां वर्तमानशुभाशुभकर्मविपाकानामात्मनोऽत्यन्तभेदेनोपलम्भनम्। अन. ध. स्वो. टी. ८-६४)। १५. आङ् मर्यादायाम्। सा च मर्यादा इयम्—जह बालो जंपंतो कज्जमकज्जं उज्जुए भणइ। तं तह आलोएज्जा माया-मयविप्पमुक्को य॥ अनया मर्यादया × × × लोकनं लोचना प्रकटीकरणम् आलोचनम्, गुरोः पुरतो वचसा प्रकटीकरणमिति भावः। यत् प्रायश्चित्तमालोचनामात्रेण शुद्धयति तदालोचनार्हतया कारणे कार्योपचारादालोचनम्। (व्यव. भा. मलय. वृ. १-५३, पृ. २०)। १६. एकान्तनिषण्णाय प्रसन्नचेतसे विज्ञातदोष-देश-कालाय गुरवे तादृशेन शिष्येण विनयसहितं यथाभवत्येवमवञ्चनशीलेन शिशुवत्सरलबुद्धिना आत्मप्रमादप्रकाशनं निवेदनमाराधनाभगवतीकथितदशदोषरहितमालोचनम्। (त. वृत्ति श्रुत. ९-२२; कार्तिके. टी. ४४९)। १७. गुरोरग्रे स्वप्रमादनिवेदनं दशदोषरहितमालोचनम्। (भावप्रा. टी. ७८)।

१ अनेक भेदरूप जो शुभाशुभ कर्म उदय को प्राप्त होते हैं उनको आत्मस्वरूप से पृथक् समझ कर दोषरूप मानना, इसका नाम आलोचन है। ३ गुरु के सम्मुख दस दोषों से रहित अपने प्रमादजनित दोषों के निवेदन करने को आलोचन कहते हैं।

आलोचना—देखो आलोचन। १. करणिज्जा जे जोगा तेसुवउत्तस्स निरइयारस्स। छउमत्थस्स विसोही जइणो आलोयणा भणिया। (जीतक. सू. ५)। २. उग्गहसमयाणंतरं सब्भूयविसेसत्थाभिमुहमालोयणं आलोयणा भणति। (नन्दी. चू. पृ. २६)। ३. तत्थ आलोयणा नाम अवस्सकरणिज्जेसु भिक्खायरियाईसु जइवि अवराहो नत्थि-तहावि अणालोइए अविणओ भवइ त्ति काऊण अवस्सं आलोएयव्वं। सो जइ किंचि अणेसणाइ अवराहं सरेज्जा, सो वा आयरितो किंचि सारेज्जा तम्हा आलोएयव्वं। आलोयणं ति वा पगासकरणं ति वा अक्खणं विसोहि त्ति वा। (दशवै. चू. १, पृ. २५)। ४. आलोयणा पयडणा भावस्स सदोसकहणमिह गज्झो। गुरुणो एसा य तहा सुविज्जराएण विन्नेआ॥ (आलो. वि. हरि. १५-३)। ५. आलोचना प्रयोजनवतो हस्तशताद् वहिर्गमनागमनादौ गुरोर्विकटना। (आव. नि. हरि. वृ. १४१८, पृ. ७६४)। ६. आङ् मर्यादायाम्, आलोचनं दर्शनं परिच्छेदो मर्यादया यः स आलोचनं यथोक्तं पुरस्ताद् वस्तुसामान्यस्यानिर्देश्यस्य स्वरूप-नाम-जात्यादिकल्पनावियुतस्य यः परिच्छेदः सा आलोना मर्यादया भवति। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-१५)। ७. गुरूणमपरिस्सवाणं सुदरहस्साणं वीयरायाणं तिरयणे मेरुव्व थिराणं सगदोसणिवेयणमालोयणा णाम पायच्छित्तं। (धव. पु. १३, पृ. ६०)। ८. स्वकृतापराधगूहनत्यजनमालोचना। (भ. आ. विजयो. टी. ६); स्वापराधनिवेदनं गुरूणामालोचना। (भ. आ. विजयो. टी. ६९)। ९. स एव वर्तमानकर्मविपाकमात्मनोऽत्यन्तभेदेनोपलम्भमानः आलोचना भवति। (समयप्रा. अमृत. वृ. ४०५)।

३ अवश्यकरणीय भिक्षाचर्या (भिक्षार्थ गमन) आदि में यद्यपि अपराध नहीं है, फिर भी आलोचना करना चाहिए; क्योंकि आलोचना न करने पर अविनय होता है। आलोचना, प्रकाशकरण, और अक्खण(?) विशुद्धि; ये सब समानार्थक हैं। ६ अपने रूप, नाम और जाति आदि की कल्पना से रहित वस्तुसामान्य का जो मर्यादापूर्वक बोध होता है उसे आलोचना कहा जाता है।

आलोचनानय—(नयतो नयप्रपञ्चतः इत्यर्थः। अथवा कदा कारक इत्येतावद् द्वारं गतम्, नयत इत्येतत्तु द्वारान्तरमेव) इहाभिमुख्येन गुरोरात्मदोषप्रकाशनम् आलोचनानयः। (आव. भा. हरि. वृ. १७८, पृ. ४६९)।

प्रमुखता से गुरु के समक्ष अपने दोषों के प्रगट करने का नाम आलोचनानय है।

आलोचनानुलोम्य — आलोचनानुलोम्यं तु पूर्वं लघवः आलोच्यन्ते पश्चाद् गुरवः। (आव. नि. हरि. वृ. १५०१)।

गुरु के सामने पहले लघु अपराधों की और पीछे गुरु अपराधों की आलोचना करने को आलोचनानुलोम्य कहते हैं।

आलोचनार्ह — आलोयणारिहं—आ मज्जायाए वट्टइ। का सा मज्जाया? जह वालो जंपंतो कज्जमकज्जं च उज्जुओ भणइ। तं तह आलोएज्जा माया-मयविप्पमुक्को उ॥ एसा मज्जाया। आलोयणं पगासीकरणं समुदायत्थो। गुरुपच्चक्खीकरणं मज्जायाए। जं पावं आलोइयमेत्तेणं चेव सुज्झइ एयं आलोयणारिहं। (जीतक. चू. पृ. ६)।

जिन अपराधों की शुद्धि केवल आलोचना से ही हो जाती है उन्हें आलोचनार्ह कहते हैं। वह आलोचना मर्यादापूर्वक—बालक के समान माया और मद से रहित होकर—सरलतापूर्वक की जानी चाहिए।

आलोचनाशुद्धि—१. हंतूण कसाए इंदियाणि सव्वं च गारवं हंता। तो मलिदराग-दोसो करेहि आलोयणासुद्धि॥ (भ. आ. ५२४)। २. माया-मृषारहितता आलोचनाशुद्धिः। (भ. आ. मूला. टी. १६६)।

१ क्रोधादि कषाय, इन्द्रियविषय, सब (तीनों प्रकार का) गारव और राग-द्वेष को दूर कर आलोचना करने को आलोचनाशुद्धि कहते हैं।

आवरण—१. आवरणं कारणभूतं (अज्ञानादिदोषजनकं) कर्म। अथवा ××× ज्ञान-दर्शनावरणे आवरणम्। (आ. मी. वृ. ४)। २. आव्रियते आच्छाद्यतेऽनेनेत्यावरणम्। यद्वा आवृणोति आच्छादयति

× × × आवरणं मिथ्यात्वादिसचिवजीवव्यापाराहृतकर्मवर्गणान्तःपाती विशिष्टपुद्गलसमूहः। (कर्मवि. दे. स्वो. टी. ३, पृ. ४)।

१ अज्ञानादि दोषों के कारणभूत कर्म को आवरण कहते हैं। अथवा ज्ञानावरण और दर्शनावरण ये दो कर्म आवरण कहलाते हैं।

आवर्जन—उक्तं च—आवज्जणमुवओगो वावारो वा इति। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३६, पृ. ६०४)।

आवर्जन का अर्थ उपयोग या व्यापार होता है। केवलिसमुद्घात के समय वेदनीय, नाम और गोत्र कर्मों की स्थिति को आयु के समान करने के लिये जो व्यापार होता है वह आवर्जनकरण कहलाता है।

आवर्जितकरण—देखो आयुक्तकरण—१. केवलिसमुग्घादस्स अहिमुहीभावो आवज्जिदकरणमिदि। (जयध. अ. प. १२३७—धव. पु. १०, पृ. ३२५ का टि. ७)। २. अपरे आवर्जितकरणमित्याहुः। तत्रायं शब्दार्थः—आवर्जितो नाम अभिमुखीकृतः। तथा च लोके वक्तारः आवर्जितोऽयं मया, सम्मुखीकृत इत्यर्थः। ततश्च तथा भव्यत्वेनावर्जितस्य मोक्षगमनं प्रत्यभिमुखीकृतस्य करणं क्रिया शुभयोगव्यापारणं आवर्जितकरणम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३६, पृ. ६०४; पंचसं. मलय. वृ. १–१५, पृ. २८)।

२ मोक्ष गमन के प्रति अभिमुख हुए जीव (केवली) के द्वारा की जानेवाली क्रिया—शुभ भोगों के व्यापार—को आवर्जितकरण कहते हैं। इसे आयोजिकाकरण भी कहते हैं।

आवर्तनता—१. वर्त्यतेऽनेनेति वर्तनं क्षयोपशमकरणमेव, ईहाभावनिवृत्त्यभिमुखस्यापायभावप्रतिपत्त्यभिमुखस्य चार्थविशेषाववोधविशेषस्य आ मर्यादया वर्त्तनमावर्त्तनम्, तद्भाव आवर्त्तनता; (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ६६)। २. ईहातो निवृत्यापायभावं प्रत्यभिमुखो वर्तते येन वोधपरिणामेन स आवर्त्तनस्तद्भाव आवर्त्तनता। (नन्दी. मलय. वृ. सू. ३२)।

२ जिस वोध परिणाम के द्वारा ईहासे निवृत्त होकर अपायभाव के प्रति अभिमुख होता है उसका नाम आवर्तन और उसके भाव का नाम आवर्तनता है।

आवर्षण—आवर्षणम् उदकेन छटकप्रदानम्। (बृहत्क. वृ. १६८१)।

जल से छींटे देने का नाम आवर्षण है।

आवलि—१. असंखिज्जाणं समयाणं समुदयसमितिसमागमेणं सा एगा आवलिअ त्ति वुच्चइ। (अनुयो. सू. १३७; जम्बूद्वी. सू. १८; भग. सू. ६–७)। २. ते (समयाः) ऽसंखा आवलिया। (जीवस. १०६)। ३. ते त्वसङ्ख्येया आवलिका। (त. भा. ४–१५)। ४. होंति हु असंखसमया आवलिणामो × × ×। (ति. प. ४-२८७)। ५. असंख्येयाः समया आवलिका। (त. वा. ३, ३८, ७)। ६. आवलिका असंख्येयसमयसंघातोपलक्षितः कालः। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ३६; आव. नि. हरि. वृ. ३२ एवं ६६३)। ७. तेसिं (समयाणं) असंखेज्जाण समुदयसमितीए आवलिया। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ५४)। ८. असंख्येयसमयसमुदायः आवलिका। (पंचसं. स्वो. वृ. २, ४२, पृ. ७६)। ९. ते चासंख्येयाः समया आवलिका भण्यते। सा च जघन्ययुक्तासंख्येयसमयप्रमाणा भवति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४–१५; आव. नि. मलय. वृ. ६६३; जीवाजी. वृ. ३, २, १७८)। १०. असंखेज्जे समए घेत्तूण एया आवलिया हवदि × × × आवलि असंखसमया। (धव. पु. ३, पृ. ६५; पु. ४, पृ. ३१८)। ११. तेसिं पि य समयाणं संखारहियाण आवली होई। (भावसं. दे. ३१२)। १२. आवलि असंखसमया × × ×। (जं. दी. प. १३–५; गो. जी. ५७४)। १३. जघन्ययुक्तासंख्यातसमयराशिः आवलिः। (गो. जी. जी. प्र. ५७४)। १४. आवलि तेहिं समएहिं असंखहि किज्जइ। (म. पु. पुष्प. २, सं. २२)। १५. असंख्येयसमयसमुदायात्मिका आवलिका। (सूर्यप्र. मलय. वृ. ३०, १०५–६)। १६. आवलिका असंख्यातसमयरूपा। (कल्पसू. वि. वृ. ६–११८)। १७. असंख्येयैः समयैरेकावलिका। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ५–१०४)।

१ असंख्यात समयसमूह की एक आवलि होती है।

आवश्यक (आवासय)—१. ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावासयं ति वोद्धव्वा। (मूला. ७–१४)। २. समणेण सावएण य अवस्सकायव्वयं हवइ जम्हा। अंतो अहोनिसस्स य तम्हा आवस्सयं नाम॥ (अनुयो. सू. २८, गा. २, पृ. ३१; विशेषा. ८७६)। ३. आवस्सगं अवस्सकरणिज्जं जं तमावसं, अहवा गुणाणमावासत्तणतो, अहवा आ मज्जायाए वासं करेइ त्ति आवासं, अहवा जम्हा तं आवासयं जीवं

आवासं करेति दंसण-णाण-चरणगुणाण तम्हा तं आवासं, अहवा तक्करणातो णाणादिया गुणा आवसिति त्ति आवासं, अहवा आ मज्जायाते पसत्थभावणातो आवासं, अहवा आ मज्जाए वस आच्छादने पसत्थगुणेहिं अप्पाणं छादेतीति आवासं। (अनुयो. चू. पृ. १४)। ४. श्रमणादिना अहोरात्रस्य मध्ये यस्मादवश्यं क्रियते तस्मादावश्यकम्। (अनुयो. मल. हेम. वृ. २८, पृ. ३१)। ५. अवश्यं कर्तव्यमावश्यकम्, अथवा गुणानामावश्यमात्मानं करोतीत्यावश्यकम्, यथा अन्तं करोतीत्यन्तकः। अथवा 'वस निवासे' इति गुणशून्यमात्मानमावासयति गुणैरित्यावासकम्, गुणसान्निध्यमात्मानं करोतीति भावार्थः। (आव. हरि. वृ. पृ. २१; अनुयो. हरि. वृ. पृ. ३; अनुयो. मल. हेम. वृ. ८, पृ. १०-११)।

२ श्रमण (मुनि) और श्रावक दिन-रात के भीतर जिस विधि को अवश्यकरणीय समझ कर किया करते हैं उसका नाम आवश्यक है।

आवश्यककरण— अन्ये 'आउस्सियकरणं' इति ब्रुवते। तत्राप्ययमन्वर्थः—आवश्यकेन अवश्यंभावेन करणमावश्यककरणम्। तथाहि—समुद्घातं केचित् कुर्वन्ति, केचिच्च न कुर्वन्ति। इदं त्वावश्यकरणं सर्वेऽपि केवलिनः कुर्वन्तीति। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३६–३४५, पृ. ६०४–५; पंचसं. मलय. वृ. १५, पृ. २८)।

जिस क्रिया को अवश्य—अनिवार्यरूप से—किया जाता है उसे आवश्यककरण कहते हैं। जैसे—केवलिसमुद्घात को कितने ही केवली किया करते हैं और कुछ नहीं भी किया करते हैं, पर इस आवश्यककरण को तो सभी केवली किया करते हैं।

आवश्यकनिर्युक्ति—१. जुत्ति त्ति उवाय त्ति य णिरवयवा होदि णिज्जुत्ती॥ (मूला. ७–१४)। २. णिज्जुत्ता ते अत्था जं बद्धा तेण होइ णिज्जुत्ति। (आव. नि. ८८)। ३. निश्चयेन सर्वाधिक्येन आदौ वा युक्ता निर्युक्ताः, अर्यन्त इत्यर्थाः जीवादयः श्रुतविषयाः, ते ह्यर्था निर्युक्ता एव सूत्रे, यत् यस्मात् बद्धा सम्यग् अवस्थापिताः योजिता इति यावत्, तेनेयं निर्युक्तिः। निर्युक्तानां युक्तिर्निर्युक्तिरिति प्राप्ते युक्तशब्दस्य लोपः क्रियते—उष्ट्रमुखी कन्येति यथा, निर्युक्तार्थव्याख्या निर्युक्तिरिति हृदयम्। (आव. नि. हरि. वृ. ८८)। ४. युक्तिरिति उपाय इति चैकार्थः, निरवयवा सम्पूर्णाऽखण्डिता भवति निर्युक्तिः। आवश्यकानां निर्युक्तिः आवश्यकनिर्युक्तिरावश्यकसम्पूर्णोपायः। अहोरात्रमध्ये साधूनां यदाचरणं तस्यावबोधकं पृथक् पृथक् स्तुतिरूपेण "जयति भगवानित्यादि" प्रतिपादकं यत्पूर्वापराविरुद्धं शास्त्रं न्याय आवश्यकनिर्युक्तिरित्युच्यते। (मूला. वृ. ७, १४)। ५. यस्मात् सूत्रे निश्चयेनाधिक्येन साधु वा आदौ वा युक्ताः सम्बद्धा निर्युक्ताः, निर्युक्ता एव सन्तस्ते श्रुताभिधेया जीवाजीवादयोऽर्था अनया प्रस्तुतनिर्युक्त्या बद्धा व्यवस्थापिताः, व्याख्याता इति यावत्, तेनेयं भवति निर्युक्तिः। नियुक्तानां सूत्रे प्रथममेव सम्बद्धानां सतामर्थानां व्याख्यारूपा युक्तिर्योजनम्। निर्युक्तियुक्तिरिति प्राप्ते शाकपार्थिवादिदर्शनात् युक्तलक्षणस्य पदस्य लोपात् निर्युक्तिरिति भवति। (आव. नि. मलय. वृ. ८८)।

१ 'निर्' का अर्थ निरवयव या सम्पूर्ण और युक्ति का अर्थ उपाय है; तदनुसार सम्पूर्ण या अखण्डित उपाय को निर्युक्ति जानना चाहिए। ४ साधु-साध्वियों के दैवसिक और रात्रिक आवश्यक कर्तव्यों के प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को आवश्यकनिर्युक्ति कहते हैं।

आवश्यकापरिहाणि—१. षण्णामावश्यकक्रियाणां यथाकालं प्रवर्तनमावश्यकापरिहाणिः। (स. सि. ६, २४)। २. षण्णामावश्यकक्रियाणां यथाकालप्रवर्तनमावश्यकापरिहाणिः। षडावश्यकक्रियाः—सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवः वन्दना प्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं कायोत्सर्गश्चेति। तत्र सामायिकं सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिलक्षणं चित्तस्यैकत्वेन ज्ञाने प्रणिधानम्। चतुर्विंशतिस्तवः तीर्थंकरगुणानुकीर्तनम्। वन्दना त्रिशुद्धिः द्व्यासना चतुःशिरोऽवनतिः द्वादशावर्तना। अतीतदोषनिवर्तनं प्रतिक्रमणम्, अनागतदोषापोहनं प्रत्याख्यानम्, परिमितकालविषया शरीरे ममत्वनिवृत्तिः कायोत्सर्गः। इत्येतासां षण्णामावश्यकक्रियाणां यथाकालप्रवर्तनम् अनौत्सुक्यं आवश्यकाऽपरिहाणिरिति परिभाष्यते। (त. वा. ६, २४, ११; त. सुखबो. वृ. ६–२४)। ३. एदेसिं (समदा-थव-वंदण-पडिक्कमण-पच्चक्खाण-विओसग्गाणं) छण्णं आवासयाणं अपरिहीणदा अखंडदा आवासयापरिहीणदा। (धव. पु. ८, पृ. ८५)। ४. आवश्यकक्रियाणां षण्णां काले प्रवर्तनं नियतं। तासां साऽपरि-

हाणिर्ज्ञेया सामायिकादीनाम् ।। (ह. पु. ३४-१४२)। ५. आवश्यकक्रियाणां तु यथाकालं प्रवर्तना । आवश्यकापरिहाणि: षण्णामपि यथागमम् ।। (त. श्लो. ६, २४, १४) । ६. एतेषां (सामायिकादीनां) षण्णामावश्यकानामपरिहाणिरेका चतुर्दशी भावना । (भा. प्रा. टी. ७७) । ७. सुमुहूर्ताद्यनपेक्षम् अवश्यं निश्चयेन कर्तव्यानि आवश्यकानि, तेषामपरिहाणि: आवश्यकाऽपरिहाणि: । (त. वृत्ति श्रुत. ६–२४) ।

१ समता-वन्दनादि छह आवश्यक क्रियाओं का यथासमय परिपालन करने को आवश्यकापरिहाणि कहते हैं ।

आवश्यकी क्रिया—१. अवश्यं गन्तव्यकारणमित्यतो गच्छामीति अस्यार्थस्य संसूचिका आवश्यकी, अन्यापि कारणापेक्षा या या क्रिया सा क्रिया अवश्या क्रियेति सूचितम् । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ५८)। २. अवश्यकर्तव्यमावश्यकम्, तत्र भवा आवश्यिकी, ज्ञानाद्यालम्बनेनोपाश्रयात् बहिरवश्यं गमने समुपस्थिते अवश्यं कर्तव्यमिदमतो गच्छाम्यहमित्येवं गुरुं प्रति निवेदना आवश्यकीति हृदयम् । (अनुयो. मल. हेम. वृ. सू. ११८, पृ. १०३) ।

१ जाने का कारण अवश्य है, अतः जाता हूँ; इस अर्थ की सूचक क्रिया तथा कारणसापेक्ष अन्यान्य क्रिया भी आवश्यकी क्रिया कही जाती है ।

आवाप(भक्त)कथा — १. शाक-घृतादीन्येतावन्ति तस्यां रसवत्यामुपयुज्यन्त इत्येवंरूपा कथा आवापकथा । (स्थाना. अभय. वृ. ४, २, २८२, पृ. १९९) । २. अमुकस्य राज्ञः सार्थवाहादेर्वा रसवत्यां दश शाकविशेषाः, पञ्च पलानि सर्पिस्तथाऽऽढकस्तन्दुलानामुपयुज्यत इत्यादि यदा सामान्येन विवक्षितरसवतीद्रव्यसंख्याकथां करोति सा आवापभक्तकथा। (आव. हरि. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ९२) ।

१ अमुक रसोई में इतने शाक व घी आदि का उपयोग होगा, इस प्रकार की चर्चा करने को आवाप-(भक्त)कथा कहते हैं ।

आवास—१. दह-सेल-दुमादीणं रम्माणं उवरि होंति आवासा । (ति. प. ३–२३); ××× दहगिरिपहुदीणं उवरि आवासा ।। (ति. प. ६–७) । २. अंडरस्स अंतो ट्ठियो कच्छउडंडरंतोट्ठियवक्खारसमाणो आवासो णाम । (धव. पु. १४, पृ. ८६) । ३. उड्ढगया आवासा ××× (त्रि. सा. २९५) । ४. एकैकस्मिन्नण्डरे असंख्यातलोकमात्राः आवासाः, तेऽपि प्रत्येकजीवशरीरभेदाः सन्ति । (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. १९४) ।

१ भवनवासी और व्यन्तर देवों के जो निवासस्थान द्रह, पर्वत और वृक्ष आदि के ऊपर अवस्थित होते हैं वे आवास कहलाते हैं । ४ निगोद जीवों के आश्रयभूत अण्डरों में से प्रत्येक में जो असंख्यात लोक प्रमाण स्कन्धविशेष होते हैं उनका नाम आवास है। वे आवास प्रतिष्ठित प्रत्येक जीवों के शरीरभेदरूप हैं।

आवासक—देखो आवश्यक ।

आवाहनी मुद्रा—हस्ताभ्यामञ्जलिं कृत्वा प्रकाममूलपर्वाङ्गुष्ठसंयोजनेनावाहनी मुद्रा । (निर्वाणक. पृ. ३२) ।

दोनों हाथों से अञ्जलि को बांधकर प्रकाममूल (पहुंचे), पर्व और अङ्गुष्ठ के परस्पर मिलाने को आवाहनीमुद्रा कहते हैं ।

आवीचिमरण—१. आवीची नाम निरन्तरमित्यर्थः, उववन्नमत्त एव जीवो अणुभावपरिसमाप्तेः निरन्तरं समये समये मरति । (उत्तरा. चू. पृ. १२७) । २. वीचि-शब्दस्तरङ्गाभिधायी, इह तु वीचिरिव वीचिरिति आयुष उदये वर्तते—यथा समुद्रादौ वीचयो नैरन्तर्येणोद्गच्छन्ति एवं क्रमेण आयुष्काख्यं कर्म अनुसमयमुदेति इति तदुदय आवीचिशब्देन भण्यते । आयुषः अनुभवनं जीवितम्, तच्च प्रतिसमयं जीवितभङ्गस्य मरणम् । अतो मरणमपि अत्र आवीचि, उदयानन्तरसमये मरणमपि वर्तते इति । (भ. आ. विजयो. २५) । ३. आ समन्ताद्वीचय इव वीचयः—आयुर्दलिकविच्युतिलक्षणावस्था यस्मिंस्तदावीचि । अथवा वीचिः—विच्छेदस्तदभावादवीचि, दीर्घत्वं तु प्राकृतत्वात्तदेवंभूतं मरणमावीचिमरणं—प्रतिक्षणमायुर्द्रव्यविचटनलक्षणम् । (समवा. अभय. वृ. १७, पृ. ३४) । ४. प्रतिसमयमनुभूयमानायुषोऽपरापरायुर्दलिकविच्युतिलक्षणा अवस्था यस्मिन् मरणे तदावीचिमरणम् । (प्रव. सारो. वृ. १००६, पृ. २९९) । ५. तत्र अवीचिमरणम्—वीचिः विच्छेदः, तदभावाद् अवीचिः—नारकतिर्यङ्नराणामुत्पत्तिसमयात् प्रभृतिनिज-निजायुष्ककर्मदलिकानामनुसमयमनुभवनात् विचटनम् । (उत्तरा.

ने. वृ. ५, पृ. ९६)। ६. तत्र प्रतिक्षणमायुःक्षयः आवीचिमरणम्, समुद्राम्बुषु वीचीनामिव आयुःपुद्गलाणुषु रसानां प्रतिसमयमुद्भूयोद्भूय विलयनात्। (भ. आ. मूला. २५)। ७. यत्प्रतिसमयमायुषः कर्मणो निषेकस्योदयपूर्विका निर्जरा भवति तदावीचिमरणम्। (सा. ध. स्वो. टी. १–१२)। ८. समुद्रादिकल्लोलवत् प्रतिसमयमायुस्त्रुट्यति तदावीचिकामरणम्। (भा. प्रा. टी. ३२)।

२ वीचि नाम तरंग का है। तरंग के समान जो निरन्तरता से आयुकर्म के निषेकों का प्रतिक्षण क्रम से उदय होता है उसके अनुभवन को आवीचिमरण कहा जाता है।

आवीतलिङ्ग — साध्यधर्मप्रतिपत्तिरावीतमुच्यते। (प्रमाणप. पृ. ७५)।

साध्यधर्म का ज्ञान कराने वाले हेतु को आवीतलिङ्ग कहते हैं।

आशंसा—१. आशंसनमाशंसा, आकाङ्क्षणमित्यर्थः। (स. सि. ७–३७)। २. पच्चक्खाणं सेयं अपरिमाणेण होइ कायव्वं। जेसिं तु परीमाणं तं दुट्ठं होइ आसंसा॥ (उत्तरा. नि. ३–१७७, पृ. १७६)। ३. आकाङ्क्षणमाशंसा। आकाङ्क्षणमभिलाषः आशंसेत्युच्यते। (त. वा. ७, ३७, १)। ४. शुभेच्छाऽऽशंसा, निषेधानुपपत्तेश्चेष्टसाधनत्वनिषेधस्य बाधात्। (शास्त्रवा. टी. ३–३)।

१ आकांक्षा या इच्छा करने को आशंसा कहा जाता है।

आशा—अविद्यमानस्यार्थस्याशासनमाशेत्यपरलोभपर्यायः। अथवा—आश्यति तनूकरोत्यात्मानमित्याशा लोभ इति। (जयध. प. ७७७)।

अविद्यमान वस्तु की इच्छा करने को आशा कहते हैं। अथवा जो आत्मा को कृश करे उसे आशा कहते कहते हैं। यह लोभ का पर्यायनाम है।

आशाम्बर—१. यो हताशः प्रशान्ताशस्तमाशाम्बरमूचिरे। (उपासका. ८६०)। २. आशाम्बरः दिगम्बरः परिधानादिवस्त्रवर्जितो लोकप्रसिद्धो जैनैकदेशीयो दर्शनविशेषः। (सम्बोधस. वृ. २, पृ. २)।

१ जिसकी समस्त आशायें—इच्छायें—नष्ट हो चुकी हैं ऐसे वस्त्र आदि समस्त परिग्रह से रहित साधु को आशाम्बर (दिगम्बर) कहा जाता है।

आशालक—आशालकस्तु अवष्टम्भसमन्वित आसनविशेषः। (दशवै. सू. हरि. वृ. ६–५५, पृ. २०४)।

अवष्टम्भ समन्वित (आश्रय सहित) आसनविशेष को आशालक कहते हैं। ऐसे आसन का आचरण साधु के लिए निषिद्ध है।

आशी—स्थिता वयमियत्कालं यामः क्षेमादयोऽस्तु ते। इतीष्टाशंसनं व्यन्तरादेराशीर्निरुच्यते॥ (आचा. सा. २–१०)।

निवासस्थान को छोड़ते समय उस क्षेत्र के स्वामी व्यन्तरादि को 'तुम्हारा कल्याण हो' ऐसा आशीर्वाद देना, यह आशी नामक सामाचार है।

आ(अ)शीतिका — प्रायश्चित्तनिरूपिका आशीतिका। (त. वृत्ति श्रुत. १–२०, पृ. ६७, पं. २०-२१)।

प्रायश्चित्त का निरूपण करने वाले एक अंगबाह्यश्रुत को आशीतिका या अशीतिका कहा जाता है।

आशीर्विष—१. मर इदि भणिदे जीओ मरेइ सहस त्ति जीए सत्तीए। दुक्खरतवजुदमुणिणा आसीविसणाम रिद्धी सा॥ (ति. प. ४–१०७८)। २. अविद्यमानस्यार्थस्य आशंसनमाशीः, आशीर्विषं येषां ते आशीर्विषाः। जेसिं जं पडि मरिहि त्ति वयणं णिप्पडिदं तं मारेदि, भिक्खं भमेत्ति वयणं भिक्खं भमावेदि, सीसं छिज्जउ त्ति वयणं सीसं छिंददि; ते आसीविसा णाम समणा। ××× आसी अविसममियं जेसिं ते आसीविसा—जेसिं वयणं थावर-जंगमविसपूरिदजीवे पडुच्च 'णिव्विसा होंतु' त्ति णिस्सरिदं ते जीवावेदि, वाहिवेयण-दालिद्दादिविलयं पडुच्च णिप्पडिदं संतं तं तं कज्जं करेदि ते वि आसीविसा त्ति उत्तं होदि। तवोबलेण एवंविहसत्तिसंजुत्तवयणा होदूण जे जीवाणं णिग्गहाणुग्गहं ण कुणंति ते आसीविसा त्ति घेत्तव्वा। (धव. पु. ९, पृ. ८५)।

१ दुश्चर तपश्चरण करने वाले मुनि के जिस ऋद्धि के प्रभाव से 'मर जा' ऐसा कहने पर प्राणी सहसा मरण को प्राप्त होता है उसे आशीर्विष ऋद्धि कहते हैं।

आशीविष—देखो आसीविष। १. आश्यो दंष्ट्रास्तासु विषं येषां ते आशीविषाः। ते च कर्मतो जातितश्च। तत्र कर्मतस्तिर्यङ्-मनुष्याः कुतोऽपि गुणादाशीविषाः स्युः। देवाश्चासहस्राराच्छापादिना परव्यापादनादिति। ××× जातितः आशीविषा जात्याशीविषाः वृश्चिकादयः। (स्थाना. अभय.

४, ३, ३४१, पृ. २५१)। २. आशीविषलब्धिनिग्रहानुग्रहसामर्थ्यम्। (योगशा. स्वो. विव. १-६)। ३. आसी दाढा, तग्गयमहाविषाऽऽसीविसा। (प्रव. सारो. वृ. १५०१)।

१ आशी का अर्थ दाढ़ होता है, जिनकी दाढ़ों में विष होता है वे **आशीविष** कहलाते हैं।

आश्रम—१. आश्रमः तापसाद्यावासः। (औपपा. अभय. वृ. ३२, पृ. ७४)। २. आश्रमस्तापसविनिवासः। (प्रश्नव्या. अभय. वृ. पृ. १७५)। ३. आश्रमास्तीर्थस्थानानि तापसस्थानानि वा। (कल्पसू. वि. वृ. ४-८८)।

३ तीर्थस्थानों को या तपस्वियों के निवासस्थानों को **आश्रम** कहते हैं।

आषाढमास—मिथुनराशौ यदा तिष्ठत्यादित्यः स काल आसाढमास इत्युच्यते। (मूला. वृ. ५-७५)। जिस काल में सूर्य मिथुन राशि पर रहता है उसे **आसाढमास** कहते हैं।

आसक्त—आसक्तः पतितेऽपि वीर्ये नारीशरीरमालिङ्ग्य तिष्ठति। (आ. दि. १६, पृ. ७५)।

वीर्यपात हो जाने पर भी जो स्त्री के शरीर का आलिंगन करके स्थित रहता है उसे **आसक्त** कहा जाता है। दस प्रकार के नपुंसकों में यह अन्तिम भेद है। ये सब ही दीक्षा के अयोग्य होते हैं।

आसन—निश्चयेनात्मनोऽनन्येऽवस्थानं यत्तदासनम्। लोकव्यवहारेण तदवस्थानसाधनाङ्गत्वेन यम-नियमाद्यष्टाङ्गेषु मध्ये शरीरालस्य-ग्लानिहानाय नानाविधतपश्चरणभारनिर्वाहक्षमं भवितुं तत्पाटयोत्पादनाय यन्निर्दिष्टं पर्यंकार्धपर्यंक-वीर-वज्र-स्वस्तिक-पद्मकादिलक्षणमासनम्। (आरा. सा. टी. २६)।

निश्चयतः आत्मा से अनन्य में—आत्मा में ही—जो अवस्थान है, इसका नाम **आसन** है। इस अवस्थान के साधनभूत यम-नियमादि आठ अंगों में निर्दिष्ट जो पर्यंक, अर्धपर्यंक, वीरासन, वज्रासन, स्वस्तिक और पद्मासन आदि लोकप्रसिद्ध आसनविशेष हैं उन्हें भी व्यवहार से आसन कहा जाता है।

आसनक्रिया — उत्कटाऽऽसनादिकाऽऽसनक्रिया। (भ. आ. विजयो. टी. ८६)।

उत्कट आसन आदि के उपयोग का नाम **आसनक्रिया** है।

आसनप्रदान—आसणपदाणं णाम ठाणओ ठाणं संचरंतस्स आसणं गेण्हिऊण इच्छिए ठाणे ठवेइ। (दशवै. चू. पृ. २७)।

एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने वाले के आसन को लेकर अभीष्ट स्थान में स्थापित करना, इसका नाम **आसनप्रदान** है।

आसनशुद्धि—पर्यङ्काद्यासनस्थायी वद्ध्वा केशादि यो मनाक्। कुर्वस्तां न चलत्यस्याऽऽसनशुद्धिर्भवेदियम्॥ (धर्मसं. श्रा. ७-४७)।

पर्यंक आदि (कायोत्सर्ग) आसन से स्थित होकर व बालों आदि को बांध कर जो उस वन्दना को करता हुआ किंचित् भी विचलित नहीं होता है, उसके **आसनशुद्धि** होती है

आसनानुप्रदान—आसनानुप्रदानम् आसनस्य स्थानात् स्थानान्तरसञ्चारणम्। (समवा. अभय. वृ. ६१, पृ. ८६)।

आसन का एक स्थान से दूसरे स्थान में स्थानान्तरित करना, इसका नाम **आसनानुप्रदान** है।

आसनाभिग्रह—आसनाभिग्रहः तिष्ठत एवासनानयनपूर्वकमुपविशतात्रेति भणनम्। (समवा. अभय. वृ. ६१, पृ. ८६)।

ठहरते हुए साधु को आसन लाते हुए 'यहां बैठिये' ऐसा कहना, इसका नाम **आसनाभिग्रह** है।

आसन्न (ओसण्ण)—१. ओसण्णमरणमुच्यते—निर्वाणमार्गप्रस्थितात् संयतसार्थाद् यो हीनः प्रच्युतः सोऽभिधीयते ओसण्ण इति। तस्य मरणं ओसण्णमरणमिति। ओसण्णग्रहणेन पार्श्वस्थाः स्वच्छन्दाः कुशीलाः संसक्ताश्च गृह्यन्ते। तथा चोक्तम्—पासत्थो सच्छंदो कुसील संसत्त होंति ओसण्णा। जं सिद्धिपच्छिदादो ओहीणा साधुसत्थादो॥ के पुनस्ते? ऋद्धिप्रिया रसेष्वासक्ताः दुःखभीरवः सदा दुःखकातराः कषायेषु परिणताः संज्ञावशगाः पापश्रुताभ्यासकारिणः त्रयोदशविधासु क्रियास्वलसाः सदा संक्लिष्टचेतसः भक्ते उपकरणे च प्रतिबद्धाः निमित्तमंत्रौषधयोगोपजीविनः गृहस्थवैयावृत्यकराः गुणहीना गुप्तिषु समितिषु चानुद्यताः मन्दसंवेगा दशप्रकारे धर्मेऽकृतबुद्धयः शबलचारित्रा आसन्ना इत्युच्यन्ते। (भ. आ. विजयो. टी. २५, पृ. ८८)। २. निर्वाणमार्गप्रस्थितसंयतसार्थात् प्रच्युत आसन्न उच्यते। तदुपलक्षणं पार्श्वस्थ-स्वच्छन्द-कुशील-संस-

क्तानाम्। ××× ते यतन्ते आत्मशुद्धि कृत्वा म्रियन्ते तदा प्रशस्तमेव मरणम्। (भा. प्रा. टी. ३२)।

१ ऋद्धिप्रिय, रसों में आसक्त, दुःखभीरु, कषायपरिणत, आहारादि संज्ञाओं के वशीभूत, कुश्रुताभ्यासी, तेरह प्रकार के चारित्र के पालन में आलसी, सदा संक्लिष्टचित्त, भोजन व उपकरण में संसक्त; निमित्त, मंत्र व औषधि से जीविका करने वाले; गृहस्थों की वैयावृत्त्य (सेवा-सुश्रूषा) करने वाले, गुणों से रहित, गुप्ति व समितियों में अनुद्यत, मन्द संवेग से सहित, धर्म से विमुख तथा दूषित चारित्र वाले साधुओं को आसन्न कहते हैं। (देखिये 'अवसन्न')।

आसन्नभव्यता — भव्यो रत्नत्रयाविर्भावयोग्यो जीवः, आसन्नः कतिपयभवप्राप्तनिर्वाणपदः, आसन्नश्चासौ भव्यश्चासन्नभव्यस्तस्य भाव आसन्नभव्यता। सा. ध. स्वो. टी. १–६)।

कुछ ही भवों को धारण करके मुक्ति प्राप्त करने वाले जीव की रत्नत्रय के आविर्भावविषयक योग्यता को आसन्नभव्यता कहते हैं।

आसन्नमरण—देखो आसन्न।

आसादन—१. कायेन वाचा च परप्रकाश्यज्ञानस्य वर्जनमासादनम्। (स. सि. ६–१०)। २. वाक्कायाभ्यां ज्ञानवर्जनमासादनम्। कायेन वाचा च परप्रकाश्यज्ञानस्य वर्जनमासादनं वेदितव्यम्। (त. वा. ६, १०, ५)। ३. वाक्कायाभ्यामनावर्तनमासादनम्। (त. श्लो. ६–१०)। ४. आयं सादयतीति आसादनम् अनन्तानुबन्धिकषायवेदनम्। नैरुक्तो यशब्दलोपः। (कर्मस्त. गो. वृ. २, पृ. ७०)। ५. कायेन वचनेन च सतो ज्ञानस्य विनयप्रकाशन-गुणकीर्तनादेरकरणमासादनम्। (त. वृत्ति श्रुत. ६-१०)। ६. काय-वाग्भ्यामननुमननं कायेन वाचा वा परप्रकाश्यज्ञानस्य वर्जनं वेत्यासादना। (गो. क. जी. प्र. ८००)।

१ शरीर से व वचन से प्रकाशित करने योग्य दूसरेके ज्ञान को रोक देना, इसका नाम आसादन है। यह ज्ञानावरण व दर्शनावरण के बन्ध का कारण है। ४ अनन्तानुबन्धी कषाय के वेदन अर्थात् द्वितीय गुणस्थान को आसादन कहा जाता है।

आसादना—देखो अत्यासादना।

आसीविष—देखो आशीविष और आशीविष। १. आस्यो दंष्ट्राः, तासु विषमेषामस्तीति आसीविषाः। ते द्विप्रकारा भवन्ति—जातितः कर्मतश्च। तत्र जातितो वृश्चिक-मण्डूकोरग-मनुष्यजातयः, कर्मतस्तु तिर्यग्योनयः मनुष्या देवाश्चासहस्रारादिति। एते हि तपश्चरणानुष्ठानतो ऽन्यतो वा गुणतः खल्वासीविषा भवन्ति। देवा अपि तच्छक्तियुक्ता भवन्ति, शापप्रदानेनैव व्यापादयन्तीत्यर्थः। (आव. नि. हरि. वृ. ७०. पृ. ४८)। २. आस्यो दंष्ट्राः, तासु विषमेषामस्तीति आसीविषाः। ते द्विविधा जातितः कर्मतश्च। तत्र जातितो वृश्चिक-मण्डूकोरग-मनुष्यजातयः क्रमेण बहु-बहुतर-बहुतमविषाः। वृश्चिकविषं हि उत्कर्षतोऽर्धभरतक्षेत्रप्रमाणं शरीरं व्याप्नोति, मण्डूकविषं भरतक्षेत्रप्रमाणम्, भुजंगमविषं जम्बूद्वीपप्रमाणम्, मनुष्यविषं समय[अ]क्षेत्रप्रमाणम्। कर्मतश्च पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनयो मनुष्याः देवाश्चासहस्रारात्, एते हि तपश्चरणानुष्ठानतोऽन्यतो वा गुणतः आसीविष-वृश्चिक-भुजंगादिसाध्यां क्रियां कुर्वन्ति, शापप्रदानादिना परं व्यापादयन्तीति भावः। (आव. नि. मलय. वृ. ७०, पृ. ७९)। ३. आस्यो दंष्ट्रास्तासु विषं येषां ते आसीविसाः। उक्तं च—आसी दाढा तग्गयविसाऽऽसीविसा मुणेयव्वा इति। (जीवाजी, मलय. वृ. १–३६)।

देखो—आसीविष।

आसुरविवाह — पणबन्धेन कन्याप्रदानमासुरः। (योगशा. स्वो. विव. १-४७; धर्मबि. मु. वृ. १-१२; श्राद्धगु. पृ, १४, धर्मसं. मान. स्वो. वृ. १-५, पृ. ५)। वर से द्रव्य लेकर कन्या के देने को आसुरविवाह कहते हैं।

आसुरिकी भावना—१. अणुबद्धरोस-विग्गहसंसत्ततवो णिमित्तपडिसेवी। णिक्किव-णिराणुतावी आसुरिअं भावणं कुणदि॥ (भ. आ. १८३)। २. अणुबद्धविग्गहो चिय संसत्ततवो निमित्तमाएसी। निक्किव-निराणुकंपो आसुरियं भावणं कुणइ॥ (बृहत्क. १३१५; गु. गु. षट्. स्वो. वृ. ४, पृ. १८)।

१ भवान्तरगामी क्रोध को रखना, कलहयुक्त तप करना, ज्योतिष आदि निमित्तज्ञान के द्वारा जीविका करना, दयारहित होकर क्रियाओं को करना तथा प्राणिपीड़न करके भी पश्चात्ताप न करना; ये सब आसुरिकी भावना के लक्षण हैं।

आसेवनाकुशील—आसेवना संयमस्य विपरीताऽऽराधना, तया कुशील आसेवनाकुशीलः। (प्रव. सारो. वृ. ७२५; धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३–५६, पृ. १५३)।
संयम की विपरीत आराधना या असंयम का सेवन करने वाले साधु को आसेवनाकुशील कहते हैं।

आसेवनानुलोम्य—आसेवनानुलोम्यं येन क्रमेणातिचार आसेवितस्तेनैव क्रमेण गुरोः पुरतः प्रकटनम्। (योगशा. स्वो. विव. ४–९०)।
जिस क्रम से अतिचार का सेवन किया है उसी क्रम से उसके गुरु के सामने प्रगट करने को आसेवनानुलोम्य कहते हैं।

आस्तरण— (अवेक्षा-प्रमार्जनानपेक्षम्) आस्तरणं संस्तरोपक्रमणम्। (सा. ध. ५–४०)।
'जीव-जन्तु हैं या नहीं' इस प्रकार बिना देखे और बिना शोधे बिछौना के बिछाने को आस्तरण कहते हैं।

आस्तिक्य—१. जीवादयोऽर्था यथास्वं भावैः सन्तीति मतिरास्तिक्यम्। (त. वा. १, २, ३०)। २. आस्तिक्यमिति—अस्त्यात्मादिपदार्थकदम्बकमित्येषा मतिर्यस्य स आस्तिकः, तस्य भावः तथापरिणामवृत्तिता आस्तिक्यम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–२)।
जीवादि पदार्थ यथायोग्य अपने स्वभाव से संयुक्त हैं, इस प्रकार की बुद्धि को आस्तिक्य कहते हैं।

आस्यविष—देखो आशीविष व आशीविष। प्रकृष्टतपोवला यतयो यं ब्रुवते म्रियस्वेति स तत्क्षण एव महाविषपरीतो म्रियते ते आस्यविषाः। (त. वा. ३, ३६, ३ पृ. २०३–४)।
प्रकृष्ट तप के सामर्थ्य से संयुक्त जिन मुनियों के 'मर जा' ऐसा कहने पर प्राणी उसी समय भयानक विष से व्याप्त होकर मर जाता है वे आस्यविष कहलाते हैं।

आस्याविष—उग्रविषसंपृक्तोऽप्याहारो येषामास्यगतो निर्विषीभवति, यदीयास्यनिर्गतवचःश्रवणाद्वा महाविषपरीता अपि निर्विषीभवन्ति, ते आस्याविषाः। (त. वा. ३, ३६, ३ पृ. २०३)।
जिनके मुख में गया हुआ तीव्र विष से मिश्रित भी भोजन निर्विष हो जाता है, अथवा जिनके मुख से निकले हुए वचन को सुनकर भयानक विष से पीड़ित भी प्राणी उस विष की वेदना से मुक्त हो जाते हैं, वे आस्याविष कहलाते हैं।

आस्र(श्र)व—१. कायावाङ्मनःकर्म योगः॥ स आस्रवः॥ (त. सू. ६, १–२)। २. शुभाशुभकर्मागमद्वाररूपः आस्रवः। (स. सि. १–४; त. वृत्ति श्रुत. १–४); योगप्रणालिकयात्मनः कर्म आस्रवतीति योग आस्रवः। (स. सि. ६–२)। ३. स एष त्रिविधोऽपि योग आस्रवसंज्ञो भवति। शुभाशुभयोः कर्मणोरास्रवणादास्रवः, सरसः सलिलावाहि-निर्वाहिस्रोतोवत्। (त. भा. ६–२)। ४. आस्रवति अनेन, आस्रवणमात्रं वा आस्रवः। (त. वा. १, ४, ९); तत्प्रणालिकया कर्मास्रवणादास्रवाभिधानं सलिलवाहिद्वारवत्। यथा सरःसलिलवाहिद्वार तदास्रवणकारणत्वात् आस्रव इत्याख्यायते तथा योगप्रणालिकया आत्मनः कर्म आस्रवतीति योग आस्रव इति व्यपदेशमर्हति। (त. वा. ६, २, ४)। ५. आस्रूयते गृह्यते कर्म अनेन इत्यास्रवः शुभाशुभकर्मादानहेतुः। (त. भा. हरि. वृ. १–४)। ६. काय-वय-मणोकिरिया जोगो सो आसवो। (श्रा. प्र. ७९); कायवाङ्-मनःक्रिया योगः × × × स आस्रवः। × × × आत्मनि कर्मानुप्रवेशमात्रहेतुरास्रव इति। (श्रा. प्र. टी. ७९)। ७. × × × मिथ्यात्वाद्यास्तु हेतवः। ये बन्धस्य स विज्ञेयः आस्रवो जिनशासने॥ (षड्द. स. ४-५०, पृ. १७५)। ८. आस्रवन्ति समागच्छन्ति संसारिणां जीवानां कर्माणि यैः येभ्यो वा ते आस्रवा रागादयः। (सिद्धिवि. टी. ४–९, पृ. २५६)। ९. स आस्रव इह प्रोक्तः कर्मागमनकारणम्। (त. श्लो. ६, २, १)। १०. आस्रूयते यैर्गृह्यते कर्म त आस्रवाः, शुभाशुभकर्मादानहेतवः इत्यर्थः। × × × आस्रवो हि मिथ्यादर्शनादिरूपः परिणामो जीवस्य। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–४)। ११. आस्रवति आगच्छति जायते कर्मत्वपर्यायः पुद्गलानां येन कारणभूतेन आत्मपरिणामेन स परिणामः आस्रवः, अथवा आस्रवणं कर्मतापरिणतिः पुद्गलानामास्रवः। (भ. आ. विजयो. टी. १–३८)। १२. आश्रवति प्रविशति कर्म येन स प्राणातिपातादिरूपः आश्रवः कर्मोपादानकारणम्। (सूत्रकृ. शी. वृ. २, ५, १७ पृ. १२८)। १३. कर्मबन्धहेतुरास्रवः। (औपपा. अभय. वृ. ३४, पृ. ७९)। १४. निरास्रवस्वसंवित्तिविलक्षणशुभाशुभपरिणामेन शुभा-

शुभकर्मागिमनमास्रवः। (वृ. द्रव्यसं. टी. २८)। १५. कायवाङ्मनसां कर्म स्मृतो योगः स आस्रवः। (त. सा. ४–२)। १६. कर्मणामागमद्वारमास्रवं संप्रचक्षते। स कायवाङ्मनःकर्म योगत्वेन व्यवस्थितः॥ (च. च. १८–८२)। १७. यद्वाक्कायमनःकर्म योगोऽसावास्रवः स्मृतः। कर्मास्रवत्यनेनेति × × ×॥ (अमित. श्रा. ३–३८)। १८. मनस्तनुवचःकर्म योग इत्यभिधीयते। स एवास्रव इत्युक्तस्तत्त्वज्ञानविशारदैः॥ (ज्ञानार्णव १, पृ. ४२)। १९. मनोवचन-कायानां यत्स्यात् कर्म स आश्रवः। (योगशा. स्वो. विव. १-१६, पृ.११४); मनोवाक्कायकर्माणि योगाः कर्म शुभाशुभम्। यदाश्रवन्ति जन्तूनामाश्रवास्तेन कीर्तिताः॥ (योगशा. ४–७४); एते योगाः, यस्मात् शुभं सद्वेद्यादि अशुभमसद्वेद्यादि कर्म आश्रवन्ति प्रस्रुवते तेन कारणेन आश्रवा इति कीर्तिताः। आस्रूयते कर्मभिरित्यास्रवः। (योगशा. स्वो. विव. ४–७४)। २०. शरीरवाङ्मनःकर्म योग एवास्रवो मतः। (धर्मश. २१–८४)। २१. आस्रवति कर्म यतः स आस्रवः कायवाङ्मनोव्यापारः। (षड्द. स. टी. ४७, पृ. १३७)। २२. आ समन्तात् स्रवति उपढौकते कर्मानेनास्रवः। (मूला. वृ. ५-६)। २३. मिच्छत्ताऽविरइ-कसाय-जोग्र-हेऊहिं आसवइ कम्मं। जीवम्मि उवहिमज्झे जह सलिलं छिद्दणावाए॥ (वसु. श्रा. ३९)। २४. आत्मनः कर्मास्रवत्यनेनेत्यास्रवः। स एव त्रिविधवर्गणालम्बन एव योगः कर्मागमनकारणत्वात् आस्रवव्यपदेशमर्हति। (त. सुखबो. ६–२)। २५. ज्ञानावृत्याऽऽदियोग्याः सदृगधिकरणा येन भावेन पुंसः शस्ताशस्तेन कर्मप्रकृतिपरिणतिं पुद्गला ह्यास्रवन्ति। आगच्छन्त्यास्रवोऽसावकथि पृथगसद्दृग्मुखस्तत्प्रदोषप्रष्ठो वा विस्तरेणास्रवणमुत मतः कर्मताप्तिः स तेषाम्॥ (अन. ध. २–३६)। २६. आस्रवन्ति आगच्छन्ति ज्ञानावरणादिकर्मभावं तद्योग्या अनन्तप्रदेशिनः समानदेशस्थाः पुद्गला येन मिथ्यादर्शनादिना तत्प्रदोषनिह्नवादिना वा विघ्नकरणं तेन जीवपरिणामेन स आस्रवः। अथवा आस्रवणं आस्रवः पुद्गलानां कर्मत्वपरिणतिः। (भ. आ. मूला. टी. ३८)। २७. आश्रवति आदत्ते जीवः कर्म यैस्ते आश्रवाः हिंसानृतस्तैन्याब्रह्मपरिग्रहलक्षणाः पञ्च। (आव. ह. वृ. मल. हेम. टि. पृ. ८४)। २८. आस्रवः कर्मसम्बन्धः × × ×। (विवेकवि. ८–२५२)। २९. योगद्वारेण कर्मागमनमास्रवः। (आरा. सा. टी. ४)। ३०. आत्मप्रदेशेषु कर्मपरमाणव आगच्छन्ति स आस्रवो मिथ्यात्वाविरति-प्रमाद-कषाय-योगरूपः। (भा. प्रा. टी. ९५)। ३१. शुभाशुभकर्मागमनद्वारलक्षण वास्रव उच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. १–४); आस्रवति आगच्छति आत्मप्रदेशसमीपस्थोऽपि पुद्गलपरमाणुसमूहः कर्मत्वेन परिणमतीत्यास्रवः। (त. वृत्ति श्रुत. ६-२); नूतनकर्मग्रहणकारणम् आस्रव उच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ९–१)। ३२. कर्मपुद्गलादानमास्रवः। (अध्यात्मसार १८–१३१)।

१ काय, वचन और मन की क्रियारूप योग को आस्रव कहते हैं।

आस्रवनिरोध— कर्मागमनिमित्ताऽप्रादुर्भूतिरास्रवनिरोधः। तस्य × × × कायवाङ्मनःप्रयोगस्य स्वात्मलाभहेत्वसन्निधानात् अप्रादुर्भूतिः आस्रवनिरोधः इत्युच्यते। (त. वा. ९, १, १)।

कर्मागम के निमित्तभूत काय, वचन व मन के प्रयोग का अप्रादुर्भाव होना, इसे आस्रवनिरोध कहते हैं।

आस्रवभावना—देखो आस्रवानुप्रेक्षा। संसारमध्यस्थितसमस्तजीवानां मिथ्यात्व-कषायाविरति-प्रमादार्त-रौद्रध्यानादिहेतुभिर्निरन्तरं कर्माणि बध्यमानानि सन्ति, इत्यादिचिन्तनमास्रवभावना। (सम्बोधस. वृ. १६, पृ. १८)।

समस्त संसारी जीवों के मिथ्यात्व, कषाय, अविरति, प्रमाद एवं आर्त-रौद्र ध्यान आदि कारणों से निरन्तर कर्म बंधा करते हैं; इत्यादि विचार करना, यह आस्रवभावना है।

आस्रवानुप्रेक्षा–देखो आस्रवभावना। १. आस्रवा इहामुत्रापाययुक्ता महानदीस्रोतोवेगतीक्ष्णा इन्द्रिय-कषायाव्रतादयः। तत्रेन्द्रियाणि तावत् स्पर्शनादीनि वनगज-वायस-पन्नग-पतङ्ग-हरिणादीन् व्यसनार्णवमवगाहयन्ति तथा कषायादयोऽपीह वध-बन्धापयशःपरिक्लेशादीन् जनयन्ति, अमुत्र च नानागतिषु बहुविधदुःखप्रज्वालितासु परिभ्रमयन्तीत्येवमास्रवदोषानुचिन्तनमास्रवानुप्रेक्षा। (स. सि. ९–७)। २. आस्रवा हि इहामुत्र चापायप्रसक्ता महानदीस्रोतोवेगतीक्ष्णा इन्द्रियादयः। तद्यथा—प्रभूतयवसोदकप्रमाथावगाहनादिगुणसम्पन्नवनविचारिणः मदान्धा

बलवन्तोऽपि वारणाः × × × । (त. वा. ६, ७, ७) । ३. आस्रवानुप्रेक्षास्वभावप्रकाशनायाह—आस्रवान् इहामुत्रापाययुक्तान् महानदीस्रोतोवेगतीक्ष्णान् अकुशलागम-कुशलनिर्गमद्वारभूतान् इन्द्रियादीन् अवद्यतश्चिन्तयेत् । (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–७) । ४. मणवयणकायजोया जीवपएसाण फंदणविशेषा । मोहोदएण जुत्ता विजुदा वि य आसवा होंति ॥ मोहविवागवसादो जे परिणामा हवंति जीवस्स । ते आसवा मुणिज्जसु मिच्छत्ताई अणेयविहा ॥ (कार्तिके. ८८–८९) ।

१ महानदी के प्रवल प्रवाह के समान इन्द्रिय, कषाय और अविरति आदि आस्रव हैं जो इस लोक व परलोक दोनों ही लोकों में दुःखदायक हैं; इस प्रकार आस्रवजन्य दोषों के चिन्तन को आस्रवानुप्रेक्षा कहते हैं ।

आहरण— साध्य-साधनान्वय-व्यतिरेकप्रदर्शनमाहरणम्, दृष्टान्त इति भावः । (आव. नि. मलय. वृ. ८६, पृ. १०१) ।

साध्य और साधन के अन्वय-व्यतिरेक के दिखलाने को आहरण (दृष्टान्त) कहते हैं ।

आहार—१. त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलग्रहणम् आहारः । (स. सि. २–३०; श्लो. वा. २–३०; त. वृत्ति श्रुत. २–३०) । २. त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलग्रहणमाहारः । तैजस-कार्मणशरीरे हि आसंसारान्तान्नित्यमुपचीयमानस्वयोग्यपुद्गले, अतः शेषाणां त्रयाणां शरीराणामौदारिक-वैक्रियिकाहारकाणामाहाराद्यभिलापकारणानां पण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलग्रहणामाहार इत्युच्यते । (त. वा. २, ३०, ४) । ३. आहरति आत्मसात् करोति सूक्ष्मानर्थाननेति आहारः । (धव. पु. १, पृ. २९२); शरीरप्रायोग्यपुद्गलपिण्डग्रहणमाहारः । (धव. पु. ७, पृ. ७; मूला. वृ. १२–१५६); सरीरपाओग्गपोग्गलक्खंधग्गहणमाहारो । (धव. पु. १४, पृ. २२६) । ४. औदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरपरिपोषकः पुद्गलोपादानमाहार इति । (षड्शी. मलय. वृ. ३३, पृ. १६३) । ५. णोकम्म-कम्महारो कवलाहारो य लेप्प आहारो । उज्ज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो ॥ (भावसं. दे. ११०; प्र. क. मा. २–१२; पृ. ३०० उद्.) । ६. निर्विकारपरमाह्लादकारिसहजस्वभावसमुद्भवसर्वकालसन्तर्पणहेतुभूतस्वसंवेदनज्ञानानन्दामृतरसप्राग्भारनिर्भरपरमाहारविलक्षणो निजोपार्जितासद्वेदनीयकर्मोदयेन तीव्रबुभुक्षावशाद् व्यवहारनयाधीनेनात्मना यदशन-पानादिकमाद्रियते तदाहारः । (आरा. सा. टी. २६) ।

१ औदारिकादि तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों के ग्रहण करने को आहार कहते हैं । ३ जिसके आश्रयसे साधु सूक्ष्म तत्त्वों का आहरण या उन्हें आत्मसात् करता है—तद्विषयक शंका से रहित होता है—उसे आहार (शरीर) कहा जाता है ।

आहारक (शरीर)—१. शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव [शुभं विशुद्धमव्याघाति चाहारकं चतुर्दशपूर्वधर एव—भाष्यसम्मतपाठ] । (त. सू. २–४९) । २. सूक्ष्मपदार्थनिर्ज्ञानार्थमसंयमपरिजिहीर्षया वा प्रमत्तसंयतेनाह्रियते निर्वर्त्यते तदित्याहारकम् । (स. सि. २–३६) । ३. आह्रियते तदित्याहारकम् । सूक्ष्मपदार्थनिर्ज्ञानार्थमसंयमपरिजिहीर्षया वा प्रमत्तसंयतेनाह्रियते निर्वर्त्यते तदित्याहारकम् । (त. वा. २, ३६, ७); तद्यथा—कदाचिल्लब्धिविशेषसद्भावज्ञापनार्थम्, कदाचित् सूक्ष्मपदार्थनिर्धारणार्थम्, संयमपरिपालनार्थं च भरतैरावतेषु केवलिविरहे जातसंशयस्तन्निर्णयार्थं महाविदेहेषु केवलिसकाशं जिगमिषुरौदारिकेण मे महानसंयमो भवतीति विद्वानाहारकं निर्वर्तयति । (त. वा. २, ४९, ४); दुरधिगमसूक्ष्मपदार्थतत्त्वनिर्णयलक्षणमाहारकम् । (त. वा. २, ४९, ८) । ४. प्रयोजनार्थिना आह्रियते इत्याहारकम् । (आव. नि. हरि. वृ. १४३४, पृ. ७६७) । ५. आह्रियत इत्याहारकम्, गृह्यत इत्यर्थः, कार्यसमाप्तेश्च पुनर्मुच्यते याचितोपकरणवत् । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ८७) । ६. शुभं मनःप्रीतिकरं विशुद्धं संक्लेशरहितम् अव्याघाति सर्वतो व्याघातरहितं × × × आहारकं शरीरम् × × × । (त. श्लो. २–४९) । ७. कार्यार्थिभिश्चतुर्दशपूर्वधरैराह्रियते इत्याहारकम् । (पंचसं. स्वो. वृ. १–४) । ८. शुभतरशुक्लविशुद्धद्रव्यवर्गणाप्रारब्धं प्रतिविशिष्टप्रयोजनाय आह्रियतेऽन्तर्मुहूर्तस्थिति आहारकम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. २, ३७) । ९. आहारस्सुदएण य पमत्तविरदस्स होदि आहारं । असंजमपरिहरणट्ठं संदेहविणासणट्ठं च ॥ णियखेत्ते केवलिदुगविरहे णिक्कमणपहुदिकल्लाणे ।

परखेत्ते संवित्ते जिण-जिणघरवंदणट्ठं च ।। उत्तम-अंगम्हि हवे धादुविहीणं सुहं असंहणणं । सुहसंठाणं धवलं हत्थपमाणं पसत्थुदयं ।। अव्वाघादी अंतोमुहूत्तकालट्ठिदी जहण्णिदरे । पज्जत्तीसंपुण्णे मरणं पि कदाचि संभवइ ।। (गो. जी. २३४-३७) । १०. आहारकाः—विशिष्टतरपुद्गलाः, तन्निष्पन्नमाहारकम्, अयं (आहारककाययोगः) च चतुर्दशपूर्वधरस्य समुत्पन्नविशिष्टप्रयोजनस्य कृताहारकशरीरस्य भवतीति । (औपपा. अभय. वृ. ४२, पृ. १११) । ११. अर्थानाहरते सूक्ष्मान् गत्वा केवलिनोऽन्तिकम् । संशये सति लब्धर्द्धेरसंयमजिहासया ।। यः प्रमत्तस्य मूर्घोत्थो धवलो धातुवर्जितः । अन्तर्मुहूर्तस्थितिकः सर्वव्याघातविच्युतः ।। पवित्रोत्तमसंस्थानो हस्तमात्रोऽनघद्युतिः । आहारकः स वोद्धव्यो × × ×।। (पंचसं. अमित. १, १७५–७७, पृ. २४)। १२. चतुर्दशपूर्वविदा तीर्थकरस्फातिदर्शनादिकतथाविधप्रयोजनोत्पत्तौ सत्यां विशिष्टलब्धिवशादाह्रियते निर्वर्त्यते इत्याहारकम् । × × × उक्तं च—कज्जंमि समुप्पण्णे सुयकेवलिणा विसिट्ठलद्धीए । जं एत्थ आहरिज्जइ भणियं आहारयं तं तु ।। कार्यं चेदम्—पाणिदय-रिद्धिदंसण सुहुमपयत्थावगहणहेउं वा । संसयवोच्छेयत्थं गमणं जिणपायमूलंमि ।। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २१–२६७, पृ. ४०६) । १३. चतुर्दशपूर्वविदा तीर्थकरस्फातिदर्शनादिकतथाविधप्रयोजनोत्पत्तौ सत्यां विशिष्टलब्धिवशादाह्रियते निर्वर्त्यते इत्याहारकम् । (सप्ततिका च. मलय. वृ. ५, पृ. १५०; षष्ठ कर्म. दे. स्वो. वृ. ६, पृ. १२३) । १४. चतुर्दशपूर्वविदा तथाविधकार्योत्पत्तौ विशिष्टलब्धिवशादाह्रियते निर्वर्त्यते इत्याहारकम् । अथवा आह्रियन्ते गृह्यन्ते तीर्थकरादिसमीपे सूक्ष्मा जीवावयः पदार्था अनेन इत्याहारकम् । (शतक मल. हेम. वृ. २–३, पृ. ५; षडशीति हरि. व्या. ३४) । १५. आकाशस्फटिकस्वच्छं श्रुतकेवलिना कृतम् । अनुत्तरामरेभ्योऽपि कान्तमाहारकं भवेत् ।। (लोकप्र. ३–९६) ।

२ सूक्ष्म पदार्थो के निर्धारण के लिए अथवा असंयम के परिहार की इच्छा से प्रमत्तसंयत के द्वारा जो शरीर रचा जाता है वह आहारक कहलाता है ।

आहारक (जीव)—१. आहरदि सरीराणं तिण्हं एयदरवग्गणाओ य । भासा-मणस्स णियदं तम्हा आहारओ भणियो । (प्रा. पंचसं. १–१७६; धव. पु. १, पृ. १५२ उ., गो. जी. ६६४) । २. शेषा उक्तविलक्षणा आहारका जीवाः ओज-लोम-प्रक्षेपाहाराणां यथासम्भवं येन केनचिदाहारेण । (श्रा. प्र. टी. ६८) । ३. उदयावण्णसरीरोदएण तद्देह-वयण-चित्ताणं । णोकम्मवग्गणाणं गहणं आहारयं णाम ।। (गो. जी. ६६३) । ४. गृह्णाति देहपर्याप्तियोग्यान् यः खलु पुद्गलान् । आहारकः स विज्ञेयः × × ×।। (त. सा. २–९४) । ५. षट् चाहार-शरीरेन्द्रियान-प्राण-भाषा मनःसंज्ञिकाः पर्याप्तीः यथासम्भवमाहरतीत्याहारकः । (त. सुखबो. २–३०) । ६. आहारयति ओज-लोम-प्रक्षेपाहाराणामन्यतममाहारमित्याहारकः । (षडशीति मलय. वृ. १२, पृ. १३४; पंचसं. मलय. वृ. ८, पृ. १४; षडशीति दे. स्वो. वृ. १–१४) । ७. आहारकः आहारकशरीरलब्धिमान् । (व्यव. भा. मलय. वृ. १०–६९६, पृ. ९१) ।

१ जो औदारिकादि तीन शरीरवर्गणाओं में से किसी एक वर्गणा को तथा भाषावर्गणा और मनोवर्गणाको नियमसे ग्रहण करता है वह आहारक कहलाता है । २ ओज, लोम और प्रक्षेप आहार में से किसी एक प्रकार के आहार के ग्रहण करने वाले जीव को आहारक कहते हैं । ७. आहारक शरीरलब्धि से संयुक्त जीव को आहारक कहते हैं ।

आहारक-आहारकबन्धन—देखो आहारकाहारकबन्धन । यथाऽऽहारकपुद्गलानामाहारकपुद्गलैरेवाहारकाहारकबन्धनम् × × × (कर्मवि. ग. पू. व्या. १०४) ।

आहारकशरीरपुद्गलों का अन्य आहारकशरीरपुद्गलों के साथ बन्धन कराने वाले कर्म को आहारक-आहारक बन्धन नामकर्म कहा जाता है ।

आहारक-कार्मणबन्धन—१. आहारग-कम्मबंधणं तह य । (कर्मवि. ग. १०४, पृ. ४३)। २. × × × तथाऽऽहारक-कार्मणबन्धनं च तृतीयम् । (कर्मवि. ग. पू. व्या. १०४, पृ. ४३) । ३. तेषामेवाहारकपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च कार्मणपुद्गलैर्गृह्यमाणैः पूर्वगृहीतैश्च सह सम्बन्ध आहारक-कार्मणबन्धनम् । (पंचसं. मलय. वृ. ३–११, पृ. १२१; कर्मप्र. यशो. टी. १, पृ. ७) ।

जो नामकर्म आहारक और कार्मण पुद्गलों को लाख के समान परस्पर में सम्बन्ध के योग्य करता है उसे आहारक-कार्मणबन्धन नामकर्म कहते हैं ।

आहारक-तैजस-कार्मणबन्धन—आहारक-तैजस-कार्मणबन्धननामाप्येवमेव (आहारकपुद्गलानामाहारक-तैजस-कार्मणपुद्गलैरेव बन्धनम् आहारक-तैजस-कार्मणबन्धनम्)। (कर्मवि. पू. व्या. १०४, पृ. ४३)।

जो कर्म आहारक, तैजस और कार्मण पुद्गलों को परस्पर सम्बन्ध के योग्य करता है उसे आहारक-तैजस-कार्मणबन्धन नामकर्म कहते हैं।

आहारक-तैजसबन्धन—१. यथाऽऽहारकपुद्गलानामाहारकपुद्गलैरेवाहारकाहारकबन्धनं तथाऽऽहारक-तैजसपुद्गलैरेवाहारक-तैजसबन्धनं द्रष्टव्यं द्वितीयम्। (कर्मवि. पू. व्या. १०४)। २. तेषामेवाहारकपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च तैजसपुद्गलैर्गृह्यमाणैः पूर्वगृहीतैश्च सह सम्बन्धः आहारक-तैजसबन्धनम्। (पंचसं. मलय. वृ. ३-११, पृ. १२१; कर्मप्र. यशो. टी. १, पृ. ७)।

जो कर्म आहारक और तैजस पुद्गलों को परस्पर में लाख के समान सम्बन्ध के योग्य करता है उसे आहारक-तैजसबन्धन नामकर्म कहते हैं।

आहारकद्रव्यवर्गणा—देखो आहारद्रव्यवर्गणा। आहारगदव्ववग्गणा णाम ओरालिय-वेउव्विय-आहारगाणं तिण्हं सरीराणं गहणं पवत्तति। (कर्मप्र. चू. १-१८, पृ. ४०)।

जिस वर्गणा के पुद्गलस्कन्धों को ग्रहण कर औदारिकादि तीन शरीरों की उत्पत्ति प्रवर्तित होती है उसे आहारकद्रव्यवर्गणा कहते हैं।

आहारकबन्धन—१. तेसिं जं संबंधं अवरोप्पर पुग्गलाणमिह कुणइ। तं जउसरिसं जाणसु आहारगबंधणं पढमं॥ (कर्मवि. ग. १०३, पृ. ४३)। २. यदुदयादाहारकशरीरपुद्गलानां गृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परं तैजस-कार्मणपुद्गलैश्च सह सम्बन्धस्तदाहारकबन्धनम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २२, २१३, पृ. ४७०)।

१ जो कर्म बद्ध और बध्यमान आहारक शरीर के योग्य पुद्गलों को लाख के समान परस्पर में सम्बन्ध के योग्य करता है उसे आहारकबन्धन नामकर्म कहते हैं। २ जिस कर्मके उदय से गृहीत और गृह्यमाण आहारक शरीर के पुद्गलोंका परस्पर में तथा तैजस और कार्मण शरीर के पुद्गलों के साथ भी सम्बन्ध हो उसे आहारकबन्धन कहते हैं।

आहारक योग—आहरदि-अणेण मुणी सुहुमे अत्थे सयस्स संदेहे। गत्ता केवलिपासं तम्हा आहारगो जोगो। (धव. पु. १, पृ. २९४ उ.; गो. जी. २३८)।

जिसके द्वारा मुनि सूक्ष्म तत्त्व के विषय में सन्देह होने पर केवली के पास जाकर उसका निर्णय करते हैं उसे आहारक योग कहते हैं।

आहारकवर्गणा—तदनन्तरं (वैक्रियवर्गणानन्तरं) द्रव्यतो वृद्धानां परिणामं त्वाश्रित्य सूक्ष्मतराणामेकोत्तरवृद्धिमतामेव स्कन्धानां समुदायरूपा आहारकशरीरनिष्पत्तिहेतुभूता अनन्ता आहारकवर्गणाः। (शतक. मल. हेम. वृ. ८७–८८, पृ. १०४)।

वैक्रियिकवर्गणा के अनन्तर द्रव्य की अपेक्षा वृद्धि को प्राप्त, परन्तु परिणाम के आश्रय से अत्यन्त सूक्ष्म, एकोत्तर वृद्धियुक्त स्कन्धों के समुदाय रूप होकर आहारकशरीर की निष्पत्ति की कारणभूत अनन्त वर्गणायें आहारकवर्गणा कहलाती हैं।

आहारकशरीरनाम—यदुदयादाहारवर्गणापुद्गलस्कन्धाः सर्वशुभावयवाहारशरीरस्वरूपेण परिणमन्ति तदाहारकशरीरं नामकर्म। (मूला. वृ. १२–१९३)।

जिस कर्म के उदय से आहारवर्गणा के पुद्गल स्कन्ध समस्त शुभ अवयवों वाले आहारकशरीररूप से परिणत होते हैं उसे आहारकशरीर नामकर्म कहते हैं।

आहारकशरीरबन्धननाम—देखो आहारक-आहारकबन्धन और आहारकबन्धन। पूर्वगृहीतैराहारकशरीरपुद्गलैः सह परस्परं गृह्यमाणान् आहारकपुद्गलान् उदितेन येन कर्मणा बध्नाति आत्माऽन्योऽन्यसंयुक्तान् करोति तद् जतुसममाहारकशरीरबन्धननाम। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ३४, पृ. ४६)।

जिस कर्म के उदय से पूर्वगृहीत आहारकशरीर के पुद्गलों के साथ वर्तमान में गृह्यमाण आहारकशरीर के पुद्गल परस्पर में मिलकर एकरूपता को प्राप्त हों उसे आहारकशरीरबन्धन नामकर्म कहते हैं।

आहारकशरीराङ्गोपाङ्ग—देखो आहारकाङ्गोपाङ्ग। जस्स कम्मस्स उदएण आहारसरीरस्स अङ्गोवङ्ग-पच्चंगाणि उप्पज्जंति तं आहारयसरीरंगोवंगं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ७३)।

जिस कर्म के उदय से आहारक शरीर के अंग, उपांग

और प्रत्यंग उत्पन्न होते हैं उसे आहारकशरीरांगोपांग नामकर्म कहते हैं।

आहारकसमुद्घात—१. अथोक्तविधिना अल्पसावद्य-सूक्ष्मार्थग्रहणप्रयोजनाहारकशरीरनिर्वृत्त्यर्थं आहारकसमुद्घातः। (त. वा. १, २०, १२, पृ. ७७)। २. आहारके प्रारभ्यमाणे समुद्घात आहारकसमुद्घातः। स च आहारकशरीरनामकर्माश्रयः। (जीवाजी. मलय. वृ. १-१३, पृ. १७; पंचसं. मलय. वृ. २-१७, पृ. ६४)।

१ अल्प पाप और सूक्ष्म तत्त्वों के अवधारण रूप प्रयोजन को सिद्ध करने वाले आहारक शरीर की रचना के लिए जो समुद्घात (आत्मप्रदेशवहिर्गमन) होता है उसे आहारकसमुद्घात कहते हैं।

आहारकसंघातननाम—यदुदयात् आहारकशरीरत्वपरिणतान् पुद्गलानात्मा सङ्घातयति अन्योऽन्यसन्निधानेन व्यवस्थापयति तद् आहारकसंघातननाम। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ३५, पृ. ४७)।

जिस कर्म के उदय से आहारक शरीररूप से परिणत हुए पुद्गल परमाणुओं को आत्मा संघातित करता है —परस्पर के संनिधान (समीपता) से व्यवस्थापित करता है—उसे आहारकसंघातन नामकर्म कहते हैं।

आहारकाङ्गोपाङ्गनाम—देखो आहारशरीरांगोपांग। यदुदयाद् आहारकशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामाङ्गोपाङ्गविभागपरिणतिरुपजायते तद् आहारकाङ्गोपाङ्गनाम। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ३३, पृ. ४६)।

जिस कर्म के उदय से आहारकशरीररूप से परिणत हुए पुद्गल परमाणुओं का अंग-उपांग के विभाग से परिणमन होता है उसे आहारकाङ्गोपाङ्ग नामकर्म कहते हैं।

आहारकाययोग— आहरति आत्मसात् करोति सूक्ष्मानर्थाननेनेति आहारः। तेन आहारकायेन योगः आहारकाययोगः। (धव. पु. १, पृ. २६२)।

सूक्ष्म पदार्थोंको आत्मसात् करने वाले आहारकाय से जो योग होता है उसे आहारकाययोग कहते हैं।

आहारकार्मणशरीरबन्ध—आहार-कम्मइयशरीरबंधो (आहार-कम्मइयसरीरक्खंधाणं एक्कम्हि जीवे णिविट्ठाणं जो अण्णोण्णेण बंधो सो आहार-कम्मइयसरीरबंधो णाम—देखो सू. ४८ की धवला)। (षट्खं. ५, ६, ५५—पु. १४, पृ. ४३)।

आहारक और कार्मण शरीर सम्बन्धी पुद्गलस्कन्धों का जो एक जीवमें परस्पर बन्ध होता है उसे आहारकार्मणशरीरबन्ध कहते हैं।

आहारकाहारकबन्धन—देखो आहारक-आहारकबन्धन। पूर्वगृहीतानामाहारकपुद्गलानां स्वैरेवाहारकपुद्गलैर्गृह्यमाणैः सह यः सम्बन्धः स आहारकाहारकबन्धनम्। (पंचसं. मलय. वृ. ३-११, पृ. १२१; कर्मप्र. यशो. टी. १, पृ. ७)।

पूर्वगृहीत आहारकपुद्गलों का गृह्यमाण आहारकपुद्गलों के साथ सम्बन्ध होने को आहारकाहारकबन्धन कहते हैं।

आहार-तैजस-कार्मणशरीरबन्ध—आहार-तेया-कम्मइयसरीरबंधो (आहार-तेया-कम्मइयसरीरक्खंधाणं एक्कम्हि जीवे णिविट्ठाणं जो अण्णोण्णेण बंधो सो आहार-तेया-कम्मइयसरीरबंधो णाम)। षट्खं. ५, ६, ५६—पु. १४, पृ. ४४)।

आहारक, तैजस और कार्मण शरीरों सम्बन्धी पुद्गलस्कन्धों का जो एक जीव में परस्पर बन्ध होता है उसे आहार-तैजस-कार्मणशरीरबन्ध कहते हैं।

आहार-तैजसशरीरबन्ध—आहारतेयासरीरबंधो (आहार-तेयासरीरक्खंधाणं एकम्हि जीवे णिविट्ठाणं जो अण्णोण्णेण बंधो सो आहार-तेयासरीरबंधो णाम)। (षट्खं. ५, ६, ५४—पु. १४, पृ. ४३)।

आहारक और तैजस शरीरों के पुद्गलस्कन्धों का एक जीव में जो परस्पर बन्ध होता है उसे आहार-तैजस-शरीरबन्ध कहते हैं।

आहारद्रव्यवर्गणा—१. आहारदव्ववग्गणा णाम का॥ आहारदव्ववग्गणं तिण्णं सरीराणं गहणं पवत्तदि॥ ओरालिय-वेउव्विय- आहारसरीराणं जाणि दव्वाणि घेत्तूण ओरालिय-वेउव्विय-आहारसरीरत्ताए परिणामेदूण परिणमंति जीवा ताणि दव्वाणि आहारदव्ववग्गणा णाम। (षट्खं. ५, ६, ७२८-३०—पु. १४, पृ. ५४६)। २. जिस्से परमाणुपोग्गलक्खंधे घेत्तूण तिण्णं सरीराणं गहणं णिप्पत्ती पवत्तदि होदि सा आहारदव्ववग्गणा णाम। (धव. पु. १४, पृ. ५४६); जाणि ओरालिय-वेउव्विय-आहारसरीराणं पाओग्गाणि दव्वाणि ताणि घेत्तूण पाविऊण ओरालिय-वेउव्विय-आहारसरीरत्ताए ओरालिय-वेउव्विय-आहारसरीराणं सरूवेण ताणि परिणामेदूण परिणमाविय जेहि सह परिणमंति बंधं

गच्छंति जीवा ताणि दव्वाणि आहारदव्ववग्गणा णाम। (धव. पु. १४, प. ५४७)।

जिसके आश्रय से औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीनों शरीरों की निष्पत्ति होती है उसे आहार-द्रव्यवर्गणा कहते हैं।

आहारपर्याप्ति—१. आहारपज्जत्ती णाम खल-रसपरिणामसत्ती। (नन्दी. चू. पृ. १५)। २. शरीरेन्द्रिय-वाङ्-मनःप्राणाऽपानयोग्यदलिकद्रव्याऽऽहरण-क्रियापरिसमाप्तिः आहारपर्याप्तिः। (त. भा. ८, १२; नन्दी. हरि. वृ. पृ. ४३-४४)। ३. आहारग्रहण-समर्थकरणनिष्पत्तिराहारपर्याप्तिः। × × × शरीरस्येन्द्रियाणां वाचो मनसः प्राणापानयोश्चागमप्रसिद्धवर्गणाक्रमेण यानि योग्यानि दलिकद्रव्याणि तेषाम् आहरणक्रिया ग्रहणम्—आदानम्, तस्याः परिसमाप्तिराहारपर्याप्तिः करणविशेषः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८-१२)। ४. तत्राहारपर्याप्तेरर्थ उच्यते—शरीरनामकर्मोदयात् पुद्गलविपाकिनः आहारवर्गणागतपुद्गलस्कन्धाः समवेतानन्तपरमाणु-निष्पादिता आत्मावष्टब्धक्षेत्रस्थाः कर्मस्कन्धसम्बन्धतो मूर्तिभूतमात्मानं समवेतत्वेन समाश्रयन्ति; तेषामुपगतानां पुद्गलस्कन्धानां खल-रसपर्यायैः परिणमनशक्तेर्निमित्तानामाप्तिराहारपर्याप्तिः (खल-रसपर्यायैः परिणमनशक्तिराहारपर्याप्तिः—मूला. वृ.)। (धव. पु. १, पृ. २५४; मूला. वृ. १२, १६५)। ५. आहारपर्याप्तिर्नाम खल-रसपरिणमन-शक्तिः। (स्थाना. अभय. वृ. २, १, ७३, पृ. ५०)। ६. आहारग्रहणसमर्थकरणपरिनिष्पत्तिः आहारपर्याप्तिः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-१२)। ७. यया शक्त्या करणभूतया जन्तुराहारमादाय खल-रसरूपतया परिणमयति सा आहारपर्याप्तिः। (प्रव. सारो. वृ. १३१७; विचारस. वि. व्या. ४२, पृ. ६; बृहत्क. वृ. ११११२; संग्रहणी दे. वृ. २६८)। ८. यया बाह्यमाहारमादाय खल-रसरूपतया परिणमयति सा आहारपर्याप्तिः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १-१२, पृ. २५; नन्दी. मलय. वृ. १३, पृ. १०५; षडशीति मलय. वृ. ३, पृ. १२४; पंचसं. मलय. वृ. १-५, पृ. ८; जीवाजी. मलय. वृ. १-१२, पृ. १०; षष्ठ कर्म. मलय. वृ. ५, पृ. १५३; शतक. मल. हेम. वृ. ३७, ३८, पृ. ५०; कर्मस्तव गो. वृ. ६-१०, पृ. १६; कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ६; षडशीति दे. स्वो. वृ. २, पृ. ११७; षष्ठ कर्म. दे. स्वो. वृ. ६, पृ. १२६)। ९. आहारवर्गणाभ्य आगतसमयप्रबद्धपुद्गलस्कन्धान् खल-रसभागेन परिणमयितुं पर्याप्तिनामकर्मोदयसहिताहारवर्गणावष्टम्भजनिता आत्मनः शक्तिनिष्पत्तिः आहारपर्याप्तिः। (गो. जी. म. प्र. टी. ११९)। १०. औदारिक-वैक्रियिकाहारक-शरीरनामकर्मोदय-प्रथमसमयमादिं कृत्वा तच्छरीरत्रय-षट्पर्याप्तिपर्याय-परिणमनयोग्यपुद्गलस्कन्धान् खल-रसभागेन परिणमयितुं पर्याप्तिनामकर्मोदयावष्टम्भसम्भूतात्मनः शक्तिनिष्पत्तिः आहारपर्याप्तिः। (गो. जी. जी. प्र. टी. ११९; कार्तिके. टी. १३४)। ११. तत्रैषाऽऽहार-पर्याप्तिर्यथाऽऽदाय निजोचितम्। पृथक् खल-रसत्वेनाऽऽहारं परिणतिं नयेत्॥ (लोकप्र. ३-१७)।

१ आहारवर्गणा के परमाणुओं को खल और रस भागरूप से परिणमन कराने की शक्ति को आहार-पर्याप्ति कहते हैं।

आहारपोषध—तत्राहारपोषधो देशतो विवक्षित-विकृतेरविकृते राचाम्लस्य वा सकृदेव द्विरेव वा भोजनम्। (योगशा. स्वो. विव. ३-८५, पृ. ५११)।

विवक्षित विकृति—विकारजनक घी-दूध आदि, अविकृति—कामादि विकार को न उत्पन्न करने वाला सादा भोजन—अथवा आचाम्ल (संस्कार-रहित कांजी व भात आदि) का एक-दो बार भोजन करना; यह देशतः आहारपोषधव्रत कहलाता है।

आहारमिश्रकाययोग — आहार-कार्मणस्कन्धतः समुत्पन्नवीर्येण योगः आहारमिश्रकाययोगः। (धव. पु. १, पृ. २९३)।

आहारकशरीर और कार्मणशरीर के स्कन्धों से उत्पन्न हुए वीर्य के द्वारा जो योग होता है उसे आहारमिश्रकाययोग कहते हैं।

आहारशरीर—अंतोमुहुत्तसंचिदपदेसकलाओ आहारसरीरं णाम। (धव. पु. १४, पृ. ७८)।

अन्तर्मुहूर्त काल में संचित नोकर्मप्रदेशों के समूह का नाम आहारशरीर है।

आहारशरीरनाम—जस्स कम्मस्स उदएण आहार-वग्गणाए खंधा आहारसरीररूवेण परिणमंति तस्स आहारसरीरमिदि सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ६९)।

जिस कर्म के उदय से आहारवर्गणा के स्कन्ध आहारशरीर के रूप में परिणत होते हैं उसे आहार-शरीरनामकर्म कहते हैं।

आहारशरीरबन्धननाम—देखो आहारकशरीरबन्धन नामकर्म। जस्स कम्मस्स उदएण आहारसरीरपरमाणू अण्णोण्णेण बंधमागच्छंति तमाहारसरीरबंधणणाम। (धव. पु. ६, पृ. ७०)।

जिस कर्म के उदय से आहारशरीर के परमाणु परस्पर में बन्ध को प्राप्त होते हैं उसे आहारशरीरबन्धन नामकर्म कहते हैं।

आहारशरीरसंघातनाम—देखो आहारकशरीरसंघातनाम। जस्स कम्मस्स उदएण आहारसरीरक्खंधाणं सरीरभावमुवगदाणं बंधणणामकम्मोदएण एगबंधणबद्धाण मट्ठत्तं होदि तमाहारसरीरबंधणणाम। (धव. पु. ६, पृ. ७०)।

जिस कर्म के उदय से शरीर अवस्था को प्राप्त आहारशरीर के स्कन्ध बन्धन नामकर्म के उदय से एक बन्धनबद्ध होकर छिद्ररहित अवस्था को प्राप्त होते हैं उसे आहारशरीरसंघात नामकर्म कहते हैं।

आहारसमुद्घात — देखो आहारकसमुद्घात। १. आहारसमुग्घादो णाम पत्तिड्ढीणं महारिसीणं होदि। तं च हत्थुस्सेधं हंसधवलं सव्वंगसुंदरं खणमेत्तेण अणेयजोयणलक्खगमणक्खमं अप्पडिहयगमणं उत्तमंगसंभवं आणाकणिट्ठदाए असंजमबहुलदाए च लद्धप्पसरूवं। (धव. पु. ४, पृ. २८); आहारसमुग्घादो णाम हत्थपमाणेण सव्वंगसुंदरेण समचउरस्ससंठाणेण हंसधवलेण रस-रुधिर-मंस-मेदट्ठि-मज्ज-सुक्कसत्तधाउअवज्जिएण विसग्गि-सत्थादिसयलबाहामुक्केण वज्जसिलाथंभ-जल-पव्वयगमणदच्छेण सीसादो उग्गएण देहेण तित्थयरपादमूलगमणं। (धव. पु. ७, पृ. ३००)। २. समुत्पन्नपद-पदार्थभ्रान्तेः परमर्द्धिसम्पन्नस्य महर्षेर्मूलशरीरमत्यज्य शुद्धस्फटिकाकृतिरेकहस्तप्रमाणः पुरुषो मस्तकमध्यान्निर्गत्य यत्र-कुत्रचिदन्तर्मुहूर्तमध्ये केवलज्ञानिनं पश्यति तद्दर्शनाच्च स्वाश्रयस्य मुनेः पद-पदार्थनिश्चयं समुत्पाद्य पुनः स्वस्थाने प्रविशति असौ आहारसमुद्घातः॥ (बृ. द्रव्यसं. टी. ११; कार्तिके. टी. १७६)।

१ प्रमाण में एक हाथका, सर्वांगसुन्दर, समचतुरस्रसंस्थान से सहित, हंसके समान धवल, रस-रुधिरादि सात धातुओं से रहित, समस्त बाधाओंसे विनिर्मुक्त, पर्वत एवं जल आदि के भीतर गमन में समर्थ और मस्तक से उत्पन्न हुए ऐसे शुभ शरीर के द्वारा तीर्थंकर के पादमूल में जाना; इसे आहारसमुद्घात कहते हैं।

आहारसंज्ञा—१. आहारदंसणेण य तस्सुवजोगेण ऊणकुट्ठाए। सादिदरुदीरणाए हवदि हु आहारसण्णा दु॥ (प्रा. पंचसं. १–५२; गो. जी. १३४)। २. आहारसंज्ञा आहाराभिलाषः क्षुद्वेदनीयोदयप्रभवः खल्वात्मपरिणाम इत्यर्थः। (आव. हरि. वृ. पृ. ५८०; जीवाजी. वृ. १-१३, पृ. १५)। ३. असद्वेदनीयोदयादोज-लोम - प्रक्षेपभेदेनाहाराभिलापपूर्वकं विशिष्टपुद्गलग्रहणमाहारसंज्ञा, संज्ञा नाम विज्ञानं तद्विषयमाहारमभ्यवहरामीति। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. २–२५)। ४. आहारे या तृष्णा काङ्क्षा सा आहारसंज्ञा। (धव. पु. २, पृ. ४१४)। ५. आहाराभिलाप आहारसंज्ञा, सा च तैजसशरीरनामकर्मोदयादसातोदयाच्च भवति। (आचारा. नि. शी. वृ. १, १, १, ३६, पृ. ११)। ६. तत्राहारसंज्ञा आहाराभिलाषः। (स्थाना. अभय. वृ. ४–४, ३५५, पृ. २६३)। ७. तत्राहारसंज्ञा क्षुद्वेदनीयोदयादाहाराभिलाषः। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३-२७, पृ. ८०)। ८. आहारे विशिष्टान्नादौ संज्ञा वाञ्छा आहारसंज्ञा। (गो. जी. जी. प्र. टी. १३५)। ९. आहारे योऽभिलाषः स्याज्जन्तोः क्षुद्वेदनीयतः। ह्याहारसंज्ञा सा ज्ञेया × × ×। (लोकप्रकाश ३–४४४)।

१ आहार के देखने से, उसकी ओर उपयोग जाने से तथा पेट के खाली होने से असातावेदनीय की उदीरणा होने पर जो आहार की अभिलाषा होती है उसका नाम आहारसंज्ञा है।

आहितविशेषत्व—१. आहितविशेषत्वं वचनान्तरापेक्षया ढौकितविशेषता। (समवा. अभय. वृ. ३५, पृ. ६०)। २. आहितविशेषत्वं शेषपुरुषवचनापेक्षया शिष्येपूत्पादितमतिविशेषता। (रायप. मलय. वृ. सू. ४, पृ. २८)।

१ दूसरों के वचनोंकी अपेक्षा विशेषता की उपस्थिति को आहितविशेषत्व कहते हैं। यह ३५ सत्यवचनातिशयों में ३१वां है।

आहृतकर्म—१. यद् गृहादेः साधुवसतिमानीय ददाति तदाहृतम्। (आचारा. शी. वृ. २, १, २६६, पृ. ३१७)। २. आहृतं स्वग्रामाद्याहृतादि। (व्यव. भा. मलय. वृ. ३–१६४, पृ. ३५)। ३. यद् ग्रामा-

न्तराद् गृहाद् वा यतिनिमित्तमानीतं तदाहृतम्। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २०, पृ. ४६)।
१ गृहादि से साधु की वसति में लाकर जो दिया जाता है वह आहृत नामक उद्गम दोष से दूषित होता है।

इक्ष्वाकु—१. आकन्तीक्षुरसं प्रीत्या वाहुल्येन त्वयि प्रभो। प्रजाः प्रभो यतस्तस्मादिक्ष्वाकुरिति कीर्त्यसे॥ (ह. पु. ८–२१०)। २. आकानाच्च तदेक्षूणां रस-संग्रहणे नृणाम्। इक्ष्वाकुरित्यभूद् देवो जगतामभिसंमतः॥ (म. पु. १६–२६४)।
कर्मभूमि के प्रारम्भ में भगवान् आदिनाथ ने प्रजा के लिए चूंकि इक्षुरस के संग्रह का उपदेश दिया था, अतएव उन्हें इक्ष्वाकु कहा जाता है।

इङ्गाल—देखो अङ्गार दोष। १. जे णं णिग्गंथे वा णिग्गंथी वा फासु-एसणिज्जं असण-पाण-खाइम-साइमं पडिग्गाहेत्ता समुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववन्ने आहारं आहारेति एस णं गोयमा स इंगाले पाण-भोयणे। (भगवती ७, १, १६—खण्ड ३, पृ. ५)। २. निर्वाता विशाला नात्युष्णा शोभनेयमिति तत्रानुराग इङ्गालः। (भ. आ. विजयो. ३–२३०; कार्तिके. टी. ४४६)। ३. इङ्गालं सरागप्रशंसनम्। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २५, पृ. ५८)।
१ साधु और साध्वी प्रासुक व एषणीय अशन, पान, खादिम एवं स्वादिम आहार को ग्रहण करके मोह को प्राप्त होता हुआ यदि लोलुपता व आसक्ति से उस आहार को खाता है तो यह इङ्गाल (अंगार) नाम का एषणा दोष होता है। २ यह वसतिका हवा और अधिक गर्मी-सर्दी से रहित विशाल और सुन्दर है; ऐसा समझ कर उसमें अनुराग करने से इंगालदोष होता है।

इङ्गित—इङ्गितं निपुणमतिगम्यं प्रवृत्ति-निवृत्ति-सूचकमीषद्भ्रू-शिरःकम्पादि। (जीतक. चू. वि. व्या. ४–२५, पृ. ३८)।
निपुणबुद्धियों के द्वारा जान सकने के योग्य ऐसे प्रवृत्ति या निवृत्ति के सूचक कुछ भ्रुकुटि व शिर के कम्पन आदि शारीरिक संकेतों को इङ्गित कहा जाता है।

इङ्गिनी—१. इंगिणीशब्देन इङ्गितमात्मनो भण्यते। (भ. आ. विजयो. २६)। २. इंगिणीशब्देन इंगितमात्मनोऽभिप्रायो भण्यते। (भ. आ. मूला. २६)।
२ अपने अभिप्राय को इंगित या इंगिनी कहा जाता है।

इङ्गिनी-अनशन—इङ्गिनी श्रुतविहितः क्रियाविशेषस्तद्विशिष्टमनशनमिङ्गनी। अस्य प्रतिपत्ता तेनैव क्रमेणायुषः परिहाणिमवबुध्य तथाविध एव स्थण्डिले एकाकी कृतचतुर्विधाहारप्रत्याख्यानश्छायात् उष्णमुष्णाच्छायां संक्रामन् सचेष्टः सम्यग्ध्यानपरायणः प्राणान् जहाति इत्येतदिङ्गिनीरूपमनशनम्। (योगशा. स्वो. विव. ४–८६)।
आगमविहित एक क्रियाविशेष का नाम इङ्गिनी है। उसको स्वीकार करने वाला क्रमसे होने वाली आयु की हानि को जानकर जीव-जन्तु रहित एकान्त स्थान में रहता हुआ चारों प्रकार के आहार का परित्याग करता है। वह छाया से उष्ण प्रदेश में और उष्ण प्रदेश से छाया में संक्रमण करता हुआ सावधान रहकर ध्यान में तत्पर रहता है व प्राणों को छोड़ता है—मृत्यु को स्वीकार करता है। इसे इङ्गिनीरूप अनशन कहा जाता है।

इङ्गिनीमरण—देखो इङ्गिनी व इङ्गिनी-अनशन। १. आत्मोपकारसव्यपेक्षं परोपकारनिरपेक्षम् इङ्गिनीमरणम्। (धव. पु. १, पृ. २३-२४)। २. इङ्गिनी श्रुतविहितक्रियाविशेषः, तद्विशिष्टं मरणमिङ्गिनीमरणम्। अयमपि हि प्रवृज्यादिप्रतिपत्तिक्रमेणैवायुषः परिहाणिमवबुध्य आत्तनिजोपकरणः स्थावर-जङ्गम-प्राणिविवर्जितस्थण्डिलस्थायी एकाकी कृतचतुर्विधाहारप्रत्याख्यानः छायात उष्णं उष्णाच्छायां सङ्क्रामन् सचेष्टः सम्यग्ज्ञानपरायणः प्राणान् जहाति एतदिङ्गिनीमरणमपरिकर्मपूर्वकं चेति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६, १६)। ३. स्वाभिप्रायानुसारेण स्थित्वा प्रवर्त्यमानं मरणं इङ्गिनीमरणम्। (भ. आ. विजयो. व मूला. टी. २६)। ४. अप्पोवयारवेक्खं परोवयारूणमिंगणीमरणं। (गो. क. ६१)। ५. परप्रतीकारनिरपेक्षमात्मोपकारसापेक्षमिङ्गिनीमरणम्। (चा. सा. पृ. ६८; कार्तिके. टी. ४६६)।
१ दूसरेके द्वारा की जाने वाली सेवा-सुश्रूषा को स्वीकार न करके स्वयं ही शरीर की सेवा-सुश्रूषा करते हुए जो मरण होता है उसे इङ्गिनीमरण कहते हैं।

इच्छा—१. एषणं इच्छा बाह्याऽभ्यन्तरपरिग्रहाभिलाषः। (जयध. प. ७७७)। २. इच्छाऽभिलाषस्त्रैलोक्यविषयः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-१०, पृ. १४६)।

३. इच्छा अन्तःकरणप्रवृत्तिः। (सूत्रकृ. शी. वृ. २, २, ३५, पृ. ७१)। ४. इच्छा तद्वत्कथाप्रीतिः ××× । (ज्ञानसार २७-४)। ५. इच्छा साधकभावाभिलापः, तद् योगपञ्चकं येषु विद्यते ते तद्वन्तः श्रमणाः, तेषां कथासु गुणकथनादिषु प्रीतिः इष्टता। उक्तं च हरिभद्रपूज्यैः—तज्जुत्तकहापीई संगया विपरिणामणी इच्छा इति। (ज्ञानसार देव-चन्द्र वृ. २७-४)।

१ बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह की अभिलाषा को इच्छा कहते हैं। २ तीनों लोक सम्बन्धी अभि-लाषा का नाम इच्छा है। यह लोभ कषाय का नामान्तर है।

इच्छाकार—१. इट्ठे इच्छाकारो ×××। (मूला. ४-५)। २. तत्रैषणमिच्छा क्रियाप्रवृत्त्यभ्यु-पगमः, करणं कारः, इच्छया करणं इच्छाकारः, आज्ञा-बलाभियोगव्यापारप्रतिपक्षो व्यापारणं चेत्यर्थः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ५८)। ३. एषणमिच्छा, करणं कारः, ××× इच्छया बलाभियोगमन्तरेण करणम् इच्छाकारः, इच्छाक्रियेत्यर्थः। तथा च ममेदं कुरु इच्छाक्रियया, न च बलाभियोगपूर्विकयेति भावार्थः। (आव. नि. हरि. वृ. ६६६, पृ. २५८; जीतक. चू. वि. व्या. पृ. ४१, ६-४)। ४. इच्छा-मभ्युपगमं करोतीति इच्छाकारः आदरः। (मूला. वृ. ४-४); इट्ठे इष्टे सम्यग्दर्शनादिके शुभपरि-णामे वा, इच्छाकारो—इच्छाकारोऽभ्युपगमो हर्षः स्वेच्छया प्रवर्तनम्। (मूला. वृ. ४-५)। ५. पुस्त-कातापयोगादेर्या याञ्चा विनयान्विता। स्व-परार्थे यतीन्द्राणां सेच्छाकारः प्ररूपितः॥ (आचा. सा. २-६)।

१ अभीष्ट सम्यग्दर्शनादि अथवा शुभ परिणाम को स्वीकार करना, उसमें हर्ष प्रगट करना और इच्छा-नुसार उसमें प्रवर्तना; इसका नाम इच्छाकार है। ३ बलप्रयोग के बिना इच्छा से 'मेरा यह कार्य कर दो' इस प्रकार प्रेरणा करना; यह इच्छाकार कह-लाता है।

इच्छानुलोमवचनी — देखो इच्छानुलोमवाक्। १. इच्छानुलोमवचनी इच्छानुवृत्तिभाषा यथा तथा भवतीत्यादिः। (गो. जी. म. प्र. टी. २२५)। २. तथैव मयाऽपि भवितव्यमित्यादि इच्छानुवृत्तिभाषा इच्छा-नुलोमवचनी। (गो. जी. जी. प्र. टी. २२५)।

इच्छानुरूप वचनप्रयोग का नाम इच्छानुलोमवचनी है। जैसे—उसी प्रकार मैं भी होना चाहता हूं, इत्यादि वचनप्रयोग।

इच्छानुलोमवाक्—तवेष्टं पुष्टं कुर्वेऽहमित्याद्यैच्छा-नुलोमवाक्॥ (आचा. सा. ५-८९)।

तुम्हारे अभीष्ट को मैं पुष्ट करता हूं, इत्यादि प्रकार के वचन को इच्छानुलोमवाक् कहते हैं।

इच्छानुलोमा—देखो इच्छानुलोमवचनी। १. इच्छा-नुलोमा नाम कार्यं कर्तुमिच्छता केनचित् पृष्टे कश्चि-दाह करोति(तु) भवान् ममाप्येतदभिप्रेतमिति। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३-४१, पृ. १२३)। २. णियइच्छियत्तकहणं णेया इच्छाणुलोमा य॥ (भाषार. ७६)। ३. निजेप्सितत्वं स्वेच्छाविषयत्वम्, तत्कथनं स्वेच्छानुलोमा ज्ञेया। यथा कश्चित् कि-ञ्चित्कर्मारभमाणः कञ्चन पृच्छति करोम्येतदिति। स प्राह—करोतु भवान्, ममाप्येतदभिप्रेतमिति। (भाषार. वृ. ७६)।

१ कार्य करने के इच्छुक किसी के द्वारा पूछने पर जो कोई यह कहता है कि 'करो, मुझे भी यह अभी-ष्ट है', इस प्रकार की भाषा को इच्छानुलोमा कहा जाता है।

इच्छाप्रवृत्तदर्शनबालमरण — तयोः (इच्छानि-च्छाप्रवृत्तमरणयोः) आद्यमग्निना धूमेन शस्त्रेण विषेण उदकेन मरुत्प्रपातेन उच्छ्वासनिरोधेन अति-शीतोष्णपातेन रज्ज्वा क्षुधा तृषा जिह्वोत्पाटनेन विरुद्धाहारसेवनया बाला मृतिं ढौकन्ते कुतश्चिन्नि-मित्ताज्जीवितपरित्यागैषिणः। (भग. आ. विजयो. टी. २५; भा. प्रा. टी. ३२)।

कारणवश प्राणघात की इच्छा करने वाले अज्ञानी जन अग्नि, धूम, शस्त्र, विष, पानी, आंधी, श्वास-निरोध, अतिशय शैत्य या उष्णता, रस्सी (फांसी), भूख, प्यास, जीभ का उखाड़ना और विपरीत आहार का सेवन; इत्यादि कारणों में किसी भी कारण के द्वारा जो मृत्यु का आश्रय लेते हैं, यह इच्छाप्रवृत्तदर्शनबालमरण कहलाता है।

इच्छायोग—१. कर्तुमिच्छोः श्रुतार्थस्य ज्ञानिनोऽपि प्रमादतः। विकलो धर्मयोगो यः स इच्छायोग उच्यते॥ (योगदृष्टिस. ३)। २. तज्जुत्तकहापीईइ संगया विपरिणामिणी इच्छा। (योगविं. ५)। ३. ज्ञातागमस्यापि प्रमादिनः कालादिवैकल्येन चैत्य-

वन्दनाद्यनुष्ठानमिच्छाप्राधान्यादिच्छायोगः । (शास्त्रवा. टी. ६–२७) ।

३ आगम का ज्ञाता होकर भी प्रमादवश कालादि की विकलता से स्वेच्छापूर्वक चैत्यवन्दना आदि क्रियाओं के करने को इच्छायोग कहते हैं।

इच्छाविभाषण—१. दीनाद्यन्नाद्यदानेन पुण्यं ननु भवेदिति । पृष्टेऽभ्युपगमान्नार्थं भवेदिच्छाविभाषणम् ॥ (आचा. सा. ८–४०) । २. कश्चित् पृच्छति हे मुने, दीन-हीनादीनामन्नादिदानेन पुण्यं भवेन्न वा भवेत् ? मुनिरन्नार्थं वदति पुण्यं भवेदेवेत्यभ्युपगम इच्छाविभाषणम् । (भा. प्रा. टी. ६६) ।

१ दीन-हीन जनों को अन्नादि के देने से क्या पुण्य होता है, इस प्रकार किसी के पूछने पर अन्न के लिये 'होता है' ऐसा स्वीकारात्मक वचन कहना, यह एक इच्छाविभाषण नाम का उत्पादन दोष माना जाता है।

इच्छावृत्ति—पूर्वात्तानशनातापयोगोपकरणादिषु । सेच्छावृत्तिर्गणीच्छानुवृत्तिर्या विनयास्पदा ॥ (आचा. सा. २–६) ।

पूर्व में गृहीत अनशन व आतापनयोग आदि करने के समय आचार्य की इच्छा के अनुसार सविनय आचरण करने को इच्छावृत्ति कहते हैं।

इतर मैत्री—इतरः प्रतिपन्नः पूर्वपुरुषप्रतिपन्नेषु वा स्वजनसम्बन्धनिरपेक्षा या मैत्री सा तृतीया । षोडशक वृ. १३–६) ।

कुटुम्बी जन से भिन्न इतर जनों में—जिन्हें स्वयं स्वीकार किया गया है या जो पूर्व पुरुषों द्वारा स्वीकृत हैं—स्वजन सम्बन्ध की अपेक्षा न कर मैत्रीभाव के रखने को इतर मैत्री कहते हैं। यह मैत्रीभावना के चार भेदों में तीसरा है।

इतरेतराभाव—स्वरूपान्तरात् स्वरूपव्यावृत्तिरितरेतराभावः । (प्र. न. त. ३–६३) ।

स्वरूपान्तर से स्वरूप की व्यावृत्ति को इतरेतराभाव कहते हैं।

इत्थंभूत (एवम्भूत नय)—१. ××× इत्थंभूतः क्रियाश्रयः । (लघीय. ५–४४; प्रमाणसं. ८३) । २. इत्थंभूतनयः क्रियार्थवचनः स्यात्कारमुद्राङ्कितः । (सिद्धिवि. ११–३१, पृ. ७३६ पं. ६)। ३. इत्थंभूतः क्रियाशब्दभेदात् अर्थभेदकृत इति । ××× ननु च इत्थंभूतस्वरूपप्ररूपणे प्रस्तुते एवम्भूताभिधाने किं केन संगतम् ? इत्यसत्, यस्मात् इत्थम्भूतस्यैव इदम् 'एवम्भूतः' इति नामान्तरम् । (न्यायकु. ५–४४, पृ. ६३६) ।

१ क्रिया के आश्रयसे वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन करने वाले नय को इत्थंभूत (एवम्भूत) नय कहते हैं। जैसे—गमनक्रियापरिणत गाय को ही गौ कहना।

इत्थंलक्षणसंस्थान— १. वृत्त-त्र्यस्र-चतुरस्रायत-परिमण्डलादीनामित्थंलक्षणम् । (स. सि. ५-२४; त. सुखबो. वृ. ५–२४) । २. वृत्तं त्र्यस्रं चतुरस्रमायतं परिमण्डलमित्येवमादि संस्थानमित्थंलक्षणम् । (त. वा. ५, २४, १३) । ३. संस्थानमित्थंलक्षणं चतुरस्रादिकम् । (त. श्लो. ५–२४) । ४. संस्थानं कलशादीनामित्थंलक्षणमिष्यते । (त. सा. ६–६३) । ५. इत्थंलक्षणं संस्थानं त्रिकोण-चतुःकोण-दीर्घ-परिमण्डलादि । (त. वृत्ति श्रुत. ५–२४) ।

१ गोल, त्रिकोण एवं चतुष्कोण आदि विविध आकारों को इत्थंलक्षणसंस्थान कहते हैं।

इत्वर अनशन—१. न अशनमनशनम्, आहारत्याग इत्यर्थः । तत्पुनर्द्विधा इत्वरं यावत्कथिकं च । तत्रेत्वरं परमितकालम्, तत्पुनश्चरमतीर्थकृत्तीर्थे चतुर्थादिषण्मासान्तम् । (दशवै. नि. हरि. वृ. १, १, ४७, पृ. २६) । २. तत्रेत्वरं नमस्कारसहितादि । ××× चतुर्थभक्तादिषण्मासपर्यवसानमित्वरमनशनं भगवतः महावीरस्य तीर्थे । (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–१६) ।

१ परमित काल तक जो आहार का त्याग किया जाता है उसे इत्वर अनशन कहते हैं। वह महावीर के तीर्थ में एक से लेकर छह मास तक अभीष्ट है।

इत्वर-परिगृहीतागमन — १. इत्वरपरिगृहीतागमनं स्तोककालपरिगृहीतागमनम्, भाटीप्रदानेन कियन्तमपि कालं स्ववशीकृतवेश्यामैथुनासेवनमित्यर्थः । (श्रा. प्र. टी. २७३) । २. तत्रेत्वरकालपरिगृहीता काल-शब्दलोपादित्वरपरिगृहीता, भाटिप्रदानेन कियन्तमपि कालं दिवस-मासादिकं स्ववशीकृतेत्यर्थः, तस्या गमनम् अभिगमो मैथुनासेवना इत्वरपरिगृहीतागमनम् । (श्राव. पृ. ६, पृ. ८२५) ।

१ द्रव्य देकर कुछ काल के लिए अपने अधीन करके व्यभिचारिणी (वेश्या) स्त्री के साथ विषय सेवन

करने को इत्वरपरिगृहीतागमन कहते हैं। यह ब्रह्मचर्याणुव्रत का एक अतीचार है।

इत्वर-परिगृहीतापरिगृहीतागमन—इत्वरी अयनशीला, भाटीप्रदानेन स्तोककालं परिगृहीता इत्वरपरिगृहीता वेश्या, तथा अपरिगृहीता वेश्यैव अगृहीतान्यसत्कभाटिः, कुलाङ्गना वा ऽनाथेति, तयोर्गमनम् आसेवनम् इत्वरपरिगृहीतापरिगृहीतागमनम्। (धर्मवि. मु. वृ. ३-२६)।

व्यभिचारिणी वेश्या अथवा अनाथ कुलीन स्त्री को द्रव्य देकर और कुछ काल के लिए अपनी मानकर उनके साथ विषय-सेवन करने को इत्वरपरिगृहीतापरिगृहीतागमन कहते हैं। यह ब्रह्मचर्याणुव्रत का एक अतीचार है।

इत्वर-परिहारविशुद्धिक—१. इत्तरिअ थेरकप्पे जिणकप्पे आवकहिआ उ ॥ (पंचव. १५२४)। २. एते च परिहारविशुद्धिका द्विविधाः। तद्यथा—इत्वरा यावत्कथिकाश्च। तत्र ये कल्पसमाप्त्यनन्तरं तमेव कल्पं गच्छं समुपयास्यन्ति ते इत्वराः। (आव. उपो. नि. मलय. वृ. ११४, पृ. १२२)। ३. ये कल्पसमाप्त्यनन्तरमेव कल्पं गच्छं वा समुपास्यन्ति त इत्वराः। (षडशी. दे. स्वो. वृ. १२, पृ. १३७)।

जो कल्पसमाप्ति के अनन्तर अर्थात् परिहारविशुद्धि-संयम की साधना के पश्चात् अपने पूर्व गच्छ (स्थविर कल्प) को चले जाते हैं उनको इत्वर-परिहारविशुद्धिक कहते हैं।

इत्वर-सामायिक—१. सावज्जजोगविरइ त्ति तत्थ सामाइयं दुहा तं च। इत्तरमावकहं चिय पढमं पढमंतिमजिणाणं ॥ तित्थेसु अणारोवियवयस्स सेहस्स थोवकालीयं। (विशेषा. १२६८-६६); तत्र स्वल्पकालमित्वरम्, तदाद्य-चरमार्हत्तीर्थयोरेवाऽनारोपितव्रतस्य शैक्षस्य। (विशेषा. स्वो. वृ. १२६१)। २. तत्रेत्वरं भरतैरावतेषु प्रथम-पश्चिमतीर्थकरतीर्थेषु अनारोपितमहाव्रतस्य शैक्षकस्य विज्ञेयम् ××× । (आव. उपो. नि. मलय. वृ. ११४)।

१ भरत और ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के तीर्थ में महाव्रतों के आरोपण (स्थापन) से रहित शैक्ष (शिष्यभूत) साधु के जो इत्वर—कुछ काल की अवधि युक्त—सामायिक चारित्र हुआ करता है उसे इत्वर सामायिक कहते हैं।

इत्वरात्तागम—इत्वरी प्रतिपुरुषमयनशीला, वेश्या इत्यर्थः, सा चासावात्ता च कञ्चित्कालं भाटीप्रदानादिना संगृहीता, पुंवद्भावे इत्वरात्ता। अथवा इत्वरं स्तोकमप्युच्यते, इत्वरं स्तोकमल्पमात्ता इत्वरात्ता, विस्पष्टपटुवत् समासः। अथवा इत्वरकालमात्ता इत्वरात्ता, मयूरव्यंसकादित्वात् समासः, काल-शब्दलोपश्च। तस्यां गम आसेवनम्। इयं चात्र भावना—भाटीप्रदानादित्वरकालस्वीकारेण स्वकलत्रीकृत्य वेश्यां सेवमानस्य स्वबुद्धिकल्पनया स्वदारत्वेन व्रतसापेक्षचित्तत्वान्न भङ्गः, अल्पकालपरिग्रहाच्च; वस्तुतोऽन्यकलत्रत्वाद् भङ्गः, इति भङ्गाभङ्गरूपत्वादित्वरात्तागमोऽतिचारः। (योगशा. स्वो. विव. ३-९४)।

इत्वरीका अर्थ परपुरुष से सम्बन्ध रखने वाली वेश्या है और आत्त शब्द का अर्थ है गृहीत। अभिप्राय यह है कि भाड़ा देकर कुछ काल के लिए अपनी स्त्री समझते हुए वेश्या से समागम करना, इसका नाम इत्वरात्तागम है। अथवा इत्वर का अर्थ स्तोक भी होता है, तदनुसार ऐसी स्त्री को कुछ काल के लिए ग्रहण करना, इसे इत्वरात्तागम समझना चाहिए। यह ब्रह्मचर्याणुव्रत का प्रथम अतीचार है।

इत्वरिकागमन—१. तत्रेत्वरिकागमनम् अस्वामिका असती गणिकात्वेन पुंश्चलित्वेन वा पुरुषानेति गच्छतीत्येवंशीला इत्वरी। तथा प्रतिपुरुषमेतीत्येवंशीलेति व्युत्पत्त्या वेश्यापीत्वरी। ततः कुत्सायां के इत्वरिका, तस्यां गमनमासेवनम्। इयं चात्र भावना—भाटीप्रदानान्नियतकालस्वीकारेण स्वकलत्रीकृत्य वेश्यां वेत्वरिकां सेवमानस्य स्वबुद्धिकल्पनया स्वदारत्वेन व्रतसापेक्षचित्तत्वादल्पकालपरिग्रहाच्च न भंगो, वस्तुतोऽस्वदारत्वाच्च भङ्ग इति भङ्गाभङ्गरूपत्वादित्वरिकाया वेश्यात्वेनान्यस्यास्त्वनाथतयैव परदारत्वात्। (सा. ध. स्वो. टी. ४-५८)। २. इत्वरिकागमनं पुंश्चली-वेश्या-दासीनां गमनं जघन-स्तन-वदनादिनिरीक्षण-संभाषण-हस्त-भ्रूकटाक्षादिसंज्ञाविधानम् इत्येवमादिकं निखिलं रागित्वेन दुश्चेष्टितं गमनमित्युच्यते। (कार्तिके. टी. ३३८)। ३. इत्वरिका स्यात्पुंश्चली सा द्विधा प्राग्यथोदिता। काचित् परिगृहीता स्यादपरिगृहीता परा ॥ ताभ्यां सरागवागादि वपुस्पर्शोऽथवा रतम्।

दोषोऽतिचारसंज्ञोऽपि ब्रह्मचर्यस्य हानये ॥ (लाटीसं. ७५–७६) ।

१ भाड़ा देकर कुछ काल के लिए अपनी मान वेश्या या अन्य दुराचारिणी स्त्री का सेवन करना, यह ब्रह्मचर्याणुव्रत को दूषित करने वाला उसका एक इत्वरिकागमन नामका अतीचार है।

इत्वरिकापरिगृहीताऽपरिगृहीतागमन—१. परपुरुषानेति गच्छतीत्येवंशीला इत्वरी, कुत्सिता इत्वरी, कुत्सितायां कः, इत्वरिका। या एकपुरुषभर्तृका सा परिगृहीता, या गणिकात्वेन पुंश्चलीत्वेन वा परपुरुषगमनशीला अस्वामिका सा अपरिगृहीता। परिगृहीता चापरिगृहीता च परिगृहीतापरिगृहीते, इत्वरिके च ते परिगृहीतापरिगृहीते च इत्वरिकापरिगृहीताऽपरिगृहीते, तयोर्गमनम् इत्वरिकापरिगृहीताऽपरिगृहीतागमनम्। (स. सि. ७–२८)। २. अयनशीलेत्वरी। ज्ञानावरणक्षयोपशमापादितकलागुणज्ञतया चारित्रमोह-स्त्रीवेदोदयप्रकर्षादंगोपांगनामोदयावष्टम्भाच्च परपुरुषानेति (अग्रे स. सि. वत्)। (त. वा. ७, २८, २; चा. सा. पृ. ६)। ३. एति गच्छति परपुरुषानित्येवंशीला इत्वरी, कुत्सिता इत्वरी इत्वरिका। एकपुरुषभर्तृका या स्त्री भवति सधवा विधवा वा सा परिगृहीता सम्बद्धा कथ्यते। या वाराङ्गनात्वेन पुंश्चलीभावेन वा परपुरुषानुभवनशीला निःस्वामिका सा अपरिगृहीता असम्बद्धा कथ्यते। परिगृहीता च अपरिगृहीता च परिगृहीताऽपरिगृहीते, इत्वरिके च ते परिगृहीताऽपरिगृहीते इत्वरिकापरिगृहीताऽपरिगृहीते, इत्वरिकापरिगृहीताऽपरिगृहीतयोर्गमने प्रवृत्ती द्वे इत्वरिकापरिगृहीताऽपरिगृहीतागमने। गमने इति कोऽर्थः? जघन-स्तन-वदनादिनिरीक्षणं सम्भाषणं पाणि-भ्रू-चक्षुरन्तादिसंज्ञाविधानमित्येवमादिकं निखिलं रागित्वेन दुश्चेष्टितं गमनमित्युच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ७–२८)।

१ एक पुरुष (स्वामी) से सम्बद्ध दुराचारिणी स्त्री के साथ समागम करनेका नाम इत्वरिकापरिगृहीतागमन है। तथा स्वामी से विहीन वेश्या या अन्य दुराचारिणी स्त्री के साथ समागम करना, यह इत्वरिका-अपरिगृहीतागमन है। ये दो ब्रह्मचर्याणुव्रत के पृथक् पृथक् अतिचार हैं।

इन्द्र—१. अन्यदेवासाधारणाणिमादियोगादिन्दन्तीति इन्द्राः। (स. सि. ४-४; त. श्लो. ४-४)। २. परमैश्वर्यादिन्द्रव्यपदेशः। अन्यदेवासाधारणाणिमादियोगादिन्दन्तीति इन्द्राः। (त. वा. ४, ४, १)। ३. इन्द्रो जीवः सर्वद्रव्येश्वर्ययोगाद्विषयेषु वा परमैश्वर्ययोगात्। (त. भा. २–१५); तत्रेन्द्रा भवनवासि-व्यन्तर-ज्योतिष्क-विमानाधिपतयः। (त. भा. ४–४)। ४. इन्द्रः स्वरूपतो ज्ञानाद्यैश्वर्ययुक्तत्वादात्मा। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. २८)। ५. इन्दनाद्यणिमाद्यैश्च गुणैरिन्द्रो ह्यनन्यजैः। (म. पु. २२–२२)। ६. इन्दनादिन्द्रः सर्वभोगोपभोगाधिष्ठानः सर्वद्रव्यविषयैश्वर्योपभोगाज्जीवः। (त. भा. सिद्ध. वृ. २–१५)। ७. तत्र 'इंदु परमैश्वर्ये' इन्दन्ति परमाज्ञैश्वर्यमनुभवन्तीति इन्द्रा अधिपतयः। (बृहत्सं. मलय. वृ. २)। ८. इन्द्राः परमैश्वर्यतः सर्वाधिपतयः। (संग्रहणी दे. वृ. १)। ९. इन्दन्ति परमैश्वर्यं प्राप्नुवन्ति अपरामरासमानाः अणिमादिगुणयोगादिति इन्द्राः। (त. वृत्ति श्रुत. ४–४)।

१ अन्य देवों में नहीं पाई जाने वाली असाधारण अणिमा-महिमादि ऋद्धियों के धारक ऐसे देवाधिपति को इन्द्र कहते हैं।

इन्द्रधनुष—इन्द्रधनुः धनुषाकारेण पञ्चवर्णपुद्गलनिचयः। (मूला. वृ. ५–७७)।

वर्षाकाल में आकाश में जो धनुषाकार पांच वर्ण वाला पुद्गलसमूह दिखता है वह इन्द्रधनुष कहलाता है।

इन्द्रिय—१. इन्दतीति इन्द्र आत्मा, तस्य ज्ञस्वभावस्य तदावरणक्षयोपशमे सति स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्य यदर्थोपलब्धिनिमित्तं लिङ्गं तदिन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियमित्युच्यते। अथवा लीनमर्थं गमयतीति लिङ्गम्। आत्मनः सूक्ष्मस्यास्तित्वाधिगमे लिङ्गमिन्द्रियम्। × × × अथवा इन्द्र इति नामकर्मोच्यते, तेन सृष्टमिन्द्रियमिति। (स. सि. १–१४)। २. इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा [पा. अष्टा. ५।२।९३]। इन्द्रो जीवः सर्वद्रव्येष्वैश्वर्ययोगाद् विषयेषु वा परमैश्वर्ययोगात्, तस्य लिङ्गमिन्द्रियम्। लिङ्गनात्सूचनात्प्रदर्शनादुपष्टम्भनाद् व्यञ्जनाच्च जीवस्य लिङ्गमिन्द्रियम्। (त. भा. २–१५)। ३. इन्द्रस्यात्मनोऽर्थोपलब्धिलिङ्गमिन्द्रियम्। इन्द्र आत्मा, तस्य कर्म-

मलीमसस्य स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्याऽर्थोपलम्भने यल्लिङ्गं तदिन्द्रियमुच्यते। (त. वा. १, १४, १); **इन्द्रस्यात्मनो लिङ्गमिन्द्रियम्।** उपभोक्तुरात्मनोऽनिवृत्तकर्मबन्धस्यापि परमेश्वरत्वशक्तियोगात् इन्द्रव्यपदेशमर्हतः स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्योपयोगोपकरणं लिङ्गमिन्द्रियमित्युच्यते। (त. वा. २, १५, १); **इन्द्रेण कर्मणा सृष्टमिति वा।** अथवा स्वकृतकर्मवशादात्मा देवेन्द्रादिषु तिर्यगादिषु चेष्टानिष्टमनुभवतीति कर्मैव तत्रेन्द्रः, तेन सृष्टमिन्द्रियमित्याख्यायते। (त. वा. २, १५, २)। ४. तत्रेन्द्रियमिति कः शब्दार्थः? 'इदि परमैश्वर्ये' इन्दनादिन्द्रः—सर्वोपलब्धिभोगपरमैश्वर्यसम्बन्धाज्जीवः, तस्य लिङ्गं तेन दृष्टं सृष्टं चेत्यादि। **(आव. नि. हरि. वृ. ९१८, पृ. ३९८)।** ५. इन्द्रेण कर्मणा स्पृ[सृ]ष्टमिन्द्रियं स्पर्शनादीन्द्रियनामकर्मोदयनिमित्तत्वात्। इन्द्रस्यात्मनो लिङ्गमिन्द्रियमिति वा कर्ममलीमसस्यात्मनः स्वयमर्थानुपलब्ध्य[ब्धुम]समर्थस्य हि यदर्थोपलब्धौ लिङ्गं निमित्तं तमिन्द्रियमिति भाष्यते। (त. श्लो. २-१५)। ६. प्रत्यक्षनिरतानीन्द्रियाणि। अक्षाणीन्द्रियाणि। अक्षमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षं विषयोऽक्षजो बोधो वा तत्र निरतानि व्यापृतानि इन्द्रियाणि। शब्दस्पर्श-रस-रूप-गन्धज्ञानावरणकर्मणां क्षयोपशमाद् द्रव्येन्द्रियनिबन्धनादिन्द्रियाणीति यावत्। ××× सङ्कर-व्यतिकराभ्यां व्यापृतिनिराकरणाय स्वविषयनिरतानीन्द्रियाणीति वा वक्तव्यम्। ××× अथवा स्ववृत्तिरतानीन्द्रियाणि। संशय-विपर्यय-निर्णयादौ वर्तनं वृत्तिः, तस्यां स्ववृत्तौ रतानीन्द्रियाणि। ××× अथवा स्वार्थनिरतानीन्द्रियाणि। ××× अथवा इन्दनादाधिपत्यादिन्द्रियाणि। (धव. पु. १, पृ. १३५ आदि); इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रेण सृष्टमिति वा इन्द्रियशब्दार्थः ×××। (धव. पु. १, पृ. २३७); इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम्। उपभोक्तुरात्मनोऽनिवृत्तकर्मसम्बन्धस्य परमेश्वरशक्तियोगादिन्द्रव्यपदेशमर्हतः स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्योपयोगोपकरणं लिङ्गमिति कथ्यते। (धव. पु. १, पृ. २६०); स्वविषयनिरतानीन्द्रियाणि, स्वार्थनिरतानीन्द्रियाणीत्यर्थः। अथवा इन्द्र आत्मा, इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम्। (धव. पु. ७, पृ. ६); इंदस्स लिंगमिंदियं। इंदो जीवो, तस्स लिंगं जाणावणं सूचयं जं तमिंदियमिदि वुत्तं होदि। (धव. पु. ७, पृ. ६१)। ७. तस्यैवंप्रकारस्यात्मन इन्द्रस्य लिङ्गं चिह्नमविनाभाव्यत्यन्तलीनपदार्थावगमकारीन्द्रियमुच्यते। (त. भा. सिद्ध. वृ. २-१५)। ८. इन्द्रियाणि मतिज्ञानावरणक्षयोपशमशक्तयः। (मूला. वृ. १-१६); स्वार्थनिरतानीन्द्रियाणि, अथवा इन्द्र आत्मा तस्य लिङ्गमिन्द्रियम्, इन्द्रेण दृष्टमिति चेन्द्रियम्। (मूला. वृ. १२-१५६)। ९. इन्दनादिन्द्रो जीवः सर्वविषयोपलब्धिभोगलक्षणपरमैश्वर्ययोगात्, तस्य लिङ्गमिन्द्रियम्। (ललितवि. मु. पं. पृ. ३९)। १०. स्पर्शादिग्रहणं लक्षणं येषां तानि यथासंख्यं स्पर्शनादीनीन्द्रियाणि ××× तत्रेन्द्रेण कर्मणा सृष्टानीन्द्रियाणि, नामकर्मोदयनिमित्तत्वात्। इन्द्रस्यात्मनो लिङ्गानि वा, कर्ममलीमसस्य हि स्वयमर्थानुपलब्धुमसमर्थस्यात्मनोऽर्थोपलब्धौ निमित्तानि इन्द्रियाणि। ××× यद्वा, इन्द्रस्यात्मनो लिङ्गान्यात्मगमकानि इन्द्रियाणि। **(प्रमाणमी. १, १, २१, पृ. १६)।** ११. इन्द्रस्यात्मनः कर्ममलीमसस्य सूक्ष्मस्य च लिङ्गमर्थोपलम्भे सहकारिकारणं ज्ञाय[प]कं वा यत्तदिन्द्रियम्। इन्द्रेण नामकर्मणा वा जन्यमिन्द्रियम्। (त. सुखबो. वृ. १-१४)। १२. 'इदु परमैश्वर्ये', 'उदितो नम्' इति नम्, इन्दनात् इन्द्रः आत्मा सर्वद्रव्योपलब्धिरूपपरमैश्वर्ययोगात्, तस्य लिङ्गं चिह्नमविनाभावि इन्द्रियम्। **(नन्दी. मलय. वृ. ३, पृ. ७५; जीवाजी. मलय. वृ. १-१३, पृ. १६; प्रव. सारो. वृ. ११०५)।** १३. इन्दनादिन्द्रः आत्मा ज्ञानलक्षणपरमैश्वर्ययोगात्, तस्येदं इन्द्रियम् इति निपातनादिन्द्रशब्दादियप्रत्ययः। **(प्रज्ञाप. मलय. वृ. १३-१८२, पृ. २८५)।** १४. इन्द्रो जीवः सर्वपरमैश्वर्ययोगात्, तस्य लिङ्गमिन्द्रियम्। लिङ्गनात् सूचनात् प्रदर्शनादुपलम्भाद् व्यञ्जनाच्च जीवस्य लिङ्गमिन्द्रियम्। (ज्ञा. सा. दे. वृ. ७, पृ. २५)। १५. इन्दति परमैश्वर्यं प्राप्नोतीति इन्द्रः, आत्मतत्त्वस्य आत्मनः ज्ञायकैकस्वभावस्य मतिज्ञानावरणक्षयोपशमे सति स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्य यदर्थोपलब्धिलिङ्गं तत् इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियमुच्यते। अथवा लीनमर्थं गमयति ज्ञापयतीति लिङ्गमिन्द्रियमुच्यते। आत्मनः सूक्ष्मस्य अस्तित्वाधिगमकारकं लिङ्गमिन्द्रियमित्यर्थः। ××× अथवा नामकर्मणः इन्द्र इति संज्ञा, इन्द्रेण नामकर्मणा स्पृष्टं[सृष्टं] इन्द्रियमित्युच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. २-१८); इन्द्रशब्देन आत्मा उच्यते, तस्य लिङ्गं इन्द्रियमुच्यते।

(त. वृत्ति श्रुत. २–१८) । १६. इदुः स्यात् परमैश्वर्ये धातोरस्य प्रयोगतः । इन्दनात् परमैश्वर्यादिन्द्र आत्माभिधीयते ॥ तस्य लिङ्गं तेन सृष्टमितीन्द्रियमुदीर्यते ॥ (लोकप्र. ३–४६४-६५) ।

१ परम ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाले आत्मा को इन्द्र और उस इन्द्र के लिङ्ग या चिह्न को इन्द्रिय कहते हैं। अथवा जो जीव को अर्थ की उपलब्धि में निमित्त होता है उसे इन्द्रिय कहते हैं। अथवा जो सूक्ष्म आत्मा के सद्भाव की सिद्धि का हेतु है उसे इन्द्रिय कहते हैं। अथवा इन्द्र नाम नामकर्म का है, उसके द्वारा निर्मित स्पर्शनादि को इन्द्रिय कहा जाता है।

इन्द्रियजय—१. अरिषड्वर्गत्यागेनाविरुद्धार्थप्रतिपत्त्येन्द्रियजयः । (धर्मबि. १–१५) । २. विषयाटवीषु स्वच्छन्दप्रधावमानेन्द्रियगजानां ज्ञान-वैराग्योपवासाद्यंकुशाकर्षणेन वशीकरणमिन्द्रियजयः । (चा. सा. पृ. ४४) । ३. इन्द्रियाणां श्रोत्रादीन्द्रियाणां जयः अत्यन्तासक्तिपरिहारेण स्व-स्वविकारनिरोधः । (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. १–६, पृ. ६) ।

२ विषयरूप वन में स्वच्छन्द दौड़ने वाले इन्द्रियरूप मदोन्मत्त गजों को ज्ञान, वैराग्य एवं उपवासादिरूप अंकुश के प्रहारों द्वारा वश में करने को इन्द्रियजय कहते हैं।

इन्द्रियपर्याप्ति—१. पंचण्हमिंदियाणं जोग्गा पोग्गला विचिणिसु अणाभोगणिव्वत्तितवीरियकरणेण तब्भावापायणसत्ती इंदियपज्जत्ती । (नन्दी. चू. पृ. १५) । २. त्वगादीन्द्रियनिर्वर्तनक्रियापरिसमाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः । (त. भा. ८–१२; नन्दी. हरि. वृ. पृ. ४४) । ३. योग्यदेशस्थितरूपादिविशिष्टार्थग्रहणशक्त्युत्पत्तेर्निमित्तपुद्गलप्रचयावाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः । (धव. पु. १, पृ. २५५); सच्छेसु पोग्गलेसु मिलिदेसु तब्बलेण बज्झत्थगहणसत्तीए समुप्पत्ती इंदियपज्जत्ती णाम । (धव. पु. १४, पृ. ५२७) । ४. इन्द्रियकरणनिष्पत्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–१२, पृ. १६०); तत्र च स्वरूपनिर्वर्तनक्रियापरिसमाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः । (त. भा. सिद्ध. वृ. ८–१२, पृ. १६१) । ५. योग्यदेशस्थितरूपादिविशिष्टार्थग्रहणशक्तेर्निष्पत्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः । (मूला. वृ. १२–१६६) । ६. इन्द्रियपर्याप्तिः पञ्चानामिन्द्रियाणां योग्यान् पुद्गलान् गृहीत्वाऽनाभोगनिर्वर्तितेन वीर्येण तद्भावनयनशक्तिः । (स्थाना. अभय. वृ. २, १, ७३, पृ. ५०) । ७. यया धातुरूपतया परिणमितमाहारमिन्द्रियरूपतया परिणमयति सा इन्द्रियपर्याप्तिः । (पंचसं. मलय. वृ. १-५; नन्दी. मलय. वृ. १३, पृ. १०५; षष्ठ कर्म. मलय. वृ. ६, पृ. १२६; कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ४८, पृ. ५५, ५६; जीवाजी. मलय. वृ. १–१२; प्रज्ञाप. मलय. वृ. १–१२, पृ. २५; सप्ततिका मलय. वृ. ५, पृ. १५३; षडशी. मलय. वृ. ३, पृ. १२४; षडशी. दे. स्वो. वृ. २, पृ. ११७) । ८. यया तु धातुभूतमाहारमिन्द्रियतया परिणमयति सेन्द्रियपर्याप्तिः । (कर्मस्त. गो. वृ. १०, पृ. ८७; शतक. मल. हेम. वृ. ३७–३८, पृ. ५०) । ९. यया धातुरूपतया परिणमितादाहारादिन्द्रियप्रायोग्यद्रव्याण्युपादायैक-द्वि-त्र्यादीन्द्रियरूपतया परिणमय्य स्पर्शादिविषयपरिज्ञानसमर्थो भवति सा इन्द्रियपर्याप्तिः । (बृहत्क. क्षेम. वृ. १११२) । १०. योग्यदेशस्थितस्पर्शादिविषयग्रहणव्यापारविशिष्टस्यात्मनः पर्याप्तनामकर्मोदयवशात् स्पर्शनादिद्रव्येन्द्रियरूपेण विवक्षितपुद्गलस्कन्धान् परिणमयितुं शक्तिनिष्पत्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः । (गो. जी. म. प्र. टी. ११९)। ११. इन्द्रियपर्याप्तिः — यया धातुरूपतया परिणमितादाहारादेकस्य द्वयोस्त्रयाणां चतुर्णां पञ्चानां वा इन्द्रियाणां योग्यान् पुद्गलानादाय स्व-स्वेन्द्रियरूपतया परिणमय्य च स्वं स्वं विषयं परिज्ञातुं प्रभुर्भवति । (संग्रहणी दे. वृ. २६८) । १२. आवरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमविजृम्भितात्मनो योग्यदेशावस्थितरूपादिविषयग्रहणव्यापारे शक्तिनिष्पत्तिर्जातिनामकर्मोदयजनितेन्द्रियपर्याप्तिः । (गो. जी. जी. प्र. टी. ११९; कार्तिके. टी. १३४) ।

३ योग्य देश में स्थित रूपादि से युक्त पदार्थों के ग्रहण करनेरूप शक्ति की उत्पत्ति के निमित्तभूत पुद्गलप्रचय की प्राप्ति को इन्द्रियपर्याप्ति कहते हैं। ७ जिस शक्ति के द्वारा धातुरूप से परिणत आहार इन्द्रियों के आकार रूप से परिणत हो, उसे इन्द्रियपर्याप्ति कहते हैं।

इन्द्रियप्रणिधि—सद्देसु अ रूवेसु अ गंधेसु रसेसु तह य फासेसु । न वि रज्जइ न वि दुस्सइ एसा खलु इंदियप्पणिही ॥ (दशवै. नि. २९५) ।

पांचों इन्द्रियों के शब्दादिरूप मनोज्ञ और अमनोज्ञ

विषयों में राग और दोष के नहीं करने को इन्द्रिय-प्रणिधि कहते हैं।

इन्द्रियप्रत्यक्ष—१. तत्रेन्द्रियं श्रोत्रादि, तन्निमित्तं यद-लैङ्गिकं शब्दादिज्ञानं तदिन्द्रियप्रत्यक्षं व्यावहारिकम्। (अनुयो. चू. पृ. ७४; अनुयो. हरि. वृ. पृ. १००)। २. इन्द्रियाणां प्रत्यक्षमिन्द्रियप्रत्यक्षम्। (नन्दी. हरि. वृ. १०, पृ. २०)। ३. इन्द्रियप्रत्यक्षं देशतो विशद-मविसंवादकं प्रतिपत्तव्यम्। (प्रमाणप. पृ. ६८)। ४. हिताहिताप्तिनिर्मुक्तिक्षममिन्द्रियनिर्मितम्। यद्दे-शतोऽर्थज्ञानं तदन्द्रियाध्यक्षमुच्यते॥ (न्यायवि. वि. १, ३, ३०८, पृ. १०५)। ५. तत्रेन्द्रियस्य चक्षुरादेः कार्यं यद्बहिर्नीलादिसंवेदनं तदिन्द्रियप्रत्यक्षम्। (प्रमाणनि. २, पृ. ३३)। ६. स्पर्शनादीन्द्रियव्यापारप्रभवमिन्द्रि-यप्रत्यक्षम्। (लघीय. अभय. वृ. ६१, पृ. ८२)। ७. अत्रेन्द्रियं श्रोत्रादि, तन्निमित्तं सहकारिकारणं यस्योत्पित्सोस्तदलिङ्गकं शब्दरूपरसगन्धस्पर्शविषय-ज्ञानमिन्द्रियप्रत्यक्षम्। (अनुयो. मल. हेम. वृ. पृ. २११)। ८. इन्द्रियप्राधान्यादनिन्द्रियवलाधानादुप-जातमिन्द्रियप्रत्यक्षम्। (प्र. र. मा. २–५)।

४. श्रोत्रादि इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला जो अर्थ-ज्ञान हित की प्राप्ति और अहित के परिहार में समर्थ होता हुआ देशतः विशद (स्पष्ट) होता है उसे इन्द्रियप्रत्यक्ष कहते हैं।

इन्द्रियवशार्तमरण—१. इन्द्रियवशार्तमरणं यत् तत्पंचविधमिन्द्रियविषयापेक्षया। सुरैर्नरैस्तिर्यग्भिर-जीवैश्च कृतेषु तत-वितत-घन-सुषिरेषु मनोज्ञेषु रक्तो-ऽमनोज्ञेषु द्विष्टो मृतिमेति। तथा चतुःप्रकारे आहारे रक्तस्य द्विष्टस्य वा मरणम्, पूर्वोक्तानां सुर-नरा-दीनां गन्धे द्विष्टस्य रक्तस्य वा मरणम्, तेषामेव रूपे संस्थाने वा रक्तस्य द्विष्टस्य वा मरणम्, तेषामेव स्पर्शे रागवतो द्वेषवतो वा मरणम्। (भ. आ. विजयो. टी. २५)। २. इंदियविसयवसगया मरंति जे तं वसट्टं तु। (प्रव. सारो. १०१०)।

१ पांच इन्द्रियों के इष्ट विषयों में अनुरक्त और अनिष्ट विषयों में द्वेष को प्राप्त हुए प्राणी के मरण को इन्द्रियवशार्तमरण कहा जाता है।

इन्द्रियसंयम—१. शब्दादिष्विन्द्रियार्थेषु रागानभि-ष्वंगः। (त. वा. ६, ६, १४)। २. इन्द्रियविषय-राग-द्वेषाभ्यां निवृत्तिरिन्द्रियसंयमः। (भ. आ. विज-यो. टी. ४६)। ३. इन्द्रियादिषु अर्थेषु [इन्द्रिया-र्थेषु] रागानभिष्वंग इन्द्रियसंयमः। (चा. सा. पृ. ३२)। ४. पञ्चानामिन्द्रियाणां च मनसश्च निरो-धनात्। स्यादिन्द्रियनिरोधाख्यः संयमः प्रथमो मतः॥ (पंचाध्यायी २–१११५)।

१ पांचों इन्द्रियों के विषयों में राग-द्वेष के अभाव को इन्द्रियसंयम कहते हैं।

इन्द्रियसुख—जं णोकसाय-विग्घचउक्काण वलेण सादपहुदीणं। सुहपयडीणुदयभवं इंदियतोसं हवे सोक्खं॥ (क्ष. सा. ६११)।

नोकषाय और अन्तराय की लाभादि चार प्रकृतियों के वल से व सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियों के उदय से जो इन्द्रियजनित सन्तोष उत्पन्न होता है उसे इन्द्रियसुख कहते हैं।

इन्द्रियासंयम—१. तत्थ इंदियासंजमो छव्विहो परिस-रस-रूप-गंध-सद्द-णोइंदियासंजमभेएण। (धव. पु. ८, पृ. २१)। २. रसविषयानुरागात्मकः इन्द्रि-यासंयमः। (भ. आ. विजयो. टी. २१३)। ३. यः स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्रलक्षणानां मनश्च स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दलक्षणेषु स्वेच्छाप्रचारः स इन्द्रिया-संयमः। (आरा. सा. टी. ६)।

३ पांचों इन्द्रियों के विषयों में स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने को इन्द्रियासंयम कहते हैं। इन्द्रियभेद से उस असं-यम के भी छह भेद हो जाते हैं।

इभ्य—१. इभ्यः अर्थवान्, स च किल यस्य पुञ्जी-कृतरत्नराश्यन्तरितो हस्त्यपि नोपलभ्यत इत्येत्या-वताऽर्थेनेति। (अनुयो. हरि. वृ. सू. १६, पृ. १६)। २. इभमर्हतीतीभ्यो धनवान्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १६–२०५, पृ. ३३०)। ३. इभो हस्ती, तत्प्रमाणं द्रव्यमर्हतीतीभ्यः, यत्सत्कपुञ्जीकृतहिरण्य-रत्नादि-द्रव्येणान्तरितो हस्त्यपि न दृश्यते सोऽधिकतरद्रव्यो वा इभ्य इत्यर्थः। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, १४७)। ४. इभमर्हतीति इभ्यः, यस्य सत्कसुवर्णादि-द्रव्यपुञ्जेनान्तरितो हस्त्यपि न दृश्यते सः अभ्यधिक-द्रव्यो वेत्यर्थः। (बृहत्क. क्षे. वृ. १२०६)।

१ जिसके पास संचित सुवर्ण-रत्नादि की राशि से अन्तरित हाथी भी दिखाई न दे उस अति धनवान् पुरुष को इभ्य कहते हैं।

इषुगति—ऋज्वी गतिरिषुगतिरेकसमयिकी। (धव. पु. १, पृ. २६६)।

पूर्व शरीर को छोड़कर उत्तर शरीर को प्राप्त करने

के लिए जो जीव की एक समय वाली सीधी—मोड़ा से रहित—गति होती है वह इषुगति कहलाती है।

इष्ट—१. तेन साधनविषयत्वेनेप्सितमिष्टमुच्यते। (प्र. र. मा. ३–२०)। २. इष्टम् आगमेन स्ववचनैरेवाभ्युपगतम्। (षोडश. वृ. १–१०)।

१ साधन का विषय होकर जो वक्ताको अभीष्ट है उसे इष्ट कहते हैं।

इष्टवियोगज आर्तध्यान—१. विपरीतं मनोज्ञस्य (मनोज्ञस्य विप्रयोगे तत्संप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः)। (त. सू. ९–३१)। २. मनोज्ञस्येष्टस्य स्वपुत्र-दारा-धनादेर्विप्रयोगे तत्सम्प्रयोगाय सङ्कल्पश्चिन्ताप्रबन्धो द्वितीयमार्तम्। (स. सि. ९–३१)। ३. मनोज्ञानां विषयाणां मनोज्ञायाश्च वेदनाया विप्रयोगे तत्सम्प्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहार आर्तम्। (त. भा. ९–३३)। ४. मनोज्ञस्य विषयस्य विप्रयोगे सम्प्रयुयुक्षां प्रति या परिध्यातिः स्मृतिसमन्वाहारशब्दचोदिता असावपि आर्तध्यानमिति निश्चीयते। (त. वा. ९, ३१, १)। ५. मनोज्ञस्य विप्रयोगे तत्सम्प्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारो द्वितीयमार्तम्। (त. श्लो. ९–३१)। ६. मणहरविसयवियोगे कह तं पावेमि इदि वियप्पो जो। संतावेण पयट्टो सो च्चिय अट्टं हवे झाणं॥ (कार्तिके. ४७४)। ७. कथं नु नाम भूयोऽपि तैः सह मनोज्ञविषयैः सम्प्रयोगः स्यान्ममेति एवं प्रणिधत्ते दृढं मनस्तदप्यार्तम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९-३३)। ८. राज्यैश्वर्य-कलत्र-बान्धव-सुहृत्सौभाग्य-भोगात्यये, चित्तप्रीतिकरप्रसन्नविषयप्रध्वंसभावेऽथवा। संत्रास-भ्रम-शोक-मोहविवशैर्यत् खिद्यतेऽहर्निशम्, तत्स्यादिष्टवियोगजं तनुमतां ध्यानं कलङ्कास्पदम्॥ (ज्ञानार्णव २५–२९, पृ. २५९)। ९. इष्टैः सह सर्वदा यदि मम संयोगो भवति, वियोगो न कदाचिदपि स्याद्यद्येवं चिन्तनमार्तध्यानं द्वितीयम्। (मूला. वृ. ५–१९८)। १०. जीवाजीव-कलत्र-पुत्र-कनकाऽगारादिकादात्मनः, प्रेमप्रीतिवशात्मसात्कृतवहिःसंगाद्वियोगोद्गमे। क्लेशेनेष्टवियोगजार्तमचलं तच्चिन्तनं मे कथम्, न स्यादिष्टवियोग इत्यपि सदा मन्दस्य दुःकर्मणः॥ (आचा. सा. १०–१४)। ११. इष्टानां च शब्दादीनां विषयाणां सातवेदनायाश्चावियोगाध्यवसानं सम्प्रयोगाभिलाषश्च तृतीयम्। (योगशा. स्वो. विव. ३–७३; धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३–२७, पृ. ८०)। १२. मनोहरविषयवियोगे सति मनोहराः विषयाः इष्टपुत्र-मित्र-कलत्र-भ्रातृ-धन-धान्य-सुवर्ण-रत्न-गज-तुरंग-वस्त्रादयः, तेषां वियोगे विप्रयोगे तं वियुक्तं पदार्थं कथं प्रापयामि लभे, तत्संयोगाय वारंवारं स्मरणं विकल्पश्चिन्ताप्रबन्ध इष्टवियोगाख्यं द्वितीयमार्तम्। (कार्तिके. टी. ३७४)।

२ पुत्र, पत्नी एवं धन आदि इष्ट पदार्थों का वियोग होने पर उनके संयोग के लिये जो वार-वार चिन्ता होती है; वह इष्टवियोगज आर्तध्यान कहलाता है।

इहलोकभय—१. इहलोकभयं हि क्षुत्पिपासापीडादिविषयम्। (रत्नक. टी. ५–८)। २. मनुष्यादिकस्य सजातीयादेरन्यस्मान्मनुष्यादेरेव सकाशाद् भयम् तदिहलोकभयम्। (ललितवि. मु. पं. पृ. ३८)। ३. तत्र यत्स्वभावात्प्राप्यते यथा मनुष्यस्य मनुष्यात्, तिरश्चः तिर्यग्भ्यः इत्यादि तदिहलोकभयम्। (आव. भा. मलय. वृ. १८४, पृ. ५७३)। ४. तत्रेहलोकतो भीतिः क्रन्दितं चात्र जन्मनि। इष्टार्थस्य व्ययो मा भून्माभून्मेऽनिष्टसंगमः॥ (पंचाध्यायी २–५०६)। ५. मनुष्यस्य मनुष्याद् भयं इहलोकभयम्। (कल्पसू. वि. वृ. १–१५, पृ. ३०)।

१ इस लोक सम्बन्धी भूख-प्यास आदि की पीड़ा के भय को इहलोकभय कहते हैं। २ सजातीय मनुष्य आदि को जो अन्य मनुष्य आदि से भय होता है उसे इहलोकभय कहते हैं।

इहलोकसंवेजनी—जहा सव्वमेयं माणुसत्तणं असारमधुवं कदलीथंभसमाणं, एरिसं कहं कहेमाणो धम्मकही सोयारस्स संवेगमुप्पाएइ, एसा इहलोकसंवेयणी। (दशवै. नि. हरि. वृ. ३–१९९)।

यह मनुष्य पर्याय कदली-स्तम्भ के समान असार व अस्थिर है, इस प्रकार की कथा को कहने वाला उपदेशक चूंकि श्रोताओं के हृदय में इस लोक से वैराग्य को उत्पन्न करता है, अतः उसे इहलोकसंवेजनी कथा कहते हैं।

इहलोकाशंसाप्रयोग — इहलोको मनुष्यलोकः, तस्मिन्नाशंसाभिलाषः, तस्याः प्रयोगः। (श्रा. प्र. टी. ३८५)।

इस लोक (मनुष्यलोक) के विषय में अभिलाषा के प्रयोग को इहलोकाशंसाप्रयोग कहते हैं। यह एक संलेखना का अतिचार है।

ईर्यापथकर्म—१. जं तमीरियावहकम्मं णाम । तं छदुमत्थवीयरायाणं सजोगिकेवलीणं वा तं सव्वमीरियावहकम्मं णाम ॥ (षट्खं. ५, ४, २३–२४, पु. १३, पृ. ४७)। २. ईरणमीर्या योगो गतिरित्यर्थः, तद्द्वारकं कर्म ईर्यापथम् । (स. सि. ६–४)। ३. ईरणमीर्या योगगतिः । × × × ईरणमीर्या योगगतिरिति यावत् । तद्द्वारकमीर्यापथम् । सा ईर्या द्वारं पन्था यस्य तदीर्यापथं कर्म । × × × उपशान्तक्षीणकषाययोः योगिनश्च योगिवशादुपात्तं कर्म कषायाभावाद् बन्धाभावे शुष्ककुडयपतितलोष्ठवद् अनन्तरसमये निर्वतमानमीर्यापथमित्युच्यते । (त. वा. ६, ४, ६–७) । ४. अकषायस्येर्यापथस्यैवैकसमयस्थितेः । (त. भा. ६–५)। ५. ईर्या योगः, स पन्था मार्गः हेतुः यस्य कर्मणः तदीर्यापथकर्म । जोगणिमित्तेणेव जं बज्झइ तमीरियावहकम्मं ति भणिदं होदि । × × × एत्थ ईरियावहकम्मस्स लक्खणं गाहाहि उच्चदे । तं जहा—अप्पं बादर मवुअं बहुअं लुक्खं च सुक्किलं चेव । मंदं महव्वयं पि य सादब्भहियं च तं कम्मं ॥ गहिदमगहिदं च तहा बद्धमबद्धं च पुट्ठपुट्ठं च । उदिदाणुदिदं वेदिदमवेदिदं चेव तं जाणे ॥ णिज्जरिदाणिज्जरिदं उदीरिदं चेव होदि णायव्वं । अणुदीरिदं ति य पुणो इरियावहलक्खणं एदं ॥ (धव. पु, १३, पृ. ४७–४८) । ६. ईर्या योगगतिः, सैव यथा [पन्था] यस्य तदुच्यते । कर्मेर्यापथमस्यास्तु शुष्ककुडयेऽश्मवच्चिरं ॥ × × × कषायपरतंत्रस्यात्मनः साम्परायिकास्रवस्तदपरतंत्रस्येर्यापथास्रव इति सूक्तम् । (त. श्लो. वा. ६, ४, ६) । ७. ईरणमीर्या गतिरागमानुसारिणी । विहितप्रयोजने सति पुरस्ताद् युगमात्रदृष्टिः स्थावर-जंगमाभिभूतानि परिवर्जयन्नप्रमत्तः शनैर्यायात् तपस्वीति सैवंविधा गतिः पन्थाः मार्गः प्रवेशो यस्य कर्मणस्तदीर्यापथम् । (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–५) । ८. ईरणमीर्या गतिरिति यावत्, सा ईर्या द्वारं पन्था यस्य तदीर्यापथं कर्म । (त. सुखबो. वृ. ६–४) । ९. ईर्येति कोऽर्थः ? —योगो गतिः योगप्रवृत्तिः काय-वाङ्-मनोव्यापारः कायवाङ्मनोवर्गणावलम्बी च आत्मप्रदेशपरिस्पन्दो जीवप्रदेशचलनम् ईर्येति भण्यते, तद्द्वारकं कर्म ईर्यापथम् । (त. वृत्ति श्रुत. ६–४) ।

२ ईर्या का अर्थ योग है, एक मात्र उस योग के द्वारा जो कर्म आता है उसे ईर्यापथकर्म कहते हैं।

ईर्यापथक्रिया— १. ईर्यापथनिमित्तेर्यापथक्रिया । (स. सि. ६–५; त. वा. ६, ५, ७) । २. ईर्यापथनिमित्ता या सा प्रोक्तेर्यापथक्रिया । (ह. पु. ५८, ६५) । ३. ईर्यापथक्रिया तत्र प्रोक्ता तत्कर्महेतुका । (त. श्लो. ६, ५, ७) । ४. ईर्यापथकर्मणो याऽति (हि ?) निमित्तभूता बध्यमान-वेद्यमानस्य सेर्यापथक्रिया । (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–६) । ५. अर्जयन्त्युपशान्ताद्या ईर्यापथमथापरे । (त. सा. ४–५) ।

२ ईर्यापथ कर्म की कारणभूत क्रिया को ईर्यापथक्रिया कहते हैं।

ईर्यापथशुद्धि—१. ईर्यापथशुद्धिर्नानाविधजीवस्थानयोन्याश्रयावबोधजनितप्रयत्नपरिहृतजन्तुपीडा ज्ञानादित्य-स्वेन्द्रियप्रकाशनिरीक्षितदेशगामिनी द्रुत-विलम्बित-सम्भ्रान्त-विस्मित-लीलाविकार-दिगन्तरावलोकनादिदोषपरहितगमना । तस्यां सत्यां संयमः प्रतिष्ठितो भवति विभव इव सुनीतौ । (त. वा. ९, ६, १५; चा. सा. पृ. ३५; कार्तिके. टी. ३९९) । २. भयविस्मय-विभ्रान्ति-लीलाविकृतिलङ्घन- । प्रधावनाद्यपेतेर्यापथशुद्धिर्दयान्विता ॥ (आचा. सा. ८–१२) ।

१ जीवस्थान व योनि आदि के परिज्ञानपूर्वक प्राणिपीडाके परिहारका प्रयत्न करते हुए ज्ञान व सूर्यप्रकाश से आलोकित मार्ग पर द्रुत-विलम्बित, सम्भ्रान्त, विस्मय और दिगन्तरावलोकन आदि दोषों से रहित होकर चलने को ईर्यापथशुद्धि कहते हैं।

ईर्यापथिकी क्रिया—देखो ईर्यापथक्रिया। ईर्यापथिकी क्रिया केवलिनामेकसामयिकरूपा । (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. १५, पृ. ४१) ।

ईर्यापथ कर्म की कारणभूत जो केवलियों के एक समय रूप क्रिया हुआ करती है वह ईर्यापथिकी क्रिया कहलाती है।

ईर्यासमिति—१. फासुयमग्गेण दिवा जुगंतरप्पेहिणा सकज्जेण । जंतूण परिहरंतेणिरियासमिदी हवे गमणं ॥ (मूला. १–११); मग्गुज्जोवुपओगालंबणसुद्धीहि इरियदो मुणिणो । सुत्ताणुवीचि भणिया इरियासमिदी पवयणम्मि ॥ (मूला. ५–१०५; भ. आ. ११९१) । २. फासुयमग्गेण दिवा अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि । गच्छइ पुरदो समणो इरियासमिदी हवे तस्स ॥ (नि. सा. ६१) । ३. आवश्यकायैव संयमार्थं सर्वतो युगमात्रनिरीक्षणायुक्तस्य

शनैर्न्यस्तपदा गतिरीर्यासमितिः। (त. भा. ९–५)। **४. तत्र व्रज्यायां जीवधपरिहारः ईर्यासमितिः।** विदित-जीवस्थानादिविधेर्मुनेर्धर्मार्थं प्रयतमानस्य सवितर्युदिते चक्षुषो विषयग्रहणसामर्थ्ये उपजाते मनुष्यादिचरण-पातोपहतावश्यायप्रायमार्गेऽनन्यमनसः शनैर्न्यस्त-पादस्य संकुचितावयवस्य युगमात्रपूर्वनिरीक्ष-णावहितदृष्टेः पृथिव्याद्यारम्भाभावात् ईर्या-समितिरित्याख्यायते। (त. वा. ९, ५, ३)। ५. ईर्यासमितिर्नाम रथ-शकट-यान-वाहनाक्लान्तेषु मार्गेषु सूर्यरश्मिप्रतापितेषु प्रासुकविविक्तेषु पथिषु युगमात्रदृष्टिना भूत्वा गमनागमनमिति। (श्राव. हरि. वृ. पृ. ६१५)। ६. ईरणम् ईर्या गमनम्, तत्र समितिः सङ्गतिः श्रुतरूपेणात्मनः परिणामः, तदुपयोगिता पुरस्ताद् युगमात्रया दृष्ट्या स्थावर-जंगमानि भूतानि परिवर्जयन्नप्रमत्त इत्यादिको विधिरीर्यासमितिः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ७–३); ईरणमीर्या गतिः परिणतिः सम्यग् आग-मानुसारिणी गतिरीर्यासमितिः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ९–५); सम्यग् आगमपूर्विका ईर्या गमनम् आत्म-परबाधापरिहारेण। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ९–५)। ७. चक्षुर्गोचरजीवौघान् परि-हृत्य यतेर्यतः। ईर्यासमितिराद्या सा व्रतशुद्धिकरी मता॥ (ह. पु. २–१२२)। ८. चर्यायां जीवबाधा-परिहारः ईर्यासमितिः। (त. श्लो. ९–५)। ९. मार्गोद्योतोपयोगानामालम्ब्यस्य च शुद्धिभिः। गच्छतः सूत्रमार्गेण स्मृतेर्यासमितिर्यतेः॥ (त. सा. ६–७)। १०. सिद्धक्षेत्राणि सिद्धानि जिनबिम्बानि वन्दितुम्। गुर्वाचार्य-तपोवृद्धान् सेवितुं व्रजतोऽथवा॥ दिवा सूर्यकरैः स्पृष्टं मार्गं लोकातिवाहितम्। दया-र्द्रस्यांगिरक्षार्थं शनैः संश्रयतो मुनेः॥ प्रागेवालोक्य यत्नेन युगमात्राहितेऽक्षिणः। प्रमादरहितस्यास्य समितीर्या प्रकीर्तिता॥ (ज्ञानार्णव १८, ५–७, पृ. १८९)। ११. ईर्यायाः समितिः ईर्यासमितिः सम्यग-वलोकनं समाहितचित्तस्य प्रयत्नेन गमनागमनादि-कम्। (मूला. वृ. १–११०)। १२. पुरो युगान्तरे-ऽक्षस्य दिने प्रासुकवर्त्मनि। सदयस्य सकार्यस्य स्यादीर्यासमितिर्गतिः॥ (आचा. सा. १–२२); मन्दं न्यस्तपदापास्तद्रुतातीदविलम्बिनः। दिपेन्द्र-मन्दयानस्य स्यादीर्यासमितिर्गतिः॥ (आचा. सा. ५–७८)। १३. लोकातिवाहिते मार्गे चुम्बिते भास्वदंशुभिः। जन्तुरक्षार्थमालोक्य गतिरीर्या मता-सताम्॥ (योगशा. १–३६)। १४. स्यादीर्यासमितिः श्रुतार्थविदुषो देशान्तरं प्रेप्सतः, [1]श्रेयःसाधनसिद्धये नियमिनः कामं जनैर्वाहिते। मार्गे कौक्कुटिकस्य भास्करकरस्पृष्टे दिवा गच्छतः, कारुण्येन शनैः पदानि ददतः पातुं प्रयत्याङ्गिनः॥ (अन. ध. ४–१६४)। १५. जुगमित्तंतरदिट्ठी पयं पयं चक्खुणा विसोहितो। अव्वक्खित्ताउत्तो इरियासमिओ मुणी होइ॥ (गु. गु. षट्. ३, पृ. १४; उप. मा. २९६)। १६. ईर्यासमितिर्नाम कर्मोदयाऽऽपादित-विशेषैक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्चेन्द्रियभेदेन चतुर्द्विद्विद्विचतुर्विकल्पचतुर्दश-जीवस्थानादिविधानवेदिनो मुनेर्धर्मार्थं प्रयतमानस्य सवितर्युदिते चक्षुषोर्विषयग्रहणसामर्थ्यमुपजनयतः (कार्ति.—धर्मार्थं पर्यटतः गच्छतः सूर्योदये चक्षुषो विषयग्रहणसामर्थ्यम् उपजायते।) मनुष्य-हस्त्यश्व-शकट-गोकुलादिचरणपातोपहतावश्यायप्राये (चा.—प्रालेय) मार्गेऽनन्यमनसः शनैर्न्यस्तपादस्य सङ्कु-चितावयवस्य उत्सृष्टपार्श्वदृष्टेर्युगमात्रपूर्वनिरीक्षणा-वहितलोचनस्य स्थित्वा दिशो विलोकयतः पृथि-व्याद्यारम्भाभावादीर्यासमितिरित्याख्यायते। (चा. सा. पृ. ३१; कार्तिके. टी. ३९९)। १७. मार्तण्ड-किरणस्पृष्टे गच्छतो लोकवाहिते। मार्गे दृष्ट्वा ऽङ्गिसङ्घातमीर्यादिसमितिर्मता॥ (धर्म. श्रा. ९–४) १८. तीर्थयात्रा-धर्मकार्याद्यर्थं गच्छतो मुने-श्चतुःकरमात्रमार्गनिरीक्षणपूर्वकं सावधानदृष्टेरप्य-ग्रचेतसः सम्यग्विज्ञातजीवस्थानस्वरूपस्य सम्यगीर्या-समितिर्भवति। (त. वृत्ति श्रुत. ९–५)। १९. ईर्यासमितिश्चतुर्हस्तवीक्षितमार्गगमनम्। (चा. प्रा. टी. ३६)। २०. दृष्ट्वा दृष्ट्वा शनैः सम्यग्युगदघ्नां धरां पुरः। निष्प्रमादो गृही गच्छेदीर्यासमिति-रुच्यते॥ (लाटीसं. ५–२१५)। २१. युगमात्रा-वलोकिन्या दृष्ट्या सूर्यांशुभासितम्। विलोक्य मार्गं गन्तव्यमितीर्यासमितिर्भवेत्॥ (लोकप्र. ३०.७४४)। २२. त्रस-स्थावरजन्तुजाताभयदानदीक्षितस्य मुने-रावश्यके प्रयोजने गच्छतो जन्तुरक्षानिमित्तं न पादाग्रादारभ्य युगमात्रक्षेत्रं यावन्निरीक्ष्य ईरणम् ईर्या गतिस्तस्याः समितिरीर्यासमितिः। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३–४७ पृ. १३०)।

१ शास्त्रश्रवण व तीर्थयात्रादिरूप कार्य के वश दिन में प्रासुक—जीव-जन्तुरहित—मार्ग से चार हाथ

भूमिको देखते हुए जन्तुओं को पीड़ा न पहुँचा कर गमन करना, इसका नाम ईर्यासमिति है।

ईर्ष्या—१. परसम्पदामसहनमीर्ष्या। (जीतक. चू. वि. व्या. पृ. ३८, ५–१६)। २. ईर्ष्या परगुणविभवाद्यक्षमा। (त. भा. हरि व सिद्ध. वृ. ६–१)। ३. ईर्ष्या प्रतिपक्षाभ्युदयजनितो मत्सरविशेषः। (शास्त्रवा. टी. १–२)।

१ दूसरों के उत्कर्ष को न सह सकना, इसका नाम ईर्ष्या है।

ईशित्व—१. णिस्सेसाण पहुत्तं जगाण ईसत्तणाम रिद्धी सा। (ति. प. ४–१०३०)। २. त्रैलोक्यस्य प्रभुतेशित्वम्। (त. वा. ३–३६; चा. सा. पृ. ९८; प्रा. योगभ. टी. ६)। ३. सव्वेसिं जीवाणं गाम-णयर-खेडादीणं च भुंजणसत्ती समुप्पण्णा ईसित्तं णाम। (धव. पु. ९, पृ. ७६)। ४. ईशित्वं त्रैलोक्यस्य प्रभुता तीर्थकर-त्रिदशेश्वर-ऋद्धिविकरणम्। (योगशा. स्वो. विव. १–८; प्रव. सारो. वृ. १४९५)।

१ समस्त जगत् के ऊपर प्रभाव डालनेवाली शक्ति को ईशित्व ऋद्धि कहते हैं।

ईश्वर—१. ईश्वरो युवराजा माण्डलिकोऽमात्यश्च। अन्ये तु व्याचक्षते–अणिमाद्यष्टविधैश्वर्ययुक्त ईश्वरः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १६)। २. येनाप्तं परमैश्वर्यं परानन्दसुखास्पदम्। वोधरूपं कृतार्थोऽसावीश्वरः पटुभिः स्मृतः॥ (आप्तस्व. २३)। ३. केवलज्ञानादिगुणैश्वर्ययुक्तस्य सतो देवेन्द्रादयोऽपि तत्पदाभिलाषिणः यस्याज्ञां कुर्वन्ति स ईश्वराभिधानो भवति। (वृ. द्रव्यसं. वृ. १४)। ४. ईश्वरः अणिमाद्यैश्वर्ययुक्तः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १६–२०५, पृ. ३३०)। ५. ईश्वरो भोगिकादि, अणिमाद्यष्टविधैश्वर्ययुक्त ईश्वर इत्येके। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, १४७, पृ. २८०)।

१ युवराज, माण्डलिक और अमात्य को ईश्वर कहा जाता है। मतान्तर से जो अणिमादिरूप आठ प्रकार के ऐश्वर्य से सम्पन्न है उसे ईश्वर कहते हैं। २ जिसने कृतकृत्य होकर निराकुल सुख के कारणभूत केवलज्ञान रूप उत्कृष्ट विभूति को प्राप्त कर लिया है, उस परमात्मा को ईश्वर कहते हैं।

ईश्वरवाद—१. अण्णाणी हु अणीसो अप्पा तस्स य सुहं च दुक्खं च। सग्गं णिरयं गमणं सव्वं ईसरकयं होदि॥ (गो. क. ८८०)। २. जीवो अण्णाणी खलु असमत्थो तस्स जं सुहं दुक्खं। सग्गं णिरयं गमणं सव्वं ईसरकयं होदि॥ (अंगप. २, २०)।

यह अज्ञ प्राणी अपने सुख और दुख को भोगने के लिए स्वयं असमर्थ होकर ईश्वर के आधीन है, उसकी प्रेरणा से ही वह स्वर्ग को या नरक को जाता है। इस प्रकार की मान्यता को ईश्वरवाद कहते हैं।

ईषत्प्राग्भार—देखो अष्टम पृथ्वी। १. सव्वट्ठसिद्धिइंदयकेदणदंडादु उवरि गंतूणं। बारसजोयणमेत्तं अट्ठमिया चिट्ठदे पुढवी॥ पुव्वावरेण तीए उवरिम-हेट्ठिम-तलेसु पत्तेक्कं। वासो हवेदि एक्का रज्जू रूवेण परिहीणा॥ उत्तर-दक्खिणभाए दीहा किंचूणसत्तरज्जूओ। वेत्तासणसंठाणा सा पुढवी अट्ठजोयणा बहला॥ जुत्ता घणोवहि-घणाणिल-तणुवादेहिं तिहिं समीरेहिं। जोयणवीससहस्सं पमाणबहलेहिं पत्तेक्कं॥ एदाए बहुमज्झे खेत्तं णामेण ईसिपब्भारं। अज्जुणसुवण्णसरिसं णाणारयणेहिं परिपुण्णं॥ (ति. प. ८, ६५२–६५६)। २. अत्थीसिप्पब्भारोवलक्खियं मणुयलोगपरिमाणं। लोगग्गनभोभागो सिद्धिक्खेत्तं जिणक्खादं॥ (विशेषा. ३८२०)। ३. अट्ठमपुढवी सत्तरज्जुआयदा एगरज्जुरुंदा अट्ठजोयणबाहल्ला सप्तमभागाहियएयजोयणबाहल्लं जगपदरं होदि। (धव. पु. ४, पृ. ९१)। ४. उपरिष्टात्पुनः सर्वकल्पविमानान्यतीत्यार्धतृतीयद्वीपविष्कम्भायामोत्तानकछत्राकृतिरीषत्प्राग्भारा। (त. भा. सिद्ध. वृ. ३–१)। ५. ईषत्—अल्पो योजनाष्टकबाहल्य - पञ्चचत्वारिंशल्लक्षविष्कम्भात् प्राग्भारः पुद्गलनिचयो यस्याः सेषत्प्राग्भाराऽष्टमपृथिवी। (स्थाना. अभय. वृ. ३, १, १४८, पृ. ११९)। ६. तिहुवणसिहरेण मही वित्थारे अट्ठजोयणुदयथिरे। धवलच्छत्तायारे मणोहरे ईसिपब्भारे॥ (क्ष. सा. ६४५)।

१ सर्वार्थसिद्धि इन्द्रक के ध्वजदण्ड से ऊपर बारह योजन जाकर आठवीं पृथिवी अवस्थित है। वह पूर्व-पश्चिम में रूप से कम एक राजु चौड़ी, उत्तर-दक्षिण में कुछ कम सात राजु लम्बी और आठ योजन मोटी है। आकार उसका वेत के आसन जैसा है। तीन वातवलयों से युक्त उस पृथिवी के

मध्य में जो सिद्धक्षेत्र अवस्थित है उसे नाम से ईषत्-प्राग्भार कहा जाता है। ४ समस्त कल्प-विमानों के ऊपर जाकर ईषत्प्राग्भार पृथिवी अवस्थित है। उसका विस्तार व आयाम अढ़ाई द्वीप प्रमाण—पैंतालीस लाख योजन—तथा आकार खुले हुए छत्र के समान है।

ईहा (मतिज्ञानभेद)–१. ईहा ऊहा अपोहा मग्गणा गवेसणा मीमांसा। (षट्खं. ५, ५, ३८–पु. १३, पृ. २४२)। २. ईहा अपोह वीमंसा मग्गणा य गवेसणा। सन्ना सई मई पन्ना सव्वं आभिणिवोहियं॥ (नन्दी. गा. ८७)। ३. अवग्रहगृहीतेऽर्थे तद्विशेषाकाङ्क्षणमीहा। (स. सि. १–१५)। ४. अवगृहीतम्। विषयार्थैकदेशाच्छेषानुगमनम्। निश्चयविशेषजिज्ञासा चेष्टा ईहा। ईहा ऊहा तर्कः परीक्षा विचारणा जिज्ञासेत्यनर्थान्तिरम्। (त. भा. १-१५)। ५. ईहा तदर्थविशेषालोचनम्। (विशेषा. को. वृ. १७८)। ६. ××× विशेषकांक्षेहा ×××। (लघीय. १–५); पुनः अवग्रहीकृतविशेषाकांक्षणमीहा। (लघीय. स्वो. वृ. १–५)। ७. तदर्थ-(अवग्रहगृहीतार्थ-) विशेषालोचनम् ईहा। (आव. नि. हरि. वृ. २, पृ. ९); ईहनमीहा ××× एतदुक्तं भवति—अवग्रहादुत्तीर्णः अवायात्पूर्वं सद्भूतार्थविशेषोपादानाभिमुखोऽसद्भूतार्थविशेषत्यागाभिमुखश्च प्रायो मधुरत्वादयः शंखशब्दधर्मा अत्र घटन्ते, न खर-कर्कश-निष्ठुरतादयः शार्ङ्गशब्दधर्मा इति मतिविशेष ईहेति। (आव. नि. हरि. वृ. ३, पृ. १०; नन्दी. हरि. वृ. २७, पृ. ६३); ईहनमीहा सतामर्थानाम् अन्वयिनां व्यतिरेकिणां च पर्यालोचना इति यावत्। (आव. नि. हरि. व मलय. वृ. १२)। ८. अवगृहीतविषयार्थैकदेशात् शेषानुगमनेन निश्चयविशेषजिज्ञासा चेष्टा ईहा। (अने. ज. प. पृ. १८)। ९. ईहा शब्दाद्यवग्रहणोत्तरकालमन्वय-व्यतिरेकधर्मालोचनचेष्टेत्यर्थः। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ७८)। १०. अवग्रहीतस्यार्थस्य विशेषाकांक्षणमीहा। (धव. पु. १, पृ. ३५४); जो अवग्गहेण गहिदो अत्थो तस्स विसेसाकांखणमीहा। जधा कं पि दट्ठूण किमेसो भव्वो अभव्वो त्ति विसेसपरिक्खा सा ईहा। (धव. पु. ६, पृ. १७); पुरुष इत्यवग्रहीते भाषा-वयो-रूपादिविशेषैराकांक्षणमीहा। (धव. पु. ९, पृ. १४४); पुरुषमवगृह्य किमयं दाक्षिणात्य उत उदीच्य इत्येवमादिविशेषाप्रतिपत्तौ संशयानस्योत्तरकालं विशेषोपलिप्सां प्रति यतनमीहा। (धव. पु. ९, पृ. १४६); अवगृहीते तद्विशेषाकांक्षणमीहा। ××× का ईहा नाम? संशयादूर्ध्वमवायादधस्तात् मध्यावस्थायां वर्तमानः विमर्शात्मकः प्रत्ययः हेत्ववष्टम्भबलेन समुत्पद्यमानः ईहेति भण्यते। (धव. पु. १३, पृ. २१७); उत्पन्नसंशयविनाशाय ईहते चेष्टते अनया बुद्धया इति ईहा। (धव. पु. १३, पृ. २४२)। ११. का ईहा? ओग्गहणाणग्गहिए अत्थे विण्णाणाउपमाण-देस-भासादिविसेसाकांखणमीहा। ओग्गहादो उवरि अवायादो हेट्ठा जं णाणं विचारप्पयं समुप्पण्णसंदेहछिंदणसहावमीहा त्ति भणिदं होदि। (जयध. १, पृ. ३३६)। १२. यदा हि सामान्येन स्पर्शनेन्द्रियेण स्पर्शसामान्यमागृहीतमनिर्देश्यादिरूपं तत उत्तरं स्पर्शभेदविचारणा ईहाभिधीयते इति। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–१५); तस्यैव (सामान्यानिर्देश्यस्वरूपस्य नामादिकल्पनारहितस्य) स्पर्शादेः किमयं स्पर्श उतास्पर्श इत्येवं परिच्छेदिका ईहा। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–१७); ईहा तत्त्वान्वेषिणी जिज्ञासा। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–६, पृ. ५९)। १३. अवग्रहगृहीतस्य वस्तुनो भेदमीहते। व्यक्तमीहा ×××॥ (त. श्लो. १, ६, ३२); तद्गृहीतार्थसामान्ये यद्विशेषस्य कांक्षणम्। निश्चयाभिमुखं सेहा संशीतेर्भिन्नलक्षणा। (त. श्लो. १, १५, ३)। १४. तद्गृहीतवस्तुविशेषाकांक्षणमीहा। (प्रमाणप. पृ. ६८)। १५. अवग्रहाद् विशेषाकाङ्क्षा विशेषेहा। (सिद्धिवि. टी. २–६, पृ. १३७)। १६. तदवगृहीतविशेषस्य 'देवदत्तेन भवितव्यम्' इति भवितव्यतामुल्लिखन्ती प्रतीतिरीहा। (प्रमाणनि. २–२८)। १७. विसयाणं विसईणं संजोगाणंतरं हवे णियमा। अवगहणाणं गहिदे विसेसकंखा हवे ईहा॥ (गो. जी. ३०७)। १८. तदुत्तर-(अवग्रहोत्तर-) कालभाविनी ईहा, ईहनमीहा चेष्टा कायवाङ्मनोलक्षणा। (कर्मवि. पू. व्या. १३, पृ. ८)। १९. अवगृहीतार्थविशेषाकांक्षणमीहा। (प्र. न. त. २–८)। २०. अवगृहीतस्यैव वस्तुनोऽपि किमयं भवेत् स्थाणुः पुरुषो वा, इत्यादि वस्तुधर्मान्वेषणात्मको वितर्क ईहा। (कर्मवि.

पर. न्या. पृ. ६)। २१. अपि किन्वयं भवेत् पुरुष एव उत स्थाणुः इत्यादिवस्तुधर्मान्वेपणात्मकं ज्ञानचेष्टनमीहा। (कर्मस्त. गो. वृ. ६, पृ. ८०)। २२. पुनः अवग्रहोत्तरकालम्, अवग्रहेण विषयीकृतः अवग्रहीकृतः, अवान्तरमनुष्यत्वादिजातिविशेषः, तस्य विशेषः कर्णाट-लाटादिभेदः, तस्य आकाक्षणं भवितव्यताप्रत्ययरूपतया ग्रहणाभिमुख्यम्, ईहा भवति। (न्यायकु. १, पृ. १७२)। २३. अवगहिदत्थस्स पुणो सग-सगविसएहिं जादसारस्स। जं च विसेसग्गहणं ईहाणाणं हवे तं तु ॥ (जं दी. प. १३-५८)। २४. ईहा वितर्को मतिः। (समवा. अभय. वृ. १४०)। २५. गृहीतस्यार्थस्य विशेषाकांक्षणमीहा, योऽवग्रहेण गृहीतोऽर्थस्तस्य विशेषाकांक्षणं भवितव्यताप्रत्ययम्। (मूला. वृ. १२-१८७)। २६. अवगृहीतविशेषाकांक्षणमीहा। (प्रमाणमी. १, १, २७); अवगृहीतस्य शब्दादेरर्थस्य 'किमयं शब्दः शाङ्खः शार्ङ्गो वा इति संशये सति माधुर्यादयः शाङ्खधर्मा एवोपलभ्यन्ते, न कार्कश्यादयः शार्ङ्गधर्माः इत्यन्वय-व्यतिरेकरूपविशेषपर्यालोचनरूपा मतेश्चेष्टेहा। (प्रमाणमी. स्वो. वृ. १, १, २७)। २७. ईहनमीहा—सद्भूतार्थपर्यालोचनरूपा चेष्टा इत्यर्थः। किमुक्तं भवति ? अवग्रहादुत्तरकालमपायात् पूर्वं सद्भूतार्थविशेषोपादानाभिमुखोऽसद्भूतार्थविशेषपरित्यागाभिमुखः प्रायोऽत्र मधुरत्वादयः शङ्खादिधर्मा दृश्यन्ते, न कर्कश-निष्ठुरतादयः शार्ङ्गादिधर्मा इत्येवंरूपो मतिविशेष ईहा। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १५-२००, पृ. ३१०; आव. नि. मलय. वृ. २, पृ. २२; नन्दी. मलय. वृ. सू. २६, पृ. १६८)। २८. ईहनमीहा अवगृहीतस्यार्थस्यासद्भूतविशेषपरित्यागेन सद्भूतविशेषादानाभिमुखो बोधविशेषः। (व्यव.भा.मलय. वृ. १०-२७६, पृ. ४०)। २९. अवगृहीतशब्दाद्यर्थगत(तासद्भूत-) सद्भूतपरित्यागा-(दाना-)भिमुखं प्रायो मधुरत्वादयः शाङ्खशब्दधर्मा अत्र घटन्ते, न खर-कर्कश-निष्ठुरतादयः शार्ङ्गशब्दधर्माः इति ज्ञानमीहा। (धर्मसं. मलय. वृ. ८२३, पृ. २९४)। ३०. अवगृहीतस्यैव वस्तुनोऽपि किमयं भवेत् स्थाणुरेव, न तु पुरुष इत्यादि वस्तुधर्मान्वेपणात्मकं ज्ञानचेष्टनमीहा। 'अरण्यमेतत् सवितास्तमागतो न चाधुना सम्भवतीह मानवः। प्रायस्तदेतेन खगादिभाजा भाव्यं स्मरारातिसमाननाम्ना ॥' इत्याद्यन्वयधर्मघटन-व्यतिरेकधर्मनिराकरणाभिमुखताऽऽलिङ्गितो ज्ञानविशेष ईहा। (प्रव. सारो. वृ. १२५३, पृ.३६०; कर्मवि. दे.स्वो. वृ. ५)। ३१. अवग्रहगृहीतार्थसमुद्भूतसंशयनिरासाय यत्नमीहा। (न्या.दी. २, पृ. ३२)। ३२.××× तत्तो विशेषकंखा हवे ईहा। (अंगप. ३-६१, पृ. २८८)। ३३. पुनरवगृहीतविषयसंशयानन्तरं तद्विशेषाकाङ्क्षणमीहा। (षड्द. स. टी. ४-५५, पृ. २०८)। ३४. इन्द्रियान्तरविषयेषु मनोविषये चावग्रहगृहीते यथावस्थितस्य विशेषस्याकांक्षारूपेहा। (गो. जी. म. प्र. टी. ३०८)। ३५. इन्द्रियान्तरविषयेषु मनोविषये चावग्रहगृहीते यथावस्थितस्य विशेषस्याकांक्षारूपेहा। (गो. जी. जी. प्र. टी. ३०८)। ३६. अवगृहीतार्थाभिमुखा मतिचेष्टा पर्यालोचनरूपा ईहा। (जम्बूद्वी. वृ. ३-७०)। ३७. अवगृहीतविशेषाकांक्षणमीहा, व्यतिरेकधर्मनिराकरणपरोऽन्वयधर्मघटनप्रवृत्तो बोध इति यावत्। (जैनत. पृ. ११६)।

१ ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा और मीमांसा ये ईहा के नामान्तर हैं। ३ अवग्रह से जाने गये पदार्थ के विशेष जानने की इच्छा को ईहा कहते हैं।

ईहावरणीय कर्म—एतस्या (ईहायाः) आवारकं कर्म ईहावरणीयं। (धव. पु. १३, पृ. २१८)।

इस (ईहामतिज्ञान) को आच्छादित करने वाले कर्म को ईहावरणीय कहते हैं।

उक्त—१. उक्तं प्रतीतम् (शब्दे उच्चारिते सति यदवग्रहादिज्ञानं जायते तदुक्तम्)। (त. वा. १, १६, १६)। २. एतत्प्रतिपक्षः (इन्द्रियप्रतिनियतगुणविशिष्टवस्तूपलम्भकाले एव तदिन्द्रियानियतगुणविशिष्टस्यार्थस्योपलम्भकादनुक्तप्रत्ययाद् विपरीतः) उक्तप्रत्ययः। (धव. पु. ९, पृ. १५४; पु. १३, पृ. २३९)। ३. ××× उक्तार्थः प्ररूप्यते। स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनश्च खम्। अर्थः स्पर्शो रसो गन्धो रूपं शब्दः श्रुतादयः ॥ (आचा. सा. ४, २४-२५)।

२ विवक्षित इन्द्रिय के प्रतिनियत गुण से युक्त वस्तु का ग्रहण होने पर उसके प्रतिनियत गुण का ही ज्ञान होना, इतर गुण का ज्ञान न होना; इसका नाम उक्त प्रत्यय है।

उक्तावग्रह—१. णियमियगुणविसिट्ठअत्थग्गहणं उत्तावग्गहो। जहा चक्खिदिएण धवलत्थग्गहणं, घाणिंदि-

एण सुअंधदव्वग्गहणमिच्चादि। (धव. पु. ६, पृ. २०)। २. उक्तमवगृह्णातीत्ययं तु विकल्पः श्रोत्रादिविषय एव, न सर्वव्यापीति। यत उक्तमुच्यते शब्दः, स चाप्यक्षरात्मकः, तमवगृह्णातीति। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–१६)। ३. इतरस्य (उक्तस्य) सर्वात्मना प्रकाशितस्य ××× अवग्रहः। (त. श्लो. १, १६, ४)। ४. नियमितगुणविशिष्टार्थग्रहणमुक्तावग्रहः, यथा चक्षुरिन्द्रियेण धवलग्रहणम्। (मूला. वृ. १२–१८७)। ५. तस्यैव परेणोक्तस्य कर्परादेर्ग्र[देरग्र]हणम् उक्तावग्रहः। (त. सुखबो. वृ. १–१६)। ६. अनुक्तं च अभिप्राये स्थितम्। ×××अनुक्तस्य अवग्रहः, तदितरस्योक्तस्यावग्रहः। (त. वृत्ति श्रुत. १–१६)।

१ नियमित गुणविशिष्ट द्रव्य के अथवा उसके एक देश के ग्रहण करने को उक्तावग्रह कहते हैं। जैसे चक्षु इन्द्रिय के द्वारा धवल अर्थ का ग्रहण अथवा घ्राण इन्द्रिय के द्वारा सुगन्ध द्रव्य का ग्रहण।

उग्रतप — १. चतुर्थ-षष्ठाष्टम-दशम-द्वादश-पक्ष-मासाद्यनशनयोगेष्वन्यतमयोगमारभ्य आमरणान्तादनिवर्तका उग्रतपसः। (त. वा. ३–३६, पृ. २०३)। २. पञ्चम्यां अष्टम्यां चतुर्दश्यां च प्रतिज्ञातोवासा अलाभद्वये त्रये वा तथैव निर्वाहयन्ति, एवंप्रकारा उग्रतपसः। (प्रा. योगिभक्ति टी. १५, पृ. २०३)। ३. पञ्चम्यां अष्टम्यां चतुर्दश्यां च गृहीतोपवासव्रता अलाभद्वये अलाभत्रये वा त्रिभिरुपवासैश्चतुर्भिरुपवासैः पञ्चभिरुपवासैः कालं निर्गमयन्ति इत्येवंप्रकाराः उग्रतपसः। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३६)।

१ एक, दो, तीन, चार, पांच व पन्द्रह दिन तथा एक मास आदि का; इस प्रकार इन उपवासयोगों में से किसी भी एक उपवास योग को प्रारम्भ कर मरण पर्यन्त उससे च्युत न होना, उसका बराबर निर्वाह करना; इसका नाम उग्रतप ऋद्धि है। इस ऋद्धि के धारक साधु भी उग्रतप—उग्रतपस्वी—कहे जाते हैं।

उग्रोग्रतप—१. उग्गतवा दोभेदा उग्गोग्ग-अवट्ठिदुग्गतवणामा॥ दिक्खोववासमादिं कादूणं एक्काहिएक्कपचएण। आमरणंतं जवणं होदि उग्गोग्गतवरिद्धी॥ (ति. प. १०५०–५१)। २. उग्गतवा दुविहा उग्गुग्गतवा अवट्ठिदुग्गतवा चेदि। तत्थ जो एक्कोववासं काऊण पारिय दो उववासे करेदि, पुणरवि पारिय तिण्णि उववासे करेदि। एवमेगुत्तरवड्ढीए जाव जीविदंतं तिगुत्तीगुत्तो होदूण उववासे करेंतो उग्गुग्गतवो णाम। (धव. पु. ९, पृ. ८७)। ३. तत्रोग्रतपसा द्विविधा उग्रोग्रतपसः अवस्थितोग्रतपसश्चेति। तत्रैकमुपवासं कृत्वा पारणं विधाय द्विदिनमुपोष्य तत्पारणानन्तरं पुनरप्युपवासत्रयं कुर्वन्ति। एवमेकोत्तरवृद्ध्या यावज्जीवं त्रिगुप्तिगुप्ताः सन्तो ये केचिदुपवसन्ति ते उग्रोग्रतपसः। (चा. सा. पृ. ९८)।

१ दीक्षा के उपवास को आदि करके बीच में पारणा करते हुए एक-एक अधिक उपवास को मरण-पर्यन्त बढ़ाते हुए जीवन यापन करने को उग्रोग्रतप ऋद्धि कहते हैं।

उच्चगोत्र—१. यस्योदयात् लोकपूजितेषु कुलेषु जन्म तदुच्चैर्गोत्रम्। (स. सि. ८–१२; त. वा. ८, १२, २; मूला. १२–१९७; त. सुखबो. ८-१२; त. वृत्ति श्रुत. ८–१२; भ. आ. मूला. टी. २१२१)। २. उच्चैर्गोत्रं देश-जाति-कुल-स्थान-मान-सत्कारैश्वर्याद्युत्कर्षनिर्वर्तकम्। (त. भा. ८–१२)। ३. जस्स कम्मस्स उदएण उच्चागोदं होदि तं उच्चागोदं। गोत्रं कुलं वंशः सन्तानमित्येकोऽर्थः। (धव. पु. ६, पृ. ७७); दीक्षायोग्यसाध्वाचाराणां साध्वाचारैः कृतसम्बन्धानाम् आर्यप्रत्ययाभिधान-व्यवहारनिबन्धनानां पुरुषाणां सन्तान उच्चैर्गोत्रम्, तत्रोत्पत्तिहेतुकर्माप्युच्चैर्गोत्रम्। (धव. पु. १३, पृ. ३८९)। ४. उत्तमजातित्वम्, प्रशस्यता, पूज्यत्वं चोच्चैर्गोत्रम्। (पंचसं. स्वो. वृ. ३–५, पृ. ११२)। ५. अधणी बुद्धिविउत्तो रूवविहीणो वि जस्स उदएणं। लोयम्मि लहइ पूयं उच्चागोयं तयं होइ॥ (कर्मवि. ग. १५४)। ६. उच्चैर्गोत्रं पूज्यत्वनिबन्धनम्। (स्थाना. अभय. वृ. २, ४, १०५, पृ. ९२)। ७. उच्चैर्गोत्रं यदुदयादज्ञानो विरूपोऽपि सत्कुलमात्रादेव पूज्यते। (श्रा. प्र. टी. २५; धर्मसं. मलय. वृ. ६३२)। ८. उच्चं णीचं चरणं उच्चं णीचं हवे गोदं। (गो. क. १३)। ९. उत्तमजाति-कुल-बल-रूप-तपऐश्वर्य-श्रुतलाभाख्यैरष्टभिः प्रकारैर्वेद्यत इत्युच्चैर्गोत्रम्। (शतक. मल. हेम. वृ. ३७–३८, पृ. ५१)। १०. उच्चैर्नीचैर्भेदद् गोत्रं कर्मोच्चैर्नीचगोत्रकृत्। (त्रि. श. पु. च. २, ३, ४७४)। ११. यदुदयवशात् उत्तम जाति-कुल-बल-तपो-ऐश्वर्य-

श्रुतसत्काराभ्युत्थानासनप्रदानाञ्जलिप्रग्रहादिसम्भवस्तदुच्चैर्गोत्रम्। (पंचसं. मलय. वृ. ३–५, पृ. ११३; प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३, २, २९३, पृ. ४७५; कर्मप्र. यशो. वृ. १, पृ. ७)। १२. यदुदयादुत्तमकुलजातिप्राप्तिः सत्काराभ्युत्थानाञ्जलिप्रग्रहादिरूपपूजालाभसम्भवश्च तदुच्चैर्गोत्रम्। (षष्ठ क. मलय. वृ. ६, पृ. १२७)। १३. अघनी धनहीनः, बुद्धिवियुक्तः मतिनिर्मुक्तः, रूपविहीनः रूपरहितोऽपि। यस्य कर्मण उदयेन लोके जातिमात्रादेव पूजां लभते तदुच्चैर्गोत्रं पूर्णकलशकारिकुम्भकारतुल्यम्। (कर्मवि. पा. व्या. १५४, पृ. ६३)। १४. यथा हि कुलालः पृथिव्यास्तादृशं पूर्णकलशादिरूपं करोति, यादृशं लोकात् कुसुम-चन्दनादिभिः पूजां लभते × × × तथा यदुदयाद् निर्धनः कुरूपो बुद्ध्यादिपरिहीनोऽपि पुरुषः सुकुलजन्ममात्रादेव लोकात् पूजां लभते तत् उच्चैर्गोत्रम्। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ५१)।

१ जिसके उदय से लोकपूजित कुल में जन्म हो उसे उच्चगोत्र कहते हैं। ११ जिसके उदय से जीव उत्तम जाति, कुल, बल, रूप, तप, ऐश्वर्य और श्रुत आदि द्वारा जगत् में पूजा व आदर-सत्कारादि को प्राप्त हो उसे उच्चगोत्र जानना चाहिये।

उच्चताभृतक–भ्रियते पोष्यते स्मेति भृतः, स एवानुकम्पितो भृतकः—कर्मकरः इत्यर्थः। × × × मूल्यकालनियमं कृत्वा यो नियतं यथावसरं कर्म कार्यते स उच्चताभृतकः। (स्थाना. अभय. वृ. ४, १, २७१, पृ. १९१–९२)।

काल के अनुसार किसी कार्य का मूल्य निश्चित करके यथावसर कार्य जिससे कराया जाता है उसे उच्चताभृतक कहते हैं।

उच्चयबन्ध—से किं तं उच्चयबंधे? उच्चयबंधे जं णं तणरासीण वा कट्ठरासीण वा पत्तरासीण वा तुसरासीण वा भुसरासीण वा गोमयरासीण वा अवगररासीण वा उच्चत्तेणं बंधे समुप्पज्जइ, जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोस्सेणं संखेज्जं कालं से त्तं उच्चयबंधे। (भगवती ८, ९, १४—खण्ड ३, पृ. १०३)।

तृणराशि, काष्ठराशि, पत्रराशि, तुषराशि, भुसराशि, गोबरराशि और अवकर (कचड़ा) राशि, इनका ऊंचा ढेर करने को उच्चयबन्ध कहा जाता है।

उच्चस्थान—उच्चस्थानं स्वगृहान्तः स्वीकृतयतिं नीत्वा निरवद्यानुपहतस्थाने उच्चासने निवेशनम्। (सा. ध. स्वो. टी. ५–४५)।

पडिगाहे गये साधु को घर के भीतर ले जाकर निर्दोष व निर्बाध स्थान में उच्च आसन पर बैठाने को उच्चस्थान भक्ति कहते हैं।

उच्चारप्रस्रवणसमिति— वणदाह-किसि-मसिकदे थंडिल्लेणुप्परोध वित्थिण्णे। अवगदजंतुविवित्ते उच्चारादी विसज्जेज्जो॥ (मूला. ५–१२४)।

जो स्थान दावाग्नि से जल गया है, जहां खेती की गई है, जहां शवदाह आदि हुआ है, जो ऊषर—अंकुरोत्पादन से रहित है, तथा द्वीन्द्रियादि जीवों से भी रहित है, ऐसे विस्तीर्ण निर्जन स्थान में मल-मूत्रादि के विसर्जन को उच्चारप्रस्रवणसमिति कहते हैं।

उच्छादन—प्रतिबन्धकहेतुसन्निधाने सति अनुद्भूतवृत्तिता अनाविर्भाव उच्छादनम्। (स. सि. ६, २५)।

विरोधी कारणों के मिलने पर गुणों के नहीं प्रगट करने को उच्छादन कहते हैं।

उच्छेद—देखो अन्तर। अंतरमुच्छेदो विरहो परिणामंतरगमणं णत्थित्तगमणं अण्णभावव्ववहाणमिदि एयट्ठो। (धव. पु. ५, पृ. ३)।

अन्तर, उच्छेद, विरह, अन्य परिणाम की प्राप्ति, नास्तित्व की प्राप्ति और अन्य भाव का व्यवधान; इन सबका एक ही अर्थ है। तात्पर्य यह कि एक अवस्था को छोड़कर अन्य अवस्था को प्राप्त होते हुए पुनः उक्त (पूर्व) अवस्था के प्राप्त होने में जो काल लगता है उसका नाम उच्छेद (अन्तर) है।

उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिका (उत्सण्हसण्हिया) — देखो उत्संज्ञासंज्ञा। १. परमाणू य अणंता सहिया उस्सण्हसण्हिया एक्का। (जीवस. ९६)। २. अणंताणं परमाणुपोग्गलाणं समुदयसमितिसमागमेणं सा एगा उस्सण्हसण्हिया। (भगवती श. ६, ७, पृ. ८२७)। ३. एते चानन्ताः परमाणवः एका अतिशयेन श्लक्ष्णा श्लक्ष्णश्लक्ष्णा, सैव श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका, उत्तरप्रमाणापेक्षया उत् प्राबल्येन श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिका। (संग्रहणी दे. वृ. २४५)। ४. अणंताणंति—अनन्तानां व्यावहारिकपरमाणूनाम्, समुदायाः द्व्यादिरूपास्तेषां समितयो मीलनानि, तासां समागमः परिणामवशादेकीभवनम्, ते येन समुदयसमितिसमागमेनैका उत् प्राबल्येन

श्लक्षिणका उच्छ्लक्ष्णश्लक्षिणका। (भगवती दान. वृ. ६, ७, २४७, पृ. ९५-९६)।

१ अनन्तानन्त व्यावहारिक परमाणुओं के समुदाय के मिलने से जो एकरूपता होती है उसका नाम एक उच्छ्लक्ष्ण-श्लक्षिणका (एक माप-विशेष) है।

उच्छ्वास—१. ××× तहेव उस्सासो। संखेज्जावलिणिवहो सो चिय पाणो त्ति विक्खादो॥ (ति. प. ४-२८६)। २. ××× ता (आवलिया) संखेज्जा य ऊसासो। (जीवस. १-८)। ३. संखेज्जाओ आवलिआओ ऊसासो। (अनुयो. सू. १३७, पृ. १७८; भगवती ६, ७, २४६—सुत्तागमे पृ. ५०३; जम्बूद्वी. शा. वृ. १८, पृ. ८९)। ४. समया य असंखेज्जा हवइ हु उस्सास-णिस्सासो। (ज्योतिष्क. १-८)। ५. ताः (आवलिकाः) संख्येया उच्छ्वासः। (त. भा. ४-१५)। ६. संखेयावलिका एक उच्छ्वासः। (त. वा. ३, ३८, ७)। ७. तप्पाओग्गासंखेज्जावलिकाओ घेत्तूण एगो उस्सासो हवदि। (धव. पु. ३, पृ. ६५); तप्पाओग्गसंखेज्जावलिकाहि एगो उस्सास-णिस्सासो होदि। (धव. पु. ४, पृ. ३१८)। ८. ××× संखेज्जावलिसमूहमुस्सासो। (जं. दी. प. १३-१३२; गो. जी. ५७३)। ९. ताः संख्येयाः ४४४६ ३४५८/३७७३ सत्यः आवलिकाः एक उच्छ्वासो निःश्वासो वा ऊर्ध्वाधोगमनभेदात्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४-१५)। १०. संख्याताभिरावलिकाभिरेक उच्छ्वासनिःश्वासकालः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ५-१०४)। ११. संख्येया आवलिका एक उच्छ्वासः। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, १७८; ज्योतिष्क. मलय. वृ. १-८)। १२. ऊर्ध्व वातोद्गमो यः स उच्छ्वासः। (पंचसं. वृ. ३-९, गा. १२७)। १३. संखेज्जावलिगुणिओ उस्सासो होइ जिणदिट्ठो। (भावसं. दे. ३१२)। १४. उच्छ्वास ऊर्ध्वगमनस्वभावः परिकीर्तितः। (लोकप्र. २८, २१५)।

१ संख्यात आवली प्रमाण काल को उच्छ्वास कहते हैं।

उच्छ्वास नामकर्म—१. यद्धेतुरुच्छ्वासस्तदुच्छ्वासनाम। (स. सि. ८-११; त. वा. ८, ११, १७; त. श्लो, ८-११; त. वृत्ति श्रुत. ८-११)। २. प्राणापानपुद्गलग्रहणसामर्थ्यजनकं उच्छ्वासनाम। (त. भा. ८-१२)। ३. यस्योदयादुच्छ्वास-निःश्वासौ भवतः तदुच्छ्वासनाम। (श्रा. प्र. टी. २१; त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८-१२; धर्मसं. मलय. वृ. ६१८; कर्मवि. पू. व्या. ७५)। ४. जस्स कम्मस्स उदएण उस्सासणिस्सासाणं णिप्फत्ती होदि तं उस्सासणाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६४)। ५. जस्सुदएणं जीवे णिप्फत्ती होइ आणपाणूणं। तं ऊसासं नामं तस्स विवागो सरीरम्मि॥ (कर्मवि. ग. १२४)। ६. यस्य कर्मण उदयेन जीव उच्छ्वास-निःश्वासकार्योत्पादनसमर्थः स्यात् तदुच्छ्वास-निःश्वासनाम। (मूला. वृ. १२-१९४)। ७. उच्छ्वसनमुच्छ्वासः प्राणापानकर्म। तद्यद्धेतुकं भवति तदुच्छ्वासनाम। ···शीतोष्णसम्बन्धजनितदुःखस्य पंचेन्द्रियस्य यावदुच्छ्वास-निःश्वासौ दीर्घनादौ श्रोत्र-स्पर्शनेन्द्रियप्रत्यक्षौ तावदुच्छ्वासनामोदयजौ बोद्धव्यौ। (त. सुखबो. वृ. ८-११, पृ. १९८ व १९९)। ८. उच्छ्वसनमुच्छ्वासस्तस्य नाम उच्छ्वासनाम, यदुदयाज्जीवस्योच्छ्वास-निःश्वासौ भवतस्तच्च ज्ञातव्यम्। (कर्मवि. पू. व्या. ७२, पृ. ३३)। ९. यदुदयादुच्छ्वास-निःश्वासनिष्पत्तिर्भवति तदुच्छ्वासनाम। (समवा. अभय. वृ. ४२, पृ. ६४)। १०. यदुदयवशादात्मन उच्छ्वासनिःश्वासलब्धिरुपजायते तदुच्छ्वासनाम। (पंचसं. मलय. वृ. ३-७, पृ. ११६; षष्ठ कर्म. मलय. वृ. ६; प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३, २९३, पृ. ४७; कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ४३; कर्मप्र. यशो. टी. १, पृ. ६)।

१ जिस कर्म के उदय से जीव उच्छ्वास लेने में समर्थ हो उसे उच्छ्वास नामकर्म कहते हैं।

उच्छ्वासपर्याप्ति—देखो आनप्राणपर्याप्ति। १. यया तूच्छ्वासप्रायोग्यं वर्गणाद्रव्यमादायोच्छ्वासतयाऽऽलम्ब्य मुञ्चति सोच्छ्वासपर्याप्तिः। (कर्मस्त. गो. वृ. ९-१०, पृ. ८७)। २. यया पुनरुच्छ्वासप्रायोग्यवर्गणादलिकमादायोच्छ्वासरूपतया परिणमय्य आलम्ब्य च मुञ्चति सा उच्छ्वासपर्याप्तिः। (नन्दी. मलय. वृ. सू. १३, पृ. १०५; प्रज्ञाप. मलय. वृ. १-१२, पृ. २५; पंचसं. मलय. वृ. १-५, पृ. ८, षष्ठ क. मलय. वृ. ६; षडशीति मलय. वृ. ३; शतक. मल. हेम. वृ. ३७-३८, पृ. ५०; जीवाजी. वृ. १-१२; षडशीति दे. स्वो. वृ. २, पृ. ११७; कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ४८, पृ. ५६)। ३. यथोच्छ्वासार्हमादाय दलं परिणमय्य च। तत्तयाऽऽलम्ब्य मुञ्चे-

त्सोच्छ्वासपर्याप्तिरुच्यते ।। (लोकप्र. ३–२२) ।
१ जिस शक्ति से उच्छ्वास के योग्य वर्गणाद्रव्य को ग्रहण कर और उसे उच्छ्वास रूप से परिणमाकर छोड़ता है उसे उच्छ्वासपर्याप्ति कहते हैं ।

उच्छ्वास-निःश्वासपर्याप्ति — विवक्षितपुद्गलस्कन्धान् उच्छ्वास-निःश्वासरूपेण परिणमयितुं पर्याप्तनामकर्मोदयजनितात्मनः शक्तिनिष्पत्तिरुच्छ्वास-निःश्वासपर्याप्तिः । (गो. जी. म. प्र. टी. ११९; कार्तिके. टी. १३४) ।
पर्याप्त नामकर्म के उदय से विवक्षित पुद्गलस्कन्धों को उच्छ्वास-निःश्वासरूप से परिणमाने के लिए जो जीव के शक्ति उत्पन्न होती है उसका नाम उच्छ्वास-निःश्वासपर्याप्ति है ।

उज्झित दोष—१. स्यादुज्झितं वहु त्यक्त्वा यच्चूताद्यल्पसेवनम् । पानादि दीयमानं वा ऽनल्पेन गलनेन तत् ।। (आचा. सा. ८–४८) । २. यच्चूतफलादिकं वहु त्यक्त्वाल्पसेवनं तदुज्झितम्, अथवा यत्पानादिकं दीयमानं वहुतरेण गलनेनाल्पसेवनं तदुज्झितम् । (भा. प्रा. टी. ९९, पृ. २५१) ।
१ दिये गये वहुत आम्रफलादिक को छोड़कर थोड़े का सेवन करना, अथवा पीने योग्य द्रव्य में से वहुत अधिक गलने से थोड़े का सेवन करना, यह उज्झित नाम का एषणादोष है ।

उत्कञ्चन—उत्कञ्चनम् उपरि कम्बिकानां वन्धनम् । (बृहत्क. मलय. वृ. ५८३) ।
ऊपर कम्बिकाओं—काष्ठविशेषों—का वांधना, यह उत्कञ्चन नाम का वसति-उत्तरकरण है ।

उत्कटिकासन—देखो उत्कुटिकासन और उत्कुटुकासनिक । १. पुत-पार्ष्णिसमायोगे प्राहुरुत्कटिकासनम् । (योगशा. ४-१३२)। २. उक्कडिया यु-[पु-] ताभ्यां भूमिमस्पृशतः समपादाभ्यामासनम् । (भ. आ. मूला. टी. २२४) ।
२ चूतड़ और पार्ष्णियों (एड़ियों) के मिलने पर उत्कटिकासन होता है ।

उत्कर—१. तत्रोत्करः काष्ठादीनां करपत्रादिभिरुत्करणम् । (स. सि. ५-२४; त. वा. ५, २४, १४; कार्तिके. टी. २०६) । २. दार्वादीनां क्रकच-कुठारादिभिः उत्करणं भेदनमुत्करः । (त. वृत्ति श्रुत. ५–२४) ।
१ करोंत आदि से काष्ठ आदि के चीरने को उत्कर कहते हैं ।

उत्कर्षण—१. कम्मपदेसट्ठिदिवड्ढावणमुक्कड्डुणा । (धव. पु. १०, पृ. २२) । २. उक्कड्डुणं हवे वड्ढी । (गो. क. ४३८) । ३. स्थित्यनुभागयोर्वृद्धिरुत्कर्षणम् । (गो. क. जी. प्र. टी. ४३८) ।
१ कर्मप्रदेशों की स्थिति के वढ़ाने को उत्कर्षण कहते हैं ।

उत्कालिक—स्वाध्यायकाले अनियतकालमुत्कालिकम् । (त. वा. १, २०, १४) ।
जिस अंगवाह्य श्रुत के स्वाध्याय का काल नियत नहीं है वह उत्कालिक कहलाता है ।

उत्कीर्तना—उत्कीर्तना नाम संशब्दना, यथा कल्पाध्ययनं व्यवहाराध्ययनमिति । (व्यव. भा. मलय. वृ. १, पृ. २) ।
किसी ग्रन्थ आदि के स्पष्ट उच्चारण का नाम उत्कीर्तना है । जैसे कल्पाध्ययन व व्यवहाराध्ययन।

उत्कुटिकासन—देखो उत्कटिकासन । उक्कुडिया ऊर्ध्वं संकुचितासनम् । (भ. आ. विजयो. टी. २२४)। देखो उत्कटिकासन ।

उत्कुटुकासनिक—उत्कुटुकासनं पीठादौ पुतालगनेनोपवेशनरूपमभिग्रहतो यस्यास्ति स उत्कुटुकासनिकः । (स्थाना. अभय. वृ. ५, १, ३९६, पृ. २८४) ।
चूतड़ों का स्पर्श न कराकर पाटे आदि पर बैठना, यह उत्कुटुक आसन कहलाता है, इस आसनविशेष को जिसने नियमपूर्वक ग्रहण किया है उसे उत्कुटुकासनिक कहा जाता है ।

उत्कृष्ट अन्तरात्मा — पंचमहव्वयजुत्ता धम्मे सुक्के वि संठिया णिच्चं । णिज्जियसयलपमाया उक्किट्ठा अंतरा होंति ।। (कार्तिके. १९५) ।
पञ्च महाव्रतों के धारक, सकल प्रमादों के विजेता और धर्म अथवा शुक्ल ध्यान में स्थित साधुओं को उत्कृष्ट अन्तरात्मा कहते हैं ।

उत्कृष्ट ज्ञान—निर्वाणपदमेप्येकं भाव्यते यन्मुहुर्मुहुः । तदेव ज्ञानमुत्कृष्टं निर्वन्धो नास्ति भूयसा ।। (ज्ञानसा. ५–२) ।
जिस ज्ञान के द्वारा एक मात्र निर्वाण पद की निरन्तर भावना की जाती है वही उत्कृष्ट ज्ञान कहलाता है ।

उत्कृष्ट दाह—उक्कसदाहो णाम उक्करसठिदिबंधकारणउक्कस्ससंकिलेसो। (धव. पु. ११, पृ. ३३६)।
उत्कृष्ट कर्मस्थिति के बन्ध के कारणभूत उत्कृष्ट संक्लेश का नाम उत्कृष्ट दाह है।

उत्कृष्ट निक्षेप—१. उक्कस्सओ पुण णिक्खेवो केत्तियो? जत्तिया उक्कस्सिया कम्मठिदी उक्कस्सियाए आबाहाए समउत्तरावलियाए च ऊणा तत्तिओ उक्कस्सो निक्खेवो। (धव. पु. ६, पृ. २२६ का टि. १)। २. उक्कस्सट्ठिदिबंधो समयजुदावलिदुगेण परिहीणो। उक्कट्ठिदिम्मि चरिमेट्ठिदिम्मि उक्कस्सणिक्खेवो। (लब्धि. ५८)।
उत्कृष्ट आबाधा और एक समय अधिक आवलि से हीन जितनी उत्कृष्ट कर्मस्थिति हो, उतना उत्कृष्ट निक्षेप होता है।

उत्कृष्ट पद—उक्कस्सदव्वमस्सिदूण जो गुणगारो तमुक्कस्सपदं णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३९२)।
उत्कृष्ट द्रव्य का आश्रय लेकर जो गुणकार होता है उसे उत्कृष्ट पद कहा जाता है।

उत्कृष्ट पदमीमांसा—जत्थ पचण्हं सरीराणं उक्कस्सदव्वपरिक्खा कीरदि सा उक्कस्सपदमीमांसा। (धव. पु. १४, पृ. ३९७)।
जिस अधिकार में पांचों शरीरों के उत्कृष्ट द्रव्य की परीक्षा की जाती है उसे उत्कृष्ट पदमीमांसा कहते हैं।

उत्कृष्टपदाल्पबहुत्व—उक्कस्सदव्वविसयमुक्कस्सपदप्पाबहुगं णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३८५)।
उत्कृष्ट द्रव्य सम्बन्धी अल्पबहुत्व को उत्कृष्टपदाल्पबहुत्व कहते हैं।

उत्कृष्ट परीतानन्त—१. जं तं जहण्णपरित्ताणंतयं तं विरलेदूण एक्केक्कस्स रूवस्स जहण्णपरित्ताणंतयं दादूण अण्णोण्णब्भत्थे कदे उक्कस्सपरित्ताणतयं अदिच्छिदूण जहण्णजुत्ताणंतयं गंतूण पडिदं। एवदिओ अभवसिद्धियरासी। तदो एगरूवे अवणीदे जादं उक्कस्सपरित्ताणंतयं। (ति. प. ४, पृ. १८३)। २. यज्जघन्यपरीतानान्तं तत्पूर्ववद् वर्गित-संवर्गितमुत्कृष्टपरीतानन्तमतीत्य जघन्ययुक्तानन्तं गत्वा पतितम्। तत एकरूपेऽपनीते उत्कृष्टं परीतानन्तं तद् भवति। (त. वा. ३, ३८, ५, पृ. २०७)।
२ जघन्य परीतानन्त को पूर्व के समान—उत्कृष्ट परीतासंख्यात के समान—वर्गित-संवर्गित करने पर उत्कृष्ट परीतानन्त को लांघ कर जघन्य युक्तानन्त जाकर प्राप्त होता है। उसमें से एक अंक के कम करने पर उत्कृष्ट परीतानन्त होता है।

उत्कृष्ट मंगल—धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो। (दशवै. सू. १–१)।
अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म को उत्कृष्ट मंगल कहते हैं।

उत्कृष्ट श्रावक—१. गृहतो मुनिवनमित्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य। भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः॥ (रत्नक. १४७)। २. एयारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो। वत्थेक्कधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो विदिओ॥ धम्मिल्लाणं चयणं करेइ कत्तरि छुरेण वा पढमो। ठाणाइसु पडिलेहइ उवयरणेण पयडप्पा॥ भुंजेइ पाणि-पत्तम्मि भायणे वा सइं समुवविट्ठो। उपवासं पुण णियमा चउव्विहं कुणइ पव्वेसु॥ पक्खालिऊण पत्तं पविसइ चरियाय पंगणे ठिच्चा। भणिऊण धम्मलाहं जायइ भिक्खं सयं चेव॥ सिग्घं लाहालाहे अदीणवयणो णियत्तिऊण तओ। अण्णम्मि गिहे वच्चइ दरिसइ मोणेण कायं वा॥ जइ अद्धवहे कोइ वि भणइ पत्थेइ भोयणं कुणइ। भोत्तूण णिययभिक्खं तस्सण्णं भुंजए सेसं॥ अह ण भणइ तो भमेज्ज णियपोट्टपूरणपमाणं। पच्छा एयम्मि गिहे जाएज्ज पासुगं सलिलं॥ जं किं पि पडियभिक्खं भुंजिज्जो सोहिऊण जत्तेण। पक्खालिऊण पत्तं गच्छिज्जो गुरुसयासम्मि॥ जइ एयं ण रएज्जो काउंरिसगिहम्मि चरियाए। पविसत्ति एयभिक्खं पवित्तिणियमणं ता कुज्जा॥ गंतूण गुरुसमीवं पच्चक्खाणं चउव्विहं विहिणा। गहिऊण तओ सव्वं आलोचेज्जा पयत्तेण॥ एमेव होइ विइओ णवरि विसेसो कुणिज्ज णियमेण। लोचं धरिज्ज पिच्छं भुंजिज्जो पाणिपत्तम्मि॥ उद्दिट्ठपिंडविरओ दुवियप्पो सावओ समासेण। एयारसम्मि ठाणे भणिओ सुत्ताणुसारेण॥ (वसु. श्रा. ३०१–११ व ३१३)। ३. तत्तद्व्रतास्त्रनिर्भिन्नश्वसन् मोहमहाभटः। उद्दिष्टं पिण्डमप्युज्झेदुत्कृष्टः श्रावकोऽन्तिमः॥ स द्वेधा प्रथमः श्मश्रुमूर्द्धजानपनाययेत्। सितकौपीनसंव्यानः कर्तर्या वा क्षुरेण वा॥ स्थानादिषु प्रतिलिखेत् मृदूपकरणेन सः। कुर्यादेव चतुष्पर्व्यामुपवासं चतुर्विधम्॥ स्वयं समुपविष्टोऽद्यात् पाणिपात्रेऽथ भाजने। स श्रावकगृहं गत्वा पात्रपाणिस्तदङ्गणे॥ स्थित्वा भिक्षां धर्म-

लाभं भणित्वा प्रार्थयेत वा। मौनेन दर्शयित्वाङ्गं लाभालाभे समोऽचिरात् ॥ निर्गत्यान्यद् गृहं गच्छेद् भिक्षोद्युक्तस्तु केनचित्। भोजनायार्थितोऽद्यात् तद् भुक्त्वा यद् भिक्षितं मनाक् ॥ प्रार्थयेतान्यथा भिक्षां यावत् स्वोदरपूरणीम्। लभेत प्रासु यत्राम्भस्तत्र संशोध्य तां चरेत् ॥ आकांक्षन् संयमं भिक्षापात्र-प्रक्षालनादिषु। स्वयं यतेत चादर्पः परथाऽसंयमो महान् ॥ ततो गत्वा गुरूपान्तं प्रत्याख्यानं चतुर्विधं। गृह्णीयाद् विधिवत् सर्वं गुरोश्चालोचयेत् पुरः ॥ यस्त्वेकभिक्षानियमो गत्वाऽद्यादनुमुन्यसौ। भुक्त्यभावे पुनः कुर्यादुपवासमवश्यकम् ॥ वसेन्मुनिवने नित्यं शुश्रूषेत गुरूंश्चरेत्। तपो द्विधापि दशधा वैयावृत्यं विशेषतः ॥ तद्वद् द्वितीयः किन्त्वार्यसंज्ञो लुञ्चत्यसौ कचान्। कौपीनमात्रयुग् धत्ते यतिवत् प्रतिलेखनम् ॥ स्वपाणिपात्र एवात्ति संशोध्यान्येन योजितम्। इच्छाकारं समाचारं मिथः सर्वे तु कुर्वते ॥ (सा. ध. ७, ३७-४९)।

१ उत्कृष्ट—ग्यारहवीं प्रतिमाका धारक—श्रावक वह कहलाला है जो घर से मुनियों के आश्रम में जाकर गुरु के समीप में व्रत को ग्रहण करता हुआ भिक्षाभोजन को करता है और वस्त्रखण्ड—लंगोटी मात्र—को धारण करता है। २ उत्कृष्ट श्रावक दो प्रकार के होते हैं। उनमें प्रथम उत्कृष्ट श्रावक (क्षुल्लक) एक वस्त्र को धारण करता है, पर दूसरा लंगोटी मात्र का धारक होता है। प्रथम उत्कृष्ट श्रावक बालों का परित्याग कैंची या उस्तरे से करता है—उन्हें निकलवाता है—तथा बैठने-उठने आदि क्रियाओं में प्रयत्नपूर्वक प्रतिलेखन करता है—प्राणिरक्षा के लिए कोमल वस्त्र आदि से भूमि आदि को झाड़ता है। भोजन वह बैठकर हाथरूप पात्र में करता है अथवा थाली आदि में भी करता है। परन्तु पर्वदिनों में—अष्टमी-चतुर्दशी आदि को—उपवास नियम से करता है। पात्र को धोकर व भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर पर जाकर आंगन में स्थित होता हुआ 'धर्मलाभ' कहकर भिक्षा की स्वयं याचना करता है, तत्पश्चात् भोजन चाहे प्राप्त हो अथवा न भी प्राप्त हो, वह दैन्य भाव से रहित होता हुआ वहां से शीघ्र ही वापिस लौटकर दूसरे घर पर जाता है और मौन के साथ शरीर को दिखलाता है। बीच में यदि कोई श्रावक वचन द्वारा भोजन करने के लिए प्रार्थना करता है तो जो कुछ भिक्षा प्राप्त कर ली है, पहिले उसे खाकर तत्पश्चात् उसके अन्न को खाता है। परन्तु यदि मार्ग में कोई नहीं बुलाता है तो अपने उदर की पूर्ति के योग्य भिक्षा प्राप्त होने तक अन्यान्य ग्रहों में जाता है। तत्पश्चात् एक किसी गृह पर प्रासुक पानी को मांगकर व याचित भोजन को प्रयत्न-पूर्वक शोधकर खाता है। फिर पात्र धोकर गुरु के पास में जाता है। यह भोजनविधि यदि किसी को नहीं रुचती है तो वह मुनि के आहार के पश्चात् किसी घर में चर्या के लिए प्रविष्ट होता है और एक भिक्षा के नियमपूर्वक भोजन करता है—यदि विधि-पूर्वक वहां भोजन नहीं प्राप्त होता है तो फिर उपवास ही करता है। गुरु के पास विधिपूर्वक चार प्रकार के प्रत्याख्यान को—उपवास को—ग्रहण करता है व आलोचना करता है। दूसरे उत्कृष्ट श्रावक की भी यही विधि है। विशेषता इतनी है कि वह बालों का नियम से लोच ही करता है, पिच्छी को धारण करता है और हाथरूप पात्र में ही भोजन करता है।

उत्कृष्ट सान्तरअवक्रमणकाल—विदियादिवक्क-मणकंदयाणमावलियाए असंखेज्जदिभागमेत्ताणं उक्क-स्सकालकलाओ उक्कस्सगो सांतरवक्कमणकालो णाम। (धव. पु. १४, पृ. ४७६)।

आवलि के असंख्यातवें भाग मात्र द्वितीय आदि अवक्रमणकाण्डकों के उत्कृष्ट कालसमूह का नाम उत्कृष्ट सान्तरअवक्रमणकाल है।

उत्कृष्ट स्थितिप्राप्तक—जं कम्मं बंधसमयादो कम्मट्ठिदीए उदए दीसदि तम्मुक्कस्सट्ठिदिपत्तयं। (कसायपा. चू. पृ. २३५)।

जो कर्म बन्धसमय से कर्मस्थिति के अनुसार उदय में दिखता है उसका नाम उत्कृष्ट स्थितिप्राप्तक है।

उत्कृष्ट स्थितिसंक्लेश—अथवा उक्कस्सट्ठिदिबंध-पाओग्गअसंखेज्जलोगमेत्तसंकिलेसट्ठाणाणि पलिदोव-मस्स असंखेज्जदिभागमेत्तखंडाणि कादूण तत्थ चरि-मखंडस्स उक्कस्सट्ठिदिसंकिलेसो णाम। (धव. पु. ११, पृ. ९१)।

अथवा उत्कृष्ट स्थितिबन्ध के योग्य असंख्यात लोक मात्र संक्लेशस्थानों के पल्योपम के असंख्यातवें भाग मात्र खण्ड करने पर उनमें अन्तिम खण्ड का नाम उत्कृष्ट स्थितिसंक्लेश है।

उत्कृष्टासंख्येयासंख्येय— १. जहण्णमसंखेज्जासंखेज्जयं दोप्पडिरासियं कादूण एगरासिं सलायपमाणं ठविय एगरासिं विरलेदूण एक्केक्कस्स रूवस्स एगपुंजपमाणं दादूण अण्णोण्णभत्थं करिय सलायरासिदो एगरूवं अवणेदव्वं। पुणो वि उप्पण्णरासिं विरलेदूण एक्केक्कस्स रूवस्सुप्पण्णरासिपमाणं दादूण अण्णोण्णभत्थं कादूण सलायरासिदो एगरूवं अवणेदव्वं। एदेण कमेण सलायरासी णिट्ठिदा। णिट्ठियतदणंतररासिं दुप्पडिरासिं कादूण एयपुंजं सलायं ठविय एयपुंजं विरलिदूण एक्केक्कस्स रूवस्स उप्पण्णरासिं दादूण अण्णोण्णभत्थं कादूण सलायरासिदो एयं रूवं अवणेदव्वं। एदेण सरूएण विदियसलायपुंजं समत्तं। सम्मत्तकाले उप्पण्णरासिं दुप्पडिरासिं कादूण एयपुंजं सलायं ठविय एयपुंजं विरलिदूण एक्केक्कस्स रूवस्स उप्पण्णरासिपमाणं दादूण अण्णोण्णभत्थं कादूण सलायरासीदो एयरूवं अवणेदव्वं। एदेण कमेण तदियपुंजं णिट्ठिदं। एवं कदे उक्कस्स-असंखेज्जासंखेज्जयं ण पावदि। धम्माधम्म-लोगागास-एगजीवपदेसा चत्तारि वि लोगागासमेत्ता, पत्तेगसरीर-बादरपदिट्ठिया एदे दो वि (कमसो असंखेज्जलोगमेत्ता), छप्पि एदे असंखेज्जरासीओ पुव्विल्लरासिस्स उवरि पक्खिविदूण पुव्वं व तिण्णिवारवग्गिदे कदे उक्कस्सअसंखेज्जासंखेज्जयं ण उप्पज्जदि। तदा ठिदिबंधज्झवसायठाणाणि अणुभागबंधज्झवसायठाणाणि योगपलिच्छेदाणि उस्सप्पिणी-ओसप्पिणीसमयाणि च एदाणि पक्खिविदूण पुव्वं व वग्गिद-संविग्गदं कदे (उक्कस्स-असंखेज्जासंखेज्जयं अदिच्छिदूण जहण्णपरित्ताणंतयं गंतूण पडिदं।) तदो (एगरूवं अवणीदे जादं) उक्कस्सअसंखेज्जासंखेज्जयं। (ति. प. १, पृ. १८१, १८२)। २. यज्जघन्यासंख्येयासंख्येयं तद्विरलीकृत्य पूर्वविधिना त्रीन् वारान् वर्गित-संवर्गितं उत्कृष्टासंख्येयासंख्येयं [न] प्राप्नोति। ततो धर्माधर्मैकजीव-लोकाकाश-प्रत्येकशरीरजीव - बादरनिगोतशरीराणि षडप्येतान्यसंख्येयानि स्थितिबन्धाध्यवसायस्थानान्यनुभागबन्धाध्यवसायस्थानानि योगाविभागपरिच्छेदरूपाणि चासंख्येयलोकप्रदेशपरिमाणान्युत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयांश्च प्रक्षिप्य पूर्वोक्तराशौ त्रीन् वारान् वर्गित-संवर्गितं कृत्वा उत्कृष्टासंख्येयासंख्येयमतीत्य जघन्यपरीतानन्तं गत्वा पतितम्। तत एकरूपेऽपनीते उत्कृष्टासंख्येयासंख्येयं भवति। (त. वा. ३, ३८, ५, पृ. २३८, पं. ७–१२)।

२ जघन्य असंख्येयासंख्येय का विरलन करके पूर्वोक्त विधि से—उत्कृष्ट युक्तासंख्येय के समान—तीन बार वर्गित-संवर्गित करने पर उत्कृष्ट असंख्येयासंख्येय प्राप्त नहीं होता। तब धर्म, अधर्म, एक जीव, लोकाकाश, प्रत्येकशरीर जीव और बादर निगोद जीवशरीर; इन छह असंख्यात राशियों तथा असंख्यात लोकप्रदेश प्रमाण स्थितिबन्धाध्यवसायस्थान, अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान, योगाविभागप्रतिच्छेद और उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी के समयों को मिलाकर पूर्वोक्त राशि के तीन बार वर्गित-संवर्गित करने पर उत्कृष्ट असंख्येयासंख्येय का अतिक्रमण करके जघन्यपरीतानन्त जाकर प्राप्त होता है। उसमें से एक अंक के कम कर देने पर उत्कृष्ट असंख्येयासंख्येय का प्रमाण होता है।

उत्कृष्टि—उत्कृष्टिः हर्षविशेषप्रेरितो ध्वनिविशेषः। (आव. नि. हरि. वृ. ५५२, पृ. २३१)।

हर्ष-विशेष से प्रेरित होकर की गई ध्वनिविशेष को उत्कृष्टि कहते हैं।

उत्क्रम व्यवच्छिद्यमान-बन्धोदय—उत्क्रमेण, पूर्वमुदयः पश्चात् बन्ध इत्येवंलक्षणेन, व्यवच्छिद्यमानौ बन्धोदयौ यासां ता उत्क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः। (पंचसं. मलय. वृ. ३–५५, पृ. १४८)।

जिन कर्मप्रकृतियों की उत्क्रम से बन्धोदय-व्युच्छित्ति होती है, अर्थात् पहले उदयव्युच्छित्ति और पीछे बन्धव्युच्छित्ति होती है, वे उत्क्रमव्यवच्छिद्यमान बन्धोदयप्रकृतियां कहलाती हैं।

उत्क्षिप्तचरक—उत्क्षिप्तं पाकपिठरात् पूर्वमेव दायकेनोद्धृतम्, तद् ये चरन्ति गवेषयन्ति ते उत्क्षिप्तचरकाः। (बृहत्क. वृ. १६५२)।

दातार गृहस्थ के द्वारा साधु के आने के पूर्व ही पात्र में से निकाले गये आहार को खोजने वाले—उसे गोचरी में ग्रहण करने वाले—साधुओं को उत्क्षिप्तचरक कहते हैं। अभिग्रह और अभिग्रहवान् में कथंचित् अभेद होने से उसे भावाभिग्रह का लक्षण समझना चाहिये।

उत्क्षिप्तचर्या—१. उत्क्षिप्तं पटलोदंकिका-कटुच्छ-

कादिनोपकरणेन दानयोग्यतया दायकेनोद्यातं तादृशं यदि लप्स्येत ततो गृहीष्यामः नावशिष्टमित्युत्क्षिप्त-चर्या उत्क्षिप्ताभ्यवहरणमिति। (त. भा. हरि. वृ. ९–१९)। २. उत्क्षिप्तं पटलकादिकं कुडुच्छुकादि-नोपकरणेन दानयोग्यतया दायकेनोद्यतं तादृशं यदि लप्स्ये ततो गृहीष्यामि, नावशिष्टमित्युत्क्षिप्तचर्या उत्क्षिप्ताऽभ्यवहरणमिति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–१९)।

दाता कलछी आदि से दान के योग्य जिस भोज्य वस्तु को पात्र में से निकाल लेता है, ऐसा यदि प्राप्त होगा तो उसे ही ग्रहण करूंगा, अन्य को नहीं; इस प्रकार से अभिग्रहपूर्वक की जाने वाली चर्या को उत्क्षिप्तचर्या कहते हैं।

उत्तरकरण—१. खंडिअ-विराहिआणं मूलगुणाणं स-उत्तरगुणाणं। उत्तरकरणं कीरइ जह सगड-रहंग-गेहाणं ॥९९॥ (आव. ५ अ.—अभिधा. २, पृ. ७५७)। २. मूलतः स्वहेतुभ्य उत्पन्नस्य पुनरुत्तर-कालं विशेषाधानात्मकं करणमुत्तरकरणम्। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ४–१८२, पृ. १९४)।

१ मूलगुण और उत्तरगुणों के सर्वथा खण्डित होने पर अथवा देशतः खण्डित होने पर पुनः उनका जो उत्तरकरण किया जाता है—आलोचना आदि के द्वारा उन्हें शुद्ध किया जाता है, इसका नाम उत्तर-करण है। जैसे लोक में गाड़ी आदि के विकृत हो जाने पर उनका सुधार करके फिर से उन्हें व्यवहार के योग्य बनाया जाता है। २ अपने कारणों से उत्पन्न घटादि को जो पश्चात् विशेषाधान रूप किया जाता है उसे उत्तरकरण कहते हैं।

उत्तरकरणकृति—जा सा उत्तरकरणकदी णाम सा अणेयविहा। तं जहा—असि-वासि-परसु-कुडारि-चक्क-दंड-वेम-णालिया-सलागमट्टियसुत्तोदयादीणसुव-संपदसण्णिज्झे। (षट्खं. ४, १, ७२—पु. ९, पृ. ४५०)।

तलवार, वसूला, फरसा और कुदारी आदि उप-करणों का कार्योत्पत्ति में सांनिध्य रहने से उन सबको उत्तरकरणकृति कहा जाता है। जीव से अपृथग्भूत होकर समस्त करणों के कारण होने से औदारिकादि पांच शरीरों को मूलकरण कहा जाता है। इन मूलकरणों के करण होने के कारण उक्त तलवार आदि को उत्तरकरण माना गया है।

उत्तरगुण—शेषाः पिण्डविशुद्धयाद्याः स्युरुत्तरगुणाः स्फुटम्। एषां चानतिचाराणां पालनं ते त्वमी मताः ॥४७॥ (अभिधा. २, पृ. ७६३)।

मूलगुणों से भिन्न पिण्डशुद्धि आदि उत्तरगुण माने जाते हैं।

उत्तरगुणकल्पिक—आहार-उवहि-सेज्जा उग्गम-उप्पादणेसणासुद्धा। जो परिगिण्हति निययं उत्तर-गुणकप्पिओ स खलु ॥ (बृहत्क. ६४४४); यः आहा-रोपधि-शय्या उद्गमोत्पादनैषणाशुद्धा नियतं निश्चितं परिगृह्णाति स खलु उत्तरगुणकल्पिको मन्तव्यः। (बृहत्क. वृ. ६४४४)।

जो साधु नियम से उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषों से रहित आहार, उपधि और शय्या को ग्रहण किया करता है उसे उत्तरगुणकल्पिक कहा जाता है।

उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरण—१. उत्तरगुणनिर्व-र्तना काष्ठ-पुस्त-चित्र-कर्मादीनि। (त. भा. ६-१०)। २. उत्तरं काष्ठ-पुस्त-चित्रकर्माणि। (त. वा. ६, ९, १२)। ३. तथाङ्गोपाङ्ग-संस्थान-मृद्वादि-तक्ष्ण्यादि-रुत्तरगुणः, सोऽपि निर्वृत्तः सन्निधिकरणीभवति कर्मबन्धस्योत्तरगुण एव निर्वर्तनाधिकरणम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–१०)। ४. उत्तरगुणनिर्वर्तना काष्ठ-पुस्त-चित्रकर्मभेदा। (त. सुखबो. वृ. ६-९)। ५. उत्तरगुणनिर्वर्तनाधिकरणं काष्ठ-पाषाण-पुस्तक-चित्र-कर्मादिनिष्पादनं जीवरूपादिनिष्पादनं लेखनं चेत्यनेकविधम्। (त. वृत्ति श्रुत. ६–९)।

१ काष्ठ, पुस्तक व चित्रकर्म आदि को उत्तरगुण-निर्वर्तना कहा जाता है।

उत्तरचूलिका दोष—१. वन्दनां स्तोकेन कालेन निर्वर्त्य वन्दनायाश्चूलिकाभूतस्यालोचनादिकस्य महता कालेन निर्वर्तकं[नं] कृत्वा यो वन्दनां विध-धाति तस्योत्तरचूलिकादोषः। (मूला. वृ. ७-१०९)। २. उत्तरचूलं वन्दनं दत्त्वा महता शब्देन 'मस्तकेन वन्दे' इत्यभिधानम्। (योगशा. स्वो. विव. १३०, पृ. २३७)। ३. × × × चूला चिरेणोत्तरचूलिका ॥ (अन. ध. ८–१०९); उत्तरचूलिका नाम दोषः स्यात्। या किम्? या चूला। केन? चिरेण। वन्दनां स्तोककालेन कृत्वा तच्चूलिकाभूतस्यालोचना-देर्महता कालेन करणमित्यर्थः। (अन. ध. स्वो. टी. ८–१०९)।

१ वन्दना को शीघ्रता से करके उसकी चूलिका

स्वरूप आलोचना आदि को दीर्घ काल तक करने के पश्चात् जो वन्दना करता है उसके उत्तरचूलिका नामक वन्दनादोष होता है। २ वन्दना देकर 'मस्तक से मैं वन्दना करता हूँ, इस प्रकार उच्च स्वर से कहना, यह वन्दनाविषयक उत्तरचूल नाम का दोष है।

उत्तरप्रकृति—पुध-पुधावयवा पज्जवट्ठियणयणिवंधणा उत्तरपयडी णाम। (धव. पु. ६, पृ. ५–६)। पर्यायार्थिक नय के आश्रय से किये जाने वाले पृथक् पृथक् कर्मप्रकृतिभेदों का नाम उत्तरप्रकृति है।

उत्तरप्रकृति-अनुभागसंक्रम—उत्तरपयडीणं च मिच्छत्तादीणमणुभागस्स ओकड्डुकड्डुण-परपयडिसंकमेहि जो सत्तिविपरिणामो सो उत्तरपयडि-अणुभागसंकमो त्ति। (जयध. ६, पृ. २)।

मिथ्यात्व आदि उत्तर प्रकृतियों के अनुभाग की शक्ति का जो अपकर्षण, उत्कर्षण और परप्रकृति-संक्रमण के द्वारा विरुद्ध परिणमन होता है उसे उत्तरप्रकृति-अनुभागसंक्रम कहते हैं।

उत्तरप्रकृति-विपरिणामना—णिज्जिण्णा पयडी देसेण सव्वणिज्जराए वा, अण्णपयडीए देससंकमेण वा सव्वसंकमेण वा जा संकामिज्जदि, एसा उत्तरपयडिविपरिणामणा णाम। (धव. पु. १५, पृ. २८३)।

देशनिर्जरा अथवा सर्वनिर्जरा से निर्जीर्ण प्रकृति का तथा देशसंक्रमण अथवा सर्वसंक्रमण के द्वारा अन्य प्रकृति में संक्रान्त की जाने वाली प्रकृति का नाम उत्तरप्रकृति-विपरिणामना है।

उत्तरप्रयोगकरण—१. ××× इअरं पओगओ जमिह। निप्फन्ना निप्फज्जइ आइल्लाणं च तं तिण्हं॥ (आव. भा. १५६, पृ. ५५६)। २. प्रयोगेण यदिह लोके मूलप्रयोगेण, निष्पन्नात् तन्निष्पन्नात् निष्पद्यते तदुत्तरप्रयोगकरणम्, तच्च त्रयाणामाद्यानां शरीराणाम्। इयमत्र भावना ××× अङ्गोपाङ्गादिकरणं तूत्तरप्रयोगकरणं, तच्चौदारिक-वैक्रियिकाहारकरूपाणां त्रयाणां शरीराणाम्, न तु तैजस-कार्मणयोः, तयोरङ्गोपाङ्गाद्यसम्भवात्। (आव. भा. मलय. वृ. १५६, पृ. ५५६)।

औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरों के अङ्गोपाङ्ग आदि करण को उत्तरप्रयोगकरण कहते हैं।

उत्तराध्ययन—१. कमउत्तरेण पगयं आयारस्सेव उवरिमाइं तु। तम्हा उ उत्तरा खलु अज्झयणा होंति णायव्वा॥ (उत्तरा. नि. ३, पृ. ५)। २. उत्तरज्झयणाणि आयारस्स उवरिं आसित्ति तम्हा उत्तराणि भवंति। (उत्तरा. चू. पृ. ६)। ३. उत्तरज्झयणं उत्तरपदाणि वण्णेइ। (धव. पु. १, पृ. ७७); उत्तरज्झयणं उग्गमुप्पायणेसणदोसगयपायच्छित्तविहाणं कालादिविसेसिदं परूवेदि। (धव. पु. ६, पृ. १६०)। ४. चउव्विहोवसग्गाणं बावीसपरिस्सहाणं च सहणविहाणं सहणफलमेदम्हादो एदमुत्तरमिदि च उत्तरज्झेणं वण्णेदि। (जयध. १, पृ. १२०)। ५. आचारात् परतः पूर्वकाले यस्मादेतानि पठितवन्तो यतयस्तेनोत्तराध्ययनानि। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–२०)। ६. उत्तराण्यधीयन्ते पठ्यन्तेऽस्मिन्नित्युत्तराध्ययनम्, तच्च चतुर्विधोपसर्गाणां द्वाविंशतिपरीषहाणां च सहनविधानं तत्फलम्, एवं प्रश्ने एवमित्युत्तरविधानं च वर्णयति। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. ३६७)। ७. भिक्षूणामुपसर्गसहनफलनिरूपकमुत्तराध्ययनम्। (त. वृत्ति श्रुत. १–२०)। ८. उत्तराणि अहिज्जंति उत्तरज्झयणं मदं जिणिदेहिं। बावीसपरीसहाणं उवसग्गाणं च सहणविहिं॥ वण्णेदि तप्फलमदि एवं पण्हे च उत्तरं एवं। कहदि गुरुसीसयाणं पइण्णियं अट्ठमं तं खु॥ (अंगप. २५, २६, पृ. ३०६)।

१ क्रम की अपेक्षा जो आचारांग के उत्तर—पश्चात्—मुनियों के द्वारा पढ़े जाते थे वे विनय व परीषह आदि ३६ उत्तराध्ययन कहे जाते हैं। ३ जिसमें उद्गम, उत्पादन और एषण दोषों सम्बन्धी प्रायश्चित्त का विधान कालादि की विशेषतापूर्वक किया गया हो वह उत्तराध्ययन कहलाता है। ६ जिस शास्त्र में देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतन कृत चतुर्विध उपसर्ग व बाईस परीषहों के सहन करने की विधि का एवं उनके फल का विधान किया गया हो तथा प्रश्नों के उत्तर का विधान किया गया हो उसे उत्तराध्ययन कहते हैं।

उत्तराध्यायानुयोग—अनुयोजनमनुयोगः, अर्थव्याख्यानमित्यर्थः, उत्तराध्यायानामनुयोगः उत्तराध्यायानुयोगः ×××। (उत्तरा. चू. पृ. १)।

उत्तराध्ययन के अध्ययनों के अर्थ के व्याख्यान को उत्तराध्यायानुयोग कहते हैं।

प्लुत्य करोति यत्र तट्टोलगतिवन्दनकमिति गाथार्थः। (आव. वृ. टि. मल. हेम. पृ. ८७)।
पतंगा अथवा टिड्डी के समान आगे-पीछे उछलकर वन्दना करना, यह उत्ष्वष्कण-अभिष्वष्कण नामक वन्दना का दोष है। इसका दूसरा नाम टोलगति भी है। (मूलाचार ७–१०६ और अनगारधर्मामृत ८–९९ में सम्भवतः ऐसे ही दोष को दोलायित नाम से कहा गया है)।

उत्सन्नक्रिय-अप्रतिपाति—देखो व्युपरतक्रियानिवर्ति शुक्लध्यान। केवलिनः शैलेशीगतस्य शैलवदकम्पनीयस्य। उत्सन्नक्रियमप्रतिपाति तुरीयं परमशुक्लम्॥ (योगशा. ११–९)।
मेरु के समान स्थिरतारूप शैलेशी अवस्था को प्राप्त अयोगिकेवली के ध्यान को उत्सन्नक्रिय-अप्रतिपाति शुक्ल ध्यान कहते हैं। यह शुक्ल ध्यान का अन्तिम (चतुर्थ) भेद है।

उत्सर्ग—देखो अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग। १. उत्सर्गः त्यागो निष्ठचूत-स्वेद-मल-मूत्र-पुरीपादीनाम्। ××× अथवा अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित उत्सर्गं करोति, ततः पौषधोपवासव्रतमतिचरति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ७–२९)। २. वाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लानेनापि संयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमेवाचरणमाचरणीयमित्युत्सर्गः। (प्रव. सा. अमृत. वृ. ३–३०)। ३. यदुचितं परिपूर्णद्रव्यादि योग्यमनुष्ठानं शुद्धान्न-पानगवेषणारूपं परिपूर्णमेव यत्तदौचित्येनानुष्ठान्नं स उत्सर्गः। (उप. प. वृ. ७८४)।
१ भूमि के विना देखे शोधे थूक, पसीना, मल, मूत्र और विष्ठा आदि के त्याग करने का नाम उत्सर्ग है। यह पौषधोपवास का एक अतिचार है। २ वाल, वृद्ध, श्रान्त और रुग्ण साधु भी मूलभूत संयम का विनाश न हो, इस दृष्टि से जो शुद्ध आत्मतत्त्व के साधनभूत अपने योग्य अति कठोर संयम का आचरण करता है; यह संयम परिपालन का उत्सर्गमार्ग—सामान्य विधान है।

उत्सर्गसमिति — देखो उच्चारप्रस्रवणसमिति। १. स्थण्डिले स्थावर-जङ्गमजन्तुर्वाजिते निरीक्ष्य प्रमृज्य च मूत्र-पुरीपादीनामुत्सर्ग उत्सर्गसमितिः। (त. भा. ९–५)। २. जीवाविरोधेनाङ्गमलनिर्हरणमुत्सर्गसमितिः। स्थावराणां जङ्गमानां च जीवादीनाम् अविरोधेन अङ्गमलनिर्हरणं शरीरस्य च स्थापनम् उत्सर्गसमितिरवगन्तव्या। (त. वा. ९, ५, ८)। ३. जीवाविरोधेनाङ्गमलनिर्हरणं समुत्सर्गसमितिः। (त. श्लो. ९–५)। ४. तद्वर्जितं (स्थावर-जङ्गमजीववर्जितं) निरीक्ष्य चक्षुषा प्रमृज्य च रजोहृत्या वस्त्र-पात्र-खेल-मल-भक्तपान-मूत्र-पुरीपादीनामुत्सर्गः उज्झनं उत्सर्गसमितिः। (त. भा. हरि. वृ. ९–५)। ५. स्थावराणां जङ्गमानां च जीवानामविरोधेनांगमलनिर्हरणं शरीरस्य च स्थापनमुत्सर्गसमितिः। (चा. सा. पृ. ३२)। ६. कफ-मूत्र-मलप्रायं निर्जन्तु जगतीतले। यत्नाद्युत्सृजेत् साधुः सोत्सर्गसमितिर्भवेत्॥ (योगशा. १–४०)। ७. दूरगूढविशालानिरुद्धशुद्धमहीतले। उत्सर्गसमितिर्विण्मूत्रादीनां स्याद्विसर्जनम्॥ (आचा. सा. १–३६)। ८. निर्जन्तौ कुशले विविक्तविपुले लोकोपरोधोज्झिते प्लुष्टे कृष्ट उतोपरे क्षितितले विष्ठादिकानुत्सृजन्। नृः प्रज्ञाश्रमणेन नक्तमभितो दृष्टेः विभज्य त्रिधा। सुस्पृष्टेऽप्यपहस्तकेन समितावुत्सर्ग उत्तिष्ठते॥ (अन. ध. ४–१६९)। ९. निर्जीवे शुषिरे देशे प्रत्युपेक्ष्य प्रमार्ज्य च। यत्त्यागो मल-मूत्रादेः सोत्सर्गसमितिः स्मृता॥ (लोकप्र. ३०–७४८)। १०. विण्मूत्र-श्लेष्म-खिल्यादिमलमुज्झति यः शुचौ। दृष्ट्वा विशोध्य तस्य स्यादुत्सर्गसमितिर्हिता॥ (धर्मसं. श्रा. ९–८)। ११. प्राणिनामविरोधेन अङ्गमलत्यजनं शरीरस्य च स्थापनं दिगम्बरस्य उत्सर्गसमितिः भवति। (त. वृत्ति श्रुत. ९–५)।
१ स्थावर और जङ्गम जीवों से रहित शुद्ध भूमि में देखकर एवं रजोहरण से झाड़कर मल-मूत्र आदि का त्याग करना, इसका नाम उत्सर्गसमिति है। २ त्रस-स्थावर जीवों के विरोध (विराधना) से रहित शुद्ध भूमि में शरीरगत मल के छोड़ने और शरीर के स्थापित करने को उत्सर्गसमिति कहते हैं।

उत्सर्पिणी— १. णर-तिरियाणं आऊ-उच्छेह-विभूदिपहुदियं सव्वं। ××× उस्सप्पिणियासु वड्ढेदि। (ति. प. ४–३१४)। २. अनुभवादिभिरुत्सर्पणशीला उत्सर्पिणी। (स. सि. ३–२७)। ३. तद्विपरीतोत्सर्पिणी। तद्विपरीतैरेवोत्सर्पणशीला वृद्धिस्वाभाविकोत्सर्पिणीत्युच्यते। (त. वा. ३, २७, ५)। ४. दससागरोवमाणं पुण्णाओ होंति कोडिकोडी-

डीओ। ओसप्पिणीपमाणं तं चेवुसप्पिणीए वि ॥ (ज्योतिष्क. २-८३)। ५. जत्थं बलाउ-उस्सेहाणं उस्सप्पणं उड्ढी होदि सो कालो उस्सप्पिणी। (धव. पु. ९, पृ. ११९)। ६. उत्सर्प्पति वर्द्धतेऽरकापेक्षया उत्सर्प्पयति वा भावानायुष्कादीन् वर्द्धयतीति उत्सर्पिणी। (स्थाना. अभय. वृ. १-५०, पृ. २५)। ७. उत्सर्पयति प्रथमसमयादारभ्य निरन्तरवृद्धि नयति तैस्तैः पर्यायैर्भावानित्युत्सर्पिणी। (उप. प. मु. वृ. १-१७)। ८. ताभ्यां षट्समयाभ्यामुपभोगादिभिरुत्सर्पणशीला उत्सर्पिणी। (त. सुखबो. वृ. ३, २७)। ९. उत्सर्पन्ति क्रमेण परिवर्द्धन्ते शुभा भावा अस्यामित्युत्सर्पिणी। (ज्योतिष्क. मलय. वृ. २-८३)। १०. सागरोपमाणां दश कोटीकोटय एव दुष्षमदुष्षमाद्यरकक्रमेणेकोत्सर्पिणी। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, १७९, पृ. ३४५)। ११. शुभा भावा विवर्द्धन्ते क्रमादस्यां प्रतिक्षणम्। हीयन्ते चाशुभा भावा भवत्युत्सर्पिणीति सा ॥ (लोकप्र. २९-४५)। १२. उत्सर्पयति वृद्धि नयति भोगादीन् इत्येवंशीला उत्सर्पिणी। (त. वृत्ति श्रुत. ३-२७)।

१ जिस काल में जीवों की आयु, शरीर की ऊंचाई और विभूति आदि की उत्तरोत्तर वृद्धि हो उसे उत्सर्पिणी कहते हैं।

उत्संज्ञासंज्ञा—देखो उवसन्नासन्न। अनन्तानन्तपरमाणुसंघातपरिमाणादाविर्भूता उत्संज्ञासंज्ञकः। (त. वा. ३, ३८, ६, पृ. २०७, पं. २६-२७)।

अनन्तानन्त परमाणुओं के समुदाय से एक उत्संज्ञासंज्ञा नामक माप होता है।

उत्सूत्र—उत्सूत्रं किमित्याह—यदनुपदिष्टं तीर्थकरगणधरैः, स्वच्छन्देन स्वाभिप्रायेण विकल्पितम् उत्प्रेक्षितम्, अतएव सिद्धान्ताननुपाति, सिद्धान्तबहिर्भूतम् इत्यर्थः। (आव. ह. वृ. मल. हे. टि. पृ. ८४)।

तीर्थङ्कर या गणधरों ने जिसका उपदेश नहीं दिया है ऐसे तत्त्व का अपने अभिप्राय से कल्पना करके कथन करने को उत्सूत्र कहते हैं, क्योंकि, इस प्रकार का व्याख्यान सिद्धान्त के बहिर्भूत है।

उत्सृतोत्सृत कायोत्सर्ग—१. धम्मं सुक्कं च दुवे झायइ झाणाइं जो ठिओ संतो। एसो काउस्सग्गो उसिउसिओ होइ नायव्वो ॥ (आव. नि. १४७९)। २. धर्मं च शुक्लं च प्राक् प्रतिपादितस्वरूपे, ते एव द्वे ध्यायति ध्याने यः कश्चित् स्थितः सन् एष कायोत्सर्ग उत्सृतोत्सृतो भवति ज्ञातव्यः, यस्मादिह शरीरमुत्सृतं भावोऽपि धर्म-शुक्लध्यायित्वादुत्सृत एव। (आव. नि. हरि. वृ. १४७९, पृ. ७७६)।

देखो उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग।

उत्सेक—देखो अनुत्सेक। १. विज्ञानादिभिरनुत्कृष्टस्यापि सतस्तत्कृतमदोऽहंकारतोत्सेकः। (स. सि. ६-२६; त. वा. ६, २६, ५)। २. उत्सेको ज्ञानादिभिराधिक्येऽभिमान आत्मनः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ८-१०, पृ. १४५)।

ज्ञानादिकी अधिकता के होने पर तद्विषयक अभिमान करने को उत्सेक कहते हैं। यह मान कषाय का नामान्तर है।

उत्सेधाङ्गुल—१. परिभासाणिप्पण्णं (१, १०२-६) होदि हु उदिसेहसूचिअंगुलयं ॥ (ति. प.१-१०७)। २. अट्ठेव य जवमज्झाणि अंगुलं × × ×। (जीवस. ९९)। ३. अष्टौ यवमध्यानि एकमंगुलमुत्सेधाख्यम्। (त. वा. ३, ३८, ५)। ४. × × × यवैरष्टभिरङ्गुलम् ॥ उत्सेधाङ्गुलमेतत् स्यादुत्सेधोऽनेन देहिनाम्। अल्पावस्थितवस्तूनां प्रमाणं च प्रगृह्यते ॥ (ह. पु. ७, ४०-४१)। ५. परमाणू तसरेणू रहरेणू बालअग्ग-लिक्खा य। जूअ जवो अट्ठगुणो कमेण उस्सेहअंगुलयं। (संग्रहणी २४४)। ६. उत्सेधो देवादिशरीराणामुच्चत्वम्, तन्निर्णयार्थमङ्गुलमुत्सेधाङ्गुलम्। उत्सेधः 'अणंताणं सुहुमपरमाणुपुग्गलाणं समुदयसमिइसमागमेणं एगे ववहारपरमाणू' इत्यादिक्रमेणोच्छ्रयो वृद्धिस्तस्माज्जातमङ्गुलमुत्सेधाङ्गुलम्। (संग्रहणी दे. वृ. २४४); यवमध्यान्यप्यष्टाविकमुत्सेधाङ्गुलम्। (संग्रहणी दे. वृ. २४५)। ७. लिक्षाष्टकमिता यूका भवेद्यूकाभिरष्टभिः। यवमध्यं ततोऽष्टाभिस्तैः स्यादौत्सेधमङ्गुलम्। (लोकप्र. १-३३)।

२ आठ यवमध्यों का एक उत्सेधाङ्गुल होता है।

उत्स्वेदिम—१. उस्सेइम पिट्ठाइ × × × ॥ (बृहत्क. ८४०)। २. उत् ऊर्ध्वं निर्गच्छता वाष्पेण यः स्वेदः स उत्स्वेदः, उत्स्वेदेन निर्वृत्तमुत्स्वेदिमम्। (बृहत्क. क्षे. वृ. ८३९); उत्स्वेदिमं पिष्टादि—पिष्टं सूक्ष्मतन्दुलादिचूर्णनिष्पन्नम्, तद्धि वस्त्रान्तरितमधःस्थितस्योष्णोदकस्य वाष्पेणोत्स्विद्यमानं पच्यते। तत्र यदामं तत् उत्स्वेदिमामम्। (बृहत्क. क्षे. वृ. ८४०)।

सूक्ष्म चावल आदि के चूर्ण से उत्पन्न पिष्ट आदि को उत्स्वेदिम कहते हैं। कारण कि वह वस्त्र से आच्छादित होकर नीचे स्थित उष्ण जल के भाप से पकता है।

उदकराजिसदृश क्रोध—उदकराजिसदृशो नाम—यथोदके दण्डशलाकाङ्गुल्यादीनामन्यतमेन हेतुना राजिरुत्पन्ना द्रवत्वादपामुत्पत्त्यनन्तरमेव संरोहति, एवं यथोक्तनिमित्तोत्पन्नो यस्य क्रोधो विदुपोऽप्रम त्तस्य प्रत्यवमर्शनोत्पत्त्यनन्तरमेव व्यपगच्छति स उदकराजिसदृशः। (त. भा. ८–१०)।

जिस प्रकार जल में लकड़ी या अंगुली आदि किसी भी निमित्त से उत्पन्न हुई रेखा उत्पन्न होने के अनन्तर ही विलीन हो जाती है, उसी प्रकार किसी भी निमित्त से उत्पन्न हुआ प्रमादहीन विद्वान् का क्रोध भी चूंकि उत्पन्न होने के अनन्तर ही शान्त हो जाता है, अत एव उसे उदकराजि सदृश (संज्वलन) क्रोध कहा जाता है।

उदधिकुमार—१. ऊरु-कटिष्वधिकप्रतिरूपा कृष्ण-श्यामा मकरचिह्नाः उदधिकुमाराः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४–११)। २. उदधिकुमारा भूषणनियुक्त-हयवर-रूपचिह्नधारिणः। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, १, ११७)। ३. उदधिकुमारा ऊरु-कटिष्वधिकरूपा अवदातश्वेतवर्णाः। (संग्रहणी दे. वृ. १७, पृ. १३)। ४. उदानि उदकानि धीयन्ते येषु ते उदधयः, उदधि-क्रीडायोगात् त्रिदशा अपि उदधयः, उदधयश्च ते कुमाराश्च उदधिकुमाराः। (त. वृत्ति श्रुत. ४-११)।

१ ऊरु और कटिभाग में अतिशय रूपवान्, वर्ण से श्याम और मकर के चिह्न युक्त देव उदधिकुमार कहे जाते हैं।

उदय—१. द्रव्यादिनिमित्तवशात्कर्मणां फलप्राप्ति-रुदयः। (स. सि. २–१; त. वा. २, १, ४)। २. द्रव्यादिनिमित्तवशात् कर्मणः फलप्राप्तिरुदयः। द्रव्यादिनिमित्तं प्रतीत्य कर्मणो विपच्यमानस्य फलोपनिपात उदय इतीमामाख्यां लभते। (त. वा. २, १, ४); द्रव्यादिनिमित्तवशात् कर्मपरिपाक उदयः। प्रागुपात्तस्य कर्मणः द्रव्यादिनिमित्तवशात् फलप्राप्तिः परिपाक उदय इति निश्चीयते। (त. वा. ६, १४, १)। ३. उदयः उदीरणावलिकागततत्पुद्गलोद्भूत-सामर्थ्यता। (आव. नि. हरि. वृ. १०८, पृ. ७७)। ४. कर्मविपाकाविर्भाव उदयः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. २–१)। ५. जे कम्मक्खंधा ओकड्डुक्कड्डु-णादिपओगेण विणा ट्ठिदिक्खयं पाविदूण अप्पप्पणो फलं देंति, तेसिं कम्मक्खंधाणमुदओ त्ति सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. २१३)। ६. उदयः फलकारित्वं द्रव्यादिप्रत्ययद्वयात्। (त. श्लो. २, १, ४); द्रव्यादिनिमित्तवशात् कर्मपरिपाक उदयः। (त. श्लो. ६, १४)। ७. ओकड्डणाए विणा पत्तोदयकम्मक्खंघो कम्मोदओ णाम। ××× एत्थ कम्मोदयो उदओ त्ति गहिदो। (जयध. १, पृ. १८८)। ८. कर्मणो यथाकालं फलोपजननसामर्थ्यपरिपाक उदयः। (सिद्धिवि. टी. ४–१०, पृ. २६८)। ९. तेषां च यथास्वस्थितिवद्धानां कर्मपुद्गलानां करणविशेषकृते स्वाभाविके वा स्थित्यपचये सत्युदयसमयप्राप्तानां विपाकवेदनमुदयः। (षडशीति हरि. वृ. ११, पृ. १३१; कर्मस्त. गो. वृ. १, पृ. ६९)। १०. कर्मणां फलदातृत्वं द्रव्य-क्षेत्रादियोगतः। उदयः पाकजं ज्ञेयं ××× ॥ (पंचसं. अमित. ३–४)। ११. तेषामेव यथास्वस्थितिवद्धानां कर्मपुद्गलानामपवर्तना-करणविशेषतः स्वभावतो वोदयसमयप्राप्तानां विपाकवेदनमुदयः। (शतक. मल. हेम. ३, पृ. ६)। १२. अष्टानां कर्मणां यथास्वमुदयप्राप्तानामात्मीयात्मीयस्वरूपेणानुभवनमुदयः। (पंचसं. मलय. वृ. २–३, पृ. ४४)। १३. उदयः उदयावलिकाप्रविष्टानां तत्पुद्गलानामुद्भूतसामर्थ्यता। (आव. नि. मलय. वृ. १०८, पृ. ११६)। १४. कर्मपुद्गलानां यथास्थितिवद्धानामवाधाकालक्षयेणापवर्तनादि-करणविशेषतो वा उदयसमयप्राप्तानामनुभवनमुदयः। (कर्मप्र. मलय. वृ. १, पृ. २)। १५. इह कर्मपुद्गलानां यथास्वस्थितिवद्धानामुदयप्राप्तानां यद् विपाकेन अनुभवनेन वेदनं स उदयः। (कर्मस्त. दे. स्वो. वृ. १३, पृ. ८४)।

१ द्रव्यादि का निमित्त पाकर जो कर्म का फल प्राप्त होता है उसे उदय कहा जाता है।

उदयनिष्पन्न—उदयणिप्फण्णो णाम उदिण्णेण जेण अण्णो णिप्फादितो सो उदयणिप्फण्णो। (अनुयो. चू. पृ. ४२)।

कर्मके उदयसे जीव व अजीव में जो अवस्था प्रादुर्भूत होती है वह उदयनिष्पन्न कही जाती है। जैसे—नरकगति नामकर्म के उदय से होने वाली जीव की नारक अवस्था और औदारिकशरीर नामकर्म के

उदय से उत्पन्न होने वाली औदारिक वर्गणाओं की औदारिकशरीररूप अवस्था।

उदयबन्धोत्कृष्ट—१. उदयकालेऽनुभूयमानानां स्वबन्धादुत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म यासां ता उदयबन्धोत्कृष्टाभिधानाः। (पंचसं. स्वो. वृ. ३-६२, पृ. १५१)। २. यासां प्रकृतीनां विपाकोदये सति बन्धादुत्कृष्टं स्थितिसत्कर्मावाप्यते ता उदयबन्धोत्कृष्टसंज्ञाः। (पंचसं. मलय. वृ. ३–६२, पृ. १५२; कर्मप्र. यशो. टी. १, पृ. १५)।

१ उदयकाल में अनुभूयमान जिन कर्मप्रकृतियों का स्थितिसत्त्व बन्ध से उत्कृष्ट पाया जाता है उन्हें उदयबन्धोत्कृष्ट कहते हैं।

उदयभाव — अट्ठविहकम्मपोग्गला संतावत्थातो उदीरणावलियमतिक्कान्ता अप्पणो विपागेण उदयावलियाए वट्टमाणा उदिन्नाओ त्ति उदयभावो भन्नति। (अनुयो. चू. पृ. ४२)।

आठ प्रकार के कर्मपुद्गलों का सत्त्व अवस्था से उदीरणावली का अतिक्रमण कर अपने परिपाक से उदयावली में वर्तमान होते हुए उदय को प्राप्त होना, इसका नाम उदयभाव है।

उदयवती—१. चरिमसमयंमि दलियं जासिं अण्णत्थ संकमे ताओ। अणुदयवइ इयराओ उदयवई होंति पगईओ॥ (पंचसं. ३–६६)। २. इतराः या स्वोदयेन चरमसमये जीवोऽनुभवति ता उदयवत्यः। (पंचसं. स्वो. वृ. ३–६६, पृ. १५३)। ३. इतरास्तु प्रकृतय उदयवत्यो भवन्ति, यासां दलिकं चरमसमये स्वविपाकेन वेदयते। (पंचसं. मलय. वृ. ३–६६, पृ. १५३)। ४. यासां च दलिकं चरमसमये स्वविपाकेन वेदयते ता उदयवत्यः। (कर्मप्र. यशो. टी. १, पृ. १५)।

२ जिन कर्म-प्रकृतियों के दलिक का स्थिति के अन्तिम समय में अपना फल देते हुए वेदन किया जाता है उन कर्मप्रकृतियों को उदयवती कहते हैं।

उदयसंक्रमोत्कृष्ट—१. उदयेऽन्याभ्यः संक्रमेण उत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म यासां ता उदयसंक्रमोत्कृष्टाः। (पंचसं. स्वो. वृ. ३-६२, पृ. १५१)। २. यासां पुनर्विपाकोदये प्रवर्तमाने सति संक्रमत उत्कृष्टं स्थितिसत्कर्म लभ्यते, न बन्धतस्ता उदयसंक्रमोत्कृष्टाभिधानाः। (पंचसं. मलय. वृ. ३–६२, पृ. १५२;

कर्मप्र. यशो. टी. १, पृ. १५)। ३. उदये सति संक्रमत उत्कृष्टा स्थितिर्यासां ता उदयसंक्रमोत्कृष्टाः। (पंचसं. मलय. वृ. ५–१४५, पृ. २८४)।

२ विपाकोदय के होने पर जिन कर्मप्रकृतियों का संक्रम की अपेक्षा उत्कृष्ट स्थितिसत्कर्म प्राप्त होता है, बन्ध की अपेक्षा नहीं; उन्हें उदयसंक्रमोत्कृष्ट कहते हैं।

उदयस्थितिप्राप्तक—जं कम्मं उदए जत्थ वा तत्थ वा दिस्सइ तमुदयट्ठिदिपत्तयं णाम। (कसायपा. चू. पृ. २३६; धव. पु. १०, पृ. ११४)।

जो कर्मप्रदेशाग्र बंधने के अनन्तर जहां कहीं भी—जिस किसी भी स्थिति में होकर—उदय को प्राप्त होता है, उसे उदयस्थितिप्राप्तक कहते हैं।

उदरक्रिमिनिर्गम अन्तराय—× × ×स्यादुदरक्रिमिनिर्गमः॥ उभयद्वारतः कुक्षिक्रिमिनिर्गमने सति। (अन. ध. ५, ५५–५६)।

भोजन के समय ऊर्ध्व या अधोद्वार से पेट में से कृमि के निकलने पर उदरक्रिमिनिर्गम नाम का अन्तराय होता है।

उदराग्निप्रशमन—१. यथा भाण्डागारे समुत्थितमनलमशुचिना शुचिना वा वारिणा शमयति गृही, तथा यतिरपि उदराग्नि प्रशमयतीति उदराग्निशमनमिति च निरुच्यते। (त. वा. ९, ६, १६, पृ. ५९७; त. श्लो. ९-६)। २. यथा भाण्डागारे समुत्थितमनलं शुचिनाऽशुचिना वा वारिणा प्रशमयति गृही तथा यथालब्धेन यतिरप्युदराग्नि सरसेन विरसेन वाऽऽहारेण प्रशमयतीत्युदराग्निप्रशमनमिति च निरुच्यते। (चा. सा. पृ. ३६)। ३. भाण्डागारवदुदरे प्रज्वलितोऽग्निः प्रश[शा]म्यते येन शुचिना अशुचिना वा जलेनेव सरसेन विरसेन वाशनेन तदुदराग्निप्रशमनमिति प्रसिद्धम्। (अन. ध. स्वो. टी. ६–४९)।

१ जैसे भण्डार में लगी हुई अग्नि को गृहस्वामी पवित्र या अपवित्र किसी भी जल से बुझाने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार असातावेदनीय कर्म की उदीरणा से उठी हुई उदराग्नि को साधु भी सरस-नीरस आदि किसी भी प्रकार के आहार से शान्त करता है, इसलिए उदराग्निप्रशमन यह उसका सार्थक नाम जानना चाहिये।

उदात्तत्व—उदात्तत्वं उच्चैर्वृत्तिता । (समवा. अभय. वृ. ३५, पृ. ६०; रायप. वृ. पृ. २७) ।

उन्नत व्यवहार के साथ जो यथार्थ वचन का प्रयोग किया जाता है उसे उदात्तत्व कहा जाता है। यह सत्य वचन के ३५ अतिशयों में दूसरा है।

उदान वायु—रक्तो हृत्कण्ठ-तालु-भ्रूमध्य-मूर्ध्नि च संस्थितः। उदानो वश्यतां नेयो गत्यागतिनियोगतः।। (योगशा. ५-१८); रसादीनूर्ध्वं नयतीत्युदानः। योगशा. स्वो. विव. ५-१३) ।

रस आदि को ऊपर ले जाने वाली वायु को उदान वायु कहते हैं। वह वर्ण से लाल होती हुई हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रुकुटिमध्य और शिर में स्थित रहती है।

उदारत्व—१. अभिधेयार्थस्यातुच्छत्वं गुम्फगुणविशेषो वा। (समवा. अभय. वृ. ३५, पृ. ६०) । २. उदारत्वमतिशिष्टगुम्फगुणयुक्तता अतुच्छार्थप्रतिपादकता वा। (रायप. वृ. पृ. २८) ।

शब्द के वाच्यभूत अर्थ की महानता अथवा शब्दसंघटनारूप विशिष्ट गुण युक्तता का नाम उदारत्व है। यह ३५ सत्यवचनातिशयों में २२वां है।

उदाहरण—१. उदाह्रियते प्राबल्येन गृह्यतेऽनेन दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इति उदाहरणम्। (दशवै. नि. हरि. वृ. १-५२) । २. दृष्टान्तवचनमुदाहरणम्। (प्रमाणमी. २, १, १३) । ३. व्याप्तिपूर्वकदृष्टान्तवचनमुदाहरणम्। (न्या. दी. ३, पृ. ७८) ।

३ व्याप्तिपूर्वक दृष्टान्त के कहने को उदाहरण कहते हैं।

उदीचीन—एवमुदीच्यां दिश्येतावन्मयाद्य पञ्चयोजनमात्रं तदधिकमूनतरं वा गन्तव्यमित्येवम्भूतम्। (सूत्रकृ. शी. वृ. २, ७, ७९, पृ. १८२) ।

आज मैं उत्तर दिशा में पांच योजन अथवा उससे अधिक या कम इतनी दूर जाऊँगा, इस प्रकार उत्तर दिशा में गमन का नियम करने को उदीचीन देशावकाशिकव्रत कहते हैं।

उदीरणा—१. जे कम्मक्खंधा महंतेसु ट्ठिदि-अणुभागेसु अवट्ठिदा ओकड्डिदूण फलदाइणो कीरंति तेसिमुदीरणा त्ति सण्णा, अपक्वपाचनस्य उदीरणाव्यपदेशात्। (धव. पु. ६, पृ. २१४); अपक्वपाचनमुदीरणा। आवलियाए बाहिरट्ठिदिमादिं कादूणं उवरिमाणं ठिदीणं बंधावलियवदिक्कंतपदेसग्गमसंखेज्जलोगपडिभागेण पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागपडिभागेण वा ओकड्डिदूण उदयावलियाए देदि सा उदीरणा। (धव. पु. १५, पृ. ४३) । २. ओकट्टणवसेण पत्तोदयकम्मक्खंधो अकम्मोदओ णाम। × × × अकम्मोदओ उदीरणा णाम। (जयध. १, पृ. १८८) । ३. जं करणेणोकड्ढिय उदए दिज्जइ उदीरणा एसा। (कर्मप्र. उदी. क. १; पंचसं. उदी. क. १, पृ. १०६) । ४. अनुभूयमाने कर्मणि प्रक्षिप्याऽनुदयप्राप्तं प्रयोगेणानुभूयते यत्सा उदीरणा। (पंचसं. स्वो. वृ. ५-१, पृ. १६१); यत्करणेनापकृष्य दीयते उदये उदीरणा। × × × यद्दलं परमाण्वात्मकं करणेन स्ववीर्यात्मकेनापकृष्य, अनुदितस्थितिभ्यः इत्यवगम्यते, दीयते प्रक्षिप्यते उदये उदयप्राप्तस्थितौ एषा उदीरणोच्यते। (पंचसं. स्वो. वृ. उदी. १, पृ. १७५); उदयस्थितौ यत्प्रथमस्थितेः सकाशात् पतति सोदीरणा। (पंचसं. स्वो. वृ. उपश. २०, पृ. १६२) । ५. अण्णत्थ ठियस्सुदये संथु[छु]हणमुदीरणा हु अत्थित्तं। (गो. क. ४३९) । ६. समुदीर्यानुदीर्णानां स्वल्पीकृत्य स्थितिं बलात्। कर्मणामुदयावल्यां प्रक्षेपणमुदीरणा। (पंचसं. अमित. ३-३) । ७. सा (उदीरणा) पुनः कर्मपुद्गलानां करणविशेषजनिते स्थित्यपचये सत्युदयावलिकायां प्रवेशनमुदीरणा। (कर्मस्त. गो. वृ. १, पृ. ६६) । ८. उदीरणम् अनुदयप्राप्तस्य करणेनाकृष्योदये प्रक्षेपणमिति। (स्थाना. अभय. वृ. ४, १, २५१, पृ. १८४); अप्राप्तकालफलानां कर्मणामुदए प्रवेशनमुदीरणा। (स्थाना. अभय. वृ. ४, २, २९६, पृ. २१०) । ९. तेषामेव च कर्मपुद्गलानामकालप्राप्तानां जीवसामर्थ्यविशेषादुदयावलिकायां प्रवेशनमुदीरणा। (शतक. मल. हेम. ३, पृ. ६; षडशीति मलय. वृ. १-२, पृ. १२२; कर्मस्त. दे. स्वो. वृ. १, पृ. ६७; षडशीति दे. स्वो. पृ. ११५) । १०. उदीरणाऽप्राप्तकालस्य कर्मदलिकस्योदये प्रवेशनम्। (षडशीति हरि. वृ. ११, पृ. १३१) । ११. उदयावलिकातो बहिर्वर्तिनीनां स्थितीनां दलिकं कषायैः सहितेनासहितेन वा योगसंज्ञिकेन वीर्यविशेषेण समाकृष्योदयावलिकायां प्रवेशनमुदीरणा। तथा चोक्तम्—उदयावलियाबाहिरल्लठिईहिंतो कसायसहियासहिएणं जोगसन्नेणं दलियमोकड्ढिय उदयावलीयाए पवेसणमुदीरणा इति। (पंचसं. मलय. वृ. ५-६,

पृ. १६४); यत्परमाण्वात्मकं दलिकं करणेन योगसंज्ञिकेन वीर्यविशेषेण कषायसहितेन असहितेन वा उदयावलिकाबहिर्वर्तिनीभ्यः स्थितिभ्योऽपकृष्य उदये दीयते उदयावलिकायां प्रक्षिप्यते एषा उदीरणा। (पंचसं. मलय. वृ. उदी. क. १, पृ. १०६); इह प्रथमस्थितौ वर्तमान उदीरणाप्रयोगेण यत्प्रथमस्थितेरेव दलिकं समाकृष्योदयसमये प्रक्षिपति सा उदीरणा। (पंचसं. मलय. वृ. उपश. २०, पृ. १६३)। १२. कर्मपुद्गलानामकालप्राप्तानामुदयावलिकायां प्रवेशनमुदीरणा। ××× अनुदयप्राप्तं सत्कर्मदलिकमुदीर्यत उदयावलिकायां प्रवेश्यते यया सोदीरणा। (कर्मप्र. मलय. वृ. १–२, पृ. १७, १८)। १३. अन्तरकरणसत्कं च दलिकमुत्कीर्य प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति। प्रथमस्थितौ च वर्तमान उदीरणाप्रयोगेण यत्प्रथमस्थितिगतं दलिकं समाकृष्योदये प्रक्षिपति सा उदीरणा। (शतक. दे. स्वो. वृ. ६८, पृ. १२८)। १४. उदयावलिबाह्यस्थितिस्थितद्रव्यस्यापकर्षणवशादुदयावल्यां निक्षेपणमुदीरणा। (गो. क. जी. प्र. ४३६)।

१ अधिक स्थिति व अनुभाग को लिये हुए जो कर्म स्थित हैं उनकी उस स्थिति व अनुभाग को हीन करके फल देने के उन्मुख करना, इसका नाम उदीरणा है।

उदीरणाकरण—देखो उदीरणा। अप्राप्तकालकर्मपुद्गलानामुदयव्यवस्थापनमुदीरणाकरणकम्, सा चोदयविशेष एव। (पंचसं. स्वो. वृ. वं. क. १, पृ. १०६)।

जिन कर्म पुद्गलों का उदयकाल प्राप्त नहीं हुआ है उनको उदय में स्थापित करना, इसका नाम उदीरणाकरण है। यह एक उदय की ही विशेष अवस्था है।

उदीरणोदय—१. अयथाकालविपाक उदीरणोदयः। (त. वा. ६, ३६, ६)। २. जेसिं कम्मंसाणमुदयावलियब्भंतरे अंतरकरणेण अच्चंतमसंताणं कम्मपरमाणूणं परिणामविसेसेणासंखेज्जलोगपडिभागेणोदीरिदाणमणुहवो तेसिमुदीरणोदओ त्ति एसो एत्थ भावत्थो। (जयध. ७, पृ ३५६)। ३. अध्यवसायप्रयोगेणोदयावलिकारहितानां स्थितीनां यद्दलमुदयस्थितौ प्रक्षिप्यानुभवति स उदीरणोदयो भण्यते। (पंचसं. स्वो. वृ. ५–१०२, पृ. २६३)। ४. यः पुनस्तस्मिन्नुदये प्रवर्तमाने सति प्रयोगतः उदीरणाकरणरूपेण प्रयोगेण दलिकमाकृष्यानुभवति स द्वितीय उदीरणोदयाभिधान उच्यते। (पंचसं. मलय वृ. ५–१०२, पृ. २६३)।

२ जिन कर्मपरमाणुओं का उदयावली के भीतर सर्वथा असत्त्व है उनको अन्तरकरणरूप परिणामविशेष के द्वारा असंख्यात लोकप्रतिभाग से उदीरणा को प्राप्त कराकर वेदन करना, यह उनका उदीरणोदय है।

उदीर्ण—१. फलदातृत्वेन परिणतः कर्मपुद्गलस्कन्धः उदीर्णः। (धव. पु. १२, पृ. ३०३)। २. उदीर्णम् उद्भूतशक्तिकमुदयावलिकाप्रविष्टमिति यावत्। (धर्मसं. मलय. वृ. ७६७)।

१ फल देने रूप अवस्था में परिणत कर्म-पुद्गल-स्कन्ध को उदीर्ण कहते हैं।

उद्गमशुद्ध उपधिसंभोग—तत्र यत्साम्भोगिकस्सा[सां]म्भोगिकेण सममाधाकर्मादिभिः षोडशभिरुद्गमदोषैः शुद्धमुपधिमुत्पादयति एष उद्गमशुद्धउपधिसंभोगः। (व्यव. भा. मलय. वृ. ५–५१, पृ. १२)।

साम्भोगिकका—समान सामाचारी होने के कारण सहभोजन-पानादि व्यवहार के योग्य साधु का—असाम्भोगिक के साथ आधाकर्म आदि सोलह दोषों से रहित उपधि को जो उत्पन्न करना है, यह उद्गमशुद्ध-उपधिसंभोग कहलाता है।

उद्दिष्टत्यागप्रतिमा—उद्दिट्ठाहाराईण वज्जण इत्थ होइ तप्पडिता। दसमासावहिसज्झाय-झाणजोगप्पहाणस्स॥ (श्रा. प्र. वि. १०–१६)।

प्रमुखता से स्वाध्याय व ध्यान में उद्यत श्रावक जो उद्दिष्ट आहार आदि का परित्याग करता है, इसका नाम उद्दिष्टत्यागप्रतिमा है। इसकी कालमर्यादा दस मास है।

उद्दिष्टाहारविरत—देखो उत्कृष्ट श्रावक। १. जो णवकोडिविसुद्धं भिक्खायरणेण भुंजदे भोज्जं। जायणरहियं जोग्गं उद्दिट्ठाहारविरओ सो॥ (कार्ति-के. ३६०)। २. उद्दिष्टविनिवृत्तः स्वोद्दिष्टपिण्डोपधि-शयन-वसनादेर्विरतः सन्नेकशाटकधरो भिक्षाशनः पाणि-पात्रपुटेनोपविश्यभोजी रात्रिप्रतिमादितपःसमुद्यत आतापनादियोगरहितो भवति। (चा. सा.

पृ. १६) । ३. स्वनिमित्तं त्रिधा येन कारितोऽनुमतः कृतः । नाहारो गृह्यते पुंसां त्यक्तोद्दिष्टः स भण्यते । (सुभा. सं. ८४३) । ४. न वल्भ्यते यो विजितेन्द्रियोऽशनं मनोवचःकायनियोगकल्पितम् । महान्तमुद्दिष्टनिवृत्तचेतसं वदन्ति तं प्रासुकभोजनोद्यतम् ।। (धर्मप. अमित. २०-६३) । ५. यो बन्धुराबन्धुरतुल्यचित्तो गृह्णाति भोज्यं नवकोटिशुद्धम् । उद्दिष्टवर्जी गुणिभिः स गीतो विभीलुकः संसृति-यातुधान्याः ।। (अमित. श्रा. ७-७७) ।

१ जो श्रावक भिक्षाचरण से—भिक्षा के लिए श्रावक के घर जाता हुआ—नवकोटिविशुद्ध अर्थात् मन, वचन व काय की शुद्धिपूर्वक कृत, कारित एवं अनुमोदना से रहित आहार को याचना के विना ग्रहण करता है वह उद्दिष्टाहारविरत कहलाता है ।

उद्देशकाचार्य—प्रथमतः एव श्रुतमुद्दिशति यः स उद्देशकाचार्यः । (योगशा. स्वो. विव. ४-९०, पृ. ३१४) ।

जो शास्त्रव्याख्यानादि के समय सर्वप्रथम श्रुत का निर्देश करे—भूमिका रूप में श्रुत का उद्देश प्रकट करे—उसे उद्देशकाचार्य कहते हैं ।

उद्धारपल्य—१. तैरेव लोमच्छेदैः प्रत्येकमसंख्येयवर्षकोटीसमयमात्रच्छिन्नैस्तत्पूर्णमुद्धारपल्यम् । (स. सि. ३-३८; त. वा. ३, ३८, ७) । २. असंख्येयाब्दकोटीनां समयै रोमखण्डितम् । प्रत्येकं पूर्वकं तत्स्यात्पल्यमुद्धारसंज्ञकम् ।। (ह. पु. ७-५०) । ३. तान्येव रोमखण्डानि प्रत्येकं असंख्येयकोटिवर्षसमयमात्रगुणितानि गृहीत्वा द्वितीया महाखनिस्तैः पूर्यते । सा खनिः उद्धारपल्यम् । (त. वृत्ति श्रुत. ३-३८) ।

व्यवहारपल्य के जितने रोमच्छेद हैं उनमें से प्रत्येक रोमच्छेद को असंख्यात कोटि वर्षों के समयों से छिन्न करके उनसे भरे गये गड्ढे को उद्धारपल्य कहते हैं ।

उद्धारपल्यकाल—१. ववहाररोमराशिं पत्तेक्कमसंखकोडिवस्साणं । समयसमं घेत्तूणं विदिए पल्लम्हि भरिदम्हि ।। समयं पडि एक्केक्कं वालग्गं पेल्लिदम्हि सो पल्लो । रित्तो होदि स कालो उद्धारं णाम पल्लं तु ।। (ति. प. १, १२६-२७) । २. ततश्च तस्माद् व्यवहारपल्याद् वालाग्रमेकं परिगृह्य सूक्ष्मम् । अनेककोटयब्दविखण्डितं तत्तस्यातिपूर्णं निचितं समन्तात् ।। पूर्णे समासान्तशते ततस्तु एकैकशो रोम समुद्धरेच्च । क्षयं च जाते खलु रोमपुञ्ज उद्धारपल्यस्य हि कालमाहुः ।। (वरांग. २७, २०-२१) ।

१. व्यवहारपल्य की रोमराशि में से प्रत्येक को असंख्यात करोड़ वर्षों की समयसंख्या से खण्डित करके व उनसे दूसरे गड्ढे को भरकर उसमें से एक एक समय में एक एक रोमच्छेद के निकालने पर जितने समय में वह गड्ढा खाली होता है उतने काल को उद्धारपल्यकाल कहते हैं ।

उद्धारपल्योपम—१. तत्थ णं जे से ववहारिए से जहानामए पल्ले सिआ जोयणं आयामविक्खंभेणं, जोअणं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेण, से णं पल्ले एगाहिअ-बेआहिअ-तेआहिअ-जाव उक्कोसेणं सत्तरत्तरूढाणं संसट्ठे संनिचिते भरिए वालग्गकोडीणं ते णं वालग्गा नो अग्गी डहेज्जा नो वाऊ हरेज्जा नो कुहेज्जा नोपलिविद्धंसिज्जा णो पूइत्ताए हव्वमागच्छेज्जा, तओ णं समए समए एगमेगं वालग्गं अवहाय जावइएणं कालेण से पल्ले खीणे नीरए निल्लेवे णिट्ठिए भवइ, से तं ववहारिए उद्धारपलिओवमे । (अनुयो. १३८, पृ. १८०) । २. ततः समये समये एकैकस्मिन् रोमच्छेदेऽपकृष्यमाणे यावता कालेन तद्रिक्तं भवति तावान् काल उद्धारपल्योपमाख्यः । (स. सि. ३-३८; त. वा. ३, ३८, ७) । ३. व्यवहारपल्योपमे चैकैकं रोम असंख्यातवर्षकोटीसमयमात्रान् भागान् कृत्वा वर्षशतसमयैश्चैकैकं खण्डं प्रगुण्य तत्र यावन्मात्राः समयाः तावन्मात्रमुद्धारपल्योपमं भवति । (मूला. वृ. १२-३६) । ४. तदनन्तरं समये समये एकैकरोमखंडं उद्धारपल्यगतं निष्काष्यते, यावत्कालेन सा महाखनिः रिक्ता जायते तावत्काल उद्धारपल्योपमाह्वयः संसूच्यते । (त. वृत्ति श्रुत. ३-३८) । ५. तत्र उद्धारो वालाग्राणां तत्खण्डानां वा अपोद्धरणमुच्यते, तद्विषयं तत्प्रधानं वा पल्योपमम् उद्धारपल्योपमम् । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ८४; शतक. दे. स्वो. वृ. ८५; संग्रहणी दे. वृ ४) ।

१ पल्य नाम कुशूल (धान्य रखने के लिए मिट्टी से निर्मित पात्र) का है । एक उत्सेध योजन प्रमाण विस्तृत व ऊंचे गोल गड्ढे में मुण्डित शिर पर एक दिन, दो दिन, तीन दिन अथवा अधिक से अधिक सात दिन में उगने वाले वालाग्रों को इस प्रकार से ठसाठस भरे कि जिन्हें न अग्नि जला सके, न वायु

विचलित कर सके तथा वायु का प्रवेश न होने से जो न सड़-गल सकें, न विनष्ट हो सकें और न दुर्गन्धित हो सकें; इस प्रकार भरे गये उन वालाग्रों में से एक-एक समय में एक-एक बालाग्र के निकालने पर जितने काल में उक्त गड्ढा उनसे रिक्त हो जाता है उतने काल को व्यावहारिक (उद्धारपल्य का दूसरा भेद) उद्धारपल्योपम कहा जाता है।

उद्धारसागरोपम—१. एएसिं पल्लाणं कोडाकोडी हवेज्ज दसगुणिया। तं ववहारियस्स उद्धारसागरोवमस्स एगस्स भवे परिमाणं॥ (अनुयो. गा. १०७, पृ. १८०)। २. तेपामुद्धारपल्यानां दशकोटीकोटय एकमुद्धारसागरोपमम्। (स. सि. ३–३८; त. वा. ३, ३८, ७)। ३. उद्धारपल्योपमानि च दशकोटीकोटीमात्राणि गृहीत्वैकं उद्धारसागरोपमम् भवति। (मूला. वृ. १२-३६)। ४. उद्धारपल्यानां दशकोटीकोटयः एकमुद्धारसागरोपमम्। (त. वृत्ति श्रुत. ३–३८)।

२ दश कोड़ाकोड़ी उद्धारपल्यों का एक उद्धारसागरोपम होता है।

उद्भावन—१. प्रतिवन्धकाभावे प्रकाशवृत्तिता उद्भावनम्। (स. सि. ६-२५; त. श्लो. ६-२५)। २. प्रतिबन्धकाभावे प्रकाशितवृत्तितोद्भावनम्। प्रतिवन्धकस्य हेतोरभावे प्रकाशितवृत्तिता उद्भावनमिति व्यपदेशमर्हति। (त. वा. ६, २५, ४)।

प्रतिवन्धक कारण का अभाव होने पर प्रकाश में आना, इसका नाम उद्भावन है।

उद्भिन्न—१. पिहिदं लंछिदयं वा ओसह-घिद-सक्करादि जं दव्वं। उब्भिण्णिऊण देयं उब्भिण्णं होदि णादव्वं। (मूला. ६–२२)। २. इष्टकादिभिः मृत्पिण्डेन वृत्या कपाटेनोपलेन वा स्थगितमपनीय दीयते यत्तदुद्भिन्नम्। (भ. आ. विजयो. व मूला. वृ. २३)। ३. गोमयाद्युपलिप्तं भाजनमुद्भिद्य ददाति तदुद्भिन्नम्। (आचारा. शी. वृ. २, १, २६६, पृ. ३१७)। ४. विमुद्रादिकमुद्भिन्नम् ××× (आचा. सा. ८-३३)। ५. कुतुपादिस्थस्य घृतादेर्दानार्थं यत् मृत्तिकाद्यपनयनं तदुद्भिन्नम्। (योगशा. स्वो. विव. १–३८; धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३-२२, पृ. ४०)। ६. पिहितं लाञ्छितं वाज्य-गुडाद्युद्घाट्य दीयते। यत्तदुद्भिन्नम् ×××। (अन. ध. ५, १७)। ७. उद्भिन्नं यत्कुतुपादिमुखं स्थगितमप्युद्भिद्य ददाति। (व्यव. भा. मलय. वृ. ३, पृ. ३५)। ८. यन्मुद्रितकुतुपादिमुखं यतिहेतोरुन्मुद्रय घृतादि दत्ते तदुद्भिन्नम्। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २०, पृ. ४९)। ९. विमुद्रादिकं यदन्नादिकं भवति तदुद्भिन्नम्, उद्घाटितं न भुज्यत इत्यर्थः। (भा. प्रा. टी. ९९)।

१ ढकी हुई अथवा चिह्नित (नाम-विम्वादिसे मुद्रित) औषध, घी और शक्कर आदि को उघाड़ कर देना, यह उद्भिन्न नाम का उद्गम दोष है। ५ कुतुप (चमड़े का पात्रविशेष) में स्थित घी आदि को देने के लिए मिट्टी आदि को जो दूर किया जाता है, इसे उद्भिन्न दोष कहा जाता है।

उद्भेदिम—भूमि-काष्ठ-पापाणादिकं भित्वा ऊर्ध्वनिःसरणम् उद्भेदः, उद्भेदो विद्यते येषां ते उद्भेदिमाः। (त. वृत्ति श्रुत. २–१४)।

पृथिवी, काष्ठ और पत्थर आदि को भेदकर उत्पन्न होने वाले जीवों को उद्भेदिम कहते हैं।

उद्यवन—१. उत्कृष्टं यवनमुद्यवनम्। असकृद्दर्शनादिपरिणतिरुद्यवनम्। भ. आ. विजयो. टी. २)। २. उज्जवणं उत्कृष्टं यवनं मिश्रणमसकृत्परिणतिः। (भ. आ. मूला. टी. २)।

निरन्तर दर्शन, ज्ञान व चारित्रादि रूप परिणति करने को उद्यवन या उद्यमन कहते हैं।

उद्यान—१. चम्पकवनाद्युपशोभितमुद्यानम्। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १७)। २. पुष्पादिसद्वृक्षसंकुलमुत्सवादौ वहुजनोपभोग्यमुद्यानम्। (जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, १४२, पृ. २५८)।

२ पुष्प वाले वृक्षों से व्याप्त एवं उत्सवादि के समय सर्वसाधारण जनों के द्वारा उपभोग्य उपवन को उद्यान कहते हैं।

उद्योत—१. उद्योतश्चन्द्र-मणि-खद्योतादिप्रभवः प्रकाशः। (स. सि. ५–२४; त. सुखबो. वृ. ५, २४)। २. उद्योतश्चन्द्र-मणि-खद्योतादिविषयः। चन्द्र-मणि-खद्योतादीनां प्रकाशः उद्योत उच्यते। (त. वा. ५, २४, १९)। ३. उद्योतोऽपि आह्लादादिहेतुत्वात् वृष्टिवत्, च-शब्दात् वृष्टिदीपोद्योतादिरोधादिपरिणामपरिग्रहः। (त. भा. हरि. वृ. ५–२४)। ४. उद्योतश्च पुद्गलात्मकः चन्द्रिकादिराह्लादकत्वाज्जलवत्, प्रकाशकत्वादग्निवत्, तथाऽनुष्णाशीतत्वात् उद्योतः पद्मरागोपलादीनाम्। (त. भा. सिद्ध. वृ.

१ इष्टवियोग होने पर विकलता के होने को उद्वेग कहते हैं।

उद्वेलनसंक्रम—१. उव्वेलणसंकमो णाम करण-परिणामेहि विणा रज्जुव्वेलणकमेण कम्मपदेसाणं परपयडिसरूवेण संछोहणा। (जयध.—कसायपा. पृ. ३६७, टि. ६)। २. करणपरिणामेन विना कर्मपरमाणूनां परप्रकृतिरूपेण निक्षेपणमुद्वेलनसंक्रमणम्। (गो. क. जी. प्र. टी. ४१३)।

अधःकरणादि परिणामों के बिना रस्सी के उकेलने के समान कर्मपरमाणुओं के परप्रकृतिरूप से निक्षेपण को उद्वेलनसंक्रम कहते हैं।

उद्वेल्लिम — गंथिम-वाइमादिदव्वाणमुव्वेल्लणेण जाददव्वमुव्वेल्लिमं णाम। (धव. पु. ६, पृ. २७३)।

गूंथी गई (जैसे माला आदि) और बुनी गई वस्तुओं के अलग करने (उकेलने) से जो उनकी अवस्था प्रादुर्भूत होती है उसका नाम उद्वेल्लिम है।

उन्मग्ना नदी—णियजलपवाहपडिदं दव्वं गरुवं पि णेदि उवरिम्मि। जम्हा तम्हा भण्णइ उम्मग्गा वाहिणी एसा॥ (ति. प. ४–२३८; त्रि. सा. ५९४)।

जो नदी अपने जलप्रवाह में गिरे हुए भारी से भारी द्रव्य को भी ऊपर ले आती है उसका नाम उन्मग्ना है।

उन्मत्त—१. उन्मत्तो भूतादिगृहीतः। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २२, पृ. ५२)। २. उन्मत्तो भूत-वातादि-दोषेण वैकल्यमाप्तः। (आ. दि. १६, पृ. ७४)।

भूत-प्रेतादि से गृहीत (पीड़ित) पुरुष को उन्मत्त कहते हैं। वह दीक्षा के योग्य नहीं होता।

उन्मत्त दोष— × × × घूर्णनं मदिरार्तवत्। (अन. ध. ८–११६)।

मद्य पीकर भ्रान्तचित्त हुए मनुष्य के समान भ्रान्ति को प्राप्त होना, यह कायोत्सर्ग सम्बन्धी उन्मत्त नाम का दोष है।

उन्मान—१. से किं तं उम्माणे? जं णं उम्मिणिज्जइ। तं जहा—अद्धकरिसो करिसो पलं अद्धपलं अद्धतुला तुला अद्धभारो भारो। दो अद्धकरिसा करिसो, दो करिसा अद्धपलं, दो अद्धपलाइं पलं, पंचपलसइया तुला, दस तुलाओ अद्धभारो, वीसं तुलाओ भारो। (अनुयो. सू. १३२, पृ. १५३)। २. कुष्ठ-तगरादिभाण्डं येनोत्क्षिप्य मीयते तदुन्मानम्। (त. वा. ३, ३८, ३)। ३. उन्मीयतेऽनेनोन्मीयत इति वोन्मानं तुला-कर्पादिसूत्रसिद्धम्। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ७६)। ४. उन्मीयते तदित्युन्मानम्, उन्मीयतेऽनेनेति वा उन्मानमित्यादि। (अनुयो. मल. हेम. वृ. १३२, पृ. १५४)।

२ जिसके द्वारा ऊपर उठाकर कुष्ठ (औषधिविशेष) व तगर आदि तौले जाते हैं, ऐसी तराजू आदि को उन्मान कहा जाता है।

उन्मार्गदेशक (उम्मग्गदेसअ)—नाणाइ अदूसितो तव्विवरीयं तु उवदिसइ मग्गं। उम्मग्गदेसओ एस आयअहिओ परेसिं च॥ (बृहत्क. १३२२)।

जो परमार्थभूत ज्ञानादि को दूषित न करता हुआ उन (ज्ञानादि) से विपरीत मार्ग का उपदेश करता है उसे उन्मार्गदेशक कहते हैं।

उन्मिश्रदोष—१. पुढवी आऊ य तहा हरिदा बीया तसा य सज्जीवा। पंचेहिं तेहिं मिस्सं आहारं होदि उम्मिस्सं॥ (मूला. ६–५३)। २. स्थावरैः पृथिव्यादिभिः, त्रसैः पिपीलिका-मत्कुणादिभिः सहितोन्मिश्रः। (भ. आ. विजयो. टी. २३०, पृ. ४४४)। ३. उन्मिश्रोऽप्रासुकेन द्रव्येण पृथिव्यादिसच्चित्तेन मिश्र उन्मिश्र इत्युच्यते, तं यद्यादत्ते उन्मिश्रनामाशनदोषः। (मूला. वृ. ६–४३)। ४. देयद्रव्यं खण्डादि सचित्तेन धान्यकणादिना मिश्रं ददत उन्मिश्रम्। (योगशा. स्वो. विव. १–३८; धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३–२२, पृ. ४२)।

१ सजीव पृथिवी, जल, हरितकाय, बीज और त्रस इन पांच से मिले हुए आहार को उन्मिश्र दोष (अशनदोष) से दूषित कहा जाता है।

उपकरण—१. येन निर्वृत्तेरुपकारः क्रियते तदुपकरणम्। (स. सि. २–१७; त. श्लो. २–१७)। २. विषयग्गहणसमत्थं उवगरणं इंदियंतरं तं पि। जं नेह तदुवघाए गिण्हइ निव्वित्तिभावे वि॥ (विशेषा. ३५६३)। ३. उपकरणं बाह्यमभ्यन्तरं च निर्वर्तितस्यानुपघातानुग्रहाभ्यामुपकारीति। (त. भा. २–१७)। ४. उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणम्। येन निर्वृत्तेरुपकारः क्रियते तदुपकरणम्। (त. वा. २, १७, ५; धव. पु. १, पृ. २३६; मूला. वृ. १२, १५६)। ५. निर्वर्तितस्य निष्पादितस्य स्वावयवविभागेन, निर्वृत्तीन्द्रियस्येति गम्यते, अनुपघातानुग्रहाभ्यामुपकारीति यदनुपहत्या उपग्रहेण चोपकरोति

तदुपकरणेन्द्रियमिति। (त. भा. हरि. वृ. २–१७)। ६. निर्वृत्तौ सत्यां कृपाणस्थानीयायामुपकरणेन्द्रियमवश्यमपेक्षितव्यम्। तच्च स्वविषयग्रहणशक्तियुक्तं खड्गस्येव धारा छेदनसमर्था तच्छक्तिरूपमिन्द्रियान्तरं निर्वृत्तौ सत्यपि शक्त्युपघातैर्विषयं न गृह्णाति तस्मान्निर्वृत्तेः श्रवणादिसंज्ञिके द्रव्येन्द्रिये तद्भावादात्मनोऽनुपघातानुग्रहाभ्यां यदुपकारि तदुपकरणेन्द्रियं भवति। × × × एतदेव स्फुटयति—निर्वर्तितस्य निष्पादितस्य स्वावयवविभागेन यदनुपहत्या अनुग्रहेण चोपकरोति ग्रहणमात्मनः स्वच्छतरपुद्गलजालनिर्मापितं तदुपकरणेन्द्रियमध्यवस्यन्ति विद्वांसः। (त. भा. सिद्ध. वृ. २–१७)। ७. उपक्रियतेऽनुगृह्यते ज्ञानसाधनमिन्द्रियमनेनेत्युपकरणमक्षिपत्र-शुक्ल-कृष्णतारकादिकम्। (भ. आ. विजयो. टी. ११५)। ८. तस्या एव निर्वृत्तेर्द्विरूपायाः येनोपकारः क्रियते तदुपकरणम्। (आचारा. शी. वृ. १, १, ६४, पृ. ६४)। ९. उपकरणं नाम खड्गस्थानीयाया बाह्यनिर्वृत्तेर्या खड्गधारास्थानीया स्वच्छतरपुद्गलसमूहात्मिकाऽभ्यन्तरा निर्वृत्तिस्तस्याः शक्तिविशेषः। (जीवाजी. मलय. वृ. १, १३, पृ. १६)। १०. उपकरणं बाह्यमाभ्यन्तरं च निर्वृत्तिः, तस्यानुपघातानुग्रहाभ्यामुपकरोति। (ज्ञानसार यशो. वृ. ७, पृ. २५)।

१ जिसके द्वारा निर्वृत्ति इन्द्रिय का उपकार किया जाता है उसे उपकरण इन्द्रिय कहते हैं।

उपकरणवकुश—१. उपकरणवकुशो बहुविशेषयुक्तोपकरणाकांक्षी। (स. सि. ९–४७; त. सुखबो. वृ. ९–४७)। २. उपकरणाभिष्वक्तचित्तो विविधविचित्रमहाधनोपकरणपरिग्रहयुक्तो बहुविशेषोपकरणाकांक्षायुक्तो नित्यं तत्प्रतिसंस्कारसेवी भिक्षुरुपकरणवकुशो भवति। (त. भा. ९–४९)। ३. उपकरणाभिष्वक्तचित्तो विविधविचित्रपरिग्रहयुक्तः बहुविशेषयुक्तोपकरणकांक्षी तत्संस्कार-प्रतीकारसेवी भिक्षुरुपकरणवकुशो भवति। (त. वा. ९, ४७, ४; चा. सा. पृ. ४६)। ४. उपकरणवकुशस्तु अकाल एव प्रक्षालितचोलपट्टकान्तरकल्पादिश्चोक्षकवासःप्रियः पात्र-दण्डकाद्यपि तैलपातया(त्र्या) उज्ज्वलीकृत्य विभूषार्थमनुवर्तमानो बिभर्ति ऋद्धीः प्रभूतवस्त्र-पात्रादिकास्ताः इच्छन्ति कामयन्ते तत्कामाः, यशः ख्यातिगुणवन्तो विशिष्टाः साधवः इत्येवंविधः प्रवादः, तच्च यशः कामयन्त इति ऋद्धि-यशस्कामाः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–४८)। ५. अकाल एव प्रक्षालितचोलपट्टकान्तरकल्पादिश्चोक्षवासःप्रियः पात्र-दण्डकाद्यपि विभूषार्थं तैलमात्रयोज्ज्वलीकृत्य धारयन्नुपकरणवकुशः। (प्रव. सारो. वृ. ७२४; धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३–५६, पृ. १५२)। ६. नानाविधोपकरणसंस्कार-प्रतीकाराकांक्षी उपकरणवकुश उच्यते। (त. वृत्ति श्रुत. ९–४७)।

३ जो भिक्षु उपकरणों में मुग्ध होता हुआ अनेक प्रकार के विचित्र परिग्रह से युक्त होता है तथा बहुत विशेष योग्य उपकरणों का अभिलाषी होकर उनके संस्कार की अपेक्षा करता है उसे उपकरणवकुश कहते हैं। ४ उपकरण वकुश वे साधु कहे जाते हैं जो असमय में चोलपट्ट (कटिवस्त्र) आदि को धोते हैं, उक्षवस्त्र (साध्वी का वस्त्रविशेष) में अनुराग रखते हैं। दण्ड व पात्र आदि स्वच्छ रख कर सजावट की अपेक्षा करते हैं, तथा प्रचुर वस्त्र-पात्रादि की इच्छा करते हुए कीर्ति व प्रसिद्धि को चाहते हैं।

उपकरणसंयम — उपकरणसंयम इत्यजीवकायसंयमः। अजीवकायश्च पुस्तकादिः, तत्र यदा ग्रहण-धारणशक्तिसम्पन्नाजो ऽभूवन् पुरुषाः दीर्घायुषश्च तदा नासीत् प्रयोजनं पुस्तकैः, दुःषमानुभावात् तु परिहीनैर्ग्रहण-धारणादिभिरस्ति निर्युक्त्यादिपुस्तकग्रहणानुज्ञेत्येवं यथाकालमपेक्ष्यासंयमः संयमो वा भवति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–६)।

उपकरणसंयम से अभिप्राय अजीवकाय पुस्तक आदि-विषयक संयम का है। जब संयत पुरुष दीर्घायु होकर ग्रहण-धारण शक्ति से सम्पन्न होते थे तब पुस्तक आदि से उन्हें कोई प्रयोजन नहीं रहता था। किन्तु दुःषमा काल के प्रभाव से यदि वे ग्रहण-धारण शक्ति से हीन होते हैं तो ऐसे संयतों को पुस्तक आदि के ग्रहण की अनुमति है। इस प्रकार समयानुसार अपेक्षाकृत संयम-असंयम होता है।

उपकरणसंयोजन(ना)—१. उपकरणानां पिच्छादीनां अन्योऽन्येन संयोजना शीतस्पर्शस्य पुस्तकस्य कमण्डलादेर्वा आतपादितप्तेन पिच्छेन प्रमार्जनम् इत्यादिकम्। (भ. आ. विजयो. टी. ८१५)। २. शीतस्य पुस्तकादेरातपादितप्तेन पिच्छादिना प्रमार्जनं प्रच्छादनादिकरणमुपकरणसंयोजनम्। (अन. ध. स्वो. टी. ४–२८)।

१ शीतल पुस्तकादि का सूर्य-सन्तप्त पिच्छी आदि से प्रमार्जन करने को उपकरणसंयोजन कहते हैं।

उपकरणेन्द्रिय—देखो उपकरण। १. उपकरणेन्द्रियं विषयग्रहणे समर्थम्, छेद्यच्छेदने खड्गस्येव धारा, यस्मिन्नुपहते निर्वृत्तिसद्भावेऽपि विषयं न गृह्णातीति। (ललितवि. पं. पृ. ३९)। २. तच्चोपकरणेन्द्रियं कदम्बपुष्पातिमुक्तकपुष्पक्षुरप्रनानाकृतिसंस्थितं श्रोत्र-घ्राण-रसन-स्पर्शनलक्षणं शब्द-गन्ध-रस-स्पर्शपरिणतद्रव्यसंघातो वा। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. गा. ४, पृ. ११)।

१ निर्वृत्ति का सद्भाव होने पर भी जिसके कुण्ठित या दूषित होने पर इन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण न कर सके उसे उपकरणेन्द्रिय कहते हैं। जिस प्रकार तलवार या फरसा आदि की धार यदि मोथरी नहीं है, तो वह काष्ठादि के विदारण में समर्थ रहती है, इसी प्रकार यदि उपकरण इन्द्रिय कुण्ठित नहीं है तो वह नियत विषय के ग्रहण में समर्थ रहती है।

उपकारी (मैत्री)—उपकर्तुं शीलमस्येत्युपकारी, उपकारं विवक्षितपुरुषसम्बन्धिनमाश्रित्य या मैत्री लोके प्रसिद्धा सा प्रथमा। (षोडशक वृ. १३-९, पृ. ८८)।

किसी पुरुषविशेष से सम्बद्ध उपकारविशेष की अपेक्षा जो मित्रता का सम्बन्ध स्थापित होता है उसे उपकारी मैत्री कहते हैं।

उपक्रम—१. उपक्रमोऽपवर्तननिमित्तम्। (त. भा. २, ५२)। २. सत्थस्सोवक्कमणं उवक्कमो तेण तम्मि व तओ वा। सत्यसमीवीकरणं आणयणं नासदेसम्मि॥ (विशेषा. ९१४)। ३. तत्र शास्त्रस्य उपकरणम्, उपक्रमम्यतेऽनेनास्मादस्मिन्निति वा उपक्रमः, शास्त्रस्य न्यासः, देशानयनमित्यर्थः। (आव. नि. हरि. वृ. ७६, पृ. ५४); उपक्रमः प्रायः शास्त्रसमुत्थानार्थः उक्तः; × × × उपक्रमो ह्युद्देशमात्रनियतः। (आव. नि. हरि. वृ. १४१, पृ. १०५; उवरिमश्रुतादिहानयनमुपक्रमः। (आव. नि. हरि. व मलय. वृ. ६६५)। ४. तत्रोपक्रमणमुपक्रम इति भावसाधनः शास्त्रस्य न्यासदेशं समीपीकरणलक्षणः. उपक्रम्यते वाऽनेन गुरुवाग्योगेनेत्युपक्रमः करणसाधनः, उपक्रम्यतेऽस्मादिति वा विनीतविनेयविनयादित्युपक्रमः इत्यपादानसाधनः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. २७)। ५. × × × सोपक्रमा निरुपक्रमाश्च—बाहुल्येन अपवर्त्यायुषः अनपवर्त्यायुषश्च भवन्ति। (त. भा. हरि. वृ. २-५२)। ६. अर्थमात्मन उप समीपं क्राम्यति करोतीत्युपक्रमः। (धव. पु. १, पृ. ७२); उपक्रम्यतेऽनेन इत्युपक्रमः जेण करणभूदेण णाम-पमाणादीहि गंथो अवगम्यते सो उवक्कमो णाम। (धव. पु. ६, पृ. १३४)। ७. उपक्रम्यते समीपीक्रियते श्रोता अनेन प्राभृतमित्युपक्रमः। (जयध. १, पृ. १३)। ८. प्रकृतस्यार्थतत्त्वस्य श्रोतृबुद्धौ समर्पणम्। उपक्रमोऽसौ विज्ञेयस्तथोपघात इत्यपि॥ (म. पु. २-१०३)। ९. उपक्रमणमुपक्रमः प्रत्यासन्नीकरणकारणमुपक्रमशब्दाभिधेयम्। अतिदीर्घकालस्थित्यप्यायुर्येन कारणविशेषेणाध्यवसानादिनाऽल्पकालस्थितिकमापद्यते स कारणकलाप उपक्रमः। (त. भा. सिद्ध. वृ. २-५१, पृ. २२०); उपक्रमो विषाग्नि-शस्त्रादिः। × × × न ह्येषां प्राणापानाहारनिरोधाध्यवसाननिमित्तवेदनापराघातस्पर्शाख्याः सप्त वेदनाविशेषाः सन्त्यायुषो भेदकाः उपक्रमा इति, अतो निरुपक्रमा एव। (त. भा. सिद्ध. वृ. २-५२, पृ. २२३)। १०. उपक्रम्यते क्रियतेऽनेनेत्युपक्रमः कर्मणो बद्धत्वोदीरितत्वादिना परिणमनहेतुर्जीवस्य शक्तिविशेषो योऽन्यत्र करणमिति रूढः, उपक्रमणं वोपक्रमो बन्धनादीनामारम्भः। प्रकृत्यादिबन्धनारम्भा वा उपक्रमा इति। उपक्रमस्तु प्रकृत्यादित्वेन पुद्गलानां परिणमनसमर्थं जीववीर्यम्। (स्थाना. अभय. वृ. ४, २, २९६, पृ. २१०)। ११. जेणाउमुवक्कमिज्जइ अप्पसमुत्थेण इअरगेणावि। सो अज्झवसाणाई उवक्कमो × × ×॥ (संग्रहणी २६६)। १२. शास्त्रमुपक्रम्यते समीपमानीयते निक्षेपस्थानेनेति उपक्रमः, निक्षेपयोग्यतापादनमिति भावः, उपक्रमान्तर्गतभेदैर्हि विचारितं निक्षिप्यते, नान्यथा। (आव. मलय. वृ. ७६, पृ. ९०)। १३. उपक्रमणमुपक्रमः, उपशब्दः सामीप्ये, 'क्रमु पादविक्षेपे', उपेति सामीप्येन क्रमणमुपक्रमः, दूरस्थस्य समीपापादनमित्यर्थः। (ओघनि. वृ. पृ. १)। १४. उपक्रमणमुपक्रम इति भावसाधनः व्याचिख्यासितशास्त्रस्य समीपानयनेन निक्षेपावसर-

प्रापणम्, उपक्रम्यते वाऽनेन गुरुवाग्योगेनेत्युपक्रम इति करणसाधनः। उपक्रम्यतेऽस्मिन्निति वा शिष्य-श्रमणभावे सतीत्युपक्रम इत्यधिकरणसाधनः, उपक्रम्यतेऽस्मादिति वा विनेयविनयादित्युपक्रमः इत्यपादानसाधन इति। (जम्बूद्वी. वृ. ५)।

१ आयु के अपवर्तन (विघात) का जो कारण है उसे उपक्रम कहते हैं। ६ जिसके द्वारा नाम व प्रमाणादि से ग्रन्थ का बोध होता है उसे उपक्रम कहा जाता है। १० जीव की जो विशिष्ट शक्ति कर्म की बद्धता और उदीरता आदि रूप से परिणमन में कारण होती है उसे उपक्रम कहते हैं। अन्यत्र इसे करण भी कहा गया है।

उपक्रमकाल—१. उपक्रमणमुपक्रमः अभिप्रेतस्यार्थस्य सामीप्यापादनम्, उपक्रमस्य कालः भूयिष्ठ-क्रियापरिणामः, प्रभूतकालप्राप्यं स्वल्पकालप्राप्यं भवति स उपक्रमकालः। (विशेषा. को. वृ. २५४०, पृ. ६०८)। २. उपक्रमकालः अभिप्रेतार्थसामीप्यानयनलक्षणः सामाचारीयथायुष्कभेदभिन्नो वाच्यः। (आव. नि. मलय. वृ. ६६०)।

१ अभीष्ट अर्थ को समीप में लाने रूप उपक्रम का जो काल है उसे उपक्रम काल कहते हैं।

उपगतश्लाघत्व—उपगतश्लाघत्वं उक्तगुणयोगात् प्राप्तश्लाघता। (समवा. अभय. वृ. ३५; रायप. वृ. पृ. १७)।

परनिन्दा व आत्मोत्कर्ष से रहित होने के कारण जो वचन को श्लाघता—प्रशस्तता—प्राप्त होती है उसका नाम उपगतश्लाघत्व है। यह सत्य वचन के ३५ अतिशयों में से २४वां है।

उपगूहन—देखो उपबृंहण। १. दंसण-चरणविवण्णे जीवे दट्ठूण धम्मभत्तीए। उवगूहणं करितो दंसणसुद्धो हवदि एसो॥ (मूला. ५-६४)। २. जो सिद्धभत्तिजुत्तो उपगूहणगो दु सव्वधम्माणं। सो उवगूहणगारी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो॥ (समयप्रा. २५१)। ३. स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयाम्। वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तद्वदन्त्युपगूहनम्॥ (रत्नक. १५)। ४. हिताहितविवेकविकलं व्रताद्यनुष्ठानेऽसमर्थजनमाश्रित्य रत्नत्रये तद्वति वा दोषस्य यत्प्रच्छादनं तदुपगूहनम्। (रत्नक. टी. १-१५)। ५. उपगूहनं चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघदोषापहरणं प्रमादाचरितस्य च संवरणम्। (मूला. वृ. ४-४)। ६. जो परदोसं गोवदि णियसुकयं जो ण पयडदे लोए। भवियव्वभावणरओ उवगूहणकारगो सो हु॥ (कार्तिके. ४१९)। ७. यद्वत्पुत्रकृतं दोषं यत्नान्माता निगूहति। तद्वत्सद्धर्मदोषोपगूहः स्यादुपगूहनम्॥ (आचा. सा. ३-६१)। ८. यो निरीक्ष्य यतिलोकदूषणं कर्मपाकजनितं विशुद्धधीः। सर्वथाऽप्यवति धर्मबुद्धितः कोविदास्तमुपगूहकं विदुः॥ (अमित. श्रा. ३-३७)। ९. भेदाभेदरत्नत्रयभावनारूपो मोक्षमार्गः स्वभावेन शुद्ध एव तावत्। तत्राज्ञानिजननिमित्तेन तथैवाशक्तजननिमित्तेन च धर्मस्य पैशून्यं दूषणमपवादो दुष्प्रभावना यदा भवति तदागमाविरोधेन यथाशक्त्यार्थेन धर्मोपदेशेन वा यद्धर्मार्थं दोषस्य झम्पनं निवारणं क्रियते तद् व्यवहारनयेनोपगूहनं भण्यते। तथैव निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहारोपगूहनगुणस्य सहकारित्वेन निजनिरञ्जननिर्दोषपरमात्मनः प्रच्छादका ये मिथ्यात्व-रागादिदोषास्तेषां तस्मिन्नेव परमात्मनि सम्यक्श्रद्धान-ज्ञानानुष्ठानरूपं यद् ध्यानं तेन प्रच्छादनं विनाशनं गोपनं झम्पनं तदेवोपगूहनम्। (बृ. द्रव्यसं. वृ. ४१)। १०. स्वयमकलंकस्य मार्गस्य बालाशक्तजनाश्रयवाच्यतानिरास उपगूहनम्। (भ. आ. मूला. टी. ४५)। ११. रत्नत्रयोपयुक्तस्य जनस्य कस्यचित् क्वचित्। गोपनं प्राप्तदोषस्य तद् भवत्युपगूहनम्॥ (भावसं. वाम. ४१४)। १२. उत्तमक्षमादिरात्मनो धर्मवृद्धिकरणं संघदोषाच्छादनं चोपबृंहणमुपगूहनम्। (भा. प्रा. टी. ७७; त. वृत्ति श्रुत. ६-२४)। १३. उत्तमक्षमादिभावनया आत्मनः चतुर्विधसंघस्य दोषझम्पनं सम्यक्त्वस्य उपबृंहणम् उपगूहननामा गुणः। (कार्तिके. टी. ३२६)।

३ बाल (अज्ञानी) एवं अशक्त जनों के द्वारा विशुद्ध मोक्षमार्ग की होनेवाली निन्दा के दूर करने को उपगूहन अंग कहते हैं।

उपग्रह—१. उपग्रहो निमित्तमपेक्षा कारणं हेतुरित्यनर्थान्तरम्। (त. भा. ५-१७)। २. उपग्रहोऽनुग्रहः। द्रव्याणां शक्त्यन्तराविर्भावे कारणभावोऽनुग्रह उपग्रह इत्याख्यायते। (त. वा. ५, १७, ३)।

२. द्रव्यों की अन्य शक्ति के आविर्भाव में निमित्तता रूप अनुग्रह का नाम उपग्रह है।

उपघात—१. प्रशस्तज्ञानदूषणमुपघातः। (स. सि. ६-१०)। २. प्रशस्तज्ञानदूषणमुपघातः। स्वमतेः

कलुषभावात् युक्तस्याप्ययुक्तवत्प्रतीतेः दोषोद्भावनं दूषणमुपघात इति विज्ञायते। (त. वा. ६, १०, ६)। ३. प्रशस्तस्यापि ज्ञानस्य दर्शनस्य वा दूषणमुपघातः। (त. श्लो. ६–१०)। ४. युक्तमपि ज्ञानं वर्तते, तस्य युक्तस्य ज्ञानस्य अयुक्तमिदं ज्ञानमिति दूषणप्रदानम् उपघात उच्यते, सम्यग्ज्ञानविनाशाभिप्राय इत्यर्थः। (त. वृत्ति श्रुत. ६–१०)। ५. मनसा वाचा वा प्रशस्तज्ञानदूषणमध्येतृषु क्षुद्रबाधाकरणं वा उपघातः। (गो. क. जी. प्र. टी. ८००)।

१ किसी व्याख्याता के प्रशस्त ज्ञान में दूषण लगाने को उपघात कहते हैं।

उपघातजनक—उपघातजनकं सत्त्वोपघातजनकम्। यथा वेदविहिता हिंसा धर्माय इत्यादि। (आव. नि. हरि. व मलय. वृ. ८८१)।

प्राणियों का घात करने वाले वचनों को उपघातजनक वचन कहते हैं। जैसे—वेदविहित हिंसा धर्म का कारण होती है।

उपघातनाम—१. यस्योदयात्स्वयंकृतोद्वन्धन-मरुप्रपतनादिनिमित्त उपघातो भवति तदुपघातनाम। (स. सि. ८–११)। २. शरीराङ्गोपाङ्गोपघातकमुपघातनाम, स्वपराक्रमविजयाद्युपघातजनकं वा। (त. भा. ८–१२, पृ. १५७)। ३. **यदुदयात् स्वयंकृतोद्वन्धनाद्युपघातस्तदुपघातनाम।** यस्योदयात् स्वयंकृतोद्वन्धन-मरुत्प्रपतनादिनिमित्त उपघातो भवति तदुपघातनाम। (त. वा. ८, ११, १३)। ४. उपघातनाम यदुदयात् उपहन्यते। (श्रा. प्र. टी. २१)। ५. उपेत्य घातः उपघात आत्मघात इत्यर्थः। जं कम्मं जीवपीडाहेदुअवयवे कुणदि जीवपीडाहेदुदव्वाणि वा विसासि-पासादीणि जीवस्स ढोएदि तं उवघादणाम। (धव. पु. ६, पृ. ५९); जस्स कम्मस्स उदएण सरीरमप्पणो चेव पीडं करेदि तं कम्ममुवघादं णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३६४)। ६. यदुदयात् स्वयंकृतो बन्धनाद्युपघातस्तदुपघात नाम। (त. श्लो. ८–११)। ७. स्वशरीरोपहननमित्युपघातः। (पंचसं. स्वो. वृ. ३–६)। ८. अंगावयवो पडिजिब्भियाइ अप्पणो उवग्घायं। कुणइ हु देहम्मि ठिओ सो उवघायस्स उ विवागो। (कर्मवि. ग. ११६)। ९. स्वशरीरावयवैरेव नखादिभिः शरीरान्तःवर्द्धमानैर्यदुदयादुपहन्यते पीड्यते तदुपघातनाम। (कर्मस्त. गो. वृ. ९–१०, पृ. ८८)। १०. उपेत्य घात उपघातः यस्योदयात् स्वयंकृतोद्वन्धनमरुत्पतनादिनिमित्त उपघातो भवति तदुपघातनाम। अथवा यत्कर्म जीवस्य स्वपीडाहेतूनवयवान् महाशृंगलाध्वस्तानुदरादीन् करोति तदुपघातनाम। (मूला. वृ. १२–१९४)। ११. यतोऽङ्गावयवः प्रतिजिह्विकादिरात्मोपघातको जायते तदुपघातनाम। (समवा. अभय. वृ. ४२, पृ. ६४)। १२. यस्योदयात् स्वयंकृतोद्वन्धन-प्राणापाननिरोधादिनिमित्त उपघातो भवति तदुपघातनाम। (भ. आ. मूला. टी. २१२४) १३. यदुदयवशात् स्वशरीरावयवैरेव शरीरान्तःपरिवर्द्धमानैः प्रतिजिह्वा-गलवृन्दलंक (प्रज्ञा.—गलवृन्दलम्बक, षष्ठ क.—गलवृन्दलंचक) चोरदन्तादिभिरुपहन्यते, यद्वा स्वयंकृतोद्वन्धन-भैरवप्रपातादिभिस्तदुपघातनाम। (पंचसं. मलय. वृ. ३–७; पृ. ११५; प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३–२९१, पृ. ४७३; षष्ठ कर्म. मलय. वृ. ६, पृ. १२६)। १४. उपघातनाम यदुदयात् स्वशरीरावयवैरेव प्रतिजिह्वालम्बक-गलवृन्द-चोरदन्ताभिः प्रवर्तमानैर्जन्तुरुपहन्यते। (धर्मसं. मलय. वृ. ६१८)। १५. स्वशरीरावयवैरेव प्रतिजिह्वा-वृन्दलम्बक-चौरदन्तादिभिः शरीरान्तर्वर्धमानैः यदुदयादुपहन्यते पीड्यते तदुपघातनाम। (शतक. मल. हेम. वृ. ३७-३८, पृ. ५१; प्रव. सारो. वृ. १२६३)। १६. उपेत्य घात उपघात आत्मघात इत्यर्थः, यस्योदयादात्मघातावयवाः महाशृंगलम्बस्तनतुन्दोदरादयो भवन्ति तदुपघातनाम। (गो. क. जी. प्र. टी. ३२)। १७. उवघाया उवहम्मइ सतणुवयलंबिगाईहिं। (कर्मवि. दे. ४७); यदुदयवशात् स्वशरीरान्तःप्रवर्द्धमानैर्लम्बिकाप्रतिजिह्वाचौरदन्तादिभिर्जन्तुरुपहन्यते तदुपघातनाम। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ७४, पृ. ५५)। १८. यदुदयेन स्वयमेव गले पाशं बद्ध्वा वृक्षादौ अवलम्ब्य उद्वेगान्मरणं करोति तदुपघातनाम्। (त. वृत्ति श्रुत. ८–११)।

१ जिस कर्म के उदय से स्वयंकृत बन्धन और पर्वतपात आदि के द्वारा अपना ही उपघात (मरण) हो उसे उपघात नामकर्म कहते हैं। ९ जिसके उदय से शरीर के भीतर बढ़ने वाले प्रतिजिह्वा आदि अवयवों के द्वारा जीव का अपना ही घात होता है वह उपघात नामकर्म कहलाता है।

उपघातनिःसृता—१. जं उवघायपरिणग्रो भासइ वयणं ग्रलीग्रमिह जीवो। उवघायणिस्सिग्रा सा ××× ॥(भाषार. ५१); उपघातपरिणतः पराशुभचिन्तनपरिणत इह जगति जीवो यदलीकं वचनं भाषते सा उपघातनिःसृता। (भाषार. टी. ५१)।

मनुष्य जो दूसरे के ग्रशुभचिन्तन में रत होकर ग्रसत्य वचन बोलता है उसे उपघातनिःसृता भाषा कहते हैं।

उपचय—१. उपचयनं चितस्याबाधाकालं मुक्त्वा ज्ञानावरणीयादितया निषेकः। स च एवम्—प्रथमस्थितौ बहुतरं कर्मदलिकं निषिञ्चति, ततो द्वितीयायां विशेषहीनम्, एवं यावदुत्कृष्टायां विशेषहीनं निषिञ्चति। (स्थाना. ग्रभय. वृ. ४, १, २५०, पृ. १८३)। २. उपचयो नाम स्वस्याबाधाकालस्योपरि ज्ञानावरणीयादिकर्मपुद्गलानां वेदनार्थं निषेकः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १४–१९०)।

गृहीत कर्मपुद्गलों के ग्रबाधाकाल को छोड़कर ग्रागे ज्ञानावरणादि स्वरूप से निसिञ्चन करना—क्षेपण करना, इसका नाम उपचय है।

उपचयद्रव्यमन्द—उपचयद्रव्यमन्दो नाम यः परिस्थूरतरशरीरतया गमनादिव्यापारं कर्तुं न शक्नोति। (बृहत्क. वृ. ६९७)।

जो शरीर के ग्रधिक स्थूल होने से गमनागमन ग्रादि कार्यों के करने में ग्रसमर्थ हो उसे उपचयद्रव्यमन्द कहते हैं।

उपचयपद—१. तत्रोपचितावयवनिबन्धनानि (ग्रवयवपदानि)। यथा—गलगण्डः, शिलीपदः, लम्बकर्ण इत्यदीनि नामानि। (धव. पु. १, पृ. ७७)। २. सिलीवदी गलगंडो दीहनासो लंबकण्णो इच्चेवमादीणि णामाणि उवचयपदाणि, सरीरे उवचिदमवयवमवेक्खिय एदेसिं णामाणं पउत्तिदंसणादो। (जयध. पु. १, पृ. ३२-३३)।

२ शरीर के ग्रवयवों में वृद्धि होने से जो विशिष्ट ग्रवयव होते हैं उन्हें उपचयपद कहते हैं। जैसे—शिलीपदी, गलगण्ड, दीर्घनास ग्रौर लम्बे कान वाला ग्रादि।

उपचयभावमन्द—उपचयभावमन्दः पुनर्यो बुद्धेरुपचयेन यतस्ततः कार्यं कर्तुं नोत्सहते। ××× ग्रथवा तलिना' सूक्ष्मा कुशाग्रीया बुद्धिः श्रेष्ठा, ततः सा सूक्ष्मतन्तुव्यूतपटीवत् ग्रन्तःसारवत्त्वेन उपचितेति कृत्वा यः कुशाग्रीयमतिः स उपचयभावमन्दः। (बृहत्क. वृ. ६९७)।

जो बुद्धि के उपचय से इधर-उधर के कार्य करने में उत्साहित नहीं होता उसे उपचयभावमन्द कहते हैं। ग्रथवा सारयुक्त होने से सूक्ष्म कुशाग्रबुद्धि उपचित कही जाती है, उस कुशाग्रबुद्धि से जो संयुक्त हो उसे उपचयभावमन्द कहते हैं।

उपचरित भाव—एकत्र निश्चितो भावः परत्र चोपचर्यते। उपचरितभावः सः ××× ॥ (द्रव्यानु. त. १२–१०)।

एकत्र निश्चित भाव का ग्रन्यत्र जो उपचार किया जाता है उसे उपचरितभाव कहते हैं।

उपचरितसद्भूतव्यवहारनय—१. उपचरितः सद्भूतो व्यवहारः स्यान्नयो यथानाम। ग्रविरुद्धं हेतुवशात् परतोऽप्युपचर्यते यथा स्वगुणः॥ ग्रर्थविकल्पो ज्ञानं प्रमाणमिति लक्ष्यतेऽधुनापि यथा। ग्रर्थः स्व-परनिकायो भवति विकल्पस्तु चित्तदाकारम्॥ (पंचाध्यायी १, ५४०-४१)। २. सोपाधिगुण-गुणिनोर्भेदविषय उपचरितसद्भूतव्यवहारः। यथा जीवस्य मतिज्ञानादयो गुणाः। (नयप्र. पृ. १०२)।

२ उपाधिसहित गुण ग्रौर गुणी में भेद को जो विषय करता है उसे उपचरित-सद्भूत-व्यवहारनय कहते हैं। जैसे—जीव के मतिज्ञान ग्रादि गुण।

उपचरितासद्भूतव्यवहारनय—१. उपचरितोऽसद्भूतोव्यवहाराख्यो नयः स भवति यथा। क्रोधाद्या ग्रौदयिकाश्चितश्चेद् बुद्धिजा विवक्ष्याः स्युः॥ (पंचाध्यायी १–५४६)। २. यत्रैकेनोपचारेणोपचारो हि विधीयते। स स्यादुपचरिताद्यसद्भूतव्यवहारकः॥ (द्रव्यानु. त. ७–१३)। ३. ग्रन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः॥१२॥ ग्रसद्भूतव्यवहार एवोपचारः, यः उपचारादप्युपचारं करोति स उपचरितासद्भूतव्यवहारः। यथा देवदत्तस्य धनमिति, ग्रत्र संश्लेपरहितं वस्तु सम्बन्धसहितवस्तुसम्बन्धविषयः॥१३॥ (नयप्र. पृ. १०३)।

१ जीव के क्रोधादि भाव यदि बुद्धिपूर्वक संजात विवक्षित हैं तो उन्हें जीव के ग्रौदयिक भाव मानना यह उपचरित-ग्रसद्भूतव्यवहारनय है। ३ ग्रन्य वस्तु के प्रसिद्ध धर्म का ग्रन्य में ग्रारोप करना,

इसका नाम असद्भूतव्यवहारनय है। जैसे—देवदत्त का धन। सम्बन्ध रहित धनरूप वस्तु यहां सम्बन्ध-सहित देवदत्त के सम्बन्ध का विषय बन गई है।

उपचारछल—१. धर्माध्यारोपनिर्देशे सत्यार्थप्रतिषेधनम्। उपचारछलं मंचाः क्रोशन्तीत्यादिगोचरम्॥ अत्राभिधानस्य धर्मो यथार्थे प्रयोगस्तस्याध्यारोप्यो विकल्पः अन्यत्र दृष्टस्य अन्यत्र प्रयोगः, मंचाः क्रोशन्ति गायन्तीत्यादौ शब्दप्रयोगवत्। स्थानेषु हि मंचेषु स्थानिनां पुरुषाणां धर्ममाक्रोष्टित्वादिकं समारोप्य जनैस्तथा प्रयोगः क्रियते गौणशब्दार्थश्रयणात् सामान्यादिष्वस्तीति शब्दप्रयोगवत्। तस्य धर्माध्यारोपनिर्देशे सत्यर्थस्य प्रतिषेधनम्, न मंचाः क्रोशन्ति, मचस्थाः पुरुषाः क्रोशन्तीति। तदिदमुपचारछलं प्रत्येयम्। (त. श्लो. १–२६६, पृ. २६६; सिद्धिवि. टी. ५–२, पृ. ३१७)। २. धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारछलम्। (प्र. क. मा. ६, ७३, पृ. ६५१)।

१ धर्म के अध्यारोप का (उपचार का) निर्देश करने पर सत्य अर्थ के सद्भाव का निषेध करने को उपचार छल कहते हैं। जैसे—'मंचाः क्रोशन्ति' (मंच चिल्लाते हैं) ऐसा कहने पर उसका निषेध करते हुए कहना कि 'न मंचाः क्रोशन्ति, किन्तु मंचस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति' (मंच नहीं चिल्लाते हैं, किन्तु मंच पर बैठे पुरुष चिल्ला रहे हैं।) यह उपचारछल है।

उपचारविनय—१. प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिषु अभ्युत्थानाभिगमनाञ्जलिकरणादिरुपचारविनयः। (स. सि. ९–२३; त. वा. ९, २३, ५; त. श्लो. ९–२३)। २. उपचारविनयोऽभ्युत्थानासनप्रदानाञ्जलिप्रग्रहादिभेदः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ९–२३)। ३. अभ्युत्थानानुगमनं वन्दनादीनि कुर्वतः। आचार्यादिषु पूज्येषु विनयो ह्यौपचारिकः॥ (त. सा. ७–३४)। ४. प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिष्वभ्युत्थानाभिगमनाञ्जलिकरणादिः उपचारविनयः, परोक्षेष्वपि काय-वाङ्-मनोभिरञ्जलिक्रियागुणसंकीर्तनानुस्मरणादिरुपचारविनयः। (योगशा. स्वो. विव. ४-९०)। ५. उपोण्सृत्यरचारैः [चारः] उपचारो यथोचितः। स प्रत्यक्ष परोक्षात्मा त्रेधाद्यः प्रतिपाद्यते॥ अभ्युत्थानं नतिः सूरावागच्छति सति स्थिते। स्थानं नीचैर्निविष्टेऽपि शयनोच्चासनोज्झनम्॥ गच्छत्यनुगमो वक्तर्यनुकूले वचो मनः। प्रमोदीत्यादिकं चैवं पाठकादिचतुष्टये॥ आचार्यादिष्वसत्स्वेवं स्थविरस्य मुनेर्गणे। प्रतिरूपकालयोग्या क्रिया चान्येषु साधुषु॥ आर्या-देशयमाऽसंयतादिषूचितसत्क्रिया। कर्तव्या चेत्यदः प्रत्यक्षोपचारोपलक्षणम्॥ ज्ञान-विज्ञान-सत्कीर्तिर्नतिराज्ञाऽनुवर्तनम्। परोक्षे गणनायानां परोक्षप्रश्रयः परः॥ (आचा. सा. ६, ७७–८२)। ६. अभ्युत्थानोचितवितरणोच्चासनाद्युज्झनानुव्रज्या-पीठाद्युपनयविधिः कालभावाङ्गयोग्यः। कृत्याचारः प्रणतिरिति चाङ्गेन सप्तप्रकारः कार्यः साक्षाद् गुरुषु विनयः सिद्धिकामैस्तुरीयः॥ हितं मितं परिमितं वचः सूत्रानुवीचि च। ब्रुवन् पूज्यांश्चतुर्भेदं वाचिकं विनयं भजेत्॥ निरुन्धन्नशुभं भावं कुर्वन् प्रियहिते मतिम्। आचार्यादेरवाप्नोति मानसं विनयं द्विधा॥ वाङ्मनस्तनुभिः स्तोत्रस्मृत्यञ्जलिपुटादिकम्। परोक्षेष्वपि पूज्येषु विदध्याद्विनयं त्रिधा॥ (अन. ध. ७, ७१–७४)। ७. प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिष्वभ्युत्थान-वन्दनानुगमनादिरात्मानुरूपः, परोक्षेष्वपि तेष्वञ्जलिक्रिया - गुणकीर्तनं - स्मरणानुज्ञानुष्ठायित्वादिश्च काय-वाङ्-मनोभिरुपचारविनयः। (भा. प्रा. टी. ७८; त. वृत्ति श्रुत. ९–२३)।

१ आचार्य आदि के सम्मुख आने पर उठ कर खड़ा होना, सम्मुख जाना और हाथ जोड़कर प्रणाम करना; इत्यादि सब उपचार विनय कहलाता है।

उपचारोपेतत्व—उपचारोपेतत्वम् अग्राम्यता। (समवा. अभय. वृ. ३५; रायप. टी. पृ. १६)।

वचनप्रयोग में ग्रामीणता का न होना, इसका नाम उपचारोपेतत्व है। यह ३५ सत्यवचनातिशयों में तीसरा है।

उपदेश—उपदेशो मौनीन्द्र प्रवचनप्रतिपादनरूपः। भव-जलधियानपात्रप्रायः खल्वयम्, अस्य श्रवणमात्रादेव समीहितसिद्धेः, सुतरां च तदर्थज्ञानात्। (शास्त्रवा. टी. १–७)।

जिनेन्द्रदेव के वचनों के प्रतिपादन करने को उपदेश कहते हैं।

उपदेशरुचि—१. तीर्थंकर-बलदेवादिशुभचरितोपदेशहेतुकश्रद्धाना उपदेशरुचयः। (त. वा. ३–३६)। २. एए चेव उ भावे उवइट्ठे जो परेण सद्दहइ। छउमत्थेण जिणेण व उवएसरुइ त्ति नायव्वो॥ (उत्तरा. २८–१९; प्रव. सारो. ९५२)। ३. भावान् उपदिष्टान् यः परेण श्रद्दधाति छद्मस्थेन जिनेन वा स

उपधिवाक्—यां वाचं श्रुत्वा परिग्रहार्जन-रक्षणादिष्वासज्यते सोपधिवाक् । (त. वा. १, २०, १२, पृ. ७५; धव. पु. १, पृ. ११७) ।
परिग्रह के अर्जन एवं रक्षण आदि में आसक्ति उत्पन्न करने वाले वचनों को उपधिवाक् कहते हैं।

उपधिविवेक—कायेनोपकरणानामनादानम्, अस्थापनं क्वचिदरक्षा चोपधिविवेकः । परित्यक्तानीमानि ज्ञानोपकरणादीनीति वचनं वाचा उपधिविवेकः । (भ. आ. विजयो. टी. १६८; मूला. वृ. ३-१६८—अत्र 'ज्ञानोपकरणादीनि' पदं नास्ति ।)
ज्ञान-संयमादि के परित्यक्त उपकरणों के काय से नहीं ग्रहण करने को उपधिविवेक कहते हैं। 'इन उपकरणों को मैंने छोड़ दिया है' इस प्रकार का जो वचन है वह वचन से उपधिविवेक है।

उपनय—१. तत्-(नय-) शाखा-प्रशाखात्मोपनयः । (अष्टश. १०७) । २. एतेषां नयानां विषय उपनयः । (धव. पु. ६, पृ. १८२)। ३. हेतोरुपसंहार उपनयः । (परीक्षा. ३-४५) । ४. हेतोः साध्यधर्मिण्युपसंहरणमुपनयः । (प्र. न. त. ३-४६) । ५. हेतोः पक्षधर्मतयोपसहार उपनयः । (प्र. र. मा. ३-४५) । ६. उपनीयते साध्याविनाभावित्वेन विशिष्टो हेतुः साध्यधर्मिण्युपदृश्यते येन स उपनयः । (स्या. र. ३-४७)। ७. धर्मिणि साधनस्योपसंहार उपनयः । (प्रमाणमी. २, १, १४) । ८. दृष्टान्तधर्मिणि विसृतस्य साधनधर्मस्य साध्यधर्मिणि य उपसंहारः स उपनयः, उपसंह्रियतेऽनेनोपनीयतेऽनेनेति वचनरूपः । यथा धूमवांश्चायमिति । (प्रमाणमी. स्वो. वृ. २, १, १४) । ९. कृतोपनयः कृतो यथाविध्युपकल्पित उपनयो मौञ्जीबन्धादिलक्षणोपनीतिक्रिया यस्य स तथोक्तः । (सा. ध. स्वो. टी. २-१९) । १०. हेतोरुपसंहारमुपनयः । (ष. द. स. टी. पृ. २१०) । ११. दृष्टान्तापेक्षया पक्षे हेतोरुपसंहारवचनमुपनयः तथा चायं धूमवानिति । (न्या. दी. पृ. ७८) ।
१ नय की शाखा-प्रशाखाओं—भेद-प्रभेदों को—उपनय कहते हैं। ३ हेतु के उपसंहार को उपनय कहते हैं। ९ मौञ्जीबन्धनादिरूप उपनीति क्रिया को भी उपनय कहा जाता है।

उपनयन—तत्रोपनयनं नाम मनुष्याणां वर्णक्रमप्रवेशाय संस्कारो हि वेषमुद्रोद्वहनेन स्व-स्वगुरुपदिष्टे धर्ममार्गे निवेशयति । (आ. दि. १२, पृ. १८) ।
मनुष्यों को उनके वर्णों के अनुसार गुरूपदिष्ट अपने अपने धर्ममार्ग में एक निश्चित वेष-भूषा के साथ निविष्ट करने को उपनयन संस्कार कहते हैं।

उपनयब्रह्मचारिन्—१. उपनयनब्रह्मचारिणो गणधरसूत्रधारिणः समभ्यस्तागमा गृहिधर्मानुष्ठायिनो भवन्ति । (चा. सा. पृ. २०; सा. ध. स्वो. टी. ७-१९) । २. समभ्यस्तागमा नित्यं गणभृत्सूत्रधारिणः । गृहधर्मरतास्ते चोपनयब्रह्मचारिणः । (धर्मसं. श्रा. ६-१८) ।
१ जो गणधरसूत्र—यज्ञोपवीत—के धारक होकर आगमों का अभ्यास करते हैं और तत्पश्चात् गृहिधर्म का अनुष्ठान करने वाले होते हैं उन्हें उपनयब्रह्मचारी कहते हैं।

उपनयाभास—इह साध्यधर्मं साध्यधर्मिणि साधनधर्मं वा दृष्टान्तधर्मिणि उपसंहरत उपनयाभासः । (रत्नाकराव. ६-८१) ।
साध्यधर्म का साध्यधर्मी में अथवा साधनधर्म का दृष्टान्तधर्मी में उपसंहार करने को उपनयाभास कहते हैं।

उपनीत—उपनीतमुपनयोपसंहृतम् । (व्यव. भा. मलय. वृ. ७-१९०) ।
उपनय (अनुमानावयव) के उपसंहार से युक्त वाक्य को उपनीत वचन कहा जाता है।

उपनीतरागत्व—१. उपनीतरागत्वं मालकोशादिग्रामरागयुक्तता । (समवा. अभय. वृ. ३५, पृ. ६०)। २. उपनीतरागत्वं उत्पादितश्रोतृजनस्वविषयबहुमानता । (रायप. वृ. पृ. १६) ।
जिस सम्भाषण को सुनकर श्रोता जनों में अपने प्रति बहुत आदरभाव उत्पन्न हो उसका नाम उपनीतरागत्व है। यह ३५ सत्यवचनातिशयों में सातवां है।

उपपात — १. उपपातस्तूपपातक्षेत्रमात्रनिमित्तः प्रच्छदपटादेरुपरि देवदूष्याद्यधो वैक्रियिकशरीरप्रायोग्यद्रव्यादानादिति । (त. भा. हरि. वृ. २-३२)। २. उपपातक्षेत्रप्राप्तिमात्रनिमित्तं यज्जन्म तदुपपातजन्म । (त. भा. सिद्ध. वृ. २-३२) । ३. उपपातः प्रादुर्भावो जन्मान्तरसंक्रान्तिः । (आचारा. शी. वृ. १, १, १३) । ४. उपपतनमुपपातो देव-नारकाणां जन्म । (स्थाना. अभय. वृ. १-२८, पृ. १९) । ५. उपपतनमुपपातः, उत्पत्तिर्जन्मेति यावत् । (संग्रहणी दे. वृ. १, पृ. ३) ।

१ जिस जन्म का कारण उपपात क्षेत्र मात्र होता है उसे उपपात जन्म कहते हैं। यह जन्म प्रच्छद पट (वस्त्रविशेष) के ऊपर और देवदूष्य के नीचे वैक्रियिक शरीर के योग्य द्रव्य के ग्रहण से होता है।

उपपाद—१. उपेत्य पद्यतेऽस्मिन्निति उपपादः। (स. सि. २–३१; त. श्लो. २–३१)। २. उपेत्य पद्यतेऽस्मिन्नित्युपपादः ॥ देव-नारकोत्पत्तिस्थान-विशेषसंज्ञा। (त. वा. २, ३१, ४)। ३. अप्पिद-गदीदो अण्णगदीए समुप्पत्ती उववादो णाम। × × × पोग्गलेपु अण्णपज्जाएण परिणामो उववादो णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३४७)। ४. उपपादः अन्यस्मादागत्योत्पत्तिः। (मूला. वृ. १२–१)। ५. उपेत्य संपुटशय्याम् उष्ट्रादिकं वा आश्रित्य पदनं शरीरपरिणामयोग्यपुद्गलस्कन्धस्य गमनं प्राप्तिः उपपादः। रूढिशब्दोऽयं देव-नारकाणामेव जन्मवाची (गो. जी. मं. प्र. टी. ८३)। ६. उपपदनं संपुट-शय्योष्ट्रमुखाकारादिपु लघुनान्तर्मुहूर्तेनैव जीवस्य जननमुपपादः। (गो. जी. जी. प्र. टी. ८३); परित्यक्तपूर्वभवस्य उत्तरभवप्रथमसमये प्रवर्तनमुपपादः। (गो. जी. जी. प्र. ५४३)। ७. उपेत्य गत्वा पद्यते यस्मिन्निति उपपादः, देव-नारकाणां जन्मस्थानम्। (त. वृत्ति श्रुत. २–१४); उपेत्य पद्यते सम्पूर्णांगः उत्पद्यते यस्मिन् स उपपादः देवनारकोत्पत्तिस्थान-विशेष इत्यर्थः। (त. वृत्ति श्रुत. २–३१)।

३ विवक्षित गति से निकल कर अन्य गति में जन्म लेने को उपपाद कहा जाता है। ६ सम्पुटशय्या व उष्ट्रमुख आदि के आकारवाली नारक जन्मभूमियों में जीव के उत्पन्न होने का नाम उपपाद है।

उपपादयोगस्थान— उववादजोगठाणा भवादि-समयट्ठियस्स अवर-वरा। विग्गह-इजुगइगमणे जीव-समासे मुणेयव्वा ॥ (गो. क. २१६)।

जो योगस्थान जीव के नवीन भव प्राप्त करने के प्रथम समय में होते हैं उन्हें उपपादयोगस्थान कहते हैं।

उपप्रदान—उपप्रदानं अभिमतार्थदानम्। (विपाक. अभय. वृ. ४–४२, पृ. ४२)।

अभीष्ट अर्थ के दान को उपप्रदान कहा जाता है।

उपप्लुत स्थान—उपप्लुतं स्वचक्र-परचक्रविक्षोभात् दुर्भिक्षमारीति-जनविरोधादेरचास्वस्थीभूतं यत्स्थानं निवासभूमिलक्षणं ग्रामनगरादि। (धर्मबि. मु. वृ. १–१६)।

स्वचक्र या परचक्र के आक्रमण से या दुर्भिक्ष, मारी, ईति और जनविरोध आदि से अशान्त स्थान को उपप्लुत स्थान कहते हैं।

उपबृंहण—देखो उपगूहन। १. उत्तमक्षमादिभावनयाऽऽत्मनो धर्मपरिवृद्धिकरणमुपबृंहणम्। (त. वा. ६, २४, १)। २. उपबृंहणं नाम समानधार्मिकाणां सद्गुणप्रशंसनेन तद्वृद्धिकारणम्। (दशवै. हरि. वृ. ३–१८२)। ३. उपबृंहणं नाम वर्धनम्। × × × स्पष्टेनाऽग्राम्येण श्रोत्र-मनःप्रीतिदायिना वस्तुयाथात्म्यप्रकाशनप्रवणेन धर्मोपदेशेन परस्य तत्त्वश्रद्धान-वर्द्धनमुपबृंहणम्। सर्वजनविस्मयकारणीं शतमख-प्रमुखगीर्वाणसमितिविरचितोपचितिसदृशीं पूजां संपाद्य दुर्धरतपोयोगानुष्ठानेन वा आत्मनि श्रद्धा-स्थिरीकरणम्। (भ. आ. विजयो. टी. ४५)। ४. उत्तमक्षमादिभावनयात्मनः आत्मीयस्य च धर्म-परिवृद्धिकरणमुपबृंहणम्। (चा. सा. पृ. ३)। ५. धर्मोऽभिवर्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया। परदोपनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम्। (पु. सि. २७)। ६. टंकोत्कीर्णभावमयत्वेन समस्तात्म-शक्तीनामुपबृंहणादुपबृंहणम्। (समयप्रा. ज. वृ. २५१)। ७. तच्च (उपबृंहणं च) परस्य स्पष्टा-ग्राम्यश्रवण-मनःप्रीतिकरतत्त्वप्रकाशन-परधर्मोपदेशेन तत्त्वश्रद्धानस्फारीकरणम्, स्वस्य च शक्रनिर्मि-तसपर्यासोदर्यपूजाविशेषेण दुर्द्धरतपोयोगानुष्ठानेन जिनेन्द्रोपज्ञश्रुतज्ञानातिशयभावनया वा श्रद्धानवर्द्ध-नम्। (भ. आ. मूला. ४५)। ८. धर्मं स्वबन्धुमभि-भूष्णुकषायरक्षः, क्षेप्तुं क्षमादिपरमास्त्रपरः सदा स्यात्। धर्मोपबृंहणधियाऽबल-बालिशात्म यूथ्यात्ययं स्थगयितुं च जिनेन्द्रभक्तः ॥ (अन. ध. २–१०५)। ९. उपबृंहण नाम समानधार्मिकाणां क्षपण-वैया-वृत्त्यादिसद्गुणप्रशंसनेन तद्वृत्ति। (व्यव. भा. मलय. वृ. १–६४)। १०. उपबृंहा दर्शनगुणवतां प्रशंसया तत्तद्गुणपरिवर्द्धनम्। (उत्तरा. ने. वृ. २८, ३१)। ११. उपबृंहणं नाम समानधार्मिकाणां सद्गुणप्रशंसनेन तद्वृद्धिकरणम्।(ध. बि. मु. वृ. २-११; धर्मसं. मान. स्वो. वृ. १-२०)। १२. उपबृंहणमत्रास्ति गुणः सम्य-ग्दृगात्मनः। लक्षणादात्मशक्तीनामवश्यं बृंहणादिह ॥ आत्मशुद्धेरदौर्बल्यकरणं चोपबृंहणं। अर्थाद्दृग्ज्ञप्ति-

वनितादिकः परिभोग उच्यते । उपभोगश्च परिभोगश्च उपभोग-परिभोगौ, तयोः परिमाणम् उपभोगपरिभोगपरिमाणम् । भोगोपभोग-परिमाणमिति च क्वचित् पाठो वर्तते। तत्र अशनादिकं यत्सकृद् भुज्यते स भोगः, वस्त्र-वनितादिकं यत्पुनः पुनर्भुज्यते स उपभोगः तयोः परिमाणं भोगोपभोगपरिमाणम् । (त. वृत्ति श्रुत. ७–२१) ।

१ अन्न-पानादि उपभोग और वस्त्र-अलंकारादि परिभोग, इन दोनों का परिमाण करने को उपभोग-परिभोगपरिमाण कहते हैं ।

उपभोग-परिभोगव्रत—उपभोग-परिभोगव्रतं नाम अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य-गन्ध-माल्यादीनां प्रावरणालंकार-शयनाशन-गृह-यान-वाहनादीनां बहुसावद्यानां च वर्जनम्, अल्पसावद्यानामपि परिमाणकरणमिति । (त. भा. ७–१६) ।

अन्न, पान, खाद्य, स्वाद्य व गन्ध-माला आदि (उपभोग) तथा वस्त्र, अलङ्कार, शयन, आसन, गृह, यान और वाहन आदि (परिभोग); इनमें बहुत पापजनक वस्तुओं का सर्वथा परित्याग करना तथा अल्प सावद्य वाली वस्तुओं का प्रमाण करना, इसका नाम उपभोग-परिभोगव्रत है ।

उपभोग-परिभोगानर्थक्य—१. यावताऽर्थेनोपभोग-परिभोगौ सोऽर्थस्ततोऽन्यस्याधिक्यमानर्थक्यम् । (स. सि. ७–३२; त. वा. ७, ३२, ६) । २. यावतार्थेनोपभोग - परिभोगस्यार्थस्ततोऽन्यस्याधिक्यमानर्थक्यम् । (त. श्लो. ७–३२) । ३. न विद्यतेऽर्थः प्रयोजनं ययोस्तौ अनर्थकौ, अनर्थकयोर्भावः कर्म वा आनर्थक्यम्, उपभोग-परिभोगयोरानर्थक्यम् उपभोग-परिभोगानर्थक्यम्, अधिकमूल्यं दत्त्वा उपभोग-परिभोगग्रहणमित्यर्थः । (त. वृत्ति श्रुत. ७–३२) । ४. आनर्थक्यं तयोरेव (उपभोग-परिभोगयोः) स्यादसंभविनोर्द्वयोः । अनात्मोचितसंख्यायाः करणादपि दूषकम् ॥ (लाटीसं. ६–१४८) ।

१ जितनी उपभोग-परिभोग वस्तुओं से प्रयोजन की सिद्धि होती है उतने का नाम अर्थ है, उससे अधिक उपभोग-परिभोग के संग्रह को उपभोग-परिभोगानर्थक्य कहा जाता है । यह अनर्थदण्डव्रत का एक अतिचार है ।

उपभोगाधिकत्व—देखो उपभोग-परिभोगानर्थक्य । उपभोगस्य, उपलक्षणत्वाद् भोगस्य च उक्तनिर्वचनस्याधिकत्वम् अतिरिक्तता उपभोगाधिकत्वम् । (ध. बि. मु. वृ. ३–३०) ।

भोग और उपभोग सामग्री का आवश्यकता से अधिक रखना, इसका नाम उपभोगाधिक्य है । यहां उपभोग शब्द भोग का उपलक्षण रहा है ।

उपभोगान्तराय—१. स्त्री-वस्त्र-शयनासन-भाजनादिक उपभोगः, पुनः पुनरुपभुज्यते हि सः, पौनःपुन्यं चोपशब्दार्थः । स सम्भवन्नपि यस्य कर्मण उदयान्न परिभुज्यते तत्कर्मोपभोगान्तरायाख्यम् । (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८–१४) । २. उपभोगविग्घयरं उवभोगंतराइयं । (धव. पु. १५, पृ. १४) । ३. मणुयत्ते वि हु पत्ते लद्धे वि हु भोगसाहणे विभवे । भुत्तुं नवरि न सक्कइ विरइविहूणो वि जस्सुदये । (कर्मवि. ग. १६३, पृ. ६६) । ४. पुनः पुनर्भुज्यत इत्युपभोगः, शयन-वसन-वनिता-भूषणादिस्तमुपभोगं विद्यमानमनुपहताङ्गोऽपि यदुदयादुपभोक्तुं न शक्नोति तदुपभोगान्तरायम् । (शतक. मल. हेम. वृ. ३७–३८, पृ. ५१) । ५. यदुदयाद् विद्यमानमपि वस्त्रालङ्कारादि नोपभुंक्ते तत् उपभोगान्तरायम् । (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ५१) ।

१ जिस कर्म के उदय से जीव विद्यमान भी उपभोगसामग्री—स्त्री, वस्त्र व शय्या आदि—का उपभोग न कर सके उसे उपभोगान्तराय कर्म कहते हैं ।

उपमान—१. उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात्साध्यसाधनम् । (लघीय. ३–१९, पृ. ४८८; न्यायवि. ३–८५) । २. यथा गौस्तथा गवयः केवलं सास्नारहितः इत्युपमानम् × × × । (त. वा. १, २०, १५) । ३. उपमीयतेऽनेन दार्ष्टान्तिकोऽर्थ इत्युपमानम् । (दशवै. हरि. वृ. १–५२) । ४. प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् । (सिद्धिवि. वृ. ३, ७, पृ. १८४, पं. २०) । ५. प्रसिद्धेन गवादिना, प्रसिद्धं वा यत्साधर्म्यं तस्मात्, साध्यस्य संज्ञा-संज्ञिसम्बन्धज्ञानस्य, साधनं प्रमातृ-प्रमेयाभ्यामन्यः कारणकलापः उपमानं प्रमाणम् । (सिद्धिवि. टी. ३–७ पृ. १८५, पं. २१–२३) ।

१ प्रसिद्ध अर्थ की समानता से साध्य के सिद्ध करने को उपमान कहते हैं । ३ जिसके द्वारा दार्ष्टान्तरूप पदार्थ से समानता जानी जाती है उसे उपमान कहते हैं ।

उपमालोक—तिण्णिसदतेयालघणरज्जुपमाणो उवमालोश्रो णाम। (धव. पु. ४, पृ. १८५)।
तीन सौ तेतालीस (३४३) घनराजु प्रमाण उपमालोक माना जाता है।

उपमासत्य—१. श्रोवम्मेण दु सच्चं जाणसु पलिदोवमादीया॥ (मूला. ५-११६)। २. पल्योपमसागरोपमादिकमुपमासत्यम्। (भ. श्रा. विजयो. टी. ११९३)। ३. प्रसिद्धार्थसादृश्यमुपमा, तदाश्रितं वचः उपमासत्यम्। (गो. जी. जी. प्र. टी. २२४)।
३ प्रसिद्ध अर्थ की समानता के आश्रय से जो वचन कहा जाता है, उसे उपमासत्य कहते हैं। जैसे— पल्योपम-सागरोपम इत्यादि।

उपमासत्या भाषा—उवमासच्चा सा खलु, एएसु सदुवमाणघडिया जा। णासंभविधम्मग्गहदुट्ठा देसाइगहणाश्रो॥ (भाषार. ३५)।
जो भाषा समीचीन उपमा से घटित होकर असम्भव धर्मों के ग्रहण से—जैसे चन्द्रमुखी कहने पर मुख में असम्भव कलंकितत्व आदि— दूषित न हो, वह उपमासत्या भाषा कही जाती है।

उपमित— उवमाणं[विणा]जं कालप्पमाणं ण सक्कइ घेत्तुं तं उवमियं भवति। (अनुयो. चू. पृ. ५७)।
जिस कालप्रमाण को उपमा के विना ग्रहण न कर सकें उसे उपमित कहते हैं।

उपयुक्त नोआगमभावमंगल—आगममन्तरेणार्थोपयुक्त उपयुक्तः। (धव. पु. १, पृ. २९)।
आगम के विना जो मंगलविषयक उपयोग से सहित हो, उसे उपयुक्त नोआगमभावमंगल कहते हैं।

उपयोग — १. ××× उवओगो णाण-दंसणं भणिदो। (प्रव. सा. २-६२)। २. ××× उवओगो णाण-दंसणं होई। (नि. सा. १०)। ३. उभयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः। (स. सि. २-८); यत्सन्निधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्तिं प्रति व्याप्रियते तन्निमित्त आत्मनः परिणामः (प्र. मी.—परिणामविशेषः) उपयोगः। (स. सि. २-१८; प्रमाणमी. १, १, २३)। ४. उपयोगः प्रणिधानमायोगस्तद्भावः परिणाम इत्यर्थः। (त. भा. २-१९)। ५. जो सविसयवावारो सो उवजोगो स चेगकालम्मि। एगेण चेव तम्हा उवओगेगिंदिओ सव्वो। (विशेषा. ३५९५)। ६. बाह्याभ्यन्तरहेतुद्वयसन्निधाने यथासम्भवमुपलब्धुश्चैतन्यानुविधायी परिणाम उपयोगः। (त. वा. २, ८, २१); तन्निमित्तः (लब्धिनिमित्तः) परिणामविशेष उपयोगः। तदुक्तं निमित्तं प्रतीत्य उत्पद्यमानः आत्मनः परिणाम उपयोग इत्युपदिश्यते। (त. वा. २, १८, २)। ७. उपयोगो ज्ञानादिव्यापारः स्पर्शादिविषयः। (त. भा. हरि. वृ. २-१०)। ८. उपयोजनमुपयोगो विवक्षिते कर्मणि मनसोऽभिनिवेशः। (नन्दी. हरि. वृ. ६२)। ९. ज्ञेय-दृश्यस्वभावेषु परिणामः स्वशक्तितः। उपयोगश्च तद्रूपं ×××॥ (पद्मच. १०५-१४६)। १०. तदुक्तनिमित्तं (ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषरूपां लब्धिं) प्रतीत्योत्पद्यमानः आत्मनः परिणाम उपयोगः। (धव. पु. १, पृ. २३६); स्व-परग्रहणपरिणामः उपयोगः। (धव. पु. २, पृ. ४१३)। ११. तत्र क्षयोद्भवो भावः क्षयोपशमजश्च यः। तद्व्यक्तिव्यापिसामान्यमुपयोगस्य लक्षणम्। (त. श्लो. २-८)। १२. अर्थग्रहणव्यापार उपयोगः। (प्रमाणप. पृ. ६१; लघीय. अभय. वृ. १-५, पृ. १५)। १३. युज्यन्त इति योगाः, योजनानि वा जीवव्यापाररूपाणि योगा अभिधीयन्ते। उपयुज्यन्त इति उपयोगाः जीवविज्ञानरूपाः। (पंचसं. स्वो. वृ. १-३)। १४. उपयोगः उपलम्भः ज्ञानदर्शनसमाधिः ज्ञान-दर्शनयोः सम्यक् स्वविषयसीमानुल्लंघनेन धारणं समाधिरुच्यते, अथवा युज्जनं योगः ज्ञान-दर्शनयोः प्रवर्तनं विषयावधानाभिमुखता, सामीप्यवर्ती योगः उपयोगो नित्यसम्बन्ध इत्यर्थः। (त. भा. सिद्ध. वृ. २-८)। १५. उपयोगो हि तावदात्मनः स्वभावश्चैतन्यानुविधायिपरिणामत्वात्। (प्रव. सा. अमृत. वृ. २-६३)। १६. आत्मनः परिणामो यः उपयोगः स कथ्यते। (त. सा. २-४६)। १७. आत्मनश्चैतन्यानुविधायिपरिणाम उपयोगः। (पंचा. का. अमृत. व जय. वृ. ४०)। १८. तन्निमित्तः आत्मनः परिणाम उपयोगः, कारणधर्मस्य कार्ये दर्शनात्। (मूला. वृ. १-१६)। १९. उपयोगस्तु रूपादिविषयग्रहणव्यापारः। (प्र. क. मा. २-५, पृ. २३१)। २०. वत्थुणिमित्तं भावो जादो जीवस्स जो दु उवजोगो। (गो. जी. ६७२)। २१. आत्मनश्चैतन्यानुवर्ती परिणामः स उपयोगः। (नि. सा. वृ. १-१०)। २२. उपयोजनं उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रति व्यापार्यतेऽनेनेति वा उप-

योगो जीवस्वतत्त्वभूतो बोधः। (संग्रहणी दे. वृ. २७३)। २३. जन्तोर्भावो हि वस्त्वर्थ उपयोगः × × ×। (भावसं. वाम. ४०)। २४. उपयोगः विवक्षितकर्मणि मनसोऽभिनिवेशः। (आव. नि. मलय. वृ. ६४६, पृ. ५२६)। २५. उपयोजनमुपयोगः, यद्वा उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रति व्यापार्यते जीवोऽनेनेत्युपयोगः,× × ×बोधरूपो जीवस्य तत्त्वभूतो व्यापारः प्रज्ञप्तः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २९-३१२, पृ. ५२९; पंचसं. मलय. वृ. १-३; शतक. मल. हेम. वृ. २, पृ. ३)। २६. उपयोगः स्व-स्वविषये लब्ध्यनुसारेणात्मनः परिच्छेदव्यापारः। (जीवाजी. मलय. वृ. १-१३, पृ. १६)। २७. उपयोजनमुपयोगः बोधरूपो जीवव्यापारः। × × ×उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रति व्यापर्यते इत्युपयोगः, × × ×उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रति जीवोऽनेनेत्युपयोगः,× × ×सर्वत्र जीवस्वतत्त्वभूतोऽवबोध एवोपयोगो मन्तव्यः। (षडशीति मलय. वृ. १-२, पृ. १२२)। २८. उपयुज्यते वस्तु प्रति प्रेर्यते यः वस्तुस्वरूपपरिज्ञानार्थमित्युपयोगः× × ×, अथवा आत्मनः उप समीपे योजनमुपयोग × × ×कर्मक्षयनिमित्तवशादुत्पद्यमानश्चैतन्यानुविधायी परिणाम इत्यर्थः। (त. वृत्ति श्रुत. २-८)।

३ बाह्य और अभ्यन्तर कारण के वश जो चेतनता का अनुसरण करने वाला परिणाम (ज्ञान-दर्शन) उत्पन्न होता है उसे उपयोग कहा जाता है। × × × जिसकी समीपता में आत्मा द्रव्येन्द्रिय निर्वृत्ति के प्रति व्यापृत होता है उसके निमित्त से होने वाले आत्मा के परिणाम को उपयोग (भावेन्द्रिय) कहते हैं।

उपयोगवर्गणा—उवजोगो णाम कोहादिकसाएहिं सह जीवस्स संपजोगो, तस्स वग्गणाओ वियप्पा भेदा त्ति एयट्ठो। जहण्णोवजोगट्ठाणप्पहुडि जाव उक्कस्सोवजोगट्ठाणे त्ति णिरंतरमवट्ठिदाणं तव्वियप्पाणमुवजोगवग्गणाववएसो त्ति वुत्तं होइ। (जयध. —कसा. पा. पृ. ५७९, टि. १)।

क्रोधादि कषायों के साथ जीव का सम्प्रयोग होने को उपयोग कहते है। इस उपयोग के जघन्य स्थान से लेकर उत्कृष्ट स्थान तक निरन्तर जितने भी विकल्प या भेद हैं उन्हें उपयोगवर्गणा कहते हैं।

उपयोगशुद्धि—१. पादोद्धार-निक्षेपदेशजीवपरिहरणावहितचेतस्ता उपयोगशुद्धिः। (भ. आ. विजयो. टी. ११९१)। २. उपयोगशुद्धिः पादोद्धारनिक्षेपदेशवर्तिप्राणिपरिहरणप्रणिधानपरायणत्वम्। (भ. आ. मूला. टी. ११९१)।

चलते समय पैरों को उठाते और रखते हुए तद्देशवर्ती जीवों की रक्षा में चित्त की सावधानता को उपयोगशुद्धि कहते हैं।

उपयोगेन्द्रिय—देखो उपयोग। उपयोगेन्द्रियं यः स्वविषये ज्ञानव्यापारः। (ललितवि. मु. पं. पृ. ३९)।

अपने विषयभूत पदार्थ को जानने के लिए जो ज्ञान का व्यापार होता है उसे उपयोग-इन्द्रिय कहते हैं।

उपवास—× × ×उपवासः उपवसनम्× × × किं तत्? चतुर्भुक्त्युज्झनं चतसृणां भुक्तीनां भोज्यानामशन-स्वाद्य-खाद्य पेयद्रव्याणां भुक्तिक्रियाणां च त्यागः। (सा. ध. स्वो. टी. ५-३४)।

अशन; स्वाद्य, खाद्य और पेय रूप चार प्रकार के आहार के साथ भोजन क्रिया का भी परित्याग करना, इसका नाम उपवास है।

उपशम—१. आत्मनि कर्मणः स्वशक्तेः कारणवशादनुद्भूतिरुपशमः। (स. सि. २-१; आरा. सा. टी. ४, पृ. १२)। २. कर्मणोऽनुद्भूतस्ववीर्यवृत्तितोपशमोऽधःप्रापितपङ्कवत्। यथा सकलुपस्याम्भसः कतकादिद्रव्यसम्पर्कात् अधःप्रापितमलद्रव्यस्य तत्कृतकालुष्याभावात् प्रसाद उपलभ्यते तथा कर्मणः कारणवशादनुद्भूतस्ववीर्यवृत्तिता आत्मनो विशुद्धिरुपशमः। (त. वा. २, १, १)। ३. उदय अभावो उवसमो। (अनुयो. चू. पृ. ४३)। ४. उपशान्तिरुपशमः। (श्रा. प्र. टी. ५३)। ५. उपशमनमुपशमः। कर्मणोऽनुदयलक्षणावस्था भस्मपटलावच्छन्नाग्निवत्। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. २-१)। ६. अनुद्भूतस्वसामर्थ्यं वृत्तितोपशमो मतः। कर्मणां पुंसि तोयादावधःप्रापितपङ्कवत्॥ (त. श्लो. २, १, २)। ७. (कर्मणां फलदानसमर्थतया) अनुद्भूतिरुपशमः। (पंचा. का. अमृत. वृ. ५६)। ८. उपशमः स्वफलदानसामर्थ्यानुद्भवः। (अन. ध. स्वो. टी. २-४७)। ९. तत्रोपशमो भस्मच्छन्नाग्नेरिवानुद्रेकावस्था, प्रदेशतोऽपि उदयाभाव इति यावत्। स चेत्थंभूत उपशमः सर्वोपशमः उच्यते। स च

मोहनीयस्यैव कर्मणो न शेषस्य, 'सव्वुवसमणा मोहस्सेव उ' इति वचनप्रामाण्यात्। (पंचसं. मलय. वृ. २–३, पृ. ४५)। १०. यश्च गुणवत्पुरुषप्रज्ञापनार्हत्वेन जिज्ञासादिगुणयोगात् मोहापकर्षप्रयुक्तरागद्वेषशक्तिप्रतिघातलक्षण उपशमः। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. १, १८, १५)। ११. उपशमश्च अनुदीर्णस्य विष्कम्भितोदयत्वम्। (षडशी. दे. स्वो. वृ. ६४)। १२. कर्मणोऽनुदयस्वरूपः उपशमः कथ्यते। (त. वृत्ति श्रुत. २–१)।

१ आत्मा में कारणवश कर्म के फल देने की शक्ति के प्रगट न होने को उपशम कहते हैं।

उपशमक— १. अपुव्वकरणपविट्ठसुद्धिसंजदेसु उवसमा खवा॥ अणियट्टिबादरसांपराइयपविट्ठसुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा॥ सुहुमसांपराइयपविट्ठसुद्धिसंजदेसु अत्थि उवसमा खवा। (षट्खं. १, १, १६–१८)। २. अपूर्वकरणपरिणाम उपशमकः क्षपकश्चोपचारात्॥ ××× तत्र कर्मप्रकृतीनां नोपशमो नापि क्षयः, किन्तु पूर्वत्रोत्तरत्र च उपशमं क्षयं वाऽपेक्ष्य उपशमकः क्षपक इति च घृतघटवदुपचर्यते। अनिवृत्तिपरिणामवशात् स्थूलभावेनोपशमकः क्षपकश्चानिवृत्तिबादरसाम्परायौ॥ पूर्वोक्तोऽनिवृत्तिपरिणामः, तद्वशात् कर्मप्रकृतीनां स्थूलभावेनोपशमकः क्षपकश्चानिवृत्तिबादरसाम्परायाविति भाष्येते। सूक्ष्मभावेनोपशमात् क्षपणाच्च सूक्ष्मसाम्परायौ॥ साम्परायः कषायः, स यत्र सूक्ष्मभावेनोपशान्ति क्षयं च आपद्यते तौ सूक्ष्मसाम्परायौ वेदितव्यौ॥ (त. वा. ९, १, १९–२१)। ३. अपूर्वकरणानामन्तःप्रविष्टशुद्धयः क्षपकोपशमसंयताः, सर्वे संभूय एको गुणः। (धव. पु. १, पृ. १८१); साम्परायाः कषायाः बादराः स्थूलाः, बादराश्च ते साम्परायाश्च बादरसाम्परायाः, अनिवृत्तयश्च ते बादरसाम्परायाश्च अनिवृत्तिबादरसाम्पायाः, तेषु प्रविष्टाः शुद्धिर्येषां संयतानां तेऽनिवृत्तिबादरसाम्परायप्रविष्टशुद्धिसंयताः, तेषु सन्ति उपशमकाः क्षपकाश्च। सर्वे ते एको गुणः अनिवृत्तिरिति। (धव. पु. १, पृ. १८४); सूक्ष्मश्चासौ साम्परायश्च सूक्ष्मसाम्परायः। तं प्रविष्टा शुद्धिर्येषां संयतानां ते सूक्ष्मसाम्परायप्रविष्टशुद्धिसंयताः। तेषु सन्ति उपशमकाः क्षपकाश्च। सर्वे त एको गुणः, सूक्ष्मसाम्परायत्वं प्रत्यभेदात्। (धव. पु. १, पृ. १८७)। ४. अनिवृत्तिबादर-सूक्ष्मसाम्परायलक्षणगुणस्थानकद्वयवर्ती जन्तुरुपशमक उच्यते। (षडशीति दे. स्वो. वृ. ७०, पृ. १९६–९७)।

१ अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्मसाम्पराय ये तीन गुणस्थानवर्ती जीव उपशमक कहलाते हैं। २ अनिवृत्तिबादरसम्पराय और सूक्ष्मसाम्पराय—नौवें व दसवें गुणस्थानवर्ती जीव—उपशमक कहे जाते है। अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती उपचार से उपशमक हैं।

उपशमकश्रेणी— यत्र मोहनीयं कर्मोपशमयन्नात्माऽऽरोहति सोपशमकश्रेणी। (त. वा. ९, १, १८)।

जहां (अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय और उपशान्तमोह गुणस्थान) जीव मोहनीय—चारित्रमोहनीय—को उपशान्त करता हुआ आरोहण करता है उसे उपशमकश्रेणी कहते हैं।

उपशमचरण—चारित्तमोहणीए उवसमदो होदि उवसमं चरणं। (भावत्रि. १०)।

चारित्रमोहनीय के उपशम से जो चारित्र उत्पन्न होता है, उसे उपशमचरण कहते हैं।

उपशमनाकरण—१. उदयोदीरण-निधत्ति-निकाचनाकरणानां यदयोग्यत्वे व्यवस्थानं तदुपशमनाकरणम्। (पंचसं. स्वो. वृ. १, पृ. १०९)। २. उपशमना सर्वकरणायोग्यत्वसम्पादनम्। (षडशीति हरि. वृ. ११, पृ. १३१)। ३. कर्मपुद्गलानामुदयोदीरणा- निधत्ति - निकाचनाकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थापनमुपशमना। ××× उपशम्यते उदयोदीरणा-निधत्ति-निकाचनाकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थाप्यते कर्म यया सोपशमना। (कर्मप्र. मलय वृ. २, पृ. १७–१८)।

१ कर्मों के उदय, उदीरणा, निधत्ति और निकाचित करण के अयोग्य करने को उपशमनाकरण कहते हैं।

उपशमनिष्पन्नभाव—उपशमनिष्पन्नस्तु क्रोधाद्युदयाभावफलरूपो जीवस्य परमशान्तावस्थालक्षणः परिणामविशेषः। (पंचसं. मलय. वृ. २–३, पृ. ४५)।

क्रोधादि कषायों के उदय का अभाव होने से जीव के जो परम शान्त अवस्थारूप परिणामविशेष होना है, उसे उपशमनिष्पन्नभाव कहते हैं।

उपशमसम्यक्त्व—१. दंसणमोहणीयस्स उवसमेण उवसमसम्मत्तं होदि। (धव. पु. ७, पृ. १०७)। २. सत्तण्हं पयडीणं उवसमदो होदि उवसमं सम्मं। (कार्तिके. ३०८)। ३. सत्तण्हं उवसमदो उवसमसम्मो × × ×। (गो. जी. २६); दंसणमोहुवसमदो उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं। उवसमसम्मत्तमिणं पसण्णमलपंकतोयसमं। (गो. जी. ६५०; भावत्रि. ६)। ४. कोहचउक्कं पढमं अणंतवंधीणि णामयं भणियं। सम्मत्तं मिच्छत्तं सम्मामिच्छत्तयं तिण्णि॥ एएसिं सत्तण्हं उवसमकरणेण उवसमं भणियं। (भावसं. दे. २६६–६७)। ५. प्रशमय्य ततो भव्यः कर्मप्रकृतिसप्तकम्। आन्तर्मुहूर्तकं पूर्वं सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते॥ (अमित. श्रा. २–५१)। ६. अनन्तानुवन्धिचतुष्कस्य दर्शनमोहत्रयस्य चोदयाभावलक्षणप्रशस्तोपशमेन प्रसन्नमलपंकतोयसमानं यत्पदार्थश्रद्धानमुत्पद्यते तदिदमुपशमसम्यक्त्वम्। (गो. जी. जी. प्र. टी. ६५०)। ७. मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वानन्तानुवन्धिक्रोध-मान-माया-लोभानां सप्तानां प्रकृतीनामुपशमात् कतकफलयोगात् जलकर्दमोपशमवत् उपशमसम्यक्त्वम्। (कार्तिके. टी. ३०८)। ८. अस्त्युपशमसम्यक्त्वं दृङ्मोहोपशमाद्यथा। पुंसोऽवस्थान्तराकारं नाकारं चिद्विकल्पके॥ (पंचाध्यायी २–३८०)।

१ दर्शनमोहनीय के उपशम से उत्पन्न होने वाले सम्यक्त्व को—तत्त्वार्थश्रद्धान को—उपशमसम्यक्त्व कहते हैं।

उपशमसम्यग्दृष्टि—१. उवसमसम्माइट्ठी णाम कधं भवदि॥ उवसमियाए लद्धीए॥ (षट्खं. २, १, ७४-७५)। २. समीची दृष्टिः श्रद्धा यस्यासौ सम्यग्दृष्टिः। × × × एदासिं (अणंताणुवंधिचउक्कस्स दंसणमोहत्तयस्स च) सत्तण्हं पयडीणमुवसमेण उवसमसम्माइट्ठी होइ। (धव. पु. १, पृ. १७१); दंसणमोहणीयस्स उवसमेणेदस्स (उवसमसम्माइट्ठिस्स) उप्पत्तिदंसणादो। (धव. पु. ७, पृ. १०६)।

२ औपशमिक लब्धि से—अनन्तानुबन्धी चार और दर्शनमोहनीय तीन, इन सात प्रकृतियों के उपशम से—जीव उपशमसम्यग्दृष्टी होता है।

उपशान्त—१. द्वाभ्यामाभ्यां (उदीर्ण-वध्यमानाभ्यां) व्यतिरिक्तः कर्मपुद्गलस्कन्धः उपशान्तः। (धव. पु. १२, पृ. ३०३); उदए संकम उदए चदुसु वि दादुं कमेण णो सक्कं। उवसंतं च णिधत्तं णिकाचिदं चावि जं कम्मं॥ (जं कम्मं उदए दादुं णो सक्कं तमुवसंतं।) (धव. पु. १५, पृ. २७६ उ.; गो. क. ४४०)। २. यत्कर्मोदयावल्यां निक्षेप्तुमशक्यं तदुपशान्तम्। (गो. क. जी. प्र. टी. ४४०)।

२ जो कर्म उदयावली में न दिया जा सके उसे उपशान्त कहते हैं।

उपशान्त कषाय—१. सर्वस्य (मोहस्य) उपशमात् क्षपणाच्च उपशान्तकषायः क्षीणकषायश्च। (त. वा. ६, १, २२)। २. उपशान्तः कषायो येषां ते उपशान्तकषायाः। × × × उक्तं च—सकयाहलं जलं वा सरए सरवाणियं व णिम्मलयं। सयलोवसंतमोहो उवसंतकसायओ होदि॥ (प्रा. पंचसं. १–२४; धव. पु. १, पृ. १८६ उद्.; गो. जी. ६१)। ३. अधो मले यथा नीते कतकेनाम्भोऽस्ति निर्मलम्। उपरिष्टात्तथा शान्तमोहो ध्यानेन मोहने॥ (पंचसं. अमित. १–४७)। ४. उपशान्ता उपशमिता विद्यमाना एव सन्तः संक्रमणोद्वर्तनादिकरणविपाकप्रदेशोदयायोग्यत्वेन व्यवस्थापिताः कषायाः प्राग्निरूपितशब्दार्था येन स उपशान्तकषायः। (पंचसं. मलय. वृ. गा. १–१५; कर्मस्त. गो. वृ. २, पृ. ७३)। ५. परमोपशममूर्तिनिजात्मस्वभावसंवित्तिवलेनोपशान्तमोहा एकादशगुणस्थानवर्तिनो भवन्ति। (बृ. द्रव्यसं. टी. १३)। ६. जो उवसमइ कसाए मोहस्संबंधिपयडिवूहं च। उवसामओ त्ति भणिओ खवओ णामं ण सो लहइ॥ (भावसं. दे. ६५५)। ७. × × × सूक्ष्मसाम्परायचरमसमयानन्तरोत्तरसमये वीतरागविशुद्धिपरिणामविजृंभितयथाख्यातचारित्रोपयुक्तो यो जीवः स सकलोपशान्तमोहः सन्नुपशान्तकपायनामा भवति। सकलः—प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशसंक्रमणोदीरणादिसमस्तकरणगोचरः, उपशान्तः—उदयायोग्यो मोहो यस्य स उपशान्तमोहः। (गो. जी. म. प्र. टी. ६१)। ८. साकल्येनोदयायोग्याः कृताः कपाय-नोकपाया येनासावुपशान्तकपायः। (गो. जी. जी. प्र. टी. ६१)।

१ सम्पूर्ण मोह कर्म का उपशम करने वाले ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती जीव को उपशान्तकषाय कहते हैं।

उपशान्तकषायप्रतिपात—सो च उवसंतकसायस्स पडिवादो दुविहो भवक्खयणिवंधणो उवसामणद्धाखयणिवंधणो चेदि। × × × उवसंतद्धाए खएण

मिरे दुरंततीरम्हि हिंडमाणाणं। भवियाणुज्जोयरा उवज्झया वरमदिं देंति। (ति. प. १–४)। ५. मोक्षार्थं शास्त्रमुपेत्य तस्मादधीयत इत्युपाध्यायः। (स. सि. ६–२४)। ६. बारसंगो जिणक्खाओ सज्झाओ कहिओ बुहेहिं। तं उवइसंति जम्हा उवझाया तेण वुच्चंति। (आव. नि. ६६७, पृ. ४४६)। ७. आचारगोचरविनयं स्वाध्यायं वा आचार्यादनु तस्मादुपाधीयत इत्युपाध्यायः संग्रहोपग्रहानुग्रहार्थं चोपाधीयते संग्रहादीन् वास्योपाध्येतीत्युपाध्यायः। (त. भा. ६–२४)। ८. उपेत्याधीयतेऽस्मात् साधवः सूत्रमित्युपाध्यायः। (आव. नि. हरि. वृ. ६६५, पृ. ४४६); तं (अर्हत्प्रणीतं द्वादशागरूपं) स्वाध्यायमुपदिशन्ति वाचनारूपेण यस्मात् कारणादुपाध्यायास्तेनोच्यन्ते, उपेत्याधीयतेऽस्मादित्यन्वर्थोपपत्तेः। (आव. नि. हरि. वृ. ६६७, पृ. ४४६)। ९. **उपेत्य यस्मादधीयते इत्युपाध्यायः।** विनयेनोपेत्य यस्माद् व्रत-शील-भावनाधिष्ठानादागमं श्रुताख्यमधीयते स उपाध्यायः। (त. वा. ६ २४, ४)। १०. ससमय-परसमयविऊ अणेगसत्थत्थधारणसमत्था। ते तुज्झ उवज्झाया पुत्त सया मंगलं देंतु। (पउमच. ८६, २१)। ११. चतुर्दशविद्यास्थानव्याख्यातार उपाध्यायास्तात्कालिकप्रवचनव्याख्यातारो वा आचार्यस्योक्ताशेषलक्षणसमन्विताः संग्रहानुग्रहादिगुणहीनाः। "चोद्दसपुव्वमहोयहिमहिगम्म सिवत्थियो सिवत्थीणं। सीलंधराण वत्ता होइ मुणीसो उवज्झाओ॥" (धव. पु. १, पृ. ५०)। १२. उपेत्य तस्मादधीयते इत्युपाध्यायः। (त. श्लो. ६–२४)। १३. उपाध्यायः अध्यापकः। (आचारा. शी. वृ. सू. २७६, पृ. ३२२)। १४. रत्नत्रयेपूद्यता जिनागमार्थं सम्यगुपदिशन्ति ये ते उपाध्यायाः उपेत्य विनयेन ढोकित्वाऽधीयते श्रुतमस्मादित्युपाध्यायः। (भ. आ. विजयो. टी. ४६)। १५. विनयेनोपेत्य यस्माद् व्रत-शील-भावनाधिष्ठानादागमं श्रुताभिधानमधीयते स उपाध्यायः। (चा. सा. पृ. ६६)। १६. येषां तपःश्रीरनघा शरीरे विवेचका चेतसि तत्त्वबुद्धिः। सरस्वती तिष्ठति वक्त्रपद्मे पुनन्तु तेऽध्यापकपुङ्गवा वः॥ (अमित. श्रा. १–४)। १७. जो रयणत्तयजुत्तो णिच्चं धम्मोवदेसणे णिरदो। सो उवज्झाओ अप्पा जदिवरवसहो णमो तस्स॥ (द्रव्यसं. ५३)। १८. योऽसौ बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयानुष्ठानेन युक्तः षड्द्रव्य-पञ्चास्तिकाय-सप्ततत्त्व-नवपदार्थेषु मध्ये स्वशुद्धात्मद्रव्यं स्वशुद्धजीवास्तिकायं स्वशुद्धात्मतत्त्वं स्वशुद्धात्मपदार्थमेवोपादेयं शेषं हेयम्, तथैवोत्तमक्षमादिधर्मं च नित्यमुपदिशति योऽसौ ××× स चेत्थंभूतो(?) आत्मा उपाध्यायः। (बृ. द्रव्यसं. टी. ५३)। १९. परसमय-तिमिरदलणे परमागमदेसए उवज्झाए। परमगुणरयणणिवहे परमागमभाविदे वीरे॥ (जं. दी. प. १–४)। २०. आचार्यलब्धानुज्ञाः साधवः उप समीपेऽधीयतेऽस्मादित्युपाध्यायः। (योगशा. स्वो. विव. ४–९०)। २१. अनेकनयसंकीर्णशास्त्रार्थव्याकृतिक्षमः। पंचाचाररतो ज्ञेय उपाध्यायः समाहितः॥ (नी. सा. १६)। २२. उपदेष्टार उत्कृष्टा उदात्ता उन्नतिप्रदाः। उपाधिरहिता ध्येया उपाध्याया उकारतः॥ (आत्मप्र. १११)। २३. आचारगोचरविषयं स्वाध्यायमाचार्यलब्धानुज्ञाः साधव उप समीपेऽधीयन्तेऽस्मात्स उपाध्यायः। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३–४६, पृ. १२९)। २४. एकादशाङ्गसत्पूर्वचतुर्दशश्रुतं पठन्। व्याकुर्वन् पाठयन्नन्यानुपाध्यायो गुणाग्रणीः। (धर्मसं. श्रा. १०–११७)। २५. मोक्षार्थम् उपेत्याधीयते शास्त्रं तस्मादित्युपाध्यायः। (त. वृ. श्रुत. ९–२४; कार्तिके. टी. ४५७)। २६. उपाध्यायः समाधीयान् वादी स्याद्वादकोविदः। वाग्मी वाग्ब्रह्मसर्वज्ञः सिद्धान्तागमपारगः॥ कविः प्रत्यग्रसूत्राणां शब्दार्थैः सिद्धसाधनात्। गमकोऽर्थस्य माधुर्ये धुर्यो वक्तृत्ववर्त्मनाम्॥ उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासोऽस्ति कारणम्। यदध्येति स्वयं चापि शिष्यानध्यापयेद् गुरुः॥ (पंचाध्यायी २, ६५९-६१; लाटीसं. ४, १८१८-३)।

१ जो महर्षि रत्नत्रय से सम्पन्न होकर जिनप्ररूपित पदार्थों का निरीहवृत्ति से उपदेश किया करते हैं उन्हें उपाध्याय कहते हैं।

उपायविचय—देखो अपायविचय। १. उपायविचयं तासां पुण्यानामात्मसात्क्रिया। उपायः स कथं मे स्यादिति संकल्पसन्ततिः॥ (ह. पु. ५६, ४१)। २. उपायविचयं प्रशस्तमनोवाक्कायप्रवृत्तिविशेषोऽवश्यः कथं मे स्यादिति संकल्पो द्वितीयं धर्म्यम्। (चा. सा. पृ. ७७)। ३. उपायविचयं प्रशस्तमनोवाक्कायप्रवृत्तिविशेषोऽवश्यः कथं मे स्यादिति संकल्पोऽध्यवसानं वा, दर्शनमोहोदयाच्चिन्तादिकारणवशाज्जीवाः सम्यग्दर्शनादिभ्यः पराङ्मुखा

इति चिन्तनमुपायविचयं द्वितीयं धर्म्यम् । (कार्तिके. टी. ४८२) ।

१ पुण्यक्रियाओं का—मन, वचन व काय की शुभ प्रवृत्तियों का—आत्मसात् करना, इसका नाम उपाय है। वह उपाय मुझे किस प्रकार से प्राप्त हो, इस प्रकार के चिन्तन को उपायविचय (धर्म्यध्यान का एक भेद) कहते हैं। ३ जो लोग दर्शनमोह के उदय से सन्मार्ग से पराङ्मुख हो रहे हैं उन्हें सन्मार्ग की प्राप्ति कैसे हो, इस प्रकार के चिन्तन को उपायविचय कहा जाता है।

उपार्धपुद्गलपरावर्त—१. उपार्धपुद्गलपरावर्तस्तु किंचिन्न्यूनोऽर्धपुद्गलपरावर्त इति। (श्रा. प्र. टी. ७२) । २. ऊणस्स अद्धपोग्गलपरियट्टस्स उवड्ढपोग्गलमिदि सण्णा । उपशब्दस्य हीनार्थवाचिनो ग्रहणात् । (जयध. २, ३६१) ।

१ कुछ कम अर्ध पुद्गलपरिवर्तनकाल को उपार्धपुद्गलपरावर्त कहते हैं।

उपार्धावमौदर्य—उपार्धावमौदर्यं द्वादश कवलाः, अर्धसमीपमुपार्धं, द्वादश कवलाः, यतः कवलचतुष्टयप्रक्षेपात् संपूर्णमर्धं भवति । (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८–१९) ।

बारह ग्रास प्रमाण आहार के लेने को उपार्धावमौदर्य कहते हैं। कारण कि वह आधे के समीप है—($\frac{32}{2}$–४=१२) ।

उपार्धोनोदर्य—देखो उपार्धावमौदर्य । अर्धस्य समीपमुपार्धं द्वादशकवलाः, यतः कवलचतुष्टयप्रक्षेपात् सम्पूर्णमर्धं भवति, ततो द्वादशकवला उपार्धोनोदर्यम् । (योगशा. स्वो. विव. ४–८९) ।

देखो उपार्धावमौदर्य ।

उपालम्भ—१. आमफलाणि न कप्पंति तुम्ह मा सेसए वि दूसेहि । मा य सकज्जे मुज्झसु एमाई होउवालंभो ॥ (बृहत्क. ८९९)। २. आमफलानि युष्माकं गृहीतुं न कल्पन्ते, अतः शेषानपि साधून् मा दूषय—निजदुश्चरितेन मा कलङ्कितान् कुरु, मा च स्वकार्ये निरवद्यप्रवृत्त्यात्मके चारित्रे मुहः, इत्येवमादिकः सपिपासशिक्षारूपः उपालम्भो भवति । (बृहत्क. क्षेम. वृ. ८९९); उपालम्भः सपिपासवचनैः शिक्षा । (बृहत्क. क्षे. वृ. ८९९) ।

कच्चे फलों का लेना तुम्हें योग्य नहीं है, इससे तुम शेष साधुओं को अपने दुश्चरित्र से कलंकित मत करो तथा अपने निर्मल अनुष्ठान में मोह को प्राप्त न होओ, इत्यादि प्रकार से शिक्षा देने का नाम उपालम्भ है।

उपासकदशा—१. से किं तं उवासगदसाओ? उवासगदसासु णं समणोवासयाणं नगराइं उज्जाणाइं चेइयाइं वणसंडाइं समोसरणाइं रायाणो अम्मापियरो धम्मायरिआ धम्मकहाओ इहलोइअ-परलोइआ इड्ढिविसेसा भोगपरिच्चाया पव्वज्जाओ परिआगा सुअपरिग्गहा तवोवहाणाइं सील-व्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासपडिवज्जणया पडिमाओ उवसग्गा संलेहणाओ भत्तपच्चक्खाणाइं पाओवगमणाइं देवलोगगमणाइं सुकुलपच्चायाईओ पुणबोहिलाभा अंतकिरिआओ अ आघविज्जंति । उवासगदसासु णं परित्ता वायणा संखेज्जा अणुओगदारा संखेज्जा वेढा संखेज्जा सिलोगा संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ संखेज्जाओ संगहणीओ संखेज्जाओ पडिवत्तीओ । से णं अंगट्ठयाए सत्तमे अंगे एगे सुअक्खंधे दस अज्झयणा दस उद्देसणकाला दस समुद्देसणकाला संखेज्जा पयसहस्सा पयग्गेणं संखेज्जा अक्खरा अणंता गमा अणंता पज्जवा परित्ता तसा अणंता थावरा सासयकडनिबद्धनिकाइआ जिणपन्नत्ता भावा आघविज्जंति पन्नविज्जंति परूविज्जंति दंसिज्जंति निदंसिज्जंति उवदंसिज्जंति । से एवं आया एवं नाया एवं विन्नाया एवं चरण-करणपरूवणा आघविज्जइ । से तं उवासगदसाओ । (नन्दी. सू. ५१, पृ. २३२) । २. उपासकाः श्रावकाः, तद्गतक्रियाकलापनिबद्धा दशाः दशाध्ययनोपलक्षिताः उपासकदशाः । (नन्दी. हरि. वृ. पृ. १०४) । ३. उपासकैः श्रावकैरेवं स्यातव्यमिति येष्वध्ययनेषु दशसु वर्ण्यते ता उपासकदशाः । (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. १–२०) । ४. उपासकाः श्रावकाः, तद्गताणुव्रतादिक्रियाकलापप्रतिबद्धा दशा अध्ययनानि उपासकदशाः । (नन्दी. मलय. वृ. ५१, पृ. २३२) ।

१ जिस अंग में श्रमणों के उपासक श्रावकों के नगर व उद्यान आदि के साथ शीलव्रत, गुणव्रत, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास के ग्रहण की विधि का विवेचन हो तथा प्रतिमा, उपसर्ग, संलेखना, भक्तप्रत्याख्यान, प्रायोपगमन और देवलोकगमन आदि की

भी चर्चा की गई हो, उसे उपासकदशा कहते हैं।

उपासकाध्ययनांग—१. उपासकाध्ययने श्रावक-धर्मलक्षणम्। (त. वा. १, २०, १२)। २. उवासयज्झयणं णाम अंगं एक्कारसलक्खसत्तरिसहस्स-पदेहि ११७०००० दंसण-वद-सामाइय-पोसह-सच्चित्त-राइभत्ते य। बह्मारंभ-परिग्गह-अणुमण-मुद्दिट्ठदेसविरदी य॥ इदि एक्कारसविह-उवासगाणं लक्खणं तेसिं चेव वदारोहणविहाणं तेसिमाचरणं च वण्णेदि। (धव. पु. १, पृ. १०२); उपासकाध्ययने सैकादशलक्ष-सप्ततिपदसहस्रे ११७०००० एकादश विधश्रावकधर्मो निरूप्यते। (धव. पु. ६, पृ. २००)। ३. उवासयज्झयणं णाम अंगं दंसण-वय-सामाइय-पोसहोववास-सचित्त-रायिभत्त-बंभारंभ-परिग्गहाणु-मणुद्दिट्ठणामाणमेकारसण्हमुवासयाणं धम्ममेक्कार-सविहं वण्णेदि। (जयध. १, पृ. १२६-३०)। ४. सप्त-तिसहस्रैकादशलक्षपदसंख्यं श्रावकानुष्ठानप्ररूपक-मुपासकाध्ययनम् ११७००००। (श्रुतभ. टी. ७)। ५ श्रावकाचारप्रकाशकं सप्ततिसहस्राधिकैकादशल-क्षपदप्रमाणमुपापकाध्ययनम्। (त. वृत्ति श्रु. १-२०)। ६. उपासत आहारादिदानैर्नित्यमहादिपूजाविधानैश्च संघमाराधयन्तीत्युपासकास्तेऽधीयन्ते पठ्यन्ते दर्श-निक-व्रतिक-सामायिक-प्रोषधोपवास-सचित्तविरत-रा-त्रिभक्तव्रत-ब्रह्मचर्यारम्भ-परिग्रहनिवृत्तानुमतोद्दिष्ट-विरतभेदैकादशनिलयसम्बन्धिव्रत-गुण-शीलाचारक्रिया-मंत्रादिविस्तरैर्वर्ण्यन्तेऽस्मिन्नित्युपासकाध्ययनं नाम सप्तममंगम्। (गो. जी. जी. प्र. टी. ३५७)।

२ जिस अंगश्रुत में दर्शनिक आदि ग्यारह प्रकार के श्रावकों के लक्षण, उनके व्रत-ग्रहण की विधि एवं आचरण का विधान किया गया हो उसे उपासकाध्ययन कहते हैं।

उपांशुजप—उपांशुस्तु परैरश्रूयमाणोऽन्तःसंजल्प-रूपः। (निर्वाणक. पृ. ४)।

जिसकी ध्वनि दूसरे को न सुनाई दे, ऐसे अन्तर्जल्प-रूप मंत्रोच्चारण करने को उपांशुजप कहते हैं।

उपेक्षा—१. सुह-दुक्खवियासणमुवेक्खा। (भ. आ. १६९६)। २. राग-द्वेषयोरप्रणिधानमुपेक्षा। (स. सि. १-१०; त. वा. १, १०, ७; त. वृत्ति श्रुत. १-१०)। ३. अरक्त-द्विष्ट उदासीनस्तद्भाव औदासीन्यम्, तत् उपेक्षेति, ईक्षणम् आलो-चनं सामीप्येन अरक्त-द्विष्टतया अरागवृत्तिना अद्वेष्टवृत्तिना। (त. भा. हरि. वृ. ७-६)। ४. पर-दोषोपेक्षणमुपेक्षा। (षोडशक ४-१५)। ५. मोहा-भावाद् राग-द्वेषयोरप्रणिधानादुपेक्षा। (अष्टस. १०२)। ६. द्वेषो हानमुपादानं रागस्तद्द्वयवर्जनम्। ख्यातोपेक्षेति ××× ॥ (त. श्लो. १, २६, १४)। ७. सुखेऽरागा दुःखे वा अद्वेषा उपेक्षेत्युच्यते। (भ. आ. विजयो. टी. १६९६)। ८. उपेक्षा राग-मोहा-भावः। (आ. मी. वृ. १०२)। ९. सुह-दुक्खवि-आसणा—सुख-दुःखयोः साम्येन भावनम्। उक्तं च —××× उपेक्षा समचित्तता। (भ. आ. मूला. १६९६)।

२ इष्ट-अनिष्ट में राग-द्वेष न करने का नाम उपेक्षा है।

उपेक्षा-असंयम—उपेक्षाऽसंयमोऽसंयमयोगेषु व्या-पारणं संयमयोगेष्वव्यापारणं वा। (समवा. अभय. वृ. सू. १७, पृ. ३३)।

असंयमयोग वाले कार्यों में लगने अथवा संयमयोग वाले कार्यों में प्रवृत्त न होना, इसे उपेक्षा-असंयम कहते हैं।

उपेक्षा-संयम—१. देश-कालविधानज्ञस्य परानुपरो-धेन उत्सृष्टकायस्य (त. श्लो.—परानुरोधनोत्सृष्ट-कायस्य) त्रिधा गुप्तस्य राग-द्वेषानभिष्वंगलक्षण उपेक्षासंयमः। (त. वा. ९, ६, १५; त. श्लो. ९, ६)। २. देशकालविधानज्ञस्य परानुपरोधेनोत्सृष्ट-कायस्य काय-वाङ्मनःकर्मयोगानां कृतनिग्रहस्य त्रिगु-प्तिगुप्तस्य राग-द्वेषानभिष्वंगलक्षण उपेक्षासंयमः। चा. सा. पृ. ३०)। ३. उपेक्षा उपेक्षणम्, उपकरणा-दिकं व्यवस्थाप्य पुनः कालान्तरेणाप्यदर्शनं जीव-सम्मूर्छनादिकं दृष्ट्वा उपेक्षणम्, तस्या उपेक्षायाः संयमनं दिनं प्रति निरीक्षणमुपेक्षासंयमः। (मूला. वृ. ५-२२०)। ४. गृहस्थान् सावद्यव्यापारप्रसक्ता-नव्यापारणेनोपेक्ष्यमाणस्योपेक्षासंयमः। (योगशा. स्वो. विव. ४-९३)। ५. अथोपेक्षासंयम उच्यते —देश-कालविधानज्ञस्य परेषामुपरोधेन व्युत्सृष्ट-कायस्य त्रिगुप्तिगुप्तस्य मुनेः राग-द्वेषयोरनभिष्वंगः। (त. वृत्ति श्रुत. ९-६)।

१ देश काल के ज्ञाता एवं मन, वचन, काय का निग्रह करने वाले (त्रिगुप्तिगुप्त) साधु के राग-द्वेष के अभाव को उपेक्षासंयम कहते हैं।

उपेक्ष्यसंयम—उपेक्ष्यसंयमः व्यापर्याऽव्यापार्य चेत्यर्थः।

एवं च संयमो भवति, साधून् व्यापारयतः प्रवचनविहितासु क्रियासु संयम इति व्यापारणमेव, अव्यापारणम् उपेक्षणम् गृहस्थान् स्वक्रियासु अव्यापारयत उपेक्ष्यमाणस्य—औदासीन्यं भजतः—संयमो भवति। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ६–६)।

अपनी व्रत-क्रियाओं के पालन करने वाले साधुजनों को उनकी शास्त्र-विहित क्रियाओं में लगाने, तथा अपनी व्रत क्रियाओं का न पालन करने वाले श्रावकों में उपेक्षाभाव धारण करते हुए संयम के परिपालन को उपेक्ष्यसंयम कहते हैं।

उपोद्घात—उपोद्घातस्तु प्रायेण तदुद्दिष्ट (उपक्रमेणोद्दिष्ट) वस्तुप्रबोधनफलः अर्थानुगमत्वात्। (आव. नि. मलय. वृ. १२८, पृ. १४८)।

जिसका प्रयोजन उपक्रम से उद्दिष्ट वस्तु का प्रबोध कराना होता है उसे उपोद्घात कहा जाता है।

उभयक्षेत्र—उभयमुभय-(सेतु-केतु-) जलनिष्पाद्यसस्यम्। (योगशास्त्र स्वो. विव. ३–९५)।

जिस क्षेत्र—धान्योत्पत्ति की भूमि—का सिंचन उभय से—अरहट आदि के तथा बारिश के दोनों ही प्रकार के जल से—हुआ करता है उसे उभयक्षेत्र कहते हैं।

उभयपदानुसारिबुद्धि—देखो उभयसारी। मध्यमपदस्यार्थं ग्रन्थं च परकीयोपदेशादधिगम्याद्यन्तावधिपरिच्छिन्नपदसमूहप्रतिनियतार्थग्रन्थोदधिसमुत्तरणसमर्थासाधारणातिशयपटुविज्ञाननियता उभयपदानुसारिबुद्धयः। (योगशास्त्र स्वो. विव. १–८)।

मध्यम पद के अर्थ और ग्रन्थ को दूसरे के उपदेश से जानकर आदि और अन्त के सब पद समूह के प्रतिनियत अर्थ एवं ग्रन्थरूप समुद्र के पार पहुँचने वाली अतिशयित बुद्धि के धारक—उक्त ऋद्धि के धारक—उभयपदानुसारिबुद्धि कहे जाते हैं।

उभयप्रायश्चित्त—सगावराहं गुरूणमालोचिय गुरुसक्खिया अवराहादो पडिणियत्ती उभयं णाम पायच्छित्तं। (धव. पु. १३, पृ. ६०)।

अपने अपराध को गुरु के समीप आलोचना करके गुरुसाक्षीपूर्वक अपराध से आत्म-निवृत्ति करने को उभय (आलोचन-प्रतिक्रमण) प्रायश्चित्त कहते हैं।

उभयबन्ध—१. यः पुनः जीव-कर्मपुद्गलयोः परस्परपरिणामनिमित्तमात्रत्वेन विशिष्टतरः परस्परमवगाहः स तदुभय (जीव-पुद्गलोभय) बन्धः। (प्रव. सा. अमृत. वृ. २–८५)। २. इतरेतर-(उभय-) बन्धश्च देशानां तद्द्वयोर्मिथः। बन्ध्य-बन्धकभावः स्याद् भावबन्धनिमित्ततः॥ (पञ्चाध्यायी २–४८)।

१ परस्पर के परिणामरूप निमित्त के वश होने वाले जीव और कर्म के परस्पर एकक्षेत्रावगाहरूप विशिष्टतर बन्ध को उभयबन्ध कहते हैं।

उभयबन्धिनी—उभयस्मिन्नुदयेऽनुदये वा बन्धोऽस्ति यासां ता उभयबन्धिन्यः। (पंचसं. मलय. वृ. ३–५५, पृ. १४७)।

जिन प्रकृतियों का बन्ध उनके उदय में भी हो और अनुदय में भी हो उन्हें उभयबन्धिनी कहते हैं।

उभयमनोयोग—१. × × × जाणुभयं सच्चमोसो त्ति॥ (गो. जी. २१८)। २. उभयः—सत्य-मृषार्थज्ञानजननशक्तिरूपभावमनोजनितप्रयत्नविशेष उभयमनोयोगः। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. २१८)।

सत्य और असत्यरूप पदार्थ-ज्ञान के उत्पन्न करने की शक्तिरूप भावमन से जनित प्रयत्नविशेष को उभय (सत्यासत्य) मनोयोग कहते हैं।

उभयवचनयोग—१. × × × जाणुभयं सच्चमोसो त्ति। (धव. पु. १, पृ. २८६ उद्.; गो. जी. २२०)। २. धर्मैर्विवक्षितैः सत्येऽसत्ये चार्थविवक्षितैः। वाक् प्रवृत्तोभयाख्या सा भाषेतीहेष्यते यथा॥ घटाकृतिव्यपेताया धारणाद् भूरिवारिणः। कुण्डिकाया घटाख्यैवं बहुभेदमिदं वचः॥ (आचा. सा. ५, ८१–८२)। ३. कमण्डलुनि घटोऽयमित्यादिसत्यमृषार्थवाग्व्यापारप्रयत्न उभयवचोयोगः। (गो. जी. जी. प्र. टी. २२०)।

३ कमण्डलु में 'यह घट है' इस प्रकार सत्य और असत्य अर्थ को विषय करने वाले वचनव्यापार का जो प्रयत्न है, उसे उभयवचनयोग कहते हैं।

उभयवध—संकल्पितस्य जीवस्य वध उभयवध इति। (पंचसं. स्वो. वृ. ४–१९, पृ. ६४)।

संकल्पित जीव के घात करनेको उभयवध कहते हैं।

उभयविषय नाममंगल—उभयविषयं यथा वन्दनमालाया मंगलमिति नाम। (आव. मलय. वृ. ६)।

जीव और अजीव इन दोनों के आश्रित वन्दनमाला आदि वस्तुओं का 'मंगल' ऐसा नाम रखने को उभयविषय नाममंगल कहते हैं।

उभयश्रुत—जे सुयवुद्धिद्दिट्ठे सुयमइसहिओ पभासई भावे। तं उभयसुयं भन्नइ दव्वसुयं जे अणुवउत्तो ॥ (विशेषा. गा. १२६)।

श्रुतवृद्धि से दृष्ट—पर्यालोचित—पदार्थों को जो श्रुत-मति सहित कहता है वह उभयश्रुत कहलाता है।

उभयसारी (पदानुसारी)—देखो उभयपदानुसारी। १. णियमेण अणियमेण य जुगवं एगस्स वीजसद्दस्स। उवरिमहेट्ठिमगंथं जा वुज्झइ उभयसारी सा ॥ (ति. प. ४-९८३)। २. दोपासट्ठियपदाइं णियमेण, विणा णियमेण वा जाणंती उभयसारी णाम। (धव. पु. ९, पृ. ६०)।

२ मध्य में स्थित किसी एक पद को सुन कर दोनों पार्श्वों में स्थित पदों के नियम या अनियम से जानने को उभयसारी ऋद्धि कहते हैं।

उभयस्थित—उभयस्थितं कुम्भी-कोष्ठिकादिस्थं पार्ष्ण्युत्पाटनाद् वाहुप्रसारणाच्च। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३-२२, पृ. ४०)।

कुम्भी (घटिका) अथवा कोष्ठिका (मिट्टी से वना वड़ा पात्र—कुठिया) में से भोज्य वस्तु को निकाल कर देना, यह उभयस्थित—ऊर्ध्वाधःस्थित—मालापहृत नामक उद्गमदोष है।

उभयाक्षरलब्धि—एगत्थे उवलद्धे कम्मि वि उभयत्थ पच्चओ होइ। अस्सतरि खरऽस्साणं गुल-दहियाणं सिहरिणीए ॥ (वृहत्क. ५१)।

उभयगत धर्म से संयुक्त अथवा उभय के अवयवयुक्त किसी एक पदार्थ के उपलब्ध (प्रत्यक्ष) होने पर जो परोक्षभूत उभय पदार्थों से सम्वद्ध अक्षरों का वोध होता है, वह उभयाक्षरलब्धिश्रुत कहलाता है। जैसे—खच्चर के देखने पर उभयगत सदृश धर्म के वश परोक्षभूत गधा और घोड़ा से सम्वद्ध अक्षरों का वोध, अथवा शिखरिणी (श्रीखण्ड) के उपलब्ध होने पर उभयगत अवयवों के योग से दही और गुड़ का वोध।

उभयाननुगामी—यत्क्षेत्रान्तरं भवान्तरं च न गच्छति, स्वोत्पन्नक्षेत्र-भवयोरेव विनश्यति तदुभयाननुगामि। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. ३७२)।

जो अवधिज्ञान जिस क्षेत्र और भव में उत्पन्न होता है उस क्षेत्र से क्षेत्रान्तर को, तथा भव से भवान्तर को साथ नहीं जाता है, किन्तु अपने उत्पन्न होने के क्षेत्र और भव में ही नष्ट हो जाता है, उसे उभयाननुगामि अवधिज्ञान कहते हैं।

उभयानन्त—जं तं उभयाणंतं तं तधा चेव उभयदिसाए पेक्खमाणे अंताभावादो उभयदेसा—[उभया-]णंतं। (धव. पु. ३, पृ. १६)।

मध्य से दोनों ओर देखने पर आकाशप्रदेशों की पंक्ति का अन्त चूंकि देखने में नहीं आता है, इसीलिए उसे उभयानन्त कहा जाता है।

उभयानुगामी – यत्स्वोत्पन्नक्षेत्र-भवाभ्यामन्यस्मिन् भरतैरावत-विदेहादिक्षेत्रे देव-मनुष्यादिभवे च वर्तमानं जीवमनुगच्छति तदुभयानुगामि। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. ३७२)।

जो अवधिज्ञान अपने उत्पन्न होने के क्षेत्र से भरतादि क्षेत्रान्तर में, तथा भव से देवादि भवान्तर में साथ जाता है, उसे उभयानुगामी अवधिज्ञान कहते हैं।

उभयासंख्यात—जं तं उभयासंखेज्जयं तं लोयायासस्स उभयदिसाओ, ताओ पेक्खमाणे पदेसगणणं पडुच्च संखाभावादो। (धव. पु. ३, पृ. १२५)।

लोकाकाश की दोनों दिशाओं की ओर देखने पर चूंकि आकाशप्रदेशों की गणना करना सम्भव नहीं है, अतएव इसे संख्या का अभाव होने से उभयासंख्यात कहा जाता है।

उल्का (उक्का)—जलंतग्गिपिंडो व्व अणेगसंठाणेहि आगासादो णिवदंता उक्का णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३५)।

जलते हुए अग्नि-पिण्ड के समान जो आकाश से अनेक आकारों वाला पुद्गलपिण्ड भूमि की ओर गिरता है, उसे उल्का कहते हैं।

उवसन्नासन्न—देखो अवसन्नासन्निका, अवसंज्ञासंज्ञा और उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिका। परमाणूहिं अणंताणंतेहिं वहुविहेहि दव्वेहि। उवसण्णासण्णो त्ति य सो खंधो होदि णामेण ॥ (ति. प. १-१०२)।

अनन्तानन्त वहुत प्रकार के परमाणुओं के पिण्ड का नाम उवसन्नासन्न है।

उष्ण—१. मार्दवपाककृदुष्णः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ६०; त. भा. सिद्ध. वृ. ५-२३)। २. आहारपाकादिकारणं ज्वलनाद्यनुगत उष्णः। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ४०, पृ. ५१)। ३. उषति दहति जन्तुमिति उष्णम्। (उत्तरा. नि. शा. वृ. ४-५७, पृ. १८)।

२ जो अग्नि आदि से अनुगत स्पर्श आहार आदि के

परिपाक का कारण होता है, उसे उष्णस्पर्श कहते हैं।

उष्णनाम (उसुणणाम)—जस्स कम्मस्स उदएण सरीरपोग्गलाणं उसुणभावो होदि तं उसुणणामं। (धव. पु. ६, पृ. ७५)।

जिस कर्म के उदय से शरीरगत पुद्गलस्कन्धों में उष्णता होती है उसे उष्णनामकर्म कहते हैं।

उष्णपरिषहसहन—१. निर्वाते निर्जले ग्रीष्मरविकिरणपतितपर्णव्यपेतच्छायातरुण्यटव्यन्तरे यदृच्छयोपपतितस्यानशनाद्यभ्यन्तर - साधनोत्पादितदाहस्य दवाग्निदाहपरुषवातातपजनितगल-तालुशोषस्य तत्प्रतीकारहेतून् बहूननुभूतान् चिन्तयतः प्राणिपीडापरिहारावहितचेतसश्चारित्ररक्षणमुष्णसहनमित्युपवर्ण्यते। (स. सि. ९–९)। २. उसिणप्परियावेण परिदाहेण तज्जिए। घिसु वा परितावेणं सायं नो परिदेवए॥ उण्हादितत्तो मेहावी सिणाणं नो वि पत्थए। गायं नो परिसिंचिज्जा ण वीएज्जा य अप्पयं॥ (उत्तरा. २, ८–९)। ३. दाहप्रतीकारकाङ्क्षाभावाच्चारित्ररक्षणमुष्णसहनम्। ग्रैष्मेण पटीयसा भास्करकिरणसमूहेन सन्तापितशरीरस्य तृष्णानशनपित्तरोगघर्मश्रमप्रादुर्भूतोष्णस्य स्वेदशोषदाहाभ्यर्दितस्य जलभवन-जलावगाहनानुलेपन-परिषेकार्द्रावनीतल-नीलोत्पल-कदलीपत्रोत्क्षेप-मारुतजलतूलिकाचन्दन-चन्द्रपाद-कमल-कल्हार-मुक्ताहारादिपूर्वानुभूतशीतलद्रव्यप्रार्थनापेतचेतसः उष्णवेदना अतितीव्रा बहुकृत्वाः परवशादाप्ता इदं पुनस्तपो मम कर्मक्षयकारणमिति तद्विरोधिनीं क्रियां प्रत्यनादराच्चारित्ररक्षणमुष्णसहनमिति समाम्नायते। (त. वा. ९, ९, ७)। ४. उष्णपरितप्तोऽपि न जलावगाहन-स्नान-व्यजनवातादि वाञ्छयेत्, नैवातपत्राद्युष्णत्राणायाऽऽददीतेति, उष्णमापतितं सम्यक् सहेत, एवमनुष्ठितोष्णपरीषहजयः कृतो भवति। (आव. हरि. वृ. पृ. ६५७)। ५. दाहप्रतीकारकांक्षाभावाच्चारित्ररक्षणमुष्णसहनम्। (त. श्लो. ९–९)। ६. उष्णं निदाघादितापात्मकम्, तदेव परीषहः उष्णपरीषहः। (उत्तरा. शा. वृ. पृ. ८२)। ७. उष्णं पूर्वोक्तप्रकारेण सन्निधानात् [चारित्रमोहनीय-वीर्यान्तरायापेक्षासातावेदनीयोदयात्] शीताभिलाषकारणादित्यज्वरादिसन्तापः, × × × क्षमणम् (तत्सहनमुष्णपरीषहजयो भवति)। (मूला. वृ. ५–५७)। ८. तरुणतरविकिरणपरितापशुष्कपर्णव्यपेतच्छायतरुण्यटव्यन्तरे अन्यत्र वा क्वापि गच्छतो निवसतो वानशनादितपोविशेषसमुत्पादितान्तःप्रचुरदाहस्य महोष्णखर-परुषवातसम्पर्कजनितगलतालुशोषस्यापि यत्प्राणिपीडापरिहारबुद्धितो जलावगाह-स्नानपानाद्यनासेवनं तदुष्णपरीषहसहनम्। (पंचसं. मलय. वृ. ४, २१, पृ. १८८)। ९. ग्रीष्मे शुष्यदशेषदेहिनिकरे मार्तण्डचण्डांशुभिः, संतप्तात्मतनुस्तृपानशन-रुक्क्लेशादिजातोष्णजम्। शोष-स्वेद-विदाहखेदमवशेनाप्तं पुरापि स्मरन्, तन्मुक्त्यै निजभावभावनरतिः स्यादुष्णजिष्णुर्व्रती॥ (आचा. सा. ७–७)। १०. अनियतविहृतिर्वनं तदात्वज्वलदनलान्तमितः प्रवृद्धशोषः। तपतपनकरालिताध्वखिन्नः स्मृतनरकोष्णमहार्तिरुष्णसाट् स्यात्॥ (अन. ध. ६–९२)। ११. दाहप्रतीकाराकांक्षारहितस्य शीतद्रव्यप्रार्थनानुस्मरणोपेतस्य चारित्ररक्षणमुष्णसहनम्। (आरा. सा. टी. ४०)। १२. यो मुनिर्निर्मरुति निरम्भसि तपतपनरश्मिपरिशुष्कनिपतितच्छदरहितच्छायवृक्षे विपिनान्तरे स्वेच्छया स्थितो भवति, असाध्यपित्तोत्पादितान्तर्दाहश्च भवति, दावानलदाहपरुषमारुतागमनसंजनितकण्ठकाकुदसंशोषश्च भवति, उष्णप्रतीकारहेतुभूतबह्वनुभूतचूतपानकादिकस्य न स्मरति, जन्तुपीडापरिहृतिसावधानमनाश्च यो भवति, तस्योष्णपरीषहजयो भवति पवित्रचारित्ररक्षणं च भवति। (त. वृत्ति श्रुत. ९–९)। १३. उष्णं निदाघादितापात्मकम्। (उत्तरा. ने. वृ. २, पृ. १७)।

१ निर्वात, निर्जल और ग्रीष्मकालीन सूर्य की किरणों से सूख कर पत्तों के गिर जाने से छायाहीन हुए वृक्षों से संयुक्त वन के मध्य में स्वेच्छा से स्थित; अनशन आदि के कारण उत्पन्न दाह से पीड़ित; दावाग्नि और तीक्ष्ण वायु (लू) के द्वारा जिसका गला व तालु सूख गया है, ऐसा साधु पूर्वानुभूत प्रतीकार के कारणों का स्मरण करके भी प्राणीपीड़ा के परिहार में दत्तचित्त होता हुआ उसके प्रतीकार का विचार न करके अपने चारित्र का रक्षण करता है। इस प्रकार के कष्ट के सहन करने को उष्णपरीषहजय कहते हैं।

उष्ण योनि—उष्णः संतापपुद्गलप्रचयप्रदेशो वा। (मूला. वृ. १२–५८)।

जीवों की उत्पत्ति के आधारभूत उष्ण स्पर्श वाले

पुद्गलों के समुदाय को उष्ण योनि कहते हैं ।

उष्णस्पर्शनाम—यदुदयाज्जन्तुशरीरं हुतभुजादिवदुष्णं भवति तदुष्णस्पर्शनाम । (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ४, पृ. ५१) ।

जिसके उदय से प्राणी का शरीर अग्नि के समान उष्ण होता है उसे उष्णस्पर्श नामकर्म कहते हैं ।

ऊर्ध्वकपाट (उड्ढकवाड)—ऊर्ध्वं च तत् कपाटं च ऊर्ध्वकपाटम् । ऊर्ध्वं कपाटमिव लोकः ऊर्ध्वकपाटलोकः । जेण लोगो चोद्दसरज्जुउस्सेहो, सत्तरज्जुरुंदो, मज्झे उवरिमपेरंते च एगरज्जुवाहल्लो, उवरि वम्हलोगुद्देसे पंचरज्जुवाहल्लो, मूले सत्तरज्जुवाहल्लो, अण्णत्थ जहाणुवड्ढिवाहल्लो; तेण उड्ढट्ठियकवाडोवमो । (धव. पु. १३, पृ. ३७६) ।

लोक चूंकि चौदह राजु ऊँचा, सात राजु विस्तारवाला तथा मध्य व उपरिम भाग में एक राजु, ऊपर ब्रह्मलोक के पास पांच राजु और नीचे सात राजु बाहुल्य वाला है, अतएव उसे ऊर्ध्वस्थित कपाट के समान होने से ऊर्ध्वकपाट कहा जाता है ।

ऊर्ध्वतासामान्य—१. परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु । (परीक्षामुख ४–५) । २. ऊर्ध्वतासामान्यं क्रमभाविषु पर्यायेष्वेकत्वान्वयप्रत्ययग्राह्यं द्रव्यम् । (युक्त्यनु. टी. १–३६, पृ. ६०) । ३. पूर्वापरपरिणामसाधारणं द्रव्यमूर्ध्वतासामान्यं कटक-कंकणाद्यनुगामिकांचनवत् । (प्र. न. त. ५–५) । ४. यत्परापरपर्यायव्यापि द्रव्यं तदूर्ध्वता । मृद्यथा स्थास-कोशादिविवर्तपरिवर्तिनी ॥ (आचा. सा. ४–४) । ५. ऊर्ध्वतासामान्यं च परापरविवर्तव्यापि मृत्स्नादिद्रव्यम् । (रत्नाकराव. ३-५; नयप्र. पृ. १००) । ६. ऊर्ध्वमुल्लेखिनाऽनुगताकारप्रत्ययेन परिच्छिद्यमानमूर्ध्वतासामान्यम् । (रत्नाकराव. ५–३) । ७. ऊर्ध्वतादिसामान्यम् पूर्वापरगुणोदयम् । (द्रव्या. त. २–४) । ८. ऊर्ध्वतासामान्यं च पूर्वापरपरिणामे साधारणद्रव्यम् । (स्या. र. वृ. ११) ।

१ पूर्वापरकालभावी पर्यायों में व्याप्त रहने वाले द्रव्य को ऊर्ध्वतासामान्य कहते हैं । जैसे—उत्तरोत्तर होने वाली स्थास, कोश व कुशूल आदि पर्यायों में सामान्यरूप से अवस्थित रहने वाला मृद् (मिट्टी) द्रव्य ।

ऊर्ध्वदिग्व्रत—ऊर्ध्वा दिग् ऊर्ध्वदिग्, तत्सम्बन्धि तस्यां वा व्रतं ऊर्ध्वदिग्व्रतम्, एतावती दिगूर्ध्वं पर्वताद्यारोहणादवगाहनीया, न परतः । (श्राव. वृ. अ. ६, पृ. ८२७; श्रा. प्र. टी. गा. २८०) ।

१ ऊर्ध्व (पर्वत आदि) दिशा सम्बन्धी प्रमाण का जो नियम किया जाता है, उसे ऊर्ध्वदिग्व्रत कहते हैं।

ऊर्ध्वप्रचय—१. समयविशिष्टवृत्तिप्रचयस्तदूर्ध्वप्रचयः । ××× ऊर्ध्वप्रचयस्तु त्रिकोटिस्पर्शित्वेन सांशत्वाद् द्रव्यवृत्तेः सर्वद्रव्याणामनिवारित एव । अयं तु विशेषः—समयविशिष्टवृत्तिप्रचयः शेषद्रव्याणामूर्ध्वप्रचयः समयप्रचय एव कालस्योर्ध्वप्रचयः । (प्रव. सा. अमृत. वृ. २–४६) । २. प्रतिसमयवर्तिनां पूर्वोत्तरपर्यायाणां मुक्ताफलमालावत्सन्तानः ऊर्ध्वप्रचय इत्यूर्ध्वसामान्यमित्यायतसामान्यमिति क्रमानेकान्त इति च भण्यते । (प्रव. सा. ज. वृ. २–४६) ।

१ समयसमूह का नाम ऊर्ध्वप्रचय है । चूंकि प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील होने से प्रत्येक समय में पूर्व पर्याय को छोड़कर नवीन पर्याय से परिणत हुआ करता है, अतएव यह ऊर्ध्वप्रचय छहों द्रव्यों के पाया जाता है । इतना विशेष है, काल को छोड़कर अन्य पांच द्रव्यों का ऊर्ध्वप्रचय जहां समयविशिष्ट है, वहां कालद्रव्य का वह मात्र समयरूप ही है, कारण कि काल के परिणमन में अन्य कोई कारण नहीं है, जबकि अन्य द्रव्यों के परिणमन में काल कारण है ।

ऊर्ध्वरेणु—१. अट्ठसण्हसण्हियाओ सा एगा उड्ढरेणू । (भगवती ६–७, पृ. ८२) । २. ऊद्ध्वमहस्तिर्यक् स्वतः परतो वा प्रवर्तते इति ऊर्ध्वरेणुः । (अनुयो. चू. ६६–१६०, पृ. ५४) । ३. अष्टौ श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका ऊर्ध्वमधस्तिर्यग् वा कथमपि चलन् यो लभ्यते, न शेषकालं स ऊर्ध्वरेणुः । (ज्योतिष्क. मलय. वृ. २–७८) । ४. तत्र जालप्रविष्टसूर्यप्रभाभिव्यङ्ग्यः स्वतः परतो वा ऊर्ध्वाधस्तिर्यक् चलनधर्मा रेणुरूर्ध्वरेणुः । (संग्रहणी दे. वृ. २४६) ।

१ आठ श्लक्ष्णश्लक्ष्णिकाओं के समुदाय को ऊर्ध्वरेणु कहते हैं ।

ऊर्ध्व लोक—१. उवरिमलोयायारो उब्भियमुरवेण होइ सरिसत्तो । (ति. प. १–१३८) । २. उवरिं पुण मुरयसंठाणो । (पउमच. ३–१६, पृ. ६) । ३. ऊर्ध्वलोकस्तु मृदङ्गाकारः । (श्राव. ह. वृ. मल. हेम. टि. ६४) ।

१ मध्य लोक के ऊपर जो खड़े किये हुए मृदंग के समान लोक है उसे ऊर्ध्वलोक कहते हैं ।

ऊर्ध्वव्यतिक्रम—१. तथा ऊर्ध्वं पर्वत-तरु-शिखरादेः × × × योऽसौ भागो नियमितः प्रदेशः, तस्य व्यतिक्रमः । (योगशा. स्वो. विव. ३–९७) । २. ऊर्ध्वं गिरि-तरुशिखरादेर्व्यतिक्रमः । (सा. ध. ५, ५) । ३. शैलाद्यारोहणमूर्ध्वव्यतिक्रमः । (त. वृत्ति श्रुत. ७–३०) । ४. वृक्ष-पर्वताद्यारोहणमूर्ध्वव्यतिक्रमः । (कार्तिके. टी. ३४१–४२) । ५. उच्चैर्धात्रीधरारोहे भवेदूर्ध्वव्यतिक्रमः । (लाटीसं. ६–११८) ।

१ ऊंचे पर्वत और वृक्ष के शिखर आदि क्षेत्र में जो जाने का नियम किया गया है उसके उल्लंघन करने को ऊर्ध्वव्यतिक्रम कहा जाता है । यह एक दिग्व्रत का अतिचार है ।

ऊर्ध्वशायी—१. स्थित्वा शयनं चोर्ध्वशायी । (भ. आ. विजयो. ३–२२५) । २. उद्भीभूय शयनमूर्ध्वशायी । (भ. आ. मूला. टी. ३–२२५) ।

खड़े होकर शयन करने को ऊर्ध्वशायी कहते हैं ।

ऊर्ध्वसूर्यगमन—उड्ढसूरी य ऊर्ध्वं गते सूर्ये गमनम् । (भ. आ. विजयो. व मूला. २२२) ।

सूर्य के ऊपर स्थित होने पर—दो पहर में—गमन करने को ऊर्ध्वसूर्यगमन कहते हैं ।

ऊर्ध्वातिक्रम—१. पर्वताद्यारोहणादूर्ध्वातिक्रमः । (स. सि. ७–३०; श्लो. वा. ७–३०) । २. तत्र पर्वताद्यारोहणादूर्ध्वातिक्रमः । पर्वत-मरुभूम्यादीनामारोहणादूर्ध्वातिक्रमो भवति । (त. वा. ७, ३०, २) । ३. पर्वत-मरुभूम्यादीनामारोहणादूर्ध्वातिक्रमः । (चा. सा. पृ. ८) । ४. पर्वत-तरुभूम्यादीनामारोहणादूर्ध्वातिक्रमो भवति । (त. सुखबो. वृ. ७–३०) ।

१ पर्वत आदि ऊंचे स्थानों पर जाने-आने की ग्रहण की हुई मर्यादा के उल्लंघन करने को ऊर्ध्वातिक्रम कहते हैं ।

ऊषर—ऊषरं नाम यत्र तृणादेरसम्भवः । (श्रा. प्र. टी. ४७) ।

जिस भूमि पर घास आदि कुछ भी उत्पन्न न हो, उसे ऊषर भूमि कहते हैं ।

ऊह, ऊहा—१. अवगृहीतार्थस्यानधिगतविशेषः उह्यते तर्क्यते अनया इति ऊहा । । (धव. पु. १३, पृ. २४२) । २. उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः 'इदमस्मिन् सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति च' । (परीक्षामुख ३–७) । ३. विज्ञातमर्थमवलम्ब्यान्येषु व्याप्त्या तथाविधवितर्कणमूहः । (नीतिवा. ५–५०) । ४. उपलम्भानुपलम्भसम्भवं त्रिकालीकलितसाध्य-साधनसम्बन्धाद्यालम्बनमिदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनमूहाऽपरनामा तर्कः । (प्र. न. त. ३–५) । ५. ऊहो विज्ञातमर्थमवलम्ब्यान्येषु तथाविधेषु व्याप्त्या वितर्कणम् । × × × अथवा ऊहः सामान्यज्ञानम् । (योगशा. स्वो. विव. १–५१, पृ. १५२; ललितवि. पंजि. मु. पृ. ४३; धर्मसं. मान. १–११, पृ. ६) । ६. उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानम् ऊहः । (प्रमाणमी. १, २, ५) ।

१ अवग्रह से गृहीत पदार्थ का जो विशेष अंश नहीं जाना गया है, उसका विचार करने को ऊहा जाता है । यह ईहा मतिज्ञान का नामान्तर है । २ उपलम्भ (अन्वय) और अनुपलम्भ (व्यतिरेक) के निमित्त से होने वाले 'यह (धूम) इसके (अग्नि के) होने पर ही होता है और उसके न होने पर नहीं होता' इस प्रकार के व्याप्तिज्ञान को ऊह या ऊहा कहते हैं ।

ऋजुक मन(उज्जुग-मण)—जो जधा अत्थो ट्ठिदो तं तधा चितयंतो मणो उज्जुगो णाम । (धव. पु. १३, पृ. ३३०) ।

जो पदार्थ जिस रूप से स्थित है उसका उसी रूप से चिन्तन करने वाला मन ऋजुक मन कहलाता है ।

ऋजुता—अथ ऋजुता—ऋजुरवक्रमनोवाक्कायकर्म, तस्य भावः कर्म वा ऋजुता, मनोवाक्कायविक्रियाविरह इत्यर्थः, मायारहितत्वमिति यावत् । (योगशा. स्वो. विव. ४–९३) ।

मायाचार से रहित मन-वचन-काय की सरल प्रवृत्ति को ऋजुता कहते हैं ।

ऋजुमति—१. ऋज्वी निर्वर्तिता प्रगुणा च । कस्मान्निर्वर्तिता ? (त. वा.—कस्मात् ? निर्वर्तित-) वाक्-काय-मनस्कृतार्थस्य परकीयमनोगतस्य विज्ञानात् । ऋज्वी मतिर्यस्य सोऽयं ऋजुमतिः । (स. सि. १–२३; त. वा. १–२३) । २. उज्जु मती—उज्जुमती, सामण्णगाहिणि त्ति भणितं होति । एतु मणोपज्जयविसेसो त्ति घोसण्णं उपलभति, णातीव बहुविसेसविसिट्ठं घडं उवलभइ त्ति भणितं होति । पटोऽणेण चिंतिओ त्ति जाणइ । (नन्दी. चूर्णि पृ.

१५)। ३. रिउ सामण्णं तम्मत्तगाहिणी रिउमई मणो नाणं। पायं विसेसविमुहं घडमेत्तं चिंतियं मुणइ ॥ (विशेषा. ७८४; प्रव. सारो. १४६६)। ४. ऋज्वी मतिः ऋजुमतिः, सामान्यग्राहिका इत्यर्थः, मनःपर्ययज्ञानविशेषः। (आव. नि. हरि. वृ. ६६, पृ. ४७; स्थानांग अभय. वृ. २-१, पृ. ४७)। ५. मननं मतिः, संवेदनम् इत्यर्थः, ऋज्वी सामान्यग्राहिणी मतिः, घटोऽनेन चिन्तितः इत्यध्यवसायनिबन्धनमनोद्रव्यप्रतिपत्तिरित्यर्थः, ××× अथवा ऋज्वी सामान्यग्राहिणी मतिरस्य सोऽयम् ऋजुमतिः, तद्वानेव गृह्यते। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ४५)। ६. ऋजुमतिः घटादिमात्रचिन्तनद्रव्यज्ञानाद् ऋजुमतिः, सैव मनःपर्यायज्ञानम्। (त. भा. हरि. वृ. १-२४)। ७. परकीयमतिगतोऽर्थः उपचारेण मतिः। ऋज्वी अवक्रा, ××× ऋज्वी मतिर्यस्य स ऋजुमतिः। उज्जुवेण मणोगदं उज्जुवेण वचि-कायगदमत्थमुज्जुवं जाणंतो, तव्विवरीदमणुज्जुवं अत्थमजाणंतो मणपज्जवणाणी उज्जुमदि त्ति भण्णदे। (धव. पु. ६, पृ. ६२-६३)। ८. निर्वर्तितशरीरादिकृतस्यार्थस्य वेदनात्। ऋज्वी निर्वर्तिता त्रेधा प्रगुणा च प्रकीर्तिता ॥ (श्लो. वा. १, २३, २)। ९. ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञानं निर्वर्तित-प्रगुणवाक्काय-मनस्कृतार्थस्य परमनोगतस्य परिच्छेदकत्वात् त्रिविधम्। (प्रमाणप. पृ. ६९)। १०. या मतिः सामान्यं गृह्णाति सा ऋज्वीत्युपदिश्यते। ××× येन सामान्यं घटमात्रं चिन्तितमवगच्छति तच्च ऋजुमतिमनःपर्यायज्ञानम्। ××× ऋजुमतिरेव मनःपर्यायज्ञानम्, घटादिमात्रचिन्तितपरिज्ञानमिति। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-२४)। ११. ऋज्वी साक्षात्कृतेष्वनुमितेषु वा ऽर्थेष्वल्पतरविशेषविषयतया मुग्धा मतिविषयपरिच्छित्तिर्यस्य तदृजुमतिः। (कर्मस्तव गो. वृ. ९-१०)। १२. ×××उजुमदी तिविहा। उजुमण-वयणे काये गदत्थविसया त्ति णियमेण ॥ (गो. जी. ४३८)। १३. ऋज्वी सामान्यग्राहिणी मतिः ऋजुमतिः 'घटोऽनेन चिन्तितः' इत्यादि सामान्याकाराध्यवसायनिबन्धनभूता कतिपयपर्यायविशिष्टमनोद्रव्यपरिच्छित्तिरिति। (नन्दी. मलय. वृ. पृ. १०७)। १४. ऋज्वी प्रगुणा निर्वर्तिता वाक्काय-मनस्कृतार्थस्य परमनोगतस्य विज्ञानम्, ××× अथवा ऋज्वी मतिर्यस्य ज्ञानविशेषस्यासौ ऋजुमतिः। (मूला. वृ. १२-१८७)। १५. ऋज्वी सामान्यतो मनोमात्रग्राहिणी मतिः मनःपर्यायज्ञानं येषां ते तथा (ऋजुमतयः)। (औप. सू. अभय. वृ. १५, पृ. २८; प्रश्नव्या. वृ. पृ. ३४३)। १६. प्रगुणनिर्वर्तित-मनोवाक्-कायगतसूक्ष्मद्रव्यालम्बनः ऋजुमतिमनःपर्ययः। (लघीय. अभय. वृ. ६१, पृ. ८२)। १७. मननं मतिर्विषयपरिच्छित्तिरित्यर्थः। ऋज्वी अल्पतरविशेषविषयतया मुग्धा मतिर्यस्य तदृजुमतिः। (शतक मल. हेम. वृ. ३७-३८, पृ. ४४)। १८. ऋज्वी प्रायो घटादिमात्रग्राहिणी मतिः ऋजुमतिः, विपुलमतिमनः-पर्यायज्ञानापेक्षया किञ्चिदशुद्धतरं मनःपर्यायज्ञानमेव। (आव. नि. मलय. वृ. ७०, पृ. ७८)। १९. वाक्काय-मनःकृतार्थस्य परमनोगतस्य विज्ञानात् निर्वर्तिता पश्चाद्वालिता व्याघोटिता ऋज्वी मतिरुच्यते, सरला च मतिः ऋज्वी कथ्यते।××× ऋज्वी मतिर्विज्ञानं यस्य मनःपर्ययस्य स ऋजुमतिः। (त. वृत्ति श्रुत. १-२३)। २०. अनेन चिन्तितः कुम्भ इति सामान्यग्राहिणी। मनोद्रव्यपरिच्छित्तिर्यस्याशावृजुधीः श्रुतः ॥ (लोकप्र. ३-८५२)। २१. ऋजुमतयस्तु सर्वतः सम्पूर्णमनुष्यक्षेत्रस्थितानां संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां मनोगतं सामान्यतो घट-पटादिपदार्थमात्रम् एव जानन्ति। (कल्पसूत्र वृ. ६-१४२)।

१ पर के मन में स्थित व मन, वचन और काय से किये गये अर्थ के ज्ञान से निर्वर्तित सरल बुद्धि को ऋजुमतिमनःपर्यय या मनःपर्यायज्ञान कहते हैं।

ऋजुसूत्र—१. ऋजु प्रगुणं सूत्रयति तन्त्रयतीति ऋजुसूत्रः, पूर्वापरांस्त्रिकालविषयानतिशय्य वर्तमानकालविषयानादत्ते, अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात्। तच्च वर्तमानं समयमात्रम्। तद्विषयपर्यायमात्रग्राह्यमृजुसूत्रः। (स. सि. १-३३)। २. ततो साम्प्रतानामर्थानामभिधानपरिज्ञानमृजुसूत्रः। (त. भा. १-३५)। ३. पच्चुप्पण्णग्गाही उज्जुसुओ नयविही मुणेयव्वो। (आव. नि. ७५७; अनुयो. गा. १३८, पृ. २६४)। ४. सूत्रपातवदृजुत्वात् ऋजुसूत्रः। यथा ऋजुः सूत्रपातस्तथा ऋजु प्रगुणं सूत्रयति ऋजुसूत्रः। पूर्वांस्त्रिकालविषयानतिशय्य वर्तमानकालविषयमादत्ते, अतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात् समयमात्रमस्य निर्दिदिक्षितम्। (त. वा. १, ३३, ७)। ५. ऋजुसूत्रस्य

पर्यायः प्रधानं × × ×। (लघीय. ४३); भेदं प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजुसूत्रनयो मतः । (लघीय. ७१)। ६. अक्रमं स च भेदानां ऋजुसूत्रो विधारयन् ॥ कार्यकारणसन्तानसमुदायविकल्पतः । (प्रमाणसं. ८, ८१–८२) । ७. तत्र ऋजु—वर्तमानमतीतानागत-वक्रपरित्यागात् वस्त्वखिलम् ऋजु, तत्सूत्रयति गमयतीति ऋजुसूत्रः । यद्वा ऋजु वक्रविपर्यादभिमुखम्, श्रुतं तु ज्ञानम्, ततश्चाभिमुखं ज्ञानमस्येति ऋजुश्रुतः, शेषज्ञानानभ्युपगमात् । अयं हि नयः वर्तमानं स्वलिंग-वचन-नामादिभिन्नमप्येकं वस्तु प्रतिपद्यते, शेषमवस्त्विति । (आव. नि. हरि. वृ. ७५७, पृ. २८४; अनुयो. हरि. वृ. पृ. १२४-२५)। ८. ऋजु वर्तमानसमयाभ्युपगमादतीतानागतयोर्विनष्टानुत्पन्नत्वेनाकुटिलं सूत्रयति ऋजुसूत्रः । (अनुयो. हरि. वृ. पृ. १०५) । ९. ऋजु सममकुटिलं सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः । (त. भा. हरि. वृ. १–३४); साम्प्रतविषयग्राहकं वर्तमानज्ञेयपरिच्छेदकम् ऋजुसूत्रनयं प्रक्रान्तमेव समासतः संक्षेपेण जानीयात् । (त. भा. हरि. वृ. १–३५) । १०. अपूर्वास्त्रिकालविषयानतिशय्य वर्तमानकालविषयमादत्ते यः स ऋजुसूत्रः । कोऽत्र वर्तमानकालः ? आरम्भात् प्रभृत्या उपरमादेष वर्तमानकालः । (धव. पु. ९, पृ. १७२); उजुसुदो दुविहो सुद्धो असुद्धो चेति । तत्थ सुद्धो विसईकयअत्थपज्जाओ पडिक्खणं विवट्टमाणासेसत्थो अप्पणो विषयादो ओसारिदसारिच्छ-तब्भावलक्खणसामण्णो । × × ×तत्थ जो सो असुद्धो उजुसुदणओ सो चक्खुपासियवेंजणपज्जयविसओ । (धव. पु. ९, पृ २४४)। ११. ऋजु प्रगुणं सूत्रयति सूचयतीति ऋजुसूत्रः । (जयध. पु. १, पृ. २२३) । १२. वक्रं भूतं भविष्यन्तं त्यक्त्वर्जुसूत्रपातवत् । वर्तमानार्थपर्यायं सूत्रयन्नृजुसूत्रकः ॥ (ह. पु. ५८–४९) । १३. ऋजुसूत्रं क्षणध्वंसि वस्तु तत्सूत्रयेदृजु । प्राधान्येन गुणीभावाद् द्रव्यस्यानर्पणात्सतः । (त. श्लो. १, ३३, ६१) । १४. ऋजु प्रगुणम्, तच्च विनष्टानुत्पन्नतयाऽतीतानागतवक्रपरित्यागेन वर्तमानकालक्षणभावि यद्वस्तु, तत्सूत्रयति प्रतिपादयत्याश्रयतीति ऋजुसूत्रः । (सूत्रकृ. वृ. २, ७, ८१,पृ.१८८)। १५. जो वट्टमाणकाले अत्थपज्जायपरिणदं अत्थं । संतं साहदि सव्वं तं पि णयं रिजुणयं जाण ॥ (कार्तिके. २७४) । १६. ऋजु सममकुटिलं सूत्रयति, ऋजु वा श्रुतम् आगमोऽस्येति सूत्रपातनवद्वा ऋजुसूत्रः, यस्मादतीतानागतवक्रपरित्यागेन वर्तमानपदवीमनुधावति, अतः साम्प्रतकालावरुद्धपदार्थत्वात् ऋजुसूत्रः । (त. भा. सिद्ध. वृ. १-३४; ज्ञानसार दे. वृ. १६ ३); सतां विद्यमानानां न खपुष्पादीनामसताम्, तेषामपि साम्प्रतानाम्, वर्तमानानामिति यावत्, अर्थानां घट-पटादीनाम् अभिधानं शब्दः परिज्ञानं अवबोधो विज्ञानमिति यावत्, अभिधानं च परिज्ञानं चाभिधानपरिज्ञानं यत् स भवति ऋजुसूत्रः । एतदुक्तं भवति—तानेव व्यवहारनयाभिमतान् विशेषानाश्रयन् विद्यमानान् वर्तमानक्षणवर्तिनोऽभ्युपगच्छन्नभिधानमपि वर्तमानमेवाभ्युपैति —नातीतानागते, तेनानभिधीयमानत्वात् कस्यचिदर्थस्य, तथा परिज्ञानमपि वर्तमान (ज्ञा. सा. वृत्ति—परिज्ञानं न्यपवर्तमान-)मेवाश्रयति—नातीतमागामि वा, तत्स्वभावानवधारणात् । अतो वस्त्वभिधानं विज्ञानं चात्मीयं वर्तमानमेवान्विच्छन्नध्यवसायः स ऋजुसूत्र इति । (त. भा. सिद्ध. वृ. १–३५; ज्ञानसार. वृ. १६–३, पृ. ६०) । १७. ऋजुसूत्रः कुटिलातीतानागतपरिहारेण वर्तमानक्षणावच्छिन्नवस्तुसत्तामात्रमृजुं सूत्रयति, अन्यतो व्यवच्छिनत्ति । (त. भा. सिद्ध. वृ. ५-३१,पृ.४०२)। १८. ऋजुसूत्रः स विज्ञेयो येन पर्यायमात्रकम् । वर्तमानैकसमयविषयं परिगृह्यते ॥ (त. सा. १–७) । १९. ऋजु प्राञ्जलं सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः । (आलाप. पृ. १४९) । २०. जो एयसमयवट्टी गेण्हइ दव्वे धुवत्तपज्जाओ । सो रिउसुत्तो सुहुमो सव्वं पि सदं जहा (बृ. न.—सुहुमो सव्वं सद्दं जहा) खणियं ॥ मणुवाइयपज्जाओ मणुसुत्ति सगट्ठिदीसु वट्टंतो । जो भणइ तावकालं सो थूलो होइ रिउसुत्तो ॥ (स. न. च. ३८–३९; बृ. न. च. २११-१२) । २१. सर्वस्य सर्वतो भेदं प्राधान्यतोऽन्विच्छन् ऋजु प्राञ्जलं वर्तमानसमयमात्रं सूत्रयति प्ररूपयतीति ऋजुसूत्रो नयो मतः । (न्यायकु. ६–७१) । २२. देश-कालान्तरसम्बद्धस्वभावरहितं वस्तुतत्त्वं साम्प्रतिकम् एकस्वभावं अकुटिलं ऋजु सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः । (सन्मति. अभय. वृ. ३, पृ. ३११); क्षणिकविज्ञप्तिमात्रप्रदर्शको शुद्धपर्यायास्ति(स्तिक) भेदः ऋजुसूत्रः । (सन्मति. अभय. वृ. ५, पृ. ३९९)

२३. अतीतानागतकोटिविनिर्मुक्तं वस्तु समयमात्रं ऋजु सूत्रयतीति ऋजुसूत्रः। (मूला. वृ. ६–६७)। २४. ऋजु प्राञ्जलं वर्तमानक्षणमात्रं सूत्रयतीत्यृजुसूत्रः, 'सुखक्षणः संप्रत्यस्ति' इत्यादि। द्रव्यस्य सतोऽप्यनर्पणात्, अतीतानागतक्षणयोश्च विनष्टानुत्पन्नत्वेनासम्भवात्। (प्र. क. मा. ६–७४, पृ. ६७८)। २५. शुद्धपर्यायग्राही प्रतिपक्षसापेक्षः ऋजुसूत्रः। (प्र. र. मा. ६–७४)। २६. ऋजु अवक्रमभिमुखं श्रुतं श्रुतज्ञानं यस्येति ऋजुश्रुतः. ऋजु वा अतीतानागतवक्रपरित्यागात् वर्तमानं वस्तु, सूत्रयति गमयतीति ऋजुसूत्रः, स्वकीयं साम्प्रतं च वस्तु, नान्यदित्यभ्युपगमपरः। (स्थानांग अभय. वृ. सू. १८६, पृ. १४२)। २७. ऋजु—अतीतानागतपरकीयपरिहारेण प्राञ्जलं वस्तु—सूत्रयति अभ्युपगच्छतीति ऋजुसूत्रः। अयं हि वर्तमानकालभाव्येव वस्तु अभ्युपगच्छति नातीतम्, विनष्टत्वान्नाप्यनागतमनुत्पन्नत्वात्। वर्तमानकालभाव्यपि स्वकीयमेव मन्यते, स्वकीयसाधकत्वात् स्वधनवत्। परकीयं तु नेच्छति, स्वकार्याप्रसाधकत्वात् परधनवत्। (अनुयोग. मल. हेम. वृ. सू. १४. पृ. १८)। २८. ऋजु प्रगुणम् अकुटिलमतीतानागतपरकीयवक्रपरित्यागात् वर्तमानक्षणविवर्ति स्वकीयं च सूत्रयति निष्टंकितं दर्शयतीति ऋजुसूत्रः। (आव. मलय. वृ. ७५१, पृ. ३७५; प्र. सारो. वृ. ८४७)। २९. पूर्वान् व्यवहारनयगृहीतान् अपरांश्च विषयान् त्रिकालगोचरानतिक्रम्य वर्तमानकालगोचरं गृह्णाति ऋजुसूत्रः। अतीतस्य विनष्टत्वे अनागतस्यासंजातत्वे व्यवहारस्याभावात् वर्तमानसमयमात्रविषयपर्यायमात्रग्राही ऋजुसूत्रः। (त. वृत्ति श्रुत. १–३३)। ३०. वर्तमानसमयमात्रविषयपर्यायमात्रग्राही ऋजुसूत्रनयः। (कार्तिके. टी. २७४)। ३१. ऋजु वर्तमानक्षणस्थायि पर्यायमात्रं प्राधान्यतः सूचयन्नभिप्रायः ऋजुसूत्रः। (जैनतर्कप. पृ. १२७; नयप्र. पृ. १०२; स्या. मं. टी. पृ. २८; प्र. न. त. ७-२८)। ३२. एतस्यार्थः—भूत-भविष्यद्वर्तमानक्षणलवविशिष्टलक्षणकौटिल्यविमुक्तत्वादृजु सरलमेव द्रव्यस्याप्राधान्यतया पर्यायाणां क्षणक्षयिणां प्राधान्यतया दर्शयतीति ऋजुसूत्रः। (नयप्रदीप पृ. १०३)। ३३. भावित्वे वर्तमानत्वव्याप्तिधीरविशेषता। ऋजुसूत्रः श्रुतः सूत्रे शब्दार्थस्तु विशेषतः॥ इष्यतेऽनेन नैकत्रावस्थान्तरसमागमः। क्रिया-निष्ठाभिदाधारद्रव्याभावाद्यथोच्यते॥ (नयोपदेश २६–३०)। ३४. अनेन ऋजुसूत्रनयेन एकत्र धर्मिणि अवस्थान्तरसमागमो भिन्नावस्थावाचकपदार्थान्वियो नेष्यते न स्वीक्रियते। कुतः? क्रिया साध्यावस्था, अन्या च निष्ठा सिद्धावस्था, तयोर्या भिदा भिन्नकालसम्बन्धस्तदाधारस्यैकद्रव्यस्याभावात्। (नयोपदेश यशो. टी. ३०)। ३५. अतीतानागतपरकीयभेदपृथक्त्वपरित्यागादृजुसूत्रेण स्वकार्यसाधकत्वेन स्वकीयवर्तमानवस्तुन एवोपयोगमात्रस्य तुल्यांशध्रुवांशलक्षणद्रव्याभ्युपगमः। (नयरहस्य., पृ. ८१)।

१ तीनों कालों के पूर्वापर विषयों को छोड़ कर जो केवल वर्तमान कालभावी विषय को ग्रहण करता है उसे ऋजुसूत्रनय कहते हैं। अतीत पदार्थों के नष्ट हो जाने से, तथा अनागत पदार्थों के उत्पन्न न होने से ये दोनों ही व्यवहार के योग्य नहीं है। इसीलिए यह नय वर्तमान एक समय मात्र को विषय करता है।

ऋजुसूत्रनयाभास—१. सर्वथैकत्वविक्षेपी तदाभासस्त्वलौकिकः। (लघीय. ६–७१)। २. क्षणिकैकान्तनयस्तदाभासः। (प्र. र. मा. ६–७४)। ३. सर्वथा गुण-प्रधानभावाभावप्रकारेण एकत्वविक्षेपी एकत्वनिराकारकः ऋजुसूत्राभासः। (न्यायकु. ६, ७१)। ४. सर्वथा द्रव्यापलापी तदाभासः। (प्र. न. त. ७-३०)।

३ गौणता और प्रधानता का अपलाप करके—एकान्त रूप से—एकत्व (अभेद) का निराकरण करने वाले नय को ऋजुसूत्रनयाभास कहते हैं।

ऋज्वी (गोचरभूमि)—तत्र तस्यामेकां दिशमभिगृह्योपाश्रयाद् निर्गतः प्राञ्जलेनैव पथा समश्रेणिव्यवस्थितगृहपंक्तौ भिक्षां परिभ्रमन् तावद् याति यावत् पंक्तौ चरमगृहम्। ततो भिक्षामगृह्णन्नेवापर्याप्तेऽपि प्राञ्जलयैव गत्या प्रतिनिवर्तते सा ऋज्वी। (बृहत्क. वृ. १६४६)।

सम श्रेणी में अवस्थित किसी एक दिशा सम्बन्धी गृहपंक्ति में भिक्षा लेने का अभिग्रह करके निकला हुआ साधु उस पंक्ति के अन्तिम गृह तक जावे और भिक्षा के पर्याप्त न मिलने पर भी पुनः उसी मार्ग से सीधे अपने स्थान को लौट आवे। यह क्षेत्र-अभिग्रहमें निर्दिष्ट आठ गोचरभूमियों में प्रथम गोचरभूमि है।

ऋत—× × × ऋतं प्राणिहितं वचः। (ह. पु. ५८–१३०)।

जो वचन प्राणियों के लिये हितकर हो उसे ऋत (सत्य) कहते हैं।

ऋतु (रिउ, उडु)—१. द्वौ मासावृतुः। (त. भा. ४–१५; त. वा. ३–३८; जीवाजी. मलय. वृ. ३, २, १७८)। २. × × × मासदुगेणं उडू × × ×। (ति. प. ४–२८९)। ३. दो मासा उऊ। (भगवती पृ. ८२५; अनुयो. सू. १३७; जम्बूद्वी. १८)। ४. दो मासा उउसन्ना। (जीवस. ११०)। ५. ऋतुस्तु मासद्वय एक उक्तः × × ×। (वरांग. २७–६)। ६. वे मासे उडू। (धव. पु. १३, पृ. ३००)। ७. मासद्वयमृतुः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४–१५)। ८. विहिं मासहिं उडुमाणु णिवद्धउ। (म. पु. पुष्प. २–२३)। ९. मासद्वयमृतुः। (पंचा. का. जय. वृ. २५)। १०. रिउ एक्का वेहिं मासेहिं॥ (भावसं. ३१४)। ११. द्वाभ्यां मासाभ्यामृतुः। (नि. सा. वृ. ३–३१)।

१ दो मासों की एक ऋतु होती है।

ऋतुमास—१. सावनमासस्त्रिंशदहोरात्र एव, एप च कर्ममास ऋतुमासश्चोच्यते। (त. भा. सिद्ध. वृ. ४–१५)। २. स (ऋतुः) च किल लोकरूढ्या षष्ट्यहोरात्रप्रमाणो द्विमासात्मकस्तस्यार्धमपि मासोऽवयवे समुदायोपचारात् ऋतुरेवार्थात् परिपूर्णत्रिंशदहोरात्रप्रमाणः, एष एव ऋतुमासः कर्ममास इति वा सावनमास इति वा व्यवह्रियते। (व्यव. सू. भा. २–१५, पृ. ७)। ३. ऋतुमासः पुनस्त्रिंशदहोरात्रात्मकः स्फुटः। (लोकप्र. २८–३११, व २८, ३३८)।

१ तीस दिन-रात को ऋतुमास कहते हैं। सावनमास तीस दिन-रात का ही होता है, इसे कर्ममास व ऋतुमास भी कहा जाता है।

ऋतुसंवत्सर—यस्मिंश्च संवत्सरे त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि परिपूर्णान्यहोरात्राणां भवति, एष ऋतुसंवत्सरः। ऋतवो लोकप्रसिद्धाः वसन्तादयः, तत्प्रधानः संवत्सरः ऋतुसंवत्सरः। (सूर्यप्र. वृ. १०, २०, ५६)।

पूरे तीन सौ साठ दिन वाले वर्ष को ऋतुसंवत्सर कहते हैं।

ऋद्धि—भोगोवभोग-हय-हत्थि-मणि-रयणसंपया संपयकारणं च इड्ढी णाम। (धव. पु. १३, पृ. ३४८); अणिमा महिमा लहिमा पत्ति पागम्मं ईसित्तं वसित्तं कामरूवित्तमिच्चेवमादियाओ अणेयविहाओ इड्ढीओ णाम। (धव. पु. १४, पृ. ३२५)।

भोग और उपभोग की साधक घोड़ा, हाथी, मणि एवं रत्न आदि सम्पदा को, तथा उक्त सम्पदा के कारणों को ऋद्धि कहते हैं।

ऋद्धिगारव—ऋद्धिगारवं शिष्य-पुस्तक-कमण्डलु-पिच्छ-पट्टादिभिरात्मोद्भावनम्। (भा. प्रा. टी. १५७)।

शिष्य, पुस्तक एवं कमण्डलु आदि के द्वारा अपने बड़प्पन के प्रगट करने को ऋद्धिगारव कहते हैं।

ऋद्धिगौरव—१. तत्र ऋद्ध्या—नरेन्द्रादिपूज्याचार्यादित्वाभिलापलक्षणया—गौरवम् ऋद्धिप्राप्त्यभिमानाप्राप्तिसंप्रार्थनद्वारेणाऽऽत्मनोऽशुभभावगौरवम्। (आव. हरि वृ. पृ. ५७९)। २. ऋद्धिगौरवं परिवारे कृतादरः, परकीयमात्मनीयं करोति प्रियवचनेन उपकरणदानेन। (भ. आ. विजयो. ६१३)। ३. वन्दनामकुर्वतो महापरिकरश्चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघो भवतो भवत्येवमभिप्रायेण यो वन्दनां विदधाति तस्य ऋद्धिगौरवदोषः॥ (मूला. वृ. ७, १०७)। ४. तत्र ऋद्ध्या नरेन्द्रादिपूज्याचार्यत्वादिलक्षणया गौरवम्, ऋद्धिप्राप्त्यभिमान-तदप्राप्तिप्रार्थनद्वारेणात्मनोऽशुभभावगौरवमित्यर्थः। (समवा. अभय. वृ. ३)। ५. भक्तो गणो मे भावीति वन्दारोर्ऋद्धिगौरवम्॥ (अन. ध. ८–१०३)।

१ नरेन्द्र या पूज्य आचार्यादि पदों की प्राप्ति की अभिलापारूप ऋद्धि से जो गौरव—उसकी प्राप्ति से अभिमान तथा अप्राप्ति में उसकी प्रार्थना के निमित्त से अपने अशुभ भावों की गुरुता—होती है उसे ऋद्धिगौरव कहा जाता है। ५ मेरे साधुरूप से वन्दना करने पर साधुसंघ मेरा भक्त हो जायगा, इस प्रकार के विचार से वन्दना करने को ऋद्धिगौरव दोष कहते हैं।

ऋषभनाराच—१. यत्र तु कीलिका नास्ति तदृषभनाराचम्। (कर्मस्तव गो. वृ. ९–१०)। २. ऋषभः परिवेष्टनपट्टः, नाराचमुभयतो मर्कटबन्धः, × × × यत्पुनः कीलिकारहितं संहननं तदृषभनाराचम्, तन्निबन्धनं नाम [illegible]। (षष्ठ क. मलय. वृ. ६, पृ. १२८)। ३. [illegible]

य कीलिआ वज्जं। (संग्रहणी सू वृ. ११७)। ४. यत्पुनः कीलिकारहितं संहननं तत् ऋषभनाराचम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३–२६३; जीवाजी. मलय. वृ. १–१३; सप्तति. मलय. वृ. पृ. १५१; संग्रहणी दे. वृ. ११७)।

१ कीलिका रहित संहनन को ऋषभनाराच-संहनन कहते हैं।

ऋषि—१. ऋषयः ऋद्धिप्राप्ताः, ते चतुर्विधाः—राज-ब्रह्म-देव-परमभेदात्। तत्र राजर्षयो विक्रियाक्षीणर्द्धिप्राप्ता भवन्ति, ब्रह्मर्षयो बुद्ध्यौषधि-ऋद्धियुक्ता कीर्त्यन्ते, देवर्षयो गगनगमनर्द्धिसंयुक्ता कथ्यन्ते, परमर्षयः केवलज्ञानिनो निगद्यन्ते। (चारित्रसार पृ. २२)। २. रेषणात्क्लेशराशीनामृषिमाहुर्मनीषिणः। (उपासका. ८६१)।

१ ऋद्धिप्राप्त साधुओं को ऋषि कहते हैं, जो चार प्रकार के हैं—१ राजर्षि—विक्रिया व अक्षीण-ऋद्धिप्राप्त ऋषि। २ ब्रह्मर्षि—बुद्धि व औषधि-ऋद्धिप्राप्त ऋषि। ३ देवर्षि—आकाशगमन ऋद्धि से युक्त ऋषि। ४ परमर्षि—केवलज्ञानी।

एकक्षेत्रस्पर्श—१. जं दव्वमेयक्खेत्तेण पुसदि सो सव्वो एयक्खेत्तफासो णाम। (ष. खं. ५, ३, १४—पु. १३, पृ. १६)। २. एक्कम्हि आगासपदेसे ट्ठिद-अणंताणंतपोग्गलक्खंधाणं समवाएण संजोएण वा जो फासो सो एयक्खेत्तफासो णाम। बहुआणं दव्वाणं अक्कमेण एयक्खेत्तपुसणदुवारेण वा एयक्खेत्तफासो वत्तव्वो। (धव. पु. १३, पृ. १६)।

२ एक आकाशप्रदेश में स्थित अनन्तानन्त पुद्गल-स्कन्धों के समवाय अथवा संयोग से जो परस्पर स्पर्श होता है, इसे एकक्षेत्रस्पर्श कहते हैं। बहुत द्रव्यों का एक साथ एक-क्षेत्रस्पर्श के द्वारा जो परस्पर स्पर्श होता है उसे भी एक-क्षेत्रस्पर्श कहा जाता है।

एकक्षेत्रावधिज्ञानोपयोग—१. श्रीवृक्ष-स्वस्तिक-नन्द्यावर्ताद्यन्यतमोपयोगोपकरण एकक्षेत्रः। (त. वा. १–२२, पृ. ८३, पं. २५–२६)। २. जस्स ओहिणाणस्स जीवसरीरस्स एगदेसो करणं होदि तमोहिणाणमेगक्खेत्तं णाम। (धव. पु. १३, पृ. २६५)।

१ जिस अवधिज्ञान के उपयोग का श्रीवृक्ष, स्वस्तिक व नन्द्यावर्त आदि चिह्नों में से कोई एक उपकरण होता है उसे एकक्षेत्र-अवधि या एकक्षेत्रावधिज्ञानोपयोग कहते हैं।

एकत्वप्रत्यभिज्ञान—१. दर्शन-स्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानम्॥ तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि॥ यथा स एवायं देवदत्तः॥ गोसदृशो गवयः॥ गोविलक्षणो महिषः॥ इदमस्माद् दूरम्॥ वृक्षोऽयमित्यादि॥ (परीक्षामुख ३, ५ से १०)। २. अनुभव-स्मृतिहेतुकं संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्। ××× यथा स एवायं जिनदत्तः, ××× गोसदृशो गवयः, गोविलक्षणो महिष इत्यादि। अत्र हि पूर्वस्मिन्नुदाहरणे जिनदत्तस्य पूर्वोत्तरदशाद्वयव्यापकमेकत्वं प्रत्यभिज्ञानस्य विषयः। तदिदमेकत्वप्रत्यभिज्ञानम्। (न्यायदी. ३, पृ. ५६)।

१ प्रत्यक्ष और स्मृति के निमित्त से जो संकलनात्मक (जोड़रूप) ज्ञान उत्पन्न होता है उसे प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जो प्रत्यभिज्ञान 'यह वही है' इस प्रकार से पूर्व व उत्तर दशाओं में व्याप्त रहने वाले एकत्व (अभेद) को विषय करता है वह एकत्व-प्रत्यभिज्ञान कहलाता है।

एकत्वभावना—देखो एकत्वानुप्रेक्षा। एकाक्येव जीव उत्पद्यते, कर्माणि उपार्जयति, भुङ्क्ते चेत्यादि चिन्तनमेकत्वभावना। (सम्बोधस. वृ. १६, पृ. १८)। जीव अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही कर्मों का उपार्जन करता है, और अकेला ही उन्हें भोगता है; इत्यादि विचार करने का नाम एकत्वभावना है।

एकत्वविक्रिया—तत्रैकत्वविक्रिया स्वशरीरादपृथग्भावेन सिंह-व्याघ्र-हंस-कुररादिभावेन विक्रिया। (त. वा. २, ४७, ६)।

अपने शरीर से अभिन्न सिंह-व्याघ्रादिरूप विक्रिया के करने को एकत्वविक्रिया कहते हैं।

एकत्ववितर्कावीचार—१. जेणेगमेव दव्वं जोगेणेक्केण अण्णदरएण। खीणकसाओ झायइ तेणेयत्तं तगं भणिदं॥ जम्हा सुदं वितक्कं जम्हा पुव्वगय-अत्थगयकुसलो। झायदि झाणं एदं सविदक्कं तेण तं ज्झाणं॥ अत्थाण वंजणाण य जोयाण य संकमो दु वीचारो। तस्स अभावेण तगं झाणमवीचारमिदि वुत्तं॥ (भ. आ. १८८३–८५; धव. पु. १३, पृ. ७९ उद्.)। २. स एव पुनः समूलतूलं (त. वा.—सतूलमूलं) मोहनीयं निर्दिधक्षन् अनन्तगुणविशुद्धि-योगविशेषमाश्रित्य बहुतराणां ज्ञानावरणसहायी-

भूतानां प्रकृतीनां बन्धं निरुन्धन् स्थितेर्ह्रास-क्षयौ च कुर्वन् श्रुतज्ञानोपयोगो (त. वा.—गवान्) निवृत्तार्थ-व्यञ्जन-योगसंक्रान्तिरविचलितमना क्षीणकषायो वैडूर्यमणिरिव निरुपलेपो ध्यात्वा पुनर्न निवर्तते इत्युक्तं एकत्ववितर्कम् । (स. सि. ९–४४; त. वा. ९–४४) । ३. एगभावो एगत्तं, एगम्मि चेवं सुयणाणपयत्थे उवउत्तो झायइ त्ति वुत्तं भवइ । अहवा एगम्मि वा जोगे उवउत्तो झायइ । वितक्को सुयं; अविचारं नाम अत्थाओ अत्थंतरं न संकमइ, वंजणाओ वंजणंतरं जोगाओ वा जोगंतरं । तत्थ निदरिसिणं—सुयणाणे उवउत्तो अत्थंमि य वंजणमि य अविचारिं । झायइ चोद्दसपुव्वी बितियं झाणं विगतरागो।। अत्थसंकमणं चेव तहा वंजणसंकमं । जोगसंकमणं चेव बितिए झाणे न विज्जइ ।। (दशवै. चू. अ. १, पृ. ३५)। ४. जं पुण सुणिप्पकंपं णिवायसरणप्पईवमिव चित्तं । उप्पाय-ट्ठिदिभंगादियाणमेगम्मि पज्जाए ।। अवियारमत्थ-वंजण-जोगंतरओ विइयसुक्कं । पुव्वगयसुयालंवणमेयत्तवियक्कमवियारं ।। (झाणज्झयण ७९–८०; लोकप्र. पृ. ४४२ उद्.) । ५. एकस्य भावः एकत्वम्, वितर्को द्वादशाङ्गम्, असङ्क्रान्तिरवीचारः एकत्वेन वितर्कस्य अर्थ-व्यञ्जन-योगानामवीचारः असंक्रातिर्यस्मिन् ध्याने तदेकत्ववितर्कावीचारं ध्यानम् । (धव. पु. १३, पृ. ७९; चा. सा. पृ. ९२)। ६. एकत्वेन वितर्कस्य श्रुतस्य द्वादशाङ्गादेः अविचारोऽर्थ-व्यञ्जन-योगेष्वसङ्क्रान्तिर्यस्मिन् ध्याने तदेकत्ववितर्कावीचारं ध्यानम् । (जयध. पु. १, पृ. ३४४) । ७. एकत्वेन वितर्कोऽस्ति यस्मिन् वीचारवर्जिते । तदेकत्व-वितर्कावीचारं शुक्लं तदुत्तरम् । (ह. पु. ५६–६५) । ८. एकत्वेन वितर्कस्य स्याद् यत्राऽविचरिष्णुता । सवितर्कमवीचारमेकत्वादिपदाभिधम् ।। (म. पु. २१, ७१) । ९. स एवाऽऽमूलतो मोहक्षपणाऽऽघूर्णमानसः। प्राप्यानन्तगुणां शुद्धिं निरुन्धन् बन्धमात्मनः ।। ज्ञानावृतिसहायानां प्रकृतीनामशेषतः । ह्रासयन् क्षपयंश्चासां स्थितिबन्धं समन्ततः ।। श्रुतज्ञानोपयुक्तात्मा वीतवीचारमानसः । क्षीणमोहोऽप्रकम्पात्मा प्राप्तक्षायिकसंयमः ।। ध्यात्वैकत्ववितर्काख्यं ध्यानं घात्यघपस्मरम् । दधानः परमां शुद्धिं दुरवाप्यामतोऽन्यतः ।। (त. श्लो. ९–४४, ६–९) । १०. णीसेसमोहविलए खीणकसाए य अंतिमे काले । ससरूवम्मि णिलीणो सुक्कं झाएदि एयत्तं ।। (कार्तिके. ४८५) । ११. अविकम्प्यमनस्त्वेन योगसङ्क्रान्तिनिःस्पृहम् । तदेकत्ववितर्काख्यं श्रुतज्ञानोपयोगवत् ।। (त. भा. सिद्ध. वृ. ९–४३ उद्.) । १२. द्रव्यमेकं तथैकेन योगेनान्यतरेण च । ध्यायति क्षीणमोहो यत्तदेकत्वमिदं भवेत् ।। श्रुतं यतो वितर्कः स्याद्यतः पूर्वार्थशिक्षितः । एकत्वं ध्यायति ध्यानं सवितर्कं ततो हितम् ।। अर्थ-व्यञ्जन-योगानां विचारः संक्रमो मतः । वीचारस्य ह्यसद्भावादवीचारमिदं भवेत् ।। (त. सा. ७, ४८–५०) । १३. अवीचारो वितर्कस्य यत्रैकत्वेन संस्थितः । सवितर्कमवीचारं तदेकत्वं विदुर्बुधाः ।। (ज्ञानार्णव ४२–१४) । १४. द्रव्यसंग्रहटीकायाम्—निजशुद्धात्मद्रव्ये वा निर्विकारात्मसुखसंवित्तिपर्याये वा निरुपाधिस्वसंवेदनगुणे वा यत्रैकस्मिन् प्रवृत्तं तत्रैव वितर्कसंज्ञेन स्वसंवित्तिलक्षणभावश्रुतबलेन स्थिरीभूय वीचारं गुण-द्रव्य-पर्यायपरावर्तनं करोति यत्तदेकत्ववितर्क-वीचार (कार्तिके—वितर्कावीचार) संज्ञं क्षीणकषाय-गुणस्थानसम्भवं द्वितीयं शुक्लध्यानम् । (बृ. द्रव्यसं. टी. ४८; कार्तिके. टी. ४८५ उद्.) । १५. किं चार्थप्रमुखेष्वसङ्क्रममिहैकत्वश्रुतालम्बनम्, प्राहैकत्ववितर्कणाविचरणाभिख्यं द्वितीयं जिनः । (आत्मप्रबोध ९५) । १६. एवं श्रुतानुसारादेकत्ववितर्कमेकपर्यायम् । अर्थ-व्यञ्जन-योगान्तरेष्वसङ्क्रमणमन्यत् तु ।। (योगशा. ११–७; गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २, पृ. ११ उ.); उत्पाद-स्थिति-भङ्गादिपर्यायाणां यदेकयोगः सन् । ध्यायति पर्ययमेकं तत्स्यादेकत्वमविचारम् ।। (योगशा. ११–१८) । १७. एकत्वेन न पर्ययान्तरतया जातो वितर्कस्य यद्, यो वीचार इहैकवस्तुनि वचस्येकत्र योगेऽपि च । नार्थ-व्यञ्जन-योगजालचलनं तत्तार्थनामेत्यदो ध्यानं घातिविघातजातपरमार्हन्त्यं द्वितीयं मतम् ।। (आचा. सा. १०–४६) । १८. निजात्मद्रव्यमेकं वा पर्यायमथवा गुणम् । निश्चलं चिन्त्यते यत्र तदेकत्वं विदुर्बुधाः ।। (गुण. क्र. ७६, पृ. ४७) । १९. अनेकेषां पर्ययाणामेकद्रव्यावलम्बिनाम् । एकस्यैव वितर्को यः पूर्वगतश्रुताश्रयः ।। स च व्यञ्जनयोगार्थेष्वेको नैकतनो भवेत् । यदैकत्ववितर्काख्यं तद् ध्यानमिह दर्शितम् ।। (लोकप्र. पृ. ४४८); न च स्याद् व्यञ्जन-

नादर्थे तथाऽर्थाद् व्यञ्जनेऽपि वा । विचारोऽत्र तदेकत्ववितर्कमविचारि च ।। मनःप्रभृतियोगानामप्येकस्मात् परत्र नो । विचारोऽत्र तदेकत्ववितर्कमविचारि च ।। (लोकप्र. ३०, ४८९-९०) ।

२ मोहकर्म का समूल नाश करने का इच्छुक होकर अनन्तगुणी विशुद्धि सहित योगविशेष के द्वारा ज्ञानावरण की सहायक बहुतसी प्रकृतियों के बन्ध का निरोध और उनकी स्थिति के ह्रास व क्षय का करने वाला, श्रुतज्ञानोपयोग से सहित तथा अर्थ, व्यञ्जन और योग की संक्रान्ति-रहित जो केवल एक द्रव्य, गुण या पर्याय का चिन्तवन करता है—ऐसे क्षीणकषाय गुणस्थानवर्ती मुनिके जो निश्चल शुक्लध्यान होता है उसे एकत्ववितर्कावीचार ध्यान कहते हैं ।

एकत्वानुप्रेक्षा—देखो एकत्वभावना । १. सयणस्स परियणस्स य मज्झे एक्को रुवंतओ दुहिदो । वज्जदि मच्चु-वसगदो ण जणो कोई समं एदि ।। एक्को करेदि कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे । एक्को जायदि मरदि य एवं चिंतेहि एयत्तं ।। (मूला. ८, ८-९) । २. एक्को करेदि कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे । एक्को जायदि मरदि य तस्स फलं भुंजदे एक्को ।। एक्को करेदि पावं विसयणिमित्तेण तिव्वलोहेण । णिरय-तिरिएसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ।। एक्को करेदि पुण्णं धम्मणिमित्तेण पत्तदाणेण । मणुव-देवेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ।। एक्कोऽहं णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्खणो । सुद्धेयत्तमुपादेयमेवं चिंतेइ संजदो ।। (द्वादशा. १४-१६ व २०) । ३. जन्म-जरा-मरणानुवृत्तिमहादुःखानुभवं प्रति एक एवाहं न कश्चिन्मे स्वः परो वा विद्यते । एक एव जायेऽहम्, एक एव म्रिये, न मे कश्चित् स्वजनः परजनो वा व्याधि-जरा-मरणादीनि दुःखान्यपहरति, बन्धु-मित्राणि स्मशानं नातिवर्तन्ते, धर्ममेव मे सहायः सदा अनुयायीति चिन्तनमेकत्वानुप्रेक्षा ।। (स. सि. ९-७) । ४. एक एवाहं न मे कश्चित् स्वः परो वा विद्यते । एक एवाहं जाये, एक एव म्रिये, न मे कश्चित् स्वजनसंज्ञः परजनसंज्ञो वा, व्याधि-जरा-मरणादीनि दुःखान्यपहरति प्रत्यंशहारी वा भवति, एक एवाहं स्वकृतकर्मफलमनुभवामीति चिन्तयेत्, एवं ह्यस्य चिन्तयतः स्वजनसंज्ञकेषु स्नेहानुरागप्रतिबन्धो न भवति परसंज्ञकेषु च द्वेषानुबन्धः । ततो निःसङ्गतामभ्युपगते मोक्षायैव यतेत इत्येकत्वानुप्रेक्षा । (त. भा. ९-७) । ५. इक्को जीवो जायदि एक्को गब्भम्हि गिण्हदे देहं । इक्को बाल-जुवाणो इक्को वुड्ढो जरागहिओ ।। इक्को रोई सोई इक्को तप्पेइ माणसे दुक्खे । इक्को मरदि वराओ णरय-दुहं सहदि इक्को वि ।। इक्को संचदि पुण्णं एक्को भुंजेदि विविह-सुर-सोक्खं ।। इक्को खवेदि कम्मं इक्को वि य पायए मोक्खं ।। सुयणो पिच्छंतो वि हु ण दुक्खलेसं पि सक्कदे गहिदुं । एवं जाणंतो वि हु तो पि ममत्तं ण छंडेइ ।। (कार्तिके. ७४-७७)।

३ जन्म, जरा और मरण रूप महान् दुःख का सहने वाला मैं एक ही हूं—इसके लिये न मेरा कोई स्व है और न पर भी है; मैं अकेला ही जन्म लेता हूं और अकेला ही मरता हूं—कोई भी स्वजन और परजन मेरे रोग, जरा एवं मरण आदि के कष्ट को दूर नहीं कर सकता है; बन्धुजन व मित्रजन अधिक से अधिक स्मशान तक जाने वाले हैं—आगे कोई भी साथ जाने वाला नहीं है; हां धर्म एक ऐसा अवश्य है जो मेरे साथ जाकर भवान्तर में भी सहायक हो सकता है; इत्यादि प्रकार निरन्तर विचार करना, इसका नाम एकत्वानुप्रेक्षा है ।

एकदेशच्छेद—निर्विकल्पसमाधिरूपसामायिकस्यैकदेशेन च्युतिरेकदेशच्छेदः । (प्र. सा. जय. वृ. ३-१०)। निर्विकल्प समाधिरूप सामायिक के एक अंश के विनाश को एकदेशच्छेद कहते हैं ।

एकपादस्थान—एगपादं एगेन पादेनावस्थानम् । (भ. आ. विजयो. २२३) ।

एक पैर से स्थित होकर तपश्चरण करना, इसका नाम एकपाद (कायक्लेशविशेष) है ।

एकप्रत्यय (ज्ञान)—१. एकाभिधान-व्यवहारनिबन्धनः प्रत्यय एकः । (धव. पु. ९, पृ. १५१); एकार्थविषयः प्रत्ययः एकः (अवग्रहः) । (धव. पु. १३, पृ. २३६) । २. बह्वेकव्यक्तिविज्ञानं बह्वेकं च क्रमाद्यथा । (आ. सा. ४-१७) ।

जो प्रत्यय एक नाम और व्यवहार का कारण होता है वह एकप्रत्यय कहलाता है ।

एकबन्धन—छण्णं जीवणिकायाणं सरीरसमवाओ एयबंधणं णाम । (धव. पु. १४, पृ. ४६१) ।

पृथिवीकायिकादि छह जीवसमूहों के शरीरसमवाय का नाम एकबन्धन है ।

एकभक्त—१उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि । एकम्हि दुअ तिए वा मुहुत्तकालेयभत्तं तु ।। (मूला. १–३५) । २. उदयकालं नाडीत्रिकप्रमाणं वर्जयित्वा अस्तमनकालं च नाडीत्रिकप्रमाणं वर्जयित्वा शेषकालमध्ये एकस्मिन् मुहूर्त्ते द्वयोर्मुहूर्तयोस्त्रिषु वा मुहूर्तेषु यदेतदशनं तदेकभक्तसंज्ञकं व्रतमिति । ××× अथवा नाडीत्रिकप्रमाणे उदयास्तमनकाले च वर्जिते मध्यकाले त्रिषु मुहूर्तेपु भोजनक्रियाया या निष्पत्तिस्तेदकभक्तमिति । अथवा अहोरात्रमध्ये द्वे भक्तवेले, तत्र एकस्यां भक्तवेलायाम् आहारग्रहणमेकभक्तमिति । (मूला. वृ. १-३५)। ३. उदयास्तोभयं त्यक्त्वा त्रिनाडीर्भोजनं सकृत् । एक-द्वि-त्रिमुहूर्तं स्यादेकभक्तं दिने मुनेः । (आचा. सा. १–४७) ।

२ उदय और अस्तमनकाल सम्बन्धी तीन-तीन नाड़ी (घटिका) प्रमाण काल को छोड़ कर शेष काल में एक, दो अथवा तीन मुहूर्तों में भोजन करना एकभक्त कहलाता है। अथवा उदय व अस्तमन सम्बन्धी तीन घटिकाओं को छोड़कर मध्य के तीन मुहूर्तों में भोजनक्रिया के करने को एकभक्त कहते हैं। अथवा दिन-रात में दो वार भोजन किया जाता है, उसमें एक ही वार भोजन करना, इसे एकभक्त कहा जाता है।

एकभिक्षानियम (क्षुल्लक)—१. जइ एवं ण रएज्जो काउं रिसगिहम्मि चरियाए । पविसत्ति एयभिक्खं पवित्तिणियमणं ता कुज्जा ।। (वसु. श्रा. ३०९) । २. यस्त्वेकभिक्षानियमो गत्वाऽद्यादनुमुन्यसौ । भुक्त्यभावे पुनः कुर्यादुपवासमवश्यकम् ।। (सा. ध. ७–४६); एकस्यां एकगृहसम्बन्धिन्यां भिक्षायां नियमः प्रतिज्ञा यस्य स एकभिक्षानियमः । (सा. ध. स्वो. टी. ७–४६) ।

२ एक ही घर पर भिक्षा के नियम वाले क्षुल्लक को एकभिक्षानियम वाला क्षुल्लक कहते हैं। यह मुनियों के आहार करने के अनन्तर भिक्षार्थ नगर में जाता है और एक ही घर में आहार ग्रहण करता है व भोजन के अभाव में उपवास करता है।

एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा — उपवासत्रयं कृत्वा चतुर्थ्यां रात्रौ ग्राम-नगरादेर्बहिर्देशे श्मशाने वा प्राङ्मुखः उदङ्मुखश्चैत्याभिमुखो भूत्वा चतुरंगुलमात्रपदान्तरो नासिकाग्रनिहितदृष्टिस्त्यक्तकायस्तिष्ठेत्, सुष्ठु प्राणिहितचित्तश्चतुर्विधोपसर्गसहो न चलेन्न पतेत् यावत् सूर्य उदेति, सैषा एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा । (भ. आ. विजयो. ४०३; मूलारा. ४०३) ।

जो तीन उपवास करके चौथी रात्रि में ग्राम-नगरादि के बाहिर किसी भी स्थान में अथवा स्मशान में पूर्वाभिमुख, उत्तराभिमुख अथवा जिनचैत्याभिमुख होकर पांवों के बीच चार अंगुल प्रमाण अन्तर रखते हुए नासिका पर दृष्टि रख कर स्थित होता है व शरीर से निर्ममत्व होकर प्राणिहित में निमग्न होता हुआ चारों प्रकार के उपसर्ग को सहता है तथा सूर्य का उदय होने तक निश्चलतापूर्वक उसी प्रकार से स्थित रहता है, वह एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा का निर्वाहक होता है।

एकविध प्रत्यय—१. एकजातिविपयत्वादेतत्-(वहुविध-)प्रतिपक्षः प्रत्ययः एकविधः । (धव. पु. ९, पृ. १५२); एकजातिविपयः प्रत्ययः एकविधः । (धव. पु. १३, पृ. २३७) । २. वह्वेकजातिविज्ञानं स्याद् वह्वेकविधं यथा । वर्णा नृणां वहुविधाः गौर्जात्येकविधेति च ।। (आचा. सा. ४–१८) ।

१ जो ज्ञान वहुत जातिभेदों को विषय करने वाले वहुविधप्रत्यय से पृथक् होकर एक ही जाति के पदार्थ को ग्रहण करता है, उसे एकविध प्रत्यय कहा जाता है।

एकविध बन्ध— एकस्याः सातवेदनीयलक्षणायाः प्रकृतेर्वन्धः एकविधवन्धः । (शतक दे. स्वो. वृ. २२) ।

एक मात्र सातावेदनीय प्रकृति के वन्ध को एकविध वन्ध कहते हैं।

एकविधावग्रह— १. एयपयारग्गहणमेयविहावग्गहो । ××× एगजाईए ट्ठिदएयस्स वहूण वा गहणमेयविहावग्गहो । (धव. पु. ९, पृ. २०) । २. अल्पविशुद्धिश्रोत्रेन्द्रियादिपरिणामकारण आत्मा ततादिशब्दानामेकविधावग्रहणादेकविधमवगृह्णाति । (त. वा. १, १६, १६) । ३. एकजातिग्रहणमेकविधावग्रहः । (मूला. वृ. १२–१८७) ।

१ एक प्रकार के पदार्थ के जानने का नाम एकविधावग्रह है। वह एक जाति का पदार्थ चाहे एक हो चाहे वहुत हों, उसका ज्ञान एकविधावग्रह ही कहलाता है।

एकविहारी—तव-सुत्त-सत्त-एगत्त-भाव-संघडण-घिदिसमग्गो य। पविग्रा-ग्रागमवलिग्रो एयविहारी ग्रणुण्णादो ॥ सच्छंदगदागदी सयण-णिसयणादाण-भिक्ख-वोसरणे। सच्छंदजंपरोचि य मा मे सत्तू वि एगागी। (मूला. ४, २८–२६)।

जो तप, श्रुत, सत्त्व, एकत्व, भाव, संहनन एवं धैर्य ग्रादि गुणों से संयुक्त होकर तप से वृद्ध ग्रौर ग्रागम का ज्ञाता हो ऐसे साधु को एकविहारी होने की ग्रनुज्ञा प्राप्त है। किन्तु जो सयन, ग्रासन, ग्रहण, भिक्षा ग्रौर मल-मूत्र का त्याग, इन कार्यों में स्वच्छन्द होकर प्रवृत्ति करता है व मनमाने ढंग से बोलता है वह एकविहारी नहीं हो सकता है।

एकसिद्ध—१. एकसिद्धा इति एकस्मिन् समये एक एव सिद्धः। (नन्दी. हरि. वृ. पृ. ५१; श्रा. प्र. टी. ७७)। २. × × × हिया इग समय एग सिद्धा य। (नवतत्त्वप्र. ५६)। ३. एकस्मिन् एकस्मिन् समये एकका एव सन्तः सिद्धा एकसिद्धाः। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. १–७, पृ. २२; शास्त्र. समु. टी. ११, ५४. पृ. ४२५)।

१ एक समय में जो एक ही मुक्त होता है, उसे एकसिद्ध कहते हैं।

एकसिद्धकेवलज्ञान — एकसिद्धकेवलज्ञानं नाम यस्मिन् समये स विवक्षितः सिद्धस्तस्मिन् समये यद्यन्यः कोऽपि न सिद्धस्ततस्तस्य केवलज्ञानमेकसिद्धकेवलज्ञानम्। (ग्राव. नि. मलय. वृ. ७८, पृ. ८५)।

जिस समय में विवक्षित कोई एक जीव सिद्ध होता है उस समय में यदि ग्रन्य कोई सिद्ध नहीं होता है तो उसके केवलज्ञान को एकसिद्धकेवलज्ञान कहा जाता है।

एकस्थिति—एया कम्मस्स ट्ठिदी एयट्ठिदी णाम। (जयध. ३, पृ. १६१)।

कर्म की एक स्थिति को एकस्थिति कहते हैं।

एकस्वभाव—१. भेदसंकल्पनामुक्त एकस्वभाव ग्राहितः। (द्रव्यानु. त. १३–३)। २. भेदकल्पनारहितशुद्धद्रव्यार्थिकनये भेदकल्पनामुक्त एकस्वभावः कथितः। (द्रव्यानु. त. टी. १३–३)।

२ भेद की कल्पना से रहित शुद्ध द्रव्यार्थिक नय में भेदकल्पना से रहित को एकस्वभाव कहा जाता है।

एकाग्रचिन्तानिरोध— १. ग्रग्रं मुखम्, एकमग्रमस्येत्येकाग्रः, नानार्थावलम्बनेन चिन्ता परिस्पन्दवती, तस्या ग्रन्याशेषमुखेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन्नग्रे नियम एकाग्रचिन्तानिरोध इत्युच्यते। (स. सि. ६–२७)। २. एकमग्रं मुखं यस्य सोऽयमेकाग्रः, चिन्ताया निरोधः चिन्तानिरोधः, एकाग्रे चिन्तानिरोधः एकाग्रचिन्तानिरोधः। (त. वा. ६–२७)। ३. एकाग्रेणेति वा नानामुखत्वेन निवृत्तये। क्वचिच्चिन्तानिरोधस्याध्यानत्वेन प्रभादिवत् ॥ × × × एकमग्रं मुखं यस्य सोऽयमेकाग्रः, चिन्ताया निरोधः [चिन्तानिरोधः], एकाग्रश्चासौ चिन्तानिरोधश्च स इत्येकाग्रचिन्तानिरोधः। (त. श्लो. ६, २७, ६)। ४. एकस्मिन्नग्रे प्रधाने वस्तुन्यात्मनि परत्र वा चिन्तानिरोधो निश्चलता चिन्तान्तरनिवारणं चैकाग्रचिन्तानिरोधः। (त. सुखबो. वृ. ६–२७)। ५. एकमग्रं मुखमवलम्बनं द्रव्यं पर्यायः तदुभयं स्थूलं सूक्ष्मं वा यस्य स एकाग्रः, एकाग्रस्य चिन्तानिरोधः ग्रात्मार्थं परित्यज्यापरचिन्तानिषेधः, × × × चिन्तायाः ग्रपरसमस्तमुखेभ्यः समग्रावलम्बनेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन् ग्रग्रे प्रधानवस्तुनि नियमनं निश्चलीकरणमेकाग्रचिन्तानिरोधः स्यात्। (त. वृत्ति श्रुत. ६–२७)।

१ ग्रग्र का ग्रर्थ मुख या प्रधान होता है, ग्रनेक विषयों के ग्रालम्बन से चिन्ता चलायमान होती है, इसीलिये उस चिन्ता को ग्रन्य सब विषयों की ग्रोर से हटा कर एक प्रमुख विषय में लगाना, इसे एकाग्रचिन्तानिरोध (ध्यान) कहा जाता है।

एकाग्रमन—जहा उ पावगं कम्मं रागदोससमज्जियं। खवेइ तवसा भिक्खू तमेगग्गमणो मुण ॥ (उत्तरा. ३०–१, पृ. ३३७)।

जो साधु तप के द्वारा राग-द्वेष से उपार्जित पाप कर्म को नष्ट करता है उसे एकाग्रमन जानना चाहिये।

एकादशी प्रतिमा— एकादशमासान् त्यक्तसङ्गो रजोहरणादिमुनिवेषधारी कृतकेशोत्पाटः स्वायत्तेषु गोकुलादिषु वसन् 'प्रतिमाप्रतिपन्नाय श्रमणोपासकाय भिक्षां दत्त' इति वदन् धर्मलाभ शब्दोच्चारणरहितं सुसाधुवत् समाचरतीत्येकादशी। उक्तं च— एक्कारसीइ निस्संगो धरे लिंगं पडिग्गहं। कयलोग्रो सुसाहुव्व पुव्वुत्तगुणसायरो ॥ (योगशास्त्र स्वो. विव. ३–१४८, पृ. ३७२)।

जो उपासक ग्यारह मास तक परिग्रह से रहित होकर मुनि के वेषस्वरूप रजोहरणादि को धारण करता है, केशलोंच करता है, स्वाधीन गोकुल आदि में रहता है, तथा 'धर्मलाभ' शब्द का उच्चारण न करके 'प्रतिमाप्रतिपन्न श्रमणोपासक को भिक्षा दो' ऐसा कहता है; इस प्रकार जो उत्तम साधु के समान आचरण करता है; वह ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक होता है।

एकान्त—जं तं एयाणंतं तं लोगमज्झादो एगसेढि पेक्खमाणे अंताभावादो एयाणंतं। (धव. पु. ३, पृ. १६)।

लोक के मध्य से एक ओर आकाशप्रदेशपंक्ति के देखने पर चूंकि अन्त सम्भव नहीं है, अतः इसे एकानन्त कहा जाता है।

एकान्त-असात—जं कम्मं असादत्ताए बद्धं असंछुद्धं अपडिच्छुद्धं असादत्ताए वेदिज्जदि तमेयंत-असादं। (धव. पु. १६, पृ. ४६८)।

जो कर्म असातारूप से बन्ध को प्राप्त होकर संक्षेप व प्रतिक्षेप से रहित होता हुआ असातस्वरूप से वेदा जाता है—अनुभव में आता है—उसे एकान्त-असात कहते हैं।

एकान्त मिथ्यात्व—१. तत्र इदमेव इत्थमेवेति धर्मिधर्मयोरभिनिवेश एकान्तः। (स. सि. ८–१; त. वा. ८, १, २८)। २. अत्थि चेव णत्थि चेव, एगमेव अणेगमेव, सावयवं चेव णिरवयवं चेव, णिच्चमेव अणिच्चमेव, इच्चाइओ एयंताहिणिवेसो एयंतमिच्छत्तं। (धव. पु. ८, पृ. २०)। ३. एकान्तमिथ्यात्वं नाम वस्तुनो जीवादेर्नित्यत्वमेव स्वभावो न चानित्यत्वादिकम्। (भ. आ. विजयो. १–२३)। ४. यत्राभिसन्निवेशः स्यादत्यन्तं धर्मि-धर्मयोः। इदमेवेत्थमेवेति तदैकान्तिकमुच्यते॥ (त. सा. ५–४)। ५. क्षणिकोऽक्षणिको जीवः सर्वदा सगुणोऽगुणः। इत्यादिभाषमाणस्य तदैकान्तिकमिष्यते॥ (अमित. श्रा. २–६)। ६. इदमेवेत्थमेवेति सर्वथा धर्मधर्मिणोः। ग्राहिका शेमुषी प्राज्ञैरैकान्तिकमुदाहृतम्॥ (पंचसं. अमित. ५–२६)। ७. सर्वथाऽस्त्येव नास्त्येवैकमेवाऽनेकमेव नित्यमेवाऽनित्यमेव वक्तव्यमेवाऽवक्तव्यमेव जीवादिवस्तु इत्यादि-प्रतिपक्षनिरपेक्षसर्वथानियम एकान्तः, तच्छ्रद्धानमेकान्तमिथ्यात्वम्। (गो. जी. म. प्र. टी. १५)। ८. इदमेव इत्थमेवेति धर्मिधर्मयोर्विषये अभिप्रायः, पुमानेवेदं सर्वमिति, नित्य एवानित्य एवेतिवाऽभिनिवेश एकान्तमिथ्यादर्शनम्। (त. वृत्ति श्रुत. ८–१)। ९. जीवादि वस्तु सर्वथा सदेव सर्वथाऽसदेव, सर्वथा एकमेव सर्वथा अनेकमेवेत्यादि प्रतिपक्ष-निरपेक्षैकान्ताभिप्राय एकान्तमिथ्यात्वम्। (गो. जी. जी. प्र. टी. १५)।

२ पदार्थ अस्तिरूप ही है अथवा नास्तिरूप ही है, एक ही है अथवा अनेक ही है, सावयव ही है अथवा निरवयव ही है, तथा नित्य ही है अथवा अनित्य ही है; इत्यादि प्रकार के एक ही धर्म के अभिनिवेश या आग्रह को एकान्तमिथ्यात्व कहते हैं।

एकान्तसात—जं कम्मं सादत्ताए बद्धं असंछुद्धं अपडिच्छुद्धं सादत्ताए वेदिज्जदि तमेयंतसादं। (धव. पु. १६, पृ. ४६८)।

जो कर्म सातास्वरूप से बन्ध को प्राप्त होकर संक्षेप व प्रतिक्षेप से रहित होता हुआ सातास्वरूप से वेदा जाता है—अनुभव में प्राप्त होता है—उसे एकान्त-सात कहते हैं।

एकावग्रह—एकस्सेव वत्थुवलंभो एयावग्गहो। ××× एयवत्थुग्गाहओ अवबोधो एयावग्गहो उच्चदि। ××× विहि-पडिसेहारद्धमेयं वत्थू, तस्स उवलंभो एयावग्गहो। (धव.पु. ९, पृ. १९)।

विधि-प्रतिषेधात्मक एक ही वस्तु के उपलम्भ को—जानने को—एकावग्रह कहते हैं।

एकाश(स)न—१. एयकं असणं अहवा वि आसणं जत्थ निच्चलपुयस्स। तं एयकासणमुत्तं इगवेला-भोयणे नियमो॥ (प्रत्याख्यानस्व. १०७)। २. २. एकस्थानं स्थितभोजनम्। (प्राय. स. टी. १, २)। ३. एकस्थानं सकृद्भुक्तम्। (अमित. श्रा. ६–९१)। ४. एकं सकृदशनं भोजनम्, एकं वाऽऽसनम् पुताचलनतो यत्र तदेकाशनमेकासनं च। (योगशा. स्वो. विव. ३-१३०); एक्कासणं पच्चक्खाइ चउ-विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थ-णाभोगेण सह सागारेण सागारि अगारेणं आउंटण-पसारणेणं गुरु अब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्ति अगारेणं वोसिरइ। (योगशा. स्वो. विव. उद्. ३–१३०, पृ. २५२)।

१ जिस नियमविशेष में एक भोजन अथवा पुतों पर स्थिर रहते हुये भोजन के लिये एक आसन को स्वीकार किया जाता है उसे एकाशन या एकासन कहते हैं।

एकासंख्यात—जं तं एयासंखेज्जयं तं लोयावासस्स एगदिसा। कुदो ? सेढिआगारेण लोयस्स एगदिसं पेक्खमाणे पदेसगणणं पडुच्च संखातीदादो। (धव. पु. ३, पृ. १२५)।

प्रदेशपंक्ति स्वरूप से लोक की एकदिशा की ओर देखने पर चूंकि प्रदेशों की गणना सम्भव नहीं है, अतएव उसे एकासंख्याल कहा जाता है।

एकेन्द्रिय—१. इंदियाणुवादेण एइंदिओ ××× णाम कथं भवदि ? । खओवसमियाए लद्धीए । (ष. खं. पु. २, १, १४-१५ पु. ७, पृ. ६१)। २. ××× पुढविकाइयादीया। मणपरिणामविरहिदा जीवा एगेंदिया भणिया॥ (पञ्चा. का. ११२)। ३. एकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयादेकेन्द्रियः। (धव. पु. १, पृ. २४८); एदेण एक्केण इंदियेण जो जाणदि पस्सदि सेवदि जीवो सो एइंदिओ णाम। (धव. पु. ७, पृ. ६२)। ४. पृथिवीकायिकादयो हि जीवाः स्पर्शनेन्द्रियावरणक्षयोपशमात् शेषेन्द्रियावरणोदये नोइन्द्रियावरणोदये च सत्येकेन्द्रिया अमनसः। (पंचा. का. अमृत. वृ. ११२)। ५. एकस्य स्पर्शनेन्द्रियज्ञानस्यावरणक्षयोपशमात्तदेकविज्ञानभाजः एकेन्द्रियाः। (कर्मस्तव गो. वृ. ९–१०, पृ. ८४; शतक. मल. हेम. वृ. ३७–३८, पृ. ३७)।

३ जो जीव इस एक स्पर्शन इन्द्रिय के द्वारा जानता देखता है व सेवन करता है वह एकेन्द्रिय कहलाता है। यह एकेन्द्रिय अवस्था एकेन्द्रिय जातिनामकर्म के उदय से हुआ करती है। ४ स्पर्शनेन्द्रियावरण के क्षयोपशम और शेष इन्द्रियावरणों व नोइन्द्रियावरण के उदय से युक्त पृथिवीकायिकादि पांच प्रकार के जीव एकेन्द्रिय जीव कहे जाते हैं।

एकेन्द्रिय जातिनाम—१. यदुदयादात्मा एकेन्द्रिय इति शब्द्यते तदेकेन्द्रियजातिनाम। (स. सि. ८-११; त. वा. ८, ११, २; भ. आ. मूला. टी. २०९६)। २. एइंदियाणमेइंदियेहि एइंदियभावेण जस्स कम्मस्स उदएण सरिसत्तं होदि तं कम्ममेइंदियजादिणामं। (धव. पु. ६, पृ. ६७)। ३. एगिंदियेसु जीवो जस्सिह उदयेण होइ कम्मस्स। सा एगिंदियजाई, ×××॥ (कर्मवि. ग. ८७)।

१ जिस कर्म के उदय जीव 'एकेन्द्रिय' कहा जाता है उसे एकेन्द्रियजाति नामकर्म कहते हैं।

एकेन्द्रियलब्धि – फासिंदियावरणखओवसमेण समुप्पण्णा सत्ती एइंदियलद्धी णाम। (धव. पु. १४, पृ. २०)।

स्पर्शनेन्द्रियाववण के क्षयोपशम से जीव को जो स्पर्श के जानने की शक्ति प्राप्त होती है उसका नाम एकेन्द्रियलब्धि है।

एलमूक—यस्त्वेलक इवाव्यक्तमूकतया शब्दमात्रमेव करोति स एलमूकः। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २२)।

भेड़ की तरह अव्यक्त शब्द करने वाले व्यक्ति को एलमूक (भाषाजड़) कहते हैं। ऐसा व्यक्ति जिनदीक्षा के योग्य नहीं होता है।

एवम्भूतनय—१. येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसाययतीति एवम्भूतः। (स. सि. १–३३; त. वा. १, ३३, ११)। २. वंजण-अत्थ तदुभयं एवंभूओ विसेसेइ। (अनुयो. गा. १३८, पृ. २६६; आव. नि. ७५८)। ३. व्यञ्जनार्थयोरेवम्भूतः। ××× तेषामेव व्यञ्जनार्थयोरन्योन्यापेक्षार्थग्राहित्वमेवम्भूतः। (त. भा. १–३५)। ४. ××× इत्थंभूतः क्रियाश्रयः॥ (लघीय. ४४)। ५. एवं जह सद्दत्थो संतो भूओ तदन्नहाऽभूओ। तेणेवंभूयनओ सद्दत्थपरो विसेसेणं। (विशेषा. २७५२)। ६. व्यज्यतेऽनेन व्यनक्तीति वा व्यञ्जनं शब्दः, अर्थस्तु तद्गोचरः, तच्च तदुभयं च, तदुभयं शब्दार्थलक्षणम्, एवम्भूतः—यथाभूतो नयो विशेषयति। इदमत्र हृदयम्—शब्दमर्थेन विशेषयति, अर्थं च शब्देन, 'घट चेष्टायाम्' इत्यत्र चेष्टया घटशब्दं विशेषयति, घटशब्देनापि चेष्टाम्, न स्थानभरणक्रियाम्, ततश्च यदा योषिन्मस्तकव्यवस्थितः चेष्टावानर्थो घटशब्देनोच्यते तदा स घटः, तद्वाचकश्च शब्दः, अन्यदा वस्त्वन्तरस्येव चेष्टाऽयोगादघटत्वं तद्ध्वनेश्चावाचकत्वम्। (आव. नि. हरि. वृ. ७५८, पृ. २८४; अनुयो. हरि. वृ. गा. १३८, पृ. १२५–२६)। ७. व्यञ्जनं शब्दः तदभिधेयोऽर्थः तयोर्व्यञ्जनार्थयोः, एवंपर्यायाभाववद्वाच्य-वाचकप्रवृत्तिनिमित्तभावे, भूतो यथार्थ एवम्भूत इति। यथा घटशब्दो न कुटार्थवाचकः, प्रवृत्तिनिमित्तभावात्; एवं नाचेष्टावदर्थवाचको-

ऽप्यत एव हेतोः, अर्थोऽपि तत्क्रियाशून्यो न स इति, तथाऽर्यमाणत्वाभावात् । अतो यदैव योषिन्मस्तकाधिरूढो जलाद्यानयनाय चेष्टते तदैव घटः, घटवाचकोऽपि घटशब्दोऽस्य तदैवेत्यध्यवसाय एवम्भूतः। ××× तेषामेव—अनन्तरनयपरिगृहीतघटादीनाम्—यौ व्यञ्जनार्थौ, तयोर्व्यञ्जनार्थयोरन्योन्यापेक्षार्थग्राहित्वमिति स्वप्रवृत्तिनिमित्तभावेन यथा व्यञ्जनं तथाऽर्थो यथार्थः तथा व्यञ्जनम्, एवं सति वाच्य-वाचकसम्बन्धो नान्यथा, प्रष्टप्रवृत्तिनिमित्तभावेनेत्यध्यवसायः एवम्भूतः । (त. भा. हरि. वृ. १–३५) । ८. तेषामेव—अनन्तरनयपरिगृहीतघटादीनाम् —यौ व्यञ्जनार्थौ तयोरन्योन्यापेक्षार्थग्राही योऽध्यवसायः स एवम्भूतः परमार्थः, व्यञ्जनं वाचकः शब्दः, अर्थोऽभिधेयो वाच्यः । अथ का पुनरन्योन्यापेक्षा ? यदि यथा व्यञ्जनं तथार्थो यथा चार्थस्तथा व्यञ्जनम्, एवं हि सति वाच्य-वाचकसम्बन्धो घटते, अन्यथा न; योग्यक्रियाविशिष्टमेव वस्तुस्वरूपं प्रतिपद्यते इति । (त. भा. सिद्ध. वृ. १–३५) । ९. तत्क्रियापरिणामोऽर्थस्तथैवेति विनिश्चयात् । एवम्भूतेन नीयेत क्रियान्तरपराङ्मुखः ॥ (त. श्लो. १, ३३, ७८) । १०. एवं भेदे भवनादेवम्भूतः। ××× पदमेकमेकार्थस्य वाचकमित्यध्यवसाय एवम्भूतनयः। ××× पदगतवर्णभेदाद् वाच्यभेदस्याध्यवसायकोऽप्येवम्भूतः। (धव. पु. १, पृ. ९०); णिरयगइं संपत्तो जइया अणुहवइ णारयं दुक्खं। तइया सो णेरइओ एवंभूदो णओ भणदि ॥ (धव. पु. ७, पु. २९ उद्.); वाचकगतवर्णभेदेनार्यस्य गवाद्यर्थभेदेन गवादिशब्दस्य च भेदकः एवम्भूतः। (धव. पु. ९, पृ. १८०)। ११. एवम्भवनादेवम्भूतः। ××× एक एव वर्ण एकार्थवाचक इति पदगतवर्णमात्रार्थ एकार्थं इत्येवम्भूताभिप्रायवान् एवम्भूतनयः। (जयध. पु. १, पु, २४२) । १२. यदेन्दति तदैवेन्द्रो नान्यदेति कियाक्षणे । वाचकं मन्यते त्वेवैवम्भूतो यथार्थवाक् ॥ (ह. पु. ५८–४९) । १३. जं जं करेइ कम्मं देही मणवयणकायचिट्ठाहि । तं तं खु णामजुत्तो एवंभूओ हवे स णओ ॥ पज्जवण भाविभूदे अत्ये जो सो हु भेदपज्जाओ । अह तं एवंभूदो संभवदो मुणह अत्थेसु ॥ (ल. न. च. ४३ व ४५; बृ. न. च. २१६ व २१९) । १४. शब्दो येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसाययेत् । यो नयो मुनयो मान्यस्तमेवम्भूतमभ्यधुः ॥ (त. सा. १–५०) । १५. एवमित्थं विवक्षितक्रियापरिणामप्रकारेण भूतं परिणतमर्थं योऽभिप्रैति स एवम्भूतो नयः। (प्र. क. मा. ६–७४, पृ. ६८०) । १६. तत्क्रियापरिणामकालः तदित्थंभूतो यथा कुर्वत एव कारकत्वमिति । (मूला. वृ. ९–६७) । १७. क्रियाश्रयेण भेदप्ररूपणमित्थंभावः (एवम्भूतः) । (प्र. र. मा. ६–७४) । १८. पुनरित्थंभूतो नाम नयः— क्रियाश्रयो विवक्षितक्रियाप्रधानः सन्नर्थभेदकृत् । यथा—यदैवेन्दति तदैवेन्द्रः, नाभिषेचको न पूजक इति । अन्यथापि तद्भावे क्रियाशब्दप्रयोगनियमो न स्यात् । (लघीय. अभय. वृ. ४४, पृ. ६४); क्रियाशब्दभेदादर्थभेदकृदेवम्भूतः। (लघीय. अभय. वृ. ७२) । १९. एवमिति तथाभूतः सत्यो घटादिरर्थो नान्यथाप्येवमभ्युपगमपरः एवम्भूतो नयः। अयं हि भावनिक्षेपादिविशेषणोपेतं व्युत्पत्त्यर्थाविष्टमेवार्थमिच्छति, जलाहरणादिचेष्टावन्तं घटमिवेति । (स्थानां. अभय. वृ. १८६, पृ. १५३) । २०. यदैव शब्दप्रवृत्तिनिमित्तं चेष्टादिकं तस्मिन् घटादिके वस्तुनि तदैवासौ युवतिमस्तकारूढ उदकाद्याहरणक्रियाप्रवृत्तो घटो भवति, न निर्व्यापारः, एवम्भूतस्यार्थस्य समाश्रयणादेवम्भूताभिधानो नयो भवति । (सूत्रकृ. शी. वृ. २, ७, ८१ पृ. १८९) । २१. शब्दाभिधेयक्रियापरिणतवेलायामेव 'तद्वस्तु' इति भूतः एवम्भूतः। ××× एकस्यापि ध्वनेर्वाच्यं सदा तन्नोपपद्यते । क्रियाभेदेन भिन्नत्वादेवम्भूतोऽभिमन्यते । (सम्मति. अभय. वृ. ३, पृ. ३१४ उद्.) ।

१ जो द्रव्य जिस प्रकार की क्रिया से परिणत हो, उसका उसी प्रकार से निश्चय कराने वाले नय को एवम्भूत नय कहते हैं ।

एवम्भूतनयाभास—१. क्रियानिरपेक्षत्वेन क्रियावाचकेषु काल्पनिको व्यवहारस्तदाभासः । (प्र. र. मा. ६–७४) । २. क्रियाऽनाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपंस्तु तदाभासः। (प्र. न. त. ७–४२)। ३. क्रियानाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपंस्तु तदाभास इति । स्वकीयक्रियारहितं तद्वस्तु तच्छब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपति न तु तदभ्युपगच्छतीदं न भवत्येवैतादृश एवम्भूताभासः । उदाहरणं यथा—विशिष्टचेष्टाशून्यं घटाख्यं वस्तु न घटशब्दवाच्यम्, घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वात् पटादि-

रिति । अनेन हि वाक्येन स्वक्रियारहितस्य घटादेर्वस्तुनो घटादिशब्दवाच्यतानिषेधः क्रियते, स च प्रमाणबाधित इत्येवंभूतनयाभासतयोक्तमिति । (नयप्रदीप पृ. १०४) ।

१ क्रियावाचक शब्दों में क्रिया-निरपेक्ष काल्पनिक व्यवहार को एवम्भूतनयाभास कहते हैं ।

एषरा—किमेषणम् ? असण-पाण-खादिय-सादियं । (धव. पु. १३, पृ. ५५) ।

अशन, पान, खाद्य और स्वाद्यरूप चार प्रकार के आहार को एषण कहते हैं ।

एसरणासमिति—१. कद-कारिदाणुमोदणरहिदं तह पासुगं पसत्थं च । दिण्णं परेण भत्तं संभुत्ती एसणासमिदी ।। (नि. सा. ६३;) । २. छादालदोससुद्धं कारणजुत्तं विसुद्धणवकोडी । सीदादी समभुत्ती परिसुद्धा एसणा समिदी ।। (मूला. १–१३) । ३. उग्गम-उप्पायण-एसणाहिं पिंडमुवधि सेज्जं च । सोधितस्स य मुणिणो विसुज्झए एसणासमिदी ।। (भ. आ. ११९७; मूला. ५–१२१) । ४. अन्न-पान-रजोहरण-पात्र-चीवरादीनां धर्मसाधनानामाश्रयस्य चोद्गमोत्पादनैषणादोषवर्जनमेषणासमितिः । (त. भा. ९–५) । ५. अन्नादावुद्गमादिदोषवर्जनमेषणासमितिः । अनगारस्य गुणरत्नसंचयसंवाहिशरीरशकटि समाधिपत्तनं निनीषतोऽक्षम्रक्षणमिव शरीरधारणमौषधमिव जाठराग्निदाहोपशमनिमित्तमन्नाद्यनास्वादयतो देश-कालसामर्थ्यादिविशिष्टमगर्हितमभ्यवहरत उद्गमोत्पादनैषणा-संयोजन-प्रमाण-कारणाङ्गार-धूमप्रत्ययनवकोटिपरिवर्जनमेषणासमितिरिति समाख्यायते । (त. वा. ९, ५, ६) । ६. एषणा गवेषणादिभेदा शङ्कादिलक्षणा वा, तस्यां समितिरेषणासमितिः । ××× उक्तं च—एषणासमितिर्नाम गोचरगतेन मुनिना सम्यगुपयुक्तेन नवकोटिपरिशुद्धं ग्राह्यमिति । (आव. हरि. वृ. पृ. ६१६) । ७. तत्रासमितस्य षण्णामपि कायानामुपघातः स्याद् अतस्तत्संरक्षणार्थमेषणासमितिः समस्तेन्द्रियोपयोगलक्षणा । (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ७–३); सम्यगेषणा गवेषणा आगमविधिना पिण्डादीनाम् । ××× एतद्दोषपरिहारेणान्न-पानादिग्रहणमेषणासमितिः । उक्तं च—उत्पादनोद्गमैषणधूमाङ्गार प्रमाणकारणतः । संयोजनाच्च पिण्डं शोधयतामेषणा समितिः ।। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ९-५) । ८. पिण्डशुद्धिविधानेन शरीरस्थितये तु यत् । आहारग्रहणं सा स्यादेषणासमितिर्यतेः ।। (ह. पु. २, १२४) । ९. अन्नादावुद्गमादिदोषवर्जनमेषणासमितिः । उद्गमादयो हि दोषा उद्गमोत्पादनैषण—संयोजन-प्रमाणाङ्गार-कारण-धूमप्रत्ययास्तेषां नवभिः कोटिभिः वर्जनं एषणासमितिरित्यर्थः । (त. श्लो. ९–५) । १०. पिण्डं तथोपधिं शय्यामुद्गमोत्पादनादिना । साधोः शोधयतः शुद्धा ह्येषणासमितिर्भवेत् ।। (त. सा. ६–९) । ११. एतैर्दोषैः (उद्गमादिषट्चत्वारिंशद्दोषैः) परिवर्जितमाहारग्रहणमेषणासमितिः । (चा. सा. पृ. ३१) । १२. उद्गमोत्पादसंज्ञैस्तैर्धूमाङ्गारादिगैस्तथा । दोषैर्मलैर्विनिर्मुक्तं विघ्नशंकादिवर्जितम् ।। शुद्धं काले परैर्दत्तमनुद्दिष्टमयाचितम् । अदतोऽन्नं मुनेर्ज्ञेया एषणासमितिः परा ।। (ज्ञानार्णव १८, १०–११) । १३. षट्चत्वारिंशद्दोषोना प्रासुकान्नादिकस्य या । एषणासमितिभुक्तिः स्वाध्याय-ध्यानहेतवे ।। (आचा. सा. १–२४) । १४. एषणायाः समितिरेषणासमितिः, लोकजुगुप्सादिपरिहीनविशुद्धपिण्डग्रहणम् । (मूला. वृ. १–१०) । १५. एषणा विशुद्धपिण्डग्रहणलक्षणा, तस्यां या समितिः । (योगशा. स्वो. विव. १–२६); द्विचत्वारिंशताभिक्षादोषैर्नित्यमदूषितम् । मुनिर्यदन्नमादत्ते सैषणासमितिर्मता ।। (योगशा. १–३८) । १६. विघ्नाङ्गारादिशङ्काप्रमुखपरिकरैरुद्गमोत्पाददोषैः, प्रस्मार्यं वीरचर्याजितममलमधःकर्ममुग्भावशुद्धम् । स्वान्यानुग्राहि देहस्थितिपटु विधिवद्दत्तमन्यैश्च भक्त्या, कालेऽन्नं मात्रयाश्नन् समितिमनुषजत्येषणायास्तपोभृत् । (अन. ध. ४–१६७) । १७. वायालमेषणाओ भोयणदोसे य पंच सोहेइ । सो एसणाइसमिओ । ×××।। (उपदे. मा. २९८; गु. गु. षट्. वृ. ३, पृ. १४ उ.) । १८. षट्चत्वारिंशता दोषैरन्तरायैर्मलैश्च्युतम् । आहारं गृह्णतः साधोरेषणासमितिर्भवेत् ।। (ध. सं. श्रा. ९–६) । १९. गवेषणग्रहणग्रासैषणादोषैरदूषितस्यान्न-पानादेः रजोहरण-मुखवस्त्रिकाद्यौधिकोपधेः शय्या-पीठ-फलक-चर्मदण्डाद्यौपग्रहिकोपधेश्च विशुद्धस्य यद् ग्रहणं सा एषणा समितिः । (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३–४७, पृ. १३१) । २०. एषणासमितिः—चर्मणाऽस्पृष्टस्योद्गमोत्पादादिदोषरहितस्य भोजनस्य पुनः पुनः शोधितस्य प्रासुकस्य भोजनस्य ग्रहणं या समितिर्भव-

ति सा तृतीया समितिः। (चा. प्रा. टी. ३६)। २१. सम्यगेषणासमितिरुच्यते— शरीरदर्शनमात्रेण प्राप्तमयाचितममृतसंज्ञं उद्गमोत्पादनादिदोषरहित-मजिनर्हिग्वादिभिरस्पृष्टं परार्थं निष्पन्नं काले भोजन-ग्रहणं सम्यगेषणासमितिर्भवति। (त. वृत्ति श्रुत. ८-५)। २२. षट्चत्वारिंशद्दोषपरिवर्जितम् आहार-ग्रहणं देश-कालसामर्थ्यादिविशिष्टं अगर्हितं नवकोटि-परिशुद्धं एषणासमितिः। (कार्तिके. टी. ३९६)। २३. एषणा समितिर्नाम्ना संक्षेपाल्लक्षणादपि। आहारशुद्धिराख्याता सर्वव्रतविशुद्धये॥ (लाटीसं. ५-२३१)।

१ कृत, कारित व अनुमोदना दोषों से रहित दूसरे के द्वारा दिये गये प्रासुक व प्रशस्त भोजन को ग्रहण करना, इसका नाम एषणासमिति है। ३ उद्गम, उत्पादन और एषण (अशन) दोषों से रहित आहार, उपधि एवं शय्या आदि के शुद्धिपूर्वक ग्रहण करने को एषणासमिति कहते हैं।

ऐकान्तिक मिथ्यात्व—देखो एकान्तमिथ्यात्व।

ऐदंपर्यशुद्ध—इदं परं प्रधानमस्मिन् वाक्य इतीदं-परम्, तद्भाव ऐदंपर्यं वाक्यस्य तात्पर्यं शक्तिरित्य-र्थस्तेन शुद्धम् आगमतत्त्वम्। (षोडशक वृत्ति १, १०)।

जो वाक्य अपने तात्पर्यरूप अर्थ से शुद्ध हो, अर्थात् अपने अभिप्राय को स्पष्ट व्यक्त करे, उसे ऐदंपर्य-शुद्ध (आगमतत्त्व) कहते हैं।

ऐन्द्रध्वज—१. महानैन्द्रध्वजोऽन्यस्तु सुरराजैः कृतो महः। (म. पु. ३८-३२)। २. ऐन्द्रध्वज इन्द्रादिभिः क्रियमाणो बलि-स्नपनं सन्ध्यात्रयेऽपि जगत्त्रयस्वा-मिनः पूजाभिषेककरणम्। (चा. सा. पृ. २१; कार्तिके. टी. ३९१)। ३. ××× सेन्द्राद्यैः साध्या त्विन्द्र-ध्वजो महः॥ (सा. ध. २-२६)। ४. अकृत्रिमेषु चैत्येषु कल्याणेषु च पंचसु। सुरैर्विनिर्मिता पूजा भवेत् सेन्द्रध्वजात्मिका॥ (भावसं. वाम. ५५९)। ५. इन्द्राद्यैः क्रियते पूजा सेन्द्रध्वज उदाहृता॥ (धर्मसं. श्रा. ९-३१)।

१ इन्द्रादि देवताओं के द्वारा की जाने वाली महती पूजा को ऐन्द्रध्वज कहते हैं।

ओघ—ओहो जं सामण्णं सुयाभिहाणं चउव्विहं तं च। अज्झयणं अज्झीणं आय ज्झवणा य पत्तेयं॥ (दशवै. नि. १-२७)। २. तत्रौघः सामान्यं श्रुता-भिधानम्। (दशवै. नि. हरि. वृ. १-२६)। ३. ओघं वृन्दं समूहः संपातः समुदयः पिण्डः अवशेषः अभिन्नः सामान्यमिति पर्यायशब्दाः। (धव. पु. ३, पृ. ९); ओघणिद्देसो दव्वट्ठियणयपदुप्पायणो, संग-हिदत्थादो। (धव. पु. ४, पृ. ३२२); ओघेण पिंडेण अभेदेणेत्ति एयट्ठो। (धव. पु. ४, पृ. १४४)। ओघेन द्रव्यार्थिकनयावलम्बनेन ×××। (धव. पु. ४, पृ. ९); संखित्तवयणकलावो दव्वट्ठियणिबंधणो ओघो णाम। (धव. पु. ५, पृ. २४३)।

१ सामान्य श्रुत का जो कथन है उसे ओघ कहा जाता है। वह चार प्रकार का है—अध्ययन, अक्षीण, आय और क्षपणा। ३ द्रव्यार्थिक नय के आश्रय से जो कथन किया जाता है वह ओघ कहलाता है। ओघ, वृन्द, समूह, सम्पात, समुदाय, पिण्ड, अवशेष, अभिन्न और सामान्य; ये पर्याय शब्द हैं।

ओघभव—ओघभवो णाम अट्ठकम्माणि अट्ठकम्मज-णिदजीवपरिणामो वा। (धव. पु. १६, पृ. ५१२)। आठ कर्मों को अथवा आठ कर्मों से उत्पन्न हुये जीव के परिणाम को ओघभव कहते हैं।

ओघमरण—ओघमरणं ओघः संक्षेपः पिण्ड इत्य-नर्थान्तरम्। जहा सव्वजीवाणं वि णं आउक्खए मरणं ति। (उत्तरा. चू. ५, पृ. १२६-२७)।

ओघ से—सामान्य से—मृत्यु का निर्देश करना, ओघमरण कहलाता है। जैसे—आयु का क्षय होने पर सभी का मरण होता है।

ओघसंज्ञा—१. ओघसंज्ञा तु अव्यक्तोपयोगरूपा वल्लिवितानारोहणादिलिङ्गा ज्ञानावरणीयाल्पक्ष-योपशमसमुत्था। (आचारा. शी. वृ. १, १, १, १, पृ. १२)। २. ज्ञानोपयोगरूपा ओघसंज्ञा संचरज्जन-मार्गं परिहरन्त्या वृत्त्याद्यारोहन्त्या लतादेरिव। (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. १६, पृ. ४७)।

१ ज्ञानावरण कर्म के अल्प क्षयोपशम से जो अव्यक्त ज्ञानोपयोगरूप संज्ञा होती है उसे ओघसंज्ञा कहते हैं। इसका निश्चय लतासमूह के आरोहण आदि रूप लिंग के द्वारा होता है।

ओघौद्देशिक— सामान्येन स्व-परविभागकरणा-भावरूपेण स्वार्थ एव पाकादौ कियद्भागभिक्षादान-बुद्ध्या कतिपयतण्डुलाधिकप्रक्षेपेण निर्वृत्तमोघौद्दे-शिकम्। (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३-२२, पृ. ३८)। स्व और पर का विभाग किये बिना अपने लिये

पकाये जाने वाले चावल आदि में से कुछ भाग को भिक्षार्थ देने के उद्देश से कुछ और चावल मिला कर पकाने को ओद्योद्देशिक कहते हैं।

ओज – ओजं दुविहं तेजोजं कलिओजं चेदि। तं जहा—जम्हि रासिम्हि चदुहि अवहिरिज्जमाणे तिण्णि ट्ठांति सो तेजोजं। चदुहि अवहिरिज्जाणे जम्हि एगं ठादि तं कलिओजं। (धव. पु. ३, पृ. २४६)।

जिस राशि में ४ का भाग देने पर ३ या १ शेष रहता है वह ओजराशि कही जाती है। वह तेजोज और कलिओज के भेद से दो प्रकार की है। जिस राशि में चार का भाग देने पर ३ अंक शेष रहें वह तेजोज तथा जिसमें ४ का भाग देने पर एक अंक शेष रहे वह कलिओज राशि कहलाती है।

ओज आहार—१. आरोह-परीणाहा चियमंसो इंदिया य पडिपुण्णा। अह ओओ। × × ×॥ (बृहत्क. २०५१)। २. तत्रौज आहारोऽपर्याप्तकावस्थायां कार्मणशरीरेण अम्बुनिक्षिप्ततप्तभाजनवत् पुद्गलादानं सर्वप्रदेशैर्यत् क्रियते जन्तुना प्रथमोत्पादकाले योनौ, अपूपेनेव प्रथमकालनिक्षिप्तेन घृतादेरिति। एष चान्तर्मुहूर्तिकः। (त. भा. सिद्ध. वृ. २–३१)। ३. यस्तु घ्राण-दर्शन-श्रावणैरुपलभ्यते धातुभावेन परिणमति स ओज आहारः। (सूत्रकृ. शी. वृ. २, ३, १७० पृ. ८८)। ४. सरिरेणो आहारो × × ×। (संग्रहणी सूत्र १४०, पृ. ६७)। ५. पक्खीणुज्जाहारो अंडयमज्झेसु वट्टमाणाणं। (प्रा. भावसं. ११२)। ६. आरोहो नाम शरीरेण नातिदैर्घ्यं नातिह्रस्वता, परिणाहो नाम नातिस्थौल्यं नातिदुर्बलता, अथवा आरोहः शरीरोच्छ्रायः, परिणाहः बाह्वोर्विष्कम्भः, एतौ द्वावपि तुल्यौ, न हीनाधिकप्रमाणौ × × × चितमांसत्वं नाम वपुषि पांसुलिका नावलोक्यन्ते, तथा इन्द्रियाणि च प्रतिपूर्णानि, न चक्षुः श्रोत्राद्यवयवविकलतेति भावः। 'अथ' एतद् आरोहादिकमोज उच्यते। (बृहत्क. क्षे. वृ. २०५१)। ७. शीर्यते उत्पत्तिक्षणादूर्ध्वं प्रतिक्षणं नश्यतीति शरीरम्। तेनव केवलेन य आहारः स ओज आहारः। इदमुक्तं भवति—यद्यपि शरीरमौदारिक-वैक्रियिकाहारक-तैजस-कार्मणभेदात् पञ्चधा, तथापीह तैजसेन तत्सहचारिणा कार्मणेन च शरीरेण पूर्वशरीरत्यागे विग्रहेण अविग्रहेण वोत्पत्तिदेशं प्राप्तो जन्तुर्यत् प्रथममौदारिकशरीरयोग्यान् पुद्गलानाहरति यच्च द्वितीयादिसमयेष्वौदारिकादिमिश्रेणाहारयति यावच्छरीरनिष्पत्तिः। यदुक्तम्—जोएण कम्मएणं आहारेइ अणंतरं जीवो। तेण परं मिस्सेणं जाव सरीरस्स निप्फत्ती॥ एष सर्वोऽप्योजस्तैजससरीरम्, तेन आहार ओज़आहारः। (संग्रहणी दे. वृ. १४०); ओज उत्पत्तिप्रदेशे स्वशरीरयोग्यपुद्गलसङ्घातस्तदाहारयन्ति, यद्वा ओजस्तैजसशरीरम्, तेनाऽऽहारो येषामित्योजआहाराः। (संग्रहणी दे. वृ. १४१)। ८. स सर्वोऽप्योजआहार ओजो देहार्हपुद्गलाः। ओजो वा तैजसः कायस्तद्रूपस्तेन वा कृतः॥ (लोकप्र. ३–११२५)।

१ आरोह—शरीर की ऊंचाई, परिणाह—दोनों भुजाओं का विस्तार, इन दोनों की हीनाधिकता के विना तुल्यता; चितमांसत्व—शरीर में पांशुलिकाओं का न दिखना; और परिपूर्ण इन्द्रियां; इन सब आरोहादि को ओज कहा जाता है। ७ पूर्व शरीर को छोड़कर तैजस और कार्मण शरीर के साथ मोडा लेकर या विना मोड़े के—ऋजुगति से—ही अपने उत्पत्तिस्थान को प्राप्त हुआ जीव प्रथम समय में औदारिकशरीर के योग्य तथा द्वितीयादि समयों में औदारिकमिश्र रूप से शरीर के पूर्ण होने तक जो आहार ग्रहण करता है, यह सब ओज—तैजसशरीर—कहलाता है; इससे जो आहार होता है वह ओज आहार कहलाता है।

ओवेल्लिम—एक्क-दु-तिउणसुत्त-डोरा-वेट्ठादिदव्वमोवेल्लणकिरियाणिप्पण्णमोवेल्लिमं णाम। (धव. पु. ९, पृ. २७३)।

ओवेल्लण क्रिया से उत्पन्न इकहरे, दुगुने और तिगुने सूत, डोरा एवं वेष्टन आदि द्रव्य ओवेल्लिम कहलाते हैं।

ओषधदान—रोगिभ्यो भैषजं देयं रोगो देहविनाशकृत्। देहनाशे कुतो ज्ञानं ज्ञानाभावे न निर्वृतिः॥ तस्मात् स्वशक्तितो दानं भैषज्यं मोक्षहेतवे। देहः स्वयं भवेऽन्यस्मिन् भवेद् व्याधिविवर्जितः॥ (उपासका. पृ. ६५–६६)।

रोगी के लिये शक्ति के अनुसार औषधि का देना ओषधदान कहलाता है।

ओषधिप्राप्त—एए अन्ने य बहू जेसिं सव्वे वि सुरहिणोऽवयवा। रोगोवसमसमत्था ते हुंति तओ-

सहिं पत्ता ॥ (प्रव. सारो. १४९७) ।

जिनके शरीर के सभी सुगन्धित अवयव जीवों के अनेक रोगों के नष्ट करने में समर्थ होते हैं उन साधुओं को ओषधिऋद्धिप्राप्त कहते हैं ।

ओसण्णमरण—देखो अवसन्न व आसन्न मरण ।

औत्पत्तिकी (अउप्पत्तिकी, उप्पत्तिया)—१. अउप्पत्तिकी भवंतरसुदविणएणं समुल्लसिदभावा । (ति. प. ४–१०२०) । २. औत्पत्तिकी अदृष्टाश्रुतपूर्वे वस्तुन्युपनते तत्क्षण एव समासादितोपयतनाऽव्याहतफला । (त. भा. हरि. वृ. ९–६, पृ. ४३३) । ३. पुव्वं अदिट्ठमसुअमवेइअतक्खणविसुद्धगहियत्था । अव्वाहयफलजोगा बुद्धी उप्पत्तिआ नाम ॥ (आव. नि. ९३९; गु. गु. षट्. स्वो. वृ. पृ. २८; नन्दी. गा. ६०, पृ. १४४; उपदेशपद ३९) । ४. तत्थ जम्मंतरे चउव्विहणिम्मलमदिबलेण विणएणावहारिदटुवालसंगस्स देवेसुप्पज्जिय मणुस्सेसु अविणट्ठसंसकारेणुप्पण्णस्स एत्थ भवम्मि पढण-सुणण-पुच्छणवावारविरहियस्स पण्णा अउप्पत्तिया णाम । (धव. पु. ९, पृ. ८२) । ५. उत्पत्तिरेव प्रयोजनं यस्याः सा औत्पत्तिकी बुद्धिः । (आव. नि. मलय. वृ. ९३, पृ. ५१९) ।

४ पूर्व जन्म में चार प्रकार की निर्मल मति के बल से विनय के साथ जिसने द्वादशांगश्रुत को अवधारण किया है, पश्चात् जो मरकर देवों में उत्पन्न हुआ और फिर उस पूर्व संस्कार के साथ मनुष्यों में उत्पन्न हुआ, उसके इस भव में पढ़ने, सुनने व पूछने आदि व्यापार के विना ही जो सहज स्वभाव से प्रकृष्ट बुद्धि उत्पन्न होती है उसे औत्पत्तिकी प्रज्ञा कहते हैं ।

औत्पत्तिकी छेदना (उप्पाइया छेदणा)—रत्तीए इंदाउहधूमकेउग्गादीणमुप्पत्ती पडिमारोहो भूमिकंप-रुहिरवरिसादओ च उप्पाइया छेदणा णाम, एतैरुत्पातैः राष्ट्रभङ्ग-नृपपातादितर्कणात । (धव. पु. १४, पृ. ४३६) ।

रात्रि में इन्द्रायुध और धूमकेतु आदि की उत्पत्ति, प्रतिमारोध, भूकम्प और रुधिरवर्षा आदि का होना; इसका नाम औत्पत्तिकी छेदना है । कारण यह कि इन उपद्रवों के द्वारा राष्ट्रविनाश और राजा के पतन का अनुमान होता है ।

औत्सर्गिक लिङ्ग—उत्कर्षेण सर्जनं त्यागः सकलपरिग्रहस्योत्सर्गः, उत्सर्गे त्यागे सकलग्रन्थपरित्यागे भवं लिङ्गमौत्सर्गिकम् । (भ. आ. विजयो. व मूला. ७७) ।

सकल परिग्रह के त्यागपूर्वक गृहीत यथाजात वेष को औत्सर्गिक लिङ्ग कहते हैं ।

औदयिक अज्ञान—१. ज्ञानावरणकर्मण उदयात् पदार्थानवबोधो भवति तदज्ञानमौदयिकम् । (स. सि. २–६) । २. ज्ञानावरणोदयादज्ञानम् । ज्ञस्वभावस्यात्मनः तदावरणकर्मोदये सति नावबोधो भवति, तदज्ञानमौदयिकम्, घनसमूहस्थगितदिनकरतेजोऽनभिव्यक्तिवत् । तद्यथा—एकेन्द्रियस्य रसन-घ्राण-श्रोत्र-चक्षुषामिन्द्रियाणां प्रतिनियताभिनिबोधिकज्ञानावरणस्य सर्वघातिस्पर्धकस्योदयात् रस-गन्ध-शब्द-रूपाज्ञानं यत्तदौदयिकम् । ××× (त. वा. २, ६, ५) । ३. जाव दु केवलणाणस्सुदओ ण हवेदि ताव अण्णाणं । (भा. त्रि. १८) । ४. ज्ञानावरणसामान्यस्योदयादुपवर्णितम् । जीवस्याज्ञानसामान्यमन्यथानुपपत्तितः ॥ (त. श्लो. २, ६, ६) । ५. ज्ञानावरणकर्मोदयात् पदार्थाऽपरिज्ञानमज्ञानमौदयिकम् । (त. वृत्ति श्रुत. २–६) । ६. अस्ति यत्पुनरज्ञानमर्थादौदयिकं स्मृतम् । तदस्ति शून्यतारूपं यथा निश्चेतनं वपुः ॥ (पञ्चाध्यायी २–१०१९); अज्ञानं जीवभावो यः स स्यादौदयिकः स्फुटम् । लब्धजन्मोदयाद्यस्माज्ज्ञानावरणकर्मणः ॥ (पञ्चाध्यायी २–१०९९) ।

१ ज्ञानावरण कर्म के उदय से जो पदार्थों का बोध नहीं होता है उसे औदयिक अज्ञान कहते हैं ।

औदयिक असंयत—१. चारित्रमोहस्य सर्वघातिस्पर्धकस्योदयात् असंयत औदयिकः । (स. सि. २–६; त. वृत्ति श्रुत. २–६) । २. चारित्रमोहोदयादनिवृत्तिपरिणामोऽसंयतः । चारित्रमोहस्य सर्वघातिस्पर्धकस्योदयात् प्राण्युपघातेन्द्रियविषये द्वेषाभिलापनिवृत्तिपरिणामरहितोऽसंयतः औदयिकः । (त. वा. २, ६, ६) । ३. वृत्तिमोहोदयात् पुंसोऽसंयतत्वं प्रचक्षते । (त. श्लो. २, ६, १०) । ४. ४. असंयतत्वमस्यास्ति भावोऽप्यौदयिको यतः । पाकाच्चारित्रमोहस्य कर्मणो लब्धजन्मवान् ॥ (पञ्चाध्यायी २–१११६) ।

२ चारित्रमोहनीय कर्म के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय से जो प्राणिपीड़न और इन्द्रियविषय में

विरक्ति नहीं होती है, यह औदयिक असंयत भाव है।

औदयिक असिद्ध—१. कर्मोदयसामान्यापेक्षोऽसिद्ध औदयिकः। (स. सि. २–६)। २. कर्मोदयसामान्यापेक्षोऽसिद्धः। अनादिकर्मबन्धनसन्तानपरतंत्रस्यात्मनः कर्मोदयसामान्ये सति असिद्धत्वपर्यायो भवतीत्यौदयिकः। (त. वा. २, ६, ७)। ३. कर्ममात्रोदयादेवासिद्धत्वं प्रणिगद्यते। (त. श्लो. २, ६, १०)। ४. कम्माण विप्पमुक्को जाव ण ताव दु असिद्धत्तं। (भा. त्रि. १८)। ५. कर्मोदयसाधारणापेक्षयाऽसिद्धः सोऽप्यौदयिकः। (त. वृत्ति श्रुत. २-६)। ६. असिद्धत्वं भवेद् भावो नूनमौदयिको यतः। व्यस्ताद्वा स्यात्समस्ताद्वा जातः कर्माष्टकोदयात्॥ (पंचाध्यायी २, ११३८)।

१ कर्मोदय सामान्य की अपेक्षा होने वाली असिद्धत्व अवस्था को औदयिक असिद्ध भाव कहते हैं।

औदयिक गुण—कर्मणामुदयादुत्पन्नो गुणः औदयिकः। (धव. पु. १, पृ. १६१)।

कर्मों के उदय से उत्पन्न हुये गुण को औदयिक गुण कहा जाता है।

औदयिक गुणयोग—तत्थ गदि-लिंग-कसायादीहिं जीवस्स जोगो ओदइयगुणजोगो। (धव. पु. १०, पृ. ४३३)।

गति, लिङ्ग और कषाय आदि औदयिक भावों के साथ जो जीवका सम्बन्ध होता है उसे औदयिक सचित्तगुणयोग कहते हैं।

औदयिक भाव—१. तत्थ उदइय त्ति उदये भवः औदयिकः। अट्ठविहकम्मा पोग्गला संतावत्थातो उदीरणावलियमतिक्रांता अप्पणो विपागेण उदयावलियाए वट्टमाणा उदिन्नाओ त्ति उदयभावो भन्नति, उदयणिप्फण्णो णाम उदिण्णेण जेण अण्णो णिप्फादितो सो उदयणिप्फण्णो। सो दुविहो जीवदव्वे अजीवदव्वे वा। तत्थ जीवे कम्मोदएण जो जीवस्स भावो णिव्वत्तितो, जहा णेरइते इत्यादि। (अनुयो. चू. पृ. ४२)। २. कर्मविपाक उदयः, उदय एव औदयिकः, स चाष्टानां कर्मप्रकृतीनामुदयः, तत्र भवस्तेन वा निर्वृत्त औदयिकः। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ३७)। ३. कर्मविपाकाविर्भाव उदयः, तत्प्रयोजनस्तन्निर्वृत्तो वा औदयिको भावः। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. २–१)। ४ कम्मोदयजणिदो भावो ओदइओ णाम। (धव. पु. ५, पृ. १८५)। ५. ये पुनः पुद्गलाः गति-कषायादिपरिणामकारिणः तेषामुदयः अनुभूयमानता या स उदयस्तेन निर्वृत्तोऽध्यवसाय औदयिक इति। (त. भा. सिद्ध. वृ. १–५)। ६. कम्मुदयजकम्मिगुणो ओदयियो तत्थ होदि भावो दु। (गो. क. गा. ८१५)। ७. उदयेन निर्वृत्त औदयिकः। (पञ्चसं. मलय. वृ. २-३)। ८. सर्वः शुभाशुभभेदेन द्विप्रकारोऽपि उदयलक्षणः कर्मोदयनिष्पन्नत्वरूप औदयिकः। (आव. भा. मलय. वृ. १८६, पृ. ५७८); कर्मण उदयेन निर्वृत्त औदयिकः। (आव. भा. मलय. वृ. २०२, पृ. ५६३)। ९. कर्मोदयाद् भवो भावो जीवस्यौदयिकस्तु यः। (भा. सं. वाम. ९)। १०. नारकादौ कर्मण उदये सति जीवस्य जायमानो भावः औदयिकः। (त. वृत्ति श्रुत. २–१)। ११. कर्मणामुदयाद्यः स्याद् भावो जीवस्य संसृतौ। नाम्नाऽप्यौदयिकोऽन्वर्थात् परं बन्धाधिकारवान्। (पञ्चाध्यायी २–९६७)।

४ कर्म के उदय से उत्पन्न भाव औदयिक भाव कहे जाते हैं।

औदयिक मिथ्यादर्शन—१. मिथ्यादर्शनकर्मण उदयात् तत्त्वार्थाश्रद्धानपरिणामो मिथ्यादर्शनमौदयिकम्। (स. सि. २–६)। २. दर्शनमोहोदयात् तत्त्वार्थाश्रद्धानपरिणामो मिथ्यादर्शनम्। तत्त्वार्थरुचिस्वभावस्यात्मनस्तत्प्रतिबन्धकारणस्य दर्शनमोहोदयात् तत्त्वार्थेषु निरूप्यमाणेष्वपि न श्रद्धानमुत्पद्यते तन्मिथ्यादर्शनमौदयिकम् इत्याख्यायते। (त. वा. २–६)। ३. मिच्छत्तकम्मस्स उदएण उप्पण्णमिच्छत्तपरिणामो कम्मोदयजणिदो त्ति ओदइओ। (धव. पु. ५, पृ. १९४)। ४. दृष्टिमोहोदयात् पुंसो मिथ्यादर्शनमिष्यते। (त. श्लो. २, ६, ६)। ५. तत्त्वार्थानामश्रद्धानलक्षणपरिणामनिर्वर्तकमिथ्यात्वमोहकर्मोदयान्मिथ्यादर्शनमौदयिकम्। (त. वृ. श्रुत. २–६)।

१ मिथ्यात्व कर्म के उदय से तत्त्वार्थ के अश्रद्धानरूप जो परिणाम होता है उसे औदयिक मिथ्यादर्शन कहते हैं।

औदयिकी भावलेश्या—१. भावलेश्या कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकी। (स. सि. २–६)। २. कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिर्लेश्या॥ ××× भावलेश्याकषायोदयरञ्जिता योग-

प्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकीत्युच्यते। (त. वा. २, ६, ८)। ३. कषायोदयतो योगप्रवृत्तिरुपदर्शिता। लेश्या जीवस्य कृष्णादिषड्भेदा भावतोऽनघैः॥ (त. श्लो. २, ६, ११)।

१ कषाय के उदय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति को औदयिकी भावलेश्या कहते हैं।

औदयिकी वेदना— अट्ठकम्मजणिदा ओदइया वेयणा। (धव. पु. १०, पृ. ८)।

आठ कर्मों के उदय से उत्पन्न हुई वेदना को औदयिकी वेदना कहते हैं।

औदारिककाययोग—१. पुरु महमुदारुरालं एयट्ठं तं वियाण तम्हि भवं। ओरालियं त्ति वुत्तं ओरालियकायजोगो सो॥ (प्रा. पञ्चसं. १–९३; धव. पु. १, पृ. २९१ उद्.; गो. जी. २२९)। २. औदारिककायेन योगः औदारिककाययोगः—औदारिककायावष्टम्भोपजातक्रियाभिसम्बन्धः औदारिककाययोगः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–१)। ३. औदारिकशरीरजनितवीर्याज्जीवप्रदेशपरिस्पन्दनिबन्धनप्रयत्न औदारिककाययोगः। (धव. पु. १, पृ. २९९); औदारिककाययोगो निष्पन्नशरीरावष्टम्भबलेनोत्पन्नजीवप्रदेशपरिस्पन्देन योगः औदारिककाययोगः। (धव. पु. १, पृ. ३१६)। ४. उदारैः शेषपुद्गलापेक्षया स्थूलैः पुद्गलैर्निर्वृत्तमौदारिकम्, तच्च तच्छरीरं चेति समासस्तस्य काययोगः औदारिकशरीरकाययोगः। (औपपा. अभय. वृ. ४२, पृ. ११०)। ५. उदारं प्रधानम्, उदारमेवौदारिकम्। प्राधान्यं चेह तीर्थंकर-गणधरशरीरापेक्षया वेदितव्यम्। ××× अथवा उदारं सातिरेकयोजनसहस्रमानत्वाच्छेषशरीरेभ्यो बृहत्प्रमाणम्, उदारमेवौदारिकम्। ××× औदारिकमेव चीयमानत्वात्कायः, तेन सहकारिकारणभूतेन तद्विषयो वा योगः औदारिककाययोगः। (षडशीति हरि. व मलय. वृ. ३४, पृ. १६३ व १६५; शतक. मल. हेम. वृ. २, पृ. ५)। ६. औदारिककायार्था या आत्मप्रदेशानां कर्म-नोकर्माकर्षणशक्तिः स एव काययोगः। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टीका २३०)।

३ औदारिक शरीर के आश्रय से उत्पन्न हुई शक्ति से जो जीव के प्रदेशों के परिस्पन्दन का कारणभूत प्रयत्न होता है, उसे औदारिककाययोग कहते हैं।

औदारिक-कार्मणबन्धन—१. तेषामेवौदारिकपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च कार्मणपुद्गलैर्गृह्यमाणैः पूर्वगृहीतैश्च सह सम्बन्ध औदारिक-कार्मणबन्धनम्। (कर्मप्र. यशो. टी. १, पृ. ७; पंचसं. मलय. वृ. ३–११)। २. येनौदारिकपुद्गलानां कार्मणशरीरपुद्गलैः सह सम्बन्धो विधीयते तत् औदारिक-कार्मणबन्धननाम। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ३६, पृ. ४८)।

२ जिसके द्वारा औदारिक पुद्गलों का कार्मणशरीर सम्बन्धी पुद्गलों के साथ सम्बन्ध किया जाता है उसे औदारिक-कार्मणबन्धन नामकर्म कहते हैं।

औदारिक-कार्मणशरीर-नोकर्मबन्ध— औदारिक-कार्मणशरीर-नोकर्मप्रदेशानामन्योन्यानुप्रवेश औदारिक-कार्मणशरीर-नोकर्मबन्धः। (त. वा. ५, २४, ९)।

औदारिकशरीर और कार्मणशरीर नोकर्मप्रदेशों के परस्पर में प्रवेशरूप बन्ध को औदारिक-कार्मणशरीर-नोकर्मबन्ध कहते हैं।

औदारिक-कार्मणशरीरबन्ध — ओरालियखंधाणं कम्मइयखंधाणं च एक्कम्हि जीवे ट्ठिदाणं जो बंधो सो ओरालिय-कम्मइयशरीरबंधो णाम। (धव. पु. १४, पृ. ४२)।

एक जीव में स्थित औदारिक और कार्मण स्कन्धों का जो बन्ध होता है उसका नाम औदारिक कार्मणशरीरबन्ध है।

औदारिक-तैजस-कार्मणबन्ध—औदारिकपुद्गलानां तैजसपुद्गलानां कार्मणपुद्गलानां च गृहीत-गृह्यमाणानां यो मिथः सम्बन्धस्तदौदारिक-तैजस-कार्मणबन्धनं नाम। (कर्मप्र. यशो. टी. १, पृ. ७)।

पूर्वगृहीत और गृह्यमाण औदारिक, तैजस व कार्मण पुद्गलों का जो परस्पर में सम्बन्ध होता है उसे औदारिक-तैजस-कार्मणबन्ध कहते हैं।

औदारिक-तैजस-कार्मणशरीरनोकर्मबन्ध— औदारिक-तैजस-कार्मणशरीर-नोकर्मप्रदेशानामन्योन्यानुप्रवेश औदारिक-तैजस-कार्मणशरीरनोकर्मबन्धः। (त. वा. ५, २४, ९)।

औदारिकशरीर, तैजसशरीर और कार्मणशरीर के नोकर्मप्रदेशों के परस्पर में प्रवेशरूप बन्ध को औदारिक-तैजस कार्मणशरीर नोकर्मबन्ध कहते हैं।

औदारिक-तैजस-कार्मणशरीरबन्ध— ओरालिय-तेया-कम्मइयसरीरखंधाणं एक्कम्हि जीवे णिविट्ठाणं जो अण्णोण्णेण बंधो सो ओरालिय-तेया-कम्मइय-सरीरबंधो णाम। (धव. पु. १४, पृ. ४३)।

एक जीव में स्थित औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर सम्बन्धी स्कन्धों का जो परस्पर में बन्ध होता है, उसे औदारिक-तैजस-कार्मणशरीरबन्ध कहते हैं।

औदारिक-तैजसबन्धननाम—१. येनौदारिकपुद्गलानां तैजसशरीरपुद्गलैः सह सम्बन्धो विधीयते तत् औदारिक-तैजसबन्धनं नाम। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ३६, पृ. ४८)। २. तेषामेवौदारिकपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च तैजसपुद्गलैर्गृह्यमाणैः पूर्वग्रहीतैश्च सह सम्बन्ध औदारिक-तैजस-बन्धनम्। (कर्मप्र. यशो. टी. १, पृ. ७; पंचसं. मलय. वृ. ३–११)।

१ जिसके द्वारा औदारिकशरीर सम्बन्धी पुद्गलों का तैजसशरीर सम्बन्धी पुद्गलों के साथ सम्बन्ध किया जाता है, उसे औदारिक-तैजसबन्धन नामकर्म कहते हैं।

औदारिक-तैजसशरीरबन्ध— ओरालियसरीरपोग्गलाणं तेयासरीरपोग्गलाणं च एक्कम्हि जीवे जो परोप्परेण बंधो सो ओरालिय-तेयासरीरबंधो णाम। (धव. पु. १४, पृ. ४२)।

एक जीव में स्थित औदारिकशरीर सम्बन्धी पुद्गलों का और तैजसशरीर सम्बन्धी पुद्गलों का जो परस्पर में बन्ध होता है उसे औदारिक-तैजसशरीर-बन्ध कहते हैं।

औदारिकनाम—ओरालियं सरीरं उदएण होइ जस्स कम्मस्स। तं ओरालियनामं ×××॥ (कर्मवि. ग. ८६, पृ. ३६)।

जिस कर्म के उदय से औदारिकशरीर होता है, उसे औदारिकनामकर्म कहते हैं।

औदारिकमिश्र—यदौदारिकमारब्धं न च पूर्णीकृतं भवेत्। तावदौदारिकमिश्रः कार्मणेन सह ध्रुवम्॥ (लोकप्र. ३–१३०८)।

प्रारम्भ किया हुआ औदारिकशरीर जब तक पूर्ण नहीं होता है तब तक वह कार्मणशरीर के साथ औदारिकमिश्र कहलाता है।

औदारिकमिश्रकाययोग—१. अंतोमुहुत्तमज्झं वियाण मिस्सं अपरिपुण्णं त्ति। जो तेण संपओगो ओरालियमिस्सकायजोगो सो॥ (प्रा. पंचसं. १, ९४; धव. पु. १, पृ. १६१ उद्.; गो. जी. २३१)। २. सः (औदारिककाययोगः) एव कार्मणसहचरित औदारिकमिश्रकाययोगः केवलिसमुद्घाते द्वितीय-षष्ठ-सप्तमसमयेषु समस्ति। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६-१)। ३. कार्मणौदारिकस्कन्धाभ्यां जनितवीर्यात्तत्परिस्पन्दनार्थः प्रयत्नः औदारिकमिश्रकाययोगः। (धव. पु. १, पृ. २९०); कार्मणौदारिकस्कन्धनिबन्धन जीवप्रदेशपरिस्पन्देन योगः औदारिकमिश्रकाययोगः। (धव. पु. १, पृ. ३१६)। ४. ××× मिश्रोऽपर्याप्त इष्यते॥ (पंचसं. अमित. १–१७२)। ५. औदारिकं मिश्रं यत्र, कार्मणेनेति गम्यते, स भवत्यौदारिकमिश्रः। (शतक. मल. हेम. वृ. २–३, पृ. ५)। ६. तदेवान्तर्मुहूर्तपर्यन्तमपूर्णमपर्याप्तं तावन्मिश्रमित्युच्यतेऽपर्याप्तकालसम्बन्धिसमयत्रयसम्भविकार्मण-काययोगाकृष्टकार्मणवर्गणासंयुक्तत्वेन, परम गमरूढ्या वा ऽपर्याप्तम्, अपर्याप्तशरीरं मिश्रमित्यर्थः। ततः कारणादौदारिककायमिश्रेण सह तदर्थं वर्तमानो यः संप्रयोग आत्मनः कर्म-नोकर्मादानशक्तिप्रदेशपरिस्पन्दयोगः स शरीरपर्याप्तिनिष्पत्यभावेनौदारिक-वर्गणास्कन्धानां परिपूर्णशरीरपरिणमनासमर्थ औदारिकमिश्रकाययोगः। (गो. जी. जी. प्र. टी. २३१)।

३ कार्मण और औदारिक स्कन्धों से उत्पन्न हुई शक्ति से जो जीवप्रदेशों के परिस्पन्दन के लिये प्रयत्न होता है, उसे औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं। यह अपर्याप्त अवस्था में हुआ करता है।

औदारिकशरीर—१. उदारं स्थूलम्, उदारे भवमौदारिकम्, उदारं प्रयोजनमस्येति वा औदारिकम्। (स. सि. २–३६) २. उद्गतारमुदारम्, उत्कटारमुदारम्, उद्गम एव वोदारम्, उपादानात्प्रभृति अनुसमयमुद्गच्छति वर्धते जीर्यते शीर्यते परिणमतीत्युदारम्, उदारमेवौदारिकम्। ××× यथोद्गमं वा निरतिशेषम्, ग्राह्यं छेद्यं भेद्यं दाह्यं हार्यमित्युदाहरणादौदारिकम्। ××× उदारमिति च स्थूलनाम स्थूलमुद्गतं पुष्टं बृहन्महदिति, उदारमेवौदारिकम्। (त. भा. २–४६)। ३. उदारात् स्थूलवाचिनो भवे प्रयोजने वा ठञ्। उदारं स्थूलमिति यावत्, ततो भवे प्रयोजने वा ठञि औदारिकमिति भवति। (त. वा. २, ३६, ५)। ४. उदारं

बृहत्, स्थूरद्रव्यमित्यर्थः, तन्निर्वृत्तमौदारिकम्; औदारिकशरीरनामकर्मोदयनिष्पन्नं वौदारिकम्। (त. भा. हरि. वृ. २-३७)। ५. असारस्थूलवर्गणानिर्मापितमौदारिकशरीरम्। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८-१२)। ६. तत्थ ताव उदारं उरालं उरलं उरालियं वा उदारियं, तित्थगर-गणधरसरीराइं पडुच्च उदारम्, उदारं नाम प्रधानं, उरालं नाम विस्तरालं विशालं ति वा जं भणितं होति, × × × उरलं नाम स्वल्पप्रदेशोपचितत्वात् वृहत्वाच्च भिण्डवत्, उरालं नाम मांसास्थिस्नाय्वाद्यवयवबद्धत्वात्। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ८७)। ७. पुरुमहदुदारुरालं एयट्ठो संविजाण तम्हि भवं। ओरलियं तमुच्चइ ओरालियकायजोगो सो॥ (प्रा. पंचसं. १-९३; गो. जी. २३०)। ८. उदारैः पुद्गलैर्निवृत्तमौदारिकम्। (आव. नि. हरि. वृ. १४३४, पृ. ७६७)। ९. खुद्दाभवग्गहणप्पहुडि जाव तिण्णि पलिदोवमसंचिदपदेसकलाओ ओरालियसरीरं णाम। (धव. पु. १४, पृ. ७८)। १०. उरालैः पुद्गलैर्निवृत्तमौदारिकम्, उदारैर्निवृत्तमौदारिकं च। (पंचसं. स्वो. वृ. १-४, पृ. ३)। ११. उदारं स्थूलं प्रयोजनमस्येत्यौदारिकम्, उदारे भवमिति वा। (त. श्लो. २-३६)। १२. उदारं बृहदसारं यद् द्रव्यं तन्निर्वृत्तमौदारिकमसारस्थूलद्रव्यवर्गणासमारब्धमौदारिकप्रायोग्यपुद्गलग्रहणकारणपुद्गलविपाक्यौदारिकशरीरनामकर्मोदयनिष्पन्नम्। (त. भा. सिद्ध. वृ. २-३७)। १३. उदारे यो भवः स्थूले यस्योदारं प्रयोजनम्। औदारिकोऽस्त्यसौ कायः × × ×॥ (पंचसं. अमित. १-१७२)। १४. औदारिकवर्गणापुद्गलैः जातं औदारिकशरीरम्। (कर्मस्तव गो. वृ. ९-१०, पृ. ८४)। १५. उदारं प्रधानं यद्वा उदारं बृहत्प्रधानम्, उदारमेवौदारिकम्। (जीवाजी. मलय. वृ. १-१३)। १६. उदारं प्रधानम्, प्राधान्यं तीर्थंकर-गणधरशरीराण्यधिकृत्य, ततोऽन्यस्यानुत्तरशरीरस्याप्यनन्तगुणहीनत्वात्। यद्वा उदारं सातिरेकयोजनसहस्रमानत्वात्, शेषशरीरापेक्षया बृहत्प्रमाणम्, बृहत्ता चास्य वैक्रियं प्रति भवधारणीयसहजशरीरापेक्षया द्रष्टव्या। × × × उदारमेव औदारिकम्। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २१-२६७, पृ. ४०९)। १७. स्थूलपुद्गलोपचितमूर्त्यौदारिकम्। (संग्रहणी दे. वृ. २७२)। १८. उदारैः पुद्गलैर्जातं जिनदेहाद्यपेक्षया। उदारं सर्वतस्तुङ्गमिति चौदारिकं भवेत्। (लोकप्र. ३-६६)। १९. औदारिकनामकर्मोदयनिमित्तम् औदारिकम्, चक्षुरादिग्रहणोचितं स्थूलं शरीरम् औदारिकशरीरमित्युच्यते। उदारं स्थूलमिति पर्यायः, उदारे भवं वा औदारिकम्, उदारं स्थूलं प्रयोजनमस्येति वा औदारिकम्। (त. वृत्ति श्रुत. २-३६)। २०. औदारिककायः औदारिकशरीरनामकर्मोदयसम्पादितः औदारिकशरीराकारः स्थूलपुद्गलस्कन्धपरिणामः। (गो. जी. म. प्र. व जी. प्र. टी. २३०)।

१ उदार का अर्थ स्थूल होता है, उदार में जो होता है अथवा जिसका प्रयोजन उदार या स्थूल है वह औदारिकशरीर कहलाता है। ४ उदार का अर्थ स्थूल द्रव्य होता है, उस स्थूल द्रव्य से जो शरीर निर्मित होता है उसे औदारिक शरीर कहते हैं। अथवा औदारिकशरीरनामकर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले शरीर को औदारिकशरीर जानना चाहिए।

औदारिकशरीरनाम—१. तत्प्रायोग्य- (औदारिकशरीरप्रायोग्य-)पुद्गलग्रहणकारणं यत् कर्म तदौदारिकशरीरनामोच्यते। (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ८-१२)। २. जस्स कम्मस्स उदएण आहारवग्गणाए पोग्गलक्खंधा जीवेणोगाहदेसट्ठिदा रस-रुहिर-मांस-मेदट्ठि-मज्ज - सुक्कसहावओरालियसरीरसरूवेण परिणमंति तस्स ओरालियसरीरमिदि सण्णा। (धव. पु. ६, पृ. ६९)। ३. यस्य कर्मण उदयादौदारिकवर्गणापुद्गलान् गृहीत्वा औदारिकशरीरत्वेन परिणमयति तदौदारिकशरीरनाम। (प्रव. सारो. वृ. १२६३; कर्मस्तव गो. वृ. ९-१०, पृ. ८५; शतक. मल. हेम. वृ. ३७-३८, पृ. ४८)। ४. यदुदयवशादौदारिकशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय औदारिकशरीररूपतया परिणमयति परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योऽन्यानुगमरूपतया सम्बन्धयति तदौदारिकशरीरनाम। (षष्ठ कर्म. मलय. वृ. ६; प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३-२९३, पृ. ४६८; पंचसं. मलय. वृ. ३-५, पृ. ११४; कर्मप्र. यशो. टी. १, पृ. ४)। ५. यदुदयादाहारवर्गणागतपुद्गलस्कन्धाः जीवगृहीता रस-रुधिर-मांसास्थि-मज्जा-शुक्रस्वभावौदारिकशरीरं भवन्ति तदौदारिकशरीरनाम। (मूला. वृ. १२-१९३)।

२ जिस कर्म के उदय से जीव के द्वारा ग्रहण किये गये आहारवर्गणारूप पुद्गलस्कन्ध जीव के द्वारा अवगाहित देश में स्थित होते हुए रस, रुधिर, मांस, मेदा, हड्डी, मज्जा और शुक्र स्वभाव वाले औदारिक शरीररूप से परिणत होते हैं उसे औदारिकशरीर नामकर्म कहते हैं।

औदारिकशरीरबन्धननाम—१. जस्स कम्मस्स उदएण ओरालियसरीरपरमाणू अण्णोण्णबंधमागच्छंति तमोरालियसरीरबंधणं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ७०)। २. यस्य कर्मण उदयेनौदारिकशरीरपरमाणवोऽन्योन्यबन्धमागच्छन्ति तदौदारिकशरीरबन्धनं नाम। (मूला. वृ. १२–१९३)। ३. पूर्वगृहीतैरौदारिकपुद्गलैः सह गृह्यमाणानौदारिकपुद्गलानुदितेन येन कर्मणा बध्नात्यात्मा—परस्परसंसक्तान् करोति—तदौदारिकबन्धनं नाम। (प्रव. सारो. वृ. १२६३)। ४. यदुदयादौदारिकशरीरपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परं तैजसादिशरीरपुद्गलैश्च सह सम्बन्धः तदौदारिकबन्धनम्। (षष्ठ कर्म. मलय. वृ. ६, पृ. १२४; प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३–२९३, पृ. ४७०)। ५. पूर्वगृहीतैरौदारिकपुद्गलैः सह परस्परं गृह्यमाणान् औदारिकपुद्गलान् उदितेन येन कर्मणा बध्नाति—आत्माऽन्योन्यसंयुक्तान् करोति, तद् औदारिकशरीरबन्धननाम. दारु-पाषाणादीनां जतु-रालाप्रभृतिश्लेपद्रव्यतुल्यम्। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ३४, पृ. ४६)।

१ जिस कर्म के उदय से औदारिकशरीर के परमाणु परस्पर बन्ध को प्राप्त होते हैं, उसे औदारिकशरीरबन्धन नामकर्म कहते हैं।

औदारिकशरीरसंघातनाम—१. जस्स कम्मस्स उदएण ओरालियक्खंधाणं सरीरभावमुवगयाण बंधणणामकम्मोदएण एगबंधणबद्धाणं मट्ठत्तं होदि तमोरालियसरीरसघादं णाम। (धव. पु. ६, पृ. ७०)। २. यस्य कर्मण उदयेनौदारिकशरीरस्कन्धानां शरीरभावमुपगतानां बन्धननामकर्मोदयेनैकबन्धनबद्धानामौदार्यं भवति तदौदारिकशरीरसंघातनाम। (मूला. वृ. १२–१९३)। ३. यस्य कर्मण उदयादौदारिकशरीरपरिणतान् पुद्गलानात्मा संघातयति पिण्डयत्यन्योन्यसंनिधानेन व्यवस्थापयति तदौदारिकसंघातनाम। (प्रव. सारो. वृ. १२६०; कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ३४, पृ. ४७)। ४. यदुदयादौदारिकपुद्गला ये यत्र योग्यास्तान् तत्र संघातयति × × × तदौदारिकसंघातनाम। (षष्ठ क. मलय. वृ. ६)। ५. यदुदयवशादौदारिकपुद्गला औदारिकशरीररचनानुकारिसंघातरूपा जायन्ते तदौदारिकसंघातनाम। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३–२९३, पृ. ४७०)।

१ शरीरभाव को प्राप्त तथा बन्धननामकर्म के उदय से एकबन्धनबद्ध औदारिकशरीर के स्कन्ध जिस कर्म के उदय से पुष्टता को प्राप्त होते हैं—छिद्ररहित एकरूप होते हैं, उसे औदारिकशरीरसंघात नामकर्म कहते हैं।

औदारिकशरीरांगोपांगनाम—१. जस्स कम्मस्स उदएण ओरालियसरीरस्स अंगोवंग-पच्चंगाणि उप्पज्जंति तं ओरालियशरीरअंगोवंगणामं। (धव. पु. ६, पृ. ७३)। २. यस्य कर्मण उदयेनौदारिकांगोपांगानि भवन्ति तदौदारिकांगोपांगं नाम। (मूला. वृ. १२–१९४)। ३. यदुदयादौदारिकशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गोपाङ्गविभागेन परिणतिरुपजायते तदौदारिकशरीराङ्गोपाङ्गनाम। (प्रज्ञाप. मलय. वृ. २३–२९३, पृ. ४६८; पंचसं. मलय. वृ. ३–६; प्रव. सारो. वृ. १२६३; कर्मस्तव. गो. वृ. ९–१०, पृ. ८५; शतक. मल. हे. वृ. ३७–३८, पृ. ४८; कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ३३, पृ. ४६; कर्मप्र. यशो. टी. १, प. ४)।

१ जिस कर्म के उदय से औदारिकशरीररूप से परिणत पुद्गलों के अंग, उपांग और प्रत्यंग उत्पन्न होते हैं उसे औदारिकशरीराङ्गोपाङ्ग नामकर्म कहते हैं।

औदारिकौदारिकबन्धननाम—१. पूर्वगृहीतानामौदारिकपुद्गलानां स्वैरेवौदारिकपुद्गलैर्गृह्यमाणैः सह यः सम्बन्धः स औदारिकौदारिकबन्धनम्। (पंचसं. मलय. वृ. ३–११, पृ. १२१; कर्मप्र. यशो. टी. १, पृ. ७)। २. पूर्वगृहीतैरौदारिकशरीरपुद्गलैः सह गृह्यमाणौदारिकपुद्गलानां बन्धो येन क्रियते तद् औदारिकौदारिकबन्धननाम। (कर्मवि. दे. स्वो. वृ. ३६)।

१ पूर्वगृहीत औदारिकशरीर के पुद्गलों का गृह्यमाण अपने ही औदारिक पुद्गलों के साथ जो सम्बन्ध होता है उसे औदारिकौदारिकबन्धन कहते है। यह जिस कर्म के उदय से होता है वह औदारिकौदारिकबन्धन नामकर्म कहलाता है।

औदारिकौदारिकशरीरनोकर्मबन्ध — औदारिकशरीरनोकर्मप्रदेशानामौदारिकशरीरनोकर्मप्रदेशैरन्योन्यानुप्रवेशादौदारिकौदारिकनोकर्मबन्धः । (त. वा. ५, २४, ९) ।

औदारिकशरीर के नोकर्मप्रदेशों का अन्य औदारिकशरीरनोकर्मप्रदेशों के साथ परस्पर में परस्पर अनुप्रवेशरूप जो बन्ध होता है उसे औदारिकौदारिकनोकर्मबन्ध कहते हैं ।

औदार्य—औदार्यं कार्पण्यत्यागाद्विज्ञेयमाशयमहत्त्वम् । गुरु-दीनादिष्वौचित्यवृत्ति कार्ये तदत्यन्तम् ॥ (षोडशक ४-३, पृ. २५) ।

कृपणता को छोड़कर उदार हृदय से जो गुरु एवं दीन आदि जनों के विषय में यथोचित व्यवहार किया जाता है उसे औदार्यगुण कहते हैं ।

औद्देशिक—१. देवद-पासंडत्थं किविणट्ठं चावि जं तु उद्दिदियं । कदमण्णसमुद्देशं चदुव्विहं वा समासेण ॥ जावदियं उद्देसो पासंडो त्ति य हवे समुद्देसो । समणो त्ति य आदेसो णिग्गंथो त्ति य हवे समादेसो ॥ (मूला. ६, ६-७) । २. उद्देशनं साध्वाद्याश्रित्य दानारम्भस्येत्युद्देशः, तत्र भवमौद्देशिकम् । (दशवै. हरि. वृ. ३-२, पृ. ११६) । ३. श्रमणानुद्दिश्य कृतं भक्तादिकम् उद्देसिगमित्युच्यते । (भ. आ. विजयो. ४२१) । ४. आत्मार्थं यत्पूर्वसिद्धमेव लड्डुकचूर्णकादि साधुमुद्दिश्य पुनरपि [संत] गुडादिना संस्क्रियते तदुद्देशिकं सामान्येन, विशेषतो विशेषसूत्रादवगन्तव्यमिति । (आचा. शी. वृ. २, १, २६६, पृ. ३१७) । ५. उद्देशेन साधुसंकल्पेन निवृत्तमौद्देशिकं आधाकर्म । (जीतक. चू. वि. व्याख्या, पृ. ५३) । ६. देवतार्थं पाखण्डार्थं कृपणार्थं चोद्दिश्य यत्कृतमन्नं तन्निमित्तं निष्पन्नं भोजनं तदौद्देशिकम् । (मूला. वृ. ६-६); सामान्यमुद्दिश्य पाषण्डानुद्दिश्य श्रमणानुद्दिश्य निर्ग्रन्थानुद्दिश्य यत्कृतमन्नं तच्चतुर्विधमौद्देशिकं भवेदन्नमिति । (मूला. वृ. ६-७) । ७. उद्देशः साध्वर्थं संकल्पः, स प्रयोजनमस्य औद्देशिकं यत्पूर्वकृतमोदन-मोदक-क्षोदादि तत्साधूद्देशेन दध्यादिना गुडपाकेन च संस्कुर्वतो भवति । (योगशा. स्वो. विव. १-३८)। ८. उद्देशिकं श्रमणानुद्दिश्य कृतं भक्तादिकम् । (भ. आ. मूला. ४२१) । ९. तदौद्देशिकमन्नं यद्देवता-दीन-लिङ्गिनः । सर्वपाषण्डपार्श्वस्थसाधून् वोद्दिश्य साधितम् ॥ (अन. ध. ५-७) । १०. यत्पुनर्गृहिणा स्वार्थकृतं पश्चाद्यत्युद्देशेन पृथक् क्रियते तदौद्देशिकम् । (गु. गु. षट्. स्वो. वृ. २०, पृ. ४८) ।

१ देवता, पाषण्ड—जैनमत से बहिर्भूत अनुष्ठान करनेवाले वेषधारी साधुजन—और कृपण(दीन)जन के उद्देश से किया गया भोजन औद्देशिक कहलाता है। (१) उद्देश—जो भी भोजन के लिए आवेंगे उन सबको दूंगा, इस प्रकार के उद्देश से बनाया गया भोजन । (२) समुद्देश—पाषण्डियों के उद्देश से बनाया गया भोजन। (३) आदेश—आजीवक आदि अन्य साधुवेषधारी अथवा छात्रों के उद्देश से बनाया गया भोजन । (४) समादेश—जो भी निर्ग्रन्थ मुनि आवेंगे उन सबको आहार दूंगा; इस प्रकार के उद्देश से बनाया जाने वाला भोजन। उक्त चार प्रकार का भोजन औद्देशिक कहलाता है ।

औनोदर्य—देखो अवमौदर्य । १. ऊनमवममुदरं यस्य स ऊनोदरस्तस्य भाव औनोदर्य्यम् । (योगशा. स्वो. विव. ४-८९) । २. प्रमाणप्राप्त आहारो द्वात्रिंशत् कवलाः, स चैकादिकवलैरूनश्चतुर्विंशतिकवलान् यावत् प्रमाणप्राप्तात् किंचिदूनम् औनोदर्य्यम् । (योगशा. स्वो. विव. ४-८९, पृ. ३११) ।

प्रमाणप्राप्त आहार ३२ ग्रास है। उसे एक-दो ग्रासों से कम करते हुए चौबीस ग्रास पर्यन्त ग्रहण करना, यह औनोदर्य बाह्य तप कहलाता है । तत्त्वार्थभाष्य की सिद्धसेन गणी की वृत्ति (९-१९) के अनुसार अवमौदर्य (औनोदर्य) तीन प्रकार का है—१ अल्पाहार अवमौदर्य—आठ ग्रास प्रमाण । २ उपार्ध अवमौदर्य—बारह ग्रास (३२/२-४=१२) प्रमाण । ३ किंचिदूनावमौदर्य—बत्तीस ग्रास जो पुरुष का प्रमाणप्राप्त आहार है उसमें एक ग्रास से कम ।

औपक्रमिकी—उपक्रमणमुपक्रमः, स्वयमेव समीपे भवनमुदीरणाकरणेन वा समीपानयनम्, तेन निर्वृत्ता औपक्रमिकी—स्वयमुदीर्णस्य उदीरणाकरणेन वा उदयमुपनीतस्य वेदनीयकर्मणो विपाकानुभवनेन निर्वृत्ता इत्यर्थः । (प्रज्ञाप. मलय. वृ. ३५-२२६, पृ. ५५७) ।

स्वयं समीप में होना अथवा उदीरणाकरण के द्वारा समीप में ले आना; इसका नाम उपक्रम है । इस उपक्रम से होने वाली वेदना औपक्रमिकी कहलाती

है। अभिप्राय यह है कि स्वयं उदय को प्राप्त हुए अथवा उदीरणाकरण के द्वारा उदय में लाये गये वेदनीय कर्म के फल के अनुभवन से रचित वेदना को औपक्रमिकी वेदना कहा जाता है।

औपचारिक विनय—देखो उपचारविनय। उपचरणम् उपचारः—श्रद्धानपूर्वकः क्रियाविशेषलक्षणो व्यवहारः, स प्रयोजनमस्येत्यौपचारिकः। ××× विनीयते क्षिप्यतेऽनेनाष्टप्रकारं कर्मेति विनयः। ××× विनीयते चास्मिन् सति ज्ञानावरणादिरजोराशिरिति विनयः। (त. भा. सिद्ध. वृ. ६–२३)।

उपचार का अर्थ है श्रद्धापूर्वक किया गया विशिष्ट क्रियारूप व्यवहार तथा जिसके द्वारा या जिसके होने पर आठ प्रकारका कर्म-रज विनष्ट होता है उसे विनय कहते हैं। उपर्युक्त उपचाररूप प्रयोजन जिससे सिद्ध होता है वह औपचारिक कहलाता है।

औपमिक—उपमया निर्वृत्तमौपमिकम्, उपमामन्तरेण यत्कालप्रमाणमनतिशयिना गृहीतुं न शक्यते तदौपमिकमिति। (अनुयो. हरि. वृ. पृ. ८४; जम्बूद्वी. शा. वृ. २–१८)।

उपमा से निर्मित काल को औपमिक काल कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि साधारण बुद्धि वाला प्राणी पल्य व सागर आदि उपमा के विना जिस कालप्रमाण को नहीं जान सकता है उसे औपमिक काल कहते हैं।

औपम्योपलब्धि—१. पुव्वं पि अणुवलद्धो घिप्पइ अत्थो उ कोइ ओवम्मा। जह गोरेवं गवयो किंचिविसेसेण परिहीणो। (बृहत्क. ५२)। २. ××× अत्रेयं भावना—'यथा गौस्तथा गवयः' इति श्रुत्वा कालान्तरेणाटव्यां पर्यटन् गवयं दृष्ट्वा 'गवयोऽयम्' इति यदक्षरजातं लभते, एषा औपम्योपलब्धिः। (बृहत्क. वृ. ५२)।

पूर्वमें कभी नहीं जाना गया कोई पदार्थ उपमाके बल से जो जाना जाता है, इसे औपम्योपलब्धि कहते हैं। जैसे—'गवय गौ के समान होता है' इस उपमान के आश्रय से पूर्व में अज्ञात गवय का 'यह गवय है'। इस प्रकार जो अक्षरज्ञान हुआ करता है, इसी का नाम औपम्योपलब्धि है।

औपशमिक अविपाकप्रत्ययिक जीवभाववन्ध—जो सो ओवसमिओ अविवागपच्चइओ जीवभाववंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो—से उवसंतकोहे उवसंतमाणे उवसंतमाए उवसंतलोहे उवसंतरागे उवसंतदोसे उवसंतमोहे उवसंतकसायवीयरायछदुमत्थे उवसमियं सम्मत्तं उवसमियं चारित्तं जे चामण्णे एवमादिया उवसमिया भावा सो सव्वो उवसमियो अविवागपच्चइओ जीवभाववंधो णाम। (ष. खं. ५, ६, १७—पु.१४, पृ. १४)।

क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष और मोह; इनमें से प्रत्येक के उपशान्त होने पर तथा उपशान्तकषायवीतराग-छद्मस्थ के जो औपशमिक सम्यक्त्व व औपशमिक चारित्र तथा और भी जो इसी प्रकार के अन्य औपशमिक भाव होते हैं उन सबको औपशमिक अविपाकप्रत्ययिक जीवभाववन्ध कहते हैं।

औपशमिकगुणयोग— ओवसमियसम्मत्त-संजमेहि जीवस्स जोगो ओवसमियगुणजोगो। (धव. पु. १०, पृ. ४३३)।

जीव का जो औपशमिक सम्यक्त्व और औपशमिक संयम के साथ सम्बन्ध होता है उसे औपशमिकगुणयोग कहते हैं।

औपशमिक चारित्र—१. कृत्स्नस्य मोहनीयस्योपशमादौपशमिकं चारित्रम्। (स. सि. २–३)। २. अष्टाविंशतिमोहविकल्पोपशमादौपशमिकं चारित्रम्। अनन्तानुवन्ध्यप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान-संज्वलनविकल्पाः षोडशकषायाः, हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्री-पुंनपुंसकवेदभेदाः नवनोकषाया इति एवं चारित्रमोहः पंचविंशतिविकल्पः। मिथ्यात्व-सम्यङ्मिथ्यात्व-सम्यक्प्रकृतिभेदात् त्रितयो दर्शनमोहः। एषामष्टाविंशतिमोहविकल्पानां उपशमादौपशमिकं चारित्रम्। (त. वा. २, ३, ३)। ३. चारित्रमोहोपशमादौपशमिकचारित्रम्। (त. श्लो. २, ३)। ४. उपशमश्रेण्यां त्रिषूपशमकेषु उपशान्तकषाये चैकविंशतिचारित्रमोहप्रकृतीनामुपशमादुत्पन्नसंयमरूपं निर्मलतरं सकलचारित्रमौपसमिको भावः। (गो. जी. म. प्र. टी. १४)। ५. षोडशकषायाणां नवनोकषायाणां च उपशमादौपशमिकं चारित्रम्। (त. वृत्ति श्रुत. २–३)।

१ समस्त मोहनीय के उपशम से जो चारित्र (यथाख्यात) प्रादुर्भूत होता है वह औपशमिक चारित्र कहलाता है।

औपशमिक भाव—१. आत्मनि कर्मणः स्वशक्तेः कारणवशादनुद्भूतिरुपशमः। यथा कतकादिद्रव्य-

सम्बन्धादम्भसि पङ्कस्योपशमः। ××× उपशमः प्रयोजनमस्येत्यौपशमिकः। (स. सि. २-१)। २. **कर्मणोऽनुद्भूतस्ववीर्यवृत्तितोपशमोऽधःप्रापितपङ्कवत्**। यथा सकलुषस्याम्भसः कतकादिद्रव्यसंपर्कात् अधःप्रापितमलद्रव्यस्य तत्कृतकालुष्याभावात् प्रसाद उपलभ्यते, तथा कर्मणः कारणवशादनुद्भूतस्ववीर्यवृत्तिता आत्मनो विशुद्धिरुपशमः। (त. वा. २, १, १); ×××स उपशमः प्रयोजनमस्येत्यौपशमिकः। (त. वा. २, १, ६)। ३. उपशमनमुपशमः—कर्मणोऽनुदय-क्षयावस्था, स प्रयोजनमस्येति औपशमिकः, तेन वा निर्वृत्त इति। (त. भा. हरि. वृ. २-१)। ४. तेषां (कर्मणां) उपशमादौपशमिकः। (धव. पु. १, पृ. १६१); कम्मुवसमेण समुब्भूदो ओवसमिओ णाम। (धव. पु. ५, पृ. १८५); कम्माणमुवसमेण उप्पण्णो भावो ओवसमिओ। (धव. पु. ५, पृ. २०५)। ५. तत्रोपशमः पुद्गलानां सम्यक्त्व-चारित्रविघातिनां करणविशेषादनुदयो भस्मपटलाच्छादिताग्निवत्, तेन निर्वृत्त औपशमिकः परिणामोऽध्यवसाय इत्युच्यते। (त. भा. सिद्ध. वृ. १-५); तत्रोपशमनमुपशमः कर्मणोऽनुदयलक्षणावस्था भस्मपटलावच्छन्नाग्निवत्, स प्रयोजनमस्येत्यौपशमिकस्तेन वा निवृत्तः। (त. भा. सिद्ध. वृ. २-१); उपशमे भवः उपशमेन वा निर्वृत्तः औपशमिकः। (त. भा. सिद्ध. वृ. १०-४)। ६. विपाक-प्रदेशानुभवरूपतया द्विभेदस्याप्युदयस्य विष्कम्भणमुपशमस्तेन निर्वृत्तः औपशमिकः। (उत्तरा. नि. शा. वृ. पृ. ३३)। ७. उपशम एवौपशमिकः, स्वार्थिक इण्प्रत्ययः, यद्वा उपशमेन निर्वृत्तः औपशमिकः क्रोधाद्युदयाभावफलरूपो जीवस्य परमशान्तावस्थालक्षणः परिणामविशेषः। (प्रव. सारो. वृ. १२६०)। ८. मोहनीयकर्मोपशमस्वभावः शुभः सर्व एवौपशमिको भावः। (आव. भा. मलय. वृ. १८६, पृ. ५७८); तथा उपशमेन, कर्मण इति गम्यते, निर्वृत्त औपशमिकः। (आव. भा. मलय. वृ. २०२, पृ. २६३)। ९. शान्तदृग्वृत्तमोहत्वादत्रौपशमिकाभिधे। स्यातां सम्यक्त्व-चारित्रे भावश्चोपशमात्मकः॥ (गुण. क्रमा. ४३, पृ. ३२)। १०. कर्मणोऽनुदयरूपः उपशमः कथ्यते। यथा कतकादिद्रव्यसम्बन्धात् पङ्के अधोगते सति जलस्य स्वच्छता भवति तथा कर्मणोऽनुदये सति जीवस्य स्वच्छता भवति। स उपशमः प्रयोजनं यस्य भावस्य सः औपशमिकः। (त. वृत्ति श्रुत. २-१)। ११. कर्मणां प्रत्यनीकानां पाकस्योपशमात् स्वतः। यो भावः प्राणिनां स स्यादौपशमिकसंज्ञकः॥ (पञ्चाध्यायी २-९७२)।

१ आत्मा में कारणवश कर्म की शक्ति का अनुद्भूत होना—सत्ता में रहते हुए भी उदयप्राप्त न होना, इसका नाम उपशम है। जैसे कतक आदि के सम्बन्ध से जल में कीचड़ का उपशम—नीचे बैठ जाना। जिस भाव का प्रयोजन प्रकृत उपशम हो उसे औपशमिक भाव कहते हैं।

औपशमिक सम्यक्त्व—१. सप्तानां अनन्तानुबन्ध्यादिप्रकृतीनामुपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वम्। (स. सि. २-३)। २. सप्तप्रकृत्युपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वम्। (त. वा. २, ३, १)। ३. उवसमसेढिगयस्स होइ उवसामियं तु सम्मत्तं। जो वा अकयतिपुंजो अखवियमिच्छो लहइ सम्मं॥ (बृहत्क. ११८; श्रा. प्र. ४५; धर्मसं. ह. ७९८)। ४. तेसिं चेव सत्तण्हं पयडीणमुवसमेणुप्पण्णसम्मत्तमुवसमियं। (धव. पु. १, पृ. १७२)। ५. दर्शनमोहस्योपशमादौपशमिकसम्यक्त्वम्।। (त. श्लो. २-३)। ६. अनादिमिथ्यादृष्टेरकृतत्रिपुञ्जस्य यथाप्रवृत्तकरणक्षीणशेषकर्मणो देशोनसागरोपमकोटीकोटीस्थितिकस्यापूर्वकरणभिन्नग्रन्थेर्मिथ्यात्वानुदयलक्षणमन्तरकरणं विधायानिवृत्तिकरणेन प्रथमं सम्यक्त्वमुत्पादयत औपशमिकं दर्शनम्। ×××उपशमश्रेण्यां चोपशमिकम्। (आचा. शी. वृ. ४, १, २१०, पृ. १५६)। ७. सत्तण्हं उवसमदो उवसमसम्मो ×××। (गो. जी. २६)। ८. अनन्तानुबन्धिचतुष्क-मिथ्यात्व-सम्यङ्मिथ्यात्व-सम्यक्त्वानामुपशमाज्जातं विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मस्वरूपलक्षणं तत्त्वार्थश्रद्धानमौपशमिकम्। (भ. आ. मूला. १-२१)। ९. शमान्मिथ्यात्व-सम्यक्त्व-मिश्रानन्तानुबन्धिनाम्। शुद्धेऽम्भसीव पङ्कस्य पुंस्यौपशमिकं भवेत्। (अन. ध. २-५४)। १०. अनन्तानुबन्धिनां दर्शनमोहस्य चोपशमेन निवृत्तमौपशमिकम्। ××× यो वा अकृतत्रिपुञ्जः—यथाविध-मन्दपरिणामोपेतत्वादनिर्वर्तितसम्यक्त्वमिथ्यात्वशोधनरूपपुञ्जत्रयोऽक्षपितमिथ्यात्व-क्षीणमिथ्यात्वः ××× सम्यक्त्वं प्राप्नोति तत्सम्यक्त्वमौपशमिकम्। (धर्मसं. मलय. वृ. ७९८)। ११. उदीर्णस्य मिथ्यात्वस्य क्षये सत्यनुदीर्णस्य च उपशमो विपाक-प्रदेश-

रूपतया द्विविधस्याप्युदयस्य विष्कम्भनम्, तेन निर्वृत्तमौपशमिकम् ।(पञ्चसं. मलय. वृ. १–८, पृ.१४; (षडशीति मलय. वृ. १७, पृ. १३७)। १२. तत्रोपशमो भस्मच्छन्नाग्निवत् मिथ्यात्वमोहनीयस्यानन्तानुबन्धिनां च क्रोधमानमायालोभानामनुदयावस्था । उपशमः प्रयोजनं प्रवर्तकमस्य औपशमिकम् । (योगशा. स्वो. विव. २–२) । १३. मोहनीयकर्मणः अनन्तानुबन्धिचतुष्टयं मिथ्यात्वत्रयं चेति सप्तानां प्रकृतीनामुपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वम् । (आरा. सा. टी. ४) । १४. अनादिकालसम्भूतमिथ्याकर्मोपशान्तितः । स्यादौपशमिकं नाम जीवे सम्यक्त्वमादितः ।। (गुण. क्रमा. १०) । १५. अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभाश्चत्वारः सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वं च एतासां सप्तानां प्रकृतीनाम् उपशमादौपशमिकं सम्यक्त्वम् उत्पद्यते । (त. वृत्ति श्रुत. २–४); तेषां (सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्वादीनां) उदयाभावे अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभानां चोदयाभावे सति प्रथमसम्यक्त्वमौपशमिकं नाम । (त. वृत्ति श्रुत. ६–१) । १६. तत्रौपशमिकं भस्मच्छन्नाग्निवत् मिथ्यात्वमोहनीयस्यानन्तानुबन्धिनां च क्रोधमानमायालोभानामनुदयावस्था (म) उपशमः प्रयोजनं प्रवर्तकमस्य औपशमिकम् । (धर्मसं. मान. स्वो. वृ. ३३) । १७. मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वं प्राक्कषायचतुष्टयम् । तेषामुपशमाज्जातं तदौपशमिकं मतम् ।। (ध. सं. श्रा. ४–६६) । १८. न विद्यतेऽन्तोऽवसानं यस्य तदनन्तं मिथ्यात्वम्, तदनुबध्नन्तीत्येवंशीला अनन्तानुबन्धिनः क्रोधमानमायालोभाः, मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्व-सम्यक्त्वप्रकृतिनामदर्शनमोहत्रयं चेति सप्तप्रकृतीनां सर्वोपशमेनौपशमिकसम्यक्त्वम् । (गो. जी. जी. प्र. टी. २६) ।

१ अनन्तानुबन्धी आदि—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति ये दर्शनमोहनीय की तीन; तथा चारित्रमोहनीय की अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार—इन सात प्रकृतियों के उपशम से होने वाले सम्यक्त्व को औपशमिक-सम्यक्त्व कहते हैं ।

औपशमिकी वेदना—तदुवसम-(अट्ठकम्मुवसम-) जणिदा उवसमिया । (धव. पु. १०, पृ. ८) ।

आठ कर्मों के उपशम से जो वेदना उत्पन्न होती है, वह औपशमिकी वेदना कहलाती है ।

औपशमिकी श्रेणी—श्रेणिरपि द्विप्रकारा औपशमिकी क्षायिकी च । तत्रौपशमिकी अनन्तानुबन्धिनो मिथ्यात्वादित्रयं नपुंसक-स्त्रीवेदौ हास्यादिषट्कं पुंवेदः अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणाः संज्वलनाश्चेति । अस्याश्चारम्भकोऽप्रमत्तसंयतो भवति । अपरे ब्रुवते—अविरत-देश-प्रमात्ताप्रमत्तविरतानामन्यतमः प्रारभते । ××× ततः प्रतिसमयमसंख्येयभागमुपशमयन् समस्तमन्तमुहूर्तेन शमयति । (त. भा. हरि. व सिद्ध. वृ. ९–१८) ।

अनन्तानुबन्धिचतुष्टय, मिथ्यात्वादि तीन, नपुंसक व स्त्री वेद, हास्यादि छह, पुंवेद, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन; इन कर्मप्रकृतियों का जहां यथाक्रम से उपशम किया जाता है वह उपशमश्रेणी कहलाती है । इस उपशमश्रेणी का प्रारम्भक अप्रमत्तसंयत हुआ करता है । अन्य किन्हीं आचार्यों के मतानुसार अविरत, देशविरत, प्रमत्तविरत और अप्रमत्तविरत; इनमें से कोई भी उसका प्रारम्भक होता है ।



लक्षणावली में उपयुक्त ग्रन्थों की अनुक्रमणिका

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
१	अध्यात्मक.	अध्यात्मकमलमार्तण्ड	कवि राजमल्ल	वीर-सेवा-मन्दिर सरसावा	ई. १९४४
२	अध्यात्मर.	अध्यात्मरहस्य (योगोद्दीपन शास्त्र)	पं. आशाधर	वीर सेवा-मन्दिर दिल्ली	ई. १९५७
३	अध्यात्मसा.	अध्यात्मसार	उ. यशोविजय	जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर	वि. १९६५
४	अन. ध.	अनगारधर्मामृत	पं. आशाधर	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई	ई. १९१९
५	अन. ध. स्वो. टी.	अनगारधर्मामृत टीका	"	"	"
६	अनुयो.	अनुयोगद्वारसूत्र	आर्यरक्षित स्थविर	आगमोदय समिति बम्बई	ई. १९२४
७	अनुयो. मल. हेम. वृ.	अनुयोगद्वार टीका	मलधारगच्छीय हेमचन्द्र	"	"
८	अनुयो. चू.	अनुयोगद्वार चूर्णि	"	ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वे. संस्था रतलाम	ई. १९२८
९	अनुयो. हरि. वृ.	अनुयोगद्वार टीका	हरिभद्र सूरि	"	"
१०	अने. ज. प.	अनेकान्तजयपताका	"	सेठ भगुभाई तनुज मनसुखभाई अहमदाबाद	—
११	अमित. श्रा.	अमितगति श्रावकाचार (भागचन्दकृत टीका सहित)	आचार्य अमितगति	दि. जैन पुस्तकालय, सूरत	वी. नि. २४८४ वि. २०१५
१२	अष्टक.	अष्टकानि	हरिभद्र सूरि	जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर	वि.सं. १९६४
१३	अभि. रा.	अभिधान राजेन्द्रकोष (सात भाग)	श्री विजय राजेन्द्र सूरीश्वर	श्री जैन श्वेताम्बर समस्त संघ, रतलाम	ई. १९१३-३४
१४	अष्टश.	अष्टशती	भट्टाकलंकदेव	भा. जैन सिद्धान्त प्र. संस्था	ई. १९१५
१५	अष्टस.	अष्टसहस्री	आ. विद्यानन्द	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई	ई. १९१५
१६	अष्टस. वृ.	अष्टसहस्री तात्पर्यविवरण	उ. यशोविजय	जैन ग्रन्थ प्रकाशक सभा, राजनगर	ई. १९३७
१७	आचा. सा., आ. सा.	आचारसार	वीरनन्दि सैद्धान्तिकचक्रवर्ती	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	वि. १९७४

(सं)ख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
१८	आचारा. सू.	आचाराङ्गसूत्र (प्रथम व द्वितीय श्रुत.)	—	सिद्धचक साहित्य प्रचारक समिति, मुम्बई	वि. सं. १९३५
१९	आचारा. नि.	आचाराङ्ग निर्युक्ति	भद्रबाहु आचार्य	,,	,,
२०	आचारा. शी. वृ.	आचारांग वृत्ति	शीलांकाचार्य	,,	,,
२१	आचार्यभ.	आचार्यभक्ति (क्रियाक.)	—	संपा. पं. पन्नालाल जी सोनी	वि. सं. १९९३
२२	आत्मानु.	आत्मानुशासन	गुणभद्राचार्य	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	ई. १९६१
२३	आत्मानु. वृ.	आत्मानुशासन वृत्ति	प्रभाचन्द्राचार्य	,,	,,
२४	आ. मी.	आप्तमीमांसा (देवागम)	समन्तभद्राचार्य	भा. जैन सि. प्रकाशिनी संस्था काशी	ई. १९१४
२५	आ. मी. वृ.	आप्तमीमांसा पदवृत्ति	वसुनन्दी सैद्धान्तिक-चक्रवर्ती	,,	,,
२६	आप्तस्व.	आप्तस्वरूप	—	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	वि. १९७९
२७	आ. सा.	आराधनासार	देवसेनाचार्य	,,	वि. १९७३
२८	आ. सा. टी.	आराधनासार टीका	श्रीरत्नकीर्तिदेव	,,	,,
२९	आलाप.	आलापपद्धति	देवसेनाचार्य	,,	वि. १९७७
३०	आव. सू.	आवश्यक सूत्र (अध्य. १)	—	दे. ला. जैन पुस्तको. फंड सूरत	वि. १९७६
३१	आव. नि.	आवश्यकनिर्युक्ति ,,	आ. भद्रबाहु	,,	,,
३२	आव. भा.	आवश्यक भाष्य ,,	—	,,	,,
३३	आव. वृ.	आवश्यक वृत्ति ,,	हरिभद्र सूरि	,,	,,
३४	आव. सू.	आवश्यकसूत्र (अध्य. २, ३, ४)	—	आगमोदयसमिति मेहसाना	ई० १९१७
३५	आव. नि.	आवश्यक निर्युक्ति ,,	आ. भद्रबाहु	,,	,,
३६	आव. भा.	आवश्यक भाष्य ,,	—	,,	,,
३७	आव. वृ.	आवश्यक वृत्ति ,,	हरिभद्रसूरि	,,	,,
३८	आव. सू.	आवश्यकसूत्र (भा. १, २)	—	आगमोदय समिति बम्बई	ई. १९२८-१९३२
३९	आव. वृ.	आवश्यकसूत्र वृत्ति	आ. मलयगिरि	,,	,,
४०	आव. सू.	आवश्यकसूत्र (भा. ३)	—	दे. ला. जैन पुस्तको. फंड सूरत	ई. १९३६

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
४१	आव. वृ.	आवश्यकसूत्र वृत्ति	आ. मलयगिरि	दे. ला. जैन पुस्तकोफंड सूरत	ई. १९३६
४२	आव. हरि. वृ. मल. हेम. टि.	आवश्यकसूत्र हरिभद्रविरचित वृत्ति पर टिप्पण	मलधारगच्छीय हेमचन्द्र सूरि	"	ई. १९२०
४३	इष्टोप.	इष्टोपदेश	पूज्यपादाचार्य	मा. दि. जैन ग्रंथमाला, बम्बई	वि. १९७५
४४	इष्टोप. टी.	इष्टोपदेश टीका	पं. आशाधर	"	"
४५	उत्तरा.	उत्तराध्ययन सूत्र	—	पुष्पचन्द खेमचन्द, वलाद	—
४६	उत्त. ने. वृ.	उत्तराध्ययन सुबोधा वृत्ति	नेमिचन्द्राचार्य	"	—
४७	उत्तरा. सू.	उत्तराध्ययन सूत्र (प्रथम विभाग)	—	जैन पुस्तकोद्धार संस्था, सूरत	ई. १९१६
४८	उत्तरा. नि.	उत्तराध्ययन निर्युक्ति	भद्रबाहु	"	"
४९	उत्तरा. शा. वृ.	उत्तराध्ययन नि. वृत्ति	शान्तिसूरि	"	"
५०	उपदे. प., उप. प.	उपदेशपद (प्रथम वि.)	हरिभद्र सूरि	श्रीमन्मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, बड़ोदा	वि. १९७९
५१	उपदे. प. टी.	" टीका	मुनिचन्द्र सूरि	"	"
५२	उपदे. प., उप. प.	" (द्वितीय वि.)	हरिभद्र सूरि	"	वि. १९८१
५३	उपदे. प. टी.	" टीका	मुनिचन्द्र सूरि	"	"
५४	उपदे. मा.	उपदेशमाला	धर्मदास गणी	ऋषभदेव केशरीमल श्वेता. जैन संस्था, रतलाम	ई. १९२८
५५	उपासका.	उपासकाध्ययन	सोमदेव सूरि	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९६४
५६	ऋषिभा.	ऋषिभाषित सूत्र	—	ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतलाम	ई. १९२७
५७	ओघनि. वृ.	ओघनिर्युक्ति (सभाष्य)	वृत्तिकार द्रोणाचार्य	आ. विजयदान सूरीश्वर जैन ग्रन्थमाला, सूरत	ई. १९५७
५८	औपपा.	औपपातिक सूत्र	—	आगमोदय समिति, बम्बई	ई. १९१६
५९	औपपा. अभय. वृ.	औपपातिकसूत्रवृत्ति	वृत्तिकार अभयदेव	"	"
६०	अंगप.	अंगपण्णत्ती	शुभचन्द्राचार्य	मा. दि. जैन ग्रंथमाला समिति बम्बई	वि. १९७६
६१	कर्मप्र.	कर्मप्रकृति	वाचक शिवशर्म सूरि	मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोई (गुजरात)	ई. १९३७
६२	कर्मप्र. चू.	कर्मप्रकृति चूर्णि	—	"	"

संख्या	संकेत	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
६३	कर्मप्र. मलय. वृ.	कर्मप्रकृति वृत्ति	मलयगिरि	मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोई (गुजरात)	ई. १९३७
६४	कर्मप्र. यशो. टी.	कर्मप्रकृति टीका	उपाध्याय यशोविजय	"	"
६५	कर्मवि. ग.	कर्मविपाक	गर्ग महर्षि	जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर	वि. १९७२
६६	कर्मवि. पू. व्या.	कर्मविपाक व्याख्या	—	"	"
६७	कर्मवि. ग. परमा. वृ.	कर्मविपाक वृत्ति	परमानन्द सूरि	"	"
६८	कर्मवि. दे.	कर्मविपाक	देवेन्द्रसूरि	"	ई. १९३४
६९	कर्मवि. दे. स्वो. वृ.	कर्मविपाक वृत्ति	"	"	"
७०	कर्मस्त.	कर्मस्तव	—	"	वि. १९७२
७१	कर्मस्त. गो. वृ.	कर्मस्तव वृत्ति	गोविन्द गणी	"	"
७२	कल्पसू.	कल्पसूत्र	भद्रबाहु	प्राचीन पुस्तकोद्धारफंड, सूरत	ई. १९३९
७३	कल्पसू. स. वृ.	कल्पसूत्र वृत्ति	समयसुन्दर गणी	"	"
७४	कल्पसू. विनय. वृ.	"	विनयविजय गणी	आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर	ई. १९१५
७५	कसाय. पा.	कसायपाहुड सुत्त	गुणधराचार्य	वीर शासन संघ, कलकत्ता	ई. १९५५
७६	कसाय. पा. चू.	कसायपाहुड चूर्णिसूत्र	यतिवृषभाचार्य	"	"
७७	जयध.	कसायपाहुड टीका (जयधवला)	वीरसेनाचार्य और जिनसेनाचार्य	दि. जैन संघ चौरासी-मथुरा	ई. १९४४ आदि
७८	कार्तिके.	कार्तिकेयानुप्रेक्षा	स्वामिकुमार	राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास	वि. सं. २०१६
७९	कार्तिके. टी.	" टीका	शुभचन्द्राचार्य	"	"
८०	क्षत्रचू.	क्षत्रचूडामणि	वादीभसिंह सूरि	टी. एस. कुप्पूस्वामी शास्त्री, तंजोर	ई. १९०३
८१	गद्यचि.	गद्यचिन्तामणि	"	"	ई. १९१६
८२	गुण. क्र.	गुणस्थानक्रमारोह	रत्नशेखर सूरि	आत्मतिलक ग्रन्थ सोसायटी, अहमदाबाद	वि. सं. १९७५
८३	गु. गु. प.	गुरुगुणषट्त्रिंशिका	"	जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर	वि.सं. १९७१
८४	गु. गु. प. स्वो. वृ.	गुरुगुणषट्त्रिंशिका वृत्ति	"	"	"

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
८५	गो. जी.	गोम्मटसार जीवकांड	आ. नेमिचन्द्र सि. च.	भा. जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता	—
८५	गो. जी. मं. प्र. टी.	गो. मन्दप्रबोधिनी टीका (ज्ञानमार्गणा पर्यन्त)	अभयचन्द्राचार्य	"	—
८७	गो. जी. जी. प्र. टी.	गो. जीवतत्त्वप्रकाशिनी टीका	केशवर्णी [भ. नेमिचंद्र]	"	—
८८	गो. क.	गोम्मटसार कर्मकांड	आ. नेमिचन्द्र सि. च.	"	—
८९	गो. क. जी. प्र. टी.	गो. जीवतत्त्वप्रकाशिनी टीका	केशववर्णी [भ. नेमिचंद्र]	"	—
९०	चन्द्र. च.	चन्द्रप्रभचरित्र	आ. वीरनन्दी	निर्णय सागर प्रेस, बंबई	ई. १९१२
९१	चा. सा. पृ.	चारित्रसार	चामुण्डराय	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बंबई	वि. सं. १९७४
९२	जम्बूद्वी.	जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र	—	जैन पुस्तकोद्धारफंड, बम्बई	ई. १९२०
९३	जम्बूद्वी. शा. वृ.	जम्बूद्वीप वृत्ति	शान्तिचन्द्र	"	"
९४	जम्बू. च.	जम्बूस्वामिचरित	पं. राजमल्ल	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई	वि. सं. १९९३
९५	जं. दी. प.	जंबूदीव-पण्णत्ति-संगहो	आ. पद्मनन्दि	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	" २०१४
९६	जीतक.	जीतकल्प सूत्र	जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण	जैन साहित्य संशोधक समिति अहमदाबाद	ई. १९३९
९७	जीतक. चू.	जीतकल्पसूत्र चूर्णि	सिद्धसेन सूरि	"	"
९८	जीतक. वि. व्या.	जीतकल्प-विषमपदव्याख्या	श्रीचन्द्र सूरि	"	"
९९	जीव. च.	जीवन्धरचम्पू	कवि हरिचन्द्र	टी. एस. कुप्पूस्वामी, तंजोर	ई. १९०५
१००	जीवस.	जीवसमास (मूल)	—	ऋषभदेव केशरीमल श्वेता. संस्था, रतलाम	ई. १९२८
१०१	जीवाजी.	जीवाजीवाभिगम	—	जैन पुस्तकोद्धारफंड, बम्बई	१९१९
१०२	जीवाजी. मलय. वृ.	जीवाजीवाभिगम वृत्ति	आ. मलयगिरि	"	"
१०३	जैनत.	जैनतर्कपरिभाषा	आ. यशोविजय	जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर	वि. सं. १९६५
१०४	ज्ञा. सा.	ज्ञानसार	पद्मसिंह मुनि	मा. दि. जैनग्रन्थमाला, बम्बई	" १९७५
१०५	"	ज्ञानसार सूत्र	उ. यशोविजय	आत्मानन्द सभा, भावनगर	वि. सं. १९७१
१०६	ज्ञा. सा. टी.	ज्ञानसार टीका	देवभद्र मुनीश	"	"
१०७	ज्ञाना.	ज्ञानार्णव	शुभचन्द्र आचार्य	परमश्रुत प्रभावक मंडल, बंबई	ई. १९२७

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
१०८	ज्योतिष्क.	ज्योतिष्करण्डक	—	ऋषभदेव केशरीमल श्वेता. संस्था, रतलाम	ई. १९२८
१०९	ज्योतिष्क मलय. वृ.	ज्योतिष्करण्डक वृत्ति	मलयगिरि आचार्य	,,	,,
११०	त. सा.	तत्त्वसार	श्रीदेवसेन	भा. दि. जैन ग्रंथमाला, बम्बई	वि. सं. १९७५
१११	तत्त्वानु.	तत्त्वानुशासन	रामसेन मुनि	,,	,,
११२	त. भा.	तत्त्वार्थभाष्य (भा. १,२)	स्वोपज्ञ (उमास्वाति)	दे. ला. जैन पुस्तको. फंड, बंबई	वि. १९८२-८६
११३	त. भा. सि. वृ.	तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति	सिद्धसेन गणी	,,	वि. १९८२
११४	त. भा. हरि. वृ.	,,	हरिभद्र सूरि	—	—
११५	त. वा.	तत्त्वार्थवार्तिक(भा. १,२)	अकलंकदेव	भारतीय ज्ञानपीठ काशी	ई. १९५३-५७
११६	त. वृत्ति	तत्त्वार्थवृत्ति	श्रुतसागर सूरि	,,	ई. १९४९
११७	त. श्लो.	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	विद्यानन्द आचार्य	नि. सागर यन्त्रालय बम्बई	ई. १९१८
११८	त. सा.	तत्त्वार्थसार (प्रथम गु.)	अमृतचन्द्र सूरि	,,	ई. १९०५
११९	त. सुखवो.	त. सुखवोधा वृत्ति	भास्करनन्दी	ओरियन्टल लायब्रेरी मैसूर	ई. १९४४
१२०	त. सू.	तत्त्वार्थ सूत्र (प्र. गुच्छक)	उमास्वामी	निर्णय सागर यन्त्रालय	ई. १९०५
१२१	ति. प.	तिलोयपण्णत्ती (प्र. भाग)	यतिवृषभाचार्य	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर	ई. १९४३
१२२	,,	,, (द्वितीय भाग)	,,	,,	ई. १९५१
१२३	त्रि. सा.	त्रिलोकसार	नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रव.	मा. दि. जैन ग्रंथमाला, बंबई	वी. नि. २४४४
१२४	त्रि. सा. टी.	त्रिलोकसार टीका	माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव	,,	वी. नि. २४४४
१२५	त्रि. प. श. च.	त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र (पर्व १, आदीश्वरचरित्र)	हेमचन्द्राचार्य	जैनधर्म प्रसारक सभा, (भावनगर)	वि. सं. १९६१
,,	,,	त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र (द्वि. पर्व, अजितनाथचरित्र)	,,	,,	वि. सं. १९६१
,,	,,	पर्व ३-६ (३-१९ तीर्थंकरों का चरित्र)	,,	,,	वि. सं. १९६२
,,	,,	पर्व ७ (जैन रामायण नमिनाथ आदि का चरित्र)	,,	,,	वि. सं. १९६३
,,	,,	पर्व ८, ९ (नेमिनाथ आदि का चरित्र)	,,	,,	वि. सं. १९६४

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
१२५	त्रि. ष. श. च.	पर्व १० (महावीर आदि का चरित्र)	हेमचन्द्राचार्य	जैनधर्म प्रसारक सभा (भावनगर)	वि. सं. १९६५
"	"	परिशिष्ट पर्व (स्थविरावली चरित्र)	"	"	वि. सं. १९६८
१२६	दशवै. सू.	दशवैकालिक सूत्र	शय्यम्भव सूरि	जैन पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई	ई. १९१८
१२७	दशवै. नि.	दशवैकालिक निर्युक्ति	भद्रबाहु	"	"
१२८	दशवै. नि. हरि. वृ.	दशवैकालिक वृत्ति	हरिभद्र	"	"
१२९	दशवै. चू.	दशवैकालिक चूर्णि	जिनदास गणि महत्तर	ऋषभदेव केशरीमल श्वेता. संस्था रतलाम	ई. १९३३
१३०	द्रव्यसं.	द्रव्यसंग्रह	नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक देव	जैन हितैषी पुस्तकालय बंबई	ई. १९००
१३१	द्रव्यानु. त.	द्रव्यानुयोगतर्कणा	भोजकवि	परमश्रुतप्रभावक मंडल बंबई	वी. नि. २४३२
१३२	द्वात्रि.	द्वात्रिंशतिका (तत्त्वानुशासनादिसंग्रह में)	अमितगतिसूरि	मा. दि. जैनग्रन्थमाला समिति बम्बई	वि. सं. १९७५
१३३	द्वादशानु.	द्वादशानुप्रेक्षा	कुन्दकुन्दाचार्य	"	वि. सं. १९७७
१३४	धम्मर, धर्म.	धम्मरसायण	पद्मनन्दी मुनि	"	वि. सं. १९७९
१३५	धर्मप.	धर्मपरीक्षा	अमितगत्याचार्य	जैन हितैषी पुस्तकालय बंबई	ई. १९०१
१३६	ध. बि.	धर्मबिन्दुप्रकरण	हरिभद्र सूरि	आगमोदय समिति, बम्बई	ई. १९२४
१३७	ध. बि. मु. वृ.	धर्मबिन्दु मुनिचन्द्र वृत्ति	मुनिचन्द्र सूरि	"	"
१३८	धर्मश.	धर्मशर्माभ्युदय	कवि हरिचन्द्र	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	ई. १८९९
१३९	धर्मसं.	धर्मसंग्रह (दो भागों में)	उपाध्याय मानविजय	जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बंबई	ई. १९१५-१८
१४०	,, स्वो. वृ.	धर्मसंग्रह टीका	स्वोपज्ञ (मानविजय)	"	"
१४१	धर्मसं.	धर्मसंग्रहणी	हरिभद्र सूरि	"	ई. १९१६
१४२	,, मलय. वृ.	धर्मसंग्रहणी वृत्ति	मलयगिरि	"	"
१४३	धर्मसं. श्रा.	धर्मसंग्रह श्रावकाचार	पं. मेधावी	बा. सूरजभान वकील, देवबन्द	वी. २४३१
१४४	ध्यानश.	ध्यानशतक	—	प्रा. हरि. वृत्ति में (पृ. ५८२ से ६११ तक)	—
१४५	नन्दी. सू., नन्दी गा.	नन्दी सूत्र	देववाचक गणी	आगमोदय समिति, बम्बई	ई. १९१७
१४६	नन्दी. मलय. वृ.	नन्दीसूत्र वृत्ति	आ. मलयगिरि	"	"

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
१४७	नन्दी. चू.	नन्दीसूत्र चूर्णि	जिनदास गणि महत्तर	ऋ. के. जैन श्वे. संस्था, रतलाम	ई. १८२८
१४८	नन्दी. हरि.वृ.	नन्दीसूत्र वृत्ति	हरिभद्र सूरि	"	"
१४९	नयप्र.	नयप्रदीप	उ. यशोविजय	जैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगर	वि. १९६५
१५०	नयर.	नयरहस्य प्रकरण	"	"	"
१५१	नयोप.	नयोपदेश	यशोविजय गणी	आत्मवीर सभा, भावनगर	ई. १९१९
१५२	" स्वो. वृ.	नयोपदेश वृत्ति	"	"	"
१५३	नवत.	नवतत्त्वप्रकरण	—	खीमजी भीमसिंह माणकें, बंबई	ई. १९४९
१५४	नंदी चू.	नंदीसुत्त चुण्णि	जिनदास गणी	प्राकृत ग्रन्थ परिषद्-वाराणसी	ई. १९६६
१५५	नारदाध्ययन	नारदाध्ययन	—	--	—
१५६	नि. सा.	नियमसार	कुन्दकुन्दाचार्य	जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बंबई	ई. १९१६
१५७	नि. सा. वृ.	नियमसार वृत्ति	पद्मप्रभ मलधारी देव	"	"
१५८	निर्वाणक.	निर्वाणकलिका	पादलिप्ताचार्य	नथमल कन्हैयालाल, रांका बंबई	ई. १९२६
१५९	निशीथचू.	निशीथचूर्णि	जिनदास गणि महत्तर	—	—
१६०	नीतिवा.	नीतिवाक्यामृत	सोमदेव सूरि	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला समिति, बंबई	वि. १९७९
१६१	नीतिवा. टी.	नीतिवाक्यामृत टीका	—	"	"
१६२	नीतिसा.	नीतिसार	भट्टारक इन्द्रनन्दी	"	वि. सं. १९७५
१६३	न्यायकु.	न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भाग	प्रभाचन्द्राचार्य	"	ई. १९३८
१६४	"	" द्वितीय भाग	"	"	ई. १९४१
१६५	न्या. दी., न्यायदी.	न्यायदीपिका	अभिनव धर्मभूषण	वीर सेवा-मन्दिर	ई. १९४५
१६६	न्यायवि.	न्यायविनिश्चय	भट्टाकलंकदेव	सिंघी जैनग्रन्थमाला, कलकत्ता	ई. १९३९
१६७	न्यायवि. वि.	" विवरण प्र. भा.	वादिराज सूरि	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९४९
१६८	"	" " द्वि. भाग	"	"	ई. १९५४
१६९	न्यायाव.	न्यायावतार	सिद्धसेन दिवाकर	श्वे. जैन महासभा, बंबई	वि. सं. १९८५
१७०	न्यायाव. वृ.	न्यायावतार वृत्ति	सिद्धर्षि गणी	"	"

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
१७१	पउमच.	पउमचरिय	विमलसूरि	जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर	ई. १९१४
१७२	पद्म. पं.	पद्मनन्दि-पंचविंशति	पद्मनन्दी मुनि	जैन संस्कृति संघ, सोलापुर	ई. १९६२
१७३	पद्म. पु.	पद्मपुराण (भा. १,२,३)	श्रीरविषेणाचार्य	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९४४, ई. १९५९
१७४	परमा.	परमात्मप्रकाश	श्रीयोगीन्द्रदेव	परमश्रुतप्रभावक मंडल बंबई	वि. सं. १९९३
१७५	परमा. वृ.	परमात्मप्रकाश वृत्ति	श्रीब्रह्मदेव	,,	,,
१७६	परीक्षा.	परीक्षामुख (प्र.र.मा. सहित)	श्रीमाणिक्यनन्द्याचार्य	बालचन्द्र शास्त्री, बनारस	ई. १९२८
१७७	पंचव.	पंचवस्तुकग्रन्थ	हरिभद्र सूरि	जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बंबई	ई. १९२७
१७८	पंचव. वृ.	पंचवस्तुकवृत्ति	हरिभद्र सूरि	,,	,,
१७९	प्रा. पंचसं.	पंचसंग्रह (प्राकृतवृत्ति, संस्कृतटीका व हि. अनु.)	अज्ञात	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९६०
१८०	पंचसं.	पंचसंग्रह	चन्द्रर्षि महत्तर	आगमोदय समिति, बम्बई	ई. १९२७
१८१	पंचसं. स्वो. वृ.	पंचसंग्रह वृत्ति	,,	,,	,,
१८२	पंचसं.	पंचसंग्रह(प्र. व द्वि. भाग)	,,	मुक्ताबाई ज्ञानमन्दिर डभोई (गुजरात)	ई. १९३८
१८३	पंचसं.स्वो.वृ.	पंचसंग्रह वृत्ति	,,	,,	,,
१८४	पंचसं. मलय वृ.	,,	मलयगिरि	,,	,,
१८५	पंचसं. अमित.	पंचसंग्रह (संस्कृत)	अमितगति	मा. दि. जैनग्रन्थमाला समिति बम्बई	ई. १९२७
१८६	पंचसू.	पंचसूत्र	अज्ञात	जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर	वि. सं. १९७०
१८७	पंचसू. वृ.	पंचसूत्रवृत्ति	हरिभद्र सूरि	,,	,,
१८८	पंचाध्या.	पंचाध्यायी	कवि राजमल्ल	ग. वर्णी जैनग्रंथमाला, वाराणसी	वी. नि. २४७६
१८९	पंचाश.	पंचाशकमूल	हरिभद्र सूरि	जैनश्वेताम्बर संस्था, रतलाम	ई. १९२८
१९०	पंचाश. वृ.	पंचाशक टीका	अभयदेव सूरि	—	—
१९१	पंचा. का.	पंचास्तिकाय	कुन्दकुन्दाचार्य	परमश्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई	वि. सं. १९७२
१९२	पंचा.का. अमृत. वृ.	पंचास्तिकाय वृत्ति	अमृतचन्द्राचार्य	,,	,,
१९३	पंचा. का. जय. वृ.	पंचास्तिकाय वृत्ति	जयसेनाचार्य	,,	,,



संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
१९४	पाक्षिकसू.	पाक्षिक सूत्र	—	जैन पुस्तकोद्धार संस्था, सूरत	ई. १९११
१९५	,, वृ.	पाक्षिकसूत्र वृत्ति	यशोदेव	,,	,,
१९६	पिंडनि.	पिण्डनिर्युक्ति	भद्रबाहु	,,	ई. १९१८
१९७	पिंडनि. मलय. वृ.	पिंडनिर्युक्तिवृत्ति	मलयगिरि	,,	,,
१९८	पु. सि.	पुरुषार्थसिद्धयुपाय	अमृतचन्द्राचार्य	परमश्रुत प्रभावकमण्डल, बम्बई	वी.नि. २४३१
१९९	पू. उपासका.	पूज्यपादउपाकाचार	पूज्यपाद	कल्लप्पा भरमप्पा निटवे नादणीकर कोल्हापुर	ई. १९०४
२००	सं. प्रकृति. वि. जयति.	प्रकृतिविच्छेद प्रकरण (सं.)	जयतिलक	—	—
२०१	प्रज्ञाप.	प्रज्ञापना	श्यामाचार्य	आगमोदय समिति, मेहसाना	ई. १९१८
२०२	प्रज्ञाप. मलय. वृ.	प्रज्ञापना वृत्ति	मलयगिरि	,,	,,
२०३	प्रत्या. स्व.	प्रत्याख्यानस्वरूप	यशोदेव आचार्य	ऋषभदेव केशरीमलजी श्वे. संस्था, रतलाम	ई. १९२७
२०४	प्र. न. त.	प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार	वादिदेवसूरि	यशो. श्वे. जैन पाठशाला, काशी	ई. १९०४
२०५	प्रमाणनि.	प्रमाणनिर्णय	वादिराजसूरि	मा. दि. जैन ग्रंथमाला, बम्बई	वि. सं. १९७४
२०६	प्रमाणप. पृ.	प्रमाणपरीक्षा	विद्यानन्द स्वामी	जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, काशी	ई. १९१४
२०७	प्रमाणमी., प्र. मी.	प्रमाणमीमांसा (स्वोपज्ञ वृत्ति सहित)	श्री हेमचन्द्राचार्य	सिंघी ग्रंथमाला, कलकत्ता	ई. १९३९
२०८	प्रमाणसं.	प्रमाणसंग्रह	अकलंकदेव	,,	,,
२०९	प्रमाल.	प्रमालक्ष्म	—	मनसुखभाई, भगुभाई, अहमदाबाद	—
२१०	प्र. क. मा.	प्रमेयकमलमार्तण्ड	श्रीप्रभाचन्द्राचार्य	निर्णयसागर मुद्रणालय, बंबई	ई. १९४१
२११	प्र. र. मा.	प्रमेयरत्नमाला	अनन्तवीर्य आचार्य	बालचन्द्र शास्त्री, बनारस	ई. १९२८
२१२	प्रव. सा.	प्रवचनसार	श्रीकुंदकुंदाचार्य	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बंबई	वि. सं. १९६९
२१३	प्रव. सा. अमृत. वृ.	प्रवचनसार वृत्ति	अमृतचन्द्र	,,	,,
२१४	प्रव. सा. जय. वृ.	प्रवचनसार वृत्ति	जयसेन	,,	,,
२१५	प्रव. सारो.	प्रवचनसारोद्धार	नेमिचन्द्र सूरि	जीवनचन्द साकरचन्द जव्हेरी, बंबई	ई. १९२२
२१६	प्र. सारो. वृ.	प्रवचनसारोद्धार वृत्ति	सिद्धसेनसूरि	,,	,,

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
२१७	प्रशमर.	प्रशमरतिप्रकरण	उमास्वाति आचार्य	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई	ई. १९५०
२१८	प्रश्नव्या.	प्रश्नव्याकरणांग	—	—	—
२१९	प्रश्नो. मा.	प्रश्नोत्तररत्नमालिका	राजर्षि अमोघवर्ष	जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई	ई. १९०८
२२०	प्रायश्चित्तचू.	प्रायश्चित्तचूलिका	—	—	—
२२१	प्रायश्चित्त वि. वृ.	—	—	—	—
२२२	बन्धस्वा.	बन्धस्वामित्व (तृतीय कर्म ग्रन्थ)	—	जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर	वि. सं. १९७२
२२३	बन्धस्वा. वृ.	बन्धस्वामित्व वृत्ति	हरिभद्र सूरि	,,	,,
२२४	बन्धस्वा.	बन्धस्वामित्व (तृ. क. ग्रन्थ)	देवेन्द्र सूरि	,,	ई. १९३४
२२५	बृहत्क.	बृहत्कल्पसूत्र, निर्युक्ति व भाष्यसहित (छह भाग)	आचार्य भद्रबाहु	,,	ई. १९३३-४२
२२६	बृहत्क. वृ.	बृहत्कल्पसूत्रवृत्ति	मयगिरि-क्षेमकीर्ति	,,	,,
२२७	बृहत्स.	बृहत्सर्वज्ञसिद्धि	अनन्तकीर्ति	मा. दि. जैन ग्रंथमाला समिति बम्बई	वि. स. १९७२
२२८	बृ. द्रव्यसं.	बृहद् द्रव्यसंग्रह	नेमिचन्द्रसैद्धान्तिकदेव	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई	वी.नि. २४३३
२२९	बृ. द्रव्यसं. टीका	,, टीका	ब्रह्मदेव	,,	,,
२३०	बोधप्रा.	बोधप्राभृत	कुन्दकुन्दाचार्य	मा.दि. जैन ग्रंथमाला समिति, बम्बई	वि. स. १९७७
२३१	बोधप्रा. टी.	बोधप्राभृत टीका	भ. श्रुतसागर	,,	,,
२३२	भ. आ.	भगवती-आराधना	शिवकोटि आचार्य	बलात्कार जैन पब्लिकेशन सोसायटी कारंजा	ई. १९३५
२३३	भ. आ. विजयो.	भगवती-आराधनाटीका	अपराजितसूरि	,,	,,
२३४	भ. आ.मूला.	,,	पं. आशाधर	,,	,,
२३५	भगवतीसू.	—	—	—	—
२३६	भगव.	भगवतीसूत्र (व्याख्या-प्रज्ञप्ति) प्रथम खण्ड	—	जिनागम प्र. सभा अहमदाबाद	—
२३७	भगव. वृ.	भगवतीसूत्र टीका	अभयदेव सूरि	,,	वि. स. १९७४
२३८	भगव.	भगवतीसूत्र (व्याख्या-प्रज्ञप्ति तृ.खंड ७-१५श.)	—	नरहरि द्वारकादास पारेख [illegible] गुजरात वि., अहमदाबाद	वि. स. १९८५
२३९	भगव.	भगवतीसूत्र (व्याख्या-प्रज्ञप्ति च.खं.१६-४१श.)	—	गोपालदास जीवाभाई पटेल, जैन सा. प्र. ट्र. अहमदाबाद	वि. स. १९८८

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
२४०	भगव. दा. वृ.	भगवती सूत्र वृत्ति	दानशेखर सूरि	—	—
२४१	भावत्रि.	भावत्रिभंगी	श्रुतमुनि	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	वि. सं. १९७८
२४२	प्रा. भावसं. दे.	भावसंग्रह	देवसेनसूरि	,,	—
२४३	भावसं. वाम.	,, (संस्कृत)	वामदेवसूरि	,,	—
२४४	भाषार.	भाषारहस्य	यशोविजयगणी	मनसुखभाई भगुभाई, अहमदाबाद	—
२४५	म. पु.	महापुराण (भा. १, २)	जिनसेनाचार्य	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९५१
२४६	म पु.	महापुराण (उत्तरपुराण)	गुणभद्राचार्य	,,	ई० १९५४
२४७	म. पु. पुष्प.	महापुराण प्रथम खण्ड (१-३७ प.)	महाकवि पुष्पदन्त	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	ई. १९३७
२४८	,,	,, द्वि. खण्ड (३८-८० प.)	,,	,,	ई. १९४०
२४९	,,	,, तृ. खण्ड (८१-१०२ प.)	,,	,,	ई. १९४१
२५०	मूला.	मूलाचार (प्र. भा. १-७ अधिकार)	वट्टकेराचार्य	,,	वि. सं. १९७७
२५१	मूला. वृ.	मूलाचार वृत्ति	वसुनन्द्याचार्य	,,	,,
२५२	मूला.	मूलाचार (द्वि. भा. ८-१२ अधि.)	वट्टकेराचार्य	,,	वि. सं. १९८०
२५३	मूला. वृ.	मूलाचार वृत्ति	वसुनन्द्याचार्य	,,	,,
२५४	मोक्षपं.	मोक्षपंचाशिका	—	,,	वि. सं. १९७५
२५५	मोक्षप्रा.	मोक्षप्राभृत	कुन्दकुन्दाचार्य	,,	वि. सं. १९७७
२५६	मोक्षप्रा. श्रुत. वृ.	मोक्षप्राभृत वृत्ति	भ. श्रुतसागर	,,	,,
२५७	यतिधर्मवि.	यतिधर्मविंशिका	—	—	—
२५८	यशस्ति.	यशस्तिलक (पूर्व खण्ड १-३ आश्वास)	सोमदेवसूरि	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	ई. १९०१
२५९	यशस्ति. वृ.	यशस्तिलक वृत्ति	भट्टारक श्रुतसागर	,,	,,
२६०	यशस्ति.	यशस्तिलक (उ. खण्ड)	सोमदेवसूरि	,,	ई. १९०३
२६१	युक्त्यनु.	युक्त्यनुशासन	समन्तभद्राचार्य	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	वि. सं. १९७७
२६२	युक्त्यनु. टी.	युक्त्यनुशासन टीका	विद्यानन्दाचार्य	,,	,,

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
२६३	योगदृ., योगबि.	योगदृष्टिसमुच्चय व योगविन्दु (स्वो. वृत्ति सहित)	हरिभद्र सूरि	जैन ग्रन्थ प्रकाशक संस्था, अहमदाबाद	ई. १९४०
२६४	योगविं.	योगविंशिका	"	आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रसारक मण्डल, आगरा	ई. १९२२
२६५	"	योगविंशिका व्याख्या	यशोविजय गणी	आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रसारक मण्डल, आगरा	"
२६६	योगशा.	योगशास्त्र (तृ. प्रकाश के १२० श्लोक तक)	हेमचन्द्राचार्य	—	—
२६७	योगशा.स्वो. विव.	योगशास्त्रविवरण	"	—	—
२६८	योगशा.	योगशास्त्र	"	जैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगर	ई. १९२६
२६९	योगशा.स्वो. विव.	योगशास्त्र विवरण	"	"	"
२७०	योगशा.	योगशास्त्र (गुजराती भाषान्तर सहित)	"	श्रीभीमसिंह माणेक बम्बई	ई. १८९९
२७१	योगिभ.	प्रा० योगिभक्ति(क्रियाक.)	—	पं०पन्नालालजी सोनी	वि.स. १९९३
१७२	"	सं० योगिभक्ति "	—	"	"
२७३	रत्नक.	रत्नकरण्डश्रावकाचार	आचार्य समन्तभद्र	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला बबई	वि. सं. १९८२
२७४	रत्नक. टी.	रत्नाकरण्डश्रावकाचार टीका	प्रभाचन्द्राचार्य	"	"
२७५	रत्नाकरा.	रत्नाकरावतारिका	श्रीरत्नप्रभाचार्य	श्रेष्ठि हर्षचन्द्र भूराभाई, वाराणसी	वी.नि. २४३७
२७६	रायप.	रायपसेणी	—	Khadayata Book Depott Ahmedabad	—
२७७	लघीय.	लघीयस्त्रय	भट्टाकलंकदेव	मा. दि. जैनग्रन्थमाला, बंबई	वि.सं. १९७२
२७८	लघीय. अभय. वृ.	लघीयस्त्रय वृत्ति	अभयचन्द्र	"	"
२७९	लघुस.	लघुसर्वज्ञसिद्धि	अनन्तकीर्ति	"	"
२८०	लब्धिसा.	लब्धिसार (क्षपणासारगर्भित)	नेमिचन्द्राचार्य सि.च.	परमश्रुत प्रभावक मण्डल बंबई	ई. १९१६
२८१	ललितवि.	ललितविस्तरा	हरिभद्रसूरि	जैन पुस्तकोद्धार संस्था बंबई	ई. १९१५
२८२	ललितवि.मु.	ललितविस्तरापंजिका	मुनिचन्द्र	"	"
२८३	लाटीसं.	लाटीसंहिता	राजमल्ल कवि	मा.दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई	वि.सं. १९८४
२८४	लोकप्र.	लोकप्रकाश (भाग १,२,३)	विनयविजय गणी	दे. ला.जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई	ई. १९२६,२८, १९३२
२८५	वरांगच.	वरांगचरित्र	जटासिंहनन्दी	मा.दि. जैनग्रन्थमाला समिति, बम्बई	वी.नि. २४६५

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन का
२८६	वसुश्रा.	वसुनन्दिश्रावकाचार	वसुनन्दी	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९५२
२८७	वाग्भ.	वाग्भटालंकार	वाग्भट कवि	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई	ई. १८९५
२८८	विपाक.	विपाकसूत्र	—	गुर्जर ग्रन्थरत्न-कार्यालय अहमदाबाद	ई. १९३५
२८९	विपाक. अभय. वृ.	विपाकसूत्र-वृत्ति	अभयदेव सूरि	"	"
२९०	विवेकवि.	विवेकविलास	जिनदत्तसूरि	परी. बालाभाई रामचन्द्र अहमदाबाद	वि.सं. १९५
२९१	विशेपा.	विशेपावश्यक भाष्य (भा. १, २)	जिनद्रगणि-क्षमाश्रमण	ऋपभदेव केशरीमल श्वेता. संस्था, रतलाम	ई. १९३६, १९३७
२९२	विशेपा. को. वृ.	विशेपावश्यक भाष्य वृत्ति	कोटचार्य	"	"
२९३	व्यव., व्यव. मलय. वृ.	व्यवहार सूत्र (निर्युक्ति, भाष्य और मलयगिरि विरचित वृत्ति सहित १-१० उद्देश)	—	—	—
२९४	शतक. दे.	शतक (पंचम कर्मग्रन्थ)	देवेन्द्रसूरि	जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर	ई. १९४१
२९५	शतक. दे. स्वो. वृ.	शतक वृत्ति	"	"	"
२९६	शतक.	शतकप्रकरण	शिवशर्म सूरि	वीरसमाज, राजनगर	ई. १९२३
२९७	शतक. मल. हे. वृ.	शतकप्रकरण वृत्ति	मलधारीय हेमचन्द्र	"	"
२९८	शतक. चू.	शतकप्रकरण चूर्णि	—	—	—
२९९	शास्त्रवा.	शास्त्रवार्तासमुच्चय	हरिभद्र सूरि	जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर	वि. सं. १९६
३००	श्राद्धगु.	श्राद्धगुणविवरण	महोपाध्याय जिन-मण्डनगणी	आत्मानन्द सभा, भावनगर	वि. सं. १९७
३०१	श्रा. प्र. वि.	श्राद्धप्रकरणविंशिका	—	—	—
३०२	श्रा. प्र.	श्रावकप्रज्ञप्ति	हरिभद्र सूरि	ज्ञानप्रसारकमण्डल, बम्बई	वि. सं. १९६
३०३	श्रा. प्र. टी.	श्रावकप्रज्ञप्ति टीका	"	"	"
३०४	वृ. श्रुतभ.	वृहत् संस्कृत श्रुतभक्ति (क्रियाक.)	—	पं. पन्नालालजी सोनी	वि. सं. १९९
३०५	श्रुत.	श्रुतस्कन्ध	—	—	—
३०६	प. खं.	पट्खण्डागम (भा. १-१६)	श्रीभगवत् पुष्पदन्त भूतवलि आचार्य	जैन साहित्योद्धारक फण्ड, अमरावती	ई. १९३९ से १९५८
३०७	धव. पु.	" टीका (प. खं.)	वीरसेनाचार्य	"	"

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
३०८	षडशी.	षडशीति कर्मग्रन्थ	जिनवल्लभगणि	आत्मानन्द सभा, भावनगर	वि.सं. १९७२
३०९	षडशी.हरि.वृ.	षडशीति वृत्ति	हरिभद्र	,,	,,
३१०	षडशी.मलय. वृ.	,,	मलयगिरि	,,	,,
३११	षडशी. दे.	षडशीति (चतुर्थ क.ग्र.)	देवेन्द्रसूरि	,,	ई. १९३४
३१२	षडशी. दे स्वो. वृ.	षडशीति वृत्ति	,,	,,	,,
३१३	षड्द. स.	षड्दर्शनसमुच्चय	हरिभद्र सूरि	जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर	वि. १९६४
३१४	षष्ठ.क.	षष्ठकर्मग्रन्थ (सप्ततिका)	चन्द्रर्षि महत्तर	,,	वि.सं. १९६८
३१५	षष्ठ.क.मलय. वृ.	,, वृत्ति	मलयगिरि	,,	,,
३१६	षोडश.	षोडशकप्रकरण	हरिभद्र सूरि	जैन श्वेताम्बर संस्था, रतलाम	वि. सं. १९९२
३१७	षोडश. वृ.	,, वृत्ति	यशोभद्रसूरि	,,	,,
३१८	सप्तति.	सप्ततिकाप्रकरण	चन्द्रर्षि महत्तर	जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर	ई. १९४०
३१९	सप्तति. मलय.वृ.	सप्ततिका प्रकरण वृत्ति	मलयगिरि	,,	,,
३२०	सप्तभं०	सप्तभंगीतरंगिणी	विमलदास	परमश्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई	वी.नि. २४३१
३२१	समयप्रा.	समयप्राभृत	कुन्दकुन्दाचार्य	भा. जैन सिद्धांत प्रकाशिनी संस्था, काशी	ई. १९१५
३२२	समयप्रा. अमृत. वृ.	समयप्राभृत टीका	अमृतचन्द्र सूरि	,,	,,
३२३	समयप्रा. जय. वृ.	,, वृत्ति	आ० जयसेन	,,	,,
३२४	समय. क.	समयसारकलश	अमृतचन्द्र सूरि	निर्णयसागर मुद्रणालय, बम्बई	ई. १९०५
३२५	समवा.	समवायांग सूत्र	—	[illegible]चन्द ठे. भट्टीनीबारी, अहमदाबाद	ई. १९३८
३२६	समवा. अभ. वृ.	,, वृत्ति	अभयदेव सूरि	,,	,,
३२७	समाधि.	समाधितन्त्र	पूज्यपाद	वीरसेवामन्दिर, सरसावा	ई. १९३९
३२८	समाधि. टी.	समाधितन्त्र टीका	प्रभाचन्द्राचार्य	,,	,,
३२९	सम्बो. स.	सम्बोधसप्तति	रत्नशेखर सूरि	आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर	वि. [illegible]
३३०	सम्बो.स.टी.	,, टीका	गुणविनयवाचक		,,

संख्या	संकेत	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार	प्रकाशक	प्रकाशन काल
३३१	स. सि.	सर्वार्थसिद्धि	पूज्यपाद	भा. ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९५५
३३२	संग्रहणी.	संग्रहणीसूत्र	श्रीचन्द्र सूरि	जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बंबई	ई. १९१५
३३३	" दे. वृ.	संग्रहणी वृत्ति	देवभद्र मुनीश	"	"
३३४	सा. ध.	सागारधर्मामृत	पं. आशाधर	मा. दि. जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई	वि. सं. १९७२
३३५	" स्वो.टी.	" टीका	"	"	"
३३६	सिद्धिवि.	सिद्धिविनिश्चय(भाग १-२)	अकलंकदेव	भा. ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९५९
३३७	" वृ.	सिद्धिविनिश्चय वृत्ति	अनन्तवीर्य	"	"
३३८	सुभा. सं	सुभाषितरत्नसंदोह	अमितगत्याचार्य	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई	ई. १९०३
३३९	सूत्रकृ.	सूत्रकृताङ्ग	—	श्री गोडी जी पार्श्वनाथ जैन देरासर पेढो, बम्बई	ई. १९५०.५३
३४०	" नि.	" निर्युक्ति	भद्रबाहु	"	"
३४१	" शी. वृ	" वृत्ति	शीलांकाचार्य	"	"
३४२	सूर्यप्र.	सूर्यप्रज्ञप्ति	—	—	—
३४३	" मलय. वृ.	" मलय वृत्ति	मलयगिरि	—	—
३४४	स्थाना.	स्थानाङ्गसूत्र	—	सेठ माणिकलाल चुन्नीलाल व कान्तिलाल चुन्नीलाल अह.बा.	ई. १९३७
३४५	" अभय. वृ.	स्थानाङ्गसूत्र वृत्ति	अभयदेव सूरि	"	"
३४६	स्या. मं.	स्याद्वादमंजरी	हेमचन्द्र सूरि	परमश्रुत प्रभावक मण्डल बम्बई	ई. १९३५
३४७	स्या. र. वृ.	स्याद्वादरत्नाकर प्र. परि.	वादिदेव सूरि	मोतीलाल लाधा जी, पूना	वी. नि. २४५३
३४८	स्वयंभू. वृ. स्वयम्भू	स्वयम्भूस्तोत्र	समन्तभद्राचार्य	दोशी सखाराम नेमिचंद, सोलापुर	—
३४९	स्वरूपसं.	स्वरूपसंबोधन	अकलंक देव	मा.दि.जैन ग्रंथमाला, बम्बई	वि. सं. १९७२
३५०	स्वरूपसं.	स्वरूपसंवेदन	"	प्रकाशचन्द शीलचन्द जैन सर्राफ, दिल्ली	—
३५१	ह. पु.	हरिवंशपुराण	जिनसेनाचार्य	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी	ई. १९६२

ग्रन्थकारानुक्रमणिका

ग्रन्थकारों में अधिकांश का समय अनिश्चित है। यहां उसका निर्देश अनुमान के आधार से किया जा रहा है।

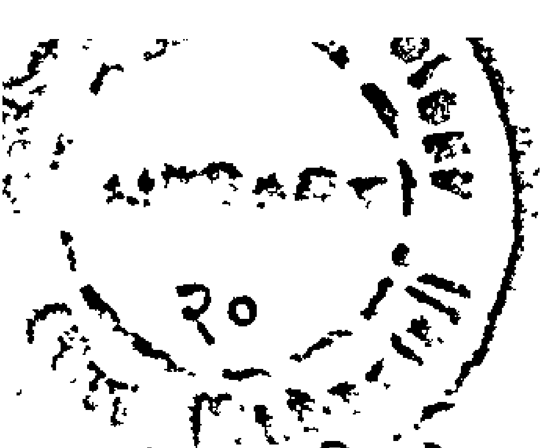
संख्या	ग्रन्थकार	समय (विक्रम संवत्)
१	अकलंकदेव	८-९वीं शती (ई. ७२०-७८०
२	अजितसेन	१४वीं शती
३	अनन्तकीर्ति	१०-११वीं शती
४	अनन्तवीर्य (सिद्धिवि. के टीकाकार)	११वीं शती
५	अनन्तवीर्य (प्र.र.मा.)	११-१२वीं शती
६	अपराजित सूरि	९वीं शती
७	अभयचन्द्र (लघीय. टी.)	१३-१४वीं शती
८	अभयचन्द्र (मन्दप्र.)	१३-१४वीं शती (ई. १२७९ में स्वर्गवास)
९	अभयदेव सूरि (सन्मति. टीका)	१०-११वीं शती
१०	अभयदेव सूरि (आगमों के टीकाकार)	१२वीं शती
११	अमितगति (प्रथम)	१०-११वीं शती
१२	अमितगति (द्वितीय)	११वीं शती (१०५० में सु. र. सं. और १०७० में ध. प. रची)
१३	अमृतचन्द्र सूरि	१०वीं शती
१४	अमोघवर्ष (प्रथम)	९वीं शती (जिनसेन के समकालीन)
१५	आर्यरक्षित स्थविर	वि. की २री शती
१६	आशाधर	१३वीं शती (ई. ११८८ से १२५०)
१७	इन्द्रनन्दी (छेदपिण्ड)	१०वीं शती
१८	इन्द्रनन्दी (नीतिसार)	१३वीं शती
१९	उमास्वाति	२-३री शती
२०	कुन्दकुन्दाचार्य	प्रथम शती
२१	कुमारकवि (पा. प्र.)	१४५० के लगभग
२२	कोटयाचार्य	सम्भवतः हरिभद्र के पूर्ववत
२३	क्षेमकीर्ति (बृहत्क. के टीकाकार)	१३-१४वीं शती (वि. सं. १३३२ में टी. समाप्त)
२४	गर्गर्षि	सम्भवतः १०वीं सती
२५	गुणधराचार्य	प्रथम शती
२६	गुणभद्र	९-१०वीं शती
२७	गुणरत्न सूरि	१५वीं शती (१४५९)
२८	गोविन्द गणि	१३वीं शती (सम्भवतः १२८८ के पूर्व)
२९	चक्रेश्वराचार्य	११९७ में शतक का भाष्य पूर्ण किया)
३०	चन्द्रर्षि महत्तर	सम्भवतः १०वीं शती
३१	चामुण्डराय	१०-११वीं शती
३२	जटासिंहनन्दी	८वीं शती
३३	जयतिलक	१५वीं शती का प्रारम्भ
३४	जयसेन	१२वीं शती
३५	जिनदत्तसूरि (विवेकवि.)	१३वीं शती (उदयसिंह के राज्य में ई. १२३१)
३६	जिनदास गणि महत्तर	६५०–७५० (जिनभद्र के पश्चात व हरिभद्र के पूर्व)



संख्या	ग्रन्थकार	समय (विक्रम संवत्)
३७	जिनभद्र क्षमाश्रमण (भाष्यकार)	७वीं शती (६५०–६६० के पूर्व)
३८	जिनमण्डन सूरि	१५वीं शती (१४९६)
३९	जिनवल्लभ गणि	१२वीं शती
४०	जिनसेन (हरि. पु.)	९वीं शती (शक सं. ७०५)
४१	जिनसेन (महापुराण)	९वीं शती (शकसं. ७०० से ७६०)
४२	दानशेखर	अज्ञात
४३	देवगुप्त सूरि	११वीं शती (१०७३)
४४	देवनन्दी (पूज्यपाद)	५-६ शती
४५	देवभद्र सूरि	१३वीं शती (श्रीचन्द्र सूरि के शिष्य)
४६	देवर्द्धिगणी	५वीं शती (इन्होंने वी. नि. ९८० के आसपास श्रुतका संकलन किया)
४७	देववाचक गणि	छठी शताब्दी (५२३ के पूर्व)
४८	देवसेन	१०वीं शती (९९० में दर्शनसार रचा)
४९	देवेन्द्रसूरि	१३-१४वीं शती (वि. सं. १३२७ में स्वर्गवास)
५०	द्रोणाचार्य	११-१२वीं शती
५१	धर्मदासगणि	९१३ के पूर्व
५२	धर्मभूषण यति	१४-१५वीं शती
५३	नेमिचन्द्र सिद्धान्तच. (गोम्मटसार)	११वीं शती
५४	नेमिचन्द्र (द्रव्यसं.)	११-१२वीं शती
५५	नेमिचन्द्र (गो. के टीकाकार)	१६वीं शती
५६	नेमिचन्द्र (उत्तरा. टी.)	१२वीं शती (वि.सं. ११२९ में टीका समाप्त की)
५७	नेमिचन्द्र (प्रव. सारो.)	१२वीं शती (आम्रदेव के शिष्य और जिनचन्द्र सूरि के प्रशिष्य)
५८	पद्मनन्दी (धर्मरसा.)	अज्ञात
५९	पद्मनन्दी (जम्बूद्वीप.)	सम्भवतः ११वीं शती
६०	पद्मनन्दी (पद्म. पञ्च.)	१२वीं शती
६१	पद्मप्रभ मलधारी	१३वीं शती (१२४२)
६२	पद्मसिंह मुनि	११वीं शती (१०८६)
६३	परमानन्द सूरि	१२-१३वीं शती
६४	पादलिप्त सूरि	अज्ञात
६५	पुष्पदन्त	प्रथम शती
६६	पूज्यपाद (उपा.)	१६वीं शती
६७	प्रभाचन्द्र (प्र. क. मा.)	११वीं शती (ई. ९८० से १०६५)
६८	प्रभाचन्द्र (र.क. आदि के टीकाकार)	१३वीं शती (आशाधर के पूर्व)
६९	प्रभाचन्द्र (श्रुतभ. टीका)	अज्ञात
७०	ब्रह्मदेव	११-१२वीं शती
७१	ब्रह्म हेमचन्द्र (श्रुतस्कन्ध के कर्ता)	सम्भवतः १२-१३वीं शती
७२	भद्रबाहु (द्वितीय)	छठी शती (वराहमिहिर के सहोदर)
७३	भास्करनन्दी	१३-१४वीं शती
७४	भूतबलि	प्रथम शती
७५	भोजकवि	१८वीं शती (१७८५ से १८०९)
७६	मलधारीय हेमचन्द्र	१२वीं शती
७७	मलयगिरि	१२-१३वीं शती (हेमचन्द्र सूरि के समकालीन)
७८	महासेन (स्व. सं.)	९वीं शती
७९	माणिक्यनन्दी	११-१२वीं शती (९९३ से १०५३ ई.)
८०	माधवचन्द्र त्रैविद्य	१३वीं शती
८१	मानविजय महोपा.	१८वीं शती
८२	मुनिचन्द्र (उ.प.टी.)	१२वीं शती (११७४ में उप.प. व ११८१ में धर्मबिन्दुकी टीका रची)

संख्या	ग्रन्थकार	समय (विक्रम संवत्)
८३	मुनिचन्द्र (ललितवि. पंजिका)	१२वीं शती (११६८ से ११७६)
८४	मेधावी	१६वीं शती (१५४१)
८५	यतिवृषभ	छठी शती
८६	यशोदेव (प्रत्या. स्व.)	१२वीं शती
८७	यशोभद्र (षोड. वृ.)	१२वीं शती (११८२)
८८	यशोविजय	१८वीं शती
८९	योगीन्दुदेव	७वीं शती (ई. छठी श.)
९०	रत्नकीर्ति (आर. सा. टी.)	१५वीं शती
९१	रत्नप्रभ	१२-१३वीं शती
९२	रत्नशेखर सूरि	१५वीं शती (१४४७, वज्रसेन सूरि के शिष्य)
९३	रविषेण	७-८वीं शती
९४	राजमल	१७वीं शती (१६३५)
९५	रामसेन	१०वीं शती
९६	वट्टकेर	१-२री शती
९७	वर्धमान सूरि (आ. दि.)	११वीं शती (जिनेश्वर सूरि के गुरु १०८०)
९८	वसुनन्दी	१२वीं शती
९९	वाग्भट	१२वीं शती
१००	वादिदेव सूरि	१२वीं शती (ई. १०८६ से ११३०)
१०१	वादिराज	११वीं शती
१०२	वादीभसिंह	१०-११वीं शती
१०३	वामदेव	१५वीं शती का पूर्वार्ध
१०४	विद्यानन्द	९वीं शती (ई. ७७५-८४०)
१०५	विनयविजय गणि	१७वीं शती (१६९६)
१०६	विमलदास	प्लवंग संवत्सर वैशाख शुक्ल ८, बृहस्पतिवार

संख्या	ग्रन्थकार	समय (विक्रम संवत्)
१०७	विमलसूरि	प्रथम शती
१०८	वीरनन्दी (चन्द्रप्र.)	११वीं शती (नेमिचन्द्र सि. च. के गुरुभाई)
१०९	वीरनन्दी (आ. सा.)	१२-१३वीं शती
११०	वीरसेन	९वीं शती (शकसं. ७१७ से ७४५)
१११	शय्यम्भव सूरि	जम्बूस्वामी के बाद प्रभव और तत्पश्चात् शय्यम्भव हुए
११२	शान्तिचन्द्र (जं. द्वी. प्र. के टीकाकार)	१७वीं शती (सं. १६६० में टीका पूरी की)
११३	शान्तिसूरि (वादिवेताल)	११वीं शती (वि सं. १०९६ में स्वर्गवासी हुए)
११४	शिवशर्म	सम्भवतः वि. की ५वीं शती
११५	शिवार्य	२-३री शती
११६	शीलांकाचार्य	९-१०वीं शती
११७	शुभचन्द्र (ज्ञाना.)	संभवतः १०-११वीं शती
११८	शुभचन्द्र (कार्ति. टी.)	१७वीं शती (१५७३ से १६१३)
११९	श्यामाचार्य	विक्रम पूर्व प्रथम शती (वी. नि. ३७६ के पश्चात्)
१२०	श्रीचन्द्रसूरि	१२-१३वीं शती (जीतक. वि. पदव्याख्या सं. १२२७ में पूर्ण की)
१२१	श्रुतमुनि (भा. त्रि.)	१४वीं शती (१३९८)
१२२	श्रुतसागर	१६वीं शती
१२३	समन्तभद्र	२री शती
१२४	संघदास गणि	७वीं शती (जिनभद्र के पूर्ववर्ती)
१२५	सिद्धसेन (सन्मति.)	६-७वीं शती
१२६	सिद्धसेन सूरि (न्यायाव.)	७-८वीं शती
१२७	सिद्धसेन गणि	९वीं शती
१२८	सिद्धर्षि गणि (न्याय. वृ.)	१०-११वीं शती



१२९	सिद्धसेन सूरि (जी. क. चूर्णि)	१२२७ के पूर्व
१३०	सिद्धसेन सूरि (प्र. सारो. टीका)	१३वीं शती (१२४८ या १२७८)
१३१	सोमदेव सूरि	१०-११वीं शती
१३२	स्वामिकुमार	सम्भवतः १०-११वीं शती
१३३	हरिचन्द	१३वीं शती
१३४	हरिभद्र सूरि	८-९वीं शती
१३५	हरिभद्रसूरि(षड. वृत्ति)	१२वीं शती
१३६	हेमचद्रसूरि (कलिकाल स.)	११४५-१२३० (ई. १०८८-११७३)
१३७	हेमचन्द्रसूरि (मलधारीय)	१२वीं शती (अभयदेव के पश्चात्)

शताब्दीक्रम के अनुसार ग्रन्थकारानुक्रमणिका

प्रथम शताब्दी

१ कुन्दकुन्द
२ गुणधर
३ पुष्पदन्त
४ भूतवली
५ वट्टकेर
६ विमल सूरि

द्वितीय शताब्दी

७ आर्यरक्षित स्थविर
८ समन्तभद्र

द्वितीय-तृतीय शताब्दी

९ उमास्वाति
१० शिवार्य

पांचवीं शताब्दी

११ शिवशर्म

पांचवीं-छठी शताब्दी

१२ देवर्द्धि गणि

छठी शताब्दी

१३ देवनन्दी (पूज्यपाद)
१४ देववाचक गणि
१५ भद्रबाहु (द्वितीय)
१६ यतिवृषभ

छठी-सातवीं शताब्दी

१७ योगीन्दुदेव
१८ सिद्धसेन दिवाकर

सातवीं शताब्दी

१९ संघदास गणि
२० जिनभद्र क्षमाश्रमण

सातवीं-आठवीं शताब्दी

२१ जिनदास गणि महत्तर

आठवीं शताब्दी

२२ कोट्याचार्य
२३ जटासिंहनन्दी
२४ रविषेण
२५ सिद्धसेन (न्यायाव. के कर्ता)

आठ-नौवीं शताब्दी

२६ अकलंकदेव
२७ हरिभद्र सूरि

नौवीं शताब्दी

२८ अपराजित सूरि
२९ अमोघवर्ष (प्रथम)
३० जिनसेन (ह. पु.)
३१ जिनसेन (म. पु.)
३२ महासेन (स्व. सं.)
३३ विद्यानन्द
३४ वीरसेन
३५ सिद्धसेन गणि

नौ-दसवीं शताब्दी

३६ गुणभद्र
३७ शीलांकाचार्य

चौदहवीं शताब्दी

१०६ अजितसेन

१०७ अभयचन्द्र (गो. मं. प्र. टीका)

१०८ नेमिचन्द्र (गो. जी. त. प्र. टी.)

१०९ श्रुतमुनि (भावत्रिभंगी)

चौदह-पन्द्रहवीं शताब्दी

११० धर्मभूषण

पन्द्रहवीं शताब्दी

१११ कुमार कवि

११२ गुणरत्न सूरि

११३ जयतिलक

११४ जिनमण्डन सूरि

११५ रत्नकीर्ति

११६ रत्नशेखर

११७ वामदेव

सोलहवीं शताब्दी

११८ पूज्यपाद (उपासकाचार)

११९ मेधावी

१२० श्रुतसागर

सोलह-सत्रहवीं शताब्दी

१२१ शुभचन्द्र (कार्ति. टी. व अंगप.)

सत्तरहवीं शताब्दी

१२२ राजमल

१२३ विनयविजय गणि

१२४ शान्तिचन्द्र

अठारहवीं शताब्दी

१२५ भोजकवि

१२६ मानविजय

१२७ यशोविजय उपाध्याय

विशेष १. दशवैकालिक के कर्ता शय्यम्भव सूरि नन्दीसूत्र-गत स्थविरावली के अनुसार सुधर्म गणधर की चौथी पीढ़ी में हुए हैं।

२. प्रज्ञापना के कर्ता श्यामार्य उक्त स्थविरावली के अनुसार सुधर्म गणधर की तेरहवीं पीढ़ी में हुए हैं।

३. उपदेशमाला के कर्ता धर्मदास गणि के समय का निश्चय नहीं किया जा सका। वे उक्त ग्रन्थ के टीकाकार जयसिंह (वि. सं. ९१३) के निश्चित पूर्ववर्ती है।

वीर-सेवा-मन्दिर के उपयोगी प्रकाशन

पुरातन जैनवाक्य-सूची : प्राकृत के प्राचीन ४६ मूल-ग्रन्थों की पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादि ग्रन्थों मे उद्धृत दूसरे पद्यों की भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्यों की सूची। संपादक मुख्तार श्री जुगलकिशोर जी की गवेषणापूर्ण महत्त्व की ७० पृष्ठ की प्रस्तावना से अलंकृत, डा० कालीदास नाग, एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्ये एम. ए., डी. लिट्. की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोज के विद्वानोंके लिए अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द। १५-००

आप्तपरीक्षा : श्री विद्यानन्दाचार्य की स्वोपज्ञ सटीक अपूर्व कृति,आप्तों की परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयक सुन्दर विवेचन को लिए हुए, न्यायाचार्य पं दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद से युक्त, सजिल्द। ८-००

स्वयम्भूस्तोत्र : समन्तभद्रभारती का अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के हिन्दी अनुवाद, तथा महत्त्व की गवेषणापूर्ण प्रस्तावना से सुशोभित। २-००

स्तुतिविद्या : स्वामी समन्तभद्र की अनोखी कृति, पापों के जीतने की कला, सटीक, सानुवाद और श्री जुगल-किशोर मुख्तार की महत्त्व की प्रस्तावनादि से अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। १-५०

अध्यात्मकमलमार्तण्ड : पंचाध्यायीकार कवि राजमल की सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दी-अनुवाद-सहित १-५०

युक्त्यनुशासन : तत्त्वज्ञान से परिपूर्ण, समन्तभद्र की असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नही हुआ था। मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादि से अलंकृत, सजिल्द। ... १·२५

श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र : आचार्य विद्यानन्द रचित, महत्त्व की स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ·७५

शासनचतुस्त्रिंशिका : (तीर्थपरिचय) मुनि मदनकीर्ति की १३वीं शताब्दी की रचना, हिन्दी-अनुवाद सहित ·७५

समीचीन धर्मशास्त्र : स्वामी समन्तभद्र का गृहस्थाचार-विषयक अत्युत्तम प्राचीन ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जी के विवेचनात्मक हिन्दी भाष्य और गवेषणात्मक प्रस्तावना से युक्त, सजिल्द। ... ३-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० १ : संस्कृत और प्राकृत के १७१ अप्रकाशित ग्रन्थों की प्रशस्तियों का मंगलाचरण सहित अपूर्व संग्रह, उपयोगी ११ परिशिष्टों और पं० परमानन्द शास्त्री की इतिहास-विषयक साहित्य परिचयात्मक प्रस्तावना से अलंकृत, सजिल्द। ४-००

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश : अध्यात्मकृति परमानन्द शास्त्री की हिन्दी टीका सहित ४-००

अनित्यभावना : आ० पद्मनन्दीकी महत्त्वकी रचना, मुख्तारश्री के हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ·२५

तत्त्वार्थसूत्र : (प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्री के हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्या से युक्त। ... ·२५

श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ। १-२५

महावीर का सर्वोदय तीर्थ, समन्तभद्र विचार-दीपिका, महावीर पूजा प्रत्येक का मूल्य ·१६

अध्यात्मरहस्य : पं० आशाधर की सुन्दर कृति मुख्तार जी के हिन्दी अनुवाद सहित। ... १-००

जैनग्रन्थ-प्रशस्ति संग्रह भा० २ : अपभ्रंश के १२२ अप्रकाशित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह। पचपन ग्रन्थकारों के ऐतिहासिक ग्रंथ-परिचय और परिशिष्टों सहित। सं. पं० परमानन्द शास्त्री। सजिल्द। १२-००

न्याय-दीपिका : आ. अभिनव धर्मभूषण की कृति का प्रो० डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्य द्वारा सं० अनु०। ७-००

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश : पृष्ठ संख्या ७४० सजिल्द ५-००

कसायपाहुडसुत्त : मूल ग्रन्थ की रचना आज से दो हजार वर्ष पूर्व श्री गुणधराचार्य ने की, जिस पर श्री यतिवृषभाचार्य ने पन्द्रह सौ वर्ष पूर्व छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र लिखे। सम्पादक पं हीरालालजी सिद्धान्त शास्त्री, उपयोगी परिशिष्टों और हिन्दी अनुवाद के साथ बड़े साइज के १००० से भी अधिक पृष्ठों में। पुष्ट कागज और कपड़े की पक्की जिल्द। २०-००

Reality : आ० पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि का अंग्रेजी में अनुवाद बड़े आकार के ३०० पृ. पक्की जिल्द ६-००

जैन निबन्ध-रत्नावली : श्री मिलापचन्द्र तथा रतनलाल कटारिया ५-००